# राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य

डॉ० विजयेन्द्र स्नातक एम० ए०, पी-एच० डी०
शास्त्री, सिद्धान्तशिरोमणि
प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

हिन्दी-अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली,
के निमित्त
नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली
द्वारा प्रकाशित

प्रकाशक
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
स० २०१४ वि०

मूल्य .
अठारह रुपये

मुद्रक
बालकृष्ण, एम० ए०
युगान्तर प्रेस, डफरिन पुल, दिल्ली

# समर्पण

वात्सल्यमयी स्वर्गीया माँ की पवित्र स्मृति में

# हमारी योजना

'राधावल्लभ सम्प्रदाय . सिद्धान्त और साहित्य' हिन्दी अनुसधान परिषद्, ग्रन्थमाला का दसवां गथ है। हिन्दी अनुसधान परिषद् हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय की सस्था है जिसकी स्थापना अक्तूबर सन् १९५२ मे हुई थी। परिषद् के मुख्यत दो उद्देश्य हैं—हिन्दी वाड्मय विषयक गवेषणात्मक अनुशीलन तथा उसके फलस्वरूप प्राप्त साहित्य का प्रकाशन।

अब तक परिषद् की ओर से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रथो का प्रकाशन हो चुका है। प्रकाशित ग्रथ दो प्रकार के हैं—एक तो वे जिनमें प्राचीन काव्यशास्त्रीय ग्रथो का हिन्दी रूपान्तर विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकाओ के साथ प्रस्तुत किया गया है। दूसरे वे जिन पर दिल्ली विश्वविद्यालय की ओर से पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की गई है। प्रथम वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रथ हैं—'हिन्दी काव्यालकार सूत्र', 'हिन्दी वक्रोक्ति जीवित' तथा 'अरस्तू का काव्यशास्त्र'। 'अनुसधान का स्वरूप' पुस्तक मे अनुसधान के स्वरूप पर गण्य-मान्य विद्वानो के निबध संकलित हैं जो परिषद् के अनुरोध पर लिखे गये थे। द्वितीय वर्ग के अन्तर्गत प्रकाशित ग्रंथ हैं—(१) मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ (२) हिन्दी नाटक : उद्भव और विकास (३) सूफीमत और हिन्दी साहित्य (४) अपभ्रंश साहित्य। इसी वर्ग के अन्तर्गत पाँचवाँ ग्रथ 'राधावल्लभ सम्प्रदाय : सिद्धान्त और साहित्य' आपके सामने प्रस्तुत है।

परिषद् की प्रकाशन-योजना को कार्यान्वित करने में हमें हिन्दी की अनेक प्रसिद्ध प्रकाशन संस्थाओ का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा है। उन सभी के प्रति हम परिषद् की ओर से कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं।

नगेन्द्र
अध्यक्ष
हिन्दी-अनुसंधान-परिषद्

हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।

# प्राक्कथन

## प्रेरणा

श्री हितहरिवंशजी की वाणी से मेरा प्रथम परिचय अब से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व 'व्रजमाधुरीसार' मे उद्धृत कतिपय पदो के माध्यम से हुआ था। व्रजभाषा के प्रति नैसर्गिक ममत्व-मोह होने के कारण इन पदो के लालित्य और माधुर्य ने हरिवंशजी की सम्पूर्ण रचना पढने के लिए मुझे लालायित कर दिया। किन्तु उस समय मुझे न तो इन पदो के मूल में सन्निविष्ट भक्ति-भावना का ज्ञान था और न मैं इनके साम्प्रदायिक भाव-गाम्भीर्य से ही परिचित था। अभिव्यक्ति की प्राजलता और पदो की सरसता ही मेरे आकर्षण का एकमात्र कारण थी। आश्चर्य का विषय है कि श्री वियोगीहरि जी के पर्याप्त सकेत करने पर भी तीस वर्ष की इस लम्बी अवधि मे किसी भावुक भक्त या साहित्य समीक्षक का ध्यान हितहरिवंशजी की रससिद्ध वाणी की ओर नही गया।

आज से आठ वर्ष पूर्व जब मैंने अनुसधान की दृष्टि से श्री हितहरिवंश रचित साहित्य और उनके द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय पर दृष्टिपात किया तो मुझे उसमे अनुसंधान की प्रभूत सम्भावना के साथ काव्य-सौष्ठव-परिपूर्ण प्रचुर साहित्यिक सामग्री प्रतीत हुई। मैं वर्षो से सुनता आ रहा था कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्यिक एव साम्प्रदायिक महत्त्व के शताधिक हस्तलिखित वाणी-ग्रंथ व्रजमण्डल में तथा व्रज के बाहर गोस्वामि-परिवारो मे तथा साधुओ के पास सुरक्षित हैं। यदि उनका गवेषणात्मक अनुशीलन सम्भव हो सके तो व्रजभाषा का अति समृद्ध साहित्य उपलब्ध हो सकता है। किन्तु हस्तलिखित ग्रन्थो का पता लगाकर उपलब्ध करना बडी कठिन समस्या थी। स्वर्गीय श्री जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने एक बार वृन्दावन आकर हस्तलिखित ग्रथो के सकलन का प्रयत्न किया था किन्तु उन्हे अपने प्रयत्न मे जब आंशिक सफलता भी न मिली तब वे व्रजवासियो की अनुदारता से खीजकर निराश लौट गये थे। इस स्थिति से परिचित होने पर भी वृन्दावन-निवासी गुरुवर श्री वैद्य उमाशकर जी द्विवेदी, आयुर्वेदाचार्य के आश्वासन पर मैंने इसी सम्प्रदाय को अपने शोध का विषय निर्धारित किया। दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी-सस्कृत विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री से मैंने इस विषय में परामर्श किया और उनकी स्वीकृति मिलने पर मैंने अनुसधेय विषय की रूपरेखा तैयार कर ली।

प्रयत्न

कार्य प्रारम्भ करते ही साम्प्रदायिक भक्ति-सिद्धान्त को हृदयगम करने का प्रश्न मेरे सामने आया। साम्प्रदायिक साहित्य के अध्ययन से ही यह प्रश्न हल हो सकता था किन्तु साहित्योपलब्धि तो उससे भी अधिक जटिल समस्या थी। सामान्य भक्ति-तत्त्व के शास्त्रीय पक्ष का सस्कृत के आकर ग्रन्थो से यत्किंचित् बोध कर लेने पर भी साम्प्रदायिक रहस्य की प्रतीति तो आचार्यो की वारिणयो से ही सम्भव थी। फलत सन् १९४९ के ग्रीष्मावकाश में मैंने वृन्दावन यात्रा का निश्चय किया और दो मास वृन्दावन मे रहकर समस्त प्रकाशित ग्रथो का सग्रह कर उनके आधार पर राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को अवगत करने की चेष्टा की। श्री वैद्य उमाशकर जी द्विवेदी ने माधुर्य भक्ति का सामान्य स्वरूप स्पष्ट करने के लिए मुझे अनेक ग्रथ दिये और उनका मर्म समझने में मेरा पथ-प्रदर्शन किया। वैद्य जी स्वय निम्बार्क मतानुयायी थे किन्तु ब्रजमडल के सभी वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों का उन्हे अच्छा ज्ञान था। उन्होने ही मेरा परिचय सबसे पहले राधावल्लभीम गोस्वामियो से कराया था। दैवदुर्विपाक से वैद्य जी का दो वर्ष बाद असामयिक देहावसान हो जाने से मेरे कार्य की प्रगति में अप्रत्याशित बाधा उपस्थित हो गई।

राधावल्लभ सम्प्रदाय की अद्यावधि प्रकाशित छोटी-बडी समस्त पुस्तको की सख्या लगभग चालीस है। अधिकाश दस-बारह पृष्ठ की पुस्तिकाएँ ही हैं, जिनमें भक्त-कवियो के पद-सग्रह के सिवा सिद्धान्त-विषयक कोई जानकारी की बात नही है। हाँ, लाडिलीदास कृत 'सुधर्म बोधिनी' अवश्य एक ऐसी पुस्तक है जो सिद्धान्त प्रतिपादन से साक्षात् सम्बन्ध रखती है। इन प्रकाशित पुस्तको के आधार पर गवेषणात्मक अनुशीलन तो दूर, साधारण सूचनाएँ प्राप्त करना भी सम्भव नही है। मेरा लगभग एक वर्ष का समय इसी प्रकाशित साहित्य के अध्ययन-मनन मे व्यतीत हुआ किन्तु साम्प्रदायिक भावना से मैं प्राय अपरिचित ही रहा। हाँ, इस बीच वृन्दावन के गोस्वामियो तथा साधुओ से सत्सग द्वारा कुछ ज्ञानोपार्जन किया, किन्तु ग्रथाभाव के कारण उस श्रुत-ज्ञान को मैं अनुसधान के लिए उपादेय नही बना सका। हस्तलिखित वाणी ग्रथो की प्राप्ति के लिए भी मैंने भरसक प्रयत्न किया परन्तु मुझे उसमें विशेष सफलता नही मिली। इस असफलता से खिन्न होने पर भी मेरे मन ने तनिक भी हार नही मानी।

दो वर्ष बाद मैं पुन. सन् १९५१ के मई मास में वृन्दावन पहुँचा। सेवाकुज के निकट किराये पर मकान लेकर मैंने तीन मास तक वही रहने का निश्चय किया। इस बार प्रकाशित साहित्य से मेरा सामान्य परिचय था और राधावल्लभीय आचार्यो से मौखिक रूप में मैंने थोडा-बहुत सिद्धान्त सुना-समझा था। सेवाकुज को अपनी स्वाध्याय-स्थली बनाकर मैं श्री राधावल्लभजी के मन्दिर मे प्रात साय नियमित रूप से सेवा-पूजा विधि देखने जाने लगा। ढाई मास के इस प्रवास में मेरा परिचय गोस्वामि-परिवार के अनेक विद्वान् महानुभावो से हुआ। मेरे पूर्व परिचित सुहृद्वर गोस्वामी श्री मुकुट वल्लभाचार्य जी ने इस बार मुझे अत्य-धिक उत्साहित किया और यथाशक्ति सामग्री-सकलन में भी मेरी सहायता की। आपने ही मेरा परिचय गोस्वामी श्री ललिताचरण जी तथा गोस्वामी श्री हितानन्दजी से कराया। एक दिन

सौभाग्य से आप ही के निवास-स्थान पर मेरा परिचय बाबा श्री राधाकृष्णचरणदास जी से हुआ। बाबा जी मस्त और मनमौजी स्वभाव के साधु हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय की आठ-दस प्राचीन हस्तलिखित वाणियो का सग्रह भी आपके पास था। मेरा उत्साह देखकर आपने मुझे सहायता का पूरा आश्वासन दिया और अपना सम्पूर्ण सग्रह तत्काल मुझे दे दिया। अगले दिन बाद ग्राम चलने का कार्यक्रम बना डाला और मुझे साथ लेकर बाद ग्राम पहुँचे। बाद ग्राम श्री हितहरिवशजी की जन्म-स्थली है। यहाँ एक छोटा-सा मन्दिर है। उन दिनो बाबा हितदासजी वहाँ रहते थे जिनसे आपने मेरा परिचय कराया और बाद ग्राम आने का उद्देश्य बताया। श्री हितदासजी प्रतिभाशाली, विद्याव्यसनी, मेधावी साधु हैं। राधावल्लभीय सिद्धातो का आपको अच्छा ज्ञान है। आपके साथ ही श्री बाबा वशीदासजी रहते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने के बाद से ही आपने अपना जीवनोद्देश्य वाणी-ग्रथो का अध्ययन-मनन बनाया हुआ है। अद्यावधि सैकडो हस्तलिखित ग्रंथ उपलब्ध कर आपने उनका अध्ययन किया है तथा उनकी प्रतिलिपि भी स्वय की है। बाबा हितदासजी से मेरा यह प्रथम परिचय था किन्तु उन्होने मेरे कार्य मे अत्यधिक रुचि दिखाई तथा मुझे पूरा आश्वासन दिया कि वे प्राचीन वाणी-ग्रथो की उपलब्धि में मेरी सहायता करेंगे। बाद ग्राम से चलते समय उन्होंने स्वरचित दो सिद्धात-ग्रन्थ मुझे अध्ययनार्थ दिये जो सैद्धान्तिक गूढ-गुत्थियो के सुलझाने मे मेरे पथ-प्रदर्शक सिद्ध हुए।

वृन्दावन वापस आने पर मेरा परिचय श्री व्रजवल्लभदास मुखिया से हुआ। आपके पास भी हस्तलिखित ग्रथो का अच्छा सग्रह है। आपके पिता श्री प्रियादास जी शुक्ल राधावल्लभीय भक्तितत्त्व के मर्मज्ञ और अनेक ग्रन्थो के प्रणेता थे। 'राधावल्लभ भक्तमाल' उन्ही की रचना है। मुखिया जी ने अपना अमूल्य सग्रह मुझे निस्सकोच सौंप दिया और उसके बाद भी निरतर वाणी-ग्रथो के उपलब्ध करने मे मेरी सहायता करते रहे।

वृन्दावन में मैंने अनेक महानुभावो से सुना था कि गोस्वामी श्री रूपलाल जी के पास राधावल्लभ सम्प्रदाय की हस्तलिखित प्राचीन वाणियो का विशाल सग्रह है। वैद्य उमाशकर जी ने मेरा उनसे दो वर्ष पूर्व इसी सन्दर्भ में परिचय भी कराया था और प्रकाशित साहित्य मैंने उन्ही के यहाँ से क्रय किया था किन्तु हस्तलिखित ग्रन्थो के अध्ययन की साध पूरी न हो सकी। हाँ, उनकी कृपा से कुछ प्राचीन पोथियो के दर्शन का सौभाग्य अवश्य प्राप्त हुआ। गोस्वामी जी माधुर्य-भक्ति-तत्त्व को कदाचित् आज भी गोप्य मानते हैं। उन्होने मुझसे एक दिन कहा भी था कि "प्रेमलक्षणा भक्ति का तत्त्वबोध सिंहनी के दूध के सदृश है। या तो वह सिंह-शावक के पेट में पचता है, या स्वर्ण-पात्र में अनाविल रहता है।" सिंह-शावक से उनका तात्पर्य गोस्वामी-वशोद्भव बालक से था और स्वर्ण-पात्र मन्त्र दीक्षित शिष्य का सकेत देने वाला था। मैं न तो सिंह-शावक (गोस्वामि-बालक) था और न स्वर्णपात्र (मत्र दीक्षित शिष्य) ही। अत. साम्प्रदायिक ग्रन्थो के अध्ययन का अधिकार कहाँ से पाता ! किन्तु उक्त प्रत्याख्यान के बावजूद भी गोस्वामी जी मुझे कार्य करने के लिए निरन्तर प्रोत्साहित करते रहे और आश्वासन भी देते रहे कि समय आने पर वे अपना साहित्य-सग्रह मुझे अवश्य दिखा देंगे।

तीन वर्ष के इस प्रयास से मैंने श्री हितहरिवंशजी के विपय मे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करली थी। देववन्द (सहारनपुर) जाकर उनके वशजो का इतिवृत्त भी सकलित किया था। गुजरात के वैष्णवो से सम्पर्क स्थापित कर राधावल्लभीय ग्रथो की कतिपय सूचनाएँ प्राप्त की थी। सामग्री का अब मेरे पास सर्वथा अभाव नही था किन्तु उपलव्ध सामग्री के आधार पर साम्प्रदायिक भक्ति-सिद्धान्त का मर्म समझना मेरे लिए अब भी कठिन वना हुआ था। इस सम्प्रदाय में दार्शनिक प्रणाली से ग्रथ-प्रणयन नही हुआ अतः विचार-पक्षीय तत्त्वशोध के मार्ग में वडी अडचनें उपस्थित होती हैं। नित्य-विहार और निकुज-लीला आदि के वर्णनो में से ही सिद्धान्तो का चयन करके उनकी शृङ्खला तैयार करनी पडती है। रस-पद्धति ही इस सम्प्रदाय का विचार-पक्ष है, उसे दर्शन की पीठिका पर अवस्थित कर परखना होता है। इस कार्य के लिए मैंने पुन. सन् १९५३ में वृन्दावन जाने का निश्चय किया। इस वार मैं पूरे दो मास वृन्दावन मे रहा। गोस्वामी श्री मुकुटवल्लभजी, वावा हितदास जी, बावा वशीदासजी और पण्डित रामकृष्णदेव गर्ग शास्त्री, एम ए से विचार-विमर्श का पूरा सुअवसर प्राप्त हुआ।

सैद्धान्तिक पक्ष की छानबीन के बाद मैं हस्तलिखित वाणी-ग्रथो के सकलन और शोध मे प्रवृत्त हुआ। इस सम्प्रदाय में वाणीकारो की सख्या अपरिमेय है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोटो मे जो सूचनाएँ दी गई हैं, उनकी सख्या भी शताधिक है। वृन्दावन, देववन्द, छतरपुर, दतिया, अहमदावाद, सूरत तथा व्रजमडल के गाँवो में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थो के सुरक्षित होने की चर्चा सुनी जाती है। कार्य प्रारम्भ करते समय श्री वैद्य उमाशकरजी द्विवेदी ने मुझे सात-आठ हस्तलिखित ग्रन्थ अपने निजी सग्रहालय से अध्ययनार्थ दिये थे। गोस्वामी मुकुट वल्लभाचार्य द्वारा भी कुछ ग्रथो का पता चला था। उसके बाद वावा हितदास जी तथा बाबा वशीदासजी के पास से मुझे लगभग सभी आवश्यक और उपयोगी ग्रथ प्राप्त हुये। बाबाजी ने निजी सग्रहालय में हस्तलिखित ग्रथो की प्रतिलिपि स्वय तैयार करके भी रख छोडी है, कुछ अन्य ग्रथ मुझे बाबा तुलसीदासजी, बाबा ध्रुवअलिशरणजी, बाबा राधाकृष्णचरणदासजी तथा ब्रजवल्लभदास मुखिया द्वारा प्राप्त हुए।

हस्तलिखित वाणी-ग्रन्थ दो प्रकार के हैं। एक तो वे हैं जिनमें केवल साम्प्रदायिक भाव पर आधृत स्तुति, वन्दना या लीला-गान है, उनका साहित्यिक दृष्टि से विशेष मूल्य नही है। दूसरे ग्रथ वे हैं जो साम्प्रदायिक होते हुये भी उच्चकोटि की साहित्यिक अभिव्यजना से परिपूर्ण हैं। अन्वेषक को दोनो प्रकार के ग्रन्थो का अनुशीलन कर अपनी वाँच्छित सामग्री एकत्र करनी पडती है। इस कार्य में मुझे लगभग दो वर्ष का समय लगाना पडा किंतु समस्त आवश्यक सामग्री प्राप्त हो गई।

सन् १९५५ में चौथी बार दिसम्बर मास मे चालीस दिन के लिये पुन वृन्दावन पहुँचा। इस वार मैं अपने प्रवन्ध की पाडुलिपि तैयार करके साथ लाया था। मेरी इस यात्रा का उद्देश्य कतिपय जटिल गुत्थियों को शंका-समाधान द्वारा सुलझाना था। राधावल्लभीय सिद्धात के मर्मज्ञ आचार्यों और साधुओ से विचार-विमर्श करके मैंने अपने प्रबन्ध को इन्ही दिनो अन्तिम रूप दिया। गौडीय, निम्बार्क तथा हरिदासी सम्प्रदाय के आचार्यों तथा साधुओ

से भी मै मिला और उन प्रश्नो पर विचार-विमर्श किया जो व्रजभक्ति-रस के मेरुदण्ड कहे जाते हैं।

इस प्रकार आठ वर्ष की लम्बी अवधि मे मै इस प्रवन्ध को पूर्ण करने में सफल हुआ हूँ। लम्बी अवधि के दो कारण हैं—एक तो अद्यावधि इस सम्प्रदाय के सम्वन्ध में परिचयात्मक या शोधपरक कोई ग्रंथ नही लिखा गया। अत. प्रारम्भिक लेखक की समस्त कठिनाइयो का मुझे सामना करना पडा। दूसरे, इस सम्प्रदाय का अध्ययन हस्तलिखित वाणियो के आधार पर ही सम्भव है जिनकी उपलब्धि सहज-सम्भाव्य नही। फलत. तथ्यपरक तथा तत्वपरक, दोनो प्रकार की, शोध के लिए चिरकाल तक भटकना एक असाम्प्रदायिक व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है।

## ग्रन्थ-परिचय

प्रस्तुत प्रवन्ध सिद्धान्त और साहित्य दो खडो में विभक्त है। सिद्धान्त खड का प्रथम अध्याय पृष्ठभूमि के रूप मे वैष्णव धर्म की भक्ति-परम्परा को राधाकृष्ण के साथ सम्बद्ध करने के उद्देश्य से लिखा गया है। प्रवन्ध के मूल विषय के साथ साक्षात् सम्वन्ध न होने पर भी विष्णु-भक्ति के पर्यवसित रूप को माधुर्य भाव के साथ एक ही आधार-फलक पर उपस्थित करना इसका उद्देश्य है। द्वितीय अध्याय में मैंने चतु. सम्प्रदाय शब्द के प्रयोग तथा व्यवहार की सीमा के सम्वन्ध में विचारार्थ एक नया प्रश्न विद्वानो के समक्ष प्रस्तुत किया है। इसी अध्याय के दूसरे भाग मे राधावल्लभ सम्प्रदाय के सम्वन्ध मे उपलब्ध सामग्री का वैज्ञानिक विवेचन है। तृतीय अध्याय सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक गोस्वामी श्री हितहरिवंश का प्रामाणिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत करता है। चतुर्थ, पचम, षष्ठ तथा सप्तम अध्याय राधावल्लभीय विचार-दर्शन, रसभक्ति, साधन-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष से सम्वन्ध रखते हैं। इन गूढ एवं जटिल विषयो पर अभी तक कोई ग्रंथ नही लिखा गया अत. तत्व-निर्णय की दुरूहता का पाठक स्वयं निर्धारण कर सकते हैं।

उत्तरार्द्ध खंड राधावल्लभीय साहित्य का परिचायक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रंथो में सामान्य नामोल्लेख के अतिरिक्त भक्त या कवि के रूप मे इस सम्प्रदाय के भक्त-कवियो पर समीक्षात्मक शैली से कोई विचार नही हुआ। प्रस्तुत प्रवन्ध में राधावल्लभीय भक्त-कवियो की विशाल परम्परा में से केवल दस महानुभावो का ही मैंने चयन किया है। जिन दस महानुभावो के साहित्य की मैंने समीक्षा की है उनके सिवा और भी अनेक महानुभाव ऐसे हैं जिनकी वाणी का साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से आलोचनात्मक अध्ययन आवश्यक है। गोस्वामी रूपलाल जी, हरिलाल व्यास, प्रेमदास जी तथा रतनदास जी की रचनाओ का अध्ययन तो मैंने समाप्त कर लिया था, और मेरा विचार उसे प्रवन्ध मे 'चतुर्दश रत्न' शीर्षक से समाविष्ट करने का था किन्तु प्रवन्ध के कलेवर को अत्यधिक वढता हुआ देखकर, लिखित सामग्री को भी छोड़ना पड़ा। मेरा विश्वास है कि साहित्यिक दृष्टि से अभी इस सम्प्रदाय के ग्रथो का विधिवत् मूल्याङ्कन नही हुआ है। यदि व्रजभक्ति और व्रज-साहित्य मे रुचि रखने वाले अनुसंधाता इस दिशा में प्रवृत्त हो तो उन्हे प्रचुर सामग्री उपलब्ध होगी। श्री हरिराम व्यास,

श्री ध्रुवदास और चाचा वृन्दावनदास के साहित्य पर स्वतन्त्र शोध-प्रबन्ध लिखे जाने योग्य पर्याप्त विषय-वस्तु हस्तलिखित रूप में उपलब्ध है।

## आभार प्रकाशन

प्रस्तुत प्रबध लिखने की प्रेरणा मुझे स्वर्गीय श्री वैद्य उमाशकर जी आयुर्वेदाचार्य से मिली थी। दुर्भाग्य से मेरे कार्य प्रारम्भ करने के तीसरे वर्ष वैद्य जी का देहावसान हो गया। परम वैष्णव होने के साथ वैद्यजी साम्प्रदायिक दर्शन और साहित्य के धुरधर पडित थे। बीच ही में उनका वरद हस्त उठ जाने से मुझे जो आघात पहुँचा वह शब्दो की अशक्त भाषा में कैसे व्यक्त करूँ! आभार और कृतज्ञता का भाव प्रकट करके मैं उनकी कृपा से उऋण नही होना चाहता।

गोस्वामी श्री मुकुट वल्लभाचार्य जी मुझे प्रारम्भ से ही प्रोत्साहित करते रहे हैं। उनका सहयोग मेरे साहस का सम्बल रहा है। सैद्धान्तिक गुत्थियो के सुलझाने में भी गोस्वामी जी ने मेरी सहायता की है। श्री गोस्वामी ललिताचरण जी का भी मैं आभार मानता हूँ जिन्होने प्रारम्भ में मुझे गौडीय तथा निम्बार्क-ग्रथों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया था।

राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को हृदयगम करने में मुझे सबसे अधिक सहायता बाबा श्री हितदास जी तथा बाबा श्री वशीदास जी से मिली। उन्ही के निजी सग्रह से मैंने सैकडो हस्तलिखित ग्रथ उपलब्ध किये। दोनो महात्मा सदा यही कहते रहे कि "जो कुछ हमारे पास है उसे देने मे सकोच कैसा! तत्त्व-ज्ञान और ग्रन्थ का सच्चा अधिकारी जिज्ञासु ही है।" इन दोनो महानुभावो का मेरे प्रति जो कृपा भाव रहा है वह शब्दो मे व्यक्त नही किया जा सकता। सच तो यह है इनकी कृपा के बिना यह कार्य होना असम्भव था।

सर्वश्री बाबा ऊधमदास, बाबा तुलसीदास, बाबा ध्रुवअलिशरण तथा ब्रजवल्लभदास मुखिया ने मुझे हस्तलिखित पुस्तकें देकर कृतार्थ किया है। लेखक इन सभी साधु-महात्माओ का हृदय से कृतज्ञ है।

जिन साधु-महात्माओ ने अपने नाम और पते प्रकट करने का निषेध करके मुझे अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने से भी वचित रखा है, उनके प्रति मेरा रोम-रोम कृतज्ञता से परिपूर्ण है। शिष्टाचारवश दिया हुआ कोरा शाब्दिक धन्यवाद न तो मेरे अन्तर की भावना को व्यक्त कर सकेगा और न उन महात्माओ के प्रति पूज्य बुद्धि का यह सम्यक् प्रदर्शन ही होगा।

इस प्रबन्ध के लिखने में मैंने राधावल्लभ सम्प्रदाय के ग्रन्थो के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायो के साहित्य से भी भक्ति-सिद्धान्तो के समझने में लाभ उठाया है। चैतन्य-सम्प्रदाय के भक्ति-ग्रथ, विशेषत श्री रूपगोस्वामी के उज्ज्वल नीलमणि तथा हरिभक्ति रसामृत सिन्धु तथा जीव गोस्वामी के षट्-सन्दर्भ ग्रथ प्रेमलक्षणा-भक्ति के शास्त्रीय पक्ष का जैसा उद्घाटन करते हैं, वैसा हिन्दी या बगला का कोई अन्य ग्रथ नही करता। निम्बार्क सम्प्रदाय के सस्कृत ग्रथ तथा हिन्दी के महावाणी और युगलशतक से भी मैंने सिद्धान्त-चयन किया है। स्वामी

हरिदास रचित केलिमाल और सिद्धान्त के पद तथा उनकी शिष्य-परम्परा के अष्टाचार्यो की सरस एव काव्यमयी वाणी से मैंने व्रज-भक्ति के माधुर्यभाव का मर्म समझा है। इन तीनो सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति को हृदयगम किये विना माधुर्य-भक्ति का रहस्य समझना सर्वथा दुष्कर है।

वल्लभ-सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे डा० दीनदयालु गुप्त का शोध-प्रवंध अपनी शैली का सर्वप्रथम और सर्वश्रेष्ठ हिन्दी-ग्रथ है। इस ग्रंथ में विद्वान् लेखक ने भक्ति-सम्प्रदायो के अनुशीलन की एक ऐसी परिपाटी स्थिर कर दी है कि जिसका अनुगमन करने पर कोई भी अनुसधाता साम्प्रदायिक अध्ययन की ओर अग्रसर हो सकता है। डा० गुप्त ने अपने विशाल ग्रथ मे वल्लभ-सम्प्रदाय और अष्टछाप के सिद्धान्तों का उद्घाटन करने के साथ व्रजमडल के अन्य वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायो की भावना और साधना-पद्धति का भी अवगाहन करने की चेष्टा की है। वल्लभ-सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति के आकलन मे मैंने इसी ग्रंथ को प्रमाण माना है अत. मै डा० गुप्त का हृदय से कृतज्ञ हूँ और उनके प्रति आभार व्यक्त करना अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के दर्शन और भक्ति पक्ष पर, सक्षेप मे, पहली वार श्री पडित वलदेव उपाध्याय ने अपने 'भागवत-सम्प्रदाय' ग्रंथ में प्रकाश डाला है। मैंने उनके ग्रंथ से भी विषय को समझने मे लाभ उठाया है। अग्रेज लेखको के ग्रथो से मैंने ऐतिहासिक सामग्री संकलित की है। 'मथुरा मैमायर्स' के लेखक मिस्टर ग्राउस के प्रति जितना भी कृतज्ञता का भाव प्रकट किया जाय, कम है। राजकीय पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा के क्यूरेटर श्री कृष्णदत्त वाजपेयी का भी मैं अत्यधिक आभारी हूँ। आपने राजकीय सग्रहालय से अनेक दुर्लभ ग्रन्थ मुझे पढ़ने के लिए प्रदान किये।

अन्त मे, इस प्रवन्ध के निर्देशको के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना परम पवित्र कर्त्तव्य समझता हूँ। सन् १९४८ मे मैंने यह विषय अनुसधान के लिए चुना था। उस समय महामहोपाध्याय डा० लक्ष्मीधर शास्त्री, दिल्ली विश्वविद्यालय मे हिन्दी-सस्कृत विभाग के अध्यक्ष थे। प्रारम्भ के चार वर्षो मे उन्ही के निरीक्षण में यह कार्य चला। लम्वी वीमारी के वाद मार्च सन् १९५३ मे पडित जी का स्वर्गवास हो जाने पर हिन्दी-विभाग के वर्तमान अध्यक्ष डा० नगेन्द्र जी मेरे निर्देशक नियुक्त हुए। महामहोपाध्याय जी के साथ मिलकर मैंने जो रूपरेखा तैयार की थी, उसी के आधार पर मै कार्य कर रहा था। डा० नगेन्द्र जी के निर्देशन मे आने तक मेरे पास सामग्री का सर्वथा अभाव नही था किन्तु उसे वर्गीकृत करके व्यवस्थित रूप से लेखवद्ध करना मेरे लिए समस्या वनी हुई थी। डा० नगेन्द्र जी के शोध-विषयक अनुभव तथा तत्वाभिनिवेशिनी प्रतिभा से लाभ उठाकर मैंने उपलब्ध सामग्री को लेखवद्ध करना प्रारम्भ किया। उन्ही के प्रोत्साहन और प्रेरणा से मैं इस दुष्कर कार्य को पूर्ण करने मे सफल हुआ हूँ। स्वर्गीय महामहोपाध्याय जी आज इस ससार में नहीं हैं किन्तु उनका प्रेम और कृपाभाव मेरे अन्तर मे सुरक्षित है। डा० नगेन्द्रजी के प्रति शिष्टाचार की वाणी मे कुछ भी कहना न तो मेरे हार्दिक भाव की अभिव्यक्ति होगी और न मै औपचारिक धन्यवाद देकर अपने अन्तर की कृतज्ञता को किसी प्रकार कम करना चाहता हूँ।

मान्यवर डा० दीनदयालु गुप्तजी ने इस ग्रथ की विशद भूमिका लिखकर मुझ पर जो कृपा की है उसके लिए में उनका हृदय से आभारी हूँ ।

परिष्कार

वृन्दावन में साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्द्धा के कारण राग-द्वेप का विपाक्त वातावरण मुझे मिला । प्रत्येक सम्प्रदाय के विषय में नाना प्रकार के अपवाद और मृपावाद व्रजमण्डल में फैले हुए हैं । एक तटस्थ अनुसधाता या जिज्ञासु को यथार्थ तथ्य की शोध में जो अडचनें आती हैं उस का अनुभव केवल भुक्त-भोगी ही कर सकता है । खोज के लिए एक घर से दूसरे घर जाते ही बात सफेद से स्याह हो जाती है । मेरे सामने इस प्रकार की वाधाएँ प्रारम्भ से ही खडी थी । किन्तु में न तो किसी सम्प्रदाय विशेष में दीक्षित था और न पक्षपात बुद्धि से कार्य में प्रवृत्त हुआ था । अत मृषावादो के फेर में न पडकर मैंने सत्य की शोध पर ही सतत अपनी दृष्टि रखी है । साथ ही सभी सम्प्रदायो के आचार्यों के प्रति मेरे हृदय में समान श्रद्धा और सम्मान का भाव सदैव बना रहा है। किसी सम्प्रदाय को ऊँच-नीच सिद्ध करना मेरा उद्देश्य नही है । सम्प्रदायो या आचार्यों में पारस्परिक गुरु-शिष्य सम्वन्ध को वरबस लादना भी मुझे अभिप्रेत नही है । किसी सम्प्रदाय या व्यक्ति को किसी दूसरे का अनुगत वताकर भी मैंने किसी को बडा-छोटा नही कहा है । मेरे लिए सभी सम्प्रदाय महान् और महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं । आस्तिकता, अहिंसा, समता और प्रेम पर पल्लवित होने वाले वैष्णव धर्म में वैर-विरोध और कटुता के लिए अवकाश ही कहाँ है ! उज्ज्वल रस में प्रतिस्पर्धा, निन्दा-स्तुति या प्रतिशोध के मलिन भाव का समावेश देखकर सन्ताप होना स्वाभाविक है ।

अन्त में एक वात परिष्कार के लिए और लिखकर में इस लम्बे प्राक्कथन को समाप्त करता हूँ । मैंने अनेक महानुभावो से विचार-विमर्श करके तथा विभिन्न सम्प्रदायो के मूल ग्रथो का अनुशीलन कर इस सम्प्रदाय को जैसा समझा है वैसा ही शुद्ध अन्त करण से व्यक्त करने का प्रयत्न किया है । साम्प्रदायिक सिद्धातों की उपस्थापना में यदि कही त्रुटि है तो उसका समस्त दायित्व मुझ पर है—मेरा अज्ञान या अविवेक ही इसका मात्र कारण है । मेरा विनम्र निवेदन है कि सहृदय पाठक मेरी भावना के साथ तादात्म्य करके इस ग्रथ में प्रतिपादित विपय-वस्तु को हृदयगम करने का अनुग्रह करें । पक्षपात तथा रागद्वेप के मलिन वातावरण को दूर रखकर ही माधुर्यभाव में निमज्जित होना सम्भव है ।

हिन्दी-विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

—विजयेन्द्र स्नातक

# भूमिका

## डॉ० दीनदयालु गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०

*प्रोफेसर तथा अध्यक्ष हिन्दी तथा अन्य आधुनिक भाषा-विभाग*

(लखनऊ विश्वविद्यालय)

धर्म के क्षेत्र में भारतीयजन सदैव से स्वतन्त्र रहे हैं। यही कारण है कि जितने दार्शनिक वाद और धार्मिक मत-पथ इस देश में प्रचलित हुए उतने अन्य किसी देश में नही हुए। बौद्धधर्म के वैराग्य और ज्ञान-प्रधान तथा तान्त्रिक क्रियाओ के अवशेष प्रभावो को लेकर यहाँ शैव और शाक्त-मतो का अनेक शाखा-प्रशाखाओ में प्रचलन हुआ जैसे शैव, पाशुपत, कालादमन, कापालिक, कौल आदि। इन सम्प्रदायो मे बाहरी आचारो तथा बाह्य साधन क्रियाओ पर अधिक बल दिया गया था। शैव और शाक्त मतो की प्रभाव-परम्परा में ईसा की तेरहवी शताब्दी में नाथ सम्प्रदाय के अनेक पंथ प्रचलित हो गये थे जैसे—सिद्धमार्ग, योगमार्ग, अवधूतमत आदि। मत्स्येन्द्रनाथ (मछन्दरनाथ) और गोरखनाथ के द्वारा हठयोग की साधन क्रियाओ को इस युग में अधिक प्रचार मिला।

ईसा की ग्यारहवी शताब्दी मे, जो हिन्दी का शैशव काल था, बौद्धधर्म के निर्वासन के बाद शंकराचार्य के मायावाद, सन्यास, ज्ञान और योग के मार्गों का देश के धार्मिक क्षेत्र में इतना प्रचार हुआ कि जनता लोक-जीवन से उदासीन होने लगी। धर्म ने सामूहिक लोक-धर्म का रूप छोडकर व्यक्तिगत साधन का रूप धारण कर लिया। संसार के व्यावहारिक पक्ष को छोडकर लोग परोक्ष के चिन्तन की ओर अग्रसर हुए। अधिकारी साधको की देखा-देखी साधारण पुरुषार्थ और बुद्धि वाले लोग भी, जो बुद्धि के परिष्कार और ज्ञानयोग के साधन के लिए बहुत अंश में अयोग्य थे, अपने को 'ब्रह्म' समझने लगे और परमतत्त्व को पहचानने का ढोंग करने लगे। इस प्रवृत्ति ने समाज में एक ओर तो दम्भ को जन्म दिया और दूसरी ओर देश में अकर्मण्यता फैली। ईसा की ग्यारहवी शताब्दी से देश पर विदेशी आक्रमण भी आरम्भ हो गये थे, जो आगे की कई शताब्दियों तक चलते रहे। उस समय देश छोटे-छोटे राज्यो में बँटा हुआ था, कोई सगठित शक्ति न रह गई थी। आपस की फूट और व्यक्तिगत मिथ्याभिमान में डूबे हुए भारतीयों को मुट्ठी भर बाहरी लोग रौंदते रहे। ऐसे

समय में बुद्धि की प्रखरता कुंठित हो गई। धर्म के दार्शनिक तत्त्व को समझने की क्षमता भी कम हो गई और चित्त के निरोध के लिए लोगो में मानसिक वल भी क्षीण हो गया। उस समय बुद्धि-प्रधान और शारीरिक तथा मानसिक पुरुषार्थ के कष्टसाध्य धर्मों का प्रचार अपेक्षाकृत कठिन हो गया। इसीलिए लोग उपासना के सरल और सहज मार्ग सगुण भक्ति की ओर उन्मुख हुए।

देशी राजसत्ता धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही थी, विदेशी धर्म का वलात् प्रसार होने लगा था। फलतः चारो ओर निराशा का साम्राज्य छा गया था। लोग राज्य छिनने पर स्वधर्म और स्वसंस्कृति के बचाने में लीन थे। देश में यातायात और विद्याप्रसार की कोई समुचित व्यवस्था न थी। स्थान-स्थान पर नये आचार्यो ने अपनी-अपनी विद्या-बुद्धि के अनुसार नये-नये धार्मिक पथों में लोगों को आश्रय देकर मानो समाज के टूटते हुए वांध को जगह-जगह रोका। विदेशी आक्रमण बहुधा पश्चिम की ओर से हुए थे इसलिए देश के पच्छिमी भूभाग में धर्म-परिवर्तन के साथ राजनीतिक परिवर्तन अधिक हुए और पूर्वी भूभाग में धार्मिक आन्दोलनो की प्रचुरता रही, क्योकि वहाँ बौद्धधर्म के ह्रास के बाद अनेक धार्मिक मतवादो का प्रसार पहले से ही चला आ रहा था। विदेशी धर्म के प्रहारो से वचने के लिए और भी बहुलता के साथ धार्मिक मत खडे हो गए। चौदहवी तथा उसके बाद की दो शताब्दियो में आकर तो पूरे उत्तरी भारत में धार्मिक आन्दोलनो का प्रवल वेग हो गया।

भारतवर्ष में निवृत्ति के मुख्यत तीन मार्ग प्राचीन काल से ही प्रचलित रहे हैं, ज्ञान-मार्ग, योगमार्ग तथा भक्ति-उपासना मार्ग। साख्य और योग के वैराग्य पूर्ण साधन तथा हठयोग के कृच्छ-साध्य अभ्यास एव निर्गुणोपासना का चिन्तन जब लोगो को अनुकूल न रह गए तब उन्होंने भक्ति के सरल मार्ग को अपनाना आरम्भ किया। भक्ति का मार्ग इस देश के लिये नया नही था। भागवत-धर्म-रूप में इसका प्रचलन उत्तरी भारत में बहुत प्राचीनकाल से ही था। दक्षिणी भारत में भागवत धर्म की विद्यमानता आडवार भक्तो के तामिल गीतो के रूप में मिलती है। यह भक्तिधारा ईसा की चौथी शताब्दी से दसवी शताब्दी तक प्रवाहित होती रही। दक्षिण भारत के कुछ आचार्यो ने विष्णु-भक्ति की प्रेरणा उक्त आडवार गीतो से ली और वे भागवत धर्म के प्रचार को उत्तरी भारत में ले आये और उसे उन्होने वहाँ पुनर्जीवित किया। इन आचार्यो ने आडवारो की उपासना भक्ति को शास्त्रीय रूप दिया। उन्होंने आडवार भक्तो के गीत 'प्रबन्धम्' और ब्रह्म-सूत्र के मन्तव्य का समन्वय करने का प्रयास किया। उक्त आचार्यो में मुख्यत चार आचार्य प्रसिद्ध हैं, श्रीरामानुजाचार्य, श्री विष्णुस्वामी, श्री निम्बार्काचार्य तथा श्री मध्वाचार्य। इन्होने शकराचार्य के मायावाद का खडन किया और जीव तथा जगत् की सत्यता तथा ईश्वर-भक्ति को पुन स्थापित किया। बारहवी शताब्दी से आगे की तीन शताब्दियो में उत्तरी भारत में भक्ति के भी अनेक पथ प्रचलित हुए। कुछ तो वैष्णव आन्दोलन के फलस्वरूप पहले से ही चले आ रहे थे और कुछ विदेशी धर्म के आघातो से वचने और कुछ निराश्रित जनो की पीर हरने वाले भक्तवत्सल भगवान् हरि के आश्रय ग्रहण करने की मनोवृत्ति से वने। इन चार वैष्णव सम्प्रदायो के अतिरिक्त प्रमुख भक्ति सम्प्रदाय जिनका प्रचलन उत्तरी भारत में ईसा की सोलहवी शताब्दी के अन्त तक हो चुका था, ये थे—

रामानन्दी सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय, चैतन्य अथवा गौडीय सम्प्रदाय, राधावल्लभीय सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय।

उपासना का मार्ग मुख्यत दो रूपो में प्रचलित हुआ, निर्गुण-ब्रह्मोपासना तथा सगुण-ब्रह्मोपासना। नाम, रूप और गुण के अभ्यस्त आर्त मनुष्यो को सगुण ब्रह्मोपासना में अधिक सान्त्वना मिली। महात्मा सूरदास ने इस भाव को वड़े सुन्दर शब्दो में प्रगट किया है कि "जिस ब्रह्म की रूपरेखा और गुण नही है उसको मन का आलम्बन वनाना वड़ा कठिन है। चंचल मन अव्यक्त पर कही टिकता नही, चक्र की तरह भटकता है इसलिए मैं सगुण ब्रह्म की लीला का गान कर उसी की उपासना करता हूँ।"

'रूप रेख गुन जाति जुगति विनु निरालम्ब मन चक्रित धावै,
सव विधि अगम विचारहिं तातें सूर सगुण लीला पद गावै।'

महात्मा तुलसीदास ने भी यही भाव प्रगट किया है कि "जो व्यक्ति अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हैं वे करें, हम तो, हे प्रभु तुम्हारे सगुण रूप को जानते हैं और उसी का नित्य गान करते हैं।"

"जे ब्रह्म अज अद्वैत अनुभवगम्य मन पर ध्यावहीं,
तें कहहु जानहु, नाथ हम तव सगुण यश नित गावहीं।"—उत्तरकांड

सगुणोपासना के अन्तर्गत पाँच देवताओ की उपासना (पचोपासना) अधिक प्रसारित हुई—शिव, शक्ति, विष्णु, सूर्य और गणेश। वैष्णव आचार्यो ने विष्णु और उनके अवतारो की भक्ति को अपनाया था।

वैष्णव धर्म के विभिन्न मतो में जहाँ दार्शनिकवाद का वैषम्य है वहाँ आचार क्रियाओं में भी पार्थक्य है। परन्तु समान रूप से सव वैष्णव मतो ने सगुण भक्ति को साधन रूप में अपनाया है। उनके सामान्य सिद्धान्तो को हम संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

१. ब्रह्म के सगुण रूप की ही विशेष मान्यता समान रूप से सभी वैष्णव सम्प्रदायो में है, तथा विष्णु के अनेक अवतारो को मानते हुए भी राम और कृष्ण तथा उनकी परम शक्तियो को सवने विशेष महत्त्व दिया है।

२. समान रूप से सव ने जीव और जगत् की सत्यता स्थापित की है और शंकराचार्य के मायावाद का खडन किया है। जीव और जगत् की सत्यता को उन्होने प्रकार-भेद से स्थापित किया है, इस दार्शनिक विभिन्नता के सूचक विभिन्न सम्प्रदायो के नाम भी प्रचलित हुए हैं। जैसे विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, अचिन्त्य भेदाभेद आदि।

३. समान रूप से समस्त वैष्णव सम्प्रदायो मे भक्ति को साधन का मार्ग अंगीकार किया गया है।

४. समन्वय की भावना वैष्णव धर्म की एक मुख्य विशेषता है। वेद-संहिताएँ, उपनिषद्, ब्राह्मण, ब्रह्मसूत्र, गीता और भागवत पुराण वैष्णव धर्म में प्रमुख प्रमाण माने जाते हैं। परन्तु इतिहास-पुराण और लोक-प्रचलित विश्वासो का भी समावेश वैष्णवो ने अपनी-अपनी पद्धति में कर लिया है। उक्त प्रमाणो के अतिरिक्त वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण, हरिवंश और ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मसूत्र और भागवत पर लिखे भाष्य, नारद भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य भक्ति

सूत्र तथा महाभारत का नारायणीयोपाख्यान भक्ति-आन्दोलन के मुख्य आधार ग्रंथ हैं। वैष्णव भक्ति-मार्ग ने शैव और शाक्त मतो के विभिन्न साम्प्रदायिक विश्वास और उपासना-उपचारो को रूपान्तरित कर अपने-अपने ढग से अपना लिया है। ज्ञात होता है कि भोग-सुख को 'महासुख' का प्रतीक मानने की प्रवृत्ति बौद्ध तान्त्रिक मतो में पहले आई थी। कुछ समय बाद, उन्ही मतो में लौकिक स्त्री-पुरुष की रति-क्रियाओ के ऐन्द्रिय सुखों में मन की आन्तरिक तटस्थता और उसमे चित्त की चचल वृत्ति का निरोध ढूंढा जाने लगा। धीरे-धीरे रति-भोग को ही 'परम सुख' का पूर्वरूप और उसका माध्यम बना लिया गया और इस प्रकार काम-वासना आध्यात्मिक आनन्द का प्रतीक न रह कर परमानन्द-साधन की एक सीढी बना ली गई। तान्त्रिक बौद्ध मतो से यह प्रवृत्ति शैव और शाक्तों में आई और वहाँ भी धर्म की आड में काम-क्रीडा का रस-प्रसार खूब हुआ। वैष्णव भक्तो ने भी इस व्यापक भाव को अपनाया परन्तु उसका परिष्कार करके उन्होने इसको ग्रहण किया। रतिभाव की भक्ति जिसे 'मधुर-भक्ति' कहा गया है वैष्णव भक्ति-साधन का एक मुख्य अग बन गई। भगवान आनन्द-स्वरूप हैं और सब प्रकार के भावो से वे भजनीय हैं, इस दृढ विश्वास को लेकर भक्ति-साधना के अनेक रूप प्रवर्तित हो गये।

५. भक्ति-साधन में मन के लोक-लिप्त-भाव और सम्बन्ध ही लोक से हटाकर ईश्वर में लगाने का विधान है। इस साधन में ऐहिक सम्बन्धो को छोडना नही होता, उन्हें केवल ईश्वर की ओर मोडना होता है। इसी से भक्ति का साधन सरल और सहज कहा गया है।

६ एक विशिष्टता वैष्णव धर्म की यह भी कही गई है कि भक्ति के साधन में भक्त की जाति-पाति और कुल का कोई भेदभाव नही है। अनेक भक्त समाज की निम्न श्रेणी के हुए हैं और अपनी साधना और सिद्धि से परम पूजनीय हो गए हैं। भक्ति-साधन का द्वार सब के लिये समान रूप से खुला है।

७ विश्वास, श्रद्धा, दैन्य, अकिंचनता और उपास्य ईश्वर की महत्ता तथा उसकी भक्त-वत्सलता भक्ति के ये आलम्बन तत्त्व सभी सम्प्रदायो में समान रूप से मान्य रहे हैं।

जैसा कि पहले कहा गया है कि भक्ति-धर्म एक आशावादी धर्म के रूप में प्रवर्त्तित हुआ था। इस साधन में मन के कोमल भावों के अतिरिक्त क्रूर भावो का भी समावेश है। क्रूरकर्मा व्यक्ति भी क्रूर-भाव को ही भगवान को अर्पित कर मन का परिष्कार और नित्यसुख प्राप्त कर सकता है। वैसे भगवान के प्रति प्रीति के चार भाव ही बहुधा भारतीयजनों ने अपनाये हैं। दास्य प्रीतिभाव, सख्य प्रीतिभाव, वात्सल्य प्रीतिभाव तथा माधुर्यभाव अथवा कान्ताभाव।

ईसवी चौदहवी शताब्दी में स्वामी रामानन्द ने श्री रामानुजाचार्य के तात्त्विक सिद्धान्तो का अनुकरण कर रामोपासना का एक स्वतन्त्र भक्ति-मार्ग स्थापित किया। स्वामी रामानन्द जी के अनेक शिष्य हुए परन्तु उनमें से लगभग सभी ने अपने अलग-अलग पथ स्थापित किये। इनमें कई शिष्यो ने स्वामी रामानन्द की प्रेम-भक्ति का रूपान्तरण कर उसमें नाथपथ की ज्ञान-योग की साधना सम्मिलित करली। उन्होंने भक्ति और ज्ञानयोग के सम्मिश्रण से अध्यात्म्य के नवीन मार्ग चलाये। इन मार्गों में प्रेम-भक्ति का वह रूप नही है जो वैष्णव-भक्ति के विभिन्न सम्प्रदायो में है, फिर भी साधन-रूप में इन्होंने भी कुछ अश में

भक्ति का स्वीकार किया है। रामानन्द जी के शिष्यो में हिन्दी-भाषी ऐसे अनेक साधक हो गये हैं जिन्होने अव्यक्त और निर्गुण ब्रह्म की उपासना मे ज्ञान और योग के साथ प्रेम-भक्ति का समावेश किया है। निर्गुण ब्रह्मोपासना के ये नये पथ 'संतमत' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन सन्तो मे महात्मा कबीर, नानक और रैदास अधिक विख्यात हैं। इन्होने आध्यात्मिक साधन के साथ व्यावहारिक जीवन के पारस्परिक सम्बन्ध और सदाचार की ओर भी ध्यान दिया है और उस क्षेत्र में जनता को इन्होने नैतिक मर्यादा के उपदेश भी दिये हैं। आत्म-कल्याण के साथ समाज-कल्याण भी इनका ध्येय रहा है। रामानन्द की शिष्य-परम्परा मे सगुण-भक्त भी हुए हैं जिन्होने लोक-भाषा हिन्दी के द्वारा अपने विचार और भाव प्रकट किये हैं। भक्त-शिरोमणि तुलसीदास इसी परम्परा के रामोपासक महात्मा थे। अयोध्या मे इस प्रकार के विभिन्न भावो को लेकर चलने वाले अनेक राम-भक्त महात्मा रहे हैं।

विष्णु स्वामी, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, चैतन्य, हितहरिवंश और हरिदास इन आचार्य और भक्तो के नाम से जो सम्प्रदाय उत्तरभारत में प्रचलित हुए वे सब सगुणोपासक हैं तथा कृष्ण-भक्ति से सम्बद्ध हैं। विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की परम्परा में श्री वल्लभाचार्य हुए जिन्होने ईसवी १६वी शताब्दी में माधुर्य-भक्ति का प्रचार किया। महाराष्ट्र में प्रचार पाने वाला भागवतधर्म, जो पीछे वारकरी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय का ही रूपान्तर बताया जाता है। ज्ञानदेव, नामदेव, केशव, त्रिलोचन, एकनाथ, आदि महाराष्ट्र संत-भक्त वारकरी सम्प्रदाय से सम्बद्ध रहे थे। इन सभी महाराष्ट्र सतो ने हिन्दी मे भी अपने भाव प्रकट किये हैं। सूरदास, परमानन्ददास, नन्ददास, नागरीदास आदि परमभक्त विष्णुस्वामी की वल्लभ-शाखा के अनुगामी थे। इनकी विविध भावमयी भक्ति-पूर्ण रचनाओ से हिन्दी-साहित्य सम्पन्न बना है। वल्लभ सम्प्रदाय का प्रसार राजस्थान और गुजरात में अधिक हुआ। वहाँ के भक्तो ने भी अपने भाव हिन्दी मे प्रकट किये हैं। प्रसिद्ध कवयित्री मीराबाई परम कृष्णभक्ता थी जिसकी रचनाओ में सगुणभक्ति का निखरा हुआ रूप परिलक्षित होता है।

श्री वल्लभाचार्य के समकालीन भक्त चैतन्य महाप्रभु थे। उनके द्वारा प्रवर्त्तित सम्प्रदाय 'गौडीय सम्प्रदाय अथवा चैतन्य सम्प्रदाय' कहलाता है। चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति के साधन में कीर्तन-प्रणाली को अधिक प्रश्रय दिया। इस सम्प्रदाय ने बगाल में विशेष प्रचार पाया। वहा के अनेक बंगाली भक्त प्रसिद्ध हो गये हैं। श्री रूप गोस्वामी, श्री सनातन गोस्वामी तथा श्री जीव गोस्वामी इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रचारक थे जो अकबर बादशाह के शासनकाल मे वृन्दावन में वास करते थे। श्री रूप गोस्वामीजी के तीन ग्रन्थ 'हरिभक्ति-रसामृत सिंधु,' 'उज्जवल नीलमणि,' और 'लघुभागवतामृत' भक्ति-शास्त्र के प्रसिद्ध सस्कृत-ग्रन्थ हैं। गदाधर भट्ट और विट्ठल रसिक इसी सम्प्रदाय के हिन्दी-कवि और भक्त थे। हरिदासी सम्प्रदाय के सस्थापक स्वामी हरिदास जी भी श्री वल्लभाचार्य और सम्राट् अकबर के समकालीन परमभक्त थे। इनकी वाणी भक्ति-रस से सिक्त है। इन्होने आराध्य कृष्ण की सखीभाव से उपासना की थी। विट्ठलविपुल और विहारिदेव सखी भाव के प्रसिद्ध भक्त-कवि हुए हैं।

उक्त सम्प्रदायो का समकालीन राधाकृष्णभक्ति परक एक सम्प्रदाय राधावल्लभीय

भी था जिसके सस्थापक श्री गोस्वामी हितहरिवशजी थे जो स्वय एक सिद्ध भक्त और उच्च-कोटि के रससिद्ध कवि थे। भक्तप्रवर व्यासदेव और ध्रुवदास इस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध भक्त हो गए हैं। राधावल्लभीय भक्तो ने भी ज्ञान और योग-मार्गो की अनुपयुक्तता बताकर, प्रेम-भक्ति का प्रसार किया। इस सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण युगल की प्रेम और आनन्दमयी लीलाओ के ध्यान और मनन को परमानन्द प्राप्ति का साधन बताया गया है। गोस्वामी हितहरिवश ने भी माधुर्यभाव की प्रेम-भक्ति का प्रचार किया, परन्तु इन्होने मधुरभाव को एक नवीन और विशेष ढग से अपनाया। इस सम्प्रदाय में आनन्द स्वरूप कृष्ण की रसशक्ति राधा की विशेष मान्यता है। भक्तमाल में नाभादासजी ने इनके सिद्धात को स्पष्ट किया है और इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति को बडा कठिन बताया है। वे कहते हैं—

**श्री राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी**
**कुंज केलि दम्पति तहां की करत खवासी ॥**

× × ×

**व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भलि पहिचानि है,**
**हरिवश गुसाई भजन की रीति सकृत कोई जानि है ॥—भक्तमाल**

राधा-कृष्ण दम्पति की माधुर्यभाव (शृ गार) की आनन्द केलि का मनन करते हुए मानसिक वृत्ति को लौकिक कामभावना से बचाए रखना वास्तव में बडा कठिन योग है। प्रियादास जी ने तो यहा तक कहा है कि 'हितू जू की प्रेम पद्धति को लाखो व्यक्तियो में से कोई एक समझ सकता है।' नाभादास जी ने इस सम्प्रदाय का परिचय देते हुए कहा है कि इस पन्थ में राधाचरण की भक्ति प्रधान है। राधा कृष्ण की भी आराध्या हैं। राधाकृष्ण के नित्य-विहार को सहचरी के रूप में देखना इस सम्प्रदाय का परम लक्ष्य है। यद्यपि इस सम्प्रदाय में सयोग की भावना सदैव रहती है, क्षणभर को भी वियोग की स्वीकृति नही है फिर भी भक्त अपने हृदय में सखीभाव से युगल के नित्य-नूतन विग्रह और क्रीडाओं के दर्शन में सदा अतृप्ति के भाव का अनुभव करता है। अन्य भक्ति-सम्प्रदायो के समान इस सम्प्रदाय में भी नवधाभक्ति को साधन रूप में अपनाया गया है।

सहचरी-भाव अन्य कृष्णभक्ति सम्प्रदायो में भी है परन्तु अन्य सम्प्रदायो में भक्तात्मा सहचरी से उठकर भगवान् की कृपा द्वारा प्रियापद को प्राप्त करती है, जो भगवान् से भिन्न रहते हुए भी अभिन्न हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में आत्मा, सहचरी भाव से आगे, प्रियाभाव में जाने की अभिलाषा नही करती। उसे युगल केलि दर्शन में ही परमानन्द प्राप्त होता है। भारतीय भक्ति-उपासना पद्धति के महत्त्वपूर्ण सम्प्रदायो में राधावल्लभ सम्प्रदाय की गणना है। सूरदास, परमानन्द दास, नन्ददास, मीरा, हितहरिवश, सेवक, ध्रुवदास, व्यास विहारिनदास, विट्ठलविपुल आदि कृष्णभक्तो ने भक्ति का कोई शास्त्रीय विवेचन नही किया। इन्होने, एक न एक सम्प्रदाय से बद्ध होते हुए भी, समान रूप से, भगवान् के प्रति अनन्य 'प्रेम' का प्रस्फुटन ही अपनी वाणी में किया है। उस वाणी में प्रेमानुभूति की विभोर दशा का स्वाभाविक और सजीव चित्रण है। इनकी रचनाओ में सरसता, सरलता, भाषा-लालित्य

ग्रौर स्वाभाविक कलात्मकता है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी इन सम्प्रदायो का साहित्य अत्यधिक समृद्ध ग्रौर सम्पन्न है।

लगभग १५ वर्ष पूर्व, जब मैंने हिन्दी के वल्लभ सम्प्रदायी वैष्णव-कवियो का अध्ययन किया था, ग्रौर 'ग्रष्टछाप ग्रौर वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रन्थ लिखा था, उस समय मुझे ग्रन्य वैष्णव सम्प्रदायो के हिन्दी कवियो के भी ग्रध्ययन का ग्रवसर प्राप्त हुग्रा। 'ग्रष्ट-छाप ग्रौर वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रपने ग्रन्थ मे मैंने विभिन्न कृष्ण-भक्ति परक वैष्णव सम्प्रदायो का सक्षिप्त विवरण उक्त ग्रध्ययन के फलस्वरूप दिया है। उसी समय से मेरी हार्दिक कामना थी कि मैं ग्रथवा ग्रन्य कोई व्यक्ति वल्लभ सम्प्रदायी हिन्दी-कवियो के समान ही, ग्रन्य वैष्णव सम्प्रदायो के पृथक्-पृथक् गम्भीर ग्रौर गवेषणात्मक ग्रध्ययन प्रस्तुत करें। ग्रनेक कारणो से मैं इस कार्य को पूरा नही कर पाया। मुझे ग्रत्यधिक हर्ष है कि डा० विजयेन्द्र स्नातक ने 'राधावल्लभ सम्प्रदाय . सिद्धान्त ग्रौर साहित्य' नामक प्रबन्ध मे, वैष्णव सम्प्रदायो में से एक सम्प्रदाय 'राधावल्लभीय' ग्रौर उसके हिन्दी-कवियो का सुन्दर ग्रध्ययन प्रस्तुत कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस कार्य मे विद्वान् लेखक ने ग्रपनी गहन विद्वत्ता, ग्रध्ययनशीलता ग्रौर गम्भीर परिश्रम का परिचय दिया है।

'राधावल्लभ सम्प्रदाय . सिद्धान्त ग्रौर साहित्य' ग्रन्थ दो भागो में विभक्त है। पूर्वार्द्ध मे सिद्धान्त पक्ष का विवेचन है ग्रौर उत्तरार्द्ध मे उक्त सम्प्रदाय के प्रमुख कवियो ग्रौर उनके साहित्य का समीक्षात्मक मूल्याकन है। माधुर्य-भक्ति-निष्ठ इस वैष्णव सम्प्रदाय की सैद्धान्तिक तथा साहित्यिक दृष्टि से विवेचना प्रस्तुत करने वाला यह पहला शोध-ग्रन्थ है। साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के ग्रध्ययम मे लेखक ने युक्ति, तर्क ग्रौर प्रमाणो के साथ-साथ सम्प्रदाय की भावना का भी ध्यान रखा है। ग्रारम्भ मे पृष्ठभूमि के रूप में विष्णु-भक्ति के क्रमिक विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। दूसरे ग्रध्याय मे लेखक ने विविध सम्प्रदायो का जो वर्तमान स्वरूप प्रस्तुत किया है वह, वास्तव मे, गहन ग्रध्ययन ग्रौर मौलिक चिन्तन का प्रतिफल है। लेखक का विचार है कि वैष्णव-भक्ति का प्रसार केवल चतु. सम्प्रदायो में ही ग्राबद्ध नही है वरन् विष्णु के किसी भी रूप की उपासना करने वाला भक्त वैष्णव है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, राधावल्लभ सम्प्रदाय माधुर्य भक्ति का पोषक सम्प्रदाय है जिसकी साधना में प्रेम या हित-तत्त्व की प्रधानता है। वल्लभाचार्य ग्रौर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी की भाँति गोस्वामी हितहरिवश ने भी गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही मधुर-भक्ति की साधन-प्रणाली चलाई थी। निष्काम कर्म ग्रौर भगवत-हित की भावनाग्रो से पूर्ण इस रसिक सम्प्रदाय की साधन प्रणाली ने, कठिन होते हुए भी, बहुत मान पाया। इसमे परम सुख की कल्पना 'नित्यविहार' के रूप मे की गई है। डा० स्नातक ने 'नित्यविहार' के दार्शनिक रूप को समझा है ग्रौर उसका गम्भीर विवेचन किया है। नित्यविहार के विधायक ग्रग राधा, कृष्ण, सहचरी ग्रौर वृन्दावन का पहली बार विशद-व्यापक वर्णन इस ग्रंथ में हुग्रा है। कुछ विद्वानो ने इस सम्प्रदाय की दार्शनिक विचार-प्रणाली को, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत ग्रादि वादो के समान 'सिद्धाद्वैत' नाम दिया है। वस्तुतः ग्राचार्य हितहरिवंश जी ने न तो किसी प्रकार के दार्शनिक मतवाद की स्थापना की थी ग्रौर न उसका नामकरण

ही किया था। इस विषय का भी विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में गम्भीर एव प्रामाणिक विवेचन किया है।

ग्रथ का उत्तरार्द्ध, जैसा कि पीछे कहा गया है, साहित्यिक आलोचना की दृष्टि से लिखा गया है। लेखक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के केवल दस प्रमुख कवियो का विवरण दिया है। इस दिशा में भी लेखक की मौलिक देन है। खोज के साथ कवियो का सम्पूर्ण चारित्रिक परिचय और उनके काव्य का सर्वांगीण विवेचन है। अनेक कवि ऐसे भी प्रकाश में लाये गये हैं जिनका उल्लेख हिन्दी के इतिहास-ग्रथो में नही है। प्रस्तुत ग्रथ पर श्री स्नातक जी को पी-एच० डी० की उपाधि मिली है, जिसके वे सर्वथा अधिकारी हैं। सफलता के लिए वे मेरी बधाई के पात्र हैं। डा० स्नातक की लेखनी से इसी प्रकार के अन्य महत्त्वपूर्ण और गवेषणात्मक ग्रन्थों का सृजन होगा, यह मेरी शुभ कामना है।

—दीनदयालु गुप्त

४१ कैंसर बाग, लखनऊ।

# उत्तरार्द्ध : साहित्य खंड

# पूर्वार्द्ध

*

[ सिद्धान्त खंड ]

## प्रथम अध्याय

. पृष्ठभूमि

# वैष्णव धर्म और भक्ति का उदय

## भक्ति का उद्भव

भगवद् भक्ति वैष्णव धर्म की आधार शिला है। ब्रह्म-साक्षात्कार, ईश्वर-प्राप्ति, विष्णु-सान्निध्य तथा परम-पुरुपार्थ-सिद्धि आदि विभिन्न नामो से व्यवहृत 'साध्यतत्व' का भवन वैष्णव धर्म मे भक्ति की नीव पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक ऋचाओ से लेकर मध्ययुगीन भक्त महानुभावो द्वारा रचित 'वाणी ग्रन्थो' तक भक्ति के क्रमिक-विकास का अनुशीलन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि कर्म, ज्ञान और उपासना नाम से जिन तीन मार्गो का निर्देश वैदिक वाङ्मय मे हुआ है, उनका पर्यवसान वैष्णव धर्म मे भक्ति-मार्ग में हुआ। मानव जीवन के चरम लक्ष्य 'परम पुरुषार्थ-सिद्धि' के लिए उपर्युक्त तीनो मार्गो के समन्वय पर वैदिक साहित्य मे पर्याप्त वल दिया गया है। यह समन्वय-बुद्धि ही वाद मे भक्ति-पथ को प्रशस्त करने में सहायक हुई। पुराण तथा भक्ति सूत्रो के प्रणयन काल में तो 'परम पुरुषार्थ-सिद्धि' का तात्पर्य 'भगवत्-कृपा-प्राप्ति' ही समझा जाने लगा और इसीलिए भगवद् भक्ति को पुरुषार्थ के भीतर परिगणित किया गया। ज्ञान, कर्म और उपासना मार्ग की दुरूह एव कष्टसाध्य साधना को त्यागकर श्रवण, कीर्तन, दैन्य, आत्मनिवेदन आदि के सुगम माध्यम से वैष्णव भक्त ने भगवान् के समीप पहुँचने का पथ खोज निकाला, फलत भक्ति का सोपान मध्ययुग में अपेक्षाकृत अधिक आदरणीय समझा जाने लगा। प्रेमलक्षणा भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो में तो प्रेम को ही साध्य एव साधन समझ लिया गया। भक्ति का यह चरम उत्कर्ष जिस क्रमिक विकास-परम्परा में हुआ उसका अनुशीलन इस तथ्य का द्योतक है कि उपासना मार्ग ही परवर्त्ती युग में भक्ति मार्ग वना।

भक्ति के उद्भव और विकास-क्रम के सम्वन्ध में पर्याप्त मतभेद होने पर भी यह प्रामाणिक रूप से कहा जा सकता है कि आस्तिक भाव से ईश्वरोपासना करने वाले आर्यो मे भक्ति के मूल वीज विद्यमान थे और आशिक रूप से भक्ति के विविध रूपो का आभास उन्हे वैदिक काल में ही मिल गया था। अनुराग-सूचक भक्ति-परक परवर्ती अभिव्यक्तियो से वैदिक

ऋचाओ का सामजस्य स्वीकार न करने वाले अनेक पाश्चात्य विद्वानो ने भक्ति को अभारतीय तत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। पाश्चात्य विद्वान् वेवर, कीथ और ग्रियर्सन ने इसे ईसाई धर्म की देन कहा है। वेवर महोदय कृष्ण की भगवान् के रूप में कल्पना का श्रेय क्राइस्ट को देते हैं और ग्रियर्सन महाशय का मत है कि प्राचीन काल में ईसाइयो की एक बस्ती मद्रास प्रान्त मे थी, उन्ही के प्रभाव से हिन्दुओ मे भक्ति-मार्ग आया और बाद में दक्षिण भारत से समस्त भारतवर्ष में फैल गया।[1] इसी प्रकार प्रो० विलसन ने भक्ति को अर्वाचीन युग की उपज कहकर यह सिद्ध करना चाहा है कि विभिन्न सम्प्रदायो के गुरुओ ने अपनी प्रतिष्ठा के लिए इसका प्रचार किया।[2] उक्त मान्यताओ के पीछे भारतीय भक्ति-परम्परा के क्रमिक विकास को न समझना तथा स्वधर्म (ईसाई) का उत्कर्ष सिद्ध करने का आग्रह मात्र है। यह सत्य है कि वैदिक काल में अनुराग-परक भक्ति का वह रूप प्रकाश मे नही आया था जो मध्ययुग मे अथवा पौराणिक काल में व्यापक रूप से स्वीकार किया गया, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नही कि उस युग में भक्ति की कल्पना तक नही हुई थी। विभिन्न देवताओ की स्तुति-प्रार्थना के लिए जो मार्मिक अभिव्यक्तियाँ उस काल में प्रस्तुत की गई उनमें भक्ति के लिए अनिवार्य राग-तत्व का अभाव नही कहा जा सकता।

वेवर महोदय ने तो कृष्ण जन्माष्टमी पर्व और महाभारत में वर्णित श्वेत-द्वीप वर्णन को भी ईसाई धर्म की देन ठहराया है। वे द्वीप शब्द से समुद्र पार स्थित योरोप देश समझते हैं। श्री राय चौधरी ने अपने ग्रथ 'अर्ली हिस्ट्री आफ वैष्णव सेक्ट' में इन भ्रान्तियो का निराकरण किया है।[3] इसके सिवा वेसनगर (भेलसा) के शिलालेख द्वारा भी भक्ति का ईसा से दो शताब्दी पूर्व होना सिद्ध होता है।[4] जिन कल्पित तथ्यो के आधार पर भक्ति को

---

1—ग्रियर्सन महोदय का लेख—Journal of the Royal Asiatic Society, 1907—Page 311—36
Encyclopaedia of Religions & Ethics Part II (Article on Bhakti Marg by Grierson) Page 539—551.

2—"Bhakti is an invention and apparently a modern one of the institutions of the existing sects intended like that of the mystical holiness of the Gurus, to extend their own authority"
—Prof H H Wilson—Hindu Religions, Page 232.

3—In the opinion of several scholars this Bhakti Religion was of foreign origin, and was preached in India for the first time by Ramanuj "There has been considerable misimpression—says S Krishnaswami Aiyangar on the basis of misimpression theories have been built up time and again that the characteristic features of the special teachings of Ramanuj have been borrowed from Christianity"
—"Early History of the Vaishanava Sect"
Dr H Ray Chaudhri, Page 19

४ ओझा निबंध संग्रह—भाग १—ले० गौरीशकर हीराचन्द ओझा—पृष्ठ २२९-२३२

अभारतीय और अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया उनका परवर्ती विद्वानो ने खडन किया है । इस निर्मूल भ्रान्त धारणा का कारण वैदिक साहित्य का एकागी अध्ययन या अज्ञान ही कहा जा सकता है । भारतीय विद्वान् श्री बालगगाधर तिलक तथा श्री कृष्ण स्वामी आयगर ने उक्त मान्यता का सप्रमाण खडन करते हुए भक्ति को वैदिक युग से ही बीज रूप में स्वीकार किया है ।[1] भक्ति एव भागवत धर्म के सम्बन्ध मे इतने पुष्कल प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि उनकी अवहेलना करके भक्ति को अभारतीय तत्व बताने का साहस आज कोई निष्पक्ष विद्वान् नही करेगा । हम यहाँ इस विवाद मे न उलझकर विष्णु-भक्ति के क्रमिक विकास का सकेत मात्र प्रस्तुत करना चाहते हैं । विष्णु-भक्ति के विविध रूप ही वैष्णव-भक्ति-सम्प्रदायो के आधार हैं अत उनके प्रारम्भिक रूप का यदि यत्किंचित् भी सधान हो सके तो परवर्ती भक्ति-पद्धति का वैज्ञानिक अनुशीलन सम्भव होगा ।

## वेद में भक्ति

वेद सहिता और ब्राह्मण ग्रथो मे प्रत्यक्ष रूप से अनुराग-सूचक भक्ति शब्द का प्रयोग नही हुआ और भक्ति शब्द द्वारा साक्षात् उपासना का लक्ष्य भी नही कराया गया, किन्तु उस काल में भक्ति की कल्पना भी नहीं हुई थी यह मानना भक्ति-परक अभिव्यक्तियो की अवहेलना करना है । वेद और ब्राह्मण ग्रन्थो मे कर्मकाण्ड की प्रधानता होने पर भी जिस प्रकार ज्ञान-काड का विकास स्पष्ट परिलक्षित होता है वैसे ही ज्ञान के बाद भक्ति की परम्परा का भी सधान ऋचाओ के आधार पर सम्भव है । यदि वैदिक साहित्य मे भक्ति-तत्त्व के बीज सन्निहित न होते तो उनके अकुरित होकर पल्लवित और पुष्पित होने का सुयोग परवर्ती काल मे कैसे सम्भव होता । भक्ति के शास्त्रीय रूप के स्थिर होने पर जिस नवधा-भक्ति की स्थापना हुई उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, आत्मनिवेदन आदि अगो के

---

१. "वेबर नामक पश्चिमी संस्कृत पंडित ने इस कथा (नारायणीयाख्यान) का विपर्यास करके यह दीर्घ शंका की थी कि भागवत धर्म में वर्णित भक्ति तत्व, श्वेत द्वीप से अर्थात् हिन्दुस्तान के बाहर के किसी अन्य देश से लाया गया है और भक्ति का यह तत्व इस समय ईसाई धर्म के अतिरिक्त और कहीं भी प्रचलित नहीं था । अब पश्चिमी पण्डितों ने यह भी निश्चित किया है कि वेबर साहब की उपर्युक्त शंका निराधार है ।"

—'गीता रहस्य अथवा कर्मयोग शास्त्र' श्री बाल गंगाधर तिलक—(हिन्दी) पृष्ठ ५४६

टिप्पणी

(श्वेत द्वीप के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानो का कहना है कि यह भारत के उत्तर में बैक्ट्रिया देश के ईसाई मतानुयायी श्वेतांग व्यक्तियों का उपनिवेश है, पुराणो में इसी की ओर इंगित किया गया है । किन्तु उनकी यह कल्पना सर्वथा मिथ्या और निराधार है ।)

सकेत हमें वेदमत्रो में अनेक स्थलो पर मिलते हैं।[1] वेद प्रतिपादित भक्ति भावना को वैष्णवीय भक्ति से किस प्रकार सयुक्त किया जाय और वेद को वैष्णवधर्म का आधार किस प्रकार माना जाय यही इस प्रसग में विवेच्य है। हमारी यह मान्यता है कि वैदिक देवता इन्द्र के प्रति उस काल में अवश्य ही स्निग्ध और राग पूर्ण धारणा रही थी जिसके परिणाम स्वरूप इन्द्र को माता पिता आदि के सम्बोधनो से व्यवहृत करके भक्ति के मूल तत्व को वेद में स्वीकार किया गया।[2] वेदमत्रो में भक्ति के अवयवो को खोज निकालने का जैसा प्रयत्न वर्तमान युग में हो रहा है उसे सर्वतोभावेन स्वीकार न करते हुए भी मूल रूप से श्रवण, कीर्तन आदि की भावना को हमें मत्रो मे स्वीकार करना ही होगा। शाडिल्य ने अपने भक्ति सूत्र में 'भक्तिः प्रमेया श्रुतिभ्य' (१-२-९) द्वारा वेदो की ओर स्पष्ट सकेत किया है।

"भारतीय भक्ति सम्प्रदाय का आदि स्रोत ऋग्वेद है। यहाँ कुछ मत्रो में आदमी और देवता के बीच गाढे प्रेम और मित्रता की कल्पना की गई है।"[3] विविध देवी-देवताओ की पूजा-अर्चा का विधान भी एक ही देवता अर्थात् ईश्वर की भक्ति का ही विधान है ऐसा आज सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं। एक ही ईश्वर या सत् को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण या अग्नि के नाम से पुकारते हैं, वही सुन्दर पखो वाला दिव्य गरुड भी है। उसी एक पदार्थ का वर्णन वे अनेक प्रकार से करते हैं इसलिए वही एकमात्र सत् (सृष्टि को आविर्भाव करने के कारण, अग्नि (ससृति एव परिवर्तन का मूल कारण होने पर कारण) यम (अखिल विश्व का आधारभूत होने से) तथा मातरिश्वा भी कहलाता है।[4] भक्ति-भावना के

---

१ ऋग्वेद के मत्रों में भक्ति के अवयवों का प्रतीक शैली से प्रतिपादन —
श्रवण—'यो जातमस्य महतो महि ब्रवत्सेदु श्रुवोभियु ज्य चिदभ्यसत्।'
ऋग्वेद म० १। अ० १५६। मत्र २।
कीर्तन—'विष्णोर्नु क वीर्याणि प्र वोच य पार्थिवानि विममे रजासि।'
ऋग्वेद १।१५४।१
स्मरण—प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।' ऋग्वेद १।१५४।३
विनय—'इम मे वरुण श्रुधी हवमद्याच मृडय। त्वामवस्युरा चके। ऋग्वेद १।२५।१९
अभिलाषा—यदग्ने स्यामह त्व त्व वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिष।'
ऋग्वेद ८।४४।२३

२ त्वहि न पिता वसो त्व माता शतक्रतो वभूविथ। अधाते सुम्नमीमहे। ऋग्वेद ८।९८।११
तमु स्तोतार पूर्व्य यथा विद ऋतस्य गर्भ जनुषा पिपर्तन।
आस्य जानन्तो नाम चिद्विवक्तन महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे॥ ऋग्वेद १।१५६।३

३. डा० बेनीप्रसाद रचित 'हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता'—पृष्ठ ४२।

४ 'इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहुरथो दिव्य स सुपर्णो गरुत्मान्।
एक सद्विप्रा वहुधा वदन्त्यग्नि यम मातरिश्वानमाहु॥ ऋग्वेद १। १६४। ४३
'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमा।
तदेव शुक्र तद् ब्रह्म ता आप स प्रजापति॥' यजुर्वेद ३२। १।

बद्धमूल होने के लिए भक्त की एक ही ओर गति होना आवश्यक है। अनेक मे भी एक को खोज लेना भक्त की स्वाभाविक विशेषता है।[1] अत वेद में ऐसे अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं जिनमें एक ही देवता मे अपनी भावना को लीन करने का वर्णन किया गया है। वैदिक उपासना मार्ग मे भक्ति-तत्वो का विकास हुआ था और इसीलिए भक्ति का सबसे पहला रूप सहिता भाग की उन ऋचाओ मे है जिनमे ईश्वर का श्रद्धा-भक्तिपूर्वक 'ध्यानयोग' के लिए विधान किया गया है। प्रसिद्ध सस्कृतज्ञ पाश्चात्य विद्वान् कीथ के अनुसार भक्ति की वैष्णवानुमोदित भावना का आविर्भाव आर्यो के आध्यात्मिक एव दार्शनिक विचारो में अधिक गभीरता आने पर बाद मे हुआ और तभी वह प्रारम्भिक श्रद्धा वा उपासना से विकसित होती हुई क्रमश उपास्य भगवान् के ऐश्वर्य वा मूलतत्व मे भाग लेना ( भज्=भाग लेना ) आदि व्यक्त करने वाले अधिक व्यापक भाव मे परिणत हुई। कीथ का यह विचार केवल अनुमानाश्रित है। इसके लिए उन्होने अकाट्य तर्क या प्रमाण प्रस्तुत नही किया।[2] अत. भक्ति के मूल बीज का पता हमें वेद से ही मानना चाहिए।

वैदिक काल में उपास्य देवताओ के नामो की इयत्ता नही है। अनेक नामो से एक ही ईश्वर की पूजा-अर्चा का विधान है ऐसा ऋग्वेद के सुप्रसिद्ध मत्र 'एकमद्विप्रा बहुधा' आदि द्वारा हमने सकेतित किया है। किन्तु वैष्णव धर्म की दृष्टि से हमे अनेक देवताओ के होने पर भी विष्णु पदवाच्य देवता पर विचार करना है। उपासना-क्षेत्र मे विष्णु शब्द देवता के अर्थ में कब से प्रयुक्त होना प्रारम्भ हुआ और किस प्रकार यह वैदिक विष्णु देवता ही परवर्ती पुराण तथा भक्ति साहित्य मे लीलावतारी विष्णु बन गया। वैदिक विष्णु और पौराणिक कृष्ण के शृखलाबद्ध क्रमिक रूप का संधान कठिन है किन्तु जितनी कडियाँ उपलब्ध हैं हम उनका सकेत प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

## वेद में विष्णु

ऋग्वेद में विष्णु शब्द का प्रयोग अनेकार्थ और विपुल है किन्तु उसकी एक विशेषता यह है कि वह सर्वत्र एक दिव्य, महान् और व्यापक शक्ति का प्रतीक है।[3] यदि उसे आदित्य वाचक मानकर प्रयोग में लाया गया है तब भी वह तीन पगो में अखिल ब्रह्माड को लाघ जाता है। उसके दो पग जो पृथ्वी और अन्तरिक्ष मे पडते हैं मनुष्य देख पाता है, शेष तीसरे पग का पराक्रम उसे भी विदित नही होता। तृतीय पग विष्णु का परम पद है जिसे विद्वान्

---

१. 'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एकस्य आत्मनः अन्ये देवाः प्रत्यगानि भवन्ति।।'
यास्क, निरुक्त दैवत कांड ( ७-४। ८, ९ )

२. कीथ का लेख—कल्याण कल्पतरु अगस्त १९३६, पृष्ठ ५५४।

3—Aspects of Early Vishnuism by J Gonda, Page 3.

लोग आकाश की ओर सदा ऊँची दृष्टि लगाकर देखा करते हैं।[1] इस प्रकार विष्णु को कही 'ऋतस्य गर्भम्' कहा है तो कही 'यज्ञोहवै विष्णु' कहकर स्वय यज्ञ ही स्थिर किया है उपासना के प्रसग के आये हुए वेदमन्त्रो में विष्णु को लोकरक्षक के रूप में समस्त ईश्वरीय गुणो से समन्वित कहा है। विष्णु का वर्णन वेद में इन्द्र के सहायक देवता के रूप में भी हुआ है और इन दोनो के पराक्रम का वर्णन एक साथ समान भाव से भी किया गया है विष्णु के विविध रूपो का वर्णन जे० गोडा नामक विद्वान् ने अपने शोध ग्रथ 'एस्पैक्टस् ऑव अर्ली विष्णुइज्म' में विस्तारपूर्वक किया है।[2] इस ग्रथ की मान्यताओ को यदि विष्णु विकास का आधार स्वीकार कर लिया जाय तो वैदिक विष्णु ही परवर्ती काल का देवता विष्णु सिद्ध हो सकता है।

सहिता के वाद ब्राह्मणकाल में विष्णु का वर्णन बढता हुआ दृष्टिगत होता है और विष्णु की शक्ति का भी उत्तरोत्तर विकास ब्राह्मण ग्रन्थो में वर्णित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे यज्ञ-निष्ठा की दृष्टि से विष्णु को अग्रणी ठहराया गया है और विष्णु के अलौकिक दिव्य शक्तिपूर्ण चमत्कारो का भी कथा के रूप में वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रथो में विष्णु की व्यापकता इस बात का निदर्शन है कि देवताओ में इन्द्र की जैसी प्रधानता ऋचाओ में थी वैसी ही प्रधानता शनै-शनै विष्णु को प्राप्त होना प्रारम्भ हो गई थी एक प्रकार से इन्द्र

---

१ विष्णु सम्बन्धी ऋग्वेद के कतिपय मत्र—

(क) इद विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋग्वेद १।२२।१७

(ख) द्वे इन्द्रस्य क्रमणे स्वर्दृशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयमस्य नकिरा दधर्षति वयश्चन पतयन्त पतत्रिणः। ऋग्वेद १।१५५।५

(ग) तद्विष्णो परम पदम् सदा पश्यन्ति सूरय। दिवीव चक्षुराततम्।
ऋग्वेद १।२२।२०

२. इन्द्र और विष्णु के पारस्परिक सहयोग के वर्णन के लिए पढ़िए—

(क) वृत्र और इन्द्र कथा—तैतरीय सहिता—२, ४, १२, ३। विष्णु की सहायता से इन्द्र ने वज्र उठाया और वृत्र का सहार करने की क्षमता प्राप्त की।

(ख) ऋग्वेद १।८५।७, ६।२०।२ मत्रों में इन्द्र और विष्णु को सयुक्त रूप से देवताओं का सहायक बताया गया है।

(ग) विष्णु और इन्द्र के वर्णन के विस्तृत अध्ययन के लिए देखिये—

Journal of the Royal Asiatic Society, New Haven—Page 37
E W Hopkins The Religions of India—Page 388
R N Dandeker Vishnu in the Vedas (Volume of Studies in Indology presented to Mr Kane) Page 90

(घ) Aspects of Early Vishnuism by J Gonda
Vishnu and Indra, Page 28
Vishnu, Indra and Vajra, Page 32
Vishnu's relation with the gods, Page 108

का स्थान विष्णु ने ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। विष्णु शब्द के देवता अभिधान का यह क्रमिक विकास ही समझना चाहिए।[1] कुछ विद्वानो ने तो विष्णु के अवतारो की सूचना भी ब्राह्मण ग्रथो में ढूढ निकाली है।[2]

## उपनिषद् और भक्ति

वैदिक ऋचाओ मे किसी एक मार्ग की वरेण्यता न होकर ज्ञान, कर्म और उपासना तीनो के सामंजस्य पर बल देने का स्पष्ट कारण ऋषियों की समन्वय-बुद्धि है। सासारिक कार्य-कलाप को ध्यान में रखकर जिस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति का पारस्परिक तारतम्य निर्धारित करके उनके त्याग और ग्रहण का विधान है, उसी प्रकार इन तीनो मार्गों के सापेक्षिक महत्व को हृदयगम करके, स्वीकार करने की व्यवस्था की गई है। ब्राह्मणकाल मे याज्ञिक अनुष्ठानो का प्राधान्य होने से कर्मकाड का अपेक्षाकृत अधिक विकास और विस्तार हुआ। ज्ञान और उपासना की उपेक्षा होने से उपनिषद् एव आरण्यको मे ज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और ज्ञान-मार्ग से ब्रह्म के समीप बैठने (उप+निषद्) का उपक्रम किया गया। ब्रह्म-सान्निध्य के लिए ज्ञान की उपादेयता स्वीकार करते हुए भी ऋषियो को भक्ति की अनिवार्यता प्रतीत हुई और श्वेताश्वतर उपनिषद् में सर्वप्रथम देव (प्रभु) और गुरु की भक्ति का महत्व बताते हुए उन्होने कहा—

यस्य देवे परा भक्ति र्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशयन्ते महात्मनः॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६-२३।

उपनिषद्कालीन ऋषियो को ज्ञान-मार्ग का अनुसरण करते हुए भी यह विदित हो गया था कि मानव जीवन का उद्देश्य ऐसी ज्ञान-प्राप्ति नही जो केवल गहन दार्शनिक अनुभूति पर आश्रित रहकर जीवन को राग के स्पन्दन से नितान्त विहीन बना दे। उत्कट प्रेम और ज्ञान के द्वारा ही दिव्य आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। इसीलिए कदाचित् बृहदारण्यक के 'मधु-विज्ञान' प्रकरण मे तथा छान्दोग्य उपनिषद् मे उपासना के अगो मे भक्ति तत्व को स्थान देकर उन्होंने अपनी दूरदर्शिता का परिचय दिया है।[3] उपनिषदो के उपासना कांड का पर्यालोचन इस तथ्य की ओर भी इगित करता है कि ब्रह्म के यथार्थ बोध के लिए केवल ज्ञान-

---

१. शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के पराक्रम की कथा—१४।१।१
शतपथ ब्राह्मण में विष्णु की वामन रूप में कथा—१।२।५
'अग्निर्वै देवानाभवमो विष्णु परम., तदन्तरेण सर्वा अन्या देवता।'
ऐतरेय ब्राह्मण १।१।

२. द्रष्टव्य—भागवत सम्प्रदाय (लि० बलदेव उपाध्याय) पृष्ठ ८२।

३. 'स होवाच भगवन्तं वा अहमेभि सर्वेरात्विज्यै पर्येषिषं वा अहमवित्यान्यानवृषि।'— छान्दोग्योपनिषत् प्र० अ० एकादश खंड २।

ार्ग ही पर्याप्त नही अपितु भगवान् की शरण मे भी जाना आवश्यक है।[1] श्री बाल गगाधर
ालक ने अपने 'गीता रहस्य' नामक ग्रन्थ मे इस विषय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि—
छान्दोग्यादि प्राचीन उपनिपदो में यह कहा है कि परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए चित्त
काग्र होना चाहिए। और यह चिन्तन, मनन और ध्यान करने के लिए ब्रह्म चिन्तन अत्यन्त
ावश्यक है, और चित्त को स्थिर रखने के लिए परब्रह्म का कोई न कोई सगुण प्रतीक पहले
त्रो के सामने रखना पडता है। इस प्रकार ब्रह्मोपासना करते रहने से चित्त की जो एकाग्रता
ो जाती है उसी को आगे विशेष महत्व दिया जाने लगा और चित्त निरोध रूपी योग एक
दा मार्ग हो गया, और जब सगुण प्रतीक के वदले परमेश्वर के मानव रूपधारी व्यक्त
तीक की उपासना का आरम्भ धीरे-धीरे होने लगा तब अन्त में, भक्तिमार्ग उत्पन्न
आ। यह भक्तिमार्ग औपनिपदिक ज्ञान से अलग, वीच ही में स्वतन्त्र रीति से
ादुर्भूत नही हुआ है, और न भक्ति की कल्पना हिन्दुस्तान में किसी अन्य देश से
ाई गई है।"[2] यथार्थ में, ब्रह्म की सूक्ष्म और निर्गुण कल्पना को सगुण-व्यक्त-प्रतीक के रूप
प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न में ही विष्णु, श्रीकृष्ण, वासुदेव, नारायण आदि की भक्ति या
ापासना-पद्धति प्रवर्तित हुई।[3] काल-क्रम की दृष्टि से वाद में निर्मित हुई उपनिषदो मे इस
ापासना (भक्ति) का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होता है।

## वैदिक वाङ्मय में विष्णु के विविध रूप

वैदिक काल में जिस रूप में भक्ति का विकास हो रहा था उसमें हृदय-पक्ष को शनै-
ानै प्रधानता मिलनी प्रारम्भ हुई और बुद्धिवादी ज्ञान-प्रधान तार्किक उपासना को गौणता
मलने लगी। हृदय-पक्ष की प्रधानता होने पर विष्णु नामक देवता की पूजा-अर्चा वढी और
ही प्रमुख देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। उपनिषद् काल में विष्णु के परमधाम को
ार्वोच्च स्थान माना गया और जगत्-पालक के रूप मे विष्णु की कल्पना की गई।[4] विष्णु
ा वर्णन जिस रूप मे सहिताओ में हुआ था उसे और अधिक तेजस्वी, उर्जस्वी एव भास्वर
ानाकर प्रस्तुत किया जाने लगा। जो विशेषण पहले इन्द्र के लिये प्रयुक्त होते थे वे ही

---

१. 'यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व, योवै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
त ह देवमात्मबुद्धिप्रकाश मुमुक्षुर्वै शरणमह प्रपद्ये॥' श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

२ गीता रहस्य, वालगगाधर तिलक, पृष्ठ ५४२।

३—"From this position in the Vedas he (Vishnu) began to rise in importance in the time of the Brahmans and Aranyakas, until in the Maitryana and Kath-Upnishads, we find the self identified with Vishnu, Shiva and Narayan

Monograph on the Religious Sects in India—D A Pai, Page 25

४. विज्ञानसारथिर्यस्तु मन प्रग्रहवान्नर।
सोऽध्वन परमाप्नोति तद्विष्णो परमपदम्॥

कठोपनिषद्—तृतीय वल्ली, श्लोक ६।

क्रमशः विष्णु की प्रशंसा में काम आने लगे। 'विष्णु के हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषण, वृषभ, वैकुंठ, बृहच्छ्लोक आदि नाम जैसे पहले इन्द्र के लिए प्रयुक्त होते थे अथवा इन्द्र-सम्बन्धी किसी वस्तु को सूचित करते थे, धीरे-धीरे विष्णु के कई नामों एवं उपाधियों का आधार बन गये।'[1] विष्णु का यह माहात्म्य इस बात का प्रमाण है कि भक्ति की दृष्टि से अन्य देवी-देवताओं की अपेक्षा विष्णु के नाम और रूप को अधिक आकर्षक और परिपूर्ण समझा गया था। विष्णु शब्द की निरुक्ति और निर्वचन करते समय विष्णु की व्यापकता का ध्यान सतत बना रहा। यास्काचार्य ने अपने निरुक्त में विष्णु शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है—'अथ यद् विषितो भवति, तद्विष्णुर्भवति। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा।' श्री दुर्गाचार्य का निर्वचन इस प्रकार है—यदा रश्मिभिरतिशयेन व्याप्तो भवति, व्याप्नोति वा रश्मिभिरयं सर्वम्। तदा विष्णुरादित्यो भवति।'[2] यथार्थ में जो समस्त चराचर जगत् को व्याप्त करता है वही विष्णु है 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः' यही व्युत्पत्ति विष्णु-माहात्म्य प्रतिपादन के लिए पर्याप्त है।

वैष्णव धर्म के मूल में विष्णु की यह सर्वव्यापकता ही प्रधान है जिसका व्यापक विस्तार विविध रूपों में भक्ति क्षेत्र में हुआ। विष्णु के अधिक सान्निध्य की कामना से, उन्हें अधिक हृदयस्पर्शी रूप में पास लाने की कामना से विष्णु की अवतार भावना नारायण (विष्णु) के रूप में हुई। इस विषय की ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'भक्ति का विकास' शीर्षक निबंध में संकेत किया है।[3]

नारायण के रूप में भी विष्णु की उपासना का विधान वैष्णव धर्म में है। नर के अयन या अन्तिम लक्ष्य नारायण हैं। ऋग्वेद में सृष्टि निर्माण की कथा के प्रसंग में नारायण का संकेत मिलता है।[4] मनुस्मृति में नारायण शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बताया गया है कि—

'आपो नरा इति प्रोक्ता आपो वै नर सूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥'

—मनुस्मृति अ० १ श्लोक १०

महाभारत में नारायण रूप में विष्णु का वर्णन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। नारायण और विष्णु दोनों का तादात्म्य रूप से यहाँ नामोल्लेख हुआ है। नारायण की सलाह से ही समुद्र-मंथन किया गया ऐसा भी वर्णन है।[5] विष्णु के विविध रूपों का युग,

१. 'भक्ति कल्ट इन एनशियंट इण्डिया'—बी० के० गोस्वामी—पृष्ठ १०१-१०२।

२ यास्क—निरुक्त १२।१९। निरुक्त दुर्गाचार्य—२।३।३।

३ देखिए—सूरदास (भक्ति का विकास) पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २० से ३० तक।

४. ऋग्वेद—१०।२५।५-६

5—It was Narayan, who in the great epic is often identified with the supreme Vishnu to whom Tradition ascribes the merit of having the advice to churn the ocean in order to acquire the merit contained in it. (Mahabharat 1. 17. 1)

जाति और कर्म की दृष्टि से जो विधान महाभारत मे हुआ है उसमे नारायण को क्षत्रिय तथा वैश्यो द्वारा समादृत देवता बताया गया है।[1] नारायण को पुरातन देवता के रूप में तथा सृष्टि निर्माता के रूप मे भी महाभारत में कहा गया है।[2] शैव शास्त्रो मे जहाँ शिव का ही प्राधान्य है विष्णु और नारायण को सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में तथा ( शिव-साहाय्य से ) सृष्टि निर्माण कर्ता के रूप मे वर्णित किया गया है।[3]

विष्णु और नारायण दो देवताओ की कल्पना में वैदिक काल में अभेद बुद्धि होते हुए भी कर्म की दृष्टि से कुछ भेद रखा गया था। भक्तियुगीन विष्णु और नारायण का जो रूप बाद में विकसित हुआ वह सहिता काल मे नही था। वैष्णव भक्ति में परमात्मा ( विष्णु ) को दयालुता तथा वत्सलता का अवतार मानकर लोकरजन और लोक-सग्रह के कल्याण पक्ष से सयुक्त करके देखा गया। केवल यज्ञादि मे ही विष्णु का आराधन न होकर दैनिक जीवन के कार्यकलाप में उसकी व्यापक शक्ति का कल्याणकारी पक्ष ग्रहण किया गया। किन्तु विष्णु की कल्पना का आधार वही पुराना था। डा० देशमुख ने वैदिक कालीन विष्णु की स्थिति परवर्ती हिन्दू धर्म में स्वीकृत विष्णु से हीन मानी है।[4] यह कहना सर्वथा युक्ति-सगत नही है

---

1—"Narayan stated to be revered by Khashtriyas and Vaishyas".
—Aspects of Early Vishnuism by J Gonda, Page 24

2—"We find the idea where Narayan, who is older than the oldest ones is at the same time said to have taken his birth as the son of Dharam and to be the creator of the Universe"
—Aspects of Early Vishnuism by J Gonda, Page 67

3—In Shivaitic texts which acknowledge Shiv as their supreme God, Vishnu is also represented as a very mighty divinity Thus Vishnu-Narayan is held to be the best amongs the Gods (Surah), and to be the creator of the Universe (though he himself owes his existence to Shiv) All the gods are pervaded by him His world is even said to be the best goal In accounts of the creation of the Universe Vishnu is often identified with Brahma, who in his turn is called Narayan
—Aspects of Early Vishnuism by J Gonda, Page 121-122

4—"Among the Sun gods of the Rigveda, Vishnu occupies a subordinate position but as one who later becomes one of the two greatest gods of modern Hinduism, he is of the utmost importance In the Rigveda he is addressed only in five or six independent hymns.

He also shares the other attributes common to Vedic gods of being a liberal and a bountiful guardian, a generous deliverer and an ordainer The reasons why Vishnu became so important a god of Hinduism we will discuss later
—Religions in Vedic Literature—Dr. P S Deshmukh Page 224—25 ( Oxford University Press )

कि वैदिक कालीन विष्णु और भक्तिकालीन विष्णु की कल्पना में कोई साम्य नहीं।[1] हमारी यह निश्चित मान्यता है कि वैदिक विष्णु का ही विकसित रूप भक्तिकालीन विष्णु है जो शनैः शनैः महाभारत काल तक परम पद को प्राप्त करता गया और इन्द्र जैसे प्रमुख देवता से भी ऊपर आसीन हुआ। वैदिक विष्णु देवता से मध्ययुगीन कृष्ण या वासुदेव तक जो परिवर्तन क्रम है उसका अनुसंधान अभी तक नहीं हो सका है किन्तु यह निश्चित है कि इन दोनों रूपों में मौलिक एकता अवश्य है। ऋग्वेद में जिन विष्णु की स्थिति इन्द्र से निम्न कोटि की है, जो इन्द्र के बाद ही सर्वत्र स्थान पाता है, कैसे भक्तियुग में प्रधान बन गया यह विचारणीय है। विष्णु के शौर्य, पराक्रम, शक्ति, तेज आदि गुणों के क्रमिक विकास का अनुशीलन इस बात का प्रमाण है कि उत्तरोत्तर श्रद्धा, भक्ति और प्रेम की भावनाओं की वृद्धि होती गई और उनका भाजन विष्णु ही बना। वैष्णव-भक्ति का स्वरूप और विधान वैदिक भक्ति से पर्याप्त भिन्न था अतः विष्णु के स्वरूप में भी अन्तर आना तो स्वाभाविक ही था, फिर भी दोनों में एकान्त भिन्नत्व है यह नहीं कहा जा सकता।[2]

## महाभारत में विष्णु और वासुदेव

विष्णु के बाद वैष्णव धर्म में 'वासुदेव' को भक्ति में स्थान मिला। वासुदेव के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है। महाभारत में शान्तिपर्व के अन्तिम अठारह अध्यायों में और भीष्म पर्व में वर्णित नारायणीयोपाख्यान में भागवत, सात्वत, नारायण या पांचरात्र धर्म का उल्लेख मिलता है। इन धर्मों में वासुदेवोपासना का वर्णन है अतः उपर्युक्त चारों वैष्णव धर्मों के संकेतों को हृदयंगम करने के बाद इनमें वासुदेव की स्थिति पर विचार करना उचित होगा। इन धर्मों का महाभारत में इस प्रकार उल्लेख है —

'यदा भागवतोऽत्यर्थमासीद्राजा महान् वसु।'
किमर्थं स परिभ्रष्टो विवेश विवर भुव. ॥[3]

---

1—We should also note another important fact, namely, that, there is very little inner connection between Vedic and Brahmanic Vishnu worship and the Bhakti religion, we call Vaishanavism The idea of God of grace, the doctrine of Bhakti—these are the fundamental tenets of the religion termed Vaishnavism But they are not very conspicuous in Vedic and Brahmnic Vishnu-worship
—The Early History of the Vaishnava Sect—H. Ray Chaudhari. Page 18 and 19

2—Like Keith, Ruben gave the verdict that Vishnu became a great god in Post-Vedic times because he—for this pronoun I would, for the sake of prudence, read . a deity of his character and functions —was already important in pre-Aryan—I would prefer—non-Aryan-India.
—Aspects of Early Vishnuism by J Gonda, Page 3

३—महाभारत—शान्तिपर्व, अध्याय ३३७ श्लोक १।

सात्वत विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुख नि सृतम् ।'
पूजयामास देवेश तच्छेषेण पितामहान् ।।[1]
'नारायण पर सत्यमृत नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्म पुनरावृत्ति दुर्लभ. ।।'
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः
नारायणात्मको गधो भूमौ श्रेष्ठतम स्मृतः ।"[2]
पांचरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मन ।
प्रायण भगवत्प्रोक्त भुञ्जते वाऽग्रभोजनम् ।।"[3]

भागवत धर्म के विषय में महाभारत में कथा आती है कि इस धर्म को नारद ने स्वय नारायण से ग्रहण किया था। वासुदेव शब्द का भक्ति के क्षेत्र में प्रामाणिक रूप से प्रयोग बताने के लिए श्री भडारकर, लोकमान्य तिलक, डा० राय चौधरी आदि विद्वानो ने पाणिनि के व्याकरण सूत्रो का प्रमाण प्रस्तुत किया है और उसके आधार पर ईसा से सात शताब्दी पहले वासुदेव पूजा प्रचलित थी यह स्थिर किया है।[4] किन्तु वासुदेव भक्ति का विकसित रूप हमें महाभारत से ही मानना चाहिये। भागवत धर्म को प्रतिष्ठित करने के विषय में भागवत पुराण के प्रारम्भ में एक कथा आती है जिसमे कहा गया है कि जब व्यासजी ने देखा कि महाभारत और गीता में नैष्कर्म्य प्रधान भागवत धर्म का जो प्रतिपादन किया गया है उसमें भक्ति का यथार्थ रूप नही निखर पाया और भक्ति के बिना कोरा नैष्कर्म्य शोभा नही देता तब उन्होने नारद को बुलाकर अपने मन का उद्वेग कहा तथा उसी की पूर्ति के निमित्त भक्ति-प्रधान भागवत पुराण की रचना की।[5] इस कथा से यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि भागवत पुराण से पहले वैष्णव धर्म मे गृहीत उपासना मार्ग नैष्कर्म्य प्रधान था, उसमें भक्ति पक्ष की स्थिति सन्तोपजनक न होने से परवर्त्ती काल में भक्ति-प्रधान पुराण का निर्माण किया गया। वैष्णव धर्म मे समादृत नारद पचरात्र ग्रन्थ भी भक्ति-मार्ग की स्थापना के लिए बाद मे ही लिखा गया। पचरात्र में गीता, महाभारत, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त, पुराण आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख भी इस बात का प्रमाण

---

१—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३५ श्लोक १६।

२—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४८ श्लो० ८२-८३।

३—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३५ श्लो० २५।

4— Collected Works of Sir R G Bhandarkar Vol IV, Page 415
गीता रहस्य—बाल गगाधर तिलक, पृष्ठ ५४६-४७
The Early History of the Vaishanava Sect—H Ray Chaudhari, Page 24
'वासुदेवार्जुनाभ्या वुन' (पाणिनि अष्टाध्यायी ४।३।९८) सूत्र के वसुदेवक शब्द से वासुदेव की भक्ति करने वाला यह सिद्ध होता है।'

५—श्रीमद्भागवत पुराण—स्कन्ध १, अध्याय ४—५

है कि उसकी रचना महाभारत और पुराणों के बाद हुई ।[1] भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक नारद भक्तिसूत्र एवं शाण्डिल्य भक्तिसूत्र तो बाद की रचना है । यह गीता के श्लोकों से सिद्ध होता है जो इन भक्ति-सूत्रों में उदाहृत किये गये हैं ।[2] अतएव भागवत धर्म का विशद उल्लेख हमें महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में ही मानना होगा । पं० रामचन्द्र शुक्ल ने वासुदेव-भक्ति का तात्विक निरूपण महाभारत काल में ही स्वीकार किया है ।[3] विष्णु और वासुदेव का ऐक्य भी महाभारत के शान्ति पर्व में बड़े व्यक्त शब्दों में स्वीकार किया गया है । विष्णु को ही वासुदेव का रूप मानते हुए कहते हैं :—

'सर्वेषामाश्रयो विष्णुरैश्वर्यं विधिमास्थितः ।
सर्वभूतकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥

महाभारत, शान्तिपर्व अ० ३४७ श्लो० ९४

## पुराणों में भक्ति तत्त्व

वैष्णव धर्म का वर्तमान रूप पुराणों द्वारा प्रतिपादित और समर्थित होकर ही सार्वजनीन बना है । पुराणों की रचना से पूर्व वैष्णव धर्म का सूक्ष्म रूप ही प्रकाश में आया था जिसे पौराणिक कथानक, आख्यान, अर्थवाद, विनियोग और व्याख्या द्वारा स्पष्ट और व्यापक रूप प्राप्त हुआ । महाभारत में पुराण महिमा वर्णन करते हुए एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि अष्टादश पुराणों के श्रवण से जो फल होता है वह वैष्णव को ही प्राप्त होता है ।[4] यहाँ वैष्णव शब्द स्पष्ट रूप से व्यवहृत हुआ है । यह श्लोक पुराणों की रचना के पश्चात् महाभारत में बाद में जोड़ा गया समझा जाता है किन्तु वैष्णवों के लिये पुराण माहात्म्य बाद के प्रायः सभी ग्रंथों में वर्णित हुआ है । आज के पौराणिक जगत् में तो श्री मद्भागवत को वेद के समकक्ष आप्त प्रमाण समझा जाता है । पुराणों के तत्वार्थ पर ही विकसित होकर वैष्णव भक्ति अपनी प्रौढ़ावस्था तक पहुँची । महाभारत और गीता की रचना के बाद भी भगवान् की महिमा का आख्यान शेष रह गया था जिसे पुराणों द्वारा पूर्ण किया गया । देवर्षि नारद ने महाभारत के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुये यही कहा है कि धर्मादि चतुष्टय की व्याख्या हो जाने पर भी भगवद्-महिमा का निरूपण शेष रहता है । यह महिमा ही वैष्णव धर्म या भागवत धर्म का प्राण है अतः व्यासजी को नारद ने पुराण प्रणयन में प्रवृत्त किया । इस पौराणिक आख्यान का तात्पर्य पुराणों का महत्व प्रदर्शन मात्र है । मानव-धर्म के आख्यान की दृष्टि से महाभारत की महत्ता सर्वविदित है ।

---

१—नारदपंचरात्र—श्लोक सं० २,७,२८,३२—४

२—भत्तिसूत्र नारद ७६-८३, भक्तिसूत्र शाडिल्य—अध्याय २, सूत्र ८३

३—सूरदास (भक्ति का विकास) पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २६

४—अष्टादश पुराणानां श्रवणाद्यत्फलंभवेत् ।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवोनात्र संशय. ॥ महाभारत १८।६।९७

सात्वत विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुख नि सृतम् ।'
पूजयामास देवेश तच्छेषेण पितामहान् ।।[1]
'नारायण पर सत्यमृत नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्म पुनरावृत्ति दुर्लभ. ।।'
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः
नारायणात्मको गधो भूमौ श्रेष्ठतम स्मृत· ।"[2]
पाचरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मन ।
प्रायण भगवत्प्रोक्त भुञ्जते वाऽग्रभोजनम् ।।"[3]

भागवत धर्म के विषय में महाभारत मे कथा आती है कि इस धर्म को नारद ने स्वय नारायण से ग्रहण किया था। वासुदेव शब्द का भक्ति के क्षेत्र में प्रामाणिक रूप से प्रयोग बताने के लिए श्री भडारकर, लोकमान्य तिलक, डा० राय चौधरी आदि विद्वानो ने पाणिनि के व्याकरण सूत्रो का प्रमाण प्रस्तुत किया है और उसके आधार पर ईसा से सात शताब्दी पहले वासुदेव पूजा प्रचलित थी यह स्थिर किया है।[4] किन्तु वासुदेव भक्ति का विकसित रूप हमें महाभारत से ही मानना चाहिये। भागवत धर्म को प्रतिष्ठित करने के विषय में भागवत पुराण के प्रारम्भ मे एक कथा आती है जिसमें कहा गया है कि जब व्यासजी ने देखा कि महाभारत और गीता में नैष्कर्म्य प्रधान भागवत धर्म का जो प्रतिपादन किया गया है उसमें भक्ति का यथार्थ रूप नही निखर पाया और भक्ति के विना कोरा नैष्कर्म्य शोभा नही देता तब उन्होने नारद को बुलाकर अपने मन का उद्वेग कहा तथा उसी की पूर्ति के निमित्त भक्ति-प्रधान भागवत पुराण की रचना की।[5] इस कथा से यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि भागवत पुराण से पहले वैष्णव धर्म में गृहीत उपासना मार्ग नैष्कर्म्य प्रधान था, उसमें भक्ति पक्ष की स्थिति सन्तोपजनक न होने से परवर्त्ती काल में भक्ति-प्रधान पुराण का निर्माण किया गया। वैष्णव धर्म में समादृत नारद पचरात्र ग्रन्थ भी भक्ति-मार्ग की स्थापना के लिए बाद में ही लिखा गया। पचरात्र मे गीता, महाभारत, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त, पुराण आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख भी इस बात का प्रमाण

---

१—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३५ श्लोक १९।

२—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४८ श्लो० ८२-८३।

३—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३५ श्लो० २५।

4— Collected Works of Sir R G Bhandarkar Vol IV, Page 415
गीता रहस्य—बाल गगाधर तिलक, पृष्ठ ५४६-४७
The Early History of the Vaishanava Sect—H Ray Chaudhari, Page 24
'वासुदेवार्जुनाभ्या वुन' (पाणिनि अष्टाध्यायी ४।३।९८) सूत्र के वसुदेवक शब्द से वासुदेव की भक्ति करने वाला यह सिद्ध होता है।'

५—श्रीमद्भागवत पुराण—स्कन्ध १, अध्याय ४—५

है कि उसकी रचना महाभारत और पुराणो के बाद हुई।[1] भक्ति-मार्ग के प्रतिपादक नारद भक्तिसूत्र एवं शाडिल्य भक्तिसूत्र तो बाद की रचना है। यह गीता के श्लोको से सिद्ध होता है जो उन भक्ति-सूत्रो मे उदाहृत किये गये हैं।[2] अतएव भागवत धर्म का विशद उल्लेख हमे महाभारत के नारायणीयोपाख्यान मे ही मानना होगा। प० रामचन्द्र शुक्ल ने वासुदेव-भक्ति का तात्विक निरूपण महाभारत काल से ही स्वीकार किया है।[3] विष्णु और वासुदेव का ऐक्य भी महाभारत के शान्ति पर्व मे बडे व्यक्त शब्दो मे स्वीकार किया गया है। विष्णु को ही वासुदेव का रूप मानते हुए कहते हैं :—

'सर्वेषामाश्रयो विष्णरैश्वर्यं विधिमास्थितः।
सर्वभूनकृतावासो वासुदेवेति चोच्यते ॥

महाभारत, शान्तिपर्व अ० ३४७ श्लो० ९४

## पुराणों में भक्ति तत्त्व

वैष्णव धर्म का वर्तमान रूप पुराणो द्वारा प्रतिपादित और समर्थित होकर ही सार्वजनीन बना है। पुराणों की रचना से पूर्ण वैष्णव धर्म का सूक्ष्म रूप ही प्रकाश में आया था जिसे पौराणिक कथानक, आख्यान, अर्थवाद, विनियोग और व्याख्या द्वारा स्पष्ट और व्यापक रूप प्राप्त हुआ। महाभारत में पुराण महिमा वर्णन करते हुए एक श्लोक आता है जिसमें कहा गया है कि अष्टादश पुराणो मे श्रवण से जो फल होता है वह वैष्णव को ही प्राप्त होता है।[4] यहाँ वैष्णव शब्द स्पष्ट रूप से व्यवहृत हुआ है। यह श्लोक पुराणो की रचना के पश्चात् महाभारत में बाद में जोडा गया समझा जाता है किन्तु वैष्णवो के लिये पुराण माहात्म्य बाद के प्राय: सभी ग्रथो में वर्णित हुआ है। आज के पौराणिक जगत् मे तो श्री मद्भागवत को वेद के समकक्ष आप्त प्रमाण समझा जाता है। पुराणो के तत्वार्थ पर ही विकसित होकर वैष्णव भक्ति अपनी प्रौढावस्था तक पहुँची। महाभारत और गीता की रचना के बाद भी भगवान् की महिमा का आख्यान शेष रह गया था जिसे पुराणो द्वारा पूर्ण किया गया। देवर्षि नारद ने महाभारत के विषय मे अपने विचार व्यक्त करते हुये यही कहा है कि धर्मादि चतुष्टय की व्याख्या हो जाने पर भी भगवद्-महिमा का निरूपण शेष रहता है। यह महिमा ही वैष्णव धर्म या भागवत धर्म का प्राण है अत व्यासजी को नारद ने पुराण प्रणयन मे प्रवृत्त किया। इस पौराणिक आख्यान का तात्पर्य पुराणो का महत्व प्रदर्शन मात्र है। मानव-धर्म के आख्यान की दृष्टि से महाभारत की महत्ता सर्वविदित है।

---

१—नारदपंचरात्र—श्लोक सं० २,७,२८,३२—४

२—भक्तिसूत्र नारद ७६-८३, भक्तिसूत्र शांडिल्य—अध्याय २, सूत्र ८३

३—सूरदास (भक्ति का विकास) प० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २६

४—अष्टादश पुराणानां श्रवणाद्यत्फलभवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवोनात्र संशयः ॥ महाभारत १८।६।९७

सात्वतं विधिमास्थाय प्राक्सूर्यमुख नि सृतम् ।'
पूजयामास देवेश तच्छेषेण पितामहान् ।।[१]
'नारायण पर सत्यमृत नारायणात्मकम् ।
नारायणपरो धर्म पुनरावृत्ति दुर्लभ. ।।'
प्रवृत्ति लक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मक'
नारायणात्मको गधो भूमौ श्रेष्ठतम स्मृत' ।"[२]
पांचरात्रविदो मुख्यास्तस्य गेहे महात्मन ।
प्रायण भगवत्प्रोक्त भुञ्जते वाऽग्रभोजनम् ।।"[३]

भागवत धर्म के विषय में महाभारत में कथा आती है कि इसे धर्म को नारद ने स्वय नारायण से ग्रहण किया था । वासुदेव शब्द का भक्ति के क्षेत्र में प्रामाणिक रूप से प्रयोग बताने के लिए श्री भडारकर, लोकमान्य तिलक, डा० राय चौधरी आदि विद्वानो ने पाणिनि के व्याकरण सूत्रो का प्रमाण प्रस्तुत किया है और उसके आधार पर ईसा से सात शताब्दी पहले वासुदेव पूजा प्रचलित थी यह स्थिर किया है ।[४] किन्तु वासुदेव भक्ति का विकसित रूप हमें महाभारत से ही मानना चाहिये । भागवत धर्म को प्रतिष्ठित करने के विषय में भागवत पुराण के प्रारम्भ में एक कथा आती है जिसमें कहा गया है कि जब व्यासजी ने देखा कि महाभारत और गीता मे नैष्कर्म्य प्रधान भागवत धर्म का जो प्रतिपादन किया गया है उसमें भक्ति का यथार्थ रूप नही निखर पाया और भक्ति के विना कोरा नैष्कर्म्य शोभा नही देता तब उन्होने नारद को बुलाकर अपने मन का उद्वेग कहा तथा उसी की पूर्ति के निमित्त भक्ति-प्रधान भागवत पुराण की रचना की ।[५] इस कथा से यह ध्वनि स्पष्ट निकलती है कि भागवत पुराण से पहले वैष्णव धर्म मे गृहीत उपासना मार्ग नैष्कर्म्य प्रधान था, उसमें भक्ति पक्ष की स्थिति सन्तोपजनक न होने से परवर्त्ती काल मे भक्ति-प्रधान पुराण का निर्माण किया गया । वैष्णव धर्म में समादृत नारद पचरात्र ग्रन्थ भी भक्ति-मार्ग की स्थापना के लिए बाद में ही लिखा गया । पचरात्र में गीता, महाभारत, भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त, पुराण आदि का स्थान-स्थान पर उल्लेख भी इस बात का प्रमाण

---

१—महाभारत शान्तिपर्व, अध्याय ३३५ श्लोक १९ ।

२—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४८ श्लो० ८२-८३ ।

३—महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३३५ श्लो० २५ ।

4— Collected Works of Sir R G Bhandarkar Vol IV, Page 415
गीता रहस्य—बाल गगाधर तिलक, पृष्ठ ५४६-४७
The Early History of the Vaishanava Sect—H Ray Chaudhari, Page 24
'वासुदेवार्जुनाभ्या वुन' ( पाणिनि अष्टाध्यायी ४।३।९८ ) सूत्र के वसुदेवक शब्द से वासुदेव की भक्ति करने वाला यह सिद्ध होता है ।'

५—श्रीमद्भागवत पुराण—स्कन्ध १, अध्याय ४—५

इसी पुराण मे राधा शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ दिया गया है। राधा के स्वरूप के विषय में हमने आगे पंचम अध्याय में विस्तार से लिखा है।[1] भागवत पुराण तो भक्ति-शास्त्र का सबसे वडा भडार है जहाँ वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है। साहित्य की दृष्टि से भी भागवत पुराण की प्रतिष्ठा अत्यधिक है। भागवत पुराण का रचना-काल से ही जो सम्मान हुआ वह इस वात का प्रमाण है कि भक्ति-मार्ग का उन्मेप हो जाने पर भी वह इस पुराण के प्रकाश मे ही प्रशस्त हो सका। प्रस्थान त्रयी पर भाष्य करने वाले आचार्यो मे से कुछ ने भागवत पुराण पर भी टीका लिखी और भक्ति सम्प्रदाय मे इस ग्रन्थ का श्रुति के समान सम्मान किया। आज तो वर्तमान् वैष्णव-धर्म की स्थापना का इसे आधार ही माना जाने लगा है। भागवत पुराण की टीकाओ की भी सवसे लवी शृ खला है जो इसके महत्व को प्रदर्शित करती है।

मत्स्य कूर्म, वराह तथा वामन पुराण का तो नाम ही विष्णु के अवतारो से सयुक्त है अत यह स्पष्ट सिद्ध है कि विष्णु के अवतार की भावना का सर्वांगीण विकास पुराण काल मे ही हुआ और उसके अवतारी रूप मे लौकिक-अलौकिक, सव प्रकार के शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि गुणो की प्रतिष्ठा हुई।

वैष्णव धर्म के विकास और प्रसार में पुराणो का सर्वाधिक योगदान रहा है। वैष्णव सम्प्रदायो के प्रवर्तन में जिन सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया उनमे से अधिकाश का आधार पुराण साहित्य ही है। उदाहरणार्थ चतु सम्प्रदाय के अतिरिक्त श्रीकृष्ण चैतन्य का गौडीय सम्प्रदाय, श्री वल्लभाचार्य का वल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग, और श्री हितहरिवश का रावावल्लभ सम्प्रदाय मुख्यत श्रीमद्‌भागवत और ब्रह्म वैवर्त पुराण मे प्रतिपादित भक्ति पद्धति और राधा-कृष्ण स्वरूप को लेकर आगे वढे हैं। अत वैष्णव सम्प्रदायो के विभिन्न रूपो की सीम-मर्यादा की परीक्षा के लिए भी पुराणो का अवगाहन नितान्त आवश्यक हो जाता है।

भागवत पुराण में भक्ति का प्रतिपादन करते हुए जिन आधारभूत तत्वो का उल्लेख हुआ है वे ही वैष्णव धर्म के भी आधार हैं। इस पुराण में व्यवहार पक्ष मे भक्ति को ही स्वीकार किया गया है। भगवान् को सगुण और साकार सिद्ध करते हुए उसके चार रूप स्थिर किये गये हैं। पहला स्वरूप तो पुरुप नाम से व्यवहृत होता है। उसके तीन रूप विशिष्ट गुणो के धारण करने पर होते हैं जिन्हे विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र नाम से पुकारा जाता है। विष्णु का वर्णन पुराणो मे विस्तार से हुआ है। इसी प्रकार भगवान् की शक्ति का वर्णन है, तथा सृष्टि वर्णन के साथ जीव और माया का स्वरूप वताया गया है। दार्शनिक दृष्टि से भागवत पुराण इतना प्रौढ है कि उसके आध्यात्मिक पक्ष को अद्वैतादि मतवादो की कसौटी पर भली भाति कसा जा सकता है। सावन पक्ष में पुराणो में भक्ति का प्रतिपादन है और उसे ज्ञान, कर्म, उपासना आदि से भी वढकर वताया गया है। भक्ति में भी प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता कही गई है और यही वैष्णव धर्म की व्यापकता का कारण है। भक्ति की

---

१ देखिए—प्रस्तुत निबन्ध, पंचम अध्याय।

भागवत-धर्म के प्रसार के लिये पुराण-रचना अनेक विद्वानो ने स्वीकार की है।[1] लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में भागवत पुराण की रचना का उद्देश्य भक्ति-सिद्धान्त का प्रतिपादन वताया है।[2] यथार्थ में वैष्णव-भक्ति और वैष्णव-धर्म की व्यापक व्याख्या प्रस्तुत करना ही पुराणो का ध्येय है। ब्रह्म वैवर्त, पद्म, विष्णु और श्रीमद्भागवत पुराण तो वैष्णव धर्म के ऐतिहासिक एव क्रमिक विकास की जानकारी के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

## पुराणो मे कृष्णभक्ति

श्रीकृष्ण-चरित्र के माधुर्य-पक्ष का सविस्तर वर्णन प्रस्तुत करके पुराण साहित्य ने भक्ति-क्षेत्र में कृष्णावतार को इतना अधिक व्यापक और आकर्षक वना दिया कि भारतवर्ष के प्रत्येक भाग मे जहाँ भक्ति की लहर पहुँची कृष्ण के माधुर्य परिपूर्ण चरित्र की पूजा-अर्चा प्रारम्भ हुई। श्रीकृष्ण-लीलाओ का वर्णन भी पुराणो द्वारा ही अधिक प्रचारित हो सका। महाभारत में वर्णित श्रीकृष्ण-चरित्र मे ऐश्वर्य-पक्ष का ही प्राधान्य था, पुराणो ने उसे माधुर्य मडित करके भक्तजनो के लिए आस्वाद्य बनाया। नवधा भक्ति के समस्त रूपो का सोदा-हरण वर्णन करके भक्ति को सर्वसाधारण के लिए सुलभ वनाने में भी पुराणो का अमित योग है। सख्य और वात्सल्य के साथ शृङ्गार को भक्ति के क्षेत्र मे, पुराणो मे उन्नयन करके रखा गया। शृगार का माधुर्य के योग से जो उन्नयन हुआ वह परवर्ती भक्ति-सम्प्रदायो का मेरुदड बना। भागवत पुराण में रति-भाव की प्रतिष्ठा करके तथा लौकिक कालुष्य का परिहार करके जो रसमयी भूमिका तैयार की गई वही भक्ति-सम्प्रदायो की आधार-भूमि मानी गई।[3] श्रीकृष्ण की विभिन्न रसमयी लीलाओ का भौतिक और आध्यात्मिक स्वरूप भी पुराणो ने ही स्थिर किया और श्रीकृष्ण को इतना दिव्य और साथ ही साथ लीलावतारी परमेश्वर बनाया कि लौकिक प्रेम का उसकी लीलाओ में स्वाभाविक रूप से अन्तर्भाव हो सका।

राधा और कृष्ण के स्वरूप, लोला तथा पारस्परिक सम्वन्ध के विषय में वैष्णव सम्प्रदायो में जो मान्यताएँ प्रचलित हैं उनका आधार प्राय ब्रह्म वैवर्त, हरिवश तथा भागवत पुराण हैं। राधा और कृष्ण के वैवाहिक सम्वन्ध का वर्णन ब्रह्म वैवर्त पुराण में मिलता है और

---

१ महर्षि कृष्ण द्वैपायन और भागवत धर्म, शीर्षक लेख। (कल्याण भा० १६, स० ३ पृ० ११७६–८२)

२ गीता रहस्य—लोकमान्य तिलक—पृष्ठ ५४०

3—"Bhakti in this work (Bhagwat Puran) is a surging emotion which chocks the speech, makes the tears flow and the hair thrill with pleasurable excitement, and often leads to hysterical longing and weeping by turns, to sudden fainting fits and to long trances of unconsciousness Thus the whole theory and practice of Bhakti in this Puran is very different from the Bhakti of the Bhagwat Gita and of Ramayan"

An outline of the Religious Literature of India by J N Farquhar, Page 230

इसी पुराण मे राधा शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ दिया गया है। राधा के स्वरूप के विषय में हमने आगे पचम अध्याय में विस्तार से लिखा है।[1] भागवत पुराण तो भक्ति-शास्त्र का सबसे वडा भडार है जहाँ वैष्णव धर्म मे स्वीकृत भक्ति का शास्त्रीय रूप उपलब्ध होता है। साहित्य की दृष्टि से भी भागवत पुराण की प्रतिष्ठा अत्यधिक है। भागवत पुराण का रचना-काल से ही जो सम्मान हुआ वह इस बात का प्रमाण है कि भक्ति-मार्ग का उन्मेप हो जाने पर भी वह इस पुराण के प्रकाश में ही प्रशस्त हो सका। प्रस्थान त्रयी पर भाष्य करने वाले आचार्यो मे से कुछ ने भागवत पुराण पर भी टीका लिखी और भक्ति सम्प्रदाय मे इस गन्थ का श्रुति के समान सम्मान किया। आज तो वर्तमान् वैष्णव-धर्म की स्थापना का इसे आधार ही माना जाने लगा है। भागवत पुराण की टीकाओ की भी सबसे लबी शृ खला है जो इसके महत्व को प्रदर्शित करती है।

मत्स्य कूर्म, वराह तथा वामन पुराण का तो नाम ही विष्णु के अवतारो से सयुक्त है अत यह स्पष्ट सिद्ध है कि विष्णु के अवतार की भावना का सर्वागीण विकास पुराण काल में ही हुआ और उसके अवतारी रूप में लौकिक-अलौकिक, सब प्रकार के शक्ति, शील और सौन्दर्य आदि गुणो की प्रतिष्ठा हुई।

वैष्णव धर्म के विकास और प्रसार में पुराणो का सर्वाधिक योगदान रहा है। वैष्णव सम्प्रदायो के प्रवर्तन में जिन सिद्धान्तो को स्वीकार किया गया उनमे से अधिकाश का आधार पुराण साहित्य ही है। उदाहरणार्थ चतु सम्प्रदाय के अतिरिक्त श्रीकृष्ण चैतन्य का गौडीय सम्प्रदाय, श्री वल्लभाचार्य का वल्लभ सम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग, और श्री हितहरिवश का राधावल्लभ सम्प्रदाय मुख्यत श्रीमद्भागवत और ब्रह्म वैवर्त पुराण मे प्रतिपादित भक्ति पद्धति और राधा-कृष्ण स्वरूप को लेकर आगे वढे हैं। अत. वैष्णव सम्प्रदायो के विभिन्न रूपो की सीम-मर्यादा की परीक्षा के लिए भी पुराणो का अवगाहन नितान्त आवश्यक हो जाता है।

भागवत पुराण मे भक्ति का प्रतिपादन करते हुए जिन आधारभूत तत्वो का उल्लेख हुआ है वे ही वैष्णव धर्म के भी आधार हैं। इस पुराण में व्यवहार पक्ष मे भक्ति को ही स्वीकार किया गया है। भगवान् को सगुण और साकार सिद्ध करते हुए उसके चार रूप स्थिर किये गये हैं। पहला स्वरूप तो पुरुप नाम से व्यवहृत होता है। उसके तीन रूप विशिष्ट गुणो के धारण करने पर होते हैं जिन्हे विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र नाम से पुकारा जाता है। विष्णु का वर्णन पुराणो में विस्तार से हुआ है। इसी प्रकार भगवान् की शक्ति का वर्णन है, तथा सृष्टि वर्णन के साथ जीव और माया का स्वरूप बताया गया है। दार्शनिक दृष्टि से भागवत पुराण इतना प्रौढ है कि उसके आध्यात्मिक पक्ष को अद्वैतादि मतवादो की कसौटी पर भली भाति कसा जा सकता है। साधन पक्ष मे पुराणो में भक्ति का प्रतिपादन है और उसे ज्ञान, कर्म, उपासना आदि से भी वढकर बताया गया है। भक्ति में भी प्रेमाभक्ति की उत्कृष्टता कही गई है और यही वैष्णव धर्म की व्यापकता का कारण है। भक्ति की

---

१ देखिए—प्रस्तुत निवन्ध, पंचम अध्याय।

उत्कृष्टता बताते हुए यहाँ तक कह दिया है कि सच्चे भक्त भगवान् द्वारा प्रदत्त मुक्ति की भी भक्ति की तुलना में कामना नही करते क्योकि भक्ति का आनन्द मुक्ति से कही बढकर है—

'न किंचित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वांछन्त्यपि मया दत्त कैवल्यमपुनर्भवम् ॥' भागवतपुराण ११ । २० । ३४

सक्षेप में, वैष्णव धर्म के स्वरूपाख्यान मे पुराणो का अत्यधिक महत्व है अत यह मानना असगत न होगा कि वैष्णव धर्म का परवर्ती विधान पुराण साहित्य पर ही आधृत है और इसी कारण प्रस्थानत्रयी से भी अधिक पुराणो का सम्मान होता है। राधा-कृष्ण की भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो मे तो पुराणो में स्वीकृत लीलावतारी कृष्ण और ह्लादिनी शक्ति राधा की स्थापना है। पुराणो के भक्ति-क्षेत्र में इतने महत्वपूर्ण होने पर यह तात्पर्य कदापि नही निकालना चाहिए कि पुराण काल में भक्ति का उदय और विकास हुआ। यथार्थ में भक्ति की प्राचीन परम्परा को पुराणो द्वारा व्यापक रूप मिला।

## भक्तिसूत्रों में भक्ति-तत्व

मुनिवर शाडिल्य और देवर्षि नारद विरचित भक्ति-सूत्रो का वैष्णव भक्ति के स्वरूप निरूपण में बडा महत्वपूर्ण स्थान है। भारतीय मनीषा की अभिव्यक्ति मे सक्षिप्तता, गहनता और प्रौढता की दृष्टि से सूत्र-पद्धति को उस समय स्थान मिला होगा जब विस्तारपूर्वक व्याख्यात्मक शैली से प्रतिपाद्य वस्तु की विवेचना हो चुकी होगी। दार्शनिक क्षेत्र मे सूत्र पद्धति की उपयोगिता सर्वविदित है। गृह्य सूत्र और व्याकरण सूत्रो की महत्ता तो उनके व्यापक उपयोग से ही लक्षित होती है। भक्ति-क्षेत्र में शाडिल्य ने जब सूत्र निर्मित किये तब भक्ति का व्याख्यात्मक प्रतिपादन अवश्य हो चुका था। गीता, महाभारत और पुराण इसके प्रमाण हैं। इन ग्रन्थो के सार को सूत्रो में समाविष्ट करने के निमित्त यह सूत्र रचना हुई या स्वतन्त्र रूप से भक्ति-सिद्धान्त की स्थापना के लिए नूतन शैली को स्वीकार किया गया, यह प्रश्न विचारणीय है। भक्ति सिद्धान्त की स्थापना मे शाडिल्य के सूत्र परम्परानुगत मर्यादा का अनुसरण करने पर भी कुछ नवीन तत्वो की ओर भी इगित कराते हैं। उदाहरणार्थ गीता मे प्रतिपादित कर्ममार्ग की अपेक्षा तथा दार्शनिक ग्रन्थो में स्थापित ज्ञानमार्ग की अपेक्षा इन सूत्रो में भक्ति का अधिक महत्व बताया गया।[1] सबसे बडी बात शाडिल्य ने यह बताई कि भक्तिपथ सभी भक्तो के लिए समान रूप से प्रशस्त है। निम्न वर्ण (जाति) के साधक भी इस मार्ग का अनुसरण कर सकते हैं।[2] दूसरी बात ज्ञान और कर्म मार्ग से बढकर यह कही कि जब तक भक्ति का उदय नही होता तब तक आत्मा जन्म-मरण के चक्र मे घूमती रहती है, भक्ति का उदय होने के बाद पूर्णता के साथ उसमे निमज्जित होने पर ही भवचक्र का बधन कटता

देखिए—शाडिल्य भक्ति सूत्र (गीता प्रेस, गोरखपुर)
१ भक्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात् (अ० १, १५)
२. महापातकिना त्वातर्तौ। अ० २, ८२।

है।[1] शाडिल्य के अनुसार भक्ति शुद्ध रागात्मिका वृत्ति है। शुद्ध राग के अन्तर्गत हरि स्मरण, कीर्तन आदि को नही गिना जाता। शाडिल्य ने भक्ति के स्पष्ट दो भेद किये हैं—प्रथम अपरा भक्ति है जो साधनावस्था में रहती है, दूसरी शुद्ध भावभूमिज पराभक्ति है।[2] जब साधक आनन्द की अन्तिम स्थिति में होता है तब वह पराभक्ति की स्थिति में पहुँचता है।[3]

नारद-भक्ति-सूत्रो में जो भक्ति उपदिष्ट की गई है वह भावुकता तथा भावोद्रेक की दृष्टि से शाडिल्य से अधिक परिपूर्ण है। नारद ने भी अन्य साधना-मार्गों की अपेक्षा भक्ति की उत्कृष्टता स्पष्ट रूप से स्थापित की है। हार्दिक पक्ष की प्रधानता और प्रेम पर आश्रित होने से इस भक्ति को प्रेमाभक्ति सज्ञा भी दी गई है। नारद के भक्तिसूत्रो ने प्रचार की दृष्टि से अधिक सम्मान पाया और ये सूत्र भक्तजन की श्रद्धा के कारण 'सप्तम दर्शन' माने गये। चौरासी सूत्रो के लघु कलेवर में भक्ति-सागर को आबद्ध करना नारद-ऋषि के लिये ही सम्भव था। दक्षिण भारत के आलवार भक्तो की भक्ति-पद्धति से नारद की भक्ति में बहुत कुछ साम्य है। इसलिए कुछ विद्वानो ने भक्ति का प्राचीन उत्स दक्षिण में ही स्वीकार किया है।

नारदीय सूत्रो के अनुसार ईश्वर की परम-प्रेम-प्राप्ति ही भक्ति है।[4] जिस प्रेम को प्राप्त कर लेने पर भक्त न तो कुछ चाहता है, न चिन्ता करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न (विषयभोगादि में) उत्साही होता है। जिस प्रेम रूपा भक्ति को पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है।[5] ज्ञान, कर्म आदि अन्य मार्गो की तुलना में नारद ने उसी भक्ति की श्रेष्ठता स्पष्ट रूप से कही है। भक्ति द्वारा पुरुष के मन में विनय और दैन्य की सृष्टि होती है, अन्य मार्गो के अनुसरण से अहकार का प्रादुर्भाव होता है। भगवान अहकार से प्रेम नही करते, दैन्य-पूर्ण भक्त ही भगवत्प्रिय होता है।[6] नारद ने भगवत् कृपा प्राप्ति के सिद्धान्त को श्रेष्ठ ठहरा कर ही भगवान् के गुण श्रवण, स्मरण, कीर्तन आदि का विधान किया है। नारदीय सूत्रो की सबसे बडी विशेषता है प्रेम का व्याख्यान। भक्ति के क्षेत्र मे प्रेम का स्थान परवर्ती सम्प्रदायो में अत्यधिक महत्वपूर्ण होता गया। राधावल्लभ, गौडीय तथा निम्बार्क सम्प्रदायो में तो प्रेम

---

१—संसृतिरेषाम भक्ति' स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः। अ० ३, ९८।
२—सापरानुरक्तिरीश्वरे। अ० १, २।
३—द्वेष प्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्चराग। १, ६।
शांडिल्य भक्ति सूत्र—(गीता प्रेस गोरखपुर)
नारद भक्ति-सूत्र
४—सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा। सूत्र २
५—यत्प्राप्यनकिंचिद्वांच्छति न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते नोत्साही भवति। सूत्र ५
६—यल्लब्धा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतोभवति, तृप्तो भवति। सूत्र ४

को ही आधार मानकर भक्ति सिद्धान्त का विस्तार हुआ।[1] प्रेम के अनिर्वचनीय स्वरूप का नारद ने प्रतिपादन ही नही किया वरन् उसकी परिभाषा देकर उसे भक्ति का अनिवार्य अग बना दिया।[2] भक्ति के विविध रूपो का निरूपण भी नारद ने शास्त्रीय शैली से किया।[3] गौणी भक्ति और उसके भेदो के विवेचन में विस्तार से काम लिया।[4] भक्त का स्वरूप भी नारद सूत्रो में निहित है जो परवर्ती भक्ति-सम्प्रदाय में स्वीकार किया गया।[5] नवधा भक्ति के भीतर एकादश रूप भी नारद ने ही स्थिर किये और अन्त में भक्ति-मार्ग से ईश्वराराधन करने का फल भी इन सूत्रो में बताया गया।[6]

सक्षेप में, इन भक्ति-सूत्रो की रचना द्वारा वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का शास्त्रीय रूप में वर्णन हुआ और उसे दर्शन के स्तर पर स्थिर करने का पहला प्रयास किया गया। प्रेम-मार्ग को स्वीकार करने वाले भक्ति-सम्प्रदायो में नारद के सूत्रो ने आधार शिला का काम दिया और इन्ही सूत्रो की पृष्ठभूमि पर प्रेम की व्याख्या प्रस्तुत करके मध्ययुगीन भक्ति सम्प्रदाय आगे बढे।

## वैष्णवधर्म के विविध रूप और विष्णु-भक्ति

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि वैष्णव धर्म का प्रारम्भिक रूप हमें विष्णु-पूजा के रूप में भागवत धर्म के प्रतिपादक नारायणीय, सात्वत एव पचरात्र धर्म की शाखाओ में दृष्टिगत होता है। इनमें भक्ति का स्पष्ट उल्लेख होने से भक्ति मार्ग का यथाविधि प्रवर्त्तन इन्हीं से मानना उचित होगा। काल निर्धारण के लिए हम डाक्टर बूलर का अभिमत स्वीकार कर सकते हैं जिसमें उन्होने भागवत, सात्वत और पचरात्र सम्प्रदाय को नारायण उपासना या देवकी पुत्र कृष्ण की उपासना का सम्प्रदाय कहा है और जिसका काल जैन धर्म के प्रारम्भ होने से बहुत पहले ईसा पूर्व आठवी शताब्दी ठहराया है।[7] पालि साहित्य के प्रसिद्ध फ्रेंच विद्वान् सेनार्ट ने भी यह मत प्रकट किया है कि विष्णु-भक्ति के तत्वो तथा कथानको को बौद्ध साहित्य में ग्रहण किया गया है। भागवत धर्म की स्थापना बुद्ध जन्म के बहुत पहले हो चुकी

---

१—नारवस्तु तदर्पिताखिलचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति। सू० १९

२—लोकेऽपि भगवद् गुण श्रवण कीर्तनात्। सू० ३७

३—गुणरहितं कामनारहित प्रतिक्षण वर्धमानमभविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभव रूपम्। सू० ५४

४—गौणीत्रिधा गुणभेदार्तादिभेदा द्वा। सू० ५६

५—भक्ता एकान्तिनो मुख्याः। सू० ६७

६—गुण महात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्ति तन्मयासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधा प्येकादशधा भवति। सू० ८२

7—The Ancient Bhagavata, Satwat or Panchratra sect devoted to the worship of Narayan and his deified teacher Krishna—Devaki Putra dates from a period anterior to the rise of Jains in the 8th century B C —Indian Antiquary Vol. XXIII (1894), Page 248.

थी ।[1] विष्णु पूजा के सम्बन्ध में अंग्रेज लेखक बार्थ का अभिमत है कि यह बहुत प्राचीन है । बुद्ध के पूर्व यह विद्यमान थी किन्तु वे इसके उद्भव के सम्बन्ध में स्पष्ट संकेत प्रस्तुत नही कर सके । वृक्ष, सर्पादि पूजा से बहुत पहले विष्णु-भक्ति की स्थापना हो चुकी थी, इस तथ्य को स्वीकार करने के बाद विष्णुपूजा का सीथियन मूल उद्भव स्वीकार करना सर्वथा भ्रममूलक है।[2]

भागवत धर्म मे नारायणीय सम्प्रदाय का वर्णन महाभारत के शान्तिपर्व मे है जहाँ लम्बे कथानक की अवतारणा करके इस धर्म को दिव्य धर्म के रूप में वर्णित किया है। उसके बाद श्वेत द्वीप में नारद को भगवान का दर्शन होता है और वे नारद को अपने 'वासुदेव-धर्म' का रूप समझाते हैं। शांति पर्व का यह प्रकरण आध्यात्मिक दृष्टि से भी मननीय है।[3] इसका हमने संकेत भी किया है । इस अध्याय मे परमात्मा को वासुदेव, जीवन को संकर्षण, मन को प्रद्युम्न तथा अहंकार को अनिरुद्ध बताया गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से वासुदेव स्वयं श्रीकृष्ण हैं। संकर्षण उनके ज्येष्ठ भ्राता बलराम हैं, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध श्रीकृष्ण के पुत्र हैं। वासुदेव शब्द का प्रयोग संहिता या ब्राह्मण भाग में नही है । हाँ, तैत्तरीय आरण्यक के दसवें प्रपाठक मे यह शब्द एक स्थल पर विष्णु के पर्यायवाची के रूप मे ही आया है । किन्तु इस आरण्यक को कई विद्वानो ने बाद की रचना ठहराया है । डाक्टर कीथ के अनुसार यह आरण्यक ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में लिखा गया, तब तक विष्णु और वासुदेव की एकता स्वीकृत हो चुकी थी । वासुदेव शब्द का महाभारत में सूर्य-परक अर्थ किया गया है और "वृष्णियो मे वासुदेव हूँ" ऐसा भी कहा गया है । वासुदेव शब्द बौद्ध-साहित्य के घटजातक में भी आया है और उसे मथुरा प्रदेश के उत्तरी भाग में रहने वाले किसी राजवंश की संतति कहा गया है ।

## विष्णु और वासुदेव

वासुदेव पूजा को स्वीकार करने वाला द्वितीय सात्वत धर्म वैष्णव भावना का समर्थक और संस्थापक धर्म है । इस धर्म के मुख्य उपास्यदेव वासुदेव ( कृष्ण ) थे । कहते है वासुदेव ही इस धर्म के प्रवर्त्तक भी हैं। डा० भांडारकर का अनुमान है कि 'वासुदेव' भक्ति-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का नाम था और उनके प्रसंग का अभिप्राय यही जान पडता है कि वह अन्य तीनो ( संकर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध ) के साथ किसी पहले युग मे भी वर्तमान रह

---

1—No one will claim to derive from Buddhism, Vishnuism or the Yoga Assuredly, Buddhism is the borrower ...To sum up, if there had not previously existed a religion made up of doctrines of Yoga, of Vishnuite legends, of devotion of Vishnu, Krishna, worshipped under the Title of Bhagavata, Buddhism would not have come to birth at all Senart—The Indian Interpreter, Jan 1910, Oct. 1909, Pages 177-178.

( लोकमान्य तिलक के गीता रहस्य पृष्ठ ५४७ से उद्धृत )

2—Vishnuism has been traced through Buddhism upto tree and serpent-worship and has been supposed to be of Scythian origin. The Religions of India, by A. Barth, Page 290.

३—महाभारत, शान्ति पर्व—अध्याय ३४४

चुका था।[1] महाभारत के आदि पर्व में भी सात्वतो का उल्लेख हुआ है और एक अन्य स्थल पर वासुदेव को ही सात्वत कहा गया है। श्रीमद्भागवत पुराण में भी सात्वत धर्मानुयायियो के अनुसार 'भगवान वासुदेव' की पूजा का वर्णन है।[2] इस सम्प्रदाय में नर के रूप में परमात्मा के अवतार का विधान हुआ और वासुदेव की उपासना नरावतार रूप में हुई। भीष्म पर्व (महाभारत) में ब्रह्म पुरुष परमेश्वर की प्रार्थना करते हुए इस अवतार का रहस्योद्घाटन किया गया है और वासुदेव को अवतार माना गया है।[3] गीता में भी इस सात्वत धर्म का वर्णन मिलता है और भागवत धर्म या नारायणीय धर्म का ही इसे रूप बताया गया है। लोकमान्य तिलक ने सात्वत धर्म के प्रवर्तन का कारण सत्वत (यादव) जाति से जोडा है। उनकी कल्पना है कि यादव कुल में प्रसार होने से भागवत् धर्म ही सात्वत धर्म नाम से व्यवहृत होने लगा। सत्वगुण भूयिष्ठ होने के कारण भी भक्तगण 'सात्वत' नाम से प्रसिद्ध हुए, ऐसी कल्पना भी की जाती है।[4] वैष्णव तन्त्र ग्रथो में 'पद्मतत्र' ग्रथ में 'एकान्तिक' धर्म भी भागवत धर्म के लिए प्रयुक्त हुआ है।[5] इस एकान्तिक धर्म का अर्थ वासुदेव (कृष्ण) का ही एकान्तिक धर्म समझना चाहिए जो सात्वत धर्म का ही रूप है। इस एकान्तिक शब्द का प्रयोग गीता तथा महाभारत में भी हुआ है और अनन्य भाव की भक्ति ही उसका आधार माना गया है।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यदि एकान्तिक धर्म कृष्ण-भक्ति प्रतिपादक धर्म है तो कृष्ण का स्वरूप क्या है और कृष्ण रूप में कितने व्यक्तियो की कल्पना करना उचित है।

## वैष्णव धर्म में कृष्ण

भक्ति-सम्प्रदायो में कृष्ण का स्वरूप-विवेचन साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से भिन्न-भिन्न रूप में हुआ है। यहाँ उसका उल्लेख न करके हम केवल भागवत धर्म में स्वीकृत कृष्ण के स्वरूप पर ही विचार करेंगे। महाभारत के शान्ति पर्व में यह कहा गया है कि सात्वत या भागवत धर्म सबसे पहले कृष्ण वासुदेव ने अर्जुन को उपदिष्ट किया।[6] यहाँ वासुदेव और कृष्ण दो पृथक् व्यक्ति न होकर एक ही हैं। किन्तु सर भाडारकर ने इन दोनो को पृथक्-पृथक् स्वीकार

---

1. H Ray Chaudhari Early History of the Vaishanava Sect Page 44

२. 'यत् तत् ब्रह्म परं सूक्ष्ममशून्य शून्य कल्पितम्।
भगवान् वासुदेवेति य गृणन्ति हि सात्वता ॥'
श्रीमद्भागवत पुराण—स्कन्ध ६, अ० ६, श्लोक ४६।

३ महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ६५।

४. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—शीर्षक लेख। कल्याण वर्ष १६, अक ४।

५. 'सूरि सुहृद भागवत सात्वत पचकालविद्।
एकान्तिक स्तन्मयश्च पचरात्रिक इत्यपि ॥'—पाद्मतत्र ४।२।८८

६. महाभारत शान्ति पर्व—अ० ३४७-४८।

किया है। उनकी धारणा है कि प्रारम्भ में ये दो पृथक् अस्तित्व वाले देवता थे जो बाद में एक हो गये। इस मत को परवर्ती विद्वानो ने स्वीकार नही किया। महाभारत मे जिस कृष्ण का वर्णन है वह एक ही है, उसके नाम चाहे अनेक हो। श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने गीता रहस्य में इस विषय में लिखा है—"हमारा मत यह है कि श्रीकृष्ण चार-पाँच नही हुए वे केवल एक ही ऐतिहासिक पुरुप थे।" गीता रहस्य की टिप्पणी मे इस विपय को तिलक जी ने और अधिक स्पष्ट शब्दो में व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि डा० भाडारकर ने अपने "वैष्णव शैव आदि पथ" सम्बन्धी अग्रेजी ग्रन्थ मे इसी मत को स्वीकार किया है (कि कृष्ण कई हैं)। परन्तु हमारे मत मे यह ठीक नही। यह बात नही कि गोपियो की कथा में जो शृङ्गार का वर्णन है वह बाद में न आया हो, परन्तु केवल उतने ही के लिए यह मानने की कोई आवश्यकता नही कि श्रीकृष्ण नाम के कई भिन्न-भिन्न पुरुष हो गये और इसके लिये कल्पना के सिवा कोई अन्य आधार भी नही है।"[1] महाभारत काल को यदि रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार स्वीकार किया जाय तो कम से कम ईसवी सन् १४०० वर्ष पूर्व महाभारत और कृष्णावतार हुआ होगा। हेमचन्द्रराय चौधरी ने अपने वैष्णव धर्म सम्बन्धी ग्रन्थ मे कृष्ण और वासुदेव का पार्थक्य स्वीकार नही किया है। अपने मत की पुष्टि में उन्होने कीथ के लेख का उद्धरण प्रस्तुत किया है।[2] वासुदेव और कृष्ण का सामजस्य घटित करने के लिए यह भी कहा जाता है कि वासुदेव मुख्य नाम था और कृष्ण गोत्र-सूचक नाम के रूप मे प्रयुक्त होता था। 'घटजातक' मे वासुदेव के साथ कृष्ण या कान्ह एक विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु उससे भिन्न व्यक्तित्व सूचित नही होता।

'रिलीजस आफ इडिया' पुस्तक के लेखक वार्थ नामक अग्रेज ने लिखा है कि "निस्सन्देह कृष्ण एक सर्वप्रिय परम 'देवता' के रूप में समादृत था। विष्णु की महत्ता और परम पद के साथ कृष्ण की एकता स्थापित हो गई थी।[3] अग्रेज् विद्वान् मैक्समूलर, मैकडोनल, होपकिंस

---

१. श्री तिलक—'गीतारहस्य अथवा कर्मयोग' पृष्ठ ५४८ (पादटिप्पणी सहित)

2—"But it is impossible to accept the statement that Krishna whom epic tradition identifies with Vasudeo was originally an altogether different individual. On the contrary, all available evidence, Hindu, Buddhist and Greek, points to the correctness of the identity, and we agree with Keith when he says that "the separation of Vasudeva and Krishna as two entities it is impossible to justify."
—Early History of the Vaishanav Sect—H Ray Chaudhuri, Page 36.

3—"In the epic poetry, on the contrary, in the Mahabharat, Vishnu is in full possession of this honour But at the same time, there comes into view a hero, a man god Krishna, who is declared to be an incarnation of his divine essence , and this figure, which is absolutely unknown in the Veda is beyond all doubt a popular divinity From this we think we must conclude that there is a connection between the attainment of supremacy by Vishnu and his identification with Krishna "
"The Religions of India"—A. Barth, Page 166.

आदि ने कृष्ण के भिन्न-भिन्न स्वरूप ही स्वीकार किये हैं किन्तु हमारा प्रयोजन मुख्य रूप से उस कृष्ण के साथ है जो भक्ति-मार्ग में आलम्बन बना। उसे पृथक्-पृथक् रूपो में हम स्वीकार नही कर सकते। कृष्ण-विषयक विवाद की गहराई में जाना हमारे लिये विपयान्तर होगा अत सूत्र रूप से हम इसी सिद्धान्त को स्थिर करने के पक्ष में हैं कि विष्णु-भक्ति के विकास में विष्णु, नारायण, वासुदेव और कृष्ण यह क्रमिक विकास परम्परा है जो विष्णु की शक्ति के व्यापक रूप को उद्घाटित करती हुई आगे बढी है। नाम भेद से परम देवता में भेद नही मानना चाहिए।

सात्वत धर्म के बाद वैष्णव धर्म में पचरात्र धर्म का स्थान है। पाचरात्र धर्म अपेक्षाकृत अधिक व्यापक शास्त्रीय आधार लेकर चला है। विभिन्न तत्रो और सहिताओ के आधार पर इस धर्म में सिद्धान्तो की स्थापना की गई है। सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियो के आधार पर पाचरात्र धर्म के प्रचार का कारण यह समझा जाता है कि बौद्धो और जैनो के निरीश्वरवादी प्रचार की प्रतिक्रिया रूप में विधि-विधान-युक्त वैष्णव धर्म पाचरात्र का उद्भव हुआ।[1] सात्वत धर्म की सामूहिक सगठित शक्ति ही पाचरात्र धर्म में समन्वित हुई और वैष्णव धर्म की शास्त्रीय मर्यादा स्थापित की गई। महाभारत के 'नारायणीयोपाख्यान' में पाचरात्र धर्म का विस्तारपूर्वक वर्णन है अत यह भी कहा जा सकता है कि पाचरात्र धर्म का बीज महाभारत काल में ही विद्यमान था। बाद में ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के आसपास यह धर्म अपनी पूर्ण शक्ति के साथ सगठित होकर प्रचार को प्राप्त हुआ।

'पचरात्र' शब्द के सम्बन्ध में महाभारत में यह बताया गया है कि इस धर्म को नारायण ने श्रीमुख से गायन किया था। चारो वेदो और सांख्य-योग के समावेश के कारण इसे पचरात्र नाम उपलब्ध हुआ। नारद पचरात्र के अनुसार रात्र शब्द का अर्थ होता है ज्ञान। 'रात्र च ज्ञान वचन, ज्ञान पचविध स्मृतम्'। परम तत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय ( ससार ) इन पांच विषयो के निरूपण से इस तत्र का नाम पाचरात्र पडा है।[2] पंचरात्र धर्म की व्याख्या शकराचार्य आदि विद्वानो ने भी की किन्तु उनकी दृष्टि अपने साम्प्रदायिक विचार पर स्थिर रहने से वैष्णव धर्म का व्यापक दृष्टि से विषय-निरूपण नही हो सका। इस मत के अनुसार भगवान् शक्तिमान हैं और लक्ष्मी उनकी शक्ति है। वैष्णव धर्म की दृष्टि से यह भावना भक्ति के क्षेत्र में उपादेय सिद्ध हुई।

वैष्णव धर्म से सयुक्त नारायणीय, सात्वत, पाचरात्र आदि धर्मो के विकास में महाभारत, गीता और पुराण साहित्य का सर्वाधिक योग रहा। महाभारत के अनेक प्रकरण भगवद्भक्ति का वैष्णव धर्म-स्वीकृति स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। विष्णु, वासुदेव, कृष्ण आदि का वर्णन भी

---

१. "वैदिक काल में ही यह बात मान्य हो गई थी कि सब वैदिक देवताओं में विष्णु श्रेष्ठ हैं। उस वैष्णव धर्म का मार्ग धीरे-धीरे बढ़ता गया और महाभारत काल में उसे 'पांचरात्र' नाम मिला। ×× भक्तिमार्ग बहुत पुराना तो है परन्तु पांचरात्र से कुछ भिन्न और प्राचीन है।" 'हिन्दुत्व' पृष्ठ ५६८, ले० रामदास गौड़।

२ भागवत सम्प्रदाय—श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ १०६।

महाभारत में अनेक स्थलो पर हुआ है। गीता भी महाभारत का अंग ही है किन्तु भक्ति-क्षेत्र में उसका स्वतन्त्र स्थान बन गया है। साम्प्रदायिक भक्ति-मार्गो के प्रवर्त्तन से पूर्व गीता और पुराण साहित्य को ही कृष्ण भक्ति का आधार स्तम्भ समझा जाता था। गीता में भक्ति का निरूपण प्रत्यक्ष रूप से हुआ है। एकान्तिक कृष्ण भक्ति का जैसा स्वच्छ और स्पष्ट रूप गीता मे है वैसा अन्यत्र नही देखा जा सकता। डा० बी० एम० बरुआ ने गीता को 'विश्वास तत्व' की प्रमुखता की दृष्टि से भक्ति का ग्रन्थ स्वीकार किया है।[1] गीता को कर्मयोग सिद्ध करने वाले श्री बालगंगाधर तिलक भी गीता में भक्ति तत्व की पूर्णता स्वीकार करते हैं और उनकी मान्यता है कि निष्काम कर्म की साधना के साथ भक्ति की श्रेष्ठता का ज्ञान भी गीता से ही होता है। "ऐसा कहने से यह नही समझना चाहिए कि 'श्रवण कीर्त्तन विष्णो.' इत्यादि नवविधा भक्ति गीता को मान्य नही। परन्तु गीता का कथन है कि कर्मो को गौण समझकर उन्हें छोड़ देना और नवविधा भक्ति में ही बिल्कुल निमग्न हो जाना उचित नही है।"[2]

वैष्णव भक्ति के वैदिक स्वरूप की रूपरेखा प्रस्तुत करने के बाद पुराणकाल और सूत्रकाल मे उसके विकास का सकेत किया गया। हमारा उद्देश्य इस अध्याय में वैष्णव धर्म में स्वीकृत भक्ति का आभास मात्र देना है। इस सम्बन्ध में अनेक भारतीय और विदेशी विद्वानों ने लिखा है अतः पिष्टपेषण करना व्यर्थ समझकर हम इसके विस्तार में नही जाना चाहते।

पुराणों का निर्माण काल यद्यपि निर्विवाद रूप से अभी तक स्थिर नही हो सका है फिर भी ईसा के पूर्व दूसरी शती से लेकर ईसा की छठी शताब्दी तक इनका रचनाकाल समझा जाता है। रचना हो जाने के बाद भी तेरहवी शताब्दी तक इनमे प्रक्षिप्त अंशो का समावेश यथासमय होता रहा यह भी विद्वानो की स्वीकृत धारणा है। ऐतिहासिक दृष्टि से यदि पौराणिक युग ईसा पूर्व दूसरी शती से छठी ईसवी तक माना जाय तो यह आठ सौ वर्ष का समय भक्ति के वाह्य रूप के विकास का युग है। इस युग के साथ-साथ ही भारत मे बौद्ध और जैन धर्म का प्रभाव भी उत्तरोत्तर बढता गया। यों तो पौराणिक युग और बौद्ध धर्म का उत्थान युग लगभग एक ही ठहरता है किन्तु ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक भारतवर्ष मे गुप्तवशीय राजाओ का शासन रहा, जिन्होने भागवत धर्म के प्रचार और प्रसार के लिए सब प्रकार के साधन जुटाये। फलत. बौद्ध धर्म का व्यापक प्रभाव कम हुआ। गुप्त साम्राज्य के समाप्त होते ही पुनः बौद्ध और शैव धर्म ने उत्तरी भारत में जोर पकड़ा। उत्तरीय भारत के तत्कालीन सम्राट् हर्षवर्द्धन ( सन् ६३० ई० ) के काल में भागवत धर्म की उपेक्षा रही। बौद्ध, जैन और शैव अपने सिद्धातो और मन्तव्यो के प्रचार का मौका पाकर

---

1—'The Geeta must be judged mainly as a treatise on Bhakti by virtue of the prominence accorded to the element of faith'
The Bhakti doctrine in Sandilya Sutra by Dr. B. M. Barua, Page 437.

२. लोकमान्य तिलक—गीतारहस्य—पृष्ठ ४३७।

सारे उत्तरीय भारत में फैल गये। इसी समय दक्षिण भारत मे भक्ति का वैष्णव रूप उदित हुआ और आलवार भक्तो के रूप में तमिल भाषा के माध्यम से भक्ति विकासोन्मुख हुई। इन आलवार भक्तो ने विपुल सख्या में गीत लिखकर भक्ति की धारा सारे दक्षिण प्रात मे प्रवाहित कर दी। ये आलवार भक्त ही परवर्ती आचार्यो द्वारा प्रवर्तित दक्षिण भारत की भक्ति के उन्नायक हैं और वैष्णव धर्म की व्यापक भावना के सच्चे प्रतीक है। भागवत पुराण के परिशिष्ट 'भागवत माहात्म्य' में (अध्याय ४८, श्लोक ५०) द्रविड देश में भक्ति के उद्भव की एक कथा है।[१] यद्यपि यह बहुत अर्वाचीन है फिर भी इससे दक्षिण देश की भक्ति का सकेत मिलता है। जनश्रुति परम्परा मे प्रसिद्ध भी है—

'भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने सप्त द्वीप नवखण्ड॥'

प्रसिद्ध विद्वान् श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य की सम्मति में वैष्णव भक्ति का यह प्रवाह दक्षिण से न आकर बगाल में उत्पन्न हुआ। इसे उन्होने नवीन वैष्णवधर्म के नाम से व्यवहृत किया है। ईसा की छठी-सातवी शताब्दी से दसवी शताब्दी तक जो वैष्णव भावधारा देश में नवीन वेग से प्रवाहित हुई उसका कारण भी उन्होंने अहिंसा और प्रेम-भावना को ठहराया है। जैन और बौद्ध धर्म को, अहिंसा की प्रतिष्ठा होने से, जो उत्कर्ष और गौरव मिला था, उसे इस नवीन वैष्णव धर्म ने अहिंसा की स्वीकृति से प्राप्त कर लिया। फलत हिन्दुओ को जैन और बौद्ध धर्म से हटकर पुन अपने प्राचीन विष्णु भगवान् को नवीन कृष्णावतार के रूप में पा लेने का मार्ग मिला। अहिंसा की स्वीकृति ने गौतम बुद्ध को भी विष्णु के अवतार रूप में बदलकर हिन्दुओ का उपास्य बना दिया। इस नवीन विचारधारा का सूत्रपात दक्षिण में न होकर बगाल मे हुआ था अतः वे दक्षिण को इस वैष्णव धर्म के पुनर्जागरण का केन्द्र नही मानते।[२] कुछ भी हो, यह तो मानना ही होगा कि

---

1—Then in Bhagawat Mahatmya, a late appendix to the Bhagawat Puran, there is an episode which bears on this question, but which cannot be understood unless we distinguish carefully between ordinary Bhakti and the Bhakti of the Bhagawat Puran In this episode bhakti incarnate as a young woman, says 'I was born in Dravida' Now to say that the Bhakti of the Shwetashwetar Upanishad, the Gita and the early Puranas was born in Dravida would be absurd, but if we realise that, in the appendix to the Bhagawat, Bhakti necessarily means the passionate and many-sided devotion of the Great Puran, there is no difficulty and it becomes clear that the work asserts that this Bhakti arose in Tamilnad

An outline of Religious Literature of India, by Farquhar, Page 232

2—This new Vaishnavism appeared in Bengal at this time with the same intense regard for Ahimsa as was exhibited by Jainism and Buddhism Buddha had been changed into an avtar of Vishnu and Buddhists had generally turned into Vaishnavism New Vaishnavism by taking up the doctrine of Ahimsa more rigidly

हिन्दुओं के विष्णु देवता को भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तो में उस समय उपास्य देवता का स्थान उपलब्ध था और वह भक्ति-मार्ग से ही भजनीय एवं प्राप्य समझा जाता था। वे इस अभिनव वैष्णव धर्म को दक्षिण से आया हुआ तत्व न मानते हुये साथ ही इसे भागवत पुराण की देन न मानकर उससे भी प्राचीन मानते हैं। पुरातन वैष्णव भावना ही मध्ययुग मे नवीन रूप से विकसित हुई थी, ऐसी उनकी मान्यता है।[1] दक्षिण से भक्ति के उद्भव की बात इतनी व्यापक रूप से प्रचलित है कि उसका खडन करना सहज नही। फिर भी यह मानने में कोई आपत्ति नही होनी चाहिये कि बगाल मे भी इस नवीन वैष्णव धर्म के बीज विद्यमान थे। अस्तु

इन आलवार भक्तो के उपरान्त दक्षिण मे कुछ आचार्य कोटि के भक्त हुये जिन्होने विष्णु भक्ति को तात्विक रूप देकर वैष्णव धर्म का आलवारो की रचनाओ से सम्बन्ध स्थापित करने की सफल चेष्टा की। नाथ मुनि (८२४ ई०) इनमें प्रथम आचार्य कहे जाते हैं। इनकी परम्परा में पु डरीकाक्ष, राममिश्र तथा यामुनाचार्य का नाम आता है। श्री रामानुजाचार्य को विशिष्टाद्वैत की प्रेरणा देने वाले यामुनाचार्य ही हैं।

इन आचार्यो के उद्भव का मूल कारण भक्ति-क्षेत्र मे तो भागवत धर्म या वैष्णव धर्म की प्रेरणा है जो उन्हे आलवार भक्तो से परम्परागत प्राप्त हुई थी, किन्तु दार्शनिक क्षेत्र में उनकी विचारधारा एक विशिष्ट प्रतिक्रिया का फल है। श्री शकराचार्य ने अपने अद्वैतवाद की सिद्धि के लिये जिस निर्गुण ब्रह्म की कल्पना की थी वह सगुण भक्ति के क्षेत्र में क्यो कर ग्राह्य हो सकता था। फलतः उसके विरोध के लिये एक ऐसे सगुण साकार अवतारी ब्रह्म ( ईश्वर ) की आवश्यकता थी जो वैष्णव-भक्ति की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुये दार्शनिक दृष्टि से भी बुद्धिगम्य एव स्वीकार्य हो सके। शंकर के अद्वैत का उस समय कुछ ऐसा व्यापक प्रभाव हुआ कि दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक 'ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या' के आलाप और मायावाद सम्बन्धी प्रलाप चारो ओर फैल गये। उस समय बौद्धो के निरास के लिये शंकराचार्य का सिद्धान्त वैदिक ढाल के रूप में काम मे लाया गया और वह प्रचारित भी हुआ किंतु उसके कुछ ऐसे परिणाम भी सामने आये जो परम्परागत वैष्णव भक्ति के लिये घातक प्रतीत हुए। उन्हें सीमित और मर्यादित करने के लिये ही इन आचार्यों ने अपनी वाणी का स्वर मुखरित किया था। अद्वैत भावना के प्रचार से सगुणोपासना और भक्ति के प्रति पूज्य बुद्धि का अभाव हो गया था, उसे पुनः प्रतिष्ठित करने के लिए इन आचार्यो ने प्रयत्न किया।

---

than before, disarmed the Jains and thus succeeded in appealing to the common people by returning to their old age Vishnu in this form of Shri Krishna and by stopping Vedic sacrifice with animal slaughter.—History of Mediaeval India, Vol. III by C V. Vaidy

Page 413.

1—It does not appear that this new Vaishnavism came from South or was due to the teaching of the Vaishnava Bhagawat Puran.—History of Mediaeval India Vol. III by C.V. Vaidy, Page 414.

## वैष्णव धर्म के प्रमुख आचार्य

आचार्य युग का प्रारम्भ ग्यारहवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक माना जाता है। यदि रामानुजाचार्य (सन् १०३७ से ११३७ ई०) से लेकर—जिन्हे अधिकाश विद्वान् प्रथम आचार्य स्वीकार करते हैं, निम्बार्क, विष्णुस्वामी और मध्वाचार्य तक (सन् ११९७ से १२७६ ई०) इन चार प्रमुख आचार्यों को ही लिया जाय तो तेरहवी शताब्दी इनका अतिम समय ठहरेगा। किन्तु श्री रामानन्द, श्री वल्लभाचार्य, श्रीकृष्ण चैतन्य, श्री हितहरिवश तथा श्री स्वामी हरिदास जी को भी आचार्य कोटि में रखने से सोलहवी शताब्दी तक इस युग का विस्तार है।

आचार्य युग के वैष्णव सम्प्रदायो को जिन चार नामो से व्यवहृत किया जाता है तथा उनकी प्राचीनता आदि के विषय में जो गतानुगतिक धारणाएँ बन गई हैं, उस पर हमने स्वतंत्र रूप से अगले अध्याय में विचार किया है। श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि इन चार देवताओ के नाम के आश्रित रामानुज सम्प्रदाय, माध्वसम्प्रदाय, विष्णुस्वामी सम्प्रदाय और निम्बार्क सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धातो का व्यापक विस्तार है। हमारा सम्बन्ध केवल भक्ति-पक्ष से है अत इनके दार्शनिक स्वरूप का विवरण देना हम यहाँ उपयुक्त नही समझते। हिन्दी, सस्कृत और अँग्रेजी के अनेक ग्रथो मे विस्तारपूर्वक इनके सिद्धातो का पर्यालोचन हो चुका है। इधर विगत दस-बारह वर्षों में भक्त कवियो और भक्ति सम्प्रदायो पर जो शोध-प्रबन्ध लिखे गये हैं उन सब में इन सम्प्रदायो की दार्शनिक विचारधारा का सविस्तर वर्णन है अत पिष्ट-पेषण बचाने के लिये केवल अपने विषय से साक्षात् सबद्ध प्रकरण का ही सक्षेप उल्लेख करना समीचीन होगा।

प्रस्तुत ग्रथ का विषय राधावल्लभ सम्प्रदाय है जो सर्वांश में 'राधाकृष्ण' की भक्ति पर अवस्थित है, अत हमने रामभक्ति सम्बन्धी सम्प्रदायो का या रामोपासना का जान-बूझकर उल्लेख नही किया है। यद्यपि वैष्णव धर्म की व्यापक दृष्टि से रामोपासना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है, जितनी कि कृष्ण या राधाकृष्ण की उपासना।

**श्री रामानुजाचार्य**—*आचार्य रामानुज के मत से स्थूल-सूक्ष्म चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म* ही विषय है। ब्रह्म पुरुषोत्तम है। वह सगुण और सविशेष है। भक्तो पर अनुग्रह करने के लिए परमेश्वर पाँच रूप धारण करता है। इन्ही में अर्चावतार की गणना है। आपके मतानुसार भक्ति ( ध्यान, उपासना ) ही मुक्ति का साधन है। ज्ञान मुक्ति का साधन नही, भक्ति से परमात्मा प्रसन्न होकर मुक्ति प्रदान करते हैं। वेदान्त सूत्र 'तत्वमसि' का अर्थ करते हुए कहते हैं कि 'उनका तू सेवक है' जीव और ईश्वर का 'शेषशेषीभाव' सम्बन्ध है। जीव शेष—दास है और भगवान् शेषी—स्वामी है। भागवत कैंकर्य पर इनका विशेष आग्रह है। इसलिए सब-कुछ छोडकर उनकी शरण में जाना ही सच्ची भक्ति मानी जाती है। दार्शनिक शब्दावली में आपका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैतवाद' के नाम से विख्यात है। यह श्री सम्प्रदाय कहाता है।[1]

---

१ द्रष्टव्य—रामानुजाचार्य प्रणीत ब्रह्मसूत्रो का श्रीभाष्य।
वेदान्त सार, वेदार्थ संग्रह और वेदान्त दीप ॥

**श्री मध्वाचार्य**—आचार्य मध्व के मत से ब्रह्म सगुण और सविशेष है। जीव अणु परिमाण है और भगवान् का दास है। प्रपच सत्य है। पदार्थ दो प्रकार के हैं—स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र। अशेष सद्गुण युक्त भगवान् विष्णु स्वतन्त्र तत्व (पदार्थ) है, जीव और जड़-जगत् अस्वतन्त्र तत्व (पदार्थ) है। मायावाद की कोई आवश्यकता नही क्योंकि भेद सत्य है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। ध्यान के विना ईश्वर साक्षात्कार नही होता। भक्ति के लिए त्याग, संयम, निर्भीकता और संसार की स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। भगवान् की भक्ति के लिए तीन प्रकार की सेवा करनी चाहिए। दस विध भजन का भी विधान किया है। दार्शनिक शब्दावली में आपका सिद्धान्त द्वैतवाद के नाम से विख्यात है। यह ब्रह्म सम्प्रदाय के अन्तर्गत है।[1]

**श्री विष्णु स्वामी आचार्य**—रुद्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत विष्णु स्वामी का सम्प्रदाय है। आपके ग्रन्थो में सर्वज्ञ सूक्त नामक रचना ही इस सम्प्रदाय का कुछ आभास देती है। इस सम्प्रदाय की परम्परा आज उच्छिन्न हो चुकी है अत सिद्धान्तो का वास्तविक रूप से निर्धारण करना कठिन है। "विष्णु स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप हैं तथा वे अपनी ह्लादिनी सवित् के द्वारा आश्लिष्ट हैं तथा माया उन्ही के अधीन रहती है। ईश्वर का प्रधान अवतार नृसिह रूप वतलाया गया है। कुछ लोग विष्णु स्वामी को नृसिह तथा गोपाल दोनो का उपासक मानते हैं।"[2] यथार्थ में इस सम्प्रदाय का परम्परा द्वारा कोई साहित्य और दर्शन नही मिलता। अतः श्री वल्लभाचार्य द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतवाद को ही इस सम्प्रदाय का दार्शनिक मत स्वीकार कर लिया जाता है। हम इसी प्रसग में वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो का उल्लेख करते हैं।

**श्री वल्लभाचार्य**—वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म माया से अलिप्त है—वह नितान्त शुद्ध है। माया से अलिप्त ब्रह्म अद्वैत है। ब्रह्म के तीन स्वरूप हैं, परब्रह्म, अक्षरब्रह्म, और जगत्-ब्रह्म। इन्ही को आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक नाम से भी सम्बोधित कर सकते हैं। ब्रह्म अपनी सधिनी शक्ति द्वारा सत् का, संवित शक्ति द्वारा चित् का और ह्लादिनी शक्ति द्वारा आनन्द का आविर्भाव करता है। जीव नित्य है। उसकी उत्पत्ति नही होती। जीव अणु है, जीवात्मा ज्ञाता है। जीव तीन तरह के होते है—शुद्ध जीव, संसारी जीव और मुक्त जीव। जड़ जगत् उत्पन्न नही होता, नष्ट भी नही होता। केवल आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है।

भगवत् प्राप्ति के लिए भक्ति को साधन माना गया है। भगवान् के अनुग्रह (पोषण) को ही भक्ति का आधार मान कर भक्त को चलना चाहिए। मर्यादा मार्ग की कठिनाइयो को देखते हुए पुष्टिमार्ग का प्रवर्त्तन कर वल्लभाचार्य ने भक्त को भगवान् की कृपा पर छोड़ने

---

१. द्रष्टव्य—मध्वाचार्य प्रणीत ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य,
दशोपनिषद्भाष्य, भागवत तात्पर्य निर्णय आदि ग्रन्थ।

२ द्रष्टव्य—भागवत सम्प्रदाय, लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३६८।

का उपदेश दिया। भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। कलियुग में ज्ञान और कर्म के प्रचार से ब्रह्म-प्राप्ति के साधन नष्ट हो गये हैं अत अब केवल भक्ति मार्ग ही उस ध्येय तक पहुँचाने में समर्थ है।

वल्लभ सम्प्रदाय मे राधा को श्रीकृष्ण की आत्मशक्ति के रूप में उससे अभिन्न स्वीकार किया गया जो वैष्णव धर्म के सगुणोपासक कृष्ण-भक्तो को परम आनन्ददायक सिद्धान्त प्रतीत हुआ। श्रीकृष्ण के विभिन्न रूपो की पूजा-सेवा में राधा की सेवा-पूजा 'वागर्थाविव' सम्पृक्त मान ली गई और उनको पृथक् नहीं रखा। श्रीकृष्ण के बाल-रूप को उपास्य ठहराया गया किन्तु माधुर्य भाव से राधाकृष्ण की भक्ति में अपार प्रेम प्रदर्शित किया गया। कुछ लोगो का विचार है कि माधुर्य भाव की भक्ति को मानते हुए भी बाल-रूप को स्वीकार करने का कारण लोकरजन का भाव ही था। शृङ्गारपरक भक्ति को सिहनी का दूध मान कर अनधिकारी पात्रो को दीक्षित करना उन्हे अभिप्रेत न लगा।

वल्लभाचार्य ने दो प्रकार की भक्ति का विधान किया। प्रथम मर्यादा-भक्ति और दूसरी पुष्टि-भक्ति। जो भक्ति साधन-सापेक्ष होती है और बाह्य साधनो से जिसकी प्राप्ति होती है वह मर्यादा-भक्ति है किन्तु साधन-निरपेक्ष भगवान् के अनुग्रह मात्र से उत्पन्न वह पुष्टि-भक्ति या रागात्मिका भक्ति कहलाती है। वल्लभ सम्प्रदाय में इस दूसरी कोटि की भक्ति को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट माना जाता है। भगवान् अपनी लीला के विलास के लिए इस सृष्टि को उत्पन्न करते हैं। इस ससार के सृजन का मात्र कारण लीला ही है। लीला विलास की इच्छा का नाम है। सर्ग-विसर्ग आदि जिस प्रकार भगवान् पुरुषोत्तम की विविध लीलाएँ हैं उसी प्रकार भक्ति, अनुग्रह या पुष्टि भी भगवान् की लीला है। इस लीला-सिद्धान्त के प्रतिपादन से परमात्मा की सृष्टि रचना का भक्तिमार्ग में अच्छा रूप दिखाया जा सका। वैष्णव भक्ति-मार्गो में इस लीला के विविध स्वरूपो को लेकर समकालीन भक्ति-सम्प्रदायो में श्रीकृष्ण-लीला का व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है। प्रारम्भ में लीला शब्द दार्शनिक भित्ति पर स्थित होने के कारण गम्भीर सृष्टि-तत्व से सम्बद्ध था किन्तु बाद मे वह श्रीकृष्ण के क्रीडा-विलास के सभी रूपो में प्रयुक्त होकर इतना अधिक व्यापक हो गया कि उसके दार्शनिक रूप को प्राय छोड ही देना पडा।[1]

**श्री निम्बार्काचार्य**—सनकादि सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्बार्काचार्य का सम्प्रदाय भी राधाकृष्ण की भक्ति को प्रधानता देने वाला वैष्णव सम्प्रदाय है। इनके अनुसार जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। भेदाभेद नाम से इस सिद्धान्त को कुछ विद्वान् शकराचार्य से भी प्राचीन बताते हैं। किन्तु जिस रूप में यह निम्बार्काचार्य द्वारा प्रस्तुत किया गया है वह शकराचार्य के अद्वैतवाद के बाद का ही है। इनके मत में ब्रह्म की कल्पना सगुण रूप में की गई है। वह समस्त दोषो से रहित समस्त शक्ति से उदित कल्याण गुणो का विधान है। जीव ब्रह्म का अश है, ब्रह्म अशी है, जीव और ब्रह्म भिन्न भी है और अभिन्न भी। जीव अणु है विभु नही, जीव अल्पज्ञ है, मुक्तावस्था मे भी वह जीव ही है, जीव

१ द्रष्टव्य—श्री वल्लभाचार्य प्रणीत 'अणुभाष्य'।

नित्यत्व चिरस्थायी है। भक्ति ही मुक्ति का साधन है। ब्रह्म का सगुण और निर्गुण दोनों में विचार किया जा सकता है। दश श्लोकी ग्रंथ मे भगवत्स्वरूप और भक्ति का दार्शनिक [illegible]र किया गया है। भक्ति के क्षेत्र मे शात, दास्य, वात्सल्य, सख्य तथा माधुर्य इन पांच [illegible] का वर्णन इस सम्प्रदाय में श्री हरिव्यासाचार्य जी ने किया है। राधाकृष्ण की भक्ति में [illegible] को स्पष्ट रूप से स्वकीया के रूप में स्वीकार किया गया है। ब्रह्म वैवर्त्त तथा गर्ग-[illegible]ा के प्रमाणो द्वारा राधा का विवाहित होना तथा कृष्ण का पति के रूप में होना [illegible]ार किया गया है।[1]

भक्ति के क्षेत्र मे राधाकृष्ण की उपासना को जिन सम्प्रदायो ने व्रजमडल में प्रधानता [illegible] उनमें निम्बार्क सम्प्रदाय प्रमुख है। निम्बार्क सम्प्रदाय युगलभाव से श्रीकृष्ण के किशोर [illegible]ा का उपासक है।[2]

**श्रीकृष्ण चैतन्य का गौड़ीय सम्प्रदाय**—चैतन्य महाप्रभु ने जिस सम्प्रदाय की स्थापना [illegible] उसका शास्त्रीय रूप षड् गोस्वामियो द्वारा वृन्दावन मे तैयार हुआ। चैतन्य ने प्रस्थानत्रयी [illegible] पर भाष्य लिखना इसलिए आवश्यक नही समझा कि श्रीमद्भागवत पुराण को ही [illegible] वेदान्त का भाष्य माना और स्वतन्त्र भाष्य लिखने की आवश्यकता अनुभव नही की। [illegible]नातन और जीव गोस्वामी ने भक्ति पक्ष का विशद् विवेचन रस-शास्त्र की मर्यादा के [illegible] प्रस्तुत करके इस सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति को सर्वाधिक पूर्ण और शास्त्र-सम्मत बना [illegible]। भाष्य-विषयक दार्शनिक विवेचन की कमी आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने 'गोविन्द [illegible]' लिखकर पूर्ण की। बगाल प्रान्त में गौडीय सम्प्रदाय की आधारशिला बलदेव विद्या-[illegible] का 'गोविन्द भाष्य' बना, व्रजमंडल में रूप और सनातन गोस्वामी के भक्ति-सम्बन्धी [illegible]ज्ज्वल नीलमणि और हरिभक्ति रसामृत सिन्धु समादृत हुए। दार्शनिक दृष्टि से सिद्धान्तो [illegible] [illegible]भास 'चैतन्य चरितामृत' में भी मिलता है किन्तु सम्प्रदाय मे बलदेव विद्याभूषण के [illegible] ही सिद्धान्त हैं और उन्ही पर दार्शनिक विवेचन आधृत है।

श्री बलदेव के मत से पाँच तत्व हैं, ईश्वर, जीव, प्रकृति, काल और कर्म। ज्ञान का [illegible] अचिन्त्य, अनित्य शक्ति, सच्चिदानन्द पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही है। जीव अणु [illegible] है। ईश्वर की विमुखता ही उसके बंधन का कारण है। भगवत्कृपा से मुक्ति साध्य [illegible]। मुक्तावस्था में भी जीव ब्रह्म से पृथक् रहता है। भक्ति ही परम पुरुषार्थ का एकमात्र साधन है। भक्ति ह्लादिनी शक्ति और संवित् शक्ति की सारभूता है, अतएव ज्ञान-रूपिणी और आनन्ददायिनी है। भक्तिमार्ग की तीन अवस्थाएँ हैं—साधन, भाव और प्रेम। इन्द्रियो की प्रेरणा द्वारा की जाने वाली सामान्य भक्ति का नाम साधन-भक्ति है। यह जीव के हृदयस्थ प्रेम को जागृत करती है, इसी से इसे साधन-भक्ति कहते हैं। शुद्ध सत्वरूपा, प्रेम

---

१. द्रष्टव्य—श्री निम्बार्काचार्य प्रणीत—पारिजात सौरभ वृत्ति, दश श्लोकी, मंत्ररहस्य षोडशी, प्रपन्न कल्प वल्ली आदि ग्रंथ।

२. उज्ज्वल नीलमणि तथा हरिभक्ति रसामृत सिन्धु—रूप गोस्वामी प्रणीत।
षट् सन्दर्भ—जीव गोस्वामी प्रणीत।

सूर्य की किरण सदृश चित्त में स्निग्धता उत्पन्न करने वाली भक्ति विशेष का नाम भाव है। भाव प्रेम की प्रथमावस्था है। यही भाव जब घनीभूत हो जाता है तब उसे प्रेम कहते हैं। प्रेम ही प्रयत्न का चरम फल है, प्रेम ही जीव का नित्य धर्म है, वही परम पुरुषार्थ है।[१]

**स्वामी हरिदास का सखी सम्प्रदाय**—ब्रजमडल में रसभक्ति को स्वीकार करके राधाकृष्ण की उपासना करने वाले सम्प्रदायो में स्वामी हरिदास द्वारा प्रवर्त्तित हरिदासी या सखी-सम्प्रदाय का नाम उपर्युक्त सम्प्रदायो की परम्परा में उल्लेखनीय है। सामान्यत सखी-सम्प्रदाय को निम्बार्क की शाखा के रूप में साधन-मार्ग ही समझा जाता है। स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में उसका स्थान नही माना जाता किन्तु साधन-पद्धति में भेद होने और निम्बार्कीय दर्शन की गहन-गूढ गुत्थियो से रहित होने के कारण इस सम्प्रदाय को स्वतन्त्र सम्प्रदाय समझा जा सकता है। स्वामी जी के शिष्यो ने टट्टी-सस्थान नाम से अपनी महन्त गद्दी भी पृथक् स्थापित कर ली थी किन्तु आज इस सम्प्रदाय के अनुयायीगण अपने को स्वतन्त्र न कहकर निम्बार्क के अन्तर्गत मानते हैं। रस-मार्गीय उपासना को स्वीकार करने से, रस को ही सब कुछ समझा जाता है। नित्य विहारी जुगल मूर्ति का ध्यान इस सम्प्रदाय की विशेषता है। रसिक बनकर ही राधा की उपासना सखी रूप में करने का विधान है। रसिक की कोटि में आने के लिए अपना अस्तित्व रसरूप राधाकृष्ण में विसर्जित करना पडता है। श्री भगवत रसिक ने रसिक की परिभाषा करते हुए लिखा है—

> **'जीव ईस मिलि दोय, नाम रूप गुन परिहरै।**
> **रसिक कहावै सोय, ज्यों जल छोड़े सर्करा॥**
> **दिया कहै सब कोय, तेल तूल पावक मिलै।**
> **तमहि नसावै सोय, वस्तु मिलै भगवत रसिक॥'**

स्वामी हरिदास ने केलिमाल नामक ग्रथ में सिद्धान्त सम्बन्धी पद लिखे हैं। सिद्धान्त स्थापना में सखी भाव की प्रधानता है किन्तु दार्शनिक विवेचन का सर्वथा अभाव है। इस सम्प्रदाय का और राधावल्लभ सम्प्रदाय का बहुत घनिष्ठ ऐक्य है। यद्यपि दोनो स्वतन्त्र हैं किन्तु रस-मार्गीय उपासना या वृन्दावन रस के सम्बन्ध में बहुत कुछ ऐक्य होने से कुछ लोग स्वामी हरिदास और हितहरिवशजी का क्रमश शिष्य-गुरु सम्बन्ध तक सिद्ध करने की भूल कर बैठते हैं। इनमें पारस्परिक सौहार्द और मैत्रीभाव होने पर भी गुरु-शिष्य जैसा कोई सम्बन्ध नही था। स्वामीजी विरक्त साधु थे और श्री हितहरिवश जी गृहस्थ कोटि के आचार्य थे। कुछ विद्वानो ने हरिदास जी को चैतन्य महाप्रभु का शिष्य भी लिखा है किन्तु हरिदासी सम्प्रदाय में इस तथ्य का पोषक कोई प्रमाण नही मिलता। साथ ही राधा-विषयक मान्यताओ में अत्यधिक मतभेद भी इन दोनो का कोई पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नही करता। श्री नाभा जी ने अपने भक्तमाल में स्वामी हरिदास जी की भावना और साधना-पद्धति का सकेत देते हुए लिखा है—

---

१　द्रष्टव्य—बलदेव विद्याभूषण रचित—गोविंद भाष्य।
　　कृष्णदास कविराज रचित—चैतन्य चरितामृत।

जुगल नाम सौं नेम जपत नित कुंज बिहारी।
अवलोकत रहे केलि सखी सुख को अधिकारी ॥[1]

चैतन्य सम्प्रदाय में इस प्रकार की भावना स्वीकृत नही है। अत. इन दोनो का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना सर्वथा अप्रामाणिक और भ्रामक है।[2]

उज्ज्वल रस या प्रेमाभक्ति को स्वीकार करने वाले व्रजमडलीय भक्ति-सम्प्रदायों में, जिनका वर्णन उपर्युक्त पक्तियो में हुआ है, साक्षात् सम्बन्ध की एकसूत्रता दृष्टिगत न होने पर भी एक ऐसी परोक्ष सम्बन्ध-सूत्रता है जो भक्ति के क्षेत्र मे राधाकृष्ण को लेकर चली है। वल्लभ, चैतन्य, निम्बार्क, हरिदास और हितहरिवश ये पांच महानुभाव किसी न किसी रूप में भक्ति-तरु को सीचकर हरा-भरा करने मे लीन रहे। इन महानुभावो में चैतन्य महाप्रभु को छोडकर शेष चार का निवास प्राय व्रजमडल में ही रहा। निम्बार्काचार्य कालक्रम की दृष्टि से प्राचीन अवश्य हैं किन्तु भावना में उनकी भी एकता है। वल्लभाचार्य, हितहरिवश और हरिदास में समय की दृष्टि से भी वहुत भेद नही है। तीनो प्राय· समसामयिक हैं और भक्ति के रूप मे भी वहुत कुछ समानता है। वालकृष्ण की उपासना स्वीकार करने पर भी वल्लभ सम्प्रदाय में माधुर्य भक्ति को स्थान है और राधाकृष्ण की रसपरक भक्ति वर्णित है। इन पाचों सम्प्रदायो का 'चतु सम्प्रदाय' से सम्बन्ध और इनके मन्तव्यो की समानता और अस-मानता पर अगले अध्याय में विचार किया जायगा। इस प्रवन्ध का विषय 'राधावल्लभ सम्प्रदाय' है अत उसके सिद्धान्तो की रूपरेखा यहाँ न देकर अगले दो अध्यायो में उसका विस्तार पूर्वक सैद्धान्तिक विवेचन करेंगे। 'चतु.सम्प्रदाय' के भीतर समस्त सम्प्रदायो को वाधने की परिपाटी भी हमारी दृष्टि में अधिक समीचीन नही है अतः उसका भी अगले अध्याय में हमने सप्रमाण खडन किया है।

## मध्ययुगीन प्रेमलक्षणा भक्ति और माधुर्य भाव

पिछले पृष्ठो मे हमने भागवत धर्म के प्रचारक प्रमुख आचार्यों के सिद्धान्तो एवं भक्ति विषयक मान्यताओ का संक्षेप में वर्णन किया है। वैष्णव धर्म के व्याख्याता इन आचार्यों ने वेदान्त-संयुत भक्ति अथवा भक्ति-संयुत वेदान्त का अपनी-अपनी दृष्टि से जो रूप स्थिर किया था उसी को नवीन रूप देकर मध्ययुगीन वैष्णव भक्त महानुभावों ने प्रेम-लक्षणा भक्ति का विस्तार किया। इन सन्तों की दृष्टि वेदान्त के व्याख्यान पर न होकर उसके तात्विक ऐक्य पर केन्द्रित थी, इसलिए दर्शन की जटिलता से वचकर इनका लक्ष्य प्रेम और प्रपत्ति ही रहा। प्रेम लक्षणा भक्ति का जो रूप भागवत पुराण और भक्ति-सूत्रो में विशद रूप से वर्णित हुआ था वही इस युग की भक्ति-पद्धति का आधार बना। यदि इसका क्रमिक विकास स्थिर करना हो तो यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि प्रारम्भिक भागवत धर्म में जो विभूतिवाद था वही इस युग की भक्ति में प्रपत्तिवाद वना, फलतः इस काल की भक्ति साधना मे प्रेम को ही प्रधानता प्राप्त हुई।

---

१· नाभाजी कृत भक्तमाल—छप्पय नं० ९१-१२३, पृष्ठ ६०१।
२· द्रष्टव्य—स्वामी हरिदास प्रणीत—केलिमाल और सिद्धान्त के पद।

भागवत पुराण में जिस कोटि की प्रपत्तिपरक भक्ति का विधान हुआ है उसके समान कोटि की भक्ति सातवी शताब्दी के आलवार भक्तो में प्रचलित थी। भगवान का गुणानुवाद और लीला-वर्णन ठीक वैसा ही था जैसा भागवत पुराण में है। प्रोफेसर हूपर ने आलवार भक्तो की भक्ति-साधना को भागवत पुराण के समकक्ष ठहराया है।[1] बौद्धमत के सहजयान में साधना के लिए जिस काम-केलि का वर्णन था वह भी प्रेमपरक साधना का अपरिष्कृत एव अनुदात्त रूप ही था जो अपनी ऐहिकता के कारण ऐन्द्रिय बनकर वामाचार का कारण बना। सूफियो की प्रेम की पीर भी प्रेम-साधना के मार्ग में रागात्मक होने के कारण सहायक तत्व के रूप में गृहीत हुई थी। दक्षिण के भक्तो में प्रेम के लौकिक रूप की स्वीकृति के कारण नायक-नायिका की भावना भी आ गई थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने माधुर्य भक्ति के प्रारूप का संकेत दक्षिण के आलवार भक्तो मे प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि—"दक्षिण में अदाल इसी प्रकार की एक प्रसिद्ध भक्तिन हो गई हैं जिनका जन्म सम्वत् ७७३ में हुआ था। अदाल के पद द्रविड भाषा में तिरुप्पावह नामक पुस्तक में मिलते हैं। अदाल एक स्थल पर कहती है—"अब मैं पूर्ण यौवन को प्राप्त हूँ और स्वामी कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य को अपना पति नही बना सकती।" इस भाव की उपासना यदि कुछ दिन चले तो उसमें गुह्य और रहस्य की प्रवृत्ति हो ही जायगी। रहस्य-वादी सूफियो की उपासना भी माधुर्य भाव की थी। मुसलमानी जमाने मे इन सूफियो का प्रभाव देश की भक्ति-भावना के स्वरूप पर बहुत कुछ पडा। माधुर्यभाव को प्रोत्साहन मिला। माधुर्यभाव की जो उपासना चली आ रही थी उसमें सूफियो के प्रभाव से 'आभ्यन्तर मिलन' मूर्च्छा, की भी रहस्यमयी योजना हुई।[2]

प्रेम-लक्षणा माधुर्य-भक्ति के प्रचार का कारण खोजते हुए कुछ विद्वानों ने 'शक्ति' के रूप में स्त्री-पूजा को इसका प्रेरक तत्व माना है। यद्यपि यह आदि कारण नही हो सकता किन्तु प्रेम सम्बन्धो के ऐहिक रूपो को भक्ति-क्षेत्र में स्थान मिलने के कारण शक्ति पूजा से इसका परोक्ष सम्बन्ध जोडा जा सकता है। प्राचीन देवताओ के साथ पत्नी रूप में स्त्री-देवताओ का वर्णन जब से प्रारम्भ हुआ तभी से दाम्पत्य-भावना भी भक्तिक्षेत्र में अनजाने में प्रविष्ट हो गई। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने इस विषय में लिखा है कि—"इस काल (मध्यकाल) के बहुत पहले से ही भारत में शक्ति तत्व की धारणा प्रतिष्ठित हो चुकी थी, जिसे सृष्टि के विकास की मूल प्रेरणा के रूप में, स्वीकार किया गया था। तन्त्र-साहित्य में उसी को नारी रूप भी प्रदान कर दिया गया और वही बहुदेववाद एव अवतारवाद के लिए देवियो के रूप में आ बैठी। शिव के साथ वह पहले केवल 'शक्ति' नाम से ही दीख पडती थी, किन्तु विष्णु के साथ वह लक्ष्मी बन गई, तथा इसी प्रकार ब्रह्मा के साथ सरस्वती, राम के साथ सीता एव कृष्ण के साथ राधा नाम से प्रचलित हो चली। देव दम्पतियो तथा अवतार-दम्पतियो में केवल इतना ही अन्तर था कि प्रथम के निवास का स्थान जहाँ किसी परोक्ष

1. Hymns of Alvars by J S M Hooper, Page 18
२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—प० रामचन्द्र शुक्ल (सशोधित सस्करण) पृष्ठ १७८।

लोक में समझा जाता था और वे चिरस्थायी भी माने जाते थे, वहा अवतार-दम्पतियो का लीला-क्षेत्र भूमडल भी मान लिया जाता था और उनके लिए प्रत्यक्ष मानव जीवन की कल्पना कर कभी-कभी उनकी सततियो तक का वर्णन कर देना अप्रासगिक नही समझा जाता था।"[१] अवतारवाद की कल्पना मे यद्यपि भगवान् का ऐश्वर्य-परक रूप ही प्रधान रहता है, माधुर्य भाव के प्रस्फुटन का उसमे अपेक्षाकृत न्यून अवकाश है किन्तु अवतार के आधार पर जिन काम्य रूपो की कल्पना करने की छूट मिलती है वे रूप ही माधुर्यभाव की भक्ति को पुष्पित और फलित करने मे सहायक होते हैं। मध्ययुगीन प्रेम-लक्षरणा भक्ति में राम और कृष्ण का पौराणिक रूप ही प्रधानत स्वीकृत हुआ है किन्तु उसके वर्णन मे भक्तो ने अपनी लौकिक एव आध्यात्मिक अनुभूतियो को इस तरह घुला-मिला दिया है कि उस अवतार को हम अपनी दैनिक अनुभूति और आनन्द का विषय सहज ही में बना सकते हैं।

मध्ययुगीन प्रेम-लक्षरणा माधुर्यभक्ति के प्रचार का अन्यतम कारण यह भी है कि शकराचार्य तथा उनके परवर्ती अन्य आचार्यों की दार्शनिक ऊहापोह एव गभीर चिन्ता-धारा से मुक्ति पाने के लिए एक ऐसे सर्वजन सुलभ मार्ग की आवश्यकता भक्तो को प्रतीत हुई जो मानव-हृदय की रागात्मक वृत्तियो के निकट हो और जिसे स्वीकार करने पर साधना की किसी जटिल एव दुर्बोध प्रक्रिया मे न फँसना पडे। इस मार्ग में ज्ञान-मार्ग की दुरूहता से तथा कर्मकाड की आडम्बरपूर्ण जटिलता से वचने का आग्रह प्रारम्भ से था अत. इसका विस्तार भी दर्शन के माध्यम से न होकर साहित्य के माध्यम से हुआ। इष्टदेव के प्रति पूज्य बुद्धि या श्रद्धाभाव को अक्षुण्ण रखकर हृदय की प्रीति, प्रेम, स्नेह, सौहार्द आदि भावनाओ द्वारा उसके अनुग्रह की कामना की गई। मोक्ष या मुक्ति का इस प्रेमलक्षणा भक्ति मे कोई स्थान नही है, भगवद्-प्रेम या कृपा-प्राप्ति ही इस मार्ग का साध्य और साधन है।

प्रेमलक्षणा भक्ति मे जिस प्रेम की स्वीकृति है वह न तो यौन-सम्बन्ध से उद्भूत कामेच्छा-परक प्रेम माना जाता है और न इस प्रेम को सामाजिक सम्बन्ध का आधार ही ठहराया गया है। यह प्रेम ईश्वरोन्मुख होता है जो अपने आराध्य के प्रति निष्काम भावना से व्यक्त किया जाता है। इस प्रेम में किसी प्रकार के विनिमय की आकाक्षा नही होती। शाडिल्य और नारद ने अपने भक्तिसूत्रो मे इस प्रेम को अनिर्वचनीय और विषय-सुख से भिन्न वताया है।[2] उनमें यह स्पष्ट कहा है कि वासना-जन्य प्रेम में स्व-सुख की कामना का प्राधान्य होता है, उसमें प्रियतम के सुख से सुखी होना नही है।[3] किन्तु ईश्वरोन्मुख प्रेम स्व-सुख-विवर्जित तत्सुखभाव से किया जाता है। श्री चैतन्य और श्री हितहरिवश ने

---

१ 'मध्यकालीन प्रेम-साधना' ले० परशुराम चतुर्वेदी, पृष्ठ १७४।

२. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। नारद भक्तिसूत्र ५१।

३. नास्त्येव तस्मिस्तत्सुखसुखित्वम्। नारद भक्तिसूत्र २४।

इसी प्रेम को अपने भक्ति-सम्प्रदायो में स्थान दिया है। चैतन्य मत में इस प्रेम को प्राप्त करने वाली गोपियाँ हैं, राधावल्लभीय मत में निज रूप में स्थित सहचरी इस दिव्य प्रेम की अधिकारिणी बनती है। प्रेमलक्षणा भक्ति में स्वीकृत प्रेम का स्वरूप बताते हुए नारद कहते हैं—'गुणरहित, कामनारहित, प्रतिक्षण वर्धमान, विच्छेद-रहित, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर और केवल अनुभवैकगम्य सासारिक प्रेम से पृथक् कोटि का यह प्रेम है।[1] इस प्रेम को पाकर प्रेमी इस प्रेम को ही देखता है, प्रेम को ही सुनता है, प्रेम का ही वर्णन करता है और प्रेम का ही चिन्तन करता है।[2]

मध्ययुगीन प्रेमलक्षणा भक्ति में उपर्युक्त कोटि के प्रेम की स्थापना होते हुए भी उसका निर्वाह उतनी पवित्रता के साथ नही हो सका। इस भक्ति में परकीया प्रेम को स्थान देकर मध्ययुगीन अनेक भक्त महानुभावो ने सैद्धान्तिक रूप से भले ही इसको उदात्त भाव-भूमि पर प्रतिष्ठित किया हो किन्तु इसका व्यावहारिक रूप सर्वतोभावेन शुद्ध और अनाविल नही रह सका। इसका मुख्य कारण लौकिक शृङ्गार भावना का समावेश ही कहा जायगा। लौकिक प्रेम का स्वरूप शुद्ध या अनाविल नही होता। लौकिक प्रीति होने पर प्रेम में जडत्व आ जाता है। चिन्मुख होने पर यही प्रेम (भगवद्भक्ति-परक होने के कारण) पावन बनकर 'उज्ज्वल-रस' नाम से व्यवहृत होता है। मध्ययुगीन सन्तो ने यथार्थ में इसी उज्ज्वल रस को भक्ति का पोषक माना था, लौकिक शृङ्गार रस को नही। रूप गोस्वामी के भक्ति-सम्बन्धी ग्रथो में इसी उज्ज्वल रसपूर्ण प्रेम का प्रतिपादन हुआ है। लौकिक प्रीति को भगवद् प्रेम में पर्यवसित करके उन्नयन करने का मार्ग ही इस भक्ति-क्षेत्र में गृहीत होता है। जो इसके मर्म को हृदयगम नही कर सकता वह बाह्य शृङ्गार में निमज्जित होकर प्रेमलक्षणा भक्ति का उपहासमात्र करता है, उसे प्राप्त करने का अधिकारी नही रहता।

माधुर्यभाव की भक्ति को प्रमुख स्थान देते समय परम्परा से चली आती हुई लौकिक मान्यताओ में तत्कालीन भक्तो ने आमूल परिवर्तन किये। लोक में मधुर रस अर्थात् शृङ्गार भाव जो दाम्पत्य भाव का पोषक है सब से निम्नकोटि का माना जाता है, उससे ऊपर वात्सल्यभाव का स्थान है, फिर सख्य, फिर दास्य और सब से ऊपर निर्वेद का परिपोषक शान्त रस है। किन्तु यह क्रम माधुर्य भक्ति में एकदम परिवर्तित होकर दास्य, सख्य, वात्सल्य और दाम्पत्य क्रम से स्थिर हुआ। इनके स्थान भी ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ लोक, गोलोक और सर्वश्रेष्ठ मधुर रस का अधिष्ठान वृन्दावन माना गया। सोलहवी शताब्दी में ब्रज-मडल में माधुर्य भक्ति के जो सम्प्रदाय उत्पन्न हुये उन सब में वृन्दावन को माधुर्य-मडित ठहराया गया और उसका अमित माहात्म्य वर्णित हुआ। श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने

---

१. गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमानमविछिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवम्। नारद भक्ति सूत्र ५४।

२. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति। नारदभक्ति सूत्र ५५।

'वृन्दावन शतक' ग्रथ मे इसी वृन्दावन का 'प्रेम-स्थान' के रूप में वड़ा ही सरस और विशद वर्णन किया है।

माधुर्यभाव की भक्ति को स्वीकार करने वाले मध्ययुगीन सम्प्रदायो में व्रजमडल के चार प्रमुख सम्प्रदाय थे जो प्राय. समकालीन हैं। किन्तु उन सवकी माधुर्य भावना मे थोडा-वहुत अन्तर अवश्य है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तन के समय माधुर्य भाव के वात्सल्य पक्ष को सर्वश्रेष्ठ मानकर अगीकार किया था किन्तु शनै.-शनै उसमें परिवर्तन आया और वह माधुर्य के कान्ताभाव की ओर झुकता गया। गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने तो कान्ताभाव को पूरी तरह अपनाया और उनकी इस स्वीकृति का प्रभाव अष्टछाप के कवियो की रचनाओ पर पडा। उन्होने स्वयं भी 'शृङ्गार मडनम्' लिखकर दाम्पत्य भाव-पोषक भक्ति को श्रेष्ठतर मान लिया था। यद्यपि गुसाईजी इस पद्धति को अति गोप्य या केवल रसिक जनो के लिए ही ग्राह्य मानते थे। उन्होने स्वय कहा है कि जो भक्तजन रसमार्ग से अनभिज्ञ हैं वे इस ग्रन्थ का अवलोकन न करें।[1] डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रथ में युगल स्वरूप (दाम्पत्यभाव) की उपासना विधि का सकेत देते हुए लिखा है—'वल्लभाचार्य जी ने पहले माहात्म्य ज्ञान पूर्वक वात्सल्य-भक्ति का ही प्रचार किया था। वाद को उन्होने अपने उत्तर जीवन काल में तथा उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथ जी ने किशोर-कृष्ण की युगल-लीलाओ का तथा युगल स्वरूप की उपासना विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया।'[2] सूरदास, नन्ददास तथा परमानन्ददास की रचनाओ मे इस कोटि के माधुर्य भाव-परक पदो का समावेश भी उत्तरकाल मे ही हुआ। उस समय भक्ति-क्षेत्र में व्रज प्रदेश पूर्ण रूप से कान्ता-भाव की भक्ति का समर्थक हो गया था।

इसी समय वगाल में चैतन्य ने माधुर्यभाव से कृष्णोपासना प्रारभ की किन्तु उस उपासना का चरम उत्कर्ष व्रज में ही दृष्टिगत हुआ। चैतन्य प्रतिपादित कीर्तन और नाम-स्मरण की प्रणाली को माधुर्य के उज्ज्वल पक्ष से सयुक्त करके दाम्पत्यभाव की सुदृढ़ भूमि पर स्थित करने का श्रेय रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी को है। इन महानुभावो ने वृन्दावन को अपनी साधना स्थली वनाया और उज्ज्वल रस को शास्त्रीय रूप देने के निमित्त सस्कृत भाषा में शास्त्रीय ग्रथो का प्रणयन किया। यथार्थ में कान्ताभाव को भक्ति का सर्वश्रेष्ठ रूप देने का श्रेय इन्ही महानुभावो को है। यह ठीक है कि इनकी भावना में परकीया को प्रधानता मिली और परकीया के रूप में दाम्पत्य का एक मोहक रूप इन्होंने अपने ग्रथो में प्रस्तुत किया। किन्तु जिस परकीया भाव को प्रारभ में सर्वश्रेष्ठ ठहराया गया वही कालान्तर

---

१ प्रार्थये रसिका स्वैर पश्यन्त्विदमहर्निशम्।
एतद्रसानभिज्ञ माद्राक्षीदपि वैष्णवः॥
श्री विट्ठलनाथ जी कृत, शृङ्गारमंडन।

२. 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'—डा० दीनदयालु गुप्त—पृष्ठ ५२७।

में नायक-नायिका भेद का एक सामान्य रूप मात्र रह गया श्रौर शृंगार की लौकिक भावनाश्रो का उन्नयन करने की क्षमता उसमे से लुप्त हो गयी। फिर भी इस सम्प्रदाय के गोस्वामियो की देन शास्त्रीय विधान में सर्वोपरि है। व्रजभाषा पर श्रधिकार न होने से उस काल में किसी बगाली वैष्णव ने श्रपनी माधुर्य भावना को व्रजभाषा के माध्यम से व्यक्त नही किया फलत इस संप्रदाय का मुख्य प्रसार-क्षेत्र बगाल ही रहा।

व्रज प्रदेश में वल्लभाचार्य के बाद गोस्वामी हितहरिवश का व्यक्तित्व उल्लेखनीय है। श्री हितहरिवश जी ने श्रपनी भक्ति-पद्धति का मेरुदण्ड प्रेम ही स्थिर किया। प्रेम के नाना रूपो का विधान करते हुए श्रापने उस प्रेम को सर्वश्रेष्ठ माना जो तत्सुखित्व की भावना से राधार्पण या राधानिष्ठ होकर किया जाता है। इम सप्रदाय की मान्यता में राधा को प्रमुख स्थान मिलने के साथ प्रेम-मार्ग को ही एकमात्र मार्ग स्वीकार किया गया। इसीलिए प्रेमलक्षणा-भक्ति को व्यापक एव व्यवहार्य रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय हितहरिवश जी को दिया जाता है। प्रेम-लक्षणा-भक्ति को श्रपनाने के बाद विधि-निषेध के बाह्य बन्धनो से किस प्रकार मुक्ति मिल जाती है, यह भी राधावल्लभ सप्रदाय में बडे स्पष्ट शब्दो मे व्यक्त किया गया है। लौकिक काम-वासनाश्रो के उन्नयन की दिशा मे चैतन्य तथा वल्लभाचार्य की तरह श्रापने भी श्रपनी शैली से विलक्षण कार्य किया, श्रर्थात् प्रिया-प्रियतम के काम-केलि-प्रसगो का सागोपाग वर्णन करके सहचरी रूप जीव को उस मार्ग में प्रवृत्त किया जिसके द्वारा वह लौकिक काम-प्रसंगो को मिथ्या श्रौर केवल राधाकृष्ण की दिव्य काम-क्रीडा को ही यथार्थ समझकर उनके दर्शन की कामना करे। इस सप्रदाय के भक्तो ने व्रजभाषा को ही श्रपनी श्रभिव्यक्ति का माध्यम बनाया फलत हिंदी-साहित्य को समृद्ध बनाने में इस सप्रदाय के भक्तो का महत्त्वपूर्ण योग है।

निम्बार्क सप्रदाय के तत्कालीन भक्तो में श्री भट्ट तथा श्री हरिव्यास देवाचार्य का नाम माधुर्य-भक्ति के प्रचारको में उल्लेखनीय है। श्री भट्ट जी का युगल-शतक श्रौर व्यास देवाचार्य के महावाणी ग्रथो में कान्ताभाव की भक्ति है जिसमे स्वकीयाभाव को स्थापित किया गया है। स्वामी हरिदास जी तथा उनके शिष्यो में बिहारिनदेव, वीठलविपुल, सहचरिशरण श्रादि टट्टी सस्थान के श्रष्टाचार्यो का नाम माधुर्य-भक्ति के उन्नायको में श्रत्यधिक महत्वपूर्ण है। सखीभाव द्वारा उपासना का जैसा सुन्दर रूप इन भक्तो ने प्रस्तुत किया वह राधाकृष्ण-भक्ति के क्षेत्र में श्रपना विशिष्ट स्थान रखता है। इनकी वाणियाँ प्रकाश में श्रपेक्षाकृत कम श्राई हैं, यदि इन्हें व्यापक रूप से प्रकाश में लाया जाय तो श्रष्टछाप तथा राधावल्लभीय भक्तों के समान इनका भी स्थान भक्ति तथा काव्य दोनो क्षेत्रो में स्पृहणीय सिद्ध होगा।

प्रेम-लक्षणा-भक्ति या माधुर्य-भक्ति की सबसे बडी देन राधाकृष्ण की दाम्पत्य-उपासना को व्यापक श्रौर मोहक रूप देना है। राधाकृष्ण का काव्यात्मक शैली से वर्णन तो बहुत प्राचीन काल से चला श्रा रहा था, जयदेव के 'गीत गोविन्द' श्रौर चडीदास के पदो के बाद विद्यापति की 'पदावली' में भी राधाकृष्ण का प्रेम वर्णित हुश्रा था किंतु भक्ति के स्तर पर उसे इतना विराट् रूप देना इन्ही मध्ययुगीन श्राचार्यों का काम था। यह ठीक है कि माधुर्यभाव के नाम से परवर्ती काल में श्रश्लील शृ गार-पूर्ण कामचेष्टाश्रो को भी भक्ति में

स्थान मिलने लगा किंतु प्रारंभ में इसका उद्‌भव वासना-स्रोत से नही हुआ था। प्रेमलक्षणा-भक्ति प्रारभ में परम पवित्र और आत्मोत्सर्ग प्रधान भक्ति मानी जाती थी जिसमे काम-वासना की गध भी न थी किंतु शनै.-शनै. उसकी पावनता, उसका गांभीर्य और उसकी उदात्त भावना का ह्रास होता गया और कालान्तर मे अनधिकारियो के हाथो मे पडकर वह केवल काम-लीला का ही लौकिक रूप मात्र रह गयी। यह भी ठीक ही है कि यदि इस मार्ग का रहस्य भलीभाँति हृदयंगम न करके केवल लौकिक सामान्य शृगार-परक शैली से इसे ग्रहण किया जाय तो इसका समस्त माधुर्य और उज्ज्वल रस काम-केलि के कर्दम मे पकिल होकर यौन-सवन्धो की तृप्ति तक ही सीमित रह जायगा। तव न तो शृ गार का ही उन्नयन सभव है और न साधक की आत्मा का अभ्युदय ही।

## द्वितीय अध्याय

· क-भाग

# चतु:सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय

विभिन्न वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायो को वर्तमान युग में 'चतु सम्प्रदाय' के अन्तर्गत परिगणित करने की परिपाटी इतनी अधिक प्रचलित है कि प्रत्येक सप्रदाय के आचार्य या उनके अनुयायी अपने नवीन दार्शनिक सिद्धात, मन्तव्य तथा अभिनव साधन मार्ग होने पर भी चतु सप्रदायो में कही न कही अपना स्थान निश्चित करने के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। यदि कोई आचार्य अपने सप्रदाय को स्वतत्र मानकर उसके पार्थक्य पर वल देता है तो उसे चतु-सप्रदाय वाले वैष्णव स्वीकार करना नही चाहते। फलत विवश होकर सर्वथा नवीन होने पर भी उसे पुरातन सीमाओ में अपना स्थान बनाने को बाध्य होना पडता है। अनेक वैष्णव भक्त आचार्यो के समक्ष चतु सम्प्रदाय की यह सकीर्ण चार दीवारी आ खडी हुई है और अधिकाश ने इच्छा या अनिच्छा से इसे स्वीकार करके अपने को वैष्णव समाज में शामिल किया है। किंतु आश्चर्य का विषय है कि विद्वानो ने 'चतु सम्प्रदाय' की प्राचीनता और वैष्णव कहलाने की अनिवार्यता पर आज तक गम्भीरतापूर्वक विचार नही किया। राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हितहरिवश जी के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हुआ तो उन्होने निर्भयतापूर्वक अपने सम्प्रदाय को सर्वथा स्वतत्र वैष्णव सम्प्रदाय कहा। चतु सम्प्रदाय के भीतर कही भी अन्तर्भाव करने का मोह उन्हे अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। चतु सम्प्रदाय के अन्तर्गत होकर वैष्णव सम्प्रदाय कहलाने की अनिवार्य शर्तो पर भी आपने ध्यान नही दिया और विधि निषेध से अतीत विधान ( प्रीतिरीति ) प्रस्तुत कर अपना स्वतत्र सम्प्रदाय स्थापित किया जो विगत सवा चार सौ वर्षो से निरन्तर धार्मिक समाज में सब प्रकार स्वीकृत और समादृत वैष्णव भक्ति-सम्प्रदाय के रूप मे प्रतिष्ठित है।

यथार्थ में चतु सम्प्रदाय की भावना जिस कल्पित आधार पर अवस्थित है उसे भलीभाति हृदयगम न करने के कारण ही विशाल और व्यापक वैष्णव धर्म को चतु सम्प्रदाय की सकीर्ण सीमा में आबद्ध करने की अध परपरा चली आ रही है। दक्षिण और बगाल

के उन सम्प्रदायो को भी इस सीमा में बाधा गया है जो भक्तिभावना और निष्ठा में शुद्ध वैष्णव होते हुए भी किसी आचार्य के शिष्य, अनुवर्ती या अनुयायी नही रहे और जिन्होने कभी चतुःसम्प्रदाय की परपरा से प्रत्यक्ष या परोक्ष मे कोई सबध नही जोडा। उत्तरीय भारत के अनेक वैष्णव-सन्तो को चतु.सम्प्रदाय का कठघरा स्वीकार न हुआ तो वैष्णव-समाज ने उनका परित्याग करके उन्हे मत, पथ या समाज का नाम देकर अपने से पृथक् रख कर अपने दभ की रक्षा की। किंतु ज्यो-ज्यो इस विषय मे भ्रम और अज्ञान दूर होता जा रहा है, अनेक सम्प्रदाय अपनी स्वतत्र सत्ता स्थापित करने का आग्रह करने लगे हैं। नीचे की पक्तियो में हम चतु सम्प्रदाय और वैष्णव धर्म के सबन्ध में इसी आधार पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

## 'चतुःसम्प्रदाय' शब्द का संकेत

वैष्णव धर्म के इतिहास मे भक्ति आन्दोलन को शास्त्रीय पद्धति से व्यापक रूप प्रदान करने वाले चतु:सम्प्रदाय के आद्याचार्यो का महत्वपूर्ण स्थान है। कालक्रम की दृष्टि से इन आचार्यो का समय ईसा की ग्यारहवी शताब्दी से प्रारम्भ होता है। यदि इन आचार्यो को ही 'चतु सम्प्रदाय' का प्रवर्तक माना जाय तो यह शब्द बारहवी शताब्दी से पुराना नही हो सकता किन्तु वैष्णव भक्तो की मान्यता के आधार पर यह शब्द सनातन है और अनादि काल से चला आ रहा है। आधुनिक युग मे जो चार सम्प्रदाय प्रचलित हैं उनके प्रवर्तक श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि चार देवता माने जाते हैं। ये चारो देवता सम्प्रदाय सस्थापन के निमित्त कभी धरावाम पर अवतीर्ण हुए और उन्होने अपने किसी विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अपने नाम से सम्प्रदाय प्रवर्तित किया ऐसा कोई प्रमाण न होने पर भी धार्मिक विश्वास में परम्परानुमोदित यह बात चली आ रही है, अत: इसे प्रमाणकोटि में स्थान मिलने लगा है। इन चारो देवताओ के नाम वैदिक साहित्य तथा परवर्ती पुराणादि साहित्य में उपलब्ध होते हैं, किन्तु इनके नाम से किसी विशेष मत, सिद्धान्त या सम्प्रदाय का उल्लेख कही नही मिलता। देवताओ के नामो को सम्प्रदायो के साथ किस युग में जोडा गया इसका भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण अद्यावधि प्राप्त नही हुआ है। अतएव 'चतु सम्प्रदाय' का सनातन होना केवल कल्पनामात्र है, ऐतिहासिक या साहित्यिक आधार पर निर्भर सिद्धान्त नही है।

'चतु सम्प्रदाय' के साथ चार देवताओ के नाम जोडने का सबसे पहला प्रयास 'पद्म पुराण' के दो श्लोको के द्वारा हुआ। 'पद्म पुराण' के कुछ सस्करणो मे दो श्लोक इस आशय के ढूंढ निकाले गये जो कलियुग मे चार वैष्णव सम्प्रदायो के होने का सकेत देते हैं।[1] किन्तु हमें पद्मपुराण मे कही ये श्लोक उपलब्ध नही हुए। इन श्लोको की प्रामाणिकता

---

१. सम्प्रदाय विहीना ये मन्त्रास्ते निष्फला मता.।
अत कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिन ॥
श्री ब्रह्म रुद्र सनक वैष्णवा. क्षिति पावना।
चत्वारस्ते कलौ देवि सम्प्रदाय प्रवर्त्तका ॥ —'पद्म पुराण' (?)

में प्राय   सभी तत्वदर्शी विद्वानो को सन्देह है। इसके अतिरिक्त इस पुराण का रचना काल भी तेरहवी शताब्दी बताया जाता है।[1]

यदि पद्म पुराण का रचना काल तेरहवी शताब्दी माना जाय तो उसके आधार पर चतु सम्प्रदाय के सनातन होने की बात सिद्ध नही होती। हमें इस पुराण से पहले किसी अन्य ग्रथ में चतु सम्प्रदाय शब्द का उल्लेख नही मिला। पद्म पुराण के नाम से प्रसिद्ध इन दो श्लोको में भी इतना अधिक पाठ-भेद है कि यह निर्णय नही किया जा सकता कि 'ब्रह्म' शब्द से चतुर्मुख ब्रह्मा का सकेत है या अखिल विश्व में व्याप्त ब्रह्म का। यदि ब्रह्म को ग्रहण किया जाय तो अन्य देवताओ के द्वारा सम्प्रदाय प्रवर्त्तन की आवश्यकता व्यर्थ हो जाती है। और यदि ब्रह्म का अर्थ चतुर्मुख ब्रह्मा देवता है तो 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग व्याकरण-सम्मत नही ठहरता। नपु सक लिग 'ब्रह्म' शब्द और पुल्लिग ब्रह्म दोनो मे अर्थ-भेद माना जाता है। नपु सक लिग ब्रह्म शब्द का अर्थ परब्रह्म है, चतुर्मुख ब्रह्मा नही। यदि समस्त शब्द मानकर विग्रह द्वारा ब्रह्म को ब्रह्मा के अर्थ में ग्रहण किया जाय तो देवता के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाने पर भी मूल शका का निराकरण नही होता। अस्तु—

यदि चतु सम्प्रदाय शब्द और चार सम्प्रदायो की परम्परा पुरातन काल से चली आ रही होती तो निश्चय ही भक्तिपरक साहित्य में तथा वैष्णव धर्म के प्रतिपादन करने वाले पुराणादि ग्रन्थो मे इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख होता। महाभारत काल में पचरात्र और सात्वत आदि धर्मो का प्रचार होते ही उनका वर्णन तत्कालीन ग्रथो में प्रचुरमात्रा मे हुआ और उनके विशिष्ट सिद्धान्तो का भी प्रतिपादन किया गया। किन्तु कही भी चतु सम्प्रदाय का सकेत नही किया गया। फिर भी इसे अनादिकाल से प्रचलित और सनातन मान लेना केवल धार्मिक अन्धविश्वास का ही फल कहा जा सकता है, इस मान्यता के पीछे किसी अकाट्य तर्क, युक्ति या प्रमाण का बल नही है। श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनकादि देवताओ के नाम केवल श्रद्धापूर्ण पूज्य बुद्धि के कारण इन सम्प्रदायो से जोडे गये है। वस्तुत इनका साक्षात् कोई सम्बन्ध इन चार सम्प्रदायो से नही है। ऐतिहासिक तथ्य यह है कि शकराचार्य के प्रभाव से आठवी शताब्दी में अद्वैतवादी विचारधारा का देश के एक कोने से दूसरे कोने तक प्रचार हो गया। भागवत धर्म सम्मत वैष्णव भक्ति (सगुणोपासना) का परम्परागत रूप उच्छिन्न होने लगा और मायावाद के प्रभाव में निर्गुण ब्रह्म की ओर साधको का रुझान प्रारम्भ हुआ। शाडिल्य और नारद के भक्तिसूत्रो की प्रेमलक्षणा भक्ति के स्थान पर अव्यक्त, अगोचर ब्रह्म का ज्ञान मार्ग से चिन्तन प्रारम्भ हुआ। पुराणो के लीलावतारी कृष्ण के स्थान पर जीव और ब्रह्म का अद्वैत स्वीकार करके "सर्व खल्विदब्रह्म नेहनास्तीतिकिंचन' का उद्घोष सुनाई पडने लगा। भक्ति का क्षेत्र धूमिल हुआ और ज्ञानमार्ग का पथ प्रशस्त होने से देश में वैराग्यवाद का प्रभाव बढा, फलत गृहस्थ भक्तो की अपेक्षा विरक्त साधुओ की सख्या में आशातीत वृद्धि हुई। ऐसे समय में भक्ति को पुन प्रतिष्ठित करने के लिए दक्षिण में

---

2—An Outline of the Religious Literature of India—Farquher, Page, 232

सगुण-भक्ति का आन्दोलन राम और कृष्ण की सगुणोपासना के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। इस आन्दोलन के प्रवर्त्तक चार आचार्य हुए और इन्ही के द्वारा चार सम्प्रदायो की स्थापना हुई।[1] इन चार आचार्यों में क्रमश रामानुज ने 'विशिष्टाद्वैतवाद', मध्वाचार्य ने 'द्वैतवाद', विष्णु स्वामी ने 'विशुद्धाद्वैतवाद' और निम्वार्क ने 'द्वैताद्वैतवाद' नाम से अपना-अपना सिद्धात प्रतिपादित किया। इन चारो वैष्णव सम्प्रदायो का विस्तृत इतिहास है, दर्शन है, साधना-पद्धति है, और अनुयायियो की विशाल परम्परा हे। प्रस्तुत प्रवन्ध मे इन चारो सम्प्रदायो की दार्शनिक विचारधारा और साधना-पद्धति का विवरण देना अप्रासगिक विस्तार होगा अत हमने सक्षेप में इन सम्प्रदायो की रूपरेखा पिछले अध्याय मे दी है।

इस प्रकरण में हमें यही सिद्ध करना अभीष्ट है कि ऐतिहासिक आधार पर यदि चतु.सम्प्रदाय शब्द की छानवीन की जाय तो उक्त चार आचार्यों के उद्भव से पूर्व इसका कोई अस्तित्व नही था। शकराचार्य के वाद ही भक्ति के पुनर्जागरण के प्रयत्नो के फलस्वरूप इन चार सम्प्रदायो की स्थापना हुई। हिन्दी साहित्य में सवसे पहले सत्रहवी शताब्दी मे नाभा जी ने अपने भक्तमाल में चतु:सम्प्रदाय का वर्णन किया है।[2] उस समय चतु सम्प्रदाय की पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा हो चुकी थी और वैष्णव सम्प्रदाय के नाम पर इन्ही का ग्रहण होता था। 'प्रमेय रत्नावली' के लेखक श्री वलदेव विद्याभूषण (१८वी शताब्दी) ने भी चतु:सम्प्रदाय के आचार्यों के नामो का निर्देशपूर्वक उल्लेख किया है। किन्तु यह रचना वहुत वाद की है अत

---

1—This must have led to a vigorous revival of Vaishanvism in the subsequent centuries ; and about the 12th Century A D. we have four Sampradayas or Schools of thought, into which the Vaishanava movement divided itself. These are the wellknown, Sri, Brahma, Rudra and Sanakadi Sampradayas associated respectively with the name of Ramanuj, Madhva, Vishnuswami, and Nimbark × × × As against the purely monistic teaching of non duelity (Advait Vada) of Shanker, these schools expounded respectively what are conveniently known as theories of qualified Non-duelity (Vishishtadvit Vada) Duelity (Dwait Vada) Pure non-duelity (Shudhadvait Vada) and Duelistic non-duelity (Dvait-advait Vada).

"Vaishanava Faith & Movement in Bengal"–Dr. S K De, Page 2-3

२—श्री रामानुज उदार, सुधानिधि अवनि कल्पतरु।
विष्णु स्वामि वौहित्य सिन्धु सागर पार करु॥
मध्वाचारज मेघ भक्ति सर असर भरिया।
निम्वादित्य आदित्य कुहर अज्ञान जु हरिया॥
जनम-करम भागवत धरम, सम्प्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि वपु धरे, त्यो चतुर्व्यूह कलियुग प्रगट॥
नाभा जी कृत भक्तमाल—१३३ छप्पय, पृष्ठ २५७—भक्तमाल रूपकला टीका।

इसका प्रमाण या साक्षीरूप में प्रस्तुत करना शब्द के पुरातन होने में योग नही देता। श्री दुर्गाशकर केवलराम ने 'वैष्णवधर्मनो सक्षिप्त इतिहास' (गुजराती) में भी चारो सम्प्रदायों का सकेत भविष्य पुराण के श्लोको के आधार पर किया है।[1] किन्तु ये श्लोक भी आधुनिक-युग की रचना प्रतीत होते हैं। लेखक ने भी इनके प्राचीन होने का कोई प्रमाण नही दिया। किन्तु इन श्लोको में एक विशेषता ध्यान देने योग्य है, वह है इन आचार्यो के उद्भव के कालक्रम का निर्देश। इन्होने विष्णु स्वामी को प्रथम, निम्बार्क को द्वितीय, मध्वाचार्य को तृतीय और रामानुजाचार्य को चतुर्थ बताया है। यह कालक्रम आधुनिक-युग की शोध के सर्वथा प्रतिकूल है। आधुनिक युग मे रामानुजाचार्य को कालक्रम की दृष्टि से सब से प्रथम ठहराया जाता है। कुछ विद्वान् निम्बार्काचार्य को प्रथम कहते हैं। श्री वलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रथ 'भागवत सम्प्रदाय' में लिखा है कि—"हमारी दृष्टि में यह सम्प्रदाय (निम्बार्क) वैष्णव सम्प्रदायो में प्राचीनतम प्रतीत होता है। + + +। इस सम्प्रदाय की प्राचीनता के विषय में भविष्य पुराण का एक पद्य भी उद्धृत किया जाता है जिसमें एकादशी के निर्णय के अवसर पर निम्बार्क का मत उद्धृत किया गया है और अतिशय आदर प्रदर्शन के लिए वे भगवान् शब्द द्वारा अभिहित किये गये हैं।"[2] फलत चतु सम्प्रदाय को प्राचीन और सृष्टि के आदि से प्रवर्तित मानना केवल श्रद्धा-भावना के कारण ही है, उसके पीछे ऐतिहासिक या साहित्यिक प्रमाण नही है। अत इस बात को भूलना न चाहिए कि व्यापक वैष्णव धर्म को चतु सम्प्रदाय की सकीर्ण सीमा में आवद्ध करने का प्रयत्न केवल शकराचार्य के मायावाद को वहिष्कृत करने के लिए किया गया था। तत्कालीन आचार्यो की यह चेष्टा बहुत कुछ सफल भी हुई क्योकि पन्द्रहवी-सोलहवी शताब्दी मे उद्भूत अनेक वैष्णव सम्प्रदाय चतु सम्प्रदाय में सम्मिलित होकर ही अपने को धन्य समझते रहे। किन्तु इसी युग में ऐसे भी आचार्य और महात्मा हुए जिन्होने इस सीमा को स्वीकार नही किया और अपना स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय स्थापित किया। उनकी साम्प्रदायिक मान्यताए समाज द्वारा समादृत हुई और वैष्णव धर्म के इतिहास में उनका स्वतन्त्र स्थान स्वीकार किया गया।

## प्रस्थानत्रयी पर भाष्य

चतु सम्प्रदाय की पुष्टि में एक आग्रहपूर्ण तर्क उपस्थित किया जाता है कि वैष्णव सम्प्रदाय वनने के लिए प्रस्थानत्रयी ( उपनिषद्, गीता और व्रह्मसूत्र ) पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से भाष्य रचना अनिवार्य शर्त है। जब तक इन तीन ग्रन्थो पर अपना अभिमत

---

१—आसन् सिद्धान्त कर्तारश्चत्वारो वैष्णवा द्विजा।
यैरय पृथिवीमध्ये भक्ति मार्गो दृढीकृत ॥
विष्णुस्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीयकः।
मध्वाचार्यस्तृतीयस्तु तुर्यो रामानुज स्मृत ॥
—'वैष्णवधर्मनो सक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ २३५ से उद्धृत।

२—भागवत सम्प्रदाय ले० श्री वलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ३१६

व्यक्त न किया जाय तब तक कोई भी आचार्य वैष्णव सम्प्रदाय की स्थापना नही कर सकता। यह शर्त कब और कैसे स्वीकृत हुई यह जान लेना भी आवश्यक है। यथार्थ मे यह भाष्य रचना भी स्वामी शंकराचार्य की ही देन है। शकराचार्य ने इन तीनो ग्रन्थो पर अपने अद्वैतपरक विस्तृत भाष्य लिखे थे जो पंडितों द्वारा अत्यधिक समादृत हुए। उनका प्रचार यहाँ तक हुआ कि भक्तिपरक गीता भी ज्ञान का ही ग्रथ माना जाने लगा। मायावाद की भावना जनसाधारण तक फैलने लगी और ज्ञान-पिपासु जनता अद्वैत के चक्कर में पडकर वैष्णव भावना की भक्ति को भूलने लगी। उस समय सबसे प्रथम रामानुजाचार्य ने इन तीनो ग्रथो पर भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की। इनके बाद फिर यह परम्परा प्रवर्तित हो गई और अपनी साम्प्रदायिक भावना की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखना आवश्यक समझा जाने लगा। किन्तु स्मरण रहे कि इस परम्परा का चारो आचार्यो ने पूर्ण रूप से निर्वाह नही किया। प्राय सबका ध्यान ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखने की ओर ही अधिक रहा। निम्बार्काचार्य ने उपनिषदो पर कोई भाष्य नही लिखा। ब्रह्मसूत्र पर 'पारिजात सौरभ' नामक वृत्ति भी स्वल्पकाय है, उसे भाष्य नही कहा जा सकता। 'गीता वाक्यार्थ' रचना सदिग्ध है। विष्णु स्वामी की रचनाओ के विषय मे अभी तक पर्याप्त विवाद है। विष्णु स्वामी के नाम से जिन रचनाओ का सामान्य जनता में प्रचार है वे यथार्थ में उन विष्णु स्वामी की नही हैं जो रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने जाते हैं। 'सर्वज्ञसूक्त' नाम की एक ही रचना को विद्वानो ने प्रमाण कोटि में ठहराया है। कुछ लोग श्रीधर स्वामी को विष्णु स्वामी का शिष्य बताकर उनकी रचनाओ को ही साम्प्रदायिक गौरव की बात सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु इसमें पहला विवाद तो विष्णु स्वामी के समय और स्वरूप का है। यदि विष्णु स्वामी का काल निर्धारित हो जाय तब फिर श्रीधर स्वामी के शिष्यत्व आदि पर विचार करना समीचीन होग। अत' यह निर्विवाद है कि रुद्र सम्प्रदाय मे भी भाष्यो की सम्पूर्ण परम्परा नही मिलती, फिर भी वह वैष्णव सम्प्रदाय है। हाँ, वल्लभाचार्य का अणुभाष्य अवश्य उल्लेख्य है, जिसके द्वारा शुद्धाद्वैत सिद्धात की स्थापना होती है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य प्रश्न है कि क्या वल्लभाचार्य स्वतन्त्र सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं या विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के सर्वतोभावेन अनुयायी हैं। इस प्रश्न पर हम इसी अध्याय मे आगे विस्तार से विचार करेंगे।

उपर्युक्त कथन से यह परिणाम सहज ही मे निकाला जा सकता है कि 'प्रस्थान-त्रयी' पर भाष्य लिखने की परम्परा का पूरी तरह आचार्यो ने ही निर्वाह नही किया अत चतुः-सम्प्रदाय को भाष्य पर सर्वांशत आधृत नही कहना चाहिए। अब एक प्रश्न यह उठता है कि क्या चतु.सम्प्रदाय की स्थापना के बाद कोई वैष्णव सम्प्रदाय उत्पन्न ही नही हुआ और यदि हुआ तो वह निश्चित रूप से इन चारो में से किसी न किसी का अनुगामी था। इस प्रश्न के हमारी दृष्टि में दो उत्तर हैं—एक तो यह कि इन चारो सम्प्रदायो के बाद भी अनेक वैष्णव सम्प्रदाय उत्पन्न हुए और देश के विशाल भू-भाग मे फैले। उनके सिद्धान्त और मन्तव्य चारो प्राचीन सम्प्रदायो से भिन्न होने के कारण हम उन्हे स्वतन्त्र मानते हैं। दूसरा उत्तर यह है कि परवर्त्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायो का मूल इन्ही चार सम्प्रदायो में किसी न किसी रूप में अन्तर्निहित है अत' परवर्त्ती सम्प्रदायो को इनके ही भीतर स्वीकार करना चाहिए। दोनो

पक्षो की सिद्धि के लिए तर्क और प्रमाण दिये जाते हैं। किन्तु विचारशील पाठक को यथार्थ की पैठ करने के लिए निष्पक्ष रूप से इस स्थिति पर विचार करना चाहिए। हमारा मत पहले उत्तर के साथ है। हम यह मानते हैं कि इन चार सम्प्रदायो के प्रवर्तित होने के बाद भी अनेक वैष्णव सम्प्रदायो का उत्तर भारत तथा दक्षिण ( महाराष्ट्र ) में उद्भव और विकास हुआ। उनका साधना-पद्धति, अर्चा-पूजा, तिलक-त्रिपुण्ड, आराध्य-देवता आदि सभी विषयो में पुरातन चार सम्प्रदायो से नवीनता या विलक्षणता बनी रही अत हम उन्हे स्वतन्त्र सम्प्रदाय ही कहना अधिक समीचीन समझते हैं। अपने इस कथन की पुष्टि में हम रामानन्दी सम्प्रदाय, श्रीकृष्ण चैतन्य का गौडीय सम्प्रदाय, वल्लभ सम्प्रदाय ( पुष्टि मार्ग ), सखी सम्प्रदाय, सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय, तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय आदि का प्रमाणपूर्वक निर्देश कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक छोटे-बडे वैष्णव सम्प्रदाय हैं जिनकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करने में कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नही होनी चाहिए।

## रामानुज सम्प्रदाय और रामानन्दी सम्प्रदाय

रामानन्दी सम्प्रदाय को प्राय रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना जाता है। जहाँ तक 'श्री सम्प्रदाय' का सबध है, यह मानने में विशेष आपत्ति नही होनी चाहिए कि 'रामोपासना' को मानने वाले सभी सम्प्रदाय 'श्री सम्प्रदाय' के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। किन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि 'श्री सम्प्रदाय' का कोई स्वरूप सिद्धात, दर्शन, देवता, मन्त्र, साधना-पद्धति शास्त्रीय रूप में नही मिलती। जो कुछ मिलता है वह सब ही रामानुजाचार्य का है और उसी को श्री सम्प्रदाय कह दिया गया है। यथार्थ रूप मे तो 'श्री भाष्य' द्वारा प्रतिपादित विशिष्टाद्वैत सिद्धात तथा अष्टाक्षर मन्त्र या द्वादशाक्षर मन्त्र ही 'श्री सम्प्रदाय' का मूल कारण है जिसके स्थान पर 'वैष्णवमताब्ज भास्कर' ग्रन्थ में स्वामी रामानन्द ने रामषडक्षर मन्त्र को अपने रामावत सम्प्रदाय के लिए अभीष्ट मन्त्र बताया है। दोनो सम्प्रदायो के रहस्य मन्त्र में भी बहुत बडा भेद है। रामानन्दी मत में ध्यान के निमित्त सीता तथा लक्ष्मण से युक्त श्री रामचन्द्र जी का ध्यान करने का आदेश है जो रामानुजाचार्य की पद्धति से सर्वथा भिन्न और स्वतन्त्र है। भक्ति को मुक्ति का साधन बताते हुए उसके जनक जो सात उपाय बताये गये हैं वे भी रामानुजाचार्य से पृथक् ही हैं। वैकुण्ठ के स्थान पर साकेत ही परम धाम माना गया है। वाह्य चिह्नो मे तिलक और कण्ठी में भी भेद है। रामानुज सम्प्रदाय में दो प्रकार के तिलक प्रचलित हैं। पहले 'तिलग' नामक एक ही प्रकार का तिलक था बाद में श्री वेदान्तदेशिक ने 'बडगल' तिलक का प्रचार किया। रामानन्दी सम्प्रदाय में बीस-बाईस प्रकार के विभिन्न तिलको का प्रचार है। कुछ तिलको के बीच में 'राम' शब्द लिखने की प्रणाली है जो रामानुजाचार्य के तिलक में नही थी। कण्ठी के स्वरूप में भी भेद है। रामानुज सम्प्रदाय में भगवत्सेवा एव मत्र जपादि काल मे तुलसी या कमलाक्ष की माला धारण करने की प्रथा है। किन्तु रामानन्दी सम्प्रदाय में कठी, कँठा, हीरा एक लडी, दुलडी, पदिक,

रामनामी आदि भेद से सर्वदा तुलसी धारण करने का विधान है।[1] पूजा-अर्चा पद्धति में भी वहुत वडा भेद परिलक्षित होता है। फलत वाह्याचार तथा कर्म-कांड के साथ आभ्यन्तर साधना पद्धति के भेद के कारण हम इन दोनो मे स्पष्ट ही पार्थक्य देखते हैं। हमारा अभिप्राय यहाँ केवल दोनो सम्प्रदायो के पार्थक्य का आभास देना मात्र है अत भेद विषयक सकेत ही प्रस्तुत किये हैं। इस पार्थक्य को देखकर विद्वान् पाठक स्वय निर्णय कर सकते है।

## माध्व सम्प्रदाय और गौड़ीय सम्प्रदाय

गौडीय या चैतन्य सम्प्रदाय पर भी इसी दृष्टि से विचार करना आवश्यक है। क्या चैतन्य को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत मानना सैद्धान्तिक दृष्टि से सर्वथा ग्राह्य है? यद्यपि सर्वसाधारण की यही धारणा वनी हुई है किन्तु तात्विक दृष्टि-निक्षेप से इस भ्रम का सहज ही में उच्छेद हो जाता है।

श्री मध्वाचार्य ने अपने सिद्धान्तो की स्थापना के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं। उनका मत द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है। उन्होने अपनी मान्यताओ को वहुत ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर भ्रम का कोई अवकाश नही छोडा है। एक, प्रसिद्ध पद्य मे उनके मत का साराश इस प्रकार आ जाता है—

**श्री मन्मध्वमते हरि.परतरः सत्यं जगत् तत्वतो।**
**भेदौ जीवगणा हरेनुचरा नीचौच्चभावं गताः॥**
**मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्चतत्साधन।**
**ह्यक्षादित्रतयं प्रमाणमखिलाम्नायैक वेद्यो हरिः॥**

इसमे हरि (विष्णु) को सर्वोच्च तत्व स्वीकार किया गया है। जगत् सत्य है। भेद वास्तविक है। समस्त जीव हरि के अनुचर हैं, जीवो मे नीच और ऊँच का तारतम्य है। अपने वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है अमला भक्ति ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपाय है। प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन प्रमाण ज्ञान के साधक हैं। वेद का समस्त तात्पर्य विष्णु ही है। ये नौ सिद्धात मध्वाचार्य के अभीष्ट हैं।

गौडीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीकृष्ण चैतन्य ( गौराग महाप्रभु ) ने प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य नही लिखा। उनके मतानुयायी श्री वलदेव विद्याभूषण ने 'गोविन्द भाष्य' की रचना करके सिद्धात को शास्त्रीय रूप दिया। 'अचिन्त्य भेदाभेद' इनका दार्शनिक सिद्धात है। श्रीकृष्ण इनके उपास्य हैं। श्रीकृष्ण अशी है, सगुण एव निर्गुण हैं, अद्वयज्ञान तत्व हैं, आश्रय तत्व हैं, नराकृति हैं, लीलामय हे, लीला पुरुपोत्तम हैं, उनका ऐश्वर्य भी माधुर्य-मडित है। उनके नर विग्रह में भी विभुत्व है। भक्ति का स्वरूप, जीव की शक्ति, सृष्टि-तत्व-रहस्य, गोपी-प्रेम, राधाभक्ति आदि सभी विषय मध्वाचार्य से विल्कुल स्वतन्त्र हैं। इन विपयो पर माध्व सम्प्रदाय मे कोई विचार नही हुआ। अत. दार्शनिक सिद्धान्तो तथा साधन-पद्धति की दृष्टि से माध्व और गौड़ीय सम्प्रदाय मे किसी प्रकार

---

१ 'श्री रामसार संग्रह', लेखक—पं० रामटलहदास, प्रयाग, पृष्ठ ५–६

की समानता नही है। आश्चर्य है कि फिर भी इस सम्प्रदाय को माध्व के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। इस सम्बन्ध में डा० सुशील कुमार डे ने अपने 'वैष्णव फेथ एण्ड मूवमेंट इन बगाल' नामक ग्रथ में वडी निष्पक्ष दृष्टि से तर्कपूर्ण विचार प्रस्तुत किये हैं। उनकी धारणा है कि चैतन्य स्वय और उनके अनुयायी ही इस सम्प्रदाय के सस्थापक हैं। किसी अन्य सम्प्रदाय के गुरु का इस सम्प्रदाय पर कोई प्रभाव नही है। प्रवोधानन्द रचित चैतन्य चरितामृत की टीका लिखते हुए 'आनन्दिन' ने भी लिखा है —

"श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभुः स्वय भगवान् सम्प्रदाय प्रवर्त्तका।
तत्पार्शवाएव साम्प्रदायिका गुरवो नान्ये।"[1]

डा० सुशील कुमार डे माध्व सम्प्रदाय और चैतन्य सम्प्रदाय मे दार्शनिक धरातल पर कोई एकता नही मानते। माध्व मत में श्रीमद्भागवत पुराण की रास पचाध्यायी को मान्यता प्राप्त नही है जबकि चैतन्य सम्प्रदाय में इसका बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। माध्व मत मे राधा का कोई विशिष्ट स्थान नही और कृष्ण की वृन्दावन लीला का भी वर्णन नही है जबकि चैतन्य मत इसी भित्ति पर प्रतिष्ठित है। चैतन्य मत के प्रारम्भिक ग्रन्थो में माध्व मत के ग्रन्थो का कोई उल्लेख नही मिलता। चैतन्य सम्प्रदाय के प्रसिद्ध व्याख्याता गोस्वामी सनातन ने अपनी 'वैष्णव तोपिणी' नामक भागवत की टीका में भी दो-एक स्थल को छोड कर कही माध्व मत का उल्लेख नही किया। वे दो-एक स्थल भी सम्भव है जीव गोस्वामी ने टीका को सक्षिप्त करते समय उसमें रख दिये हो। रूप गोस्वामी और जीव गोस्वामी ने अपने ग्रन्थो मे कही-कही मध्वाचार्य के भाष्य का संकेत दिया है किन्तु कही भी उन्हे अपने आदिगुरु के रूप मे नही लिखा। सबसे पहले बलदेव विद्याभूषण ने माध्व मत के साथ चैतन्य सम्प्रदाय का दार्शनिक सम्वन्ध स्थापित किया है। इस प्रकार सम्बन्ध स्थापित करने का यही कारण प्रतीत होता है कि वगाल के चैतन्य मत और वृन्दावन के चैतन्य मत में पारस्परिक मतभेद होने पर यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि चैतन्य मत का मूल सम्वन्ध चार सम्प्रदायो में से किसी एक के साथ जोडा जाय ताकि उसे धार्मिक जगत् में पूरी मान्यता प्राप्त हो सके। वगाल के चैतन्य सम्प्रदाय के वैष्णवो ने अपने को माध्व से सयुक्त करना ही उचित समझा। जयपुर के गलता नामक स्थान में वैष्णवो की सभा में बलदेव विद्याभूषण ने सार्वजनिक रूप से यह घोषणा की और इस प्रकार चैतन्य मत और माध्व मत में ऐक्य स्थापित हो सका।[2] बलदेव विद्याभूषण के प्रयत्नो से पहले बगाल के वैष्णवो ने कभी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखकर साम्प्रदायिक होने का उपक्रम नही किया था। जब एक बार माध्व सम्प्रदाय में शामिल हुए तो यह भी आवश्यक प्रतीत हुआ कि परम्परानुमोदित प्रस्थान-

---

1—"Anadin in his Commentary on Pravodhananda's 'Chaitanya Charitamrita' claims that Chaitanya himself and his followers were the founders of the Bengal Sampradaya and owed nothing to the Gurus of any other Sampradaya"
—Dr S K De—Vaishnav Faith and Movement in Bengal, Page 10.

२. देखिए—'हिन्दुत्व' ले० रामदास गौड़, पृष्ठ ६८१।

त्रयी पर भाष्य लिखा जाय। यह काम बलदेव विद्याभूषण ने ही सम्पन्न किया। बंगाल के वैष्णवजन तो श्रीमद्भागवत पुराण को प्रस्थानत्रयी से भाष्य रूप मे ही पूज्य मानते थे। उनकी दृष्टि मे स्वतन्त्र रूप से भाष्य लिखना अनिवार्य न था।[1]

इन दोनो सम्प्रदायो मे गुरु-शिष्य सम्बन्ध स्थापित करते हुए यह धारणा अत्यधिक घर कर गई है कि माधवेन्द्र के शिष्य ईश्वर और केशवभारती से चैतन्य ने दीक्षा ली थी। माधवेन्द्र माध्व थे अत. उनके शिष्य भी माध्व हुए। किन्तु माधवेन्द्र के विचार-दर्शन का अध्ययन यह बताता है कि उन्होने जिस रहस्यपूर्ण भावुकतामय भक्ति का बगाल मे प्रचार किया उसका माध्व सम्प्रदाय से कोई साक्षात् सम्बन्ध नही था। माधवेन्द्र ने भक्ति के माध्यम से भावना-सयुक्त रस-मार्ग का प्रसार किया।[2] कृष्ण चैतन्य चरित्र मे भी कृष्णदास विराज ने माध्व सम्प्रदाय के प्रति कोई ऐसी अभिव्यक्ति नही की है जो दोनो का साक्षात् सम्बन्ध स्थापित करे, ऐसी दशा मे एक को दूसरे का अनुवर्ती या अनुयायी, शाखा या प्रशाखा मानना कहाँ तक सगत है! हमारी निश्चित धारणा है कि शाखा या अनुयायी मानने का यह क्रम चतु सम्प्रदाय के साथ श्री, ब्रह्म, रुद्र, सनकादि देवताओ का नाम जुडा होने से ही है। समस्त वैष्णव सम्प्रदायो मे यह धारणा बद्धमूल हो गई थी कि इन्ही चार देवताओ के नाम पर सम्प्रदाय चल सकता है अत देवताओ के बाद आचार्यो के साथ भी उनका सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा जो ऐतिहासिक और धार्मिक साक्ष्य के आधार पर सिद्ध नही होता।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि चैतन्य सम्प्रदाय का माध्व सम्प्रदाय से कोई सम्बन्व नही है और बलदेव विद्याभूषण से पहले बगाल में यह एक स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय समझा जाता था। फिर आज हम इस सम्प्रदाय को स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय क्यो न स्वीकार करें। यह तो निर्विवाद है कि यदि माध्व मत के साथ इसका सम्बन्ध स्वीकार न भी किया जाय तब भी यह एक विशिष्ट वैष्णव भक्ति का सम्प्रदाय रहेगा ही। अत

---

1—"It must also be pointed out that in doctrinal matters, Bengal Vaishnvism as set forth by Chaitnya's Navdwipa devotees or by the Six Goswamis, hardly shows any resemblance to Madhvaism. Madhvaism is more speculative than emotional, and displays a distinct metaphysical leaning towards the views of the Naiyayikas and Samkhyas.

It is only when we come to Baldeva Vidyabhushan that Madhva-affiliation is distinctly and authoritatively claimed......

The Bengal Vaishnavas for some reason or other thought it convenient to acknowledge themselves as Madhvas

—Dr S K. De–Vaishanava Faith and Movement in Bengal, Page 16-17.

2—'But the mystic emotionalism which Madhavendra made current in Bengal could not have been Madhavism Unlike a Madhva ascetic, Madhavandra appears to have been a devotee of great emotional capacity, who must have sombre and forbidding aspects of asceticism and who probably cared more for actual devotional fervour than for the teaching of dry doctrines

—Dr. S.K.De—Vaishanava Faith and Movement in Bengal, Page'18-19.

चतु सम्प्रदाय के प्रलोभन में पडकर किसी के साथ सयुक्त होना नितान्त अनिवार्य शर्त नही है। इस सम्प्रदाय में गौरागमहाप्रभु नाम से चैतन्य को ईश्वर के अवतार के रूप में ही माना जाता है। अवतारी पुरुष किसी सामान्य व्यक्ति का अनुयायी नही होता अत चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय स्वतन्त्र ही माना जाना चाहिए।

## विष्णु स्वामी सम्प्रदाय और वल्लभ सम्प्रदाय

रुद्र सम्प्रदाय के अन्तर्गत विष्णुस्वामी सम्प्रदाय पर भी इसी दृष्टि से विचार करना हम आवश्यक समझते हैं। विष्णुस्वामी के उद्भव-काल का अभी तक निर्णय नहीं हो सका है। कुछ विद्वानो की सम्मति में उनका जन्म दसवी शताब्दी में हुआ और कुछ विद्वान् नाभा जी के भक्तमाल के छप्पय के आधार पर तेरहवी शताब्दी से पहले का बताते हैं। नाभा जी का छप्पय किसी ऐतिहासिक साक्ष्य पर आधृत न होने से जन्म सवत् आदि की दृष्टि से प्रमाण रूप में गृहीत नही हो सकता। केवल श्रद्धाभाव से ही उसमें कतिपय अनुश्रुतियो को लेकर ज्ञानदेव को विष्णुस्वामी का शिष्य कहा गया है। मराठी 'सन्तलीलामृत' पुस्तक में ज्ञानदेव को निवृत्तिनाथ का शिष्य कहा गया है। कुछ सायणाचार्य या विद्याशंकर को ही विष्णुस्वामी ठहराते हैं। कुछ विद्वानो की सम्मति में श्रीधरस्वामी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के अनुगत थे और उन्होने अपनी टीका में विष्णुस्वामी के सिद्धान्तो का आभास दिया है। किन्तु यह सब कल्पनामात्र है, इसका कोई पुष्ट आधार नही मिलता। इतिहास में अब तक तीन व्यक्ति विष्णुस्वामी नाम से विख्यात हैं (१) देवतनु विष्णुस्वामी, (२) रामगोपाल विष्णुस्वामी और (३) वल्लभाचार्य के गुरु विष्णुस्वामी। फलत यह निर्णय करना कठिन है कि किस विष्णुस्वामी ने सम्प्रदाय प्रवर्त्तित किया। वर्तमान युग में विष्णु स्वामी सम्प्रदाय के अनुयायियो की सख्या अति न्यून है और साम्प्रदायिक दृष्टि से साहित्यिक सामग्री का भी पूर्णत अभाव है। जो कुछ ग्रथ उपलब्ध होते हैं वे भी असदिग्ध रूप से विष्णुस्वामी रचित प्रतीत नही होते।

विष्णुस्वामी कब, किस स्थान पर रहे और उन्होंने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के प्रचार के लिए मठ-मन्दिर स्थापित किये इसका भी कही उल्लेख नही मिलता। फर्कुहर ने विष्णुस्वामी के दो मठो की चर्चा की है जिनमें से एक काकरौली में और दूसरा कामवन में है।[1] कामवन के मठ का विष्णुस्वामी से अभी तक सीधा सम्बन्ध नही माना जाता है।[2] वल्लभ सम्प्रदाय के ग्रथो से तथा किम्वदन्तियो से यह पता चलता है कि श्री वल्लभाचार्य जी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे और उन्होने इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो को निर्धारित किया। यह भी जनश्रुति है कि महाराष्ट्र सन्त श्री ज्ञानदेव, नामदेव, केशव,

---

1—Farquher, An Outline of the Religious Literature of India, Page 304

2—Vaishanism, Shavism, and other religious systems of India, Dr R G Bhandarkar, Page 27-28.

त्रिलोचन, हीरालाल और श्रीराम विष्णुस्वामी मतावलम्बी थे। महाराष्ट्र मे प्रचार पाने वाला भागवत धर्म जो पीछे वारकरी सम्प्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ और जिसके अनुयायी ज्ञानदेव, नामदेव आदि प्रसिद्ध भक्त हुए, विष्णुस्वामी मत का ही रूपान्तर है।[1] यह निर्णय डा० गुप्त ने केवल जनश्रुति के आधार पर ही निकाला है। इसका कोई ऐतिहासिक आधार प्रतीत नही होता, उन्होने स्वय यही स्वीकार किया है।

विष्णुस्वामी के नाम से अनेक रचनाएँ विख्यात हैं किन्तु 'सर्वज्ञसूक्त' नामक ग्रथ को ही प्रमाणकोटि में रखा जाता है। उनका प्रस्थानत्रयी पर भाष्य नही मिलता। यदि प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखना सम्प्रदाय-प्रवर्त्तन की अनिवार्य शर्त है तो विष्णुस्वामी सम्प्रदाय पर वह पूरी तरह चरितार्थ नही होती, फिर भी विष्णुस्वामी सम्प्रदाय को चतु सम्प्रदाय में आचार्य कोटि के सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण एव गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

अब इस सम्प्रदाय से सम्बद्ध कहे जाने वाले वल्लभ सम्प्रदाय पर विचार करके यह निर्णय करना कठिन नही कि वल्लभाचार्य जिस सम्प्रदाय की उच्छिन्न गद्दी पर बैठे थे, परम्परा रूप में उन्हे उस सम्प्रदाय की विशिष्ट दार्शनिक परम्परा या साधनात्मक सिद्धातो की धरोहर नही मिली थी। एक तरह से उन्होने अपनी स्वतन्त्र प्रतिभा और मेधा के द्वारा ही वल्लभ सम्प्रदाय प्रवर्तित किया था। श्री वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धांत दार्शनिक जगत में एकदम नया और ईश्वर, जीव तथा प्रकृति को आध्यात्मिक स्वरूप में नवीन दृष्टिकोण से उपन्यस्त करने वाला है। इस पर न तो विष्णुस्वामी का कोई प्रभाव है और न किसी अन्य आचार्य का। श्री वल्लभाचार्य ने छोटे-बडे लगभग तीस ग्रन्थो की रचना की जिनमें अणुभाष्य, भागवत टीका, पूर्व मीमासा भाष्य, तत्त्व दीप निबध, सुबोधिनी और षोडश ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। साधन पक्ष की विस्तृत व्याख्या षोडश ग्रन्थ मे सकलित छोटे-छोटे प्रकीर्णक ग्रंथो में हुई है। वल्लभाचार्य रचित ग्रथो के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकालना कि उनकी भक्ति पद्धति, सेवा पद्धति और दार्शनिक विचारधारा, किसी परम्परागत सम्प्रदाय के आधार पर प्रवाहित हुई, पुष्ट प्रमाणो पर आधृत प्रतीत नही होती। यथार्थ में वल्लभाचार्य स्वतत्र चिंतक के रूप में—आचार्य के रूप में—आये और अपना नवीन सम्प्रदाय स्थापित कर गये। वल्लभाचार्य के चरित लेखक गोपालदास ने कही इस बात की चर्चा नही की है कि विष्णुस्वामी के शिष्य के रूप मे वल्लभाचार्य जी कभी रहे। इन दोनो के समय में कम से कम तीन सौ वर्ष का अन्तर माना जाता है अत साक्षात् शिष्यत्व की बात तो बनती ही नही। हा, साम्प्रदायिक अनुयायी होने की क्लिष्ट कल्पना के लिए कुछ अवकाश है किंतु इसका भी कोई प्रमाण नही है। वल्लभाचार्य के सम्बन्ध में यह भी एक कल्पना है कि उनके पिता लक्ष्मण भट्ट विष्णुस्वामी मत के अनुयायी थे अतः पुत्र अपनी पूर्वावस्था में उनका अनुयायी हो गया किंतु पीछे उसने अपना स्वतंत्र सम्प्रदाय चलाया।[2]

---

१ "अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय" डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४२।

२. वैष्णवधर्मनो सक्षिप्त इतिहास (गुजराती)—लेखक, दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री। पृष्ठ २४०-२४२।

प्रस्तुत प्रसग में हमें यही दिखाना है कि विष्णुस्वामी सम्प्रदाय की आज कोई सैद्धातिक रूपरेखा नही मिलती। उनके अनुयायियो की सख्या भी विरल ही है। वल्लभाचार्य को उनके अनुयायी मानने में तथा चतु सम्प्रदाय के अनुगत होने में न तो कोई प्रमाण है और न दार्शनिक आधार ही। फिर भी यदि दोनो सम्प्रदाय वैष्णव धर्म के अभिन्न अग समझे जाते हैं तो वैष्णव होने के लिए प्रस्थानत्रयी पर भाष्य या गुरु-परम्परा की शर्त का कोई महत्वपूर्ण स्थान नही रह जाता।

बडौदा विश्वविद्यालय के प्रो० जी० एच० भट्ट ने मैसूर में हुई ओरियटल कान्फ्रेंस में अपना जो निबन्ध पढा था उसमे यह सिद्ध किया है कि ऐतिहासिक या दार्शनिक दृष्टि से विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य का कोई सम्बन्ध स्थापित नही किया जा सकता। वस्तुत ये दोनो स्वतत्र वैष्णव सम्प्रदाय हैं।[1] वल्लभाचार्य ने अपने मत को पुष्टिमार्ग का नाम देकर वैसे भी नवीन कलेवर दे दिया है जो विष्णुस्वामी की परम्परा में न तो दार्शनिक दृष्टि से जोडा जा सकता है और न कोई ऐतिहासिक आधार ही उसे एक धरातल पर खडा करता है। सम्भव है परम्परानुगत धारणा के विपरीत यह मन्तव्य कुछ विस्मयकारक लगे किंतु सत्य को स्वीकार करने में सकोच नही होना चाहिए। वल्लभाचार्य की भक्ति-पद्धति का नूतन रूप और उसमे कृष्ण के माधुर्य भाव की उपासना की स्वीकृति अपनी विशिष्ट देन है जो विष्णुस्वामी के युग में किसी भी रूप में प्रचलित नही थी। सारत यह स्वीकार करना ठीक ही है कि वैष्णव सम्प्रदायो के स्वतत्र रूप से प्रवर्तित होने की बात परम्परा से ही चली आ रही है इसलिए चतु सम्प्रदायान्तर्गत होना कोई अनिवार्य शर्त नही है।

## निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय

निम्बार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध सखी सम्प्रदाय—हरिदास स्वामी द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय पर भी इस दृष्टि से विचार करना हम आवश्यक समझते हैं। हम यह पहले लिख चुके हैं कि निम्बार्क मत प्राचीनता की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कतिपय विद्वानो ने तो निम्बार्काचार्य को सबसे प्राचीन माना है और उनके दार्शनिक विचारो में गम्भीर विवेचन देखकर उन्हें भक्ति सम्प्रदायो का अग्रणी मननशील आचार्य ठहराया है। नवीन अनुसधान के परिणामो के अनुसार इनका समय बारहवी शताब्दी का अन्त या तेरहवी शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। निम्बार्क कृत 'वेदातपारिजातसौरभ' ब्रह्मसूत्र भाष्य अति सक्षिप्त होने पर भी प्रौढता की दृष्टि से उल्लेखनीय समझा जाता है। निम्बार्काचार्य के प्रमुख पाँच ग्रथो में (पारिजात

---

1–"The connection between Vishnuswami and Vallabhacharya, cannot, therefore, be accepted as historically and philosophically correct"
—Prof G H Bhatt, 8th Oriental Conference, Mysore

**टिप्पणी—इस सम्बन्ध में गदाधरदास लिखित 'सम्प्रदाय प्रदीप' में विचार-विमर्श किया गया है। जिसका सारांश 'वैष्णवधर्मनो सक्षिप्त इतिहास' में २२ वें प्रकरण में लेखक ने प्रस्तुत किया है। देखिये—पृष्ठ २३५-२४२।**

सौरभ, दश श्लोकी, मंत्र रहस्य षोडशा, प्रपन्न कल्पवली और श्रीकृष्णस्तवराज) इस सम्प्रदाय के सिद्धातो का भलीभाति प्रतिपादन हुआ है।

निम्वार्क सम्प्रदाय का दार्शनिक सिद्धात द्वैताद्वैत के नाम से प्रसिद्ध है। जीव अवस्था भेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है और अभिन्न भी। भेदाभेद का सिद्धात कुछ मनीषियो के अनुसार अति प्राचीन है। इसी आधार पर निम्वार्क की प्राचीनता भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। इस सम्प्रदाय के सिद्धात और भक्ति-पद्धति को हृदयंगम करने के लिए 'दश श्लोकी' का अनुशीलन करना पर्याप्त है। इस सम्प्रदाय मे कृष्ण ही उपास्य, भजनीय, सेव्य और पूज्य है। कृष्ण की भक्ति छोड किसी और की सेवा-पूजा करना व्यर्थ है। 'नान्यागति कृष्ण पदारविन्दात्' ही इस सम्प्रदाय का आराध्य कहा गया है। किन्तु कृष्ण के साथ राधा को भी इष्टदेवी के रूप मे स्वीकार किया गया—

अङ्गे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामदाम्। (दश श्लोकी, श्लोक सं० ५)

राधा को स्वकीया के रूप मे स्वीकार करके उनकी समस्त लीलाओ मे स्वकीयात्व का आरोप किया जाता है। श्री हरिव्यासाचार्य ने इस सम्प्रदाय मे शात, दास्य, वात्सल्य, सख्य और माधुर्य इन पाच रसो का समर्थन किया और माधुर्य को उत्कृष्टता प्रदान की। प्रेमलक्षणा, अनुरागात्मिका पराभक्ति ही इस सम्प्रदाय मे सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है।

इस सम्प्रदाय के आचार्य निम्वार्क ने उपनिषद् या गीता पर कोई भाष्य नही लिखा। 'गीता वाक्यार्थ' नामक एक ग्रथ की सूचना मिलती है किन्तु ग्रथ अभी तक प्रकाश मे नही आया। फलत. 'पारिजात सौरभ' ही भाष्य कोटि का एकमात्र ग्रंथ है। हा, परवर्ती आचार्यो में श्रीनिवासाचार्य, औदुम्बराचार्य, लक्ष्मण भट्ट, पुरुषोत्तमाचार्य, केशव कश्मीरी आदि ने अनेक ग्रथो की रचना कर सम्प्रदाय को उच्च दार्शनिक स्तर पर पहुँचाया। हिंदी साहित्य मे इस सम्प्रदाय के महात्माओ ने अपनी वाणियाँ लिखी और माधुर्य भक्ति को परिपुष्ट बनाने मे योग दिया। इन वाणियो का रस भक्ति के विकास में विशिष्ट स्थान है।

कहा जाता है कि इसी सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का अनुसरण करके श्री स्वामी हरिदास जी ने अपना सम्प्रदाय चलाया। किन्तु सखी सम्प्रदाय की साधन-पद्धति मे बडा मौलिक भेद है। स्वामी हरिदास जी के अनुसार सखीभाव से उपासना करने का विधान है जो निम्वार्क सम्प्रदाय में गृहीत नही होता। सखी सम्प्रदाय भेदाभेद सिद्धान्त का भी प्रत्यक्ष रूप से कही मडन नही करता। स्वामी जी की परम्परा के शिष्य भगवत रसिक ने 'नहि विशिष्टाद्वैत हरि, नहि हरि द्वैताद्वैत, बधे नहीं मतवाद में ईश्वर इच्छा द्वैत' लिखकर अपनी मान्यता स्पष्ट कर दी है। टट्टी सस्थान (वृन्दावन) में इस सम्प्रदाय की जो शिष्य-परम्परा और साहित्य उपलब्ध होता है वह भी निम्वार्क सम्प्रदाय से सम्बद्ध प्रतीत नही होता। जुगल सरकार को आराध्य मानने पर भी सखी रूप से उसकी आराधना का विधान इस सम्प्रदाय मे है जो निम्वार्क में नही है। यथार्थ मे हरिदास जी ने रसोपासना को प्रधानता देकर उस

पद्धति को स्वीकार किया जो दार्शनिक गूढता से सर्वथा असम्पृक्त थी। निम्बार्क सम्प्रदाय दार्शनिक कोटि का सम्प्रदाय है किन्तु सखी सम्प्रदाय एक रस भक्ति-सम्प्रदाय है जिसमें दर्शन की प्रधानता न होकर हार्दिक पक्ष की—रस की—प्रधानता है। निम्बार्क के साथ इसे सयुक्त करने का कारण हमारी दृष्टि में वही है जो अन्य समस्त सम्प्रदायो को चतु सम्प्रदाय के साथ जोडने में रहा है। टट्टी सस्थान की नवीन गुरु-परम्परा सहचरिशरण ने तैयार कर दी है जो सखी सम्प्रदाय के भक्त श्री भगवत रसिक से सर्वथा भिन्न और वाद की है।

हमने इस विवेचन में उत्तरीय भारत के प्रमुख सम्प्रदायो का ही उल्लेख किया है। दक्षिण, महाराष्ट्र, आसाम और बगाल मे भी अनेक वैष्णव सम्प्रदाय हैं जिनका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से चतु सम्प्रदायो से कोई सम्बन्ध नही है किन्तु वे शुद्ध वैष्णव भावना से भक्तिपथ के अनुगामी वैष्णव सम्प्रदाय हैं और धार्मिक दृष्टि से उनका वैसा ही आदरणीय स्थान है जैसा चार सम्प्रदायों से सम्बद्ध उपर्युक्त सम्प्रदायों का है। महाराष्ट्र का वारकरी सम्प्रदाय, जिसमे ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम जैसे वैष्णव महात्मा हुए, क्या किसी प्रकार अवैष्णव कहा जा सकता है। इसी प्रकार नारायणी सम्प्रदाय और महानुभाव सम्प्रदाय भी वैष्णव भक्ति पद्धति का ही अनुगमन करते हैं। रामानुजाचार्य के साथ रामानन्दी सम्प्रदाय, मध्वाचार्य के साथ चैतन्य सम्प्रदाय, विष्णुस्वामी के साथ वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य के साथ स्वामी हरिदास के सखी सम्प्रदाय का पर्याप्त मतभेद होने पर भी इन्हें चतु सम्प्रदाय के अन्तर्गत एक ही गिना जाना हमारी दृष्टि से अधिक समीचीन और तर्क-सम्मत नही ठहरता। हम प्रत्येक सम्प्रदाय को स्वतन्त्र मानने के पक्ष मे हैं। हमारी मान्यता है कि इस देश की दार्शनिक विचारधारा और भक्ति-साधना प्रारम्भ से अनेकता में विश्वास करके ही पनपी है। यह ठीक है कि इस अनेकता मे भी एकता अनुस्यूत रहती है किन्तु अनेकता की अवहेलना नही की जा सकती क्योकि यह अनेकता अपनी विचारसरणि का सकेत देकर व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का ही प्रति-रूप है। मौलिक एकता के लिए अनेकता की स्वीकृति भारतीय चिन्ताधारा की अपनी विशेषता है जो वदिक काल से लेकर आज तक ज्यो की त्यो चली आ रही है। हम एक ईश्वर में विश्वास रखते हुए भी अनेक देवी-देवताओ की पूजा करते हैं और आगे भी करते रहेगे। साथ ही इन अनेक देवी-देवताओ के नाम पर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि नाम भी धारण करते हैं किन्तु इस नाम-भेद से हम अपना आस्तिक भाव नही खोते।

## राधावल्लभ सम्प्रदाय और वैष्णव धर्म

वैष्णव सम्प्रदायो का इतिवृत्त इतना व्यापक है कि उसे न तो चतु सम्प्रदाय के अन्तर्गत सीमित किया जा सकता है और न किसी काल या देश की सीमा-मर्यादा में आबद्ध करके देखा जा सकता है। विष्णु की कल्पना और उसके विभिन्न अवतारो की पूजा पुरातन काल से चली आ रही है। वैदिक वाङ्मय से लेकर मध्ययुगीन पुराण ग्रथो तक विष्णु के विविध रूपो का वर्णन इस बात का प्रमाण है कि विष्णु के नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि रूपो की उपासना-आराधना वैष्णव भक्ति के अन्तर्गत समझी जाती रही है। अत किसी भी सम्प्रदाय को वैष्णव होने के लिए चतु सम्प्रदाय की सकीर्ण परिधि में रहना अनिवार्य नही।

जो विष्णु की उपासना-आराधना, सेवा-अर्चा करता है वही वैष्णव है। वैष्णवता भक्ति के उस रूप पर आश्रित है जो विष्णु के विविध रूपो मे से किसी को भी स्वीकार कर विकसित होती है। विष्णु के अर्चावतार या व्यूहावतार की कल्पना भी विष्णु भक्ति को मासल रूप देने के उद्देश्य से की गई है। अत कोई भी भक्त इन रूपो मे से यथारुचि किसी को भी ग्रहण करके अपनी भक्ति-भावना को व्यक्त करने का अधिकारी है और वह सच्चे अर्थो मे वैष्णव जन ही समझा जायगा।

सकीर्ण साम्प्रदायिक रूढियो मे विश्वास रखने वाले कतिपय आधुनिक कट्टरपथियो ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के सम्बन्ध में यह आरोप लगाया है कि यह सम्प्रदाय यथार्थ वैष्णव सम्प्रदाय नही है। जब तक चतु सम्प्रदायो के साथ यह अपना साक्षात् सम्बन्ध स्थापित न करे हम इसे वैष्णव मानने को उद्यत नही। इस आरोप को ध्यान मे रखकर ही हमने चतु सम्प्रदाय शब्द की आधुनिकता, उसका सीमा-विस्तार तथा अनेक वैष्णव सम्प्रदायो के स्वतन्त्र अस्तित्व का वर्णन पिछले पृष्ठो में किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय को विशुद्ध वैष्णव सिद्ध करने के साथ हम यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि यह सम्प्रदाय अपनी साधना-पद्धति, विचार-भावना, सेवा-पूजा आदि में किसी अन्य सम्प्रदाय का अनुगत नही है। गोस्वामी हितहरिवशजी ने विभिन्न सम्प्रदायो की पद्धतियो का मनन करने के उपरान्त अपनी स्वतन्त्र प्रणाली से इस सम्प्रदाय की स्थापना की थी। विधि-निषेध के बाह्याचार को तो उन्होने एकदम मिथ्याडम्बर मानकर उपेक्षणीय तक कह डाला था। जिसे देखकर अपने वैष्णव होने का दम्भ करने वाले कितने ही कट्टरपथियो को उनके इस साहस पर आश्चर्य और क्रोध तक हुआ। किन्तु सच्चा वैष्णव कृष्ण की भक्ति के परमतत्व पर दृष्टि रखता है, बाह्याचार के आडम्बर पर नही।

विगत सवा चार सौ वर्ष के इतिहास ने इस बात को प्रमाणित कर दिया है कि उत्तरीय भारत में जिन भक्तो ने वैष्णव भक्ति के क्षेत्र में क्रान्तिकारी विचार-धारा को स्थान दिया उनमे श्री गोस्वामी हितहरिवशजी प्रमुख हैं। माधुर्य भाव की प्रेमलक्षणा भक्ति का जैसा स्वरूप आपने अपनी वाणी से व्यक्त किया वैसा पहले कभी नही हुआ था। बगाल के वैष्णव भक्तो ने निस्सन्देह माधुर्य के धरातल पर विप्रलम्भ को भक्ति में प्रतिष्ठित कर उसे इतनी उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित कर दिया था कि वियोग-शृंगार ही माधुर्य भक्ति का प्राण समझा जाने लगा था। बगाल के भक्त अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए सस्कृत ग्रन्थो का प्रणयन कर रहे थे और 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' जैसे विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थो की रचना से भक्ति के क्षेत्र में विरह भाव की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विरह-भावना के साथ राधा के परकीया भाव पर भी इन विद्वानो ने बल दिया था। राधा के परकीयात्व की कल्पना इतनी व्यापक हो गई थी कि धार्मिक क्षेत्र के बाहर साहित्य में भी राधा-वर्णन इसी कल्पना के आधार पर होने लगा था। श्रीमद्भागवत पुराण मे भी परकीया भाव की छान-बीन करने का प्रयत्न किया गया किन्तु राधा के अस्तित्व के अभाव में इसे प्रामाणिक रूप न दिया जा सका। गोस्वामी हितहरिवश ने इसके विरुद्ध प्रतिवाद प्रस्तुत किया और अपनी स्वतन्त्र विचार-धारा रखते हुए राधा को परकीया भाव से दूर

रखा। स्वकीया भाव के सम्बन्ध में भी उनकी मान्यता विलक्षण है। उनके मत में राधा स्वय सर्वतत्र स्वतत्र अधिष्ठातृ देवी हैं। उनकी सत्ता स्वकीया-परकीया के रूप में न होकर स्वतन्त्र रूप में है। हाँ, लौकिक दृष्टि से विचार करने के लिए स्वकीया भाव में ही राधा को स्वीकार किया जा सकता है। इसीलिए राधा की शक्ति, स्वरूप और व्यापकता का वर्णन उन्होंने सर्वथा नूतन शैली से किया। 'राधासुधानिधि' (सस्कृत काव्य) में उन्होंने राधा को जो व्यापक रूप प्रदान किया वह पहले किसी भक्त द्वारा नही मिला था। कहना न होगा कि परवर्ती भक्तो द्वारा राधा का यही रूप सर्वाधिक मान्य और गृहीत हुआ। 'राधाकृष्ण' का सयुक्त स्वरूप आराधना के क्षेत्र में बहुत पहले से प्रचलित था किन्तु राधा को इष्टदेवी, आराध्या देवी या उपास्य बनाने में हितहरिवश जी का सर्वाधिक योग है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा ही उपास्य है कृष्ण तो राधा के अनुषग से, राधा के कृपा-कटाक्ष से अपने को सफल मनोरथ बनाते हैं। भक्त की भावना में राधा ही पूज्य रहती है, वही कृष्ण का भी अपने द्वारा पूजन करवाने में समर्थ है। राधा विषयक यह मान्यता राधावल्लभ सम्प्रदाय की अपनी देन है जो परवर्ती भक्तो द्वारा इतनी अधिक समादृत हुई कि निम्बार्क, चैतन्य, हरिदासी आदि सभी सम्प्रदायो के भक्तो ने इसे स्वीकार कर लिया। राधा के इस स्वरूप की उपासना को 'रसोपासना' शब्द से व्यवहृत किया जाने लगा और वृन्दावन के सभी भक्ति सम्प्रदाय रसोपासना को किसी न किसी रूप मे स्वीकार करने लगे।

## माध्व या गौड़ीय सम्प्रदाय से राधावल्लभ सम्प्रदाय की पृथक्ता

प्रारम्भ में राधावल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति के अनुशीलन के अभाव में अनेक विद्वानो ने इस सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिख दिया था। किन्तु ज्यो-ज्यो इस सम्प्रदाय की पद्धति प्रकाश मे आती गई यह भ्रम दूर होता गया। कुछ विद्वानो ने यह भी लिखा है कि 'गोस्वामी हितहरिवश पहले माध्व सम्प्रदायानुयायी थे, बाद में इन्होंने अपना स्वतन्त्र सम्प्रदाय प्रवर्त्तित किया।' इस किम्वदन्ती के प्रचार का कारण है 'प्रेमविलास' नामक बगला ग्रथ जिसकी अप्रामाणिकता अनेक विद्वानो ने सिद्ध कर दी है। इस ग्रन्थ में गोस्वामी हितहरिवश जी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि एक बार श्री गोपाल भट्ट (माध्व) ने अपने प्रिय शिष्य हितहरिवश का शास्त्र और सदाचार का अतिक्रमण करने के अपराध में परित्याग कर दिया।[1] इसी अप्रामाणिक ग्रन्थ के लेख के आधार पर हितहरिवश जी को माध्वमतानुयायी समझा जाता रहा। इस ग्रथ के विषय में श्री विमान विहारी मजूमदार ने 'चैतन्य चरितेरुपादान' नामक ग्रथ में लिखा है कि "यह प्रेमविलास ग्रथ अनेक रूपो और सस्करणो में आता रहता है। जिस तरह नन्द के आलय में कृष्ण दिन-दिन बढते हैं वैसे ही वैष्णव के घर में यह प्रेमविलास ग्रथ भी बढता रहता है।"[2] 'चैतन्य भागवत' ग्रथ की भूमिका में नित्यानन्द-वश-सम्भूत गोस्वामी

---

१ द्रष्टव्य—प्रेमविलास ग्रन्थ तथा बगला भक्तमाल।

२. चैतन्यचरितेरुपादान—लेखक विमानविहारी मजूमदार, पृष्ठ ५०७, कलकत्ता।

अतुल कृष्ण भी प्रेमविलास ग्रन्थ को प्रक्षिप्ताश पूर्ण ग्रन्थ मानते हैं और उनका कहना है कि यह ग्रथ विश्वास योग्य नही है। डा० एस० के० डे भी इस ग्रन्थ को विश्वसनीय नहीं मानते।[1]

इस विषय पर हमने गोस्वामी हितहरिवश जी के चरित्र मे विस्तार से विचार किया है। यहाँ केवल प्रेमविलास ग्रथ की भ्रातिपूर्ण वातो का सकेतमात्र देने के लिए इतना उल्लेख किया। माध्व सम्प्रदाय की दार्शनिक विचारधारा और सावना-पद्धति पर दृष्टिपात करने से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय और माध्व या गौडीय सम्प्रदाय मे कोई समानता नही। इष्टदेव के प्रति दोनो सम्प्रदायो में विभिन्न दृष्टि है। उपास्य तत्त्व भी एक नहीं है। सेवा-पूजा विधि मे पर्याप्त भेद है। विधि-निषेव सम्वन्धी मान्यताओ मे रावावल्लभीय दृष्टि एकदम स्वतन्त्र और शास्त्र निरपेक्ष है। एकादशी व्रत, तुलसी पूजन, व्रत-पालन आदि को किसी अश मे स्वीकार नही किया जाता। इन दोनो सम्प्रदायो में मौलिक भेद होने के साथ विगत वर्षो मे पारस्परिक कलह इतना अधिक वढ गया है कि लेखक को व्यक्तिगत रूप से यह अनुभव हुआ कि दोपारोपण की प्रवृत्ति दोनो सम्प्रदाय के लोगो में वढ रही है फलत. निराधार वातें प्रचार पा रही हैं। तत्त्व निर्णय से दूर हटकर एक दूसरे को हेय सिद्ध करने मे ही शक्ति का अपव्यय हो रहा है।

## निम्बार्क सम्प्रदाय से राधावल्लभ सम्प्रदाय की पृथक्ता

जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं कि कुछ विद्वानो के मत मे निम्वार्काचार्य का समय चारो आचार्यो मे पुराना है। निम्वार्क सम्प्रदाय को दार्शनिक भित्ति पर प्रतिष्ठित करने के लिए निम्वार्काचार्य द्वारा 'वेदातपारिजात सौरभ' नामक भाष्य लिखा गया जिसमे द्वैताद्वैत सिद्धात का प्रतिपादन हुआ। निम्वार्काचार्य के अनुसार व्रह्म जीव और जड़ अर्थात् चेतन और अचेतन से अत्यन्त पृथक् और अपृथक् है। इस पृथकत्व और अपृथकत्व के ऊपर ही उनका समस्त दर्शन निर्भर करता है। व्रह्म को ही वे जिज्ञासा का विषय मानते हैं।

"सर्वभिन्नो भिन्नो भगवान् वासुदेवो
विश्वात्मैव जिज्ञासाविषयः।"

अपने द्वैताद्वैत की स्थापना करते समय निम्वार्काचार्य का दृष्टिकोण वहुत स्पष्ट रहा होगा, किन्तु परवर्ती उपासको ने इस सिद्धात को व्यवहार्य वनाने के लिए राधा-कृष्ण की उपासना तथा किशोर कृष्ण की अवतारणा करके उसे नया रूप दिया। दार्शनिक दृष्टि से जो सिद्धात निम्वार्क मत मे स्वीकृत होते हैं उनका कोई रूप राधावल्लभ सम्प्रदाय मे स्वीकृत नही होता। जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्री राधा ही इष्ट उपास्य (एकमात्र) है। निम्वार्क में व्रह्म उपास्य है तथा व्रह्म के अन्य रूपो का वर्णन है। यहाँ कृष्ण के किसी भी अन्य रूप की स्वीकृति नही है। अत इन दोनो का

---

1. "Vaishnava Faith and Movement in Bengal"—Dr. S. K. De Page 19

पारस्परिक सम्बन्ध भी स्थापित नही किया जा सकता। विस्तार भय से केवल मूलभूत सिद्धात की ओर ही हमने सकेत किया है। यदि उपासना पद्धति, सेवा-पूजा विधि आदि के विवरण पर ध्यान दिया जाय तो कही-कही ऐक्य होने पर भी आधारभूत मान्यताओ मे विशद अन्तर दृष्टिगत होगा जो दोनो को पृथक्-पृथक् सिद्ध करता है। निम्बार्क सम्प्रदाय के रसानुवर्त्ती होने पर राधा की अर्चना यहाँ भी प्रारम्भ हुई किन्तु उसे विशुद्ध स्वकीया ही माना गया और स्वकीयात्व के रूप में ही उसके चित्र अकित किये गये। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा का स्वरूप प्रारम्भ से नितान्त भिन्न रहा है। अत इस भ्रम में पडने का कोई अवकाश नही रहता कि राधा-वल्लभ सम्प्रदाय अपनी दार्शनिक विचारधारा में या बाह्य लोकाचार पद्धति मे निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुगत या शाखा सम्प्रदाय है। राधा विषयक वर्णन में जो समानता दोनो सम्प्रदायो में दृष्टिगत होती है वह परवर्ती काल में आई है। 'महावाणी' और 'युगलशतक' का रचनाकाल निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी तो चौदहवी शताब्दी के आसपास ठहराते हैं किन्तु दोनो कृतियो का अनुशीलन स्पष्ट बताता है कि ये सत्रहवी शताब्दी से पूर्व की रचना किसी प्रकार नही हो सकती। खैर, कुछ भी हो हमें यहाँ इतना ही अभिप्रेत है कि निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा उपासना का जो रूप वर्तमानकाल में दृष्टिगत होता है वह प्रारम्भ से नही था। हित-हरिवश जी के राधा विषयक नूतन दृष्टिकोण से प्रभावित होकर ही अनेक भक्तो ने राधा-कृष्ण विषयक अपनी दृष्टि में परिवर्तन किया था। इस स्थिति में मौलिक सिद्धातो के अनुशीलन करने पर, राधावल्लभ सम्प्रदाय को किसी आधार पर निम्बार्क का शाखा या अनुगत सम्प्रदाय कहने का साहस कोई विद्वान् और निष्पक्ष व्यक्ति नही करेगा।

## ख भाग

## धार्मिक तथा साहित्यिक ग्रन्थो में राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख

### उपलब्ध सामग्री का विवेचन

राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा उसके प्रवर्त्तक श्री हितहरिवशजी का उल्लेख विविध रूपो में 'भक्तमाल', 'वार्त्ताग्रन्थ', 'रसिकवाणी' आदि में हुआ है। उन समस्त उल्लेखो को उद्धृत न करके केवल उन्ही ग्रन्थो का हम यहाँ सकेत करेंगे जिनमे सम्प्रदाय की किसी विशेषता या सस्थापक की किसी ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। भक्तमाल, भक्तनामावली, भक्त-परिचयावली या रसिकमाल आदि नामो से जो ग्रथ प्रकाशित या हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं उनकी प्रामाणिकता सदिग्ध होने पर भी उनका ऐतिह्य में उपयोग होता आ रहा है। हमने स्वय कुछ ऐसे हस्तलिखित ग्रथ देखे हैं जिनका रचनाकाल और लिपिकाल तीन सौ वर्ष से ऊपर है और उनमें ऐसे तथ्य अकित हैं जो भक्त महानुभावो के जीवन पर पर्याप्त प्रकाश

डालते हैं। नाभा जी का 'भक्तमाल', श्री भगवत् मुदित का 'रसिक अनन्यमाल', तथा उत्तमदास रचित 'रसिकमाल' के समान ही, उनमे भी निष्पक्ष भाव से भक्तो का यशोगान हुआ है। श्री अति-वल्लभ जी की वाणी और चाचा वृन्दावनदास का 'हरिवश सहस्रनाम' इसी कोटि की सुन्दर कृतियाँ हैं। किन्तु भावनापरक साम्प्रदायिक वाणियो को अधिक महत्त्व न देकर इस अध्याय मे हम अन्य लेखको की रचना को ही स्थान देंगे।

सबसे प्रथम हम नाभाजी के भक्तमाल मे वर्णित श्री हितहरिवंश चरित्र की भावना पर विचार करना उपयुक्त समझते हैं। नाभा जी स्वतन्त्र चिंतक थे। सभी वर्गो के भक्तो का पूज्य बुद्धि के साथ स्मरण कर उन्होने जिस विशाल-हृदयता का परिचय दिया वह अन्यत्र दुर्लभ है। श्री हितहरिवशजी के चरित्र की विशेपता का नाभाजी ने एक छप्पय में वर्णन किया हैं किन्तु वह छप्पय इतना गूढाभिप्राय व्यजक है कि उसके प्रत्येक पद को ग्रहण करके भाष्य और टीका लिखी जा सकती है। सुन्दरदास जी ने इस छप्पय के प्रति शब्द को लेकर एक-एक कवित्त लिखा है। प्रियादास जी ने भी अपनी टीका मे इस छप्पय का अच्छा भाष्य किया है। छप्पय की विशेपता यह है कि वह राधावल्लभ सम्प्रदाय की नवीनता, स्वतन्त्रता, और विलक्षणता का पूरी तरह परिचायक है। हरिवशजी के गुरु-शिष्य विपयक विवाद को भी वह हल करता है। छप्पय इस प्रकार है —

"राधा चरण प्रधान हृदे अति सुदृढ उपासी,
कुंज केलि दम्पति तहां की करत खवासी।
सर्वसु महाप्रसाद प्रसिध ताके अधिकारी,
विधि निषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी॥
व्यास सुवन पथ अनुसरे, सोई भलै पहिचानि है।
हरिवंश गुसाई भजन की रीति सकृत कोई जानि हैं।[1]

इस छप्पय में 'राधाचरण प्रधान' शब्द सम्प्रदाय की इष्टदेवी तथा आराध्या का द्योतक है। नित्य विहार (निकुंज लीला) में सखीभाव से आस्था रखना भी इस सम्प्रदाय की विशेप देन है। महाप्रसाद के लिए एकादशी आदि व्रतोपवास को न मानना भी साम्प्रदायिक विशेपता है। विधि-निषेध से ऊपर रहकर हरिवशजी ने अपनी भक्ति-भावना का परिचय दिया था यह भी इस छप्पय मे व्यक्त किया गया है। 'सकृत कोई जानि है' शब्द सचमुच ही वडा गूढ है। विना रसमार्ग का अनुगमन किये इस सम्प्रदाय की उपासना को समझना दुष्कर है। प्रियादास जी अपनी टीका मे कहते हैं—

हित जू की रीति कोऊ लाखनि में एक जानैं
राधा ही प्रधान मानैं पाछैं कृष्ण ध्याइयैं।
निपट विकट भाव, होति न सुभाव ऐसो,
उनहीं की कृपा दृष्टि नेकु क्योंहू पाइये॥

---

१. भक्तमाल—नाभा जी कृत छप्पय ४५३—पृष्ठ ५९८।

विधि औ निषेध छेद डारे प्रान प्यारे हिये,
जिये निज दास निसि दिन वहै गाइये।
सुखद चरित्र सब रसिक विचित्र नीके,
जानत प्रसिद्ध कहा कहिकै सुनाइयै ॥ [१]

टीका-परक दो और कवित्त प्रियदासजी ने लिखे हैं जिनमे हरिवंशजी के जीवन की घटनाओ का वर्णन है। उनको हमने हित जी के चरित्र-विषयक अध्याय में उद्धृत किया है। श्री भोरी अलि के शिष्य सुन्दरदास ने नाभाजी के छप्पय पर चौदह कवित्त लिखे हैं उनमे नाभा जी के छप्पय की शब्दानुसार व्याख्या की गई है। उनमे से दो कवित्त पाठको के अवलोकनार्थ नीचे दे रहे हैं।[२]

'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' में कृष्णदास अधिकारी की वार्त्ता के अन्तर्गत हरिवंश जी का उल्लेख आता है। ये हरिवंश जी कौन से हैं यह अभी तक निर्णय नही हुआ है। घटना में मीराबाई के घर मेड़ता में हरिवंश जी की उपस्थिति का संकेत है। सारी घटना

---

१ भक्तमाल नाभा जी कृत—प्रियादास जी की टीका कवित्त ३८९-५९६।

२. सुन्दरदास जी कृत टीका कवित्त—

श्री राधाचरण प्रधान

श्री राधा पदारविन्द हृदै में विराजमान
या ही तौ प्रसिद्ध और दूजो नाहि आकौ है।
आदर्यौन धर्म और हियै रुचै स्याम गौर
प्रेमभक्ति छाकै परयौ रच कौन भाकौ है।
गौर तेज आगै जबै पावै अह्लाद स्याम
उज्ज्वल उपासना में कैसे लगै टाकौ है।
वेद औ पुरान की सिखानि है जु धर्म अहा
कहा सोई उर धार्यौजु अनन्य व्रत बाकौ है।

सुदृढ उपासी

इष्ट ही के रग रांचै इष्ट ही की कृपा जांचै
इष्ट बिना और नाहि जाकै हियै वासना।
इष्ट ही को गावै जस भाव इष्ट ही कौ रस
इष्ट बिना काहू की जु राखै मन आस ना।
इष्ट ही तै पावै मान इष्ट वल वलबान
इष्ट बिना चाहै मन काहू कौ निकासना।
रसरूपी इष्ट धाम ताही में अटलवास
या ही कौ सुमति कहै सुदृढ उपासना ॥

(श्री बाबा वशीदासजी की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

को पढकर यही प्रतीत होता है कि यह कृष्णदास का गौरव प्रदर्शित करने के लिए कल्पित वार्ता है जिसका कोई ऐतिहासिक आधार नही है। यदि हरिवंश और व्यास नाम से राधा-वल्लभीय दोनो महानुभावो का ही ग्रहण अभीष्ट है तो निस्सन्देह यह कल्पित प्रसग है क्योकि हरिवश जी के वृन्दावन आने के बाद व्रजमंडल से बाहर जाने का कोई उल्लेख किसी वाणी में नही मिलता। यदि यह घटना सम्वत् १५६१ से पहले की है तो हरिवश जी की इतनी ख्याति नही हुई थी और न व्यास जी ही सम्वत् १५६१ से पहले वृन्दावन मे आकर हरिवश जी के शिष्य हुए थे।[1]

स्वामी प्रतापसिंह सन्त विरचित 'भक्तमाल' मे हरिवशजी की कथा विस्तार से दी गई है। इसका आधार नाभाजी का भक्तमाल ही है किन्तु अर्वाचीन होने के कारण साम्प्र-दायिक किम्वदन्तियो को इसमें स्थान मिला है। इस भक्तभाल का साधु-सन्तो मे अत्यधिक प्रचार है और इसके वर्णन को प्रामाणिक मानने से भ्रम फैलने का अवकाश है अत. हम इसकी चर्चा करना आवश्यक समझते हैं। सन्तजी लिखते हैं —

**"हितहरिवंशजी गोसाईजी के भजन और भाव को ऐसा कौन है जो वर्णन कर सके कि जिनने राधिका महारानी की प्रधानता करके मन के दृढ़ विश्वास से लगाया और प्रिया प्रियतम के नित्य विहार और कुंज महल मे मानसी ध्यान करके प्राप्त होकर सखीभाव से टहल व सेवा शृङ्गार आदि करी। † † †। कोई-कोई माध्व सम्प्रदाय वाले पूर्व कुछ सेवक होने से माध्व सम्प्रदाय का गोस्वामीजी को कहते हैं, परन्तु कुछ बात नही, व हरिवंशजी राधिकाजी की कृपा करके स्वयं सिद्ध भये इसमे कुछ सन्देह नही। व रीति भजन की नई रसभक्ति प्रेममय निकाली व निम्बार्क सम्प्रदाय व माध्व सम्प्रदाय से सिद्धांत उपासना चुन करिके अद्भुत रसभजन की रीति पुष्ट करी।"[2]**

उपर्युक्त पक्तियो मे हरिवशजी को एक ओर स्वतन्त्र सम्प्रदाय का प्रवर्तक कहा गया है तो दूसरी ओर माध्व सम्प्रदाय का भी सकेत है। साथ ही 'नई रसभक्ति प्रेम-मय निकाली' कहकर 'निम्वार्क और माध्व सम्प्रदाय से सिद्धात उपासना चुनि करके' भी लिखा है। यह पारस्परिक विरोध 'वदतो व्याघात' दोप के कारण निष्पक्ष पाठक को द्विविधा में डाल देता है। यथार्थ में लेखक ने स्वतन्त्र रीति से राधावल्लभ सम्प्रदाय को नही समझा है केवल भक्तमाल आदि से पढकर तथा इधर-उधर से सुनकर निष्कर्ष निकाल लिया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय की रसोपासना इतनी विलक्षण है कि उसका सर्वतोभावेन किसी

---

**१—'सो वे कृष्णदास शूद्र एक वेर द्वारिका गए हुते। सो श्री रणछोरजी के दर्शन करिके तहाँ ते चले। सो आपन मीरावाई के गाँव आयौ। सो वे कृष्णदास मीरावाई के घर गये। तहाँ हरिवंश व्यास आदि के विशेष सह वैष्णव हुते। सो काहू कौ आठ दिन, काहू को आये दश, काहू को आये पन्द्रह दिन भये हुते।'**

**चौरासी वैष्णवन की वार्ता (वम्बई संस्करण) पृष्ठ ३४२**

**२—भक्तमाल, लेखक स्वामी प्रतापसिंह सन्त—नवम संस्करण—पृष्ठ ४६**

दूसरे वैष्णव सम्प्रदाय मे अन्तर्भाव हो ही नही सकता। अत इस सम्प्रदाय को किसी अन्य के अन्तर्गत रखना मौलिक भूल है।

श्री भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' मे राधावल्लभीय भक्तो के चरित्र विस्तार से लिखे हैं। इस ग्रन्थ की हमने तीन हस्तलिखित प्रतिया देखी हैं। सबसे प्राचीन प्रति सम्वत् १७८९ की है जिसमे हरिवशजी का चरित्र नही है। मयाशकर याज्ञिक के पुस्तकालय की प्रति जो काशी नागरी प्रचारिणी सभा मे सुरक्षित है उसमें हरिवश चरित्र है। एक हस्तलिखित भगवत मुदित कृत श्री रसिकमाल नामक ग्रन्थ काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा पुस्तकालय मे भी है। इसका लिपिकाल सवत् १८३७ है। इसमे भी हित-चरित्र दिया हुआ है।

श्री याज्ञिकजी वाली हस्तलिखित प्रति का लिपिकाल सवत् १८१७ है। इस प्रति के अन्त में लिपिकाल इस प्रकार दिया है।

"सवत् १८१७ वर्ष मासाना आश्विन मासेषु मल्लसा पक्षे पुन्यतिथौ द्वितीयास्ट गुवासे लिष्यतेति इद स्वामीजी बालकदास समीपे श्री गुरु प्रसादात् डू गरसी लिपायते।"

वृन्दावन में जो हमारे देखने में आई उसमे हरिवश चरित्र नही है। आश्चर्य का विषय है कि आचार्य का चरित्र न होकर केवल शिष्य-परम्परा का ही चरित्र लेखक ने क्यो लिखा। उत्तमदास रचित जो 'रसिकमाल' नाम ग्रथ मिलता है उसमें 'हरिवश चरित्र' है। यह चरित्र उस चरित्र से अक्षरश मिलता है जो याज्ञिकजी के पुस्तकालय की हस्तलिखित भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' में दिया हुआ है। यदि इसको भगवत मुदित का लिखा माना जाय तो उत्तमदास की रचना अधूरी रह जाती है। सम्भव है भगवत मुदित लिखित चरित्र ही उत्तमदास की वाणियो मे चला गया हो और जिस प्रति से भगवत मुदित की वाणी की नकल की गई थी उसमे से हरिवशजी का चरित्र किसी कारण-वश छिन्न हो गया हो। फलत बाद की प्रतियो में उसका लिपिकारो ने समावेश नही किया। कुछ भी हो यह चरित्र विस्तृत है और हितजी के उदात्त चरित एव व्यापक प्रभाव का द्योतक है। हितजी के चरित्र लिखने मे हमने इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक महानुभावो ने भी अपने सम्प्रदाय के तथा हरिवशजी के विषय मे लिखा है किन्तु हम उसको यहाँ उद्धृत करना अनावश्यक समझते हैं। साम्प्र-दायिक दृष्टि तो सदा पूज्य एव श्रद्धाभावना से ओत-प्रोत होती ही है, भावना के अतिरेक के कारण शुद्ध ऐतिह्य की उसमें उपेक्षा होना स्वाभाविक है।

## अंग्रेज लेखको का अभिमत

राधावल्लभ सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कतिपय अग्रेज विद्वानों के भी उल्लेख उपलब्ध होते हैं। यद्यपि उनका आधार गभीर अध्ययन या प्रामाणिक जानकारी पर आधृत नही है फिर भी जो कुछ उन्होने व्यक्त किया है उसे सर्वथा त्याज्य समझकर छोडा नही जा सकता क्योकि उसी के आधार पर परवर्त्ती हिन्दी साहित्य मे इस सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है।

प्रोफेसर एच० एच० विलसन ने अपनी 'हिन्दू रिलीजस' नामक पुस्तक में लिखा है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में और वगाली गोस्वामियो में राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध स्थापित करके आराध्या देवी के रूप मे वर्णन हुआ है उसमे कोई विशेष भेद परिलक्षित नही होता। केवल यही भेद है कि दोनो अपना गुरु पृथक्-पृथक् मानते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सस्थापक हरिवश थे जिन्होने अपना मठ वृन्दावन में स्थापित किया। विलसन के मतानुसार राधा-विषयक मान्यता में भी कोई नवीनता नही है। उन्होने राधा के विषय मे हरिवश पुराण के श्लोको का अंग्रेजी अनुवाद मात्र दिया है। कोई सैद्धान्तिक विवेचन या विशिष्ट सूचना नही दी है। राधावल्लभीय मन्दिर के विषय मे उनका मत निर्माण सम्वत् की दृष्टि से उल्लेख्य है। उन्होने लिखा है इस मन्दिर के द्वार के ऊपर जो सम्वत् लिखा है वह १६४१ (सन् १५८५) है। यदि यह सम्वत् ठीक माना जाय तो यह मन्दिर वृन्दावन का प्राचीनतम मन्दिर होगा। किन्तु वहुत खोज और प्रयत्न करने पर भी हमे कही इस सम्वत् का पत्थर मन्दिर मे उपलब्ध नही हुआ। राधा सुधानिधि के विषय में विलसन ने स्पष्ट लिखा है कि यह श्री हरिवश जी की कृति है। उनके हिन्दी ग्रथो का भी विलसन ने उल्लेख किया है। 'सेवा सखी की वानी' का नाम लिखकर वताया है कि इसमें साम्प्रदायिक विचार सकलित हैं। यह वाणी आजकल कही प्राप्त नही है। विलसन ने स्वय वृन्दावन आकर सम्प्रदाय के विषय में जानकारी प्राप्त की थी, ऐसा उनके वर्णन से स्पष्ट होता है।[1]

'मथुरा मेमायर्स' के लेखक ग्राउस महोदय ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के विषय मे अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से लिखा है। उनकी जानकारी का आधार वृन्दावन के वैष्णव समाज मे प्रचलित परम्परागत जनश्रुतियाँ तथा तत्कालीन उपलब्ध साहित्य है। ग्राउस महोदय लम्बे अर्से तक मथुरा मे कलक्टर रहे और उन्होने वडे परिश्रम से मथुरा का सास्कृतिक इतिहास लिखा। यद्यपि अपनी रचना को उन्होने इतिहास नाम नही दिया किन्तु उसमे पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री सकलित है। ग्राउस महोदय पहले विदेशी सज्जन हैं जिन्होने राधावल्लभीय सिद्धान्तो को यथाशक्ति समझने की चेष्टा की और श्री हरिवशजी रचित ग्रंथो के कुछ अंशो का अग्रेजी में अनुवाद भी प्रस्तुत किया। ग्राउस महोदय ने विपुल विस्तार से इस सम्प्रदाय के वारे मे जो लिखा है उसका साराश हम नीचे देते हैं।

वे लिखते हैं—"चार प्रमुख सम्प्रदायो के अतिरिक्त वृन्दावन मे दो और प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय हैं जिनमे एक गौडीय है जिसका प्रारम्भ वगाल मे हुआ और दूसरा राधावल्लभ

---

1—In what respect the Radha Vallabhis differ from those followers of the Bengali Gosains, who teach the worship of this goddess in conjunction with Krishna, does not appear, and perhaps there is little other difference than that of their acknowledging separate teachers. Instead of adhereing to any of the hereditary Gosains, the members of this sect consider a teacher named Hari Vansh as their founder This person settled at Brindaban and established a Matha there, which in 1822 A D comprised between 40 and 50 resident ascetics

—Hindu Religions by Prof H.H Wilson, Page 116

सम्प्रदाय है जो वृन्दावन में ही उत्पन्न हुआ। यह दूसरा सम्प्रदाय उत्तरीय भारत में फैला हुआ है और इसके सिद्धान्त चैतन्य सम्प्रदाय से मिलते हैं।"[1] इस सम्प्रदाय की राधा-विषयक मान्यता पर भी ग्राउस महोदय ने अपने ज्ञान के आधार पर प्रकाश डाला है किन्तु वे स्वकीया-परकीया के भेद को हृदयगम नही कर सके हैं। राधावल्लभ जी के मन्दिर के निर्माण का भी आपने विस्तार से वर्णन किया है। इस सम्प्रदाय के वाणी ग्रथो के विषय में आपने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमे एक गभीर तथ्य छिपा है जो धार्मिक भावना से पृथक् होकर विचार करने पर प्रत्येक मर्यादावादी पाठक के मानस में उठता है। शृङ्गारपरक गीतो को भक्ति के क्षेत्र में किस प्रकार समन्वित किया जाय यह प्रश्न चिरकाल से विचारशील व्यक्तियो के समक्ष रहा है और आज भी इसका उचित समाधान उपलब्ध नही हो रहा है। ग्राउस महोदय ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के वाणी ग्रथो में शृगार भाव का आतिशय्य देखकर यह शका उठाई थी कि भक्ति और शृङ्गार का समन्वय किस प्रकार किया जाय। यथार्थ में यह प्रश्न बहुत गभीर एव महत्वपूर्ण है, जिस पर अग्रेज विद्वान् का ध्यान जाना स्वाभाविक था।[2]

मथुरा जिले के सन् १८८४ के 'स्टेटिस्टिकल, डेस्क्रिपटिव एड हिस्टोरिकल एकाउट' मे ग्राउस महोदय के 'मथुरा मेमायर्स' के आधार पर ही इस सम्प्रदाय का विस्तार से वर्णन किया गया है। श्री हरिवशजी के जीवन-वृत्त का सक्षेप में उल्लेख है किन्तु जन्म सन् १५५९ लिखा है जो यथार्थ में विक्रमी सम्वत् होना चाहिए। प्रतीत होता है कि सुप्रसिद्ध सम्वत् को ही सन् समझकर सम्पादक महोदयो ने यह भूल की है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सस्थापक हरिवशजी की रचनाओ का समस्त वर्णन ग्राउस महोदय के आधार पर हुआ है। राधा-सुधानिधि और चौरासी पद को हरिवशजी की रचना माना है।[3]

सन् १९११ के मथुरा जिले के गजेटियर में जनसख्या का उल्लेख है जिसे देखने से विदित होता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी उस समय अन्य सभी सम्प्रदायो से

---

1—In addition to four Sampradayas, there are two schools somewhat of more modern origin called respectively Bengali or Gauriya Vaishnavas and Radhavallabhis The former are the disciples of Chaitanya, the latter of Hari Vansh, a far less celebrated character Both are very largely represented at Brindaban where the latter originated and the former established their principal propaganda —Growse 'Mathura—A District Memoir' First Edition, Part I, Page 119

2—"If ever the language of the brothel was borrowed for temple use it has been so here The Gosain who accept as their gospel, these sensuous ravings of a morbid imagination, are far the most part highly respectable married men, who contrast rather favourably both in sobriety of life and intellectual acquirements with the professors of rival sects that are based on more reputable authorities Ibid Page 103-4

3—Statistical, Descriptive and Historical Account of the North Western Provinces of India (1884 A D ) Muttra Part I, Page 103-4 Edited by H C Conybeare, F H Fisher and J P Hewett

कई गुने अधिक थे । इस गजेटियर मे भी श्री हरिवंशजी का जीवन-वृत्त तथा सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तो का वर्णन है । जन्म सन् .५५६ ही लिखा है जो सम्वत् के स्थान पर लिखा चला आ रहा प्रतीत होता है । राधावल्लभ जी के मन्दिर निर्माण का, इसमें भी ग्राउस के आधार पर उल्लेख हुआ है । दोनो सन् के गजेटियर्स का आधार प्राय ग्राउस महोदय की कृति 'मथुरा मेमायर्स' ही है अत. इसमें विवेच्य विषय अधिक नही है ।[1]

सुप्रसिद्ध विद्वान् ग्रियर्सन ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुए उसे उत्तरीय भारत का वैष्णव सम्प्रदाय बताया है । उनके मतानुसार इसके संस्थापक श्री हरिवश सनकादि सम्प्रदाय के अन्तर्गत निम्बार्क की पाँच शाखाओ मे से चौथी शाखा के तीसरे गुरु थे । साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि कुछ लोग उन्हे माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत भी मानते हैं । ग्राउस के मत को उद्धृत करते हुए उन्होने लिखा है कि हरिवश जी ने अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तो में कुछ बातें निम्बार्क से और कुछ माध्व से ग्रहण की थी । हरिवश जी का जन्मकाल सन् १५०२ ( सम्वत् १५५६ ) ही माना है । किन्तु उनकी आयु मृत्यु के समय पैसठ वर्ष के लगभग लिखी है जो सम्प्रदाय मे स्वीकृत मृत्यु सम्वत् से मेल नही खाती । राधासुधानिधि और चौरासी पद नामक दो रचनाओ का भी आपने उल्लेख किया है ।[2]

ग्रियर्सन महोदय ने अपने एक दूसरे लेख मे हरिवश जी को निम्बार्क मतावलम्बी स्वीकार किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो का विस्तार और विकास ही राधावल्लभ सम्प्रदाय में हुआ । कदाचित् परस्पर विरोधी बातें लिखने की यह भूल 'राधाकृष्ण' की उपासना के सूक्ष्म भेदो को अवगत न करने के कारण हुई । ग्रियर्सन भारतीय भाषाओ के अच्छे जानकार थे । व्रजभाषा के लालित्य का भी उन्हे अच्छा ज्ञान था । इसी आधार पर उन्होने हरिवश जी के व्रजभाषा काव्य की सराहना की है ।[3]

---

1—A Gazetteer of Muttra, 1911 A D Edited by D L Darka Brockman I C S, Page 104—5.

2—The Radha Vallabhis are a Vaishnava Sect of Northern India numbering about 25,000 adherents, and founded in the early part of the 16th century by one Hari Vansh the son of a Gaur Brahman living in the Saharanpur district Hari Vansh's name appears in the list of teachers of the Sankadi Sampradaya of the Bhagwat Faith founded by Nimbark This Sampradaya was divided into five Sakhas or branches by a teacher named Hari Vyas and Hari Vansh's name is entered in the list as that of the third teacher of the fourth branch Other authorities state that he belonged to the Madhva Sampradaya and his teachings as Growse points out was professedly derived partly from the one and partly from the other of these branches
(George A Grierson)—Encyclopaedia of Religion and Ethics, Edited by James Hastings, Vol X, Page 559

3—The Radhavallabhis, another sect which worships Krishna and Radha are also akin to the Vallabhacharya, but they are counted as belonging to the next or Sankadi Sampradaya. It was founded by one Hari Vansh surnamed Hit, who was born in 1559

जे० एन० फर्कुहर ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए इसे नवीन वैष्णव सम्प्रदाय माना है और इसका प्रवर्त्तन काल सन् १५८५ के समीप ठहराया है। आपके मतानुसार श्री हरिवश जी अपने नवीन सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के लिए माध्व और निम्बार्क के ऋणी हैं। वस्तुत इन्ही सम्प्रदायो की भक्ति से राधावल्लभ नामक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना हुई। फर्कुहर महोदय स्वय सन् १९१७ मे वृन्दावन गये थे और वहाँ आपने विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायो का स्वरूप जानने-समझने का प्रयत्न किया था। राधा पूजा को आपने शक्ति-पूजा समझकर इस सम्प्रदाय के भक्तो को शाक्त सज्ञा दे डाली है। कदाचित् राधा को वामा मानकर शक्ति-पूजा के भ्रम में पडकर यह भूल हुई है। राधा के स्वरूप की छानबीन आपने अपने ग्रथ में की है किन्तु साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से उसका क्या स्वरूप है यह निश्चय नही कर सके। श्री हरिवश रचित ग्रथो में आपने तीन ग्रथो का नाम लिखा है। प्रथम 'राधासुधानिधि' सस्कृत काव्य जिसमें २७० श्लोक हैं, दूसरा चौरासी पद और तीसरा स्फुट पद। इस सम्प्रदाय के विषय में लिखने वाले पाश्चात्य लेखको में आप सबसे अन्तिम हैं किन्तु ग्राउस महोदय के ग्रथ को ही आपने भी आधार बनाया है। जन्म सम्वत् आपने एकदम नया लिखा है जिसका कोई आधार नही मिलता।[1] बार्थ नामक अग्रेज विद्वान् ने अपनी 'हिन्दू रिलीजस आफ इडिया' नामक पुस्तक में राधाकृष्ण-भक्ति सम्बन्धी सम्प्रदायो के वर्णन-प्रसग मे राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख करते हुए इसे सखी भाव से कृष्ण और राधा की उपासना करने वाला 'वैष्णव शाक्त' सम्प्रदाय कहा है। बार्थ के उल्लेख में शाक्त होने की जो ध्वनि है उसी को फर्कुहर ने भी पकडा है और उसी रूप में इस सम्प्रदाय का वर्णन किया है।[2]

---

and was a Nimbavat His teaching was little in accordance with that of his church being nothing but a development of the tenets of Vallabhacharya
(Under Bhakti Marg—G A Grierson (Encyclopaedia of Religions and Ethics, Vol II, Page, 539-551

1—Hari Vansh, also called Hit ji, was much indebted to both the Madhvas and the Nimbarkas, but he founded a new sect in Brindaban about 1585, the Radha-Vallabhis The founder left three works, the first Radha Sudhanidhi, 270 couplets in Sanskrit the other Chaurasi Padas and Sphut Padas both in Hindi Many works were written by his followers They are Shakts placing Radha above Krishna
—The Religious Quest of India, J N Farquhar, Page 318

2—Such moreover are the Radhavallabhis who date from the end of the sixteenth century and worship Krishna so far as he is the lover of Radha and the Sakhi bhavas those who identify themselves with the friend (Fem), that is to say, with Radha who have adopted the costume, manners and occupations of woman These last two Sects are in reality Vaishnavite Shakts among whom we must also rank a great many individuals and even entire communities of the Chaitanyas, the Vallabhacharyas and the Ramanandis
—The Hindu Religions of India, A Barth, Page 236

## हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रंथों में राधावल्लभ सम्प्रदाय

विगत पचास वर्षो में हिन्दी साहित्य का ऐतिहासिक तथा आलोचनात्मक विवरण प्रस्तुत करने वाले अनेक ग्रथ प्रकाशित हुए हैं। इन ग्रथो में प्रायः भक्त कवि के रूप में कतिपय राधावल्लभीय भक्तो का वर्णन हुआ है । श्री हितहरिवंशजी को छोड़कर अन्य किसी भक्त कवि के विवरण मे राधावल्लभ सम्प्रदाय की किसी सैद्धान्तिक या धार्मिक भावना पर कुछ भी नही लिखा गया। व्यास तथा ध्रुवदास जैसे प्रौढ भक्त कवियो के काव्य को भी केवल सरसरी दृष्टि से उल्लेख करके छोड दिया है। इस उपेक्षा का मूल कारण साम्प्रदायिक वाणियो की अनुपलब्धि तथा सिद्धान्तो का अज्ञान ही है। अभी तक इस सम्प्रदाय की भक्ति और उपासना पद्धति को समझने-समझाने का कोई प्रयास नही हुआ फलतः इसके प्रतिभाशाली, भावुक एव भक्त कवियो की उपेक्षा होती रही। जो कुछ लिखा गया वह प्रायः अग्रेज लेखक विलसन, ग्राउस और ग्रियर्सन के लेखो के आधार पर ही है। भक्ति-पद्धति के स्वरूप को समझने के लिए नाभाजी का भक्तमाल वाला छप्पय ही पर्याप्त समझा जाता रहा। आश्चर्य है कि कवियो की इतनी विपुल सख्या और काव्य-सौन्दर्य का इतना अधिक प्राचुर्य भी आलोचको और सहृदयो को आकृष्ट न कर सका। यह ठीक है कि हस्तलिखित वाणी ग्रथो के सुलभ न होने से इस प्रकार की उपेक्षा रही किन्तु जिज्ञासु के लिए कुछ भी अप्राप्य नही रहता।

नीचे की पक्तियो मे हम कतिपय विशिष्ट ग्रंथो में वर्णित तथ्यो पर विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करेंगे। विवेचन मे हमारा उद्देश्य भ्रमनिवारण तथा तथ्य उद्घाटित करना मात्र है, किसी प्रकार के खडन-मडन में पडकर निन्दा-स्तुति का मार्ग ग्रहण करना हमे अभीष्ट नही । तथ्य-निर्णय के लिए जहाँ खडनात्मक शैली स्वीकार की गई है उसे अन्यथा नही समझना चाहिए।

हमने जिन ग्रथो का आगे वर्णन किया है वे हिन्दी साहित्य के विशिष्ट ग्रथ हैं। इनके अतिरिक्त और भी पाँच-सात ग्रथो में राधावल्लभ सम्प्रदाय का वर्णन है किन्तु वह इन्ही में से किसी न किसी का रूपान्तर मात्र है अत सबको स्थान नही दिया गया। डा० रमाशकर शुक्ल रसाल और प० अयोध्यासिह उपाध्याय हरिऔध के इतिहास ग्रथ प्रसिद्ध होने पर भी कोई नवीन सूचना प्रस्तुत नही करते अतः हमने उन्हे छोड़ दिया है।

### १—शिवसिंह सरोज—ले० श्री शिवसिंह सेंगर

इस ग्रथ में दो स्थलो पर गो० हितहरिवंशजी का नामोल्लेख है। प्रथम स्थल पर केवल उनका एक पद दिया है और दूसरे स्थल पर इस प्रकार गद्य में परिचय है।

"हितहरिवंश स्वामी गुसाईं वृन्दावन निवासी। व्यास स्वामी के पुत्र सम्वत् १५५९ मे उत्पन्न । इनके पिता व्यास जी ने राधावल्लभी सम्प्रदाय चलाया। यह देववन के रहने वाले गौड ब्राह्मण थे। हितहरिवंश जी महान् कवि थे। सस्कृत में राधासुधानिधि ग्रंथ और भाषा में 'हितचौरासी' नामक ग्रंथ बनाया।[1]

१ 'शिवसिंह सरोज' (सप्तम संस्करण) पृष्ठ ३६६ तथा ५०७।

**विवेचन .** श्री शिवसिंह सेंगर ने व्यास जी को राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक लिखा है किन्तु अद्यावधि प्राप्त किसी ग्रथ में ऐसा कोई उल्लेख नही मिला कि श्री व्यास मिश्र ने कभी कोई साम्प्रदायिक सिद्धान्त, मत, ग्रथ आदि कुछ भी कहा या लिखा हो। दूसरी त्रुटि इसमें 'स्वामी' शब्द का व्यवहार है। गोस्वामी या गुसाई शब्द के साथ स्वामी का प्रयोग वैसे भी अव्यवहार्य है। विरक्त साधुओ के लिए प्राय स्वामी का प्रयोग होता है। गृहस्थ धर्म का पालन करने वाले आचार्य गोस्वामी कहलाते हैं। यद्यपि यह नियम नही है किन्तु साधारण परिपाटी यही है। किसी भी ग्रथ में व्यास मिश्र या हरिवश जी को स्वामी नही लिखा गया। अत सेंगर महोदय ने ये दोनो बातें बिना किसी आधार के लिख दी हैं। किन्तु इससे यह निष्कर्ष तो स्पष्ट ही निकलता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का स्वतन्त्र रूप से प्रवर्त्तन लेखक महोदय स्वीकार करते हैं।

## २—मिश्रबन्धु विनोद

मिश्रबन्धुओ ने अपने ग्रथ में तीन स्थलो पर राधावल्लभ सम्प्रदाय और उसके प्रवर्त्तक श्री हितहरिवशजी का उल्लेख किया है। उनका सारांश इस प्रकार है

(क) 'स्वामी हितहरिवशजी माध्व सम्प्रदाय वाले गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पर पीछे से राधा जी ने इन्हे स्वप्न में मत्र दिया तब से ये अपने को उन्ही का शिष्य मानने लगे। हित जी ने एक पृथक् सम्प्रदाय चलाया। जिसे हित सम्प्रदाय कहते हैं। यह अनन्य सम्प्रदाय, हित अनन्य सम्प्रदाय तथा राधावल्लभीय सम्प्रदाय भी कहलाता है। इसमे कुछ-कुछ राधा जी की प्रधानता है। इसमें स्वयं हरिवशजी एक परमोत्तम कवि थे और कितने ही अन्य उत्कृष्ट कवि हुए हैं जिनमें हित ध्रुव जी एव चाचा वृन्दावनदास जी प्रधान थे। गणना में इस सम्प्रदाय एव वल्लभीय सम्प्रदाय के कवि प्राय बराबर थे और उत्तमता में दोनो सम्प्रदायो के कवि समान कहे जा सकते हैं क्योकि वल्लभीय सम्प्रदाय में सूरदास जी अद्वितीय थे, तथापि हित सम्प्रदाय मे भी स्वय हित जी तथा चाचा जी परमोत्तम कवि थे और कुल मिलाकर ये दोनो सम्प्रदाय काव्य प्रौढता में समान ही ठहरेंगे।'[1]

(ख) 'सवत् १५८२ से सुप्रसिद्ध महात्मा और कवि श्री स्वामी हितहरिवशजी का कविता काल प्रारम्भ होता है। इनके केवल चौरासी पद मिले हैं जो सौर कविता का पूरा सामना करते हैं। यदि इनकी अधिक वाणी मिल जाये तो सम्भव है कि कविता में इनकी गणना सूरदास जी के बराबर हो। सुना जाता है कि इनके बहुत से भजन छिपे पड़े हैं।'[2]

(ग) 'ये महाशय देववन्द (अथवा देवनगर) सहारनपुर के निवासी गौड ब्राह्मण व्यास स्वामी के पुत्र थे। इनके पिता का उपनाम हरिराम शुक्ल तथा माता का नाम तारावती था। वृन्दावन में कार्तिक शुक्ला तेरस सम्वत् १५८२ को इन्होने राधारमण जी की मूर्ति स्थापित की। हित जी प्रथम भट्ट गोपाल के शिष्य थे। पर पीछे इन्होने स्वप्न में राधा जी

१ मिश्रबन्धु विनोद, भा० १, पृष्ठ २६८, प्रथम सस्करण।
२. वही भा० १, पृष्ठ ११८, ,,

से मत्र पाया और तब से आप उन्ही के शिष्य हो गये। ये महाशय (राधावल्लभीय) सम्प्रदाय के सस्थापक थे। कितने ही बडे-बडे भक्त इनके शिष्य थे। इनके वशधरो की एक भारी गद्दी है और वल्लभ सन्तानो की भाँति वे भी पूजे जाते हैं। इनके पुत्र सेवक जू अच्छे कवि थे।[1]

**विवेचन**:—मिश्रबंधुओ के उपर्युक्त (क) भाग मे इन्होने हितहरिवश जी को राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रवर्तक मानकर इस सम्प्रदाय की स्वतत्र सत्ता स्वीकार की है। किंतु दो बातो में भारी भ्रम है। प्रथम तो भट्ट गोपाल (माध्व) को इनका गुरु ठहराया है। जो किसी आधारभूत प्रमाण पर आश्रित मत नही है। भट्ट गोपाल के गुरु होने की बात का प्रचार बगला भक्तमाल तथा प्रेम-विलासके आधार पर हुआ है जो स्वयं पक्षपातपूर्ण जाली ग्रथ है। बँगला भक्तमाल के सिवा और किसी ग्रथ मे श्री हितहरिवशजी के शिष्यत्व का उल्लेख नही है। नाभाजी ने भी अपने भक्तमाल मे राधा जी को इनका गुरु कहा है। इस विषय का विशद विवेचन हमने तृतीय अध्याय में किया है और गुरु शिष्य सबधी सारी बातें सप्रमाण लिखी हैं। दूसरी बात मिश्रबधुओ ने यह कही है कि इस सम्प्रदाय मे 'राधा जी की कुछ-कुछ प्रधानता है'—कुछ-कुछ से जो भाव व्यक्त होता है वह इस सम्प्रदाय की निष्ठा, भावना, साधन-पद्धति और सैद्धान्तिक मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल है। राधा ही इस सम्प्रदाय मे 'सब कुछ' है। राधा के बिना तो माधव भी यहाँ व्यर्थ है। उस माधव की अर्चा-पूजा होती है जो राधा के पदारविन्दो मे पडा हुआ उसे प्रसन्न करने में लीन रहता है। मिश्रबधु महोदयो ने इस सम्प्रदाय की वाणियो के अध्ययन के आधार पर यदि इस विषय मे कुछ लिखा होता तो निश्चय ही राधा ही सब कुछ हैं—सबसे अधिक हैं—यही कहना पडता।

(ख) भाग में केवल सम्वत् का उल्लेख अशुद्ध है। अन्य कोई विवेच्य बात नही।

(ग) भाग में पिता का उपनाम अशुद्ध लिखा है। व्यास मिश्र होना चाहिए हरिराम शुक्ल नही। समस्त वाणी ग्रथो में व्यास मिश्र का ही वर्णन है, कही भी हरिराम शुक्ल नाम नही मिलता। मालूम नही मिश्रबधुओ ने कैसे यह नाम लिख दिया। सम्भवत हरिराम शुक्ल व्यास के नाम से प्रसिद्ध थे उन्ही को इन्होने इनका पिता समझने की भूल की है। यह भूल अग्रेज लेखक ग्रियर्सन से भी हुई है। गुरु विषयक बात का इस भाग में पुन अशुद्ध उल्लेख है जिसका समाधान हम पहले कर चुके हैं। स्वतत्र सम्प्रदाय की बात इस भाग में भी स्वीकार की गई है जो इस प्रकरण में ध्यान देने योग्य है। राधारमण जी की मूर्ति स्थापित करने की बात भी गलत है। इस सम्प्रदाय में श्री जी का विग्रह राधावल्लभ नाम से व्यवहृत होता है राधारमण नही। राधारमण शब्द गौडीय सम्प्रदाय मे प्रयुक्त होता है। सेवक जी को मिश्रबन्धुओ ने हितहरिवश जी का पुत्र लिखा है, वह भी अशुद्ध है। सेवक जी गोडवना (मध्यप्रदेश) के रहने वाले थे। हरिवश जी की मृत्यु के उपरात वृन्दावन आये थे और तभी उन्होने इस सम्प्रदाय की विधिवत् दीक्षा ग्रहण की थी। सेवक चरित्र तथा काव्य पर हमने षष्ठ अध्याय मे विस्तार से लिखा है। वही इस विषय का प्रमाण पुरस्सर विवेचन है।

---

१ मिश्रबन्धु विनोद, भा० १, पृष्ठ २८४, प्रथम संस्करण।

## ३—हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

'राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंश जी का जन्म संवत् १५५६ में मथुरा से ४ मील दक्षिण वादगाँव में हुआ था। राधावल्लभी सम्प्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता। ओरछा नरेश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास जी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंशजी गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र था।

कहते हैं कि हितहरिवंश जी पहले मध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना सम्प्रदाय चलाया। अतः हित सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत मान सकते हैं।'[1]

**विवेचन** —आचार्य शुक्ल के उपर्युक्त लेख में दो त्रुटियाँ दृष्टिगत होती हैं। प्रथम तो हितहरिवंश जी के पिता का नाम व्यास मिश्र न लिखकर केशवदास मिश्र लिखा है जो *उपलब्ध वाणी ग्रंथों में कहीं नहीं मिलता। इस त्रुटि का कारण गोपालप्रसाद रचित हित-चरित्र* पुस्तक प्रतीत होती है। दूसरी त्रुटि बँगला भक्तमाल पर आधृत है जिसका परिहार हमने मिश्रबंधुओं के प्रकरण में किया है। हित सम्प्रदाय को माध्व सम्प्रदाय के अंतर्गत तो किसी भी प्रकार नहीं माना जा सकता क्योंकि उपास्य देव और साधन-पद्धति में एकदम वैपरीत्य है। माध्व गौडीय सम्प्रदाय में राधा को परकीया भाव से स्वीकार करके उसकी उपासना की जाती है किंतु राधावल्लभ सम्प्रदाय में लौकिक रूप में राधा स्वकीया होने पर भी राधाकृष्ण के नित्य विहार स्थिति में स्वकीया-परकीया भाव निर्विशेष मानी जाती है। परकीया भाव तो वहाँ एक पल को भी गृहीत नहीं होता। वैष्णव सम्प्रदाय की विधि-निषेध प्रणाली में राधावल्लभ सम्प्रदाय स्वतंत्र और बंधनहीन है। दार्शनिक दृष्टि से माध्व सम्प्रदाय अचिन्त्य भेदाभेद या द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है। माध्व मत में 'हरिपरतर' माना गया है तो राधावल्लभ में राधा ही सब कुछ है। 'आम्नायवेद्यो हरि' माध्व मत में बताया गया है तो राधावल्लभ में राधाचरणारविंद की भक्ति ही एकमात्र साधन है। माध्व मत और राधा-वल्लभ मत की बाह्य साधन-पद्धति, तिलक, छाप, कंठी आदि किसी भी बात में समानता नहीं है। हरिराम व्यास के शिष्य होने का संवत् भी अशुद्ध है। व्यास जी संवत् १५९१ में शिष्य हुए थे। संवत् १६२२ के तो बहुत पहिले हितहरिवंश जी निकुंजवास कर चुके थे।

## ४—ब्रजमाधुरी सार : श्री वियोगी हरि

"अनन्य राधावल्लभीय सिद्धान्त के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंशजी महाराज का जन्म वाद ग्राम जिला मथुरा में हुआ था। इनका जन्म सम्वत् किसी के मत से १५५९ और किसी के मत से १५३० है। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र उपनाम

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल—पृष्ठ २०२ संशोधित संस्करण।

व्यास जी, माता का नाम तारावती था। व्यास जी देववन्द जिला सहारनपुर मे रहते थे ·····।

'कहते हैं कि श्री हरिवशजी ने स्वप्न में श्री राधिकाजी से मत्र ग्रहण कर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया··· ··। भक्ति पक्ष मे हरिवशजी श्रीकृष्ण की वशी के अवतार माने जाते हैं। हित उनका उपनाम था। आप श्रीकृष्ण के दिव्य प्रेम के साक्षात् मूर्ति थे। परात्पर भगवत्प्रेम की प्राप्ति कर लेने पर आपने विधि-निषेध के झगडे, काम-काचन का मोह और हरिविमुख धर्मो को तृणवत् तोड दिया था। तभी तो आपके सम्बन्ध मे नाभाजी ने अपने भक्तमाल मे लिखा है कि 'श्रीहरिवश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोई जानि है।'

'श्री हितजी ने आध्यात्मिक पक्ष के अर्थानुसार श्री राधाकृष्ण का विशुद्ध वर्णन किया है। इनके वर्णित रास विहार के रूप को प्रकृति-पुरुष का दिव्य रहस्य कह सकते है।'[1]

**विवेचन**—श्री वियोगी हरि ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के विषय में अधिक न लिखकर इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक के विषय मे ही लिखा है और दो-तीन भ्रान्तियो का सप्रमाण निराकरण करके हिन्दी साहित्य का उपकार किया है। पिता का नाम उल्लेख करने मे आपसे भी भूल हुई। इस भूल का मूल कारण श्री गोपालप्रसाद राधावल्लभीय रचित 'हितचरित्र' है। प्रारम्भ में उन्ही ने जन्म तिथि तथा पितृनाम का अशुद्ध उल्लेख कर दिया था। इसका खडन साम्प्रदायिक वाणी ग्रथो मे मिलता है। 'हितचरित्र' लिखने मे हमने इसका खडन किया है। श्री हरिवशजी के जन्म के विषय में जो भ्रात धारणाएँ 'मिश्रवन्धु विनोद' आदि में प्रस्तुत की गई हैं उनका खडन युक्तिप्रमाण पुरस्सर इस ग्रन्थ में हुआ है। हितहरिवश जी की उपासना पद्धति को आध्यात्मिक क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण मानने वालो मे भी श्री वियोगी हरि जी का प्रथम स्थान है। श्री वियोगी हरि ने अपने इस ग्रन्थ में राधावल्लभ सम्प्रदाय को एक स्वतत्र सम्प्रदाय ही माना है, निम्वार्क या माध्व के अन्तर्गत नही। भक्त कवि व्यास जी (ओरछा) को आपने इस सम्प्रदाय का शिष्य स्वीकार किया है जो सर्वथा उचित, तर्कपूर्ण और प्रमाणाश्रित है। श्री वियोगी हरि ने इस सम्प्रदाय के मर्म को समझने मे सवसे पहले उदारता दिखाई है।

## ५—हिन्दी साहित्य : डा० श्यामसुन्दरदास

'हिन्दी साहित्य' नामक ग्रन्थ में गोस्वामी हितहरिवश का परिचय देते हुए आपने लिखा है—

"अष्टछाप के वाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करने वालो मे हितहरिवश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं क्योकि ये दोनो ही उत्कृष्ट पदो के प्रणेता और नवीन सम्प्रदायो के स्रष्टा हुए। हितहरिवश जी माध्व और निम्वार्क दोनो मतो से प्रभावित

---

१. **ब्रज माधुरी सार : श्री वियोगी हरि पृष्ठ ६५-६६ अष्टम संस्करण।**

थे। पर उन्होने राधा की उपासना को ग्रहण कर राधावल्लभ सम्प्रदाय का सृजन किया। इनके मतानुसार राधा रानी हैं, कृष्ण उनके दास हैं। राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद मिल सकता है। 'हित चौरासी' के सभी पद अत्यन्त कोमल और सरस भावापन्न हैं। इनके शिष्यो में ध्रुवदास और व्यास जी प्रधान हुए हैं। जिनकी रचनाओ से हिन्दी की पर्याप्त श्री-वृद्धि हुई।'[1]

**विवेचन :**—डॉ० श्यामसुन्दरदास ने अपने ग्रथ में न तो कोई नई सूचना दी है और न इस सम्प्रदाय के विषय में कोई अभिमत ही व्यक्त किया। माध्व और निम्बार्क के प्रभाव की बात परम्परा से चली आने के कारण लिखी है जिसका समाधान हम पहले कर चुके हैं। हाँ, राधावल्लभी सम्प्रदाय को नया और पृथक् सम्प्रदाय आप भी स्वीकार करते हैं। व्यासजी को आपने भी राधावल्लभी स्वीकार किया है जो युक्तियुक्त है।

## ६—हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास : डा० रामकुमार वर्मा

'भक्तिकाल में हितहरिवश का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। क्योंकि जिस प्रकार इनके पदो मे सरसता पाई जाती है उसी प्रकार इनके सिद्धातो मे मौलिकता भी। इन्होंने राधावल्लभी नामक एक नये सम्प्रदाय का सूत्रपात किया। ये पहले मध्वाचार्य के द्वैत सम्प्रदाय के समर्थक थे। बाद में इन्होने अपना स्वतन्त्र हित सम्प्रदाय चलाया। कहते हैं स्वप्न में इन्हे राधिकाजी ने दर्शन देकर मत्र दिया था। तभी से इन्होने राधा की उपासना प्रधान मानी।'[2]

**विवेचन :**—डा० वर्मा ने इस सम्प्रदाय को स्वतन्त्र और नया सम्प्रदाय माना है जो साम्प्रदायिक उपासना पद्धति और उपलब्ध साहित्य को देखते हुये सर्वथा युक्तियुक्त और उचित है। मध्वाचार्य के द्वैतवाद के समर्थक होने की बात का खडन हम पहले कर चुके हैं। राधिकाजी को मत्रदात्री मानने की बात इतनी प्राचीन है कि उसे प्राय सभी लेखको ने स्वीकार किया है। अत किसी और गुरु की बात समर्थित ही नही होती। डा० वर्मा ने अष्टछाप के प्रकरण में जिन चतुर्भुजदास को 'हित जू को मगल' का लेखक बताया है वह अशुद्ध है। डा० दीनदयाल गुप्त ने इस सम्बन्ध में शोधपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की है। हमने भी श्री चतुर्भुजदास के सम्बन्ध मे अपने विचार स्वतन्त्र रूप से लिखे हैं, वहाँ यह बात स्पष्ट की गई है। यथार्थ में चतुर्भुजदास नामक दो भक्त कवि पृथक्-पृथक् हुये हैं। 'द्वादश यश' और 'हित जू को मगल' लिखने वाले राधावल्लभी हैं, वल्लभ सम्प्रदाय वाले चतुर्भुज दास दूसरे व्यक्ति हैं। हमने इस बात का उल्लेख यहाँ इसलिए आवश्यक समझा कि यह प्रश्न राधावल्लभ सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है।

---

१—हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास, पृष्ठ २३०

२—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८४७ द्वितीय सस्करण

## ७—हिन्दी साहित्य की भूमिका : आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

श्री द्विवेदी जी ने अपने दो ग्रथो में राधावल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में आपने इस सम्प्रदाय को सनकादि सम्प्रदाय के अन्तर्गत लिखा है। वे लिखते हैं .

(क) 'निम्बार्काचार्य का यह सम्प्रदाय अब उतना अधिक प्रचलित नही है। उत्तर भारत में अब भी यत्र-तत्र इस सम्प्रदाय के भक्त पाये जाते हैं। इस सम्प्रदाय का एक नाममात्र का शाखा सम्प्रदाय राधावल्लभ है, जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंश ने प्रवर्तित किया था। इस सम्प्रदाय में राधिका के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान के पास निवेदित करता है। एक उपसम्प्रदाय सखी सम्प्रदाय वालो का है जो इसी सम्प्रदाय का अग समझा जाता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हितजी ऊँचे दर्जे के कवि और महात्मा थे। ये सस्कृत के उत्तम कवि थे। 'राधासुधानिधि' नाम का सस्कृत काव्य ग्रन्थ इन्ही का लिखा बताया जाता है।' + + + जो हो इस विपय मे सन्देह नही कि गोस्वामी हितहरिवश हिन्दी और सस्कृत के अच्छे विद्वान् थे और शास्त्र-ज्ञान में दक्ष थे।[1]

'हिन्दी साहित्य' नामक ग्रथ मे द्विवेदी जी लिखते हैं

(ख) 'राधावल्लभी सम्प्रदाय के आचार्य गोस्वामी हितहरिवश का जन्म गौड ब्राह्मण वश मे हुआ था। इस सम्प्रदाय के भक्त प० गोपालप्रसाद शर्मा ने इनका जन्म सवत् १५३० ( सन् १४७३ ई० ) मे माना है। परन्तु ओरछा नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास ने सवत् १६२२ ( अर्थात् १५६५ ई० ) के आसपास इनसे दीक्षा ली थी। इस बात को ध्यान में रखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जन्म इसके पश्चात् होना उचित समझा है। शुक्लजी के अनुसार यह समय सवत् १५५६ ( सन् १५०२ ई० ) होना चाहिए + + +। गौडीय सम्प्रदाय के महात्मा श्री भगवत मुदित जी ने अपने 'रसिक अनन्य माल' नामक ग्रंथ मे बताया है—

'जे आए हरिवंश पथ, सिद्ध भए जु अनन्य।
भगवत तिनकी परिचयी वरणौं होंहि सुधन्य ॥'
'श्री हरिवश सुधर्म दृढ़ जगत् क्रिया ते ऐंड़।
श्री राधावल्लभ इष्ट भजि, तोरी प्राकृत मेंड ॥'

इससे भी सिद्ध होता है कि श्री हितहरिवंशजी का सम्प्रदाय स्वतंत्र है। उनके इष्ट राधावल्लभ हैं और वे प्राकृत विधि निषेध की व्याख्या को नही मानते।[2]

इसके आगे श्री द्विवेदी जी ने निम्बार्क सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय मे मौलिक सिद्धान्त-भेद का वर्णन श्री किशोरीशरण अलि के कथन के आधार पर किया है।

---

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ५४।
२. हिन्दी साहित्य ले० पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १६५-१६६ तक।

**विवेचन :—**(क) भाग में द्विवेदी जी ने जो लिखा है उसका खडन स्वय अपनी दूसरी पुस्तक मे ( जिसका प्रकाशन स० २००९ में हुआ ) कर दिया है। सनकादि सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत राधावल्लभ को उन्होने अंग्रेजी पुस्तको के आधार पर लिखा था जो भ्रामक था और इस भूल को उन्होने दूसरी पुस्तक में स्वीकार कर लिया। जन्म सम्वत् आदि के विषय में भी उन्होने आचार्य शुक्ल की तिथि की ओर ही अपना झुकाव रखा है। निम्वार्क सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धान्तो में भेद सिद्ध करने के लिए उन्होने लिखा है कि 'इसलिए राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाई हितहरिवश को इस सम्प्रदाय ( निम्वार्क ) से सम्बद्ध समझना इतिहास-विरुद्ध भी है।'

## ८—अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त

'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक शोध ग्रथ में डाक्टर गुप्त ने राधावल्लभ सम्प्रदाय का विस्तार से वर्णन किया है। इस ग्रथ में सबसे पहले पृष्ठ ४० पर ब्रजमडल के कृष्णभक्ति के सम्प्रदायो का उन्होंने नामोल्लेख मात्र किया है जिसमें राधावल्लभ को एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय के रूप में परिगणित किया गया है।[1]

'राधावल्लभीय सम्प्रदाय' शीर्षक से इस ग्रथ में डा० गुप्त जी ने जो ज्ञातव्य बातें लिखी है वे सक्षेप में इस प्रकार है

'अष्टछाप कवियो के समकालीन ब्रज में कृष्णपूजा का एक सम्प्रदाय राधावल्लभीय भी प्रचार पा रहा था। इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री स्वामी हितहरिवश जी थे। राधावल्लभ की पूजा-विधि चलाने से पहले श्री हितजी का नाम हरिवश था। ये सहारनपुर जिले के देववन गाव के रहने वाले गौड ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम श्री व्यास था। इनके वशज आजकल देववन और वृन्दावन दोनो स्थानो पर रहते हैं। इनका जन्म सवत १५५९ वि० में हुआ था। ये पहले माध्व सम्प्रदायी थे बाद को ये निम्बार्क स्वामी की श्रीकृष्ण भक्ति-पद्धति का अनुसरण करने लगे।...... सवत् १५९१ वि० मे इस मन्दिर का प्रथम 'पट-महोत्सव' हुआ और कुछ समय वाद इन्होंने अपनी चलाई हुई कृष्णभक्ति पद्धति का प्रचार करना आरम्भ किया। इन्होंने कर्म और ज्ञान के साधनो का खडन कर प्रेमभक्ति-मार्ग का प्रचार किया और राधा और कृष्ण दोनो की युगल उपासना का उपदेश दिया।[2]

"जैसा कि पीछे कहा गया है, यह सम्प्रदाय केवल एक साधन मार्ग था, तात्त्विक सिद्धान्त की दृष्टि से वेदान्त के भिन्न-भिन्न वादो के अन्तर्गत आने वाला कोई वाद नही था। इसके अनुयायियो ने भी बहुत काल तक इस सम्प्रदाय के तात्त्विक सिद्धान्तो की ओर ध्यान नही दिया।[3]

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय। डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४०।
२. „ „ „ „ पृष्ठ ६४।
३. „ „ „ „ पृष्ठ ६५

"इस सम्प्रदाय के अनुयायी भक्तो ने प्रेम-शृङ्गार की केवल संयोग लीलाओ का ही अवलम्बन किया है, वियोग भावना इस सम्प्रदाय में नही है। राधाकृष्ण की कुजलीला के भवन के आनन्द को इस सम्प्रदाय मे 'परम रस-माघुरी भाव' कहा गया है। इस सम्प्रदाय के भक्त कवियो ने इस माधुरी भाव का चित्रण व्रजभाषा पदो मे वहुत किया है। अष्टछाप के भक्तो ने भी इस प्रकार का वर्णन किया है। संभव है, हितजी के शृङ्गारिक पदो का प्रभाव अष्टछाप पर भी पडा हो।"[1]

**विवेचन :** डा० गुप्त के उल्लेख से पहली वात तो यह सिद्ध है कि चतु.सम्प्रदाय के वाद 'जो पृथक् सम्प्रदायं ईसा की १४ वी शताब्दी से लेकर १६ वी तक वने' उनमें राधा-वल्लभ सम्प्रदाय एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है। डा० गुप्त इस सम्प्रदाय को एक स्वतत्र वैष्णव सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।

दूसरी वात उन्होने लिखी है कि 'हितजी पहले माध्व सम्प्रदायी थे वाद में निम्वार्क स्वामी की कृष्णभक्ति पद्धति का अनुसरण करने लगे।' इस स्थापना का कोई प्रमाण लेखक महोदय ने नही दिया। माध्व सम्प्रदाय और निम्वार्क सम्प्रदाय की सेवा-पूजा विधि, इष्ट-देव सम्वन्धी मान्यताएँ, राधा-विषयक विचार-सरणि पर यदि लेखक ने विचार किया तो निश्चय ही वे राधावल्लभ सम्प्रदाय को उन दोनो से किसी प्रकार भी सम्वन्धित न पाते। स्पष्ट है कि परम्परा से जो किवदन्तियाँ प्रचार पा गई हैं उन्ही को विद्वान् लेखक ने भी स्वीकार कर लिया है। यथार्थ में इन दोनो सम्प्रदायो का राधावल्लभ सम्प्रदाय के साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कोई सम्वन्ध नही है। हमने इन दोनो सम्प्रदायो की विचार-धारा का कई स्थल पर वर्णन करके राधावल्लभ सम्प्रदाय को स्वतत्र सम्प्रदाय सिद्ध किया है। पुनरावृत्ति को वचाने के लिए उन तर्कों और प्रमाणो का यहाँ उल्लेख करना अनावश्यक है।

डा० गुप्त इस सम्प्रदाय को 'साधनमार्ग' स्वीकार करते हैं। यथार्थ में तात्त्विक दृष्टि से किसी दार्शनिक वाद का खडन-मडन इस सम्प्रदाय में नही हुआ अत: 'साधनमार्ग' शव्द का प्रयोग सर्वथा अनुचित नही है। किन्तु साधना की कठोरता भी इस मार्ग मे स्वीकार नही की जाती। राधा के चरणो मे अनन्य भाव से स्वार्पण ही इस मार्ग की साधना कही जा सकती है जो निर्गुण या हठयोग मार्गियो से सर्वथा भिन्न है। यह ठीक ही है द्वैत या अद्वैत की जैसी मीमासा और व्याख्या चतु'सम्प्रदाय के आचार्यो द्वारा प्रस्तुत की गई वैसी कोई व्याख्या इस सम्प्रदाय मे नही है और इसी कारण यह अपना स्वतत्र स्थान भी वना पाया है। डा० गुप्त हितजी के शृङ्गारिक पदो का प्रभाव अष्टछाप के कवियो पर मानते हैं। निस्सन्देह माधुर्यभाव की शृङ्गारपरक व्यजना मे राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियो का सर्वाधिक प्रभाव रहा होगा और समसामयिक व्रजभाषा कवियो पर उनकी माधुर्यमयी अभिव्यक्ति की छाप पडी होगी। हिन्दी के इतिहासग्रथो मे सबसे अधिक प्रामाणिक, वैज्ञानिक और व्यापक रूप से डा० गुप्त ने ही इस सम्प्रदाय पर लिखा है।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ६६।

## ९—हिंदी साहित्य एक अध्ययन डा० रामरतन भटनागर

'हिन्दी साहित्य एक अध्ययन' नामक इतिहास ग्रथ में चतु सम्प्रदायो का वर्णन करते हुए सनकादि सम्प्रदाय (निम्बार्क) के अन्तर्गत श्री हितहरिवशजी का डा० भटनागर ने उल्लेख किया है। वे लिखते हैं

'हाँ, हितहरिवश अवश्य निम्बार्क मतावलम्वी कहे जाते हैं। सम्प्रदाय की उपासना धारा से थोडा मतभेद देखकर १५२५ (?) के लगभग हितहरिवश ने अपने राधावल्लभी सम्प्रदाय या सखी सम्प्रदाय (?) की वृन्दावन में स्थापना की। इस सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र वृन्दावन मे राधावल्लभ का मन्दिर है। हितहरिवश के मत में राधारानी महाशक्ति है और स्वामिनी है। भगवान् कृष्ण उनके आज्ञानुवर्त्ती हैं। भगवान् कृष्ण राधारानी की आज्ञा से ही विश्व की सृष्टि, भरण और हरण करते हैं। हितहरिवश जी की तीन पोथियाँ राधासुधानिधि (सस्कृत), ८४ पद (ब्रज) और स्फुट पद इस सम्प्रदाय के आधार ग्रथ हैं।[1]

**विवेचन** डा० भटनागर के उपर्युक्त वर्णन मे कई भ्रान्तियाँ हैं। पहली त्रुटि अग्रेजी की पुस्तको तथा भ्रान्त किवदन्तियो पर आश्रित है। किस आधार पर लेखक ने हितजी को निम्बार्क कहा है? १५२५ (ईस्वी सन् है या विक्रम सम्वत् ?) के लगभग तो हरिवश जी का जन्म भी नही हुआ था। फिर उन्होने इस सन् या सम्वत् में अपना स्वतत्र मत कैसे स्थापित कर लिया। जन्म सम्वत् १५५९ है। सम्भवत लेखक ने ईस्वी का ही ध्यान रखकर १५२५ लिखा है। ईस्वी सन् की दृष्टि से हितजी का जन्म १५०२ में हुआ था। वे वृन्दावन मे ईस्वी सन् १५३३ मे पधारे। इससे पूर्व उन्होने राधावल्लभ सम्प्रदाय की स्थापना कब और कहाँ की—लेखक की इस स्थापना का भी कोई प्रमाण नही है। इतिहास लेखको को कम से कम सन्-सम्वत् की मोटी-मोटी बाते तो ध्यान में रखनी चाहिएँ। वृन्दावन जाने से पूर्व सम्प्रदाय की चर्चा ही नही आती फिर यह सब किस आधार पर लिखा गया। यदि ईस्वी सन् १५२५ न मानकर विक्रम स० १५२५ मानें तो हितहरिवशजी का जन्म भी उस समय नही हुआ था। इतना ही नही, लेखक ने एक और भयकर भूल इस प्रसग में की है। वे हितहरिवश जी को सखी सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक भी कहते हैं। कदाचित् लेखक को सखी सम्प्रदाय के विषय में भारी भ्रम है। स्वामी हरिदास जी के सखी सम्प्रदाय को ही शायद हरिवशजी नाम से लिख दिया गया है। तीसरी बात किसी सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र उसका मन्दिर नही होता अपितु स्थान विशेष होता है। गुजरात और ब्रजमडल राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख केन्द्र कहे जा सकते हैं। वैसे छत्तीसगढ़, विन्ध्यप्रदेश, तथा मध्यप्रदेश के सागर, जबलपुर, नरसिंहपुर, होशगाबाद मे भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी पर्याप्त सख्या में निवास करते है। जिस शैली से लेखक ने हितहरिवश जी तथा उनके सम्प्रदाय का परिचय दिया है वह इस बात का स्पष्ट सकेत करता है कि लेखक ने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी रूप में इस सम्प्रदाय के साहित्य और इतिहास से परिचय नही किया।

---

१ हिन्दी साहित्य एक अध्ययन—लेखक डा० रामरतन भटनागर, पृष्ठ ८४–८५।

## १०—हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास : श्री चतुरसेन शास्त्री

श्री चतुरसेन शास्त्री ने एक सात सौ पृष्ठ का विशालकाय 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' लिखा है। इस ग्रथ मे लेखक ने 'हितहरिवश' शीर्षक से सामान्य परिचय रूप में सात-आठ पक्तियो मे जो लिखा है वह सम्प्रदाय की साधना पर घातक प्रहार होने के कारण ध्यान देने योग्य है—

'हितहरिवश, ई० सन् १५०३। ये राधावल्लभी सम्प्रदाय के संस्थापक थे। **इस सम्प्रदाय में वाममार्ग का प्राचुर्य था।** अष्टछाप के कवियो के उपरात भक्ति क्षेत्र मे इनका ही स्थान है। ये सस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे और व्रज भाषा मे बडी सरस और सुन्दर रचनाएँ करते थे। इनकी रचना में मौलिकता भी खूब है। इनके पदो का सग्रह 'हित चौरासी' नाम से विख्यात है। अपनी रचना की मधुरता के कारण ये कृष्ण की वसी के अवतार कहे जाते हैं। इन्होने कष्ण भगवान् की रासलीला और माधुरी मूर्ति का सुन्दर चित्रण किया है।'[1]

**विवेचन** श्री चतुरसेन शास्त्री के मत का उल्लेख हमने यहाँ एक विशेष प्रयोजन से किया है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखको में इनकी रचना का महत्त्वपूर्ण स्थान नही है फिर भी किसी भक्ति सम्प्रदाय के विषय मे भ्राति उत्पन्न करने मे इस प्रकार की रचनाओं से योग मिलता है। शास्त्री जी को 'इस सम्प्रदाय में **वाममार्ग का प्राचुर्य**' कहाँ और किस आधार पर लक्षित हुआ—उन्होने लिखा नही। शृ गारपरक भक्ति मार्गो में रति-स्थायी के द्वारा सासारिक भोग-विलास की भावनाओ के वर्णन को उन्नयन का मार्ग स्वीकार किया जाता है। भक्त की भावना आराध्यदेव में पूज्य बुद्धि से निर्भर रहती है। किसी लौकिक काम-वासना की तृप्ति के लिए प्रेम और शृगार लीलाओ का वर्णन नही किया जाता। इस प्रकार के आरोपात्मक निष्कर्ष निकालने से जो भ्रातियाँ जनसाधारण में प्रचलित होती हैं उसका निराकरण करने मे कई गुनी शक्ति और समय लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्री जी ने वामाचार और प्रेम-शृंगार को एक ही मानकर इस सम्प्रदाय को वाममार्गी कहने का साहस किया है। माधुर्य भक्ति के क्षेत्र मे प्रेम, काम और शृंगार की स्थिति लौकिक वामाचार से सर्वथा पृथक् परिष्कृत भाव भूमि पर स्थिर होती है जब तक इस तथ्य को हृदयगम नही किया जायगा, तब तक माधुर्य भक्ति के विषय मे इस प्रकार के निराधार प्रतिवाद फैलते रहेगे।

## ११—सूर और उनका साहित्य : डा० हरवंशलाल शर्मा

'सूर और उनका साहित्य' शोध ग्रन्थ मे 'राधावल्लभी सम्प्रदाय' का वर्णन करते हुए डा० शर्मा लिखते हैं—

'युगल उपासना का दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय राधावल्लभी सम्प्रदाय कहा जा सकता

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, पृष्ठ १६८।

है जिसके प्रवर्त्तक गोस्वामी हितहरिवंश थे। इस सम्प्रदाय की भक्ति पद्धति से प्रतीत होता है कि यह भक्तिभावना अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति भावना से स्वतंत्र है। इस सम्प्रदाय का अनन्य दासभाव, कुंज केलि, दम्पति की खवासी, अर्थात् दासीभाव, विधि निषेध का त्याग तथा राधिका जी को इष्टदेवी के रूप में मानना ही विशेषताएँ हैं। श्रीकृष्ण इस सम्प्रदाय के इष्टदेव नहीं। केवल राधिका के अनुषंग के कारण उपास्य हैं। स्वयं उनके लिए राधा की सखियाँ और दासियाँ भी अनुनय विनय के पात्र हैं। इस सम्प्रदाय में स्वकीया अथवा परकीया को कोई स्थान नहीं मिला है।'[1]

**विवेचन**—डा० शर्मा ने एक विशिष्ट तथ्य की ओर पाठक का ध्यान आकृष्ट करते हुए लिखा है कि 'इस सम्प्रदाय की भक्ति भावना वैष्णव सम्प्रदायों की भक्ति भावना से स्वतंत्र है। यथार्थ में यही तत्त्व इस सम्प्रदाय का स्वतंत्र अस्तित्व घोषित करने से लिये पर्याप्त है। डा० शर्मा ने राधाकृष्ण की स्थिति पर भी संक्षेप में किन्तु समुचित प्रकाश डाला है। समस्त संदर्भ को पढ़ने से यही विदित होता है कि लेखक महोदय इस सम्प्रदाय को स्वतंत्र वैष्णव सम्प्रदाय स्वीकार करते हैं।

## १२—हिंदी विश्वकोष

**हित हरिवंश शब्द के अन्तर्गत**—'हित हरिवंश गोस्वामी—एक विख्यात हिन्दी कवि। ये हरिराम शुक्ल बनाम व्यास स्वामी के पुत्र तथा नरवाहन आदि कितने ही हिन्दी कवियों के गुरु थे। इन्होंने संस्कृत भाषा में 'राधासुधानिधि' और हिन्दी में 'हित चौरासी धाम' की रचना की। १६वीं सदी के मध्य भाग में ये विद्यमान थे। इनके साधु चरित्र के लिए सभी इनकी बड़ी श्रद्धाभक्ति करते थे।'[2]

हिन्दी साहित्य शब्द के अन्तर्गत श्री हित हरिवंश जी का वर्णन—"अष्टछाप के बाहर रहकर भक्तिकाव्य की रचना करने वालों में हितहरिवंश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं। क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन सम्प्रदायों के स्रष्टा हुए। हित हरिवंश जी माध्व और निम्बार्क मतों से प्रभावित थे पर उन्होंने राधा की उपासना ग्रहण कर राधावल्लभी सम्प्रदाय की सृष्टि की। इनके राधासुधानिधि और हित चौरासी नामक ग्रन्थ के सभी पद अत्यन्त कोमल और सरस भावापन्न हैं। इनके शिष्यों में ध्रुवदास जी और व्यास जी प्रधान हैं जिनकी रचना से हिन्दी साहित्य की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।[3]

**वैष्णव शब्द के अन्तर्गत राधावल्लभी शब्द**—

हरिवंश गोस्वामी इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक हैं। इन्होंने वृन्दावन में १६४१ सम्वत् में राधावल्लभ मठ खोला। इस सम्प्रदाय में श्रीमती राधिका ही प्रधान उपास्य हैं। श्री

१ सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृष्ठ १५४–१५६।
२ हिन्दी विश्वकोष (कलकत्ता) अक्षर ह, पृष्ठ ३३०।
३ हिन्दी विश्वकोष (कलकत्ता) अक्षर व, पृष्ठ २७१।

वृन्दावन मे इस सम्प्रदाय का मठ है। इनके आचरण वैष्णव चिह्नादि भी वैष्णवो जैसे हैं। 'सेवा सखी वाणी' नामक ग्रन्थ मे इसकी उपासना और क्रिया-कलापादि का विशेष विवरण लिपिवद्ध हैं। इस सम्प्रदाय की और भी अनेक शाखाएँ हैं। व्रज भाषा में इनके अनेक ग्रन्थ हैं।"

**विवेचन**—हिन्दी विश्व कोष के सम्पादको ने कोई नवीन सूचना नही दी है। यह ठीक ही है कि इनकी दृष्टि में भी राधावल्लभ वैष्णव धर्म का एक नवीन सम्प्रदाय है। किन्तु राधावल्लभ मठ स्थापित करने का सम्वत् अशुद्ध है। सम्वत् १५९१ में पाटोत्सव हुआ था तभी मन्दिर की स्थापना हुई। 'सेवा सखी वाणी' ग्रन्थ हमारे देखने में नही आया। इसका उल्लेख अग्रेज लेखको ने भी किया है। इस सम्प्रदाय की अनेक शाखाएं किस आधार पर लिखी गई हैं? अभी तक किसी शाखा का पता नही चला है। वृन्दावन मे जो अन्य रसमार्गी भक्त हैं वे अपने को स्वतन्त्र ही मानते हैं। कदाचित् हरिदासी (टट्टी सस्थान) आदि को इन्होने भ्रमवश शाखा कह दिया है किन्तु स्वामी जी का सम्प्रदाय सर्वथा स्वतत्र ही है।

## १३—मध्यकालीन प्रेमसाधना : श्री परशुराम चतुर्वेदी

'गोस्वामी हित हरिवश राधावल्लभीय सम्प्रदाय के सर्वप्रथम आचार्य थे। वे अपनी रचनाओ के माधुर्य के कारण श्रीकृष्णचन्द्र की वशी के अवतार भी माने जाते हैं। उनका पूर्व नाम केवल हरिवश था और उनका जन्म सम्वत् १५५९ चैत्र वदी एकादशी के दिन मथुरा से चार मील दक्षिण की ओर वाद ग्राम नामक स्थान मे हुआ था। उनके पिता का नाम व्यास मिश्र था। वे गौड वशीय व्राह्मण थे और उनकी माता का नाम तारावती था। वाल्यावस्था से लेकर मृत्युपर्यन्त उनका प्राय सम्पूर्ण जीवनकाल व्रजमडल के ही अन्तर्गत व्यतीत हुआ था। कुछ लोगो का अनुमान है कि वे सहारनपुर जिले के देववन गाँव में भी रहे थे और उनके वशज आजकल देववन एवं वृन्दावन में रहा करते हैं। कहते हैं कि पहले ये किसी माध्व सम्प्रदायानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे और फिर निम्वार्क मतानुवर्ती हो गये थे। परन्तु श्री राधिका द्वारा स्वप्नकाल मे मत्र ग्रहण कर लेने के कारण आगे चलकर इन्होंने अपना एक नवीन सम्प्रदाय चलाया। इस सम्प्रदाय की स्थापना के उपलक्ष्य मे इन्होंने अपने इष्टदेव श्री राधावल्लभ की मूर्ति स० १५८२ मे पधरायी और सम्वत् १५९१ मे इन्होंने उसका सर्वप्रथम पाटोत्सव किया। तव से ये निरन्तर वृन्दावन मे ही विरक्त होकर निवास करने लगे तथा वही से कुछ दिनो के अनन्तर इन्होंने अपने मत का प्रचार भी आरम्भ कर दिया।"[1]

**विवेचन** : श्री चतुर्वेदी जी की पुस्तक सन् १९५२ में प्रकाशित हुई है। अत. इसमे अधिक व्यापक और प्रामाणिक विवरण का होना स्वाभाविक है। तेरह पृष्ठो में लेखक ने हरिवशजी के काव्य-सौष्ठव पर प्रकाश डाला है। जीवन-वृत्त आदि प्राय. पूर्ववत् ही लिखा है।

१ मध्यकालीन प्रेमसाधना—लेखक श्री परशुराम चतुर्वेदी—पृष्ठ ११३

गुरु शिष्य वाली बात को आपने भी दुहराया है। उस पर अपना अभिमत नही लिखा। हरिवशजी के विरक्त होने की बात का आधार कदाचित् भक्ति-भाव ही है, अन्यथा हित-हरिवश जी आजीवन सच्चे गृहस्थ ही बने रहे। विरक्त रूप में उन्होंने कोई साधना भी प्रचलित नही की। अपनी ५१ वर्ष की आयु में वे केवल १६ वर्ष वृन्दावन में रहें थे, शेष जीवन तो देववन्द (सहारनपुर) में कटा था। पाटोत्सव आदि की तिथि ठीक लिखी है। चतुर्वेदी जी ने ही सबसे पहली बार हितजी के काव्य पक्ष पर लेख लिखा है।

## १४—भागवत सम्प्रदाय : श्री बलदेव उपाध्याय

"राधावल्लभीय सम्प्रदाय को कुछ लोग निम्बार्क मत की वृन्दावनी शाखा मानते है और कुछ लोग चैतन्य मत की, परन्तु वस्तुत यह एक स्वतत्र वैष्णव सम्प्रदाय है जो ठेठ व्रजमडल में ही उत्पन्न हुआ और यही खूब फूला-फला। इसके अनुयायियो का प्रधान अखाडा आज भी व्रजमडल में ही है। सम्प्रदाय की साधना-पद्धति इसे एक स्वतन्त्र वैष्णव सम्प्रदाय मानने के लिए बाध्य करती है। नाभादासजी ने भी इस पथ की सेवा-पद्धति या रसचर्या को साधारण मानवो के लिए नितान्त दुष्कर तथा कठिन बतलाया है।

इस सम्प्रदाय को जन्म देने वाले महात्मा श्री हित हरिवशजी थे जो वैष्णव मतानुसार श्री कृष्णचन्द्र की मुरली के अवतार माने जाते हैं। उनकी कविता इतनी सरस तथा स्निग्ध है कि आश्चर्य नही भक्तो के कर्ण-कुहरो मे वह वशी निनाद के समान ही सुधारस बरसाती है। इन महापुरुष के जन्म स्थान तथा आविर्भाव-काल के विषय में विद्वानो में अभी तक ऐक-मत्य नही है। कुछ लोग इन्हे सहारनपुर जिले के देववन्द नामक स्थान का निवासी मानते हैं। परन्तु यह बात ठीक नही है। इनके पिता देववन्द में रहते जरूर थे किन्तु इनका जन्म हुआ था व्रजमडल, मथुरा से चार कोस की दूरी पर स्थित वाद नामक ग्राम में, क्योकि गोसाई के अनन्य शिष्य सेवकजी इसके प्रमाण हैं।"[1]

उपर्युक्त विवरण के बाद जन्मतिथि का उल्लेख है जिसमें भगवत मुदित की वाणी को प्रमाण मानकर १५५६ सम्वत् को ही स्वीकार किया गया है। इस ग्रथ में सबसे पहली बार राधावल्लभ सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्तो पर विवेचनात्मक दृष्टि से लिखा गया है। यह ग्रथ पर्याप्त जानकारी और साधना-पद्धति की विशिष्ट भावनाओ के आधार पर लिखा गया है। श्री व्यास जी, ध्रुवदासजी आदि पर भी अच्छा प्रकाश डाला गया है। गुरु-शिष्य परम्परा भी सबसे पहली बार इसी ग्रथ में पर्याप्त पूर्णता के साथ दी गई है। श्री गोपालप्रसाद शर्मा लिखित 'हित चरित्र' में श्री हित हरिवशजी के बाद की परम्परा नही है किन्तु इस ग्रथ में अद्यतन परम्परा तक का उल्लेख है।

सिद्धान्त विवेचन मे 'प्रेम साधना में जीव का भावमय स्वरूप' लिखकर जीव के साधन देह और सिद्ध देह का वर्णन शास्त्रीय शैली से तथा प्रेम सिद्धान्त का अवगाहन साम्प्रदायिक शैली से लेखक ने किया है। "निकुजोपासना को राधावल्लभीय आचार्य श्री हित हरिवशजी

---

१ भागवत सम्प्रदाय, लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४२१-२२

वृन्दावन रस के नाम से अभिहित करते हैं। यह लीला नितान्त गुह्य, गोप्य तथा रहस्यभूत है और इसीलिए यहाँ न तो नन्द, यशोदा का और न सुवल सुबाहु आदि सखाओं का भी प्रवेश है और न शुक आदि महावैष्णवोको गोचर है।' इस प्रकार निकुज रस पर भी विचार व्यक्त किये गये हैं। निस्सन्देह इस ग्रथ के लेखक को सैद्धान्तिक विवेचन का प्रथम श्रेय प्राप्त होता है।[1]

## विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में उल्लेख

**वगला**—हिन्दी और अग्रेजी के अतिरिक्त वंगला और गुजराती के धार्मिक ग्रथो मे राधा-वल्लभ सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है। वगला भक्तमाल की चर्चा हम 'हित हरिवश चरित्र' प्रकरण में विस्तार से करेंगे। वगला की एक और प्रसिद्ध पुस्तक 'भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय' है। इसके लेखक अक्षयकुमारदत्त हैं। इस पुस्तक के प्रथम भाग (द्वितीय सस्करण) में राधावल्लभी सम्प्रदाय का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'राधाकृष्ण की उपासना करने वाले राधावल्लभी सम्प्रदाय में युगल मूर्ति की उपासना का विधान है। राधा की उपासना अत्यन्त आधुनिक है इसमे कोई सन्देह नही। वगाल की राधाकृष्ण उपासना और राधावल्लभी सम्प्रदाय की राधाकृष्ण की उपासना में कोई भेद है या नही यह निर्णय करना कठिन है। साधारणत दोनो के प्रवर्त्तक आचार्यों का भेद ही इनका भेद प्रतीत होता है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में हरिवश को गुरु माना जाता है, उन्ही ने वृन्दावन मे अपना मठ स्थापित किया और एक मन्दिर भी निर्माण कराया। इस मन्दिर के द्वार पर लिखा है कि सवत् १६४१ मे यह मन्दिर बनवा कर राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित की। राधिका के माहात्म्य वर्णन करने के लिए हरिवशजी ने राधासुधानिधि नामक ग्रथ भी लिखा। व्रजभाषा 'सेवा-सखी वार्णा' ग्रंथ में इस सम्प्रदाय की उपासना पद्धति तथा अन्य क्रियाकलाप का विस्तार से वर्णन हुआ है।[2]

---

१—भागवत सम्प्रदाय—लेखक श्री वलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ६५४-६५५

२—राधाकृष्ण उपासक राधावल्लभी दिगेर धर्मतत्व आर एक प्रकार जुगल मूर्तो (उपासना) राधार आराधना अत्यन्त आधुनिक तहार सन्देह नाइ। वंगला देशीय राधाकृष्ण उपासक दिगेर सहित राधावल्लभी दिगेर किछू विशेष आछेकिना निर्वाचना करा सुकठिन। वोध होय औइ उभयेर परस्पर विभिन्नता केवल उहादेर स्वतंत्र गुरु स्वीकार मात्रेयी पर्याप्त होय। राधावल्लभीय वैष्णवरा वशपरम्परागत सुप्रसिद्ध गोस्वामि दिनके गुरु रूपे अंगीकार न करिया हरिवश नामक एक व्यक्ति के तहाँ देर प्रवर्त्तन वोलिया स्वीकार करेंन। तिनि वृन्दावने अवस्थित होइया तथा एक मठ स्थापित और एक मन्दिर प्रस्तुत करेंन ओइ द्वारा परि लिखिताछे 'हरिवंश १६४१ संवते एइ मन्दिर प्रस्तुत कोरिया तहा ते श्री राधावल्लभीर प्रतिमूर्ति प्रतिष्ठत करेंन। राधिकार माहात्म्य विषयक 'राधासुधा निधि' नामे जे एक खनि क्षुद्रसंस्कृतग्रन्थ दृष्टि होइया थाके। तहानु हरिवंशेरकृत वोलिया प्रसिद्ध आछे। व्रजभाषा लिखित 'सेवासखीवानी' नामक एक ग्रन्थ'ये सम्प्रदायेर उपासना क्रियाकलापादि उपाख्यानादीर सविस्तरसन्निवेशित आछे।'
—भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय ( वंगला प्र० भाग )। लेखक अक्षयकुमार दत्त।
पृष्ठ २२३-२२६।

वस्तुत यह वर्णन विलसन की अंग्रेजी पुस्तक का रूपान्तर मात्र है। श्री दत्त महोदय ने अपनी जानकारी के आधार पर कुछ नही लिखा है। यदि अपनी जानकारी का प्रयोग किया होता तो बगाल के चैतन्य मत की परकीया राधा और राधावल्लभीय सम्प्रदाय की राधा विषयक मान्यता में अन्तर देख लेना कठिन नही था। राधाकृष्ण की जुगल उपासना का जैसा विधान बगाल के चैतन्य मत में है राधावल्लभ सम्प्रदाय में वैसा कोई रूप नही है। राधा के विषय में विस्तार से दो पृष्ठो में और जो कुछ लिखा है वह भी प्रोफेसर विलसन के आधार पर ही ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के श्लोको का सक्षिप्त अनुवाद मात्र है। अंग्रेजो की पुस्तको को प्रमाण मानकर लिखने से जो हानि-लाभ सम्भव है वे सब इसमें स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

## वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास : श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री

**गुजराती**

गुजराती का यह ग्रथ अपेक्षाकृत अधिक सूचनाए प्रस्तुत करता है। यद्यपि यह भी अंग्रेजी पुस्तको के आधार पर ही लिखा गया प्रतीत होता है। इस ग्रथ में 'राधावल्लभी सम्प्रदाय' शीर्षक के अन्तर्गत जो कुछ लिखा है उसका साराश इस प्रकार है

'राधावल्लभी सम्प्रदाय के स्थापक आचार्य का नाम हितहरिवश जी है। वे श्रीकृष्ण की वशी के अवतार माने जाते हैं। साधु सम्प्रदायो में हित जी को निम्बार्क मत का अनुयायी समझा जाता है क्योकि इनकी राधाकृष्ण-विषयक मान्यता में साम्य है। हितहरिवशजी का जन्म सम्वत् १५५९ चैत्र शुक्ला एकादशी को हुआ, यह सम्प्रदाय की सुप्रसिद्ध मान्यता है। मथुरा से चार मील दक्षिण में स्थित वाद गाँव मे आपका जन्म हुआ। इनके पिता व्यास जी (केशवदास मिश्र) गौड ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम तारावती था। आपके जीवन का अधिकाश समय ब्रजमडल में ही व्यतीत हुआ। वे पहले माध्व मतानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। परन्तु ऐसा कहा जाता है कि स्वप्न में राधा जी से नवीन मत्र लेकर आपने अपना नया सम्प्रदाय प्रवर्त्तित किया।+ +गोस्वामी हितहरिवशजी ने 'राधासुधानिधि' नामक एक ग्रथ सस्कृत में १७० श्लोको में लिखा। पुन 'हित चौरासी' नाम की प्रसिद्ध पुस्तक ब्रजभाषा (हिन्दी) मे लिखी। इस ग्रथ में सिद्धान्त विषयक बातें कम हैं। राधाकृष्ण के प्रेम का ही वर्णन अधिक हुआ है। गोस्वामी हितहरिवश राधा को स्वकीया मानते हैं। इस सम्प्रदाय के मन्दिर उत्तरी भारत में अधिक हैं, मुख्य धाम वृन्दावन में है।"[1]

उपर्युक्त मन्तव्य मे कोई नवीन सूचना न होने पर भी पूर्ववर्ती लेखको के आधार पर लेखक ने सारमात्र दिया है। जो कुछ इसमें कहा है उसका खडन-मडन हम पहले किसी न किसी रूप मे कर चुके हैं, अत इस प्रसग में विवेचन अनावश्यक विस्तार ही होगा।

---

१ वैष्णव धर्मनो सक्षिप्त इतिहास (गुजराती)। लेखक श्री दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, पृष्ठ ३२४-२५।

## तृतीय अध्याय

# सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक श्री हितहरिवंश

### जन्मकालीन परिस्थितियाँ

श्री हितहरिवशजी का उद्‌भव-काल भारतीय इतिहास मे मध्ययुग के नाम से विख्यात है। हिन्दू-राज्य-सत्ता के पतन के वाद विभिन्न वंशो के मुस्लिम आक्रान्ताओ ने उत्तरीय भारत पर आक्रमण किये और दिल्ली को अपनी राजधानी वनाकर इस देश पर शासन किया। ईसा की सोलहवी शताव्दी के प्रारम्भ मे श्री हितहरिवशजी का जन्म हुआ। उस समय दिल्ली की गद्दी पर पठान वश का शासक सिकन्दर लोदी विराजमान था। राजनैतिक परिस्थिति पर विचार करने के लिये सिकन्दर लोदी के शासन काल की परिस्थितियाँ ही सवसे पहले हमारे सामने आती हैं। सिकन्दर लोदी के विषय में प्रसिद्ध है कि उसका शासनकाल हिंदू जनता के लिये कष्ट, यातना और अत्याचार का काल था। हिन्दुओ को बलात् मुसलमान वनाया जाता था और उनके शोषण एव उत्पीडन के लिये उन पर जजिया कर लगाया गया था। हिन्दू जनता शातिपूर्वक अपने धार्मिक उत्सव-समारोह सम्पन्न नही कर सकती थी, उसे पूजा-आराधना की भी स्वतत्रता नही थी। हिन्दू मन्दिरो और मूर्तियो का खडन एक सामान्य वात थी। सिकदर लोदी स्वयं कठोर और क्रूरमना व्यक्ति था अत: हिन्दू जनता के प्रति उसके मन में किसी प्रकार का स्नेह या सद्‌भाव न था। फलत. राजनैतिक दृष्टि से उत्तर भारत की हिंदू जनता मे शाति, सतोष और सुख का अभाव निरन्तर वर्धमान था। तुगलक, सैयद, लोदी तया मुगल खानदान के अधिकाश शासको की नीति क्रूरता, धर्मांधता और पक्षपातपूर्ण थी। शेरशाह सूरी और फिरोज तुगलक ने अपने समय में इस नीति में अवश्य कुछ परिवर्तन किया था जिसका हिन्दू जनता पर स्वस्थ प्रभाव पडा। धार्मिक दृष्टि से तो ये भी उदार न थे किन्तु सामाजिक दृष्टि से जनकल्याण के कार्यो के प्रति रुचि होने से हिन्दू जनता भी इनके सार्वजनिक हित के कार्यो से लाभान्वित होती ही थी। शेरशाह सूरी से पहले वावर और हुमायूँ ने राजनैतिक दृष्टि से कोई ऐसा कार्य नही किया था जो हिन्दुओ में विश्वास, निर्भीकता और सद्‌भाव उत्पन्न करता अत:

इन दोनो मुगल शासको का राज्यकाल भी अधिक शान्ति और सन्तोष की सृष्टि न कर सका।[1]

यदि श्री हितहरिवंशजी के जीवनकाल पर ही दृष्टि रखकर तत्कालीन राजनैतिक चेतना का आकलन किया जाय तो अर्द्ध शताब्दी के इस अल्पकाल में आठ शासक दिल्ली की गद्दी पर बैठे और प्राय. सभी के शासनकाल में युद्ध और सघर्ष का क्रम सतत चलता रहा। युद्ध और सघर्ष का वातावरण धार्मिक अभ्युत्थान के लिये स्वभावत घातक होता है और ऐसे काल में उच्चकोटि का मनन-चिन्तन साधारणत सम्भव नही होता, किंतु आश्चर्य का विषय है कि मध्ययुगीन भक्ति-काव्य के उत्कर्ष पर पहुँचने का यही काल है। इस विपर्यय का कारण स्पष्ट रूप से यही है कि राजनीति के विपाक्त वातावरण से ऊब कर उस काल के साधुवृत्ति-मनस्वी चिन्तको ने बाह्य सघर्ष से मुख फेर कर भगवान् की आराधना में ही अपना कल्याण समझा। एक ओर देश के शासन की बागडोर एक हाथ से दूसरे हाथ में आ-जा रही थी तो दूसरी ओर सन्तो की वाणी से भगवान् की उपासना-आराधना के विभिन्न मार्ग और रूप निखार पा रहे थे। इस काल के महात्माओ ने राजनीति से प्राय दूर रहने में ही अपना हित समझा था अत उनके ग्रन्थो में राजनीति का वर्णन नही के बराबर है। श्री वल्लभाचार्य ने अपने 'कृष्णाश्रय' नामक ग्रन्थ मे मुसलमानो के आक्रमण का सकेत किया है। उन्होंने सम्पूर्ण देश को पीडित समझकर भगवान् कृष्ण की शरण जाने की प्रार्थना की है।[2] श्री हरिवंशजी ने तो अपने काव्य में राजनीतिपरक कोई अभिव्यक्ति किसी भी रूप में नही की है। हाँ, उनके समसामयिक तथा उनके सच्चे अनुयायी श्री सेवकजी ने मुस्लिम आतक और अत्याचार का आभास अपनी वाणी मे दिया है।[3] श्री व्यासजी और ध्रुवदासजी की वाणी में भी मुस्लिम शासको के अन्याय-अत्याचार का सकेत

---

1—History of Mediæval India—Dr Ishwari Prasad, Page 466-470

२. 'म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च।
सत्पीड़ाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥
गगादि तीर्थ वर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह।
तिरोहिताधि देवेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥

कृष्णाश्रय, षोडश ग्रन्थ, भट्ट रमानाथ शर्मा, श्लोक न० २, ३

'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय', डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ३० से उद्धृत।

३—उदवस विश्व भयो सब देस, धर्म रहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी वढे।
सब जन करहिं आधुनिक धर्म, वेद विहित जाने नहिं कर्म।
मर्म भक्ति को क्यो लहैं॥
धर्म रहित जानी सब दुनी, म्लेच्छ भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजो नहीं॥
—सेवक वाणी, श्री हितयश विलास प्रकरण, पद ४-५।

मिलता है ।[1] इन वर्णनो से स्पष्ट है कि राजनैतिक दृष्टि से यह काल उत्कर्ष और अभ्युत्थान का न होकर हिन्दू-संस्कृति और धर्म के लिये पतन तथा विनाश का काल था । ऐसी प्रतिकूल परिस्थिति मे भी तत्कालीन सन्तो ने अध्यात्म, धर्म और संस्कृति की ओर अग्रसर करने वाले भक्ति-पथ को नूतन आलोक से प्रशस्त किया यह भारतीय चिन्ताधारा की विशेषता ही समझनी चाहिये । प्रतिकूल परिस्थितियो में भी विचलित न होने वाले साधु-सन्त ही धर्म की रक्षा में समर्थ होते हैं यह इस तथ्य का ज्वलंत प्रमाण है । सम्राट् अकबर के शासन काल में मुस्लिम नीति में कुछ परिवर्तन हुआ था । किन्तु अकबर का शासन काल श्री हरिवंशजी के निधन के बाद प्रारम्भ होता है ।

सामाजिक परिस्थिति पर विचार करते समय हमारे सामने हिन्दू समाज की रीति-नीति तथा वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा का प्रश्न सबसे पहले आता है । पठान वंश के शासन काल मे जो अव्यवस्था और अराजकता देश मे फैल गई थी उसने हिंदू समाज की वर्णाश्रम व्यवस्था पर गहरा आघात किया । मुस्लिम शासको के बल-प्रयोग द्वारा बरबस धर्म परिवर्तन के लिये विवश किये गये हिंदुओ मे वर्णसंकरता आना स्वाभाविक था । एक ओर बल प्रयोग तथा प्रलोभन से हिंदू जनता अपना धर्म त्याग कर इस्लाम धर्म मे दीक्षित हो रही थी तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक कट्टरता भी बढती जा रही थी । साम्प्रदायिकता के कारण धर्मान्धता और हठधर्मिता का जोर था । रूढि-प्रियता और रूढि-त्याग दोनो भावो का उस काल में हिंदू समाज मे समान रूप से आन्दोलन उठ खडा हुआ था । समर्थ और मेधावी व्यक्ति अपने-अपने नवीन सम्प्रदायो का झण्डा लेकर इस युग में आगे आ रहे थे । कुछ वैरागी साधुओ ने गृहस्थ धर्म की निंदा करके उसके प्रति विद्रोह का स्वर ऊँचा किया हुआ था । गृहस्थ-धर्म की उपेक्षा से तत्कालीन हिन्दू समाज पर स्वस्थ प्रभाव नही पडा, प्रत्युत कुछ अकर्मण्य और निष्क्रिय जनसमुदाय साधु के रूप मे समाज पर छा गया । सामाजिक मर्यादाओ के पालन में भी शिथिलता आ गई थी जिसके फलस्वरूप चारित्रिक दुर्बलताएँ भी दृष्टिगत होने लगी थी । यदि सामाजिक दृष्टि से इस काल की परिस्थिति का पूरी तरह विवेचन किया जाय तो यही कहा जायगा कि यह काल सामाजिक मर्यादाओ की स्थापना का न होकर उन्मूलन का युग था जिसमें कुछ मनस्वी सन्तो ने अपनी उर्जस्वी वाणी द्वारा

---

१—धर्म दुर्यौ कलि दई दिखाई ।
कीनौ प्रकट प्रताप आपनौ, सब विपरीत चलाई ,
धन भयौ मीत, धर्म भयौ वैरी, पतितन सों हितवाई ।
जोगी, जपी, तपी, संन्यासी, व्रत छाड़ियौ अकुलाई ।
वर्णाश्रम की कौन चलावै, संतनि हू में आई ।
\+ \+ \+
उपदेसन को गुर गुंसाई, आचरनै अधमाई ।
व्यासदास के सुकृत सांकरे, श्री हरिवंश सहाई ।
व्यास वाणी— पद संख्या १२९

सामाजिक मान्यताओ की रक्षा का प्रयत्न किया। श्री हरिवशजी ने सामाजिक मर्यादाओ की स्थापना के लिए किसी परम्परा का समर्थन नही किया वरन् अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण से गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर बताते हुये गृहस्थाश्रम में ही भक्ति-पथ के अनुगमन का उपदेश दिया। वैराग्य के प्रति आपने किसी प्रकार की रुचि प्रदर्शित नही की। समाज की मर्यादा-स्थिति आप गृहस्थ धर्म के पालन करने में ही मानते रहे अत वाह्य वैराग्य और कठोर तपस्या के मार्ग से आपने जनता को हटाया। वैराग्यवाद के उस युग में गृहस्थ-धर्म का उपदेश सचमुच बडा साहसिक कार्य था किन्तु गोस्वामी हितहरिवशजी ने इस कार्य को वडी सफलता से निबाहा। यदि उस समय गृहस्थ-धर्म का विधिवत् उपदेश देकर जनता का पथ प्रदर्शन न किया जाता तो अकर्मण्यता, कुंठा और निष्क्रिय-भाग्यवादिता से देश और अधिक पतन की ओर चला जाता।

**साहित्यिक और धार्मिक** दृष्टि से श्री हरिवशजी का उद्भवकाल विशेष महत्व रखता है। उस काल में धार्मिक क्षेत्र में जो विचारधाराएँ प्रवर्तित हुई उनके लिये साहित्य को माध्यम बनाया गया और धर्म तथा साहित्य का सैद्धान्तिक धरातल पर ऐसा मणि-कांचन योग हुआ जैसा पहले कभी नही हुआ था। यों तो हमेशा ही धार्मिक भावनाओ की अभिव्यक्ति वाणी के माध्यम से होती रही है किन्तु इस काल में वाणी की सरसता उस कोटि तक पहुँची जिसे रससिद्ध साहित्य की सज्ञा प्राप्त होती है। धर्म और साहित्य दो पृथक् वस्तु न रहकर इतने अधिक समीप आ गये कि इनमें पार्थक्य या भेद-बुद्धि का आरोप सम्भव ही नही रहा। उत्तर भारत में उस समय रामानन्द और वल्लभाचार्य की धार्मिक विचारधारा और शिष्य-परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था। रामानद के उपदेशो का काव्यरूप रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास के द्वारा उपलब्ध हुआ था तो वल्लभाचार्य के सिद्धान्तो का अष्टछाप के कुछ कृष्ण-भक्त कवियो ने, काव्यात्मक विवेचन, प्रस्तुत किया था। श्री हरिवश के जन्म से लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व वल्लभाचार्य उत्पन्न हुये थे। कहते हैं सूरदास का जन्म भी उसी दिन हुआ था। अत वल्लभाचार्य और सूरदास की भक्ति-पद्धति ने कृष्ण-काव्य को नवीन रूप में प्रस्तुत करके श्री हरिवशजी के लिए अपने भक्ति-मार्ग के प्रवर्तन की प्रेरणा का स्रोत उन्मुक्त कर दिया था। बगाल में चैतन्य महाप्रभु का जन्म भी श्री हरिवशजी से लगभग बीस वर्ष पहले हुआ था और उनके प्रमुख शिष्य श्री रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी वृन्दावन में अपने भक्ति ग्रथों के प्रणयन के निमित्त श्री हरिवशजी से लगभग पद्रह वर्ष पूर्व आ चुके थे। इन गोस्वामियो की ग्रथ-रचना का आधार माधुर्य-भक्ति था जो अपने सैद्धान्तिक विवेचन में इतना परिपूर्ण, पुष्ट और सुन्दर था कि परवर्ती किसी भी लेखक ने अद्यावधि उससे अच्छा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नही किया। माधुर्य भक्ति को साहित्य शास्त्र की रसवादी परिपाटी से सयुक्त करके नवरसो का भक्ति में पर्यवसान इन गोस्वामियो की विलक्षण प्रतिभा का दिव्य वरदान ही समझना चाहिये। 'भक्ति रसामृत सिंधु' में भक्ति के विविध रूपो का जैसा सागोपाग विशद विवेचन हुआ है वैसा न तो पहले कभी हुआ था और न उसके वाद आज तक हुआ। कहना न होगा कि चैतन्य सम्प्रदाय के इन आचार्यो की विलक्षण प्रतिभा ने मध्ययुग में भक्ति का पुनरुत्थान करके उसे माधुर्य के क्षेत्र मे सर्वथा नवीन कलेवर प्रदान किया। श्री

नक मर्यादाओं
स्वतन्त्र दृष्टिकोण से
नुगमन का उपदेश
। समाज की मर्यादा
वैराग्य और कठोर
। गृहस्थ-धर्म का उप-
इस कार्य को बडी
ा देकर जनता का पथ
से देखा और अधिक

विशेष महत्व रखता
दे साहित्य को माध्यम
न्दावन योग हुआ जैसा
व्यक्ति वाणी के माध्यम
- पहुँची जिसे रससिद्ध
न रहकर इतने अधिक
ो रहा। उत्तर भारत
र शिष्य-परम्परा का
शाखा के प्रमुख कवि
। अष्टछाप के कुछ कृष्ण-
ण के जन्म से लगभग
। जन्म भी उसी दिन हुआ
णु-काव्य को नवीन रूप में
ो प्रेरणा का स्रोत उन्मुक्त
शजी से लगभग बीस वर्ष
नातन गोस्वामी वृन्दावन में
पद्रह वर्ष पूर्व आ चुके थे।
। अपने सैद्धान्तिक विवेचन
नक ने अद्यावधि उससे अच्छा
शास्त्र की रसवादी परिपाटी
... प्रतिभा का



हरिवंशजी जब वृन्दावन पधारे तब उन्हे अवश्य ही यह भाव-सामग्री उप
माधुर्य भक्ति के समझने-समझाने मे इन ग्रथो से उन्होंने अवश्य ही ला
हरिवशजी की भक्ति-भावना पर माधुर्य की गहरी छाप इस तथ्य का
नीलमणि' और 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु' के तात्विक विश्लेषण का
और राधा-कृष्ण के प्रणय-व्यापार के वर्णन में उनके अन्तर्मन पर इन
होगा। यह ठीक है कि उन्होने अपने स्वतत्र मार्ग की स्थापना में
स्थापित किये और चैतन्य या वल्लभाचार्य से अपना पार्थक्य रखा किन
सर्वथा परिहार नही कर सके थे। व्रजभाषा की साहित्यिक चेतना
कवियो से अवश्य उपलब्ध हुई होगी। उनकी मातृभाषा तो व्रज नही
व्रज में व्यतीत नही हुआ था, अतः व्रज आगमन के बाद उन्होने व्रजभा
और इसमें अद्‌भुत क्षमता प्राप्त कर चमत्कार कर दिखाया।

धार्मिक दृष्टि से श्री हरिवशजी ने निर्गुण और सगुण मार्ग
कर निर्गुण का सर्वथा त्याग और सगुण का प्रेममय रूप ग्रहण करने मे
का परिचय दिया है। सगुण मार्ग में राम और कृष्ण के जो रूप उ
थे उन पर अवतारवाद का गहरा प्रभाव था। श्री हरिवशजी ने अवत
आधार पर अपना सम्प्रदाय स्थापित नही किया और इसीलिए कृष्ण
महत्व भी साभिप्राय अधिक ठहराया। इन नूतन स्थापनाओ का विशेष
वर्णन हमने सिद्धान्त-प्रतिपादन वाले अध्याय मे विस्तार से किया है।

श्री हरिवशजी का काल साहित्यिक दृष्टि से इसलिए भी महत्व
मे व्रजभाषा के साहित्य को सौंदर्य के चरम उत्कर्ष पर पहुँचने का सुअव
और तुलसी के अतिरिक्त अष्टछाप के कवि तथा निम्बार्क और राधावल
कवियो की वाणी लोकभाषा (व्रज) के द्वारा भक्ति-क्षेत्र मे गूँजने लगी

इसी काल मे व्रजभूमि को नवजीवन प्राप्त हुआ था। श्री वह
मन के बाद व्रज में भक्ति का नवीन सूत्रपात समझना चाहिये। व्रजभूमि
के कारण मथुरा, वृन्दावन, गोवर्धन, गोकुल, नन्दगाँव और बरसाना आ
तो पुराणो मे वर्णित था ही किन्तु पन्द्रहवी शताब्दी से पहले के
णिक भौगोलिक विवरण उपलब्ध नही होता। यथार्थ मे ईसा की
व्रजमडल का भाग्योदय समझना चाहिये। इसी शताब्दी मे श्री वल्लभ
हुआ, इसी समय बगाली गोस्वामियो का पदार्पण हुआ और इसी श
श्री हरिवशजी वृन्दावन पधारे। व्रजमडल के प्रसिद्ध स्थान वृन्दावन का
होते हुये भी पुराण साहित्य के अतिरिक्त किसी अन्य प्राचीन ग्रंथ

विट्ठलनाथ की शिष्य-मडली में अष्टछाप के कवि, चैतन्य की शिष्य-मडली में बगाल के षड् गोस्वामी, हरिवशजी के शिष्य परिकर में व्यास और सेवकजी जैसे महात्मा, स्वामी हरिदासजी के शिष्यो में वीठलविपुल और विहारिनदास जैसे रसिक भक्त तथा निम्बार्क मतानुयायी श्री भट्टजी, हरिव्यास देवाचार्यजी आदि जैसे सतो ने व्रजमडल में निवास कर अपने को धन्य किया तथा व्रजभूमि का अपनी रससिद्ध वाणी मे वर्णन करके भक्तजनो के लिये उसे उपास्य बनाया । व्रजभूमि का जैसा वर्णन इस शताब्दी के भक्त महानुभावो ने अपने ग्रथो में किया है उसे पढकर यही विदित होता है कि भक्त की भावना श्रद्धा की जिस उच्च भूमि पर अवस्थित होकर भौतिक स्थल को दिव्य बना सकती है, वैसा इन भक्तो ने यथार्थ में कर दिखाया है । भौतिक वृन्दावन दिव्य वृन्दावन बन गया और भावना चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर पार्थिव एव अपार्थिव के भेद को विस्मृत कर बैठी । श्री प्रबोधानद सरस्वती ने इसी समय 'वृन्दावन शतक' लिखकर इस भूमि का ऐसा महत्व स्थापित किया कि वह भक्त, कवि, श्रद्धालु, रसिक सभी के लिये दिव्य उपास्य भाव का अग माना जाने लगा । नित्य विहार में भी इसी वृन्दावन को स्थान प्राप्त हुआ । यह सब इस युग की महिमा का ही प्रभाव समझना चाहिये । सक्षेप में, राजनैतिक सघर्ष, सामाजिक अपकर्ष, धार्मिक विमर्श और साहित्यिक उत्कर्ष के सक्राति काल मे श्री हरिवशजी का जन्म हुआ ।

## श्री हरिवंशजी की वंश-परम्परा और पूर्वज

वर्त्तमान उत्तर प्रदेश के सहारनपुर जिले के देववन्द (प्राचीन देववन) नामक कस्बे में यजुर्वेदीय माध्यदिनी शाखावर्त्ती कश्यप श्रोत्रिय एक सम्भ्रात गौड ब्राह्मण परिवार चिर-काल से निवास करता था । इस परिवार में श्री व्यास मिश्र नाम के महानुभाव का धन-धान्य एव वैभव-सम्पन्न होने का वर्णन तथा तत्कालीन राज-दरबार में सम्मानपूर्ण पदो पर प्रतिष्ठित होने का उल्लेख परवर्त्ती साम्प्रदायिक वाणी-ग्रथों में प्रचुर परिमाण में उप-लब्ध होता है, किंतु कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता जिसे इस परिवार की वश-परम्परा तथा ख्याति का प्रामाणिक आधार माना जाय । देववन्द में व्यास मिश्र के वश-धरो के पास जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार भी कोई प्रामाणिक वशावली उपस्थित नही की जा सकती । अत गुणानुवाद-परक भक्त अनुयायियो की वाणी को ही वश-परम्परा की जानकारी के लिये प्रमाण स्वरूप स्वीकार किया जाता है । यदि इस परिवार के व्यक्ति किसी ऐसे उच्च पद पर आसीन होते जो राजनैतिक महत्व की दृष्टि से उल्लेख्य होता तो तत्कालीन किसी इतिहास ग्रथ में, किसी न किसी महानुभाव का वर्णन होता, किन्तु ऐसा कोई उल्लेख हमारे देखने में नही आया । 'श्री हरिवशजी ने ही यथार्थ मे इस कुल को विख्यात किया है । इस सम्प्रदाय में वशावली के रूप मे प्रसिद्ध दो-तीन विभिन्न प्रकार की वशा-वलियाँ हमारे देखने में आई हैं । 'श्री हित चरित्र' लेखक गोपालप्रसाद शर्मा, रैसलपुर ने अपनी पुस्तक में जो वशावली दी है उसे हम यहा अविकल रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं किंतु

प्राचीन वाणियो की परम्परा से इसमें बहुत भेद है।[1] हमने श्री अतिवल्लभजी रचित 'श्री मंत्रध्यान हित पद्धति भाषा' नामक वाणी ग्रथ में प्रस्तुत वश-परपरा को प्राचीनतम होने के कारण अपेक्षाकृत प्रामाणिक माना है और उसी को वशावली के रूप में स्वीकार किया है। यह वशावली 'आदि पुरुप श्री नित्य विहारी राधावल्लभ जी' से प्रारंभ होकर श्री हित-हरिवशजी तक की अविच्छिन्न परपरा का सपूर्ण विवरण देती है। ऐतिहासिक आधार न होने पर भी साम्प्रदायिक निष्ठा के कारण इसका महत्व है अत इसे भी हम यहाँ वाणी-ग्रन्थ की उपलब्ध हस्तलिखित प्रति से पूर्वापर का सबन्ध निर्णय करके, संपूर्ण उद्धरण सहित दे रहे हैं।[2] श्री गोपालप्रसाद शर्मा ने श्री केसोदास को श्री हरिवंशजी का पिता लिखा है जो किसी भी वाणी में स्वीकृत नही हुआ। इसी प्रकार और भी कई व्यतिक्रम उसमें हैं। श्री वलदेव उपाध्याय लिखित 'भागवत सम्प्रदाय' ग्रन्थ में जो वंश-परंपरा दी गई है उसके आधार का उल्लेख विद्वान् लेखक ने नही किया है किंतु हमने उसे अतिवल्लभजी की वाणी की परम्परा से मिलाया तो समान पाया। अतः इसका आधार भी वही ठहरता है

---

१ देखिए—परिशिष्ट, सं० १

२—वश-परम्परा का प्रमाण "श्री अतिवल्लभजी की वाणी श्री मत्रध्यानहित पद्धतिभाषा"

अवतारी अंसन को असी, रस माधुर्य वलित प्रसंसी।
नव किशोर नागर वशीवर, वेद रिचनको दियो धर्मवर।
तब उपासना परकट भई, श्रीनारायण विधि को दई।
श्रीधाता नारद स्यों कहो, श्री नारद व्यास प्रति सही।
श्री व्यास श्री शुकदेव प्रति, श्री शुक प्रकट करी सन्तन हित।
श्री शुक के कश्यप ऋषि शिष्य, धरम अनन्य दियो लखि मुख्य।
और गुरु भ्राता बहुज्ञाता, गौड़पाद आदिक विख्याता॥

दोहा—काश्यप नाम ऋषी भये, कश्यप की सन्तान।
योग धारणा करि तिनहि, वहु दिन राखे प्रान।
हरि आराधन अति कियो, तप बल मन को जीति।
व्याह करौ आज्ञा भई, संतति हितनिज रीति।
ऋषि वोले, प्रभु विषयते, मन न रहेगो हाथ।
भक्ति जायगी छूटिकै हों प्रभुनाथनि नाथ॥

चौपाई—तव श्री हरि की आज्ञा भई, तुव कुल भक्ति अचल हम दई।
तिनके अचलेश्वर रिषि भये, अचल भक्ति करि ते निरभये।
राधाकृष्ण उपासन जिनके, जुगल मंत्र जप साधन जिनके।
अच्युतेश्वर तिन सुत जानो, तिनके श्रीधर-श्रीधर मानो।
तिनके हलधर अति बढ़ ज्ञाता, पाणिधर तिनके विख्याता।
गगाधर रिषि गंगाधर सम, विजय भट्ट मारग वेदागम।

जो हमारा है। वश-परपरा का निर्णय करने के लिये इसी वाणी को सम्प्रदाय में भी प्रामाणिक माना जाता है। एक वशावली अहमदाबाद में भी बताई जाती है परन्तु हमें उपलब्ध नही हुई।

श्री अतिवल्लभजी की वाणी के अतिरिक्त श्री उत्तमदासजी की वाणी तथा श्री हितहरिवशजी के समसामयिक भक्त कवि हरिराम व्यास, सेवकजी तथा चतुर्भुजदासजी आदि के पदो में भी हरिवशजी के पिताजी का नामोल्लेख हुआ है। श्री भगवत मुदित गौडीय तथा परवर्ती अनेक वैष्णव भक्तो ने हरिवशजी के पिता व्यास मिश्र का सकेत दिया है। व्यास मिश्र के वैभव आदि के वर्णन को यदि काल्पनिक भी माना जाय तो इतना तो निश्चित ही है कि वे जिस परिवार में उत्पन्न हुए थे वह अपनी वशानुगत विद्वत्ता, श्री-सम्पन्नता आदि के कारण समाज में समादृत था। श्री व्यास मिश्र का नाम केशवदास और हरिराम शुक्ल भी कही-कही लिखा मिलता है।[1] ये दोनो नाम भ्रमवश लिखे गये हैं। प्रारम्भ में इस भूल के प्रवर्त्तक श्री हित-चरित्र लेखक श्री गोपालप्रसाद शर्मा और मिश्रबन्धुगण हैं।[2] आश्चर्य है कि श्री गोपालप्रसाद शर्मा ने पुस्तक के इतिवृत्त में तो व्यास मिश्र नाम लिखा है किन्तु वशावली में 'केसोदास' माना है।

श्री उत्तमदासजी ने अपनी वाणी में विस्तारपूर्वक व्यास मिश्र की श्री सम्पन्नता और वैभव का वर्णन करते हुए लिखा है कि एक बार किसी पातशाह ने (?) व्यास मिश्र की ज्योतिष

---

भट्ट कुलाजित् तिनके पुत्र, जिनके विद्याधर सुपवित्र।
तिनके जालप मित्र गरिष्ठ, सेवे राधावल्लभ इष्ट।
समय जानकै राज अरु भोग, अर्पण करत सकल प्रभु जोग।
सेवा में अति ही मन दीनौ, भाव भावना में तन कीनौ।
तिनकै मिश्र प्रभाकर अति बढ़, मिश्र उमाकर उच्चरित बहु जड़।
जीवद मिश्र भये जग पावन, तिनकै हिमकर तपत नसावन।
तिनकै सुतनव, नव जोगेश्वर, तिनमति व्यास व्यास अखिलेश्वर।
तिनकै सुत भये श्री हरि आप, वंस रचहि जस मति अमित प्रताप॥

—श्री अतिवल्लभजी कृत वाणी से उद्धृ

वाणी—रचनाकाल सम्वत् १७८० के लगभग। लिपिकाल—सम्वत् १८९४।
( आसाढ़ वदी एक सोमवासरे लिपिकृत हरिदासेन श्री वृन्दावन धामे श्री जमुना तटे। )

१. 'श्री हित चरित्र' गोपालप्रसाद शर्मा कृत वशावली ( सलग्न परिशिष्ट स० २ )
२. 'इनके पिता का उपनाम हरिराम शुक्ल तथा माता का नाम तारावती था।
'मिश्रबन्धु विनोद' प्रथम भाग—प्रथम सस्करण, पृष्ठ २८४।'
'इनके पिता का उपनाम हरिराम तथा माता का नाम तारावती था।'
'मिश्रबन्धु विनोद' प्रथम भाग—चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ २४०।

शास्त्र विषयक प्रतिभा की ख्याति सुनकर सादर उन्हे अपने दरवार मे निमन्त्रित किया। व्यास मिश्र चार नारियल लेकर राजा से भेंट करने गये। चार नारियल चार विद्याओ के प्रतीक थे। राजा से व्यास मिश्र का वार्तालाप हुआ और राजा उनकी विद्वता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने उन्हे अपने दरवार मे 'चार हजारी मनसवदार' की निधि प्रदान की।[1] कुछ काल तक सम्मानपूर्वक राजदरवार मे रहने के वाद श्री व्यास मिश्र पुन देववन्द वापस लौट आए। राधावल्लभ भक्तमाल मे भी इस प्रसग का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।[2] 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजस एण्ड एथिक्स' मे भी ग्रियर्सन ने व्यास मिश्र का सम्राट् के यहाँ उच्च पदाधिकारी होने का सकेत किया है। किन्तु ग्रियर्सन अथवा

---

१. देववन नगर प्रसिद्ध विराजै, व्यास मिश्र द्विज कुल मधि राजै।
गौड़ सुविद्यावान शुभ ज्ञाति, यजुर्वेद तिनकौ विख्यात।
माध्यंदिनी प्रखर है शाखा, कश्यप गौत्र सुनो सभिलाषा।
पंडित गुन अपार न प्रमाण, हय, गय सम्पत्ति नृपति समान।
देश-देश मधि सुयश अपारौ, पृथ्वीपति लौं जाय प्रकासौ।
वहु आदर सों वोलि पठाये, नृप को मिलन मिश्रजी आये।
मिलै नारियल लैकै चारि, एक-एक गुन प्रतिज्ञु विचारि।
ज्योतिष आगम वैदिक वेद, सुस्मृति पुरानन हूँ के भेद।
तव नरिन्द पूछी सव वात, अचरज गुननि जानि हरखात।
तव सव गुननि परीक्षा लीनी, चार हजारी की निधि दीनी।
वड़ी समृद्धि भई इन ठौरी, पातशाह संग रहै निशि भोरी।
वहुरि विदाह्वै के घर आए, गज तुरंग वहु सम्पत्ति लाये।'
(श्री उत्तमदासजी कृत रसिकमाल हस्तलिखित प्रति के श्री हरिवंश चरित-प्रकरण से उद्धृत।)

टिप्पणी—इतिहास के आधार पर यह काल लोदी वंश के शासन का है। वहलोल लोदी और सिकन्दर लोदी का राज्यकाल सन् १४५१ से १५१७ ई० तक है। इसी समय व्यास मिश्र जीवित थे, सम्भव हो सकता है कि सहारनपुर से कभी दिल्ली गये हो और उन्हे यह सम्मान मिला हो, किन्तु ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में यह सर्वथा असंदिग्ध तथ्य नहीं माना जा सकता।

२. 'श्री हित राधावल्लभ भक्तमाल में श्री हरिवंश चरित्र में यह घटना इस प्रकार लिखी है
'एक समय कीर्तिचन्द्र के नाती विजयवहादुर जो कि हुमायूँ वादशाह के दरवार में एक प्रतिष्ठित पुरुष गिने जाते थे और शूरवीरों में भी अग्रगण्य थे जिन्होने विजनौर नगर अपने नाम से वसाया और राजधानी कायम की जो कि इसी सहारनपुर जिले (?) में है। उसने श्री व्यासजी की कीर्ति सुन वुला वड़े सम्मान से राखे और स्वधर्म विषय का उपदेश व गुरुदीक्षा ली उसके सम्मान में द्रव्य, घोड़ा, रथ, पालकी इत्यादि स्वरूपानुकूल प्राप्त हुई। और उसने अपनी समस्त सभा के मुखिया सभासद किये

श्री उत्तमदास ने यह नही लिखा कि वह कौनसा राजा था जिसके दरबार में व्यास मिश्र को यह सम्मान मिला था।[१] 'नाभाजी के भक्तमाल वाले छप्पय की रूपकला-टीका मे भी इस बात का वर्णन है।[२] श्री चाचा वृन्दावनदास ने भी अपनी बधाइयो में व्यास मिश्र के पाडित्य तथा विपुल वैभव का वर्णन किया है। उनकी धर्मपरायणता के कारण 'ऋपिराज' शब्द से उनका स्मरण इस बात का द्योतक है कि व्यास मिश्र उस समय अपनी वैभव-सम्पन्नता के कारण राजा के समान तथा धर्मशीलता के कारण ऋषि के समान समाज में समादृत थे। धन-धान्यादि सम्पन्न होने पर भी व्यास मिश्र को पुत्र का अभाव था। पुत्र के अभाव मे व्यासजी तथा उनकी पत्नी श्रीमती तारारानी मन ही मन खिन्न रहते थे। उनके मनस्ताप को देखकर एक दिन उनके अग्रज श्री नृसिंहाश्रमजी (पूर्व नाम—केशवदास मिश्र) ने भविष्यवाणी द्वारा यह सूचित किया कि निकट भविष्य में उन्हे पुत्र प्राप्ति का योग है और इसी वर्ष उनके घर में वशोद्धारक पुत्र उत्पन्न होगा। व्यास मिश्र इस भविष्यवाणी को सुनते ही अपने भाग्योदय पर प्रमुदित हो पत्नी सहित ब्रज-यात्रा का निश्चय कर, वसत पचमी के

---

क्योकि व्यासजी राजनीति के पूर्ण ज्ञाता थे और इन्हें पाँच हजार की मनसबदारी व जागीर दी। जब ये वहाँ रहने लगे तब उसने अपने राजकाज का भार इनकी बुद्धि पर छोड आप बादशाह के दरबार में सदा उपस्थित रहने लगा। इन्हीं कीर्तिचन्द्र ने शेरशाह को परास्त कर हुमायूँ को फिर दिल्ली के तख्त पर बैठाया, तब से बादशाह इनको बहुत मानता था।'

—( श्री हित राधावल्लभ भक्तमाल—पृष्ठ २३, लेखक प० हित प्रियादास शुक्ल )

1—Hari Vansh was born in A D 1902 His father being at that time a high official in the service of the Emperor

—Encyclopaedia of Religion & Ethics—Edited J. Hestings VOL X, Page 559

२ नाभाजी के भक्तमाल के छप्पय की टीका में वार्तिक तिलक में रूपकलाजी ने भी 'आपके पिता बादशाह के नौकर, भारी अधकारी थे' ऐसा लिखा है।

देखिए—भक्तमाल—पृष्ठ ६००, वार्तिक तिलक।

३. देववन नगर देवबन जु थानै, व्यास मिश्र तहं अति गुन बानै।
ज्योतिष वेद पुरान बखानै, वैभव विपुल विदित जग जानै।
धर्मशील रिखराज कहावै, हरि, हरिभक्त सदा मन भावै।

( श्री चाचा वृन्दावनदास की बधाई—पृष्ठ ८७ )

( बाबा केलिदास कृत लिपि वाली हस्तलिखित वाणी से उद्धृत—लिपिकाल सम्वत् १८५० )

शुभ दिन, बधु-बाधव, नौकर-चाकर, रथ-गज आदि साधन सहित घर से निकल पड़े।[1] व्रज-यात्रा की उत्कट-स्पृहा उनके मन मे किसी दिव्य प्रेरणा से हुई थी अत. इस यात्रा के लिए उनके मन में एक प्रकार का अलौकिक उत्साह था। गर्भवती ताररानी को भी यात्रा-जन्य कष्ट का लेशमात्र भी अनुभव नही हुआ और वह भी आनन्दपूर्ण उमग के साथ व्रजयात्रा के लिए साथ चल पडी। व्रजभूमि की यात्रा करते हुए जब वे मथुरा के निकटवर्ती 'वाद ग्राम' में पहुँचे, उस समय ताररानी आसन्न-प्रसवा थी अत' आगे की यात्रा का कार्यक्रम स्थगित कर वही पडाव डालना निश्चित हुआ। कुछ समय बाद इसी ग्राम-भूमि मे ताररानी के गर्भ से निरतिशय रूप सौंदर्ययुक्त बालक का जन्म हुआ।[2] बालक का नाम हरिवंश रखा गया।'

## जन्मस्थान

बाद ग्राम जिसका कि उल्लेख श्री हितहरिवंश के जन्मस्थान के प्रसग मे ऊपर की पंक्तियो मे हुआ है आज भी मथुरा से चार मील दक्षिण-पूर्व मे स्थित है। प्राचीनकाल मे यह दूरी सात-आठ मील की अवश्य रही होगी, सम्प्रति मथुरा छावनी के विस्तार से यह चार मील दूर है। वर्तमान समय में ग्राम की शोभा में कोई उल्लेखनीय दृश्य नही है किन्तु व्यास मिश्र के ठहरने के स्थल की शोभा अवश्य ही नयनाभिराम है। वृक्ष-लता-गुल्मादि परिवेष्टित ऊचे स्थल पर जो मन्दिर स्थापित है वह आज भी किसी दिव्य विभूति की जन्मस्थली का सकेत देता हुआ-सा प्रतीत होता है। राधावल्लभीय भक्तो ने इस स्थल पर एक मन्दिर बनवा दिया है जहाँ आज भी साधु-भक्त श्रीजी की पूजा-सेवा करते हैं। मन्दिर के अतिरिक्त दो-एक कुटिया भी यहाँ बन गई हैं। इस स्थल की कभी अभिराम शोभा रही होगी यह केवल वाणियो मे वर्णित काव्य से ही नही वरन् स्थान की स्थिति से भी प्रतीत होता है। जिस प्रेम सरोवर का वर्णन है उसका अवशेष आज भी वहाँ है। वट वृक्ष की स्थिति का भी अनुमान दृश्यो के

---

१. पृथ्वीपति के संग मुनि रहत व्यासजी नित्य।
कुटुम सहित व्रजभूमि को, देखत हरषत चित्त ॥ ५३ ॥
श्री जमुना तट गोकुल सोहै, इत रावल सबको मन भी है ॥ ५४ ॥
उत श्रीवाद अवनि पर राजै, सरवर प्रेम सकूप विराजै।
वट प्रकाश की सुन्दरताई, इक रसना करि वरनि न जाई ॥ ५५ ॥
( श्री उत्तमदासजी की हस्तलिखित वाणी से उद्धृत )

२. रितु वसन्त शुभ आगम आयौ, तब प्रभु वानिक रुचिर बनायो।
व्रज धरु दरस हेत जब चाह्यौ, तब विप्रराज मन विपुल उमाह्यो।
रथ पुनि वहलि सकट गज बाजै, अनुग सहित पुर सकल समाजै।
चले भुअ देव कुटुम्ब ले संगा, व्रज दरसन अभिलाष उमंगा ॥
( चाचा वृन्दावनदास लिखित बधाई, पृष्ठ ८७ )
( बाबा केलिदास लिखित प्रति से उद्धृत )

आधार पर किया जा सकता है।[1] ब्रजभूमि की व्यापक शोभा में यह स्थान गोकुल और मथुरा के निकट होने के कारण बहुत ही महत्वपूर्ण है। यह केवल आकस्मिक घटना ही नही थी कि व्यास-दम्पति इस स्थान पर आये और ठहर गये वरन् स्थान की शोभा और आन्तरिक प्रेरणा का भी इसमें बडा हाथ रहा होगा। ब्रजभूमि मे जन्म लेने का माहात्म्य निश्चय ही इन लोगो की अन्तश्चेतना में विद्यमान था अत इस स्थल को प्रसव के लिए चुना। श्री हरिवश के पिता-पितामह सहारनपुर के निवासी थे। ब्रजभूमि से उनका कोई सम्बन्ध न था किन्तु व्यास मिश्र किसी दिव्य प्रेरणा से यहाँ आये और एक दिव्य पुत्र प्राप्त करके वापस गये। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से इस आकस्मिक घटना का विशेष महत्व है और श्री हरिवशजी के परवर्ती जीवन पर इसका व्यापक प्रभाव लक्षित होता है। आश्चर्य का विषय है बाद ग्राम में जन्म लेने की घटना के पोषक असख्य प्रमाण होने पर भी मिश्र-बन्धुओ ने हरिवशजी का जन्म देववन्द ही लिखा है। कदाचित् उन्होने ब्रजभूमि के जन्म को विशेष महत्वपूर्ण बात नही समझा अत पूर्वजो के वासस्थान को ही इनका भी जन्मस्थान लिख दिया है। श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रज माधुरी सार' ग्रथ में इस त्रुटि की ओर सकेत किया है और इसका स्पष्टीकरण करते हुए बाद गाव को ही इनकी जन्मभूमि ठहराया है।[2]

## जन्म सम्वत्

ब्रजमडल के इसी बाद ग्राम में श्रीहरिवशजी का जन्म विक्रम सम्वत् १५५९ में वैशाख शुक्ला एकादशी, सोमवार को प्रात सूर्योदयकाल मे हुआ।[3] आपके जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध में प्राचीन वाणियों में अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है, किन्तु बीच में कुछ

---

१—मथुरा मडल भूमि आपनी। जहाँ बाद प्रकटै जगधनी॥
मनी अवनि वर आप मुख। शुभवासर शुभ ऋक विचार॥
माधव-मास ग्यास उजियार। नारिने मगल गाइये॥
—श्री हितजसविलास प्रकरण "श्री सेवक वाणी," पद न० ६

२—"यही नहीं, हितहरिवशजी के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी भारी भूल की गई है। बाद ग्राम को, जहाँ प्रतिवर्ष गोसाईजी की जयन्ती मनाई जाती है, जन्मस्थान न मानकर देववन्द ( देववन ) को न जाने किस आधार पर जन्मभूमि मान लिया है। गोसाईजी के पिता देववन्द में रहते अवश्य थे, वहाँ इनका जन्म नहीं हुआ था। बाद गांव मथुरा से ४ मील दक्षिण है।"—ब्रज माधुरी सार (वियोगी हरि), पृष्ठ ६४।

३—प्रकटं श्री हरिवस दिनेस, द्विजेस श्री व्यास मिश्र गृह।
सेस, महेस, सुरेस, सारदा, नारद यक्ष रस भावन।
वलि-वलि पन्दरह सौ सवत्सर, रितु बसन्त माधव मास।
ग्यास उजियारी सुप्रसन्न श्री राधावल्लभ जू ''।
आपही सरूप धरि प्रीति प्रतीति रसरीत ह्वावन॥ "वाणी श्री मधुरानन्द" पृष्ठ ३।

विद्वानो ने सम्वत् १५३० को इनका जन्म सम्वत् ठहराने का प्रयत्न किया।[1] सम्प्रदायानुवर्ती सज्जनो में भी इस सम्वत् के समर्थक पैदा हुए और फलत जन्म सम्वत् विवाद का प्रश्न बन गया। 'मिश्रबन्धु-विनोद'[2] के प्रथम सस्करण मे श्री हितहरिवशजी के सबन्ध में जो कुछ लिखा गया वह सर्वथा प्रामाणिक न होने पर भी जन्म-सवत् की दृष्टि से अवश्य ठीक था। किंतु बाद के संस्करणो में जहाँ अन्य त्रुटियो का परिहार किया गया वहाँ जन्म-सम्वत् को बदलकर अशुद्ध कर दिया गया।[3] इस परिवर्तन का मुख्य कारण राधावल्लभीय लेखक गोपालप्रसाद शर्मा लिखित 'श्री हित चरित्र' पुस्तक है जिसमें जन्म सम्वत् १५३० ठहराया गया था।[4] स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे तथा श्री वियोगी हरि ने 'व्रज माधुरी सार' में सवत् १५५९ को ही प्रामाणिक माना है।[5] इस

---

१—शुभ पन्द्रह सौ तीस, वैसाखी सुदिग्यास को।
प्रकटे रसिकन धीस, बाद ग्राम सुहावने ॥
—श्री हितायन, पृष्ठ १७, ले० हित ललित शरण। द्रष्टव्य—'श्री राधावल्लभ-भक्तमाल'—पृष्ठ २९, ले० हितप्रियादास शुक्ल।

२—"हरिवशजी का जन्म मिती वैशाख वदी ११ सम्वत् १५५९ का था। इनके रुक्मिणी नाम्नी स्त्री से दो पुत्र और एक कन्या हुई। फिर ये महाशय वृन्दावन पहुँचे और वहाँ कार्तिक शुक्ला तेरस सम्वत् १५८२ को इन्होंने श्री राधारमणजी की मूर्ति स्थापित की।
—मिश्रबन्धु विनोद, प्र० भा०, प्रथम संस्करण—पृष्ठ २८४।

३—'हरिवंशजी का जन्म मिती बैशाख वदी ११ संवत् १५३० का था। इनके रुक्मिणी नाम्नी स्त्री से तीन पुत्र और एक कन्या हुई। फिर ये महाशय वृन्दावन पहुँचे और वहाँ कार्तिक शुक्ला तेरस संवत् १५६४ को इन्होंने श्री राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित की। —मिश्रबधु विनोद—प्र० भा०, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ २४०।

४—श्री गोपालप्रसाद शर्मा रसूलपुर लिखित 'श्री हित चरित्र' (सम्वत् १९७६ में गोस्वामी ब्रदर्स कलकत्ता से प्रकाशित), पृष्ठ ५-६।

५—"राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक गोसाईं हितहरिवंशजी का जन्म सवत् १५५९ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बाद गाँव में हुआ। राधावल्लभी सम्प्रदाय के पंडित गोपाल प्रसाद शर्मा ने जन्म सम्वत् १५३० माना है जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नही जान पड़ता।'
—हिंदी साहित्य का इतिहास, ले० रामचंद्र शुक्ल, पृष्ठ २०२।

'इनका जन्म सम्वत् किसी के मत से १५५९ और किसी के मत से १५३० है। + + सम्वत् १५३० को जन्म सम्वत् मानने से आपके गोलोकवास का संवत् अनुमानत १६१० होता है। ‡ ‡ ‡। इससे तो श्री हितजी का लीला-संवरण संवत् १६५० के लगभग आना चाहिये और जन्म संवत् भी इस हिसाब से १५३० का नहीं बैठता।'
—ब्रज माधुरी सार (वियोगी हरि), पृष्ठ ६२-६४।

विषय में हम प्राचीन वाणी-ग्रथो को ही प्रमाण मानकर अपने पक्ष की स्थापना करना अधिक युक्तिसगत समझते हैं। श्री वियोगी हरि ने 'ब्रज माधुरी सार' में सम्वत् १५३० के विरोध में जो युक्ति प्रस्तुत की है उसी को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है और सम्वत् १५५६ को ही प्रामाणिक जन्म-सम्वत् ठहराया है। साम्प्रदायिक वाणियो में सर्व श्री अतिवल्लभजी, जयकृष्णजी, उत्तमदासजी आदि की प्रामाणिकता में किसी को सदेह नही है और इन सभी वाणियो में सम्वत् १५५६ का ही उल्लेख है।[1] इन वाणियो के पुष्ट प्रमाणो के अतिरिक्त गणित ज्योतिष के आधार पर गणना करने से यही निर्णय होता है कि बैशाख सुदी एकादशी—सोमवार, पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत् में ही है, पन्द्रह सौ तीस में शनिवार आता है, सोमवार नही। राधावल्लभीय मन्दिरो में 'हितोत्सव' सम्बन्धी जो बधाइयाँ गाई जाती हैं उनमें भी इन्ही तिथियो का सकेत है।[2] प्रमाण, युक्ति और तर्क के आधार पर जन्म सम्वत् का निर्णय करते समय समसामयिक तथा परवर्त्ती महात्माओ और भक्तो के काल से भी श्री हरिवशजी के काल की तुलना-समता अनिवार्य हो जाती है। श्री हरिराम व्यास तथा स्वामी हरिदास के जन्मकाल का निर्णय भी हमे हरिवशजी के सवत् १५५६ के प्राकट्य का सकेत देता है।

श्री हितहरिवशजी के जन्म सम्वत् के सम्बन्ध में श्री भगवत मुदित लिखित रसिक-माल का उल्लेख हमने कई स्थलो पर पढा है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के आर्यभाषा

---

१—पन्द्रह सौ उनसठ सम्वत् को, माधव मास ग्यास जग हित को।
प्रकट भये श्री हित हरिवश, परिकर जुत असन के अंस॥
(श्री अतिवल्लभजी की वाणी—पृ० ६४-६५)

—सवत् समय सहज ह्वै आई। पन्द्रह सै उनसठ सुखदाई।
रितु बसन्त पुजई अभिलाख, परम प्रतीति मास बैशाख॥
सुकुल पक्ष की ग्यास सुहाई, चन्द्रवार कल कीरति गाई॥
(श्रीजयकृष्णजी की वाणी—पद स० ५-६)

—पद्रह से उनसठ सवत्सर, वैसाखी सुदि ग्यास सोमवर।
तहाँ प्रकट हरिवस हित, रसिक मुकट महिलाल॥ ५४॥
कर्म ज्ञान खडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥ ५५॥
देखनि व्यास निज पुत्र को, बाढौ परमानन्द।
कर्‍यो महा मगल जहाँ, भर्‍यौ प्रेम सुख कन्द॥ ५६॥

‡ ‡ ‡

सवत पद्रह सौ अधिक, उनसठ कौ बैसाख।
सुदि एकादसि प्रकटहित, पुजई रस अभिलाख॥
(उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' से)

२—सलग्न—गणित ज्योतिष पत्रक—देखिये, परिशिष्ट स०—३

पुस्तकालय मे रसिकमाल की दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक सभा के पुस्तकालय की निजी प्रति है जिसका लिपिकाल सवत् १८३७ है।[1] दूसरी प्रति श्री मयाशंकर याज्ञिक के सग्रह की है। इसका लिपिकाल १८१७ सवत् है।[2] इन दोनो प्रतियो में 'हितचरित्र' लिखा मिलता है। सभा की अपनी प्रति मे पृष्ठ २ से ३३ तक हितचरित्र है। इस चरित्र में जन्म सम्वत् का दो स्थलो पर उल्लेख है। पृष्ठ ४ पर जन्म सम्वत् इस प्रकार लिखा है—

"पन्द्रह सै उनसठि संवतसर, वैसाखी सुदि ग्यास सोमवर।
तहाँ प्रगटे हरिवंस हित, रसिक मुकुट मनिमाल।
कर्म, ज्ञान, खंडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल।।"

उपर्युक्त उल्लेख को जो वडे स्पष्ट अक्षरो मे है किसी महानुभाव ने हलकी-सी हरताल और काली स्याही लगाकर मिटाने का प्रयत्न किया है और उसके स्थान पर १५३० सवत् वनाने की चेष्टा की है। 'सै उनसठि' शब्द को काटकर 'तीस सवत्सर' ऐसा वनाना चाहा है, जो प्रयत्न करने पर भी वना नही है। इतना ही नही, हस्तलिखित प्रति के ऊपर के हाशिए मे हाथ से यह लिखकर मनस्तुष्टि की है—'श्री हित जी को प्रादुर्भाव को सवत् १५३० पन्द्रह सै तीस है। यामे प्रमाण आचार्य पुत्र कृष्णदास जी को श्लोक—'वियदगुणेषु शुभ्राशु साके सवत्सरे शुभे इति।' इतनी विकृति और परिवृत्ति करने के वाद भी जो उनका अभिप्राय था वह पूर्ण नही हो सका। कदाचित् हस्तलिखित प्रति को भ्रष्ट करने वाले सज्जन ने पोथी के अगले पन्ने नही पलटे। इसी वाणी के २९ वें पृष्ठ पर पुन श्री हितहरिवशजी के जन्म सवत् का उल्लेख इस प्रकार है :—

'श्री जी कौ जनमोत्सव वरनन।
दोहा—संवत् पन्द्रह सै अधिक उनसठि कौ वैसाख।
सुदि एकादसि प्रकट हित पुजई रस अभिलाख।[3]

उपर्युक्त वर्णन पर दृष्टि न जाने से इसमें कोई परिवर्त्तन नही किया गया फलत. पहला परिवर्तन भी व्यर्थ ही रहा।

---

१. 'इति श्री रसिक माल भगवत मुदित कृत समाप्त, सम्पूर्णम्। अनन्य पुस्तकलिखितं। श्री वृन्दावन धामे। श्री जमुना तटे संवत् १८३७ मिती चैत्र सुदी २, मंगलवार। श्री हस्ताक्षर प्रियादास पठनार्थ नवनीतलाल। श्री · ।।"
(हस्तलेख) काशीनागरी प्रचारिणी सभा, पुस्तकालय की प्रति से उद्धृत।

२. 'संवत् १८१७ वर्षे मासानां आश्विनमासेषु मल्लसपक्षे पुनस्तिथौ द्वितीयायास्यगुवासे लिख्यतेति इदं स्वामी वालकदास समीपे श्री गुरु प्रसाद डूंगरसी लिख्यते।"
श्री मयाशंकर याज्ञिक की प्रति से उद्धत (सभा पुस्तकालय में सुरक्षित)।

३. श्री भगवत मुदित कृत रसिकमाल के हितचरित्र प्रकरण से उद्धृत।
(हस्तलेख काशीनागरी प्रचारिणी सभा, पुस्तकालय।)

श्री मयाशकर याज्ञिक की प्रति में भी हितचरित्र वर्णित है। उसमें श्री हरिवश जी की वन्दना के बाद जन्मस्थान, जन्म सवत् आदि का स्पष्ट रूप से वर्णन है। जन्म-सवत् के प्रकरण में लिखते हैं—

"पन्द्रह सै उनसठि सम्वतसर, वैसाखी सुदि ग्यास सोमवर।
तहाँ प्रगटे हरिवस हित, रसिक मुकुट मनिमाल।
कर्म, ज्ञान, खडन करन, प्रेम भक्ति प्रतिपाल॥"

इस प्रति में किसी प्रकार की विकृति नही हुई है। यदि इन दोनो प्रतियो की प्रामाणिकता को स्वीकार किया जाय तो १५५९ सवत् को ही जन्म-सवत् मानना होगा। हाँ, एक प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि भगवत मुदित कृत रसिकमाल मे हितहरिवश चरित्र सम्मिलित है भी या नही। श्री उत्तमदासकृत रसिक अनन्यमाल वाले चरित्र से इसमे अन्तर न होने से अधिकाश विद्वान् इसे उत्तमदास रचित मानते आ रहे हैं। किन्तु किसी प्रमाण से यह सिद्ध नही हुआ कि कौन इसका यथार्थ लेखक है। कुछ भी हो इस प्रकरण में तो हमें प्राचीन साक्ष्य की प्राप्ति के आधार पर १५५९ को ही जन्म सवत् मानना होगा।

## शैशव में अलौकिक चमत्कार

ब्रज-मडल में छह मास तक निवास करने के उपरान्त श्री व्यास मिश्र अपनी पत्नी और नवजात शिशु सहित देववन वापस गये। ब्रजयात्रा के समय श्री हरिवशजी अबोध शिशु

---

टिप्पणी—

श्री हरिवश जी के जन्म सम्वत् को १५३० ठहराने का एक बाह्य कारण हमें अपनी छानबीन से यह विदित हुआ कि कतिपय बगाली पत्र-पत्रिकाओ में श्री हितहरिवश रचित ग्रन्थों को दूसरे महानुभावो द्वारा लिखित सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया था। वृन्दावन के एक चैतन्य सम्प्रदायानुयायी गोस्वामी ने 'हित चौरासी' के तीन-चार पदों को सूरदास लिखित बताया, यद्यपि उनका सूरदास की अभिव्यजना शैली, भाषा तथा विषयवस्तु से साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। इस चेष्टा से विचलित होकर राधावल्लभीय लेखकों की ओर से यह प्रयत्न हुआ कि हितहरिवशजी को सूरदास से पहले उत्पन्न होना सिद्ध किया जाय। सूरदास तथा वल्लभाचार्य से पहले सिद्ध करने की भावना के कारण ही कदाचित् जन्म सम्वत् को १५५९ के स्थान पर १३५० लिखा गया। इस तथ्य की पुष्टि में हमें कई सज्जनो ने मौखिक रूप से उस समय की विचारधारा तथा साम्प्रदायिक खींचा-तानी का वर्णन सुनाया है।"

श्री गोपालप्रसाद लिखित 'भ्रमोच्छेदन' पुस्तिका में इस विषय का विस्तार-पूर्वक वर्णन है किन्तु उन्होंने १५३० सम्वत् को स्वीकार किये जाने का यह कारण नहीं माना, वे तो १५३० सम्वत् को प्रामाणिक मानते थे।

द्रष्टव्य 'भ्रमोच्छेदन'—पृष्ठ १२-१५।

ही थे किन्तु ऐसी किम्वदन्ती है कि उसी अल्पायु मे आपके श्रीमुख से सस्कृत भाषा में श्री राधासुधानिधि का प्रादुर्भाव हुआ। कहते हैं श्री नृसिंहाश्रम जी उस समय उपस्थित थे और उन्हीने इस ग्रथ का लेखन-कार्य सम्पादित किया। इस चमत्कार पूर्ण घटना का उल्लेख बाद के सभी महात्माओ ने भी बडी श्रद्धाभक्ति के साथ किया है। हम देखते हैं कि ससार के सभी धर्म-प्रवर्त्तको के सम्बन्ध मे ऐसी विलक्षण और अद्भुत घटनाए श्रद्धालुजनो द्वारा वर्णित की जाती हैं। उसी भावना और शैली से यह किम्वदन्ती भी अनुश्रुति-परम्परा से इस सम्प्रदाय में प्रवर्त्तित चली आ रही है। मीठा भाई कृत अष्टक मे इस चमत्कार का सविस्तर वर्णन उपलब्ध होता है।[1]

बाद गाव से विदा होकर व्यास-दम्पति सकुशल देववन पहुँचे। पुत्रोत्पत्ति के बाद व्यास मिश्र के जीवन में परिवर्तन हुआ और वे सासारिक वैभव से विमुख होकर भगवद्-भक्ति और सेवा-पूजा मे ही लीन रहने लगे। सेवा-पूजा के बाद यदि कभी उनका मन कही अनुरक्त होता तो पुत्र की बाल-क्रीडाओ मे ही होता। पुत्र की बाल-सुलभ चपलता से उनके मन में वात्सल्य की एक ऐसी प्रमोदमयी उमग उठती कि वे सब कुछ भूलकर उसी शिशु मे ईश्वर की दिव्य शक्ति की छटा निहारने लगते। बालक हरिवंश जी की क्रीडाओ में भगवद्-भक्ति के सिवा और कोई खेल न होता था—वे सदा अपने बाल-सखाओ को एकत्र कर राधा-माधव की लीलाओ को ही क्रीडा के बहाने प्रकट करते। कहते हैं बालक ज्ञानू और छबीलदास उनके शैशव के अनन्य सखा थे जिन्हे उन्होने बचपन मे ही 'वृन्दाविपिन विहार' का व्यक्त दर्शन कराया था। चाचा वृन्दावनदास ने 'श्री हितहरिवंश सहस्रनाम' में हरिवंशजी के शैशव का सुन्दर वर्णन करते हुए उनके बाल-सखाओ का भी उल्लेख किया है।[2]

---

१. राधा रस सुधा निधि षण मास में बखान्यौ।
बीठल सुजान्यौ सान्यौ हियो सुख सार है।
ज्ञानू और छबीलदास आस करि आये पास,
दियो दरसाय वृन्दाविपिन विहार है।
व्यास महल आंगन में अलिबेलि भांति डोलैं,
डोलैं सग माधुरी की उझल अपार है।
अध्रि कज मजु पुंज रसन अमन्द सार,
हित मकरन्द मिष्ट दृष्टि को अधार है॥
(मीठा भाई कृत अष्टक के बधाई छन्द—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

२. पांच वर्ष के भये जबहि श्री व्यास दुलारे।
तब उपवन चलि जाय खेल नाना विस्तारे।
पिता बाग मधि कूप तहां श्री विग्रह जान्यौ।
धाइ परै जल कूद आपुसौं भुज भरि आन्यौ।
प्रभु श्री रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी।
रीझि लडैती कुंवरि आपनी पद्धति ओपी॥ १०७ से ११२ तक।
—चाचा वृन्दावनदास कृत 'श्री हित हरिवंश सहस्रनाम' पृष्ठ ११ (प्रकाशित)।

चमत्कारपूर्ण घटनाओ मे तीसरी उल्लेखनीय घटना है श्री रगीलालजी का प्राकट्य। कहा जाता है कि पाच वर्ष की अल्पायु में ही अपने मन की पवित्रता और दिव्य शक्ति के प्रभाव के कारण आपको अलौकिक ज्ञान-चक्षु प्राप्त हो गये थे। इन ज्ञान-चक्षुओ के वल से आपको जगत् के वाह्य एव आभ्यतर रहस्यो का स्वत ही उद्घाटन होने लगा था। उसी समय एक रात्रि को स्वप्नदशा में आपको श्रीप्रिया जी की ओर से प्रेरणा हुई कि 'देववन के घर के निकट वाग में एक कूप में श्री रगीलालजी का विग्रह विराजमान है, उसे प्रकट करके जगत् के समक्ष प्रस्तुत करो।' फलत बालक हरिवश ने उस कूप से श्री रगीलालजी के विग्रह को बाहर निकाला। इसी विग्रह को इन्होने अपने घर के मन्दिर में श्रद्धापूर्वक प्रतिष्ठित किया जो अद्यावधि वही स्थापित और पूजित है। यह घटना श्रद्धालुजनो के मन में हरिवश जी की दिव्य शक्ति की क्षमता का सकेत देती है। किन्तु आज के वुद्धिवादी, वैज्ञानिक और तर्क परायण युग में यह केवल काल्पनिक चमत्कार मात्र ही समझी जायगी।[1]

चौथी एक और चमत्कारपूर्ण बात इनके गुरुमत्र प्राप्ति के विषय मे प्रसिद्ध है। कहते हैं इसी छोटी अवस्था में इन्हे अपनी इष्टदेवी राधा से 'निज मत्र' (साम्प्रदायिक द्वादशाक्षर दीक्षा मत्र) की प्राप्ति हुई। इनके अन्तरमन मे श्री राधा ने प्रेरणा की कि घर के बाहर पीपल के वृक्ष के अरुण वर्ण के पत्ते पर एक मत्र अकित है, तुम उस मत्र को अपना गुरुमत्र या दीक्षामत्र मानो और वृक्ष पर चढकर उसे ग्रहण करो। इस प्रेरणा द्वारा उत्प्रेरित हो वे पीपल के वृक्ष पर चढे और वहा से इन मत्र को दीक्षामत्र के रूप में स्वीकार किया। इसी प्रकार की और भी अनेक किम्वदन्तियाँ इनके विषय मे प्रसिद्ध है किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक आधार न होने से हम सभी चमत्कारो का वर्णन अनावश्यक समझते है।[2]

---

१. मिस्र वाग में कूप निहारो, तामें द्विभुज स्वरूप हमारो।
सुन्दर श्याम बासुरी लिए, मम गादी सेवहु मन दिये॥
(रसिकमाल, उत्तमदास कृत—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)।

२. एक दिवस सोवत सुख लह्यौ, श्री राधे सुपने में कह्यौ।
द्वार तिहारे पीपर जो है, ऊची डार सबन में सो है।
तामें अरुन पत्र इक न्यारो, जामें जुगल मत्र है मारो।
लेहु मत्र तुम करहु प्रकास, रसिक जनन की पुजिवहु आस॥
(रसिकमाल, उत्तमदास जी कृत)।

द्रष्टव्य—श्री हरिवश सहस्रनाम—चाचा वृन्दावनदास कृत—(प्रकाशित) पृष्ठ ६-१०-११।

टिप्पणी—अलौकिक चमत्कार वर्णन करने वाली अनेक किम्वदन्तियां सम्प्रदाय के वाणी-ग्रथो में भरी पडी हैं। हमने केवल तीन-चार का ही यहा सक्षेप में उल्लेख किया है। यद्यपि इनके पीछे भावना और श्रद्धा का महान् वल है किन्तु इनको तर्क और प्रमाण की कसौटी पर खरा सिद्ध करना हमारे लिए सम्भव नहीं अत हम विस्तार से सभी घटनाओ का वर्णन अनावश्यक समझते हैं। ये चारों घटनाए हमने इस कारण लिखी हैं कि इनका सम्वन्ध श्री हितहरिवशजी के आगे के जीवन से है और इनके

## इष्टदेवी और गुरु

श्री हरिवशजी के गुरु रूप में श्री राधाजी को ही स्वीकार किया जाता है। उपर्युक्त चमत्कारपूर्ण घटना में भी पीपल के पत्ते पर अकित दीक्षा-मत्र का संकेत उन्हे श्री राधा से ही मिला था। साम्प्रदायिक सभी ग्रथो और प्राचीन वाणियो मे श्री राधा का ही नाम इस प्रसग मे लिखा मिलता है। श्री नागरीदास ने अपने 'अष्टक' मे श्री राधा को ही हरिवशजी का गुरु बताया है।[1] श्री जतनलाल जी ने अपने 'रसिक अनन्य सार' में गुरु-प्रसग वर्णन में राधा का नाम लिखा है।[2] श्री चाचा वृन्दावनदासजी ने 'श्री हितहरिवश सहस्रनाम' में लिखा है कि श्री राधा ने प्रसन्न होकर इन्हे माहिली (अतरग) बनाया और अपनी दीक्षा दी।[3] इसके अतिरिक्त सेवकजी, ध्रुवदासजी तथा व्यासजी ने भी राधा को ही हरिवशजी का गुरु माना है। यदि कोई अन्य व्यक्ति गुरु होता तो उसका उल्लेख कही न कही अवश्य होता।

श्री हितहरिवशजी ने अपने ग्रथो में गुरु-स्तुति के प्रसग में किसी गुरु का न तो स्तवन किया है और न किसी प्रकार से राधा के अतिरिक्त किसी और का नाम ही लिया है। प्रत्येक ग्रथ के प्रारम्भ में अपनी आराध्या इष्टदेवी के रूप में श्री राधा की ही वन्दना की है। श्री राधासुधानिधि नामक ग्रथ में उन्होने लिखा है कि रसिक वर्ग किसी परम्पराभुक्त रूढियो की शृ खला में न बधकर स्वतत्र रूप से रसलीन रहते हे। कोई-कोई विरला ही गुरु-कृपा से ऐसा सच्चा रसिक हो सकता है। 'गुरु-कृपा' में जिस गुरु की ओर सकेत है वह

---

पीछे उनके दिव्य चरित्र की झांकी मिलती है। विस्तार के लिए देखिये श्री गोपालप्रसाद शर्मा लिखित श्री हितचरित्र तथा राधावल्लभ भक्तमाल।

१. रसिक श्री हरिवश सर्वश श्री राधिका।
राधिका सर्वशं हरिवंश वंशी॥
हरिवंश गुरु, शिष्य हरिवश प्रेमावली, हरिवंश धन धर्म, राधा प्रशंसी॥
(नागरीदास कृत अष्टक, पृष्ठ ११७)

श्री व्यासनन्दन व्यासनन्दन व्यासनन्दन गाइये।
जिनको हित नाम लेत दम्पति हित पाइये।
तिनको पियनाम सहित मंत्र दियो श्री राधे।
सत् चित् आनन्द रूप निगम आगम साधे॥
(गो० रूपलालजी की वाणी—सम्वत् १७३८–१८०१)

२. कृपा करि श्री राधा प्रकट होय दर्शन दियो।
अपने हित को जानिकै हित सो मत्र सुनाय दियौ॥
(रसिक अनन्य सार, जतनलाल कृत—हस्तलिखित)

३. मंत्र राज रसनिकर, माहिली सम्पति दीनी।
कर वर भाल विशाल कृपा अति विनमित कीनी॥
—चाचा वृन्दावनदास कृत, श्री हरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित) पद ११४।

'श्री राधा' ही है अन्य कोई नही । राधा को गुरु मानने की बात इसलिए भी समझ में आती है कि श्री हरिवश ने सभी प्रकार की रूढि एव अन्ध परम्पराओ को व्यर्थ कह कर अपने सम्प्रदाय की नीव रखी थी । विधि-निषेध के भँवर-जाल में न फँसकर उन्होने एक ऐसे गुरु की शरण पकडी थी जो इस ससार से ऊपर था । कोई भी सासारिक गुरु उन्हें विधि-निषेध के चक्र से बाहर निकल कर न जाने देता ।[1]

श्री नाभाजी कृत भक्तमाल मे हरिवश चरित्र प्रस्तुत करने वाला जो छप्पय उपलब्ध होता है वह भी इस सम्बन्ध मे मौन है । नाभाजी ने प्राय सभी चरित्रो में गुरु-परम्परा का सकेत दिया है किन्तु हरिवशजी के किसी सासारिक गुरु का नाम जगत्-विदित न था अत नाभाजी ने भी गुरु का सकेत नही दिया । भक्तमाल के टीकाकार श्री प्रियादास (गौडीय) ने भी इस सम्बन्ध में कोई टीका-टिप्पणी नही की । गौडीय सम्प्रदाय के कोई आचार्य इनके गुरु होते तो उनकी प्रसिद्धि अपने सम्प्रदाय में तो अवश्य होती और प्रियादास जी अपनी जानकारी के आधार पर इस विषय में अवश्य कुछ प्रकाश डालते ।[2] श्री भगवत् मुदित (गौडीय) ने अपने 'रसिक अनन्य माल' में श्री हरिवश चरित्र लिखा है किन्तु उसमें भी गुरु का नामोल्लेख नही किया । गुरु का उल्लेख गोपनीय न होकर जगत्-प्रसिद्ध होता है । कोई भी शिष्य अपने गुरु का नाम छिपाता नही । प्रत्येक शुभ कार्य में गुरु का स्मरण करना धर्म

---

१ लिखन्तु भुजमूलतो न खलु शंखचक्रादिक
विचित्र हरिमन्दिर न रचयन्तिभालस्थले,
लसत्तुलसिमालिका दधति कंठ पीठेन वा
गुरोर्भजन विक्रमात् क इह ते महाबुद्धय ।।

—राधासुधानिधि, श्लोक स० ८१ ।

२ राधाचरण प्रधान हृदै अति सुदृढ़ उपासी ।
कुंज केलि दम्पति तहां की करत खवासी ।।

नाभाजी कृत छप्पय न० १२४, भक्तमाल, पृष्ठ ५९८ ।
टीका कवित्त—३८७

राधिका वल्लभलाल आज्ञा सो रसाल दई
सेवा में प्रकास औ विलास कुंज धाम को ।

(प्रियादास) भक्तमाल ३६९ ।

वार्तिक तिलक—

"श्री राधिका वल्लभलाल ने रसाल आज्ञा दी जिससे सेवा की रीति का और कुन्ज तथा धाम के विलास का प्रकाश हुआ । सोई सुखसार का विस्तार पूर्वक श्रीकृपा से आंखो से दर्शन पाया और रसिकों को बताया, इन भाग्यभाजनों ने श्री प्रियाजी की प्रधानता मान ली और आपका पक्ष लिया ।"

—रूपकला टीका—'भक्तमाल', पृष्ठ ६०१ ।

है। प्राचीन परिपाटी के अनुसार ग्रंथ प्रणयन करते समय तो सबसे पहले ही गुरु-स्तवन आवश्यक समझा जाता है।[1]

श्री हरिवंश जी के जीवनवृत्त के आभ्यन्तर पक्ष से सम्बन्ध रखने वाले उनके दो निजी पत्र उपलब्ध हुए हैं। ये पत्र उन्होंने अपने शिष्य बीठलदास के नाम लिखे थे। दूसरे पत्र मे वे बीठलदास को सम्प्रदाय के विषय में समझाते हुए अविश्वास से दूर रहने का आदेश देते हैं। सम्प्रदाय की बात कहने से पूर्व वे सम्प्रदाय के गुरु का संकेत देते हुए श्री राधा का ही नाम लेते है। अर्थात् हमारे सम्प्रदाय में श्री राधा ही गुरु है और वही आराध्या हैं।[2]

संक्षेप में, कहने का तात्पर्य यही है कि श्री हितहरिवंशजी ने किसी महात्मा, साधु या आचार्य से दीक्षा न लेकर स्वप्न मे श्री राधा को ही अपना दीक्षा-गुरु बनाया था और स्वप्न-दशा में ही गुरु मन्त्र भी जाना था। अत किसी अन्य सम्प्रदाय के आचार्य को उनका गुरु नही कहा जा सकता। साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि उस युग में गुरु का सम्मान, पद और मर्यादा इतनी ऊँची थी कि किसी रूप में गुरु की अवहेलना या उपेक्षा सम्भव नही थी। अत किसी भी स्थान पर किसी भी रूप मे गुरु का नाम न आना इस बात का प्रबल पोषक है कि श्री राधा के अतिरिक्त उनका अन्य कोई दीक्षा-गुरु नही था।

गुरु-विषयक इतने प्रमाणो के उपस्थित होते हुए भी कुछ विद्वानो ने श्रीगोपाल भट्ट (गौडीय) को आपका दीक्षा-गुरु कहा है।[3] ऐसा विदित होता है कि गोपाल भट्ट जी की साम्प्रदायिक भावना, धार्मिक निष्ठा, भक्ति-पद्धति, व्रजभूमि आगमन काल, जीवनकाल, आदि धार्मिक एव ऐतिहासिक पहलुओ पर बिना विचार किये ही यह सब निराधार लिख दिया है। साम्प्रदायिक विद्वेष और ईर्ष्या भावना का भी इसमें योग अवश्य है। इस प्रवाद के प्रचार का

---

१. टिप्पणी—भगवत मुदित कृत रसिक माल की जो प्रति वृन्दावन में प्राप्त है उसमें श्री हरिवश जी का चरित्र नहीं है किन्तु मयाशंकर याज्ञिक के पुस्तकालय की हस्तलिखित प्रति में चरित्र है। वह उत्तमदास लिखित चरित्र से शब्दश. साम्य रखता है।

२ "जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसी ही सत्य है तो व्रज नव तरुणि कदम्ब चूणामणि श्री राधे तिहारे स्थापे गुरु मार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी को होत हैं। ताते यह मर्यादा राखनी।"

—श्री हित हरिवंश जी द्वारा बीठलदास को लिखित पत्र का अंश।

३ 'जगते स्थापित हय परम पवित्र।
श्रीमन् गोपाल भट्टजीर शिष्यते हो॥"

—लालदास कृत भक्तमाल (बंगला) बीसवीं माला।

—"श्री हरिवंश राधारमन सेवा न पाइला तो श्री राधावल्लभ मूर्ति प्रकाश करीला।"
"श्री भक्तमाल ग्रंथ (बंगला) पृष्ठ ३१६—लालदास बाबाजी विरचित।
प्रकाशक—श्री शरच्चन्द्र चक्रवर्ती, कालिकायन्त्रे, कलकत्ता।

मूल स्रोत स्वय इतना अप्रामाणिक और मिथ्या है कि उसे स्वीकार नही किया जा सकता। 'श्री भक्तमाल ग्रन्थ' ( बगला ) में, जिसके लेखक श्री लालदास बाबाजी हैं, सर्वप्रथम यह बात लिखी गई। इस ग्रथ में हरिवश चरित्र लिखते हुए केवल एक घटना का ही उल्लेख किया गया है। जन्मस्थान, जाति, वश, शिक्षा, योग्यता आदि का कोई सकेत न देकर एक साथ ही लिखा है कि—'एक दिन हरिवशजी ने एकादशी के दिन पान खा लिया, तिस पर श्री गोपाल भट्ट जी क्रुद्ध हो गये और उन्हे जाति बहिष्कृत कर दिया। बहिष्कृत होने पर हरिवश जी ने अपना स्वतत्र नया सम्प्रदाय प्रवर्तित किया।[1] श्री हरिवश चरित लिखने वाले और किसी महानुभाव ने इस घटना का या इसी प्रकार की किसी अन्य घटना का उल्लेख तो क्या सकेत भी नही किया। जिस ढग से यह घटना इस बगला भक्तमाल में वर्णित है उस पर कोई भी बुद्धिवादी व्यक्ति कदापि विश्वास नही कर सकता। जाति बहिष्कृत होने की बात तो वैसे भी सर्वथा मिथ्या है। गोपाल भट्ट तो तैलग ब्राह्मण थे, उनकी जाति का तो कोई सम्बन्ध ही न था। फिर जाति बहिष्कृत होने की बात कैसे उठती है। आज भी वृन्दावन के राधा-वल्लभीय गोस्वामियो और गौडीय गोस्वामियो मे विवाह सम्बन्ध तथा भोजन आदि का सबध स्थापित है। साम्प्रदायिक मतभेद होने पर भी ब्राह्मण तथा वैष्णव के नाते दोनो एक हैं। इस प्रसग में इतना उल्लेख करना यहाँ और आवश्यक है कि अधुनातम शोध ग्रथो में इस बंगला भक्तमाल ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर सन्देह ही नही प्रकट किया गया वरन् इसे अप्रामाणिक, जाली और झूठा बताया गया है। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक लिखा है कि मैंने विगत बीस वर्षो में ग्रथ के तीन सस्करण देखे हैं और प्रत्येक सस्करण मे सर्वथा अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन होता जा रहा है। कही लेखक के रूप में लालदास बाबा जी का नाम है कही कृष्णदास, और कही वह भी लुप्त है।[2]

---

१. श्री मधुसूदन अधिकारी अपनी श्री राधासुधानिधि ( प्रथम सस्करण ) द्वितीय खड की भूमिका में लिखते हैं :

"एक समय श्री गोपाल भट्ट गोस्वामी महोदय स्वीय प्रिय शिष्य हितहरिवश के शास्त्र सदाचार अतिक्रम करार निमित परित्याग करने इहार विस्तारित विवरण 'भक्तमाल' ग्रन्थे वर्णित आछे। याहाहऊक भट्ट गोस्वीर एइ शासने समग्र गौड़ीय वैष्णवगण ताहार सहित सस्रव त्याग करेगा किन्तु सरस्वती महाशय भट्ट गोस्वामीर शासने सम्वत्ना हायोयाय वैष्णव मडली ताहर सहितो सम्बन्ध छिन्न करिना एइकारंणे एहि सकल अमूल्य ग्रन्थराजि गौडीयां वैष्णव सम्प्रदाये तादृश प्रचारित ओ समादृत हइते पारेनाया।' —मधूसूदन अधिकारी—(बगाब्द १३२० में प्रकाशित)

२ "एइ सव उक्ति पढ़िया मने हय ग्रन्थ खानि खूब प्रामान्य। किन्तु ये मन नन्देर आलय कृष्ण दिन दिन वाडिन तेमनि वैष्णव देर आलय 'प्रेमविलास' दिन दिन बाढिलेन।"

—चैतन्य चरितेरुपादान—लेखक विमान विहारी मजूमदार
कलकत्ता यूनिर्वसिटी १९३९, पृष्ठ ५०७।

श्री गोपाल भट्ट के गुरु होने की कल्पना पर यदि साम्प्रदायिक मन्तव्यो एव सिद्धान्तो की दृष्टि से विचार किया जाय तब भी यह सर्वथा असगत और असमीचीन ठहरती है। श्री हरिवशजी के मतानुसार इष्ट एव आराध्या देवी राधा है किन्तु श्री गोपाल भट्टजी के मत में व्रजेश तनय श्रीकृष्ण की प्रधानता है।[1] गौडीय मत मे राधा को परकीया स्वीकार किया जाता है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा की स्थिति परकीया न होकर स्वकीया है अथवा इन दोनो भावो से परे है।[2] श्री हरिवशजी के मत मे गोपीभाव की प्रधानता न होकर सहचरीभाव की प्रधानता है। शृगार मे नित्य सयोग की स्थिति है, विप्रलम्भ शृगार तो राधावल्लभ सम्प्रदाय में क्षण भर को भी स्वीकार नही किया जाता। नित्य विहार मे विश्वास और अटूट आस्था रखने वाले श्री हरिवशजी क्या कभी विप्रलम्भ शृङ्गार-भावना के उपासक भट्टजी के शिष्य होना स्वीकार कर सकते थे? वाह्याचार, पूजासेवाविधि, एकादशीव्रत आदि वैष्णवीय साधना मे भी पर्याप्त अन्तर है।[3] गौडीय सम्प्रदाय की कट्टरता को राधावल्लभ सम्प्रदाय मे स्थान नही है। केवल साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण इस प्रकार के तर्क, प्रमाणशून्य प्रवाद प्रचारित होते रहते है। अनुसधान की आच मे तपने पर ही इनकी कलई खुलती है और यथार्थ तथ्य प्रकाश मे आता है।

श्री गोपाल भट्ट को गुरु सिद्ध करने का जो प्रयत्न 'वगला भक्तमाल' मे हुआ उसकी असलियत को जानने के लिए उक्त भक्तमाल की भूमिका पठनीय है। श्री गोपाल प्रसाद शर्मा ने अपनी भ्रमोच्छेद नामक पुस्तक मे इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। 'सम्पादकेर निवेदन' में श्री दुर्गादास लाहिडी अपनी भूल को स्वीकार करते हुए लिखते हैं कि—'भक्त माल ग्रथ के पृष्ठ २४३ पर श्री हितहरिवशजी गोस्वामी महोदय को श्री गोपाल भट्ट जी का शिष्य लिखा गया है और लिखा है कि इन्होंने एकादशी के दिन पान खाने का

---

१. 'आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता।'

( माध्व सिद्धान्त )

'अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञान कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।' ( चैतन्य सिद्धान्त )

—रूपगोस्वामी रचित 'भक्ति रसामृत सिन्धु' १—१—११

२. रागेणोल्लंघयन्धर्मं परकीयावलार्थिना।
तदीयप्रेमवसतिर्वुधैरुपपतिः स्मृतः।
अत्रैव परमोत्कर्ष. शृङ्गारस्य प्रतिष्ठितः।

—उज्ज्वल नीलमणि—पृष्ठ १२-१५

३. राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधिकाजी का विग्रह न ... 'गद्दीसेवा' है किन्तु माध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदाय के मन्दिर में श्रीकृष्ण के ... ओर राधा और दूसरी ओर चन्द्रावली की प्रतिमा भी रहती है।

अपराध किया। यह सब भ्रममूलक सिद्धान्त है। उक्त गोस्वामी महोदय श्रीमन् गोपाल भट्ट जी के शिष्य नही थे। ताम्बूल भक्षण के अपराध का भी कोई प्रमाण नही है।[1]

वृन्दावन में भी यही प्रवाद फैला। श्री गोस्वामी राधाचरण जी ने अपने ग्रन्थ 'श्री चैतन्य चरित सार' में गोपाल भट्ट जी को हितहरिवशजी का शिष्य लिख दिया था। राधावल्लभियो की ओर से आपत्ति उठाने पर उन्होने अपनी त्रुटि मान कर क्षमा-याचना कर ली। इस घटना का भी पूरा विवरण गोपाल प्रसाद शर्मा ने अपनी की भ्रमोच्छेद पुस्तक में लिखा है।

"सबसे पहले इस झगडे की जड नवीनता की भूमि मे परलोकवासी गोस्वामी श्री राधाचरण जी ने स्थापित की थी। आपने 'श्री चैतन्य चरित सार' ग्रन्थ में विना किसी आधार के यह लिख दिया कि 'श्री हरिवश जी श्री गोपाल भट्ट जी के शिष्य थे।' किन्तु जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई तो राधावल्लभियो को यह मिथ्या कथन सहन नही हुआ। उन्होने प्रमाण के साथ आदोलन आरम्भ किया। गोस्वामी जी पक्षपात रहित व्यक्ति थे। जब अपने अनुमानी लेख का उन्होने बुरा परिणाम देखा तो ता० ५ अक्तूबर सन् १८८८ को ५) रु० दण्ड देकर सब-इन्स्पेक्टर लाला परशादीलाल साहब पुलिस स्टेशन वृन्दावन के सामने माफी माग ली और पचो में यह स्पष्ट कह दिया कि मैंने जो कुछ भी श्री हरिवश जी के विषय में लिखा था वह निराधार और मिथ्या है। इस बात के छपे हुए विज्ञापन सर्वत्र बाटे गये थे।"[2]

प० गोपालप्रसाद शर्मा ने अपनी 'भ्रमोच्छेद' पुस्तक में इन तथ्यो का वर्णन करके यह सिद्ध कर दिया कि आज से सत्तर वर्ष पूर्व विद्वज्जन अपनी भूल स्वीकार करने में सकोच नही करते थे। यदि किसी साम्प्रदायिक प्रवृत्ति के कारण कोई भूल हो भी जाय तो सत्य के उद्घाटन के लिए उसे मानकर अपनी विशाल-हृदयता का परिचय देते थे। श्री राधाचरण गोस्वामी जी के जिस नोटिस का वर्णन ऊपर हुआ है वह अभी तक राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियो के पास सुरक्षित है। आज की साम्प्रदायिक स्थिति अपेक्षाकृत अधिक दुराग्रहपूर्ण

---

१. "श्री भक्तमाल ग्रन्थेर २४३ पृष्ठाय तहा सन्निविष्ट आछे। इहांते श्रीमन् श्री हित हरि-वश जी गोस्वामी महोदय के श्री गोपाल भट्टजीर शिष्य बलिया कथित हई माछे एव एकादशी तिथिते तांबूल भक्षण हेतु तहा के अपराधी करा हई आछे। किन्तु इहा सम्पूर्ण भ्रममूलक सिद्धांत। उक्त गोस्वामी जी महोदय श्रीमन् गोपाल भट्टजीर शिष्य नहेन। नाह्निनिये एकादशी दिने ताबूल भक्षणे अपराधी हयाच्छिलेन, तहार किचछमात्र प्रमाण फिर आगे इके आगे नाभाजी का मूल और प्रियादास जी की टीका एक पृष्ठ में देकर हस्तलिखित पूथी है। १७६१ सम्वत् प्राय १९४ वर्ष पूर्व रचित एव १७८२ सम्वत्सेर पाठ उद्धृत हइल।"

—प० गोपालप्रसाद श[illegible] लिखित 'भ्रमोच्छेद', पृष्ठ ४७-४८ से उद्धृत।

२ पं० गोपालप्रसाद शर्मा लिखित 'भ्रमोच्[illegible] पृष्ठ ४६ से उद्धृत।

और हठधर्मिता पर आरूढ होती जा रही है। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी अपने को दूसरो का गुरु सिद्ध करने के मिथ्या प्रयत्न में लीन देखे जाते हैं। पारस्परिक मैत्री, सौहार्द और सद्भाव से एक साथ रहने वाले साधु-संतो को एक-दूसरे का गुरु-शिष्य सिद्ध करने का आग्रह इतना प्रवल हो गया है कि यदि इसे शोध द्वारा दूर न किया जाय तो यह निर्णय करना कठिन होगा कि कौन किस सम्प्रदाय का शिष्य या गुरु था।

## उपनयन संस्कार, विद्याध्ययन और विवाह

आठ वर्ष की आयु में आपका उपनयन सस्कार हुआ। इस आयु मे आपकी बुद्धि सामान्य वालको से कही अधिक तीव्र और धारणाशक्ति चमत्कारी थी। आपने अपने स्नेह और सौजन्य से शैशव मे ही अपने चारो ओर अच्छा-खासा सखा-मडल स्थापित कर लिया था। इन वाल-सखाओ के साथ आपकी क्रीडाएँ असाधारण होती थी। प्राय भगवद्भक्ति के आश्रित ही कोई न कोई खेल आप खेलते थे।[1] ठाकुर जी की सेवा-पूजा करने की ओर भी आपकी नैसर्गिक रुचि थी और आपने महाप्रसाद का माहात्म्य शैशव में ही अपने वाल-सखाओ के समक्ष वर्णन किया था। एकादशी व्रत के प्रति आपका विलक्षण भाव इसी आयु में व्यक्त हो गया था। शनै-शनै अपनी अनन्य भावना और सेवा-पूजा के कारण आपकी ख्याति समीपवर्त्ती प्रदेश में हुई और आपके पास रसपिपासुओ का आगमन होना प्रारम्भ हुआ। इस आयु में आपने जो चमत्कार किए उनका वर्णन साम्प्रदायिक वाणी-ग्रथो में भरा पड़ा है किन्तु उसे भावनापरक मानकर हमने इस प्रसग में उद्धृत करना आवश्यक नही समझा। अलौकिक चमत्कारो का वर्णन पूज्य वुद्धि का फल है या यथार्थ का प्रतिफलन यह निर्धारण करना सरल कार्य नही।

सोलह वर्ष की आयु में आपका विवाह रुक्मिनी देवी के साथ सम्पन्न हुआ।[2] गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने पर भी आपने अपनी धार्मिक निष्ठा मे परिवर्तन नही किया। गृहस्थाश्रम के समस्त कर्त्तव्यो का पालन करते हुये आप सच्चे रूप में भक्त और सन्त वने रहे। इस जीवन के प्रति आपके मन मे न तो वैराग्य भावना थी और न इसके प्रति किसी प्रकार का हीन भाव ही आप रखते थे। आपका दाम्पत्य-जीवन सुखी-सम्पन्न और आदर्श था। सव प्रकार के ऐश्वर्य एव भोगविलास की सामग्री आपके पास थी किन्तु आपकी भावना में उसके लिये किसी प्रकार की आसक्ति न होने से उसको लेकर आप कभी व्यग्र, विचलित या लिप्त न होते थे। तत्कालीन महात्माओ मे वैराग्य की लहर जिस रूप में फैल

---

१. श्री जतनलालजी कृत 'अनन्य सार', पृष्ठ १४-१५ (हस्तलिखित)
द्रष्टव्य—श्री चाचा वृन्दावनदास जी कृत 'हरिवंश सहस्रनाम की भूमिका', पृष्ठ १-८ तक (प्रकाशित)

२—'परम्पराइ वास श्री देवन, रानी जग जानी श्री रुक्मिनि।'
(जयकृष्णजी की वाणी)
द्रष्टव्य—चाचा वृन्दावनदासजी का हरिवश सहस्रनाम। (प्रकाशित)

रही थी और दाम्पत्य जीवन के प्रति जो तिरस्कार-भावना पैदा की जा रही थी, श्री हित-हरिवंशजी ने स्वयं सद्गृहस्थ का जीवन व्यतीत कर तथाकथित वैराग्य भाव को चुनौती दी। श्रीमती रुक्मिनी देवी से आपके एक पुत्री और तीन पुत्र उत्पन्न हुए।[1] सन्तति का जन्म सम्वत् प्राचीन वाणियो मे इस प्रकार उपलब्ध होता है। ज्येष्ठ पुत्र श्री वनचद्रजी स० १५८५, द्वितीय पुत्र श्री कृष्णचद्रजी सवत् १५८७, तृतीय पुत्र श्री गोपीनाथजी सवत् १५८८ तथा पुत्री साहिब दे सम्वत् १५८९ मे उत्पन्न हुई। श्री हरिवंशजी की माता ताराराानी का १५८९ मे तथा पिता श्री व्यास मिश्र का निकुंजगमन १५९० सम्वत् में हुआ। माता-पिता की मृत्यु के उपरान्त श्री हरिवंशजी के मन में यह भाव आया कि किसी प्रकार भगवान् की लीलास्थली में जाकर वहाँ की रसमयी भक्ति-पद्धति में लीन होकर जीवन सफल करें।[2] उसी समय आपकी ख्याति से प्रभावित होकर तत्कालीन राजा ने (?) आपको अपने दरबार में बुलाने के लिये सादर निमत्रण भेजा किन्तु आपने अपने अन्तर्मन में भगवान् की लीलाभूमि का निमंत्रण स्वीकार कर लिया था इसलिये राजा के निमत्रण को अस्वीकार कर दिया। और एक श्लोक में यह उत्तर भिजवा दिया कि सृष्टि के आदि से नरेन्द्र-सुरेन्द्र, ब्रह्मा आदि कालग्रसित होते आये हैं अत हरिचरण मे लीन होकर उनका ही ध्यान करना अभीष्ट है।[3] उस समय आपकी आयु ३२ वर्ष की थी।

सवत् १५९० मे अपने माता-पिता के निकुंजगमन के बाद किसी आभ्यन्तर प्रेरणा से आपने जब ब्रजभूमि आने का निश्चय किया तब सहर्ष अपनी पत्नी रुक्मिनी को भी साथ

---

१—जिनकी सतति सब कोउ जानैं, बेटी साहिब दे सु बखानैं।
सुता एक सुत तीन सुधाम, तिनके जन्म द्यौस पुनि नाम।
पंद्रह सै पनचासिया अन्त, छहौ रितु में रितुराज बसन्त।
चैत्रवदी छठ मंगल गायौ, श्री वनचंद्र जनम जस छायौ।
पंद्रह से सतासिया जानौ, द्व अरु बीस मास लघु मानौ।
माघ मास नवमी उजियारी, कृष्णचद्र जन्म सुखकारी।
पंद्रह सै अठासिया आयौ, तेरह मास उरहजस छायौ।
फागुन मास लगतकी पूनौ, गोपीनाथ जनम सुख दूनौ।
( श्री जयकृष्णजी की वाणी—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत )

२—यह सम्पति श्री देवन भई, तव श्री श्यामा आज्ञा दई।
वृन्दावन कौं वेगि पधारौ, निज रस रीति अवनि विस्तारौ।
श्रवण सुनत उठि चले धाम को, शोधन हित श्री प्रिया श्याम को।
वरसि वयस वय क्रम जानो, प्रकट वास वन को मन मान्यौ।
( जयकृष्ण जी की वाणी—हस्तलिखित प्रति से उद्धृत )

३—एवं नरेन्द्र दिग्विजयीन्द्र सुरेन्द्र ब्रह्मा, नागेन्द्र शम्भु निशिजेन्द्र दिवेन्द्र तुल्या।
सर्वे समान वयसा खलु कालग्रस्ता, तस्मात् भजध्व हरिपाद सरोज गधम्॥'
( श्री हितचरित्र—गोपालप्रसाद शर्मा कृत, पृष्ठ २८ से उद्धृत )

चलने के लिये कहा किंतु छोटे-छोटे बच्चो का साथ होने के कारण आपकी पत्नी ने यात्रा मे साथ देना उचित नही समझा अत आप अकेले ही व्रजभूमि के लिये चल पडे। देववन से प्रस्थान के बाद मार्ग में आपको राधा के स्वप्न में दर्शन हुये और उन्होने आपसे कहा कि "आगे एक चिरथावल नाम का गाँव तुम्हारे मार्ग मे पडेगा, उस गाँव में यदि कोई ब्राह्मण अपनी दो कन्याओ का तुम से विवाह करना चाहे तो तुम उसे स्वीकार कर लेना। यह विवाह तुम्हारे भक्ति-पथ मे किसी प्रकार का अन्तराय उत्पन्न करने वाला न होगा। इस विवाह के द्वारा तुम दाम्पत्य जीवन का आदर्श प्रतिष्ठित करके यह दिखा सकोगे कि विवाहित जीवन में भी भगवान् की असीम अनुकम्पा प्राप्त हो सकती है। साथ ही यह भी उस स्वप्न मे उन्हे राधाजी ने कहा कि मेरा एक विग्रह ( राधावल्लभजी के रूप मे ) तुम्हे मिलेगा जिसे तुम वृन्दावन मे ले जाकर मदिर मे विधिवत् स्थापित करना।"[1] ऐसा ही स्वप्न आत्मदेव नामक ब्राह्मण को भी होगा जो उसी चिरथावल गाँव का रहने वाला है। इस स्वप्न के बाद वे अपने यात्रा-पथ में अग्रसर हुये और उस गाँव मे (चिरथावल) पहुँचे जिसमें आत्मदेव नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके दो नवयुवती कन्याएँ थीं और पूर्व-दृष्ट स्वप्न के आधार पर वह श्री हरिवशजी के आगमन की सतत प्रतीक्षा कर रहा था। उनके आते ही उसने अपनी दोनो कन्याओ का पाणिग्रहण करने के लिये हरिवशजी से प्रार्थना की जिसे उन्होने सहर्ष स्वीकार किया। इन कन्याओ के नाम कृष्णदासी और मनोहरीदासी थे। चिरथावल गाँव में कुछ समय तक ठहर कर फिर आपने अपनी यात्रा प्रारम्भ की और सम्वत् १५६० की फाल्गुन की एकादशी को वृन्दावन पहुँचे। यहाँ पहुँचने पर मदनटेर नामक स्थान पर विश्राम के लिये डेरा डाला। यह स्थान आज भी वृन्दावन में प्रसिद्ध है। इनके दिव्य स्वरूप पर मुग्ध होकर व्रजवासी दर्शनार्थ आने लगे और शीघ्र ही समीपवर्त्ती गाँवो में आपके आगमन का समाचार फैल गया। किम्वदती है कि नरवाहन ने आपसे प्रार्थना की कि आप धनुष लेकर वाण चलाइये। आपका वाण जिस जगह तक पहुँचेगा वहाँ तक का प्रदेश हम आपको भेंट कर देंगे। कहते हैं कि हरिवंशजी ने व्रजवासियो के अनुरोध पर वाण छोडा और वह वाण 'चीर घाट' नामक स्थान तक गया। फलत मदनटेर से चीर

---

१—ले प्रसाद पौढे सुखदाई श्री श्यामा सुपने में आई।
चिरथावल में द्विज सम्पन्न, प्रेमभक्ति जुत महा अनन्य।
द्वै कन्या सौं तुमको देहै, अपनो भाग्य आनि वह लैहै।
तिनको पानि ग्रहण तुम कीजो, भक्ति सहायक ही गनि लीजो,
तिही ठांव एक और मम रूप, द्विज लै मिलहै परम अनूप,
ताको ले वृन्दावन जैहै, सेवन करि सबको सुख दैहै ॥
( श्री रसिकमाल उत्तमदासजी कृत, हस्तलिखित वाणी से उद्धृत )

घाट तक की भूमि श्री हरिवशजी को उपहार स्वरूप प्रदान कर दी गई।[1] इस घटना का भी कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता, केवल वाणी ग्रथो में भावना-परक शैली से वर्णन है।

## वृन्दावन आगमन और शिष्य-दीक्षा

स्थायी रूप से वृन्दावन वास करने का निश्चय करने के बाद श्री हरिवशजी ने कदाचित् वैष्णव धर्म मे प्रचलित समस्त साधना-पद्धतियो का अनुशीलन किया होगा और इस मनन-अध्ययन के बाद अपनी नूतन साधना-पद्धति प्रवर्त्तित की होगी। परम्परा से जो साधना-पद्धतियां वैष्णव सम्प्रदायो में प्रचलित थी उनमें विधि-निषेध के साथ कर्मकाड का प्रभाव वढ गया था और बाह्याचार की अनेक परिपाटियाँ प्रचलित हो गई थी। उन्हे स्वीकार न करके श्री हरिवशजी ने स्वकीय नूतन सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया और अनेक बातो मे सर्वथा अभिनव शैली स्वीकार की। इस मार्ग में विधि-निषेध की न्यूनता के साथ भक्ति में प्रेम-भाव की प्रवल साधना थी। प्रेम को रस के रूप में अपनाकर इस मार्ग को रसमार्ग कहा गया अत जनसाधारण को इसमें अधिक आकर्षण प्रतीत हुआ। भक्ति और प्रेम के मार्ग से श्रीजी की सेवा-उपासना का सुयोग पाकर श्रद्धालु जनता एक साथ गोस्वामी हरिवशजी द्वारा प्रवर्त्तित मार्ग पर चल पडी और दूर-दूर तक आपकी साधना-पद्धति का प्रचार हो गया। इसी समय आपने कई श्रद्धालु भक्तो को अपना शिष्य बनाया। इन शिष्यो में भैगाव के अधिपति नरवाहन तथा रेवाडी के श्री नवलदास और पूरनदास का नाम उल्लेखनीय है।[2] श्री हरिवशजी के सुन्दर रूप, गुण, शील पर मुग्ध होकर ब्रजवासियो ने आपको कृष्ण की वशी का साक्षात् अवतार माना और आपकी सरस वाणी को वशी-ध्वनि के अनुरूप गोपियो को मोहने वाली समझा। वशी के अवतार रूप मे आपका परवर्ती वाणियो में अत्यधिक वर्णन हुआ है। प्रियादासजी ने अपने भाष्य में हरिवशजी को वंशी का अवतार न लिखकर हनुमानजी का अवतार कहा है किन्तु सम्प्रदाय में तथा ब्रज-भक्ति साहित्य में आप वशी के अवतार ही माने जाते हैं।

नरवाहन नाम के शिष्य का सम्प्रदाय मे विशेष रूप से वर्णन मिलता है। नरवाहन

---

१—मदनटेर—वृन्दावन की परिक्रमा के मार्ग में वाराह घाट के समीप यमुनातट पर स्थित है। यहा पर एक विशालवट-वृक्ष है। श्री हितहरिवशजी ने इसी वृक्ष के नीचे सर्वप्रथम वृन्दावन में विश्राम किया था। यहीं पर नरवाहन से प्रथम भेंट हुई थी।
चीरघाट —यह घाट आज भी वृन्दावन में गोविन्दघाट और केशीघाट के बीच में स्थित है। इस घाट के समीप ही सबसे पहला रास-मडल सवत् १५९१ में श्री हितजी ने स्थापित किया था। यह रासमडल आज भी वर्तमान है और वृन्दावन का प्राचीनतम रास मडल माना जाता है।

२—श्री नवलदास और पूरनदास के शिष्य बनने का वर्णन श्री भगवत मुदित कृत रसिकमाल में विस्तार से मिलता है।

द्रष्टव्य—रसिक अनन्य माल प्रकरण—७ तथा १०।

भैंगाव निवासी एक जमीदार था जो अपने आतक के कारण ब्रज प्रान्त में प्रसिद्ध था। ब्रजभूमि में उसकी जमीदारी थी और वह यमुना नदी द्वारा व्यापार करने वाले लोगो से कर भी वसूल करता था। कर न देने पर वह लूट-पाट करने से भी वाज न आता। एक वार श्री हरिवशजी तथा श्री नवलदासजी को धर्म-चर्चा करते उसने सुना तो उसके भावो मे परिवर्तन आया और वह श्री हरिवशजी के चरणो मे आकर भक्तिपूर्वक शिष्य वन गया। इसकी गुरु-निष्ठा के सम्वन्ध में नाभाजी ने अपने भक्तमाल में एक और कथा का सकेत किया है। कुछ हो इतना स्पष्ट है कि श्री हरिवशजी के सम्पर्क में आने के बाद नरवाहन ने अपना धन-धान्य सव श्रीजी की सेवा मे अर्पित किया और भक्तजनो में अपनी साधना के वल पर स्थान पाया। श्री हरिवशजी अपने इस भक्त पर इतने रीझे कि उन्होने अपने दो पदो मे नरवाहन छाप देकर उन्हे नरवाहन को ही भेंट कर दिया[1]। पदभेंट करने के और भी प्रमाण अन्य

---

१—नरवाहन की कथा का वर्णन भक्तमाल पृष्ठ ६६३ कवित्त ६१९ में निम्न प्रकार मिलता है:—

रहे भैंगांव, नरवाहन साधुसेवी,
लूटि लई नाव जाकी बन्दीखाने दियो है।
लौंडी आये देन कछू खायवे को, आई दया
अति अकुलाय लै उपाय यह कियौ है।
वोलौ 'राधावल्लभ' और लैवौ हरिवंश नाम,
पूछे शिष्य नाम कहो, पूछिनाम लियौ है।
दई मंगवाय वस्तु राखि यों दुराय बात,
आप दास भयो कही रीझि पद दियौ है।"

इस पद की टीका में लिखा है—'श्री नरवाहन जी श्री हरिवंशजी के शिष्य परम संतसेवी भैंगांव में रहते थे। ब्रज के एक जमीदार और लुटेरे थे + + +। आपकी गुरु-भक्ति पर रीझकर इन्हीं की छाप देकर दो पद बनाकर आपने अपने चौरासी ग्रथ में रख दिये। पृष्ठ ६६३-६६४। हित चौरासी के ये दो पद संख्या ११ और १२ हैं।

टिप्पणी—'नरवाहन के सम्वन्ध में नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५८ अंक ३, सवत् २०१० में श्री किशोरीलाल गुप्त ने 'हित चौरासी और नरवाहन' शीर्षक लेख में नरवाहन जी के सम्वन्ध में तर्क-वितर्क उठाते हुए अपनी उपस्थापना में नरवाहन को भोगाव जि० मैनपुरी का जमीदार ठहराया है। वह भ्रम भैंगाव को भोगांव समझने के कारण हुआ है। नाभाजी ने भी भोंगांव ही लिखा है। यथार्थ में वृन्दावन से तीन मील दूर यमुना के दूसरे किनारे पर भैंगांव नामक गांव है उसी के नरवाहन निवासी थे। यह ठीक ही है कि नरवाहन जी की प्रसिद्धि उनकी गुरुनिष्ठा और सन्तसेवा के कारण है, कवि होने के कारण नहीं। हितहरिवंशजी ने गुरुभक्ति पर मुग्ध होकर दो पद नरवाहन छाप से लिखे थे। यह काव्य-दान की पुरातन प्रणाली है। नरवाहनजी कवि नहीं थे, यह सिद्ध है। यदि कवि होते तो उनकी और रचना भी उपलब्ध होती। जिन दो पदो में नरवाहन छाप है वे स्पष्टतः अपनी भाषा, शैली, विषयवस्तु आदि की दृष्टि से हरिवंशजी के हैं तथा चौरासी में संकलित हैं।

कवि तथा राजाओ के जीवन-चरित्रो में उपलब्ध होते हैं । अत नरवाहन को ही इनका प्रणेता समझ बैठना भूल है ।

## चार सिद्धकेलिस्थलो का प्राकट्य

वृन्दावन में निवास करते हुए श्री हरिवशजी ने साधना के निमित्त चार 'सिद्ध-केलि-स्थलो' का प्राकट्य किया । मानसरोवर, सेवाकु ज, रासमडल और वशीवट नाम से आज भी ये चार स्थान वृन्दावन मे विख्यात हैं । इनमें से प्रथम तीन आज भी राधावल्लभीय सम्प्रदाय के स्थल हैं । वशीवट के विषय में अनुश्रुति है कि इस स्थल को किसी साधु ने निम्बार्कीय किसी साधु के पास गिरवी रख दिया था अत वह स्थान सम्प्रति निम्बार्क सम्प्रदाय के पास है । इन स्थलों पर वर्ष में यथा समय साम्प्रदायिक उत्सव आदि होते रहते हैं ।[1]

सेवा कु ज नामक स्थान का इसलिए और भी अधिक माहात्म्य है कि वहा श्री हरिवश जी ने राधावल्लभजी के विग्रह की सर्वप्रथम प्रतिष्ठा की थी । सम्वत् १५६१ मे प्रथम पाटो-

---

१ मानसरोवर, वशीवट, सेवाकु ज और रासमडल ।

मानसरोवर —

यह स्थल वृन्दावन से दो मील यमुना के उस पार है । वहा एक सरोवर है तथा श्रीजी की नाम सेवा और रास मडल है । श्री वल्लभाचार्य जी की बैठक भी यहां स्थापित कर दी गई है ।

वशीवट —

यह स्थान वृन्दावन का पवित्र स्थल माना जाता है । राधावल्लभ सम्प्रदाय में यह स्थल श्री हितहरिवशजो द्वारा प्रकट किया गया समझा जाता है । आजकल इस पर राधावल्लभ सम्प्रदाय का अधिकार नहीं है । कृष्ण वशी बजाकर गोपियों को यहां बुलाते थे ऐसा प्रसिद्ध है ।

सेवाकुज —

वृन्दावन के मध्य में लाल पत्थर के कोट से परिवेष्टित विशाल वन है जिसमें लता, गुल्म, तृण वीरुध की बहुलता है । इसमें एक ललिताकु ड तथा श्रीजी का मन्दिर है । श्री हितहरिवशजी ने इस स्थान पर अपना निवास-स्थान बनाया था । यहा प्रथम पाटोत्सव १५६१ में हुआ । यह आजकल भी वृन्दावन का प्रमुख तीर्थ एव दर्शनीय स्थल माना जाता है । भक्तो की मान्यता है कि यहा आज भी नित्य-प्रति रात्रि को दिव्य रासविहार होता है और श्रीजी के कृपापात्र भक्त उसके दर्शन के अधिकारी हैं । इस कु ज को वृन्दावन का प्राचीनतम स्थल माना जाता है । यहां नामसेवा विराजमान हैं ।

रासमडल —

यह स्थान चीरघाट या वर्तमान समय में प्रसिद्ध गोविन्द घाट के समीप स्थित है । यहा नाद वश के विरक्त राधावल्लभीय नागाओं का अधिकार है । 'नाम सेवा' स्थापित है । ऊचे गोल चबूतरे पर सिंहासन बना है । यहा रासलीला प्रारम्भ से होती आ रही है ।

त्सव इसी सेवाकुंज मे सम्पन्न हुआ। इस पाटोत्सव का उल्लेख सभी पुरातन वाणियो में विस्तारपूर्वक मिलता है। यह पाटोत्सव ऐतिहासिक दृष्टि से इसलिए भी उल्लेखनीय है कि इसके आधार पर अन्य साम्प्रदायिक तिथियो का निर्णय किया जाता है। इस कुंज के विषय में आज भी यह किम्वदन्ती है कि यहा प्रतिदिन निशीथ के समय श्रीकृष्ण राधा तथा अन्य सखियो के सहित रास लीला करते हैं। लगभग आधी शताब्दी तक सेवाकुंज मे ही श्री राधावल्लभजी का विग्रह प्रतिष्ठित रहा। सम्वत् १६४१ मे अब्दुर्रहीम खानखाना के साथी दीवान (?) या खजाची सुन्दरदास भटनागर (कायस्थ) दिल्ली वाले ने लाल पत्थर का नया मन्दिर वनवाया। इस मन्दिर के निर्माण मे सुन्दरदास ने प्रचुर धन लगाया क्योकि उसे रहीम खानखाना ने विशेष रूप से आदेश दिया था कि मन्दिर निर्माण मे किसी प्रकार की कोई कृपणता न की जाय। रहीम के इस उदारतापूर्ण आदेश का उल्लेख श्री भगवत् मुदित ने अपने रसिकमाल ग्रथ में किया है।[1] लाल पत्थर का यह प्राचीन मन्दिर आज भी वृन्दावन मे स्थित है किन्तु इसमे प्राचीन विग्रह प्रतिष्ठित नही है। इस समय यह मन्दिर भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के सरक्षण मे है। मन्दिर की दशा बहुत अच्छी नही है। इस मन्दिर में श्री राधावल्लभ जी का विग्रह सम्वत् १७२६ तक विराजमान रहा। किन्तु जब व्रज प्रदेश (वृन्दावन) पर औरगजेब के दुर्दान्त आक्रमण हुए और हिन्दू मन्दिरो का ध्वस प्रारम्भ हुआ तब यह मन्दिर भी उसके कोप से बच न सका।[2] मन्दिर के पार्श्व भाग को उसने तुडवा डाला। किन्तु सौभाग्य से श्रद्धालु भक्तगण पहले ही मूर्ति को उठाकर कामवन (भरतपुर स्टेट में) ले गये थे और इस प्रकार मूर्ति को नष्ट होने से बचा लिया गया। कामवन मे श्रीजी का विग्रह ११५ वर्ष तक रहा। ब्रिटिश राज्य के सुदृढ हो जाने पर पुन. सम्वत् १८४२ मे श्रीजी का पदार्पण श्रीवन मे हुआ। एक नवीन मन्दिर प्रतिष्ठा के लिए निर्माण कराया गया जिसमे अद्यावधि श्री राधावल्लभजी की मूर्ति विराजमान है।[3]

## राधावल्लभजी का मन्दिर

जैसा कि पिछली पक्तियो में हमने लिखा है कि राधावल्लभ जी के दो मन्दिर सम्प्रति वृन्दावन में विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त गोस्वामी वर्ग के निजी मन्दिर भी हैं किन्तु प्रकृत प्रसग मे हमें सार्वजनिक एव साम्प्रदायिक मन्दिरो की ही चर्चा करना अभीष्ट

---

१ द्रष्टव्य—भगवत् मुदित कृत रसिकमाल प्रकरण १४ वां—सुन्दरदास का चरित्र।

२. वृदावन के मन्दिरो के ध्वंस के लिए औरगजेब के आक्रमण का वर्णन ऐतिहासिक ग्रंथो में मिलता है। देखिए—ग्राउस साहब की पुस्तक 'मथुरा मैमायर्स, तथा व्रज का इतिहास —ले० कृष्णदत्त वाजपेयी—पृष्ठ १६२।
—चाचा वृन्दावनदास लिखित 'हरिकलावेलि' में सविस्तर इस आक्रमण का वर्णन मिलता है।

३ वर्तमान मन्दिर भर्डोंच के किसी स्वर्णकार ने वनवाया था—'मथुरा मैमायर्स' मे इसका उल्लेख मिलता है। ग्राउज—'मथुरा मैमायर्स', पृष्ठ १२०-२१

है। लाल पत्थर का प्राचीन मन्दिर वृन्दावन के पुराने मन्दिरो में उल्लेखनीय समझा जाता है। इसके निर्माण काल के विषय में दो मत उपलब्ध होते हैं। प्रथम मत के अनुसार इस मन्दिर का निर्माण सम्वत् १६४१ ईस्वी सन् १५८५ में हुआ। यदि इस तिथि को प्रामाणिक माना जाय तो यह मन्दिर वृन्दावन का प्राचीनतम मन्दिर ठहरता है। प्रो० विलसन ने सबसे पहले इस सम्वत् का सकेत अपनी पुस्तक 'हिन्दू रिलीजस' में किया है।[1] इस मत की पुष्टि में और कोई प्रमाण अद्यावधि उपलब्ध नही हुआ। 'मथुरा मैमायर्स' के लेखक ग्राउस महोदय ने इसका निर्माण काल तो स्थिर नही किया किन्तु मन्दिर के एक प्रस्तर-अभिलेख का उल्लेख करते हुए इसे सम्वत् १६८४ ईस्वी सन् १६२७ का बताया है।[2] इन दोनो विद्वानो के लेखो के आधार पर मथुरा जिले के सन् १८८४ के सरकारी हिस्टोरिकल एकाउट में तथा मथुरा जिले के सन् १९११ के गजेटियर में राधावल्लभ जी के मन्दिर का वर्णन किया गया है। दोनो वर्णनो का मुख्य आधार ग्राउस महोदय का ग्रन्थ है अत नवीनता नही है। हाँ, भगवत् मुदित के वृत्तान्त के आधार पर लाल मन्दिर के निर्माणकर्ता का नामोल्लेख इनमें अवश्य किया गया है। कृष्णचन्द्र जी द्वारा निर्मित एक स्वकीय मन्दिर का भी इसमें उल्लेख है।[3] सन् १९११ के 'मथुरा गजेटियर' में राधावल्लभ जी के मन्दिर का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है। इस वर्णन का आधार यद्यपि ग्राउस और विलसन के उपर्युक्त मत ही हैं किन्तु कला की दृष्टि से भी मन्दिर का वर्णन गजेटियर प्रस्तुत करने वाले सम्पादको ने किया है। पहले वर्णन मे मन्दिर के निर्माता सुन्दरलाल कायस्थ का उल्लेख है और सम्वत् १६८३ में निर्माण काल लिखा है। गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी द्वारा निर्मित 'राधामोहन' के मन्दिर का भी इसी प्रसग में

---

1 He also erected a temple there that still exists, and indicates by an inscription over the door, that it was dedicated to Shri Radha Vallabha by Hari Vansh in Samvat 1641 or A D 1585
—Hindu Religions, H H Wilson, Page 116

2 The Radha Vallabha have a temple at Brindaban dedicated to Krishna under the title Shri Radha Vallabha which is said to have been built in the year 1585, by Hari Vansh the founder of the Sect, a native of Devban in the district of Saharanpur There are several inscriptions rudely scrawled on the walls, but the oldest at present visible bears the date of Samvat 1684 (1627 A D)
—Mathura—A District Memoir Growse, Part I, Page 120-121

3 By these two wives he had two sons, Braj Chand and Krishna Chand of whom the latter built a temple to Radha Mohan, which is still in the possession of his descendents The former was the ancestor of the present Gosains of the temple of Radha Vallabha the chief Shrine of the Sect One of the pillors of the temple is an inscription that gives the date 1683 Samvat (1626 A D.)
—Statistical, Descriptive and Historical Accounts of the North Western Provinces of India, Muttra, Part I, 1884 A D, Page 103-104

वर्णन है।[1] दूसरे वर्णन में विस्तार से मन्दिर की रूपरेखा तथा कलागत सौन्दर्य पर दृष्टि-निक्षेप किया गया है। इसी वर्णन मे औरगजेव द्वारा मन्दिर का भग्न किया जाना भी लिखा है।[2] श्री भगवत मुदित ने लाल पत्थर वाले मन्दिर के निर्माणकर्ता सुन्दरदास (लाल) कायस्थ की कथा रसिक अनन्यमाल में लिखी है। उन्होने सुन्दरदास को खानखाना का दीवान लिखा है। मन्दिर की कहानी लिखते हुए कहते हैं कि ठाकुर गोपालसिंह जादव नामक एक जमीदार पहले इस मन्दिर के निर्माण के लिए उत्सुक था किन्तु उसे श्री वनचन्द्र गोस्वामी ने जब यह वताया कि मन्दिर मे ठाकुर जी की प्रतिष्ठा के साथ ही मन्दिर-निर्माता की देह छूट जायेगी तब यह सुनकर वह निराश हो गया। तदनन्तर राजा मानसिंह ने भी मन्दिर बनवाने में रुचि दिखाई किन्तु वह भी इस अप्रिय भविष्यवाणी से हताश होकर चला गया। तब सुन्दरलाल कायस्थ ने वनचन्द्र जी से सानुरोध मन्दिर निर्माणार्थ प्रार्थना की और इसी प्रकार निधन मे उसने अपने जीवन की कृतार्थता मानी। फलतः यह मन्दिर निर्मित हुआ। और सुन्दरलाल का निधन भी विग्रह प्रतिष्ठा के साथ ही हुआ।[3]

---

1 "This image was set up in a temple of the same name at Vrindaban which was built up by a Kayasth disciple called Sunder Lal in Sambat 1683 and is still owned by descendents of the founder, His second son Krishna Chandra built a temple to Radha Mohan at the same place"

—A Gazetteer—Muttra District, 1911 A, D , Page 105

2 "The temple of Radha-Vallabh is somewhat later than the series of four already described One of the pillars in the front gives the date of its foundation as Sambat 1683 or 1626 A D It was built by a Kayasth named Sunder Das who held the appointment of treasurer at Delhi He was a disciple of Braj Chand the ancestor of the present Gosains of the temple and the son of the reformer Harivansh the founder of the Radha Vallabhi Sect The ground plan of the temple is much the same as that of Hari Dev at Govardhan and the work is of the same character but carried out on a larger scale. The nave has an eastern facade, thirty four feet broad, which is in the three stages, the upper and the lower Hindu, and the one between them purely Muhammadan in character The temple in fact is of special architecture interest as the last example of the early electic style The interior is a fine vaulted hall, measuring sixty three feet by twenty feet with a double tier of openings north and south, those in the lower storey having brackets and architraves and those above being Muhammadan arches as in the middle storey of the front. The actual Shrine or Celle was demolished by Aurangzeb"

—A Gazetteer—Muttra by D L Drake Brockman, I. C. S, 1911 A, D , Page 246

३. 'श्री हरिवंश कुमार को, सेवक सुन्दरदास।
मन्दिर करि सन्मुख रह्यो, निरखे रास विलास॥
श्री हरिवंश सुधर्म उजागर, सुन्दरदास कायथ भटनागर।
खानखाना के हुते दिवान, अकबर शाह करै सम्मान॥

नवीन मन्दिर जिसमें सम्प्रति श्री राधावल्लभ जी का विग्रह प्रतिष्ठित है अर्वाचीन है और कला की दृष्टि से उसमे कोई विशेषता नही है।

सेवाकुंज मे राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित होने के बाद श्री हरिवशजी ने अपनी पद्धति से अष्टयाम सेवा-पूजा का प्रचार किया। इस नूतन पद्धति का प्रचार होने के बाद ही राधावल्लभीय सेवा-पूजा प्रणाली का कई अशो में अनुगमन अन्य सम्प्रदायो मे भी हुआ। पाच आरती का विधान भी इसी समय हरिवशजी ने किया।[1] सेवाकुञ्ज के बाद दूसरा स्थल मानसरोवर था जहाँ एकान्त में ध्यान-भजन के लिए श्री हरिवशजी जाते थे।[2] यह स्थान आज भी जमुना नदी के दूसरे किनारे पर जगल में स्थित है, वहाँ भजन की दृष्टि से निर्जन प्रदेश का सौंदर्य है। कुछ लोगो का कहना है कि पहले यह स्थान यमुना के इसी किनारे पर था, बाद में यमुना-प्रवाह के परिवर्तन से दूसरे किनारे पर हो गया।

श्री हरिवशजी के उपदेशो और कार्यों से प्रभावित होकर दूर-दूर से भक्तजन इनके दर्शनार्थ आने लगे थे। इनके शिष्य श्री नवलदास इसी बीच ओरछा गये। वहाँ पहुँचने पर नवलदास ने सब जगह श्री हरिवश का गुणानुवाद किया जिसे सुनकर श्री हरिराम व्यास बहुत प्रभावित हुए और उन्होने श्री हरिवशजी के दर्शनार्थ आने का दृढ सकल्प किया। श्री व्यास जी सस्कृत के प्रकाड पडित और शास्त्रार्थ महारथी थे किन्तु जब वे श्री हरिवश के

---

सब राजन को आज्ञा दीनी, देव स्थल की रचना कीनी।
+ + +
सुन्दर पग परि विनती करी, प्रभु जी मैं मन में यह धरी।
आज्ञा देहूँ तो मन्दिर करौं, अपने इष्ट सेइ भव तरौं॥
यहै बात सुन्दरहि सुनाई, आज्ञा प्रभु की यों है भाई।
सुन्दरदास सुनत सुख पायौ, पूरन भाग्य उदै ह्वै आयौ॥
आज्ञा बचन सुने जब कान, मानहुँ मृतक ने पाये प्रान।
खरचत द्रव्य न मन सकुचायौ, तीन बरस में सिद्ध करायौ॥
—श्री भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' से उद्धृत।

१. "सेवा की पद्धति विस्तारी, सात भोग रितु-रितु अनुसारी।
पाच आरती आठों याम, समय-समय भावना सुधाम।
सावधान सेवा में आप, कहैं सुनै नहि असद् अलाप।"
(श्री उत्तमदास की वाणी, हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

टिप्पणी—२ सेवाकुंज को वृन्दावन का प्रथम मन्दिर स्थान माना जाता है। 'मथुरा गजेटियर' में इसे महत्वपूर्ण स्थान माना है।

'The first Shrine erected at Brindaban was one in honour of the eponymous goddess Brinda Devi It is said to have stood in the Seva Kunj, now a large walled garden with a massonary tank near the Ras-Mandal but no traces remain of it'
—A Gazetteer—Muttra, Page 242.

मन्दिर आते तब उनका सम्बन्ध उनसे अपने आप विच्छिन्न हो गया और उन्होंने श्री हरिवंशजी को अपना गुरु बना लिया।

श्री प्रबोधानन्द ठाकुर (मिश्र) गये और वहाँ जाकर उन्होंने एकान्तवास करके के सम्बन्ध प्रारम्भ किया। उनके समय में भगवान श्री हरिवंशजी की पद्धति से उपासना का नूतन मार्ग प्रवर्तित हुआ जान बड़े आनन्द से प्रभावित होते थे। श्री प्रबोधानन्द नामक सरस्वती पर इस मार्ग का बहुत प्रभाव पड़ा और उन्होंने स्वप्न में ही अपने गोविन्द से गुरुमंत्र प्राप्त किया। यहीं उदार के अधिक तत्परता होने के कारण श्री प्रबोधानन्द का चित्त में अच्छा प्रभाव था। उन्होंने गदाधरजी छोड़कर वृन्दावन आने का निश्चय किया और वृन्दावन आकर श्री हरिवंशजी के शिष्य हो गये।

सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ब्रज की भक्ति-भावना के चरम उत्कर्ष का काल है। इस काल में कृष्णभक्ति की जो प्रबल लहरें उठीं वे वृन्दावन की कुञ्ज गलियों में होकर प्रवाहित हुईं वह अद्यावधि किसी न किसी रूप में वर्तमान है। सोलहवीं शती का अन्तिम चरण वृन्दावन भूमि के लिए विशेष वरदान सिद्ध हुआ। श्री हितहरिवंश के वृन्दावन-आगमन के उपरान्त श्री स्वामी हरिदास, श्री हरिराम व्यास और स्वामी प्रबोधानन्द सरस्वती का आगमन हुआ। एक साथ इन चार महात्माओं के आगमन से कृष्णभक्ति के प्रचार प्रसार में प्रेरित हो उठी। चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्य चैतन्य गोस्वामियों ने इससे पहले कृष्णभक्ति की जो उज्ज्वल रसधार प्रवाहित की थी उसे लोकमान्य और लोकप्रिय की भक्ति का गुरु रूप होते हुए प्रचार रूप का और अधिक व्यापक रूप दे दिया। चैतन्य विवेचन की गोस्वामियों ने अपनी गोस्वामियों की भक्तिभावना को व्यवस्थित और प्रमाणिकता के उच्च स्तर पर ला खड़ा किया था किन्तु शास्त्रीयता की गहनता में गहन होने के कारण उसमें व्यापक प्रसार का अभाव बना हुआ था। निश्चय ही हितजी की सरल रसमयी और भावुक भक्तिपद्धति ने इसे सरल और सुन्दर बनाया। कृष्णभक्ति के इस नूतन स्वरूप का प्रचार करने के लिए नाट्यात्मक अनुकरण की आवश्यकता अनुभव हुई। रासलीला अनुकरण को पुनर्जीवित करने के लिए रासमण्डल की स्थापना की गई। रासमण्डल की स्थापना करने का श्रेय निश्चय ही श्री हितहरिवंशजी को है। लीलानुकरण तो पहले भी होता था किन्तु किन्हीं कारणों से वह लुप्त हो गया था, उसे नवीन रूप देकर प्रवर्तित किया गया। सेवाकुञ्ज (वृन्दावन) के मन्दिर में रासमण्डल स्थापित है वह प्राचीनतम है और उसकी स्थापना श्री हरिवंशजी ने ही की है। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि रासलीला अनुकरण का प्रवर्तन श्री घमण्डदेव (निम्बार्की) को है और कुछ विद्वान चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यों को इसका श्रेय देते हैं। इस विवादास्पद विषय पर हमने 'रासलीला अनुकरण विवेचन' प्रकरण में विचार किया है।[1]

इसी समय राधावल्लभीय सेवा-पूजा विधि में वैशिष्ट्य लाने के निमित्त विशुद्ध की

१—देखिए—(प्रस्तुत प्रबंध) रासलीला अनुकरण, अध्याय सप्तम।

नवीन मन्दिर जिसमें सम्प्रति श्री राधावल्लभ जी का विग्रह प्रतिष्ठित है अर्वाचीन है और कला की दृष्टि से उसमें कोई विशेषता नही है ।

सेवाकुंज में राधावल्लभजी की मूर्ति स्थापित होने के वाद श्री हरिवंशजी ने अपनी पद्धति से अष्टयाम सेवा-पूजा का प्रचार किया । इस नूतन पद्धति का प्रचार होने के वाद ही राधावल्लभीय सेवा-पूजा प्रणाली का कई अशो में अनुगमन अन्य सम्प्रदायो मे भी हुआ । पाच आरती का विधान भी इसी समय हरिवंशजी ने किया ।[1] सेवाकुञ्ज के वाद दूसरा स्थल मानसरोवर था जहाँ एकान्त में ध्यान-भजन के लिए श्री हरिवशजी जाते थे ।[2] यह स्थान आज भी जमुना नदी के दूसरे किनारे पर जगल में स्थित है, वहाँ भजन की दृष्टि से निर्जन प्रदेश का सौंदर्य है । कुछ लोगो का कहना है कि पहले यह स्थान यमुना के इसी किनारे पर था, वाद मे यमुना-प्रवाह के परिवर्तन से दूसरे किनारे पर हो गया ।

श्री हरिवशजी के उपदेशो और कार्यो से प्रभावित होकर दूर-दूर से भक्तजन इनके दर्शनार्थ आने लगे थे । इनके शिष्य श्री नवलदास इसी वीच ओरछा गये । वहाँ पहुँचने पर नवलदास ने सब जगह श्री हरिवश का गुणानुवाद किया जिसे सुनकर श्री हरिराम व्यास वहुत प्रभावित हुए और उन्होंने श्री हरिवशजी के दर्शनार्थ आने का दृढ सकल्प किया । श्री व्यास जी सस्कृत के प्रकाड पडित और शास्त्रार्थ महारथी थे किन्तु जब वे श्री हरिवश के

---

सब राजन को आज्ञा दीनी, देव स्थल की रचना कीनी ।

\+ \+ \+

सुन्दर पग परि विनती करी, प्रभु जी मैं मन में यह धरी ।
आज्ञा देहूँ तो मन्दिर करौं, अपने इष्ट सेइ भव तरौं ॥
यहै वात सुन्दरहि सुनाई, आज्ञा प्रभु की यों है भाई ।
सुन्दरदास सुनत सुख पायौ, पूरन भाग्य उदै ह्वै आयौ ॥
आज्ञा बचन सुने जब कान, मानहुँ मृतक ने पाये प्रान ।
खरचत द्रव्य न मन सकुचायौ, तीन बरस में सिद्ध करायौ ॥

—श्री भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्य माल' से उद्धृत ।

१. "सेवा की पद्धति विस्तारी, सात भोग रितु-रितु अनुसारी ।
पांच आरती आठौं याम, समय-समय भावना सुधाम ।
सावधान सेवा में आप, कहैं सुनैं नहिं असद् अलाप ।"

(श्री उत्तमदास की वाणी, हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

टिप्पणी—२ सेवाकुंज को वृन्दावन का प्रथम मन्दिर-स्थान माना जाता है । 'मथुरा गजेटियर' में इसे महत्वपूर्ण स्थान माना है ।

'The first Shrine erected at Brindaban was one in honour of the eponymous goddess Brinda Devi It is said to have stood in the Seva Kunj, now a large walled garden with a massonary tank near the Ras-Mandal but no traces remain of it'

—A Gazetteer—Muttra, Page 242.

समीप आये तव उनका समस्त ज्ञान-दर्प अपने आप तिरोहित हो गया और उन्होने श्री हरिवशजी को अपना गुरु वना लिया।

श्री पूरनदास ठट्ठा (सिंध) देश गये और वहाँ जाकर उन्होने राधावल्लभीय पद्धति से सत्संग प्रारम्भ किया। उनके समाज में भक्तजन श्री हरिवशजी की पद्धति से उपासना का नूतन मार्ग प्रकटित हुआ जान वड़े आनन्द से सम्मिलित होते थे। श्री परमानन्द नामक मनसवदार पर इस सत्सग का वहुत प्रभाव पड़ा और उन्होने स्वप्न मे ही अपने भक्ति-वल से गुरु-मत्र प्राप्त किया। शाही दरवार के आश्रित मनसवदार होने के कारण श्री परमानन्द का सिंध मे अच्छा प्रभाव था। उन्होंने मनसवदारी त्याग कर वृन्दावन आने का निश्चय किया और वृन्दावन आकर श्री हरिवशजी के शिष्य हो गये।

सोलहवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध व्रज की भक्ति-साधना के चरम उत्कर्ष का काल है। इस काल मे कृष्णभक्ति की जो अजस्र निर्झरिणी वृन्दावन की कुञ्ज गलियो मे होकर प्रवाहित हुई वह अद्यावधि किसी न किसी रूप में वर्तमान है। सोलहवी सदी का अन्तिम चरण वृन्दावन भूमि के लिए दिव्य वरदान सिद्ध हुआ। श्री हितहरिवश के वृन्दावन-आगमन के उपरान्त श्री स्वामी हरिदास, श्री हरिराम व्यास और स्वामी प्रवोधानन्द सरस्वती का आगमन हुआ। एक साथ इन चार महात्माओ के आगमन से व्रजभूमि भक्ति के प्रवल प्रवाह से तरगित हो उठी। चैतन्य सम्प्रदाय के वगाली वैष्णव गोस्वामियों ने इनसे पहले कृष्णभक्ति की जो उज्ज्वल भावधारा प्रवाहित की थी उसे लोकभाषा और लोकसगीत की माधुरी का पुट प्राप्त होते ही प्रसार तथा प्रचार का और अधिक व्यापक क्षेत्र मिला। शास्त्रीय विवेचन की परिपाटी ने वगाली गोस्वामियो की भक्ति-साधना को गम्भीरता और प्रामाणिकता के उच्च स्तर पर ला खडा किया था किन्तु जनसाधारण की पहुँच से वाहर होने के कारण उसमें व्यापक प्रसार का अभाव वना हुआ था। निश्चय ही हरि-त्रयी की सरस पदावली और आर्जव भक्ति-पद्धति ने उसे स्फीत और प्रस्फुट वनाया। कृष्णभक्ति के इस नूतन स्वरूप का प्रचार करने के लिए रासलीला अनुकरण की आवश्यकता अनुभव हुई। तभी रासलीला अनुकरण को पुनरुज्जीवित करने के लिए रासमडल की स्थापना की गई। रासमंडल की स्थापना करने का श्रेय निश्चय ही श्री हितहरिवशजी को है। लीलानुकरण तो पहले भी होता था किन्तु किन्ही कारणो से वह लुप्त हो गया था, उसे नवीन रूप देकर प्रवर्त्तित किया गया। गोविन्दघाट (वृन्दावन) के समीप जो रासमंडल स्थापित है वह प्राचीनतम है और उसकी स्थापना श्री हरिवशजी ने ही की है। कुछ विद्वानो की ऐसी धारणा है कि रासलीला अनुकरण का प्रवर्त्तन श्री घमडिदेव (निम्वार्क) को है और कुछ विद्वान् गौडीय सम्प्रदाय के आचार्यों को इसका श्रेय देते हैं। इस विवादास्पद विषय पर हमने 'रासलीला अनुकरण विवेचन' प्रकरण में विचार किया है।[1]

उसी समय राधावल्लभीय सेवा-पूजा विधि मे वैशिष्ट्य लाने के निमित्त 'खिचड़ी की

१—देखिए—(प्रस्तुत प्रवंध) रासलीला अनुकरण, अध्याय सप्तम।

प्रथा' का श्री हितहरिवंशजी ने प्रचलन किया। खिचडी नामक उत्सव इस सम्प्रदाय मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। विभिन्न रूप की वेशभूषा पहनाकर श्री राधावल्लभजी को प्रस्तुत किया जाता है। राधावल्लभजी का वेश इस उत्सव में एकदम साधारण होता है, यथार्थ में यही सहज-परिधान इस उत्सव की विशेषता है। तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर भगवत् विग्रह के इस 'सामान्य रूप' और 'सहज-परिधान' का यही अर्थ समझ में आता है कि अमूल्य पदार्थों के साज-शृ गार के साथ मूर्ति का प्रसाधन ही भगवान् को अभीष्ट नही— उन्हें तो साधारण से साधारण वेश-विन्यास भी उतना ही रुचिकर होता है। 'खिचडी प्रथा' के प्रचलन से जनसाधारण को श्रीजी के इस रूप की ओर अत्यधिक आकर्षण बढा। राधा-वल्लभी सज्जन खिचडी प्रथा को बहुत महत्व देते हैं।

सम्वत् १५९५ के लगभग श्री प्रबोधानन्द सरस्वती वृन्दावन पधारे। किम्वदन्ती है कि वृन्दावन में श्री परमानन्द नामक एक महात्मा निवास करते थे। प्रबोधानन्द जी का मथुरा आने पर उनसे परिचय हुआ और उन्होने एक दिन अति प्रेम-विभोर दशा में परमानन्दजी को देखा और वे उनके इस रूप पर मुग्ध हो गये। उन्होने परमानन्द जी से इस प्रेम-विह्वल स्थिति तक पहुँचने का उपाय जानना चाहा। परमानन्द जी ने वताया कि भक्ति की यह पद्धति श्री हरिवशजी की है जो रसमार्ग के नाम से वृन्दावन में विख्यात हो चली है। कहते हैं कि शास्त्र मर्यादा में विश्वास रखने वाले प्रकाड पडित श्री प्रवोधानन्द जी रसमार्ग का रहस्य जानने के लिए श्री हरिवशजी के पास आये और गो० हरिवशजी से रस-चर्चा सुनकर इसकी सरसता पर मुग्ध होकर उसमें लीन हो गये।[१] यह तो प्रसिद्ध ही है कि श्री प्रबोधा-नन्द सरस्वती सस्कृत भाषा के धुरन्धर पडित और रससिद्ध कवि थे। 'वृन्दावन शतक' नामक उनका स्तोत्रकाव्य रस के चरम उत्कर्ष का प्रमाण है। यह भी ठीक ही है कि वृन्दावन आने से पहले उन्होने भारतीय भक्ति-साधना की अनेकानेक दुर्गम घाटियो का चक्कर काटा था। कर्मकाड की दुर्द्धर्ष जटिलताओं से भी उनका साक्षात् परिचय था। यह सव होते हुए भक्ति की सरसता पर मुग्ध होने के लिए कोई न कोई आकर्षण उन्हे वृन्दावन में ही मिला। इस सम्वन्ध में अत्यधिक विवाद है कि उन्होने रसमार्ग को कब, कैसे और किसके उपदेश से स्वीकार किया, किन्तु यह कहना अधिक अयुक्त और अप्रामाणिक न होगा कि श्री हरिवशजी

---

१—"परमानन्द रसिक कहुं मिलै, चर्चा करत दुहू मन खिलै।
नित्य विहार की चर्चा ठानी, सो प्रवोध के मन नहि आनी।
स्तुति, स्मृति इतिहास सुनाये, सनक सहिता के मत गाये।
आगम वामन वृहत्पुरान, इन्हीं आदि कहै वहुत प्रमान।
तापै मानसरोवर कह्यौ, नित्य विहार रसिकजन लह्यौ।
सुनकर मानसरोवर रीति, श्रद्धा भई करी कछु प्रीति।
तव प्रवोध के मनु कछु आई, रैन सरोवर वसै जु जाई॥"
(भगवत मुदित कृत रसिक अनन्यमाल, प्रवोधानन्द चरित, पक्ति ६ से १२ तक)

का प्रवोधानन्दजी पर प्रभाव पडा था ; अन्यथा वे रसमार्ग मे सहसा परिवर्तित क्यो होते। जिस शैली से प्रवोधानन्दजी ने वाद मे अपनी वाग्धारा प्रवाहित की उस पर भी हरिवशजी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। यह ठीक है कि उनकी निष्ठा आराध्य की दृष्टि से कही और होगी और उनका गुरु भी कोई और रहा होगा। श्री हरिवशजी को उनका गुरु सिद्ध करने का हमारा तनिक भी आग्रह नही है।

श्री भगवत मुदित ने प्रवोधानन्द जी का चरित्र लिखते हुए उपर्युक्त घटना का उल्लेख किया है।[1] स्वय प्रवोधानन्दजी के अष्टक मे भी हितजी की स्तुति है।[2] भगवत मुदित ने इस शतक की पूरी टीका भी १७०७ सम्वत् मे लिखी है; यह ग्रन्थ प्रकाशित भी है।

इसी समय कर्मठीवाई नामक एक भक्त महिला श्री हरिवशजी का यशोगान सुनकर वृन्दावन आई। यह महिला उच्चकोटि के भक्तो में विख्यात है। श्री भगवत्मुदित ने इसका चरित्र लिखा है। कर्मठीवाई की श्री हरिवशजी पर अनन्य श्रद्धा थी और उनकी शिष्या बनने पर ही उसे आत्मोद्धार का मार्ग सुलभ हुआ था।[3] कामवन की रहने वाली यमुनावाई और गगावाई नामक अन्य दो महिलाए भी श्री हरिवशजी की शिष्या हुई और इस सम्प्रदाय की भक्ति-पद्धति को स्वीकार कर अपना उद्धार कर सकी। श्री खरगसेन जी भी हरिवशजी के अनुयायी वने। इनकी कथा नाभाजी ने अपने 'भक्तमाल' मे लिखी है।[4] श्री हरिदास तुलाधार भी इसी सम्प्रदाय के शिष्य थे। प्रसाद-निष्ठा के लिए उनकी वडी ख्याति थी।

---

१—"परमानन्द प्रवोध हित कही, सो विनती हित जू मन गही।
ये संन्यासी हम हैं ग्रेही, मन की भाव धरौ जु सनेही।
सेवन करि परतीति वढ़ाई, नित्य विहार की शिक्षा पाई॥
अस्तुति अष्टक करि शुद्धि करी, चित्तवृत्ति हरि चरननि धरी।
सुन करुना करि रीति वताई, अभिलाषा पुजई मन आई।

भगवत मुदित कृत 'रसिक अनन्यमाला'

२—"त्वमसि श्रीहरिवंश श्यामचन्द्रस्य वंश
परमरसद नादैर्मोहिता सर्वविश्वः।
अनुपम गुणदामैर्निर्मितोऽसि द्विजेन्द्र,
मम हृदि तव गाथाश्चित्र लेखेव लग्ना॥
× × × ×
"राधावल्लभ पादपल्लवजुषां सद्धर्म नीतायुषां
नित्यंसेवित वैष्णवांघ्रि रजसां वैराग्य सीमा स्पृशाम्।
हन्तैकान्त रसप्रविष्टमनसा मप्यस्ति यद् दूरत
स्तद्राधा करुणावलोकमचिरात् विन्दन्तु वृन्दावने॥ —सप्तदश शतके

३ द्रष्टव्य—कर्मठीवाई का चरित्र—श्री भगवत्मुदित लिखित।

४ द्रष्टव्य—श्री खरगसेन का चरित्र—नाभाजी का 'भक्तमाल' पृष्ठ ८५६, छप्पय ७५२।

श्री नाभाजी ने भक्तो में इनका भी चरित्र लिखा है। श्री भगवत्मुदित ने इनकी प्रसाद-निष्ठा की कथा लिखी है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'व्याहुला' प्रथा का प्रवर्तन श्री हरिवशजी ने बडे समारोह से किया। अन्य वैष्णव सम्प्रदायो में अब्र व्याहुला का विपुल वर्णन मिलता है। इस विवाहोत्सव की परिपाटी का रसपद्धति से सागोपाग वर्णन का श्रेय निश्चय ही श्री हरिवशजी को ही है। बाद में अनेक राधावल्लभीय महानुभावो ने अपनी सरस एव सुन्दर वाणी में 'व्याहुला' का वर्णन किया। ऐसा सुन्दर एव मोहक वर्णन अन्य किसी वैष्णव सम्प्रदाय में उपलब्ध नही होता।[2]

सम्वत् १५६८ में शरद् ऋतु में मनोहरीदासी नामक पत्नी से श्री मोहनचन्द्र नामक पुत्र उत्पन्न हुए।[3]

## ग्रंथ रचना

श्री हितहरिवशजी के दो प्रमुख ग्रन्थ विख्यात हैं। राधासुधानिधि सस्कृत का राधा-स्तुति-विषयक स्तोत्र ग्रथ है। इस ग्रथ की रचना के विषय मे यह साम्प्रदायिक किम्वदन्ती है कि हरिवशजी ने शैशव मे ही इस ग्रन्थ का उच्चारण किया था। जनश्रुति के विवाद मे न पडकर ग्रथ की विषय-वस्तु और वर्णन-शैली के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हितजी की राधा-निष्ठा की जैसी सुन्दर एव सरस अभिव्यक्ति देववाणी के माध्यम से इस ग्रन्थ में हुई है वैसी किसी और भावुक भक्त या कवि की उपलब्ध नही होती। इस ग्रन्थ का विशद विवेचन हमने स्वतत्र रूप से अष्टम अध्याय में किया है। हितजी की दूसरी सुप्रसिद्ध रचना 'हित चौरासी' है। इसमें राधावल्लभ सम्प्रदाय की मूल भावना काव्य के सरस माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। चौरासी पदो का यह सग्रह किस काल से किस काल तक तैयार हुआ यह निर्णय करना कठिन है। प्रतीत होता है अपनी आभ्यन्तर प्रेरणा और भावना के अनुकूल विभिन्न काल में इन पदो की रचना होती रही और अन्त में इन्हे एक सूत्र मे ग्रथित करके 'हित चौरासी' नाम प्रदान कर दिया गया। ये समस्त पद गेय होने के कारण विभिन्न रागो के आधार पर लिखे गये हैं जो सगीत-शास्त्र की कसौटी पर खरे उतरते हैं। चौदह रागो का इनमे प्रयोग हुआ है। इनका विषय राधामूलक भावना की विविध रूपो में अभिव्यक्ति कहा जा सकता है। किसी दार्शनिक विचारधारा की ऊहापोह या गूढ व्यजना इनमें नही है। रचना की प्रौढता इस बात का प्रमाण है कि ये पद श्री हरिवशजी ने अपनी साधना के चरमोत्कर्ष के समय में लिखे थे। राधासुधानिधि में शब्द परिवर्तन मात्र से एक ही भाव की जैसी बार-बार आवृत्ति हुई है वैसी इसमें नही है। इन पदो को हितजी

---

द्रष्टव्य—

१—श्री हरिदास तुलाधार का चरित्र—भगवत्मुदित कृत रसिक अनन्यमाल।
" " " " " नाभाजी कृत भक्तमाल, पृष्ठ ८४२, छप्पय ७३३।

२—राधासुधा निधि—श्लोक ५६ तथा हित चौरासी पद सं० ६१।

३—श्री मोहनचन्द्र जी के जन्मोत्सव का वर्णन श्री जयकृष्णजी की वाणी में पठनीय है।

के जीवन-काल मे ही सम्प्रदाय का आधार ग्रथ होने का सौभाग्य मिल गया था । मन्दिर की सेवा-पूजा विधि मे यथासमय इनका उपयोग भी प्रारम्भ हो गया था । इन पदो की माधुर्य-व्यजना ने तत्कालीन भक्तो को एक ऐसी प्रेरणा प्रदान की थी कि जहाँ माधुर्य-भक्ति के लिये विशेप गुंजाइश न थी वहाँ भी माधुर्य-भाव पूर्ण शृङ्गारपरक अभिव्यक्तियो द्वारा प्रविष्ट हो गया । सूरदास आदि अष्टछाप के कवियो की माधुर्य-भक्ति पर स्पष्ट ही हित-हरिवशजी के इन पदो की छाप देखी जा सकती है । यह ग्रन्थ सम्प्रदाय का आधार ग्रन्थ समझा जाता है ।

अपनी साम्प्रदायिक तथा सैद्धातिक भावना को स्पष्ट करने के लिये हितहरिवशजी ने सत्ताईस स्फुट पद लिखे हैं जो तीसरी रचना कही जा सकती है । इन पदो में तेईस रागो पर आश्रित गेय पद हैं और चार दोहे हैं । इन स्फुट पदो की रचना भी यथासमय होती रही और विषयवस्तु की दृष्टि से इन्हे चौरासी पदो से पृथक् सकलित कर दिया गया । पदो के अनुशीलन करने से इस तथ्य को भली-भाति हृदयङ्गम करना कठिन प्रतीत होता है ये समस्त पद सिद्धात को स्पष्ट करने के उद्देश्य से ही लिखे गये हैं । अन्त मे जो चार दोहे सकलित हैं उनमे निश्चय ही सुन्दर शैली से सिद्धात प्रतिपादन हुआ है । दोहे सारगर्भित, गूढ सैद्धान्तिक भित्ति पर प्रतिष्ठित हैं ।

चौथी रचना 'यमुनाष्टक' नाम से प्रसिद्ध है । इसमे यमुना की स्तुति मे सस्कृत के आठ श्लोक हैं । निर्विवाद रूप से इस अष्टक को हितहरिवशजी का सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नही मिलते । किन्तु यह अष्टक हितजी के नाम से विख्यात चला आ रहा है । इन चारो ग्रथो की समीक्षा हमने पृथक् अध्याय मे की है । यहाँ केवल सामान्य निर्देश मात्र कराने के लिए इतना लिखा गया है । इन चारो ग्रथो की हमने अनेक हस्तलिखित प्रतिया देखी हैं अत उनके आधार पर प्रामाणिकता आदि का निर्णय भी उसी अध्याय में किया है । इन ग्रथो का रचना-काल निर्णय करना साधारणतः कठिन है किन्तु यह तो निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि हितहरिवशजी के वृन्दावन आने के बाद ही इनका प्रणयन हुआ होगा । अत सवत् १५९१ से सवत् १६०९ के मध्य ही इनका रचनाकाल स्थिर किया जा सकता है ।

## निकुँजगमन

प्राचीन वाणियो के आधार पर श्री हरिवशजी के निकुँजगमन की तिथि १६०९ ठहरती है । आश्विन मास की शरद् पूर्णिमा के दिन आपने इहलोक-लीला सवरण की । आपकी मृत्यु से रसिक-समाज, जिसका सगठन वृन्दावन में आपकी अध्यक्षता में हुआ था— बिखर गया । श्री हरिराम व्यास ने आपकी मृत्यु पर बहुत ही मार्मिक पद लिखा है । 'बडौ अभाग्य अनन्य सभा को उठि गयौ ठाठ सिंगार ।[1] रसिक-समाज के छिन्न-भिन्न होते ही

---

१—हुतौ रस रसिकनि को आधार ।
बिनु हरिवंसहि सरस रीति को कापै चहिहै भार ।

विभिन्न सम्प्रदायो के मतवाद फिर से जीवित हो उठे और वैर-विरोध, ईर्ष्या-द्वेष की भावना जो रस की अजस्र वर्षा में शान्त हो गई थी फिर से प्रवल हो गई।

श्री हरिवशजी के देहावसान के सम्बन्ध में कुछ भ्रातियाँ भी प्रचलित हैं जिनका निराकरण करना हम आवश्यक समझते हैं। कहा जाता है कि श्री हरिवशजी के विरोधियो ने एक दिन मौका पाकर तलवार से उनका सिर काटकर वध कर दिया। यह प्रवाद मूल रूप से बगला के 'प्रेम-विलास' नामक ग्रथ के भ्रमपूर्ण उल्लेख से फैला है। विद्वान् लेखको ने यद्यपि इसकी प्रामाणिकता को सर्वथा सदिग्ध ठहराया है और युक्ति, तर्क, प्रमाण के आधार पर इसे उन्नीसवी शताब्दी का कहा है, किन्तु साम्प्रदायिक मनोमालिन्य के कारण इस ग्रथ द्वारा प्रवर्तित अनेक भ्रान्तिया फैल गई हैं। इस प्रकरण मे 'प्रेम विलास' ग्रथ के रचयिता का नाम नित्यानन्द वताया जाता है और रचना-सम्वत् १६५७ विक्रम। यह ग्रथ सम्वत् १६६६ में प्रकाशित भी हुआ है। प्रकाशक ने ग्रथ में किसी यदुनन्दन दास कृत 'करुणा-नन्द' नामक ग्रथ के तथा कतिपय अन्य हस्तलिखित ग्रथो के उद्धरण इसमें दिये हैं किन्तु उनकी प्राचीनता का कोई प्रमाण नही दिया। प्रकाशक स्वय लिखता है कि जिन हस्तलिखित प्रतियो के उद्धरण इस पुस्तक में दिये हैं उनका लिपिकाल ज्ञात नही अत केवल अनुमान के आधार पर इसे सम्वत् १६५७ वि० का कहा जाता है। जो दो-तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ 'प्रेम विलास' की मिली हैं उनमें २४ विलास न होकर किसी में १६, किसी में १७ और किसी में २० विलास हैं। केवल एक हस्तलिखित प्रति मे लिपिकाल शाके १८३४ (वि० स० १६६७) लिखा है। उसी में यह भी लिखा है कि यह प्रति जिस मूल हस्तलिखित प्रति से तैयार की गई है उसका समय शाके १७७२ (वि० स० १६०७) है। इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि इस ग्रथ की रचना सम्वत् १६०७ के आसपास हुई होगी। प्राचीन प्रति में केवल १६ विलास (अध्याय) हैं किन्तु वाद की प्रतियो में इसकी संख्या निरतर बढती रही है। 'हरिवश चरित्र' उन १६ अध्यायो में नही आता जो प्राचीन लिपि मे है। १८ वा विलास हरिवश चरित्र सम्वन्धी है जो निश्चय से प्रक्षिप्ताश है, वाद के वर्द्धमान अध्यायो का ही एक अश है। इस ग्रथ की अप्रामाणिकता के लिए आभ्यतर प्रमाण भी दिये जा सकते हैं। हरिवश चरित्र लिखते समय प्रारम्भ से अन्त तक असत्य, भ्रामक और इतिहास-विरुद्ध वातें लिखी गई हैं। उदाहरणार्थ, हरिवशजी की सन्तान का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

को राधा दुलरावै गावै वचन सुनावे चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी कहि है कौन उदार।
पद रचना अव कापै ह्वै है, निरस भयौ ससार।
वडो अभाग्य अनन्य सभा को, उठिगो ठाठ सिंगार।
जिन विनु दिन-छिन सतजुग वीतत सहज रूप आगार।
व्यास एक कुल कुमुद वधु विन उडगन जूंठो थार।
—हरिराम व्यास, व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध)--पद स० ८१

'अपराध देहेर दुइपुत्र होइल तार।
वनचन्द्र और वृन्दावनचन्द्र नाम जार॥'

श्री हरिवशजी की सन्तान मे वृन्दावनचन्द्र नामक किसी पुत्र का होना कही नही मिलता। इसके आगे यह भी लिखा है कि हरिवशजी के पूर्वस्वरूप (गृहस्थ-जीवन) मे दो पुत्र और थे, उनके नाम कृष्णदास और सूर्यदास थे—

पूर्वे हरिवशेर आरउ दुइपुत्र हय,
कृष्णदास सूर्यदास जार नाम राख॥'

श्री हरिवशजी के देववन्द के निवास आदि का कोई वर्णन इस ग्रथ मे प्रामाणिक शैली से नही है। सक्षेप मे, उपर्युक्त विवरण से 'प्रेम विलास' ग्रथ की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाती है अत. इस ग्रंथ की वातें भी उपादेय नही ठहरती। फलत इस ग्रथ मे निकुंज-गमन के सम्वन्ध में जो मिथ्या वातें लिखी हैं वे साम्प्रदायिक विद्वेष का ही परिणाम है, उनका कोई ऐतिहासिक आधार नही है।

इस ग्रथ के आधार पर ही कतिपय अन्य विद्वानो ने भी श्री हरिवशजी की मृत्यु का कारण दस्युओ द्वारा वध वताया है। श्री प्रभुदत्त व्रह्मचारी ने अपने 'भगवती कथा' [1] नामक ग्रथ मे 'ससार के महापुरुषो का मरण पथ' मे लिखा है कि 'आचार्य हरिवशजी का विपक्षियो ने सिर काट लिया।' श्री प्रभुदत्त व्रह्मचारी ने अपने एक दूसरे लेख मे भी इस वात को दुहराया है। 'महापुरुषो का वलिदान' शीर्षक लेख दिल्ली के साप्ताहिक 'नवयुग' में प्रकाशित हुआ था, उसमे भी यही लिखा है कि 'राधावल्लभ सम्प्रदाय के आदि आचार्य श्री हितहरिवशजी महाराज का सिर उनके प्रतिपक्षियो ने काट लिया था।'[2] श्री व्रह्मचारीजी के पास इस तथ्य की पुष्टि के लिए कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही है। किस आधार पर उन्होने यह लिखा, यह भी कही स्पष्ट नही किया। साम्प्रदायिक विद्वानो से विचार-विमर्श करने पर विदित हुआ कि इस किम्वदन्ती को फैलाने मे पारस्परिक विरोध तथा वैमनस्य ही कारण है। इस घटना को पूरी कहानी वना कर प्रतिपक्षी सम्प्रदायो मे कहा-सुना जाता है। कहानी यो हैं कि "श्री हरिवशजी की स्वतन्त्र उपासना-पद्धति मे तथाकथित वैष्णव तत्त्वो की अवहेला देखकर कुछ वैष्णव रुष्ट हुए और उन्होने डाकुओ को प्रलोभन देकर उनका सिर कटवा लिया। डाकुओ ने सिर काटकर जमुना में प्रवाहित कर दिया जो तैरता हुआ श्री गोपाल भट्ट जी को दृष्टिगत हुआ। उन्होने द्रवित होकर उसे उठाया और हरिवशजी के शिष्यत्व से प्रसन्न होकर उनका उद्धार किया।" इस घटना के मूल में श्री गोपाल भट्ट को गुरु सिद्ध करने की वात भी अन्तर्निहित है अत. कोई भी निष्पक्ष व्यक्ति समझ सकता है कि यह सव कपोल-कल्पित जल्पना मात्र है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय का साहित्य और इतिहास काल के धुध मे छिपा नही है। श्री हरिवशजी के जन्मकाल से लेकर आज तक इस सम्प्रदाय की सम्पूर्ण परम्परा, इतिहास,

---

१—'भगवती कथा' २३ वां अंक, प्रथम संस्करण (भूमिका) ले० श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी।
२—साप्ताहिक नवयुग, दिल्ली, वर्ष १६ अंक ६, फरवरी १९४८, पृष्ठ १, पाचवां अनुच्छेद।

साहित्य और वाणियो मे उपलब्ध है। कोई श्रृ खला न तो लुप्त हुई है और न अधकार मे है अत श्री हरिवशजी की मृत्यु की इस कल्पित घटना के लिए कही कोई स्थान शेष ही नही रहता। पाच सौ के लगभग वाणी-ग्रथो मे जिनमें चार सौ वर्ष प्राचीन वाणियाँ भी सम्मिलित हैं इस घटना का कही, किसी रूप मे उल्लेख नही है। यदि इस घटना मे तनिक भी सत्याश होता तो कोई न कोई लेखक इसे अवश्य लिखता। इसीलिए आज इस घटना को भी विद्वान्, ऐतिहासिक नही मानता। गोपाल भट्ट जी को गुरु सिद्ध करने की भावना से सिर काटना और उनके द्वारा उद्धार करना भी साम्प्रदायिक पक्षपातपूर्ण सकीर्ण मनोवृत्ति का सूचक है। हमने इस बात की छानबीन का पूरा प्रयत्न किया कि कही किसी स्थल पर कोई सकेत मृत्यु-सम्बन्धी इस घटना की पुष्टि करने वाला मिले किन्तु हमे आज तक उपलब्ध न हो सका। अनुश्रुतियो, किम्वदन्तियो, लीलाओ, मन्दिरो-मठो, पुरातन-पोथियो का भली-भाँति अनुशीलन करने पर भी हम यह उल्लेख किसी रूप मे भी नही पा सके। 'प्रेम-विलास ग्रन्थ' ( बगला ) के आधार पर कल्याण, भगवती कथा, और नवयुग में जो उल्लेख हुआ है उसका खडन हमने ऊपर की पक्तियो मे किया ही है अत यही निष्कर्ष निकलता है कि श्री गोस्वामी हितहरिवशजी का निकुजगमन सम्वत् १६०९ की आश्विन मास की शरद् पूर्णिमा को मध्याह्नोपरान्त हुआ। आज भी इसी तिथि को उनका उत्सव साम्प्रदायिक मन्दिरो में मनाया जाता है।[1] वाणी-ग्रथो में श्री उत्तमदास जी, श्री जयकृष्णजी, श्री व्यासजी, श्री अति-वल्लभजी ने इनका चरित्र वर्णित किया है किन्तु कही भी निकुंजगमन की सहज गति के अतिरिक्त कुछ नही लिखा। निस्सदेह ऐसे महापुरुष का चरित्र ही इस बात का प्रमाण है कि उनकी जीवन-लीला भगवान् के चरणो में ही व्यतीत हुई और अवसान भी भगवान् की नित्य विहार लीला का स्मरण करते-करते स्वाभाविक रूप से हुआ। 'भागवत सम्प्रदाय' ग्रन्थ मे

---

१—मानसरोवर ढिग रमनीय, भवन भवरनी अति कमनीय ॥ ४ ॥
प्रिया जोन्ह में ज्यों मिल गई, सहचरि स ग लगी छवि छई ॥ ५ ॥
ऐसे ही श्री हरिवश गुँसाईं, महल पधारें सो सव गाई।
सम्वत् सोलह सै रु नौ, आस्विन् पूनौ स्वच्छ ॥ ६ ॥
ता दिन श्री हरिवश वपु, दीसत नाहि जग अच्छ ॥ ७ ॥
—श्री उत्तमदास जी की वाणी (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)
'सरद मास राका उजियारी, पूरण ससी प्रकाशित भारी ॥ ४३ ॥
प्रिया जोन्ह में तहाँ मिल गई, तिहि छिन सहचरि सम्भ्रम भई।
कहतिकि कहा-कहा हो लली, सौंधे के डौरे लगि चली ॥ ४४ ॥
दृष्टान्तर त्यो श्री हरिवश, मानसरोवर रस के हस।
सम्वत् सोलह सौरु नव, पूनो आस्विन मास ॥ ४५ ॥
ता दिन श्री हित जग दृगनि कियो अप्रगट विलास ॥ ४६ ॥
—श्री जयकृष्ण जी की वाणी (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

आपकी मृत्यु के सम्बन्ध मे लिखा है—'पचास वर्ष की आयु मे सम्वत् १६०९ वि० की शारदीय पूर्णिमा के दिन आपने अपनी अन्तरंग लीला मे प्रवेश किया।'[1]

श्री हितहरिवशजी के निकुंज-प्रवेश का समय कुछ विद्वानो ने सवत् १६२२ से संवत् १६४० के मध्य ठहराया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में लिखा है 'ओरछा नरेश मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यासजी सवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। +++ इनका रचना-काल सवत् १६०० से १६४० तक माना जा सकता है।'[2] श्री वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रथ 'भक्त कवि व्यासजी' में भी श्री हरिवशजी का निधन-काल सवत् १६२२ के पश्चात् ही माना है। उनके मन्तव्य का आधार यह है कि सवत् १६१२ से पूर्व श्री हरिराम व्यास और श्री हितहरिवशजी की भेट नही हुई थी। यदि सवत् १६०९ को ही निधन काल माना जाय तो दोनो का मिलन भी सम्भव नही होता। वे लिखते हैं—'हितजी के निधन पर व्यास जी द्वारा कहे गये विरह के पद 'जिन विनु दिन छिन सतजुग बीतत सहज रूप आगार' आदि कथन में जिस प्रकार के भावोद्गार हैं, उनमें उस समय व्यासजी का हितजी के समीप ही वृन्दावन में होना प्रकट होता है जो सवत् १६१२ के पूर्व सम्भव नही है। +++ सवत् १६२२ के पश्चात् हितहरिवशजी की उपस्थिति अवश्य ही रही होगी, क्योकि उस समय व्यासजी की आयु ५५ वर्ष की ही थी और हितहरिवशजी के सम्मुख व्यासजी का 'सुख निरखत बीते तीनो पन' वाला कथन अपनी ५५ वर्ष से अधिक ही अवस्था मे अनुमानित होता है।'[3] श्री वासुदेव गोस्वामी के इस कथन पर विचार करने के लिये व्यासजी की जन्मतिथि तथा वृन्दावन आगमन तिथि पर विचार करना आवश्यक है। व्यासजी सवत् १६९१ मे जब प्रथम बार वृन्दावन आये थे तभी उन्होने हितजी का सामीप्य लाभ किया था और तभी से वे हितजी के अनुयायी भक्त हो गये थे। उन्हे सवत् १६१२ मे दर्शन लाभ का अवसर मिला हो, ऐसी बात नही है। भगवत मुदित की वाणी के आधार पर व्यासजी का वृन्दावन आगमन काल १५९१ ही ठहरता है। राधावल्लभ जी का पाटोत्सव सम्वत् १५९१ में हुआ उसी समय आप आये थे। भगवत मुदित ने व्यासजी का चरित्र ५९ पदो में विस्तारपूर्वक लिखा है। वही ४२ वर्ष की आयु मे वृन्दावन आने का भी उल्लेख है।[4] उत्तमदास जी कृत रसिकमाल मे भी व्यासजी का चरित्र है उसमें भी यही समय है। अत. वासुदेव गोस्वामी जी का सवत् १६१२ का आधार

---

१. 'भागवत सम्प्रदाय'—लेखक श्री वलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४२३।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २०२–२०३।

३. भक्त कवि व्यासजी—लेखक श्री वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ७२-७३।

४. कबहूँ वृन्दावन गुन गावे, रसिक भक्ति में मन ललचावे।
ऐसेहि करत ठीक नहि करी, वरष बयालिस आयुस टरी॥
एक दिन नवल वैरागी आए, व्यास मिले अति ही हरषाए।
श्री राधावल्लभ इष्ट बताए, नित्य विहार के भेव बताये॥

सिद्ध नही होता । हा, उनकी दूसरी युक्ति मे कुछ वल अवश्य है किन्तु उससे यह निष्कर्प नही निकाला जा सकता कि व्यासजी का तीसरा पन और हित जी का निधन काल बाद मे आया होगा । सम्वत् १६०९ में जब हितहरिवशजी का निधन हुआ व्यासजी की आयु ६० वर्ष की थी जो वृद्धावस्था की आयु मानी जा सकती है । इस सम्बन्ध मे हमने व्यासजी के चरित्र में विस्तार-पूर्वक लिखा है । यहाँ केवल सकेत मात्र ही पर्याप्त होगा ।

श्री हितजी की निकुँजगमन तिथि का निर्णय करने के लिए साम्प्रदायिक वाणी-ग्रथो के प्रचुर प्रमाणो के अतिरिक्त उनके विन्दु-परिकर तथा पुत्रो के गद्दी पर बैठने की तिथि को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये । सम्वत् १६०९ की शारदीय पूर्णिमा के दिन श्री हितजी के निकुँज-प्रवेश करने पर श्री वनचन्द्र गोस्वामी गद्दी पर वैठे इसका उल्लेख मन्दिर की वशावली मे दिया हुआ है । उसी दिन वनचन्द्रजी का उत्सव आदि भी होता है । यदि सम्वत् १६४० के आसपास उनका गद्दी-अभिषेक हुआ होता तो उसी तिथि का उल्लेख और प्रचार मन्दिर के उत्सवो मे भी होता । अत सवत् १६०९ की शरद् पूर्णिमा को ही श्री हितहरिवशजी की निधन-तिथि मानना चाहिये । अग्रेज लेखको मे ग्रियर्सन ने श्री हितहरि-वशजी की आयु का वर्णन 'इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजस एण्ड ईथिक्स' नामक ग्रथ में अपने भक्ति-मार्ग शीर्पक लेख के अन्तर्गत किया है । वे लिखते हैं कि मृत्यु के समय हरिवशजी की आयु ६५ वर्ष की थी । किस आधार पर ग्रियर्सन महोदय ने यह लिखा है इसका कोई प्रमाण नही दिया । प्राचीन वाणी ग्रन्थो का अध्ययन इतनी लम्बी आयु के पक्ष में नही है ।[1]

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

चलि वृन्दावन दरसन कीजै, श्री हरिवशहि को गुरु कीजै ।
कातिक लगत वृन्दावन आए, नवल रसिक सग लिए सुहाए ॥

—श्री भगवत मुदित कृत रसिक अनन्यमाल से उद्धृत
(प्रति काल १७८९ वि० सम्वत्)

1 'Hari Vansh was about sixty five years of age at the time of his death'

—Encyclopædia of Religions & Ethics, Vol X, Page 559

## चतुर्थ अध्याय

# भक्ति सिद्धान्त-विवेचन

## रस-भक्ति में दार्शनिकता का अभाव

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति-सिद्धात द्वैत या अद्वैत परक किसी विशिष्ट दर्शन-मार्ग पर आधृत नही हैं। इस सम्प्रदाय का मूलाधार प्रेम तत्व है अत प्रेम-लक्षणा भक्ति के उपर्युक्त उपकरणो का ही वर्णन आचार्यो ने किया है। इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का अनुशीलन करने के लिए हम उसे दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग मे भक्ति-विधायक सिद्धान्त रखे जा सकते हैं और दूसरे भाग में रसोपासना के सम्पादक नित्य विहार-सम्बन्धी चार तत्वो का समावेश हो सकता है। इसी आधार पर हमने सैद्धान्तिक विवेचन के निमित्त इन दो शब्दो का चयन किया है। भक्ति-सिद्धान्तो मे प्रेम, हित, प्रेम-नेम, प्रेम-काम, विधि-निषेध, मान, विरह, मिलन, अर्चा-उपासना विधि का वर्णन होने के कारण गहन दार्शनिक चिन्तन के लिए अवकाश नही रहता, किन्तु रस दर्शन के अन्तर्गत राधा और कृष्ण का स्वरूप सहचरी की स्थिति, वृन्दावन का नित्य नमित्तिक रूप और महत्त्व का विचार होने से इनके वर्णन मे दार्शनिक ऊहापोह के लिए अवकाश निकल सकता है। वैष्णव सम्प्रदायो में दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य रचना द्वारा द्वैत-अद्वैत-परक भाव-व्यजना प्रारम्भ से होती रही है अत यह जिज्ञासा स्वाभाविक है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय का इस दिशा में क्या मन्तव्य है। क्या इस सम्प्रदाय में अद्वैतवादी दृष्टि से राधा और कृष्ण का ऐक्य मानकर शकराचार्य का अनुगमन किया गया है या किसी अन्य आचार्य द्वारा प्रतिपादित अद्वैत-परक भावना की पुष्टि की गई है। इसी प्रकार की अन्य सम्भाव्य शकाओ के लिए स्थान होने से इस सम्प्रदाय के परवर्त्ती कतिपय विद्वान् महानुभावों ने अपने सम्प्रदाय की दार्शनिक मान्यता स्थिर करने की चेष्टा की है। किन्तु हम उनके दृष्टिकोण से सहमत नही हैं अतः संक्षेप मे दार्शनिक मतवाद पर कुछ कहना आवश्यक समझते हैं।

सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्य श्री हितहरिवश गोस्वामी ने ब्रह्मसूत्रो पर कोई भाष्य नही लिखा। गोस्वामी जी द्वैत और अद्वैत की जटिलता से वचकर एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करना

चाहते थे जिसका अनुगमन करने वाले प्रेमी भक्त को किसी दुरूह एव शुष्क दर्शन की उलझन मे फसकर अपने प्रेम-पथ का त्याग न करना पडे। वे नही चाहते थे कि अद्वैत को स्वीकार कर माया के बन्धन में पडें अथवा शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत या विशिष्टाद्वैत के प्रपच में पडकर रस की सरसता मे वचित हो। फलत उन्होने इस प्रकार के किसी शुष्क तार्किक एवं दार्शनिक मतवाद को अपने सम्प्रदाय में स्थान नही दिया। दूसरे शब्दो में हम कह सकते हैं कि इस सम्प्रदाय मे न तो दार्शनिक जटिलता है और न भक्ति-सिद्धात का शास्त्रीय विवेचन ही। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओ की सहज स्वीकृति और सरस अभिव्यक्ति ही राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नींव और रसोपासना का आधार है।

किन्तु हमारे उक्त कथन से स्थिति सर्वथा हमारे पक्ष में नहीं आती। आचार्य हित-हरिवंश और सेवकजी की वाणी में जो उपलब्ध नही होता वह भी परवर्त्ती गोस्वामियो तथा साधु-शिष्यो द्वारा इस सम्प्रदाय की उपासना-पद्धति के विषय में कहा गया और ऐसे-ऐसे सिद्धान्त स्थिर किये गए जिन्हे देखकर आश्चर्य हुए विना नही रहा जाता। इस सम्प्रदाय में भी शकराचार्य की शैली से 'राधावल्लभीय भाष्य' लिखे गये। वेदान्त सूत्रो पर टीका तैयार हुई और दार्शनिक नामकरण करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के दर्शन को 'सिद्धाद्वैत' नाम दिया गया। ब्रह्म और जीव के अभेद सम्बन्धो की स्थापना में राधाकृष्ण का अभेद बताकर इस सिद्धाद्वैत की सम्पूर्ण पीठिका तैयार कर दी गई। 'सिद्धाद्वैत' का प्रयोग शब्दार्थ की दृष्टि से ही असगत प्रतीत होता है फिर भी वर्तमान काल के साम्प्रदायिक ग्रन्थो में इसका प्रयोग कतिपय विद्वानो ने किया है। ब्रह्म सम्प्रदाय के (ब्रह्म-चराचर में व्याप्त ईश्वरीय शक्ति, चतुर्भुज ब्रह्मा नही) अन्तर्गत इस सम्प्रदाय का परिगणन किया गया और सर्वतो-भावेन इसे अन्य वैष्णव सम्प्रदायो की भाँति चतु सम्प्रदाय की परम्परा में ही स्थिर करने का निष्फल प्रयत्न हुआ। यह प्रयत्न आद्य आचार्य की मान्यता के सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी तथाकथित वैष्णव धर्म की सीमाओ में समाविष्ट होने की अव्यक्त इच्छा का ही परिणाम है।

## सिद्धाद्वैत

'सिद्धाद्वैत' शब्द का प्रयोग इस सम्प्रदाय में दार्शनिक सिद्धान्त के लिए सर्वथा अर्वाचीन है। विगत चालीस वर्ष से यह शब्द दो-चार स्थल पर लिखने-पढने में आया है। इस सम्बन्ध में हम 'अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा', वृन्दावन द्वारा प्रकाशित व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध) की भूमिका का उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। इस भूमिका के लेखक गोस्वामी मुकुन्द वल्लभाचार्य जी विभिन्न वैष्णव सिद्धान्तो का दार्शनिक मतवाद प्रतिपादित करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के विषय मे लिखते हैं—'श्री हिताचार्य के अनुयायियो का सिद्धान्त 'सिद्धाद्वैत' है[1]। सिद्धाद्वैत से आपका क्या अभिप्राय है यह स्पष्ट नही किया है। 'श्री हित सुधासागर' नाम से श्री हितहरिवशजी के पदो का गुजराती मे जो

---

१—श्री व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध) भूमिका—पृष्ठ ८
प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन।

सकलन प्रकाशित हुआ है उसकी भूमिका के प्रारम्भ में ही श्री गोस्वामी हितरूपलाल जी इस सम्प्रदाय के विषय में लिखते हैं—'अब सनातन सिद्धाद्वैत मतैकनिष्ठ अनन्य श्री हित राधावल्लभीय (ब्रह्म) सम्प्रदाय क्या है ? कब से है ? क्यो है ? इत्यादि समझना···।'[1] इसमे भी सिद्धाद्वैत मतैकनिष्ठ कहकर दार्शनिक नाम देने का प्रयत्न स्पष्ट परिलक्षित होता है। गोस्वामी श्री युगलवल्लभ जी लिखित 'सिद्धान्त सार स्मृति' नामक पुस्तिका मे भी सिद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया गया है—

यदेकमभवद्द्वैतं तदेवैव विचारितम् ।
तेनैवद्वैत मे कस्याच्छ्रीराधावल्लभ प्रभुः ॥[2]

उपर्युक्त श्लोक की टीका व्रजभाषा गद्य में लेखक ने स्वय लिखी है जो इस प्रकार है—

भावार्थ—'जाई कारण "सिद्धाद्वैत सम्प्रदाय" जतायवेकूं विचार करिकै एक ही भूमि में जन्म धारण कीनो, जाई कारण करकै द्वैत तें अद्वैत श्री राधावल्लभ प्रभु प्रकट होते भये। + + +। याही तै सिद्धाद्वैत सम्प्रदाय श्री हिताचार्य ने प्रकट कीनो।' उपर्युक्त स्थलो मे सिद्धाद्वैत से क्या तात्पर्य है यह कही भी स्पष्ट रूप से नही कहा गया। जो अर्थ सिद्धाद्वैत शब्द से गृहीत होता है वह है—सिद्ध है अद्वैत जिसमे या जहा वह सिद्धाद्वैत। अर्थात् राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा और कृष्ण का अद्वैत स्वत सिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए माया आदि कारणो के निराकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता नही होती। यहा न तो शकराचार्य के अध्यास की प्रतीति है और न किसी मिथ्या आवरण से अज्ञान होता है। अत सिद्धाद्वैत शब्द से नित्य-सिद्ध अद्वैत स्थिति समझनी चाहिए। किन्तु यह शब्द यदि इस अर्थ का द्योतक माना जाय तो राधाकृष्ण का अद्वैत स्वीकार किया जायगा या जीव और ब्रह्म का ? साथ ही यदि अद्वैत है तो लीला मे द्वित्व प्रतीति के लिए क्या समाधान प्रस्तुत किया जायगा ? अत इस शब्द को हम केवल अनुकरणात्मक ही समझते हैं। अपने प्रयोग के आदिकाल से इमे सार्वभौम रूप से स्वीकार नही किया गया और शनै-शनै इसका अनौचित्य व्यक्त होता जा रहा है। फलत आज राधावल्लभ सम्प्रदाय मे या अन्य वैष्णव सम्प्रदायो मे इस शब्द को कोई स्थान प्राप्त नही है। यथार्थ मे प्रेमतत्व के भीतर ही इस सम्प्रदाय का रस-दर्शन निहित है अत शास्त्रीय जटिलतापूर्ण दार्शनिकता का हमने अभाव बताया है।

## राधावल्लभीय भाष्य

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री आचार्य हितहरिवशजी ने प्रस्थानत्रयी पर कोई भाष्य नही लिखा। इतना ही नही दार्शनिक शैली से-सैद्धान्तिक विवेचन करना भी आपको अभिप्रेत नही था अत रसमार्ग से बाहर किसी प्रकार की कोई अभिव्यक्ति भी नही की। यदि दर्शन के आधार पर आपको अपना मन्तव्य प्रकट करना अभीष्ट होता तो अवश्य ही वे अपने पदो में या 'राधासुधानिधि' मे इस प्रकार

---

१—श्री हित सुधा सागर, प्रकाशिका—सोने वाली छोटी सेठानी शुभकौरबाई, पृष्ठ—ग

२—सिद्धान्तसार स्मृति, ले० गोस्वामी युगलवल्लभ (वृन्दावन)—पृष्ठ १२ ६

का सकेत प्रस्तुत करते । श्री हितहरिवशजी के पश्चात् इनके अनुयायियो ने अपने सम्प्रदाय की भावना को दार्शनिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया जिसके फलस्वरूप ब्रह्मसूत्रो पर भाष्य-रचना हुई ।

१—राधावल्लभीय भाष्य के नाम से अब तक हमारे देखने में दो और सुनने में चार भाष्य आये हैं । इनमें से प्रथम भाष्य का सम्पूर्ण आकार-प्रकार हमने स्वय देखा नही है, केवल दो सूत्रो के भाष्य का हिन्दी रूपान्तर मात्र 'श्री सुदर्शन' पत्रिका में प्रकाशित हुआ पढा है । श्री सुदर्शन पत्रिका मे गोस्वामी श्री रूपलाल जी का एक लेख इस भाष्य के सम्बन्ध में प्रकाशित हुआ था । उसके प्रारम्भ में परिचयात्मक रूप से निम्नलिखित वाक्य लिखे हैं—

'भगवान् श्री वेदव्यासजी प्रणीत ब्रह्मसूत्रो पर श्रीमद्धिताचार्य महाप्रभु पाद के द्वितीय पुत्र दिग्विजयी विद्वान् श्रीमद्गोस्वामी श्रीकृष्णचन्द्र प्रभु पाद ने अनन्य श्री राधावल्लभीय धर्म एवं परात्पर श्री हित तत्व को हस्तामलक कराने के लिए एक सुवृहद् भाष्य निर्माण किया एव श्री कर्णानन्द, श्री राधानुनय विनोद काव्य आदि अनेक ग्रथो की भी रचना की । सम्प्रति श्री राधावल्लभ भाष्य के १-२ सूत्रो का अनुवाद ही पाठको के समर्पण हैं ।' [1]

इस लेख में पहला सूत्र 'तत्तुसमन्वयात्' अ० १ पा० १ सूत्र ४ का भाष्य (हिन्दी अनुवाद) उद्धृत हुआ है । भाष्य की शैली प्राचीन है किन्तु ब्रह्म निरूपण के स्थान पर हित तत्त्व की प्रतिष्ठा की गई है । हित का तात्विक विवेचन करते हुए समन्वय शब्द पर इस भाष्य में इस प्रकार विचार व्यक्त किये गये हैं—

'इस समस्त विश्व मे हित रूप से परमात्मा का समन्वय है । हित परस्पर प्रेम की एकता को कहते हैं । प्रेम में सयोग और वियोग दोनो एक साथ रहते हैं । सयोगावस्था में भी विरह और विरहावस्था में भी सयोग रहता है । ज्ञान, शक्ति क्रिया आदि दोनो अवस्थाओ में कभी व्यक्त, कभी अव्यक्त दशा मे रहती है ।' [2]

दूसरा सूत्र जो उद्धृत हुआ है वह है 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' अ० १ पाद २ सूत्र १ । इसका भाष्य इस प्रकार प्रारम्भ हुआ है—'प्रथम पाद मे ब्रह्म का लक्षण निरूपण किया जा चुका है अब इस पाद मे ब्रह्म के स्वरूप का विचार करते हैं । गत पाद में आनन्द, रस अथवा हित ही ब्रह्म है वह निर्णय कर चुके हैं अब यहाँ उस रस या हित का स्वरूप कैसा है, इस बात को समझाने के लिये भगवान् सूत्रकार कहते हैं कि वह परमात्मा 'हित' सर्वत्र है क्योकि ऐसा उपदेश सर्वत्र वेदान्तो एव स्मृतियो मे सर्वत्र प्रसिद्ध है ।'[3] आदि

उपर्युक्त भाष्य का मूल रूप सस्कृत मे है ऐसा कहा जाता है किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी हमारे देखने में नही आया । यदि यह मूल रूप में सामने आए तो विवेचन का

---

१—श्री सुदर्शन पत्रिका—माघ सम्वत् १९९३ प्रकाश ३, किरण १—श्री राधावल्लभ भाष्य प्रेषक गो० श्री हित रूपलाल जी अधिकारी, पृष्ठ ९५-१०१

२—वही पृष्ठ ९७ ।

३—वही पृष्ठ ९९ ।

आधार अधिक पुष्ट और प्रामाणिक हो सकता है। भाष्य के हिन्दी रूपान्तर को देखकर यही कहा जा सकता है कि यह 'हित तत्त्व' की स्थिति को व्यापक और तात्त्विक बनाने के उद्देश्य से लिखा गया है। दार्शनिक गूढ चिन्तन का इसमे अभाव है। उदाहरण आदि से जो भाव स्पष्ट किये गये हैं वे लौकिक एव व्यवहार्य तो हैं किन्तु दर्शन के सूक्ष्म धरातल तक उनकी पैठ नही है। यदि गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी ने यह भाष्य लिखा था तो उसे प्रकाश में क्यो नही लाया जाता, क्यो उसके आधार पर चतुरासी तथा सेवकवाणी का मर्मोद्घाटन नही किया जाता। हमें तो अभी तक इस भाष्य के सम्बन्ध मे गहरा सन्देह है। अच्छा हो जिन महोदय के पास यह भाष्य अद्यावधि सुरक्षित रहा है उसे अब वे प्रकाश मे लाकर भ्रमोच्छेदन का अवसर दें।

२—'राधावल्लभीय भाष्य' नाम से दूसरा भाष्य रीवा नरेश महाराज विश्वनाथ-सिंह जू देव का है जो रीवा के सरस्वती भडार मे आज भी सुरक्षित है। हमने भाष्य का विवरण प्राप्त किया और उसके प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त के आवश्यक पृष्ठो की प्रति-लिपि भी ली है। इस भाष्य मे २३४ पृष्ठ हैं। ग्रन्थ का आकार—१३ इच लम्बाई ५ इच चौडाई है। प्रति पृष्ठ मे ८ पक्तियाँ हैं। अनुष्टुप छन्दो का परिमाण ३२७६ है। गद्य-पद्य दोनो शैलियाँ हैं, नागरी लिपि में प्राचीन पत्राकार ढग से लिखा हुआ है। इस भाष्य को देखकर कतिपय शका-सन्देह स्वभावत पाठक के मन में आते हैं। महाराज विश्वनाथसिंह रामोपासक परम्परा के भक्त-गृहस्थ थे। विद्यारसिक होने के कारण आपने तत्कालीन माधुर्य भाव को स्वीकार करके पद रचना भी की है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय का वेदान्त परक भाष्य आपने लिखा यह अधिक युक्तिसगत प्रतीत नही होता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनके विषय मे लिखा है—'इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रथ दूसरो के लिखे हुये हैं'—[1] अत इस भाष्य के अनुशीलन और अध्ययन के बाद हम भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह भाष्य भी महाराज विश्वनाथसिंह के नाम से प्रख्यात मात्र है, उनका लिखा हुआ नही है।

इस भाष्य का मगलाचरण श्री रामचन्द्र, सीता, हनुमान आदि की स्तुति से होता है। चतुर्थ श्लोक में राधा की वन्दना है। पचम श्लोक मे श्रीकृष्ण की स्तुति है, षष्ठ श्लोक सरस्वती वन्दना का है। इसके बाद पार्वती, शिव तथा गणेश की स्तुति है। एकादश श्लोक प्रियादासाचार्य की वन्दना में लिखा गया है। ऐसा कहा जाता है कि ये प्रियादासजी राधावल्लभीय मतावलम्वी थे और इनका महाराज विश्वनाथसिंह जी पर अच्छा प्रभाव था। कुछ लोगो की ऐसी भी धारणा है कि यह भाष्य भी प्रियादासजी ने ही लिखा था किन्तु महाराज के नाम से प्रख्यात कर दिया।

इस भाष्य के मगलाचरण की शैली मे रामभक्ति को इतना अधिक स्थान लेखक ने दिया है कि वह राधावल्लभीय भक्ति तत्त्व से सर्वथा दूर ही है। कदाचित् लेखक ने महाराज विश्वनाथसिंह की रामभक्ति को सम्मुख रखकर यह किया हो। बीच-बीच में

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३४४।

राधा-भक्ति का सकेत भी रहता है किन्तु प्रारम्भ के पाँच पृष्ठों में दो श्लोक ही राधा-भक्ति के हैं शेष सब राम-भक्ति को माधुर्य भक्ति से सयुक्त करने के प्रयासमात्र हैं। प्रेमाभक्ति की उत्पत्ति की चर्चा गद्य भाग में ५-६ पृष्ठ पर है, वहाँ कहा है—

**'नदा ब्रह्मानारायण प्रणिपत्य विज्ञापयन्मे प्रेमाभक्ति कथं स्यादिति विज्ञापयामास, ततो नारायणो राधावल्लभमत्र ब्रह्माणमुपदिश्य वैकुठमाजगाम। ब्रह्मापि प्राप्तमनु' सत्यलोकमागत्य तन्मत्रप्रभावार्विभूत प्रेमस्फुरित श्रीरामानन्द निमग्नहृदय तस्थौ।'**[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस किसी ने यह भाष्य लिखा उसका अन्तर्निहित उद्देश्य माधुर्य भक्ति और रामभक्ति में ऐक्य स्थापित करना था। महाराज विश्वनाथसिंह रामभक्त थे किन्तु उनकी वृत्ति रसिक थी। उनके विषय में जो किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं उनसे भी यही प्रकट होता है कि वे विभिन्न सम्प्रदायो के भक्तो के साथ सत्सग करते रहते थे और सभी कोटि के भक्तो का आदर-सम्मान करते थे। इसी कारण भक्त और कविगण अपनी रचनाएँ उनके नाम से विख्यात करके प्रसन्न होते थे।

भाष्य के अन्त में भी लेखक ने रामभक्ति की निष्ठा का निर्वाह किया है। अन्तिम पक्तियो की प्रतिलिपि इस प्रकार है—**'श्रीमद्रामकृपाकटाक्षविषय श्री विश्वनाथाभिध्यक्षोपार्येनमयान्य भाष्यगवच' सारार्थसग्रहिणा श्रीरामप्रतिवोदितेन सुधि श्रीरामनिष्ठा निष्ठावतां श्रीरामप्रतिपत्तये कृतमिद भाष्य हि रामेर्पित राजाधिराज श्रीरामकृपापात्राधिकारिणा श्रीविश्वनाथसिहेन श्रीरामे भाष्यमर्पितम्। नमस्ते वशिका देवि हरिवशालि रूपिणी, नारायण नमस्तेऽस्तु नमस्ते कमलोद्भव।'**[2] + + +

इसके बाद हरिवशजी के पूर्वजो की वशावलि का कुछ उल्लेख है। इसमें कश्यप, हलधर, श्रीधर, गगाधर, विजयकुल, विद्याधर, जालप, प्रभाकर, जीवद, हिमकर, व्यासमिश्र और हरिवश तक का नाम है। इस वशवृक्ष के बाद जो नाम गिनाये गये हैं वे कदाचित् विश्वनाथसिह जी से सम्वन्ध रखते हैं। उनमें हरिराम, मुकुन्द, गोवर्द्धननाथ, चद्रलाल, प्रियाचार्य आदि हैं। प्रियाचार्य शब्द प्रियादास जी के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। यह वशावलि एव नामावलि राधावल्लभ सम्प्रदाय से किस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बध रखती है, यह शोध द्वारा ही विदित हो सकता है।

भाष्य के अन्तिम पृष्ठ का अतिम अनुच्छेद इस प्रकार है—

**'इति श्रीमद्भगवदावतार वेदार्थनिर्णायक श्रीमद्वेदवेदान्ताचार्य श्रीमद्वेदव्यासकृत वेदान्तसूत्राणां सिद्धश्रीमहाराजाधिराज श्रीमहाराज श्रीराजवहादुर श्रीसीतारामचद्र कृपापात्राधिकारि श्री विश्वनाथसिह जू देव कृते श्री राधावल्लभीय मत प्रकाशक भाष्ये चतुर्थाध्यायस्य**

---

१—श्री राधावल्लभीय भाष्य—ले० महाराज विश्वनाथसिंह जू देव। अप्रकाशित—सरस्वती भडार, रीवा, विंध्यप्रदेश। पृष्ठ ६ तथा २३२।

टिप्पणी—इस भाष्य की प्रतिलिपि प्राप्त कराने में दरवार कालेज, रीवा के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष श्री महावीर प्रसाद अग्रवाल ने हमारी सहायता की है। उनके सहयोग के अभाव में हमें इस भाष्य की प्रतिलिपि मिलना असम्भव था। इस कृपा के लिए हम उनके आभारी हैं।

**चतुर्थ पादः। चतुर्थाध्यायश्च सिद्धः शुभंभूयात् ॥**[1]

संक्षेप में, भाष्य के उद्धरणो से इसका रचयिता श्री महाराज विश्वनाथसिंह के अतिरिक्त कोई और प्रतीत नही होता किन्तु अन्त.साक्ष्य के आधार पर हम इसे किसी अन्य की कृति समझते हैं।

सैद्धातिक मीमासा के लिए सीताराम के माधुर्य पक्ष को राधावल्लभीय भावना में प्रतिष्ठित करने का आग्रह इस भाष्य में दीखता है। कुछ स्थलो पर राधावल्लभीय विचारधारा का अनुगमन है जो केवल श्रवण द्वारा सम्भव नही हो सकता। किसी राधावल्लभीय का निकट सहयोग-सम्पर्क ही इस प्रकार की गुत्थियो को खोलने का कारण हो सकता है। कुछ भी हो, हमारी तो यही धारणा है कि यह भाष्य विश्वनाथसिंह को राधावल्लभीय सिद्धात अवगत कराने के उद्देश्य से लिखा गया और उन्ही के नाम से प्रख्यात भी कर दिया गया। इस भाष्य के आधार पर माधुर्य भक्ति का रूप तो सामने आता है किन्तु सिद्धाद्वैत या अद्वैतपरक कोई दार्शनिक सिद्धान्त खडा नही किया जा सकता।

३—तीसरा राधावल्लभ भाष्य ( ब्रह्मसूत्र ) सस्कृत मे रीवा के प्रियादासजी का बताया जाता है, जिसकी सूचना 'साहित्य रत्नावली' के पृष्ठ ११ पर ८५२ संख्या में दी हुई है। यह भाष्य वृन्दावन मे हितकुल के किसी गोस्वामी के पास सुरक्षित बताया जाता है। अभी तक हमारे देखने मे नही आया। प्रियादास नाम के एक दूसरे महात्मा पटना के हैं जिन का लिखा 'श्री सेवा दर्पण' प्रकाशित हुआ है। श्री सेवा दर्पण की विज्ञप्ति में अन्तिम पृष्ठ पर प्रियादास पटना वाले का परिचय लिखते हुए गोस्वामी व्रजवल्लभ निर्मोही ने इन्ही को व्यासनदन भाष्य का प्रणेता कहा है। अब प्रश्न उठता है कि क्या प्रियादास रीवा और प्रियादास पटना दोनो ने राधावल्लभ भाष्य लिखा या नाम सादृश्य के कारण दोनो के नाम से एक ही ग्रथ प्रख्यात हुआ। यदि ग्रथ के दर्शन का सौभाग्य होता तो यह निर्भ्रान्त रूप से निर्णय हो सकता था। वर्तमान स्थिति में कुछ भी कहना हमारे लिए सम्भव नही है। भाष्य उपलब्ध करने के लिए अपनी शक्ति के अनुसार समस्त प्रयत्न लेखक ने किये किन्तु दुर्भाग्यवश सफलता नही मिली। यदि रीवा वाले प्रियादास का भाष्य देखने को मिल जाय तो सम्भवत महाराज विश्वनाथसिंह के भाष्य का रहस्य भी विदित हो सके।

४—चौथा भाष्य श्री भोलानाथजी लिखित कहा जाता है। इस भाष्य की हस्तलिखित प्रति भी गोस्वामी रूपलालजी के पास बताई जाती है। भोलानाथजी आधुनिक समय के भक्त थे। सन् १९२८ में आपका निधन हुआ। यदि आपने कोई भाष्य लिखा भी है तो वह प्राचीन न होने से प्रमाण कोटि में नही आता।

हमारी यह निश्चित धारणा है कि भाष्य लिखकर वैष्णव बनने का मोह हितहरिवंश जी के बहुत बाद उत्पन्न हुआ और तभी भाष्य-लेखन व्यापार के चक्कर मे कुछ परम्पराप्रेमी महानुभाव पड़े। अन्यथा रसभक्ति और प्रेमतत्त्व की उपासना में ब्रह्मसूत्रो पर या प्रस्थानत्रयी आदि किसी भी ग्रथ पर भाष्य-प्रणयन की कोई आवश्यकता नही है। जो

---

**१—राधावल्लभीय भाष्य—महाराज विश्वनाथसिंह जू देव कृत— पृष्ठ २३४।**

भाष्य राधावल्लभ सम्प्रदाय में लिखे भी गये उनका न तो पठन-पाठन हुआ और न उन्हे साम्प्रदायिक मन्तव्यों की स्थापना में किसी भी रूप में स्वीकार किया गया। फलत वे या तो सदिग्धावस्था में पड़े हैं या नामशेष होकर केवल शोध का विषय मात्र रह गये हैं। जो तथ्य या सिद्धात मौलिक मान्यता पर आधृत नही होता उसकी यही चरम परिणति होती है।

## रस-भक्ति में कर्मकाण्ड का स्थान

श्री हितहरिवशजी ने अपने ग्रथों में बाह्य कर्मकाण्ड को कही भी प्रधानता नही दी। वे लौकिक कर्मो के प्रति प्राय अनास्था बुद्धि से ही चलते रहे और जो कुछ उन्हें कर्त्तव्य-कर्म प्रतीत हुआ उसे भी कर्मकाड की उलझन में न फँसाकर सहज रूप से कहा। स्फुटवाणी के जिन पदो में बाह्य विधि का सकेत किया है वह ऐसी सीधी और सरल है कि कोई भी भक्त-प्रेमी उसे विना किसी श्रम और क्लेश के अपना सकता है। स्फुटवाणी के अन्तिम चार दोहे सिद्धात स्थिर करते हुए भी किसी अनुष्ठान की कठोर साधना की ओर इगित तक नही करते। इन दोहो में जो भाव व्यक्त किया है वह लौकिक कर्मकाड से दूर करने वाला ही कहा जायगा। यह होते हुए भी परवर्ती महानुभावो ने रसभक्ति का विधान भी शास्त्रीय शैली से तैयार किया और श्री हितहरिवशजी की भावना (स्पिरिट) के सर्वथा प्रतिकूल अनेक ग्रथो का निर्माण कर दिया। 'राधावल्लभ पटल', 'ऊध्वविनिर्णय', 'श्री सेवा दर्पण', आदि इसी कोटि की प्रकीर्णक रचनाएँ हैं जो अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन की ओर से प्रकाशित हुई हैं। यदि आचार्य हितहरिवशजी की भावना को इन अनुयायियों ने भली-भाति हृदयगम किया होता तो इस प्रकार के परम्परावादी प्रयत्न न होते।

यथार्थ में राधावल्लभीय भक्ति-सिद्धात या 'रस-दर्शन' का आधार न तो दार्शनिक जटिलता है और न बाह्याचार की रूढियो के पालन में ही भक्ति की स्थिति है। भक्ति-सिद्धात का मूलाधार है प्रेम या हित तत्त्व, जिसे भली-भाति हृदयगम किये विना राधावल्लभीय भावना का वोध कदापि सम्भव नही। दर्शन की ऊहापोह के स्थान पर इस सम्प्रदाय में 'नित्य विहार' का वर्णन है और उसी को रस-दर्शन कहा जाता है। कही-कही उसे ही वृन्दावन-रस भी कहा है। माधुर्य-भक्ति की चरम परिणति इसी रस में होती है। यह रस ही जीवात्मा का चरम ध्येय है। प्रेम की व्यापक परिधि को समझ लेने के वाद ही इस रस-क्षेत्र में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। किसी प्रकार के द्वैत या अद्वैतपरक वाद के आग्रह में न पडकर श्री हितहरिवशजी ने इसी रस की स्थापना अपने सम्प्रदाय में की है। हम आगे की पक्तियो में उसी का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं।

श्री हितहरिवशजी ने अपने ग्रथो में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष आदि के सम्बन्ध में भी कही विचार व्यक्त नही किये हैं। इन जिज्ञासाओ का धरातल प्राय दार्शनिक रहता है और दर्शन की सूक्ष्म विवेचना द्वारा ही इन गुत्थियो को सुलझाने का प्रयत्न चिर-अनादि से होता आ रहा है फिर भी आज तक कोई एकमत स्थिर नही हो सका। 'नैको मुनिर्यस्यमत न भिन्नम्' के मर्म को समझने वाले आचार्य हरिवश गोस्वामी ने इस उलझन से दूर रहकर

अपनी प्रेमाभक्ति का ही प्रतिपादन करना समीचीन समझा। अतः हमने भी राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति एव रस-दर्शन विषयक विवरण में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष, बन्धन आदि के विषय में कही कुछ नहीं लिखा है। भक्ति-विधायक तत्त्वो मे प्रेम तत्त्व की मीमासा प्रस्तुत करके तत्सम्बद्ध भावो और विषयो का ही उल्लेख किया है। रस-दर्शन में नित्य विहार के सम्पादक राधा, कृष्ण, सहचरी और वृन्दावन का स्वरूप विस्तार से प्रदर्शित किया गया है और यथास्थान समसामयिक माधुर्यभक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो के साथ साम्य और वैषम्य भी दिखाया है। यथार्थ मे ये ही मुख्य सिद्धात राधावल्लभीय भक्ति और रसमार्ग के विधायक हैं और इन्ही की सुदृढ नीव पर यह सम्प्रदाय अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित किये चला आ रहा है। इस सम्प्रदाय का सिद्धात-पक्ष इसीलिए जटिल और दुर्बोध न होकर मोहक और आकर्षक है।

## रसभक्ति-विधायक तत्त्वों का अनुशीलन

### प्रेम-तत्त्व-मीमांसा

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम का स्वरूप अन्य वैष्णव सम्प्रदायो से विलक्षण, व्यापक और मोहक है। अनन्त भावो और अनन्त रूपो में नित्य क्रीडा करने वाला यह प्रेम ही परात्पर तत्त्व है। इस प्रेम को रस सज्ञा देकर 'रसोवै स.' आदि श्रुतिपरक वाक्यो द्वारा भी समझा जा सकता है। अर्थात् रस रूप भगवान् और परात्पर प्रेम-तत्त्व मे तात्त्विक भेद नही है। यह प्रेम सहज और असीम होने के कारण नित्य माना जाता है। जैसा कि पहले प्रतिपादित किया जा चुका है, इस सम्प्रदाय में रसोपासना है, अर्थात् राधा-कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति मे जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है उसी को रस सज्ञा दी जाती है और वह प्रेम की आस्वाद्य स्थिति का ही रूप है। 'हित' शब्द प्रेम के लिये ही इस सम्प्रदाय में पारिभाषिक शब्द के समान प्रयोग में आता है। प्रेम की व्यापक परिधि में सामान्यत रस, हित, नेह, प्रीति आदि सभी भाव समाविष्ट हो जाते हैं। हित और प्रेम शब्द में भाव-व्यजनामूलक व्यावर्तक रेखा खीचना सरल नही, किन्तु प्रेम की विशिष्ट भावना के उद्देश्य से हित शब्द का व्यवहार आचार्य हितहरिवशजी ने किया है। दार्शनिक शब्दावली मे ब्रह्म और जीव की एकता प्रतिपादन करने के लिये 'ज्ञानदशा' शब्द का प्रयोग न करके यहाँ 'प्रेमदशा' को ही ऐक्य भावना का स्रष्टा कहा जाता है। अन्य वैष्णव सम्प्रदायो मे मोक्ष प्राप्ति की कामना के साथ ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का अनुगमन विधेय होता है; उसके विना न तो माया के आवरण उच्छिन्न होते हैं और न भवबन्धन से मुक्ति ही सम्भव है। किन्तु इस सम्प्रदाय मे न तो मुक्ति की कामना है और न ज्ञान या साधनापरक भक्तिमार्ग का ही कोई विधान है। यहा तो नित्य-विहार-दर्शन ही सहचरी ( जीवात्मा ) का उपास्यभाव है और उसकी प्राप्ति प्रेमतत्त्व से होती है। इस प्रेमदशा में पहुँचने के लिये

सहचरी रूप जीवात्मा को अपना लौकिक रूप विर्सजित कर राधिका के महल में सेवा-परिचर्या करके निकुंज लीलाओं का दर्शनाधिकार प्राप्त करना होता है। इस नित्य विहार के विधायक जो चार तत्त्व माने गए हैं उनमें यह एक प्रेमतत्त्व ही समान रूप से अनुस्यूत है और यही विहार-भावना का पोषक है। चराचर जगत् का जो रूप हमारे सामने है और जो अव्यक्त, अगोचर रूप भावना द्वारा जाना जाता है उन सब में यही प्रेमतत्त्व व्याप्त है। श्री लाडिलीदास ने 'सुधर्मबोधिनी' में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया है—

**सबै चित्र हित मित्र के, जहँ लौं धामी धाम।**
**काहि तजौं काको भजौं, सजौं गिरा हित नाम॥**[1]

अर्थात्—समस्त धाम और उनमें निवास करने वाले धामी उसी हित देवता (प्रेम) के विविध चित्र हैं। अत किसको त्यागकर किसका भजन करें यह निर्णय कठिन है। यथार्थ में हित गिरा ही उपास्य है। यहा हित को प्रेम के व्यापक रूप में ग्रहण करके साम्प्रदायिक प्रेमतत्त्व को लक्ष्य कराया गया है। इसी भावना को ध्यान में रखकर कुछ लोगो ने 'सिद्धाद्वैत' जैसे दार्शनिक शब्द को राधावल्लभ सम्प्रदाय का सिद्धान्त कहने का साहस किया था। वस्तुत यह प्रेम या हित की स्थापना किसी दार्शनिक रूढि-परम्परा का पालन न होकर हितहरिवशजी की अपनी मौलिक सृष्टि है।

हिताष्टक में इसी भाव को—'यत्किंचित् दृश्यते सृष्टौ सर्व हितमय विदु' कहकर भी व्यक्त किया गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूलाधार 'राधाप्रेम' ही है, उसके भीतर ही साधक का साधन और साध्य निहित रहता है। यह राधाप्रेम ही आस्वादित होकर रस कहलाता है। इस प्रेम को अद्वय युगल स्वरूप समझा जाता है। प्रिया-प्रियतम (श्यामाश्याम) में नित्यभाव से विद्यमान यह प्रेम ही रस रूप होकर प्रस्फुटित होता है। इसी की उपलब्धि सहचरी का उपास्य है।

प्रेम की ऐहिक और आमुष्मिक महत्ता प्रदर्शित करते हुए इस सम्प्रदाय की वाणियो में इसका जो विशद-व्यापक वर्णन हुआ है वह इस बात का प्रमाण है कि प्रारम्भिक साधना के सिवा नवधा भक्ति को भी प्रेम के आगे कोई महत्व प्राप्त नही होता।[2] रागानुगाभक्ति

---

१—श्री लाडिलीदास कृत 'सुधर्म बोधिनी' पृष्ठ १०, दोहा १७।

२—महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर माँहि।
नवधा हू तिहिं रुचै नहिं, नेम सबै मिटि जाँहि॥
—ध्रुवदास कृत—भजन कुडलिया लीला (ब्यालीस लीला) पृ० ६६

साधन विविध प्रयास तें सकल विहावहीं।
श्रवन कथन सुमिरन सेवन चित लावहीं॥
अर्चन वन्दन अरु दासन्तन सख्य और आतमा-समर्पण।
ये नव लक्षण भक्ति बडाई, तब तिन प्रेम लक्षणा पाई॥
—सेवक वाणी (श्री हित ध्यान प्रकरण) पृष्ठ १२५

स्वर्ग न इच्छै नरक न डरै, धरै धर्म हरिवंश को —सेवक वाणी, पृष्ठ १२६।

का आश्रय लेने वाले भक्त के लिये भी कैवल्य या मुक्ति कोई महत्ता नही रखती, अतः वह मुक्ति की आकाक्षा को त्यागने मे ही कल्याण मानता है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय मे प्रतिपादित यह प्रेम-लक्षणा तो उससे भी एक चरण आगे की वस्तु है अत. इसे पाने की इच्छा रखने वाले प्रेमियो के मन मे तो कोई और इच्छा-अभिलाषा पैदा ही क्यो कर हो सकती है। राधासुधानिधि ग्रथ में इसीलिये श्री हितहरिवशजी ने राधा के प्रेम को प्रधान मानते हुए स्पष्ट कहा है कि 'सासारिक विषय-वार्त्ता तो कोटि-कोटि नरको के समान घृणित है अत. इसे वन्द करो। श्रुतिकथा में भी श्रम व्यर्थ है। और हमे तो (इस राधा-प्रेम के सामने) कैवल्य से भी भय प्रतीत होता है।'[1]

प्रेम की प्रभुता और गरिमा स्थापित करने के वाद इसे विलक्षण रूप देने के लिये शाश्वत तत्त्व माना गया और ससार मे प्रतीत होने वाले सयोग-वियोग से सर्वथा रहित कहा गया। तात्त्विक दृष्टि से इस सम्प्रदाय मे प्रेम नित्य मिलन के साथ अभिन्न सम्बन्ध रखने वाला एक स्थायी भाव है जो किसी भी रूप मे आनन्दरहित होकर क्षण-भर भी नही ठहरता। गौडीय सम्प्रदाय भी विरह भावना पर आश्रित प्रेम को प्रधानता देता है। परकीया भाव के कारण विरह-भावना का उसमे स्वत. महत्व हो जाता है।[2] निम्वार्क सम्प्रदाय स्वकीया भाव का समर्थक है अत वहाँ मिलन ही में रससृष्टि सम्भव है।। वल्लभ सम्प्रदाय में गोपियो के विरह की स्थिति को प्रेम की उत्कर्ष-स्थिति कहा गया है। सूरदास ने 'ऊधौ विरहौ प्रेम करै' कहकर विरह दशा को प्रेम की परिपाक दशा वताया है।[3] काव्य-साहित्य में भी विप्रलम्भ शृगार को सयोग से अधिक प्रवल और आकर्षक माना जाता है। ऐसी स्थिति मे नित्य मिलन मानने वाले राधावल्लभ सम्प्रदाय के आचार्यों ने इसे सर्वथा नूतन रूप में प्रस्तुत करके विरह-मिलन की संकीर्ण सीमाओ को मिटा दिया है। विरह-

---

१—अल विषयवार्तया नरक कोटि वीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथाश्रमो वत विभेमि कैवल्यत
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादयः किं तत,
परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु।
—राधासुधानिधि—श्लोक सं० ८३

२—संगम विरह विकल्पे, वरमिह विरहो न संगमस्तस्य।
एक स एव सगं, त्रिभुनमपि तन्मयं विरहे।। रूपगोस्वामी—पदावली।

३—ऊधौ विरहौ प्रेम करै।
ज्यौं विनु पुट पट गहत न रंगहिं, रंगन रसे परै।
ज्यौं घर दहै वीज अकुर गिरि, तौ सतफरनि फरै।
ज्यौं घट अनल दहत तम अपनौ पुनि पय अमी भरै।
ज्यों रन सूर महे सर सन्मुख, तौ रवि रथहि अरै,
सूर गुपाल प्रेम पथ चलि करि, क्यों दुख-सुख निडरै।
—सूरसागर (दशम स्कन्ध) पद ४६०४, भाग २, पृष्ठ १५८८।

मिलन की यह अद्‌भुत स्थिति किसी अन्य सम्प्रदाय में दृष्टिगत नहीं होती।

## मिलन, विरह और मान

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम की वही स्थिति श्लाघ्य और स्पृहणीय मानी जाती है जिसमें प्रिया-प्रियतम ( राधाकृष्ण ) एक पल को भी एक दूसरे से वियुक्त नहीं होते किन्तु साथ रहते हुए भी विरह सदृश अतृप्ति का अनुभव करते हुए और अधिक सामीप्य की कामना से आनन्द-पुलक-पूर्ण बने रहते हैं। मिलन मे भी विरह की इस मानसिक भावना की कल्पना का प्रयोजन यह है कि श्री हरिवंशजी के मत मे नित्य मिलन की स्वीकृति होने के कारण कोई यह न समझ ले कि उनके प्रेमभाव मे विरह-सदृश उद्वेग, उत्कर्ष, उल्लास, उद्दीपन और उत्साह कभी होता ही नहीं। प्रेम की नित्य नूतनता और आस्वाद्यता बनाये रखने के लिए सूक्ष्म-विरह की अनोखी सृष्टि की गई। सिद्धान्त तो यही किया कि यह प्रेम अति मधुर और परम आस्वाद्य है, उसमें मिलना-बिछुड़ना कुछ नहीं, रूप-सौंदर्य का निरन्तर पान करके ही जीवित रहना होता है।[1] फिर भी मान तथा विरह का नूतन रूप खड़ा करके उसे प्रेमदशा का एक पक्ष स्वीकार किया गया। मान को प्रेमोद्दीपक भाव बताकर इसका अत्यधिक प्रयोग किया जाता है। यदि मान की स्वीकृति होगी तो फिर प्रेम में विरह भी मानना होगा अत स्थूल रूप से मान को भी नहीं माना गया। 'हित शृङ्गार लीला' के दोहो में ध्रुवदासजी ने मान का खंडन किया है।[2] किन्तु मान के मधुर क्षणो का वर्णन वाणियो में दृष्टिगत होता है। इस विरह को अटपटी भाँति का ठहराकर इसका तात्त्विक विवेचन 'सिद्धान्त विचार लीला' मे ध्रुवदासजी ने ही किया है। 'रहस्य मंजरी लीला' में वे ही विरह की विलक्षण स्थिति पर विचार व्यक्त करते हैं कि विरह की विचित्र दशा सुनकर विस्मय होता है। प्यासा जल न पीकर जल ही प्यास को पी रहा है। प्यास ही जल हो गई है, विचित्र दशा है।[3] 'रंगविहार लीला' और 'रति मंजरी लीला' में विरह का वर्णन किया है किन्तु वह वर्णन मिलन की घड़ियो में विरह का सूचक है और यही उसकी अद्‌भुतता है। श्रीकृष्ण की क्रोड में विराजमान राधा भी सहसा, हा मोहन ! मोहन ! करके प्रलाप कर उठती हैं, यह भी उनके विरह का विचित्र रूप है। मिलन में, सामीप्य लाभ के क्षणो में, आकुलतावश प्रलाप करने का

---

१—महा प्रेम निज मधुर अति, सबतें न्यारो आहि।
तहां न मिलिवौ बिछुरिवौ, जीवत रूपहि चाहि।
—श्री ध्रुवदास ख्याल हुलास लीला, ब्यालीस लीला, पृष्ठ २३।

२—तहां मान कैसे बने अद्‌भुत अहै यह प्रेम।
भीजें दोऊ आसक्त रस कहं समाय बिच नेम ॥
—श्री ध्रुवदास, हित शृंगार लीला, पृष्ठ १२५।

३—अटपटी भांति कौ विरह सुनि भूलि रह्यो सब कोइ।
जल पीवत है प्यास को प्यास भयो जल सोइ ॥
—श्री ध्रुवदास, रहस्य मंजरी लीला, पृष्ठ १८७।

वर्णन 'राधासुधानिधि' में श्री हरिवंशजी ने अनेक स्थलो पर किया है।[1]

मान और विरह का वर्णन श्री व्यासजी ने अपनी वाणी 'मान रस' प्रकरण में विस्तार से किया है किन्तु उसका साम्प्रदायिक भावना से ही अर्थ करने पर वह सगत प्रतीत होता है। मिलन की दशा में ही मान सम्भव होता है और मान के क्षणो में क्षणिक विरह वनता है।[2] लालजी प्रियाजी के प्रति अपना अनुराग प्रदर्शित करते हुए उनको अपने मे लीन कर लेने के लिए व्यग्र हो उठे हैं, तब प्रियाजी यदि एक पल को भी उदासीन हो तो यही विरह और मान की स्थिति स्वीकार की जाती है। 'मान रस प्रकरण' में व्यासजी ने बीसियो पदो मे यही भाव प्रस्तुत किया है।[3] सामान्यत व्यासजी का यह मान-विरह वर्णन लौकिक

---

१—देखिए, राधासुधानिधि, श्लोक ४६, ४७, ४८, १२७।

२—हरि उर मुकुर विलोकि अपनुपौ विभ्रम विकल मान जुत भोरी।
चिबुक सुचारु प्रलोय प्रबोधित प्रिय प्रितबिम्ब जनाय निहोरी॥
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखति दुरि चोरी।
(जैश्री) हित हरिवश करत कर धूनन प्रणय कोप मालावलि तोरी॥
—हितचौरासी, पद सं० ७।

३—मान तजि मानिनि वदन दिखाउ।
दुख मोचन तेरे दरसन बिनु, लोचन जरत बुझाउ।
मन्द मधुर मृदु कोकिल कैसे अपने वचन सुनाउ।
पंचम सुर पदतार अलापत, तू षट रागहि गाउ।
परम भाग मेरौ अब सुन्दरि, देखे तेरे पाउ।
व्यास स्वामिनी विहँसि मिली, हँसि विरह सिन्धु की नाउ॥
—श्री व्यास वाणी ( मान रस प्रकरण ) पद सं० १४०

राधा प्यारी हौ मान न करु।
अन्तर विरह दहन तन जारत, वरषावहि विम्बाधर जलधरु।
बिन अपराध कोप न कीजै, दीनै हौं प्यारी,
प्रान दान धन, राजा तेरौ हौं अनुचर,
व्यास स्वामिनी मन्द हास करि, कण्ठ लगाइ लयौ सुन्दर वर॥
—श्री व्यास वाणी ( मान रस प्रकरण ) पृष्ठ २४७

द्रष्टव्य—मान रस प्रकरण—पद स० १३२, १३३, १३६, १३२, १४७, १५०, १५५।
( व्यास वाणी )

छांड़ि दै मानिनी मान मन धरिवौ।
प्रणत सुन्दर, सुघर, प्राणवल्लभ नवल, वचन अधीन सौं इतौं कत करिवौ।
जपत हरि विवस तव नाम प्रतिपद विमल मनसि तव ध्यान ते निमिष नहिं टरिवौ।
—हित चौरासी, पद ८३

और आचार मर्यादा के अनुकूल है और प्रेम की सासारिक विवृति के धरातल पर ही हुआ है किन्तु इसमें मिलन की सातत्य भावना पर कोई आघात नही होता। ध्रुवदासजी, नेही नागरीदासजी, गोस्वामी रूपलालजी आदि महानुभावो ने सासारिक दृष्टि से विरह-मान को स्वीकार करते हुए भी इनका वर्णन व्यासजी की शैली पर नही किया। ध्रुवदासजी ने तो स्पष्ट ही 'सिद्धान्त विचार लीला' में कहा है—जो कोऊ कहे कि मान विरह महापुरुष न गायो है सो सदाचार के लिए। औरनि के समुझाइवे को कह्यौ है। 'रहस्य मजरी लीला' में इस मान-विरह को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है—

'तिनकों प्रेम और ही भाति, अद्भुत रीति कही नहिं जाति।
देखत ही अनदेखी मानै, तिनकी प्रीतिहि कहा बखानै।
जब ही उर सौं घुर लपटाहीं, तब नैनां विरही ह्वै जाहीं।
छूटै जब ही छबि देख्यौ करै, विरह आनि अगनि संचरै।

( रहस्य मजरी लीला, पृष्ठ १८६ )

सक्षेप में, नित्यमिलन के सिद्धान्त मे आस्था रखने के कारण मान और विरह का वर्णन सासारिक दृष्टि से प्रेमतत्त्व को हृदयगम करने की एक सरणि मात्र है। यथार्थ में स्थूल मान और विरह का सैद्धान्तिक दृष्टि से इस सम्प्रदाय में कोई स्थान नही है। प्रेम की पूर्णता वही है जहा प्रिया-प्रियतम नित्यमिलन के शाश्वत आनन्द में लीन होकर भी विरह-सुख ( ललक ) को सूक्ष्म रूप से अनुभव करते रहे। श्री ध्रुवदासजी ने इस अकथ-अनिर्वचनीय प्रेम का वर्णन बडे सुन्दर शब्दो में इस प्रकार किया है—

न आदि न अन्त, विहार करै दोऊ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई नई भांति नई छबि कान्ति नई नवला नव नेह विहारी॥
रहै मुख चाहि दिए चित आहि परै रस प्रीति सुसर्वसु हारी।
रहैं इक पास करै मृदु हास सुनौ 'ध्रुव' प्रेम अकत्थ कथा री॥[1]

प्रेम में विरह-मिलन की इस विलक्षण दशा को स्पष्ट रूप से समझाने के लिए आचार्यवर श्री हरिवशजी ने अपनी स्फुट वाणी में दो कुण्डलिया लिखी हैं। इन कुण्डलियो में ससार में प्रसिद्ध दो कोटि के प्रेमियो के उदाहरण देकर इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। चक्रवाक-दम्पति और सारस युगल का प्रेम काव्य-साहित्य मे अपने-अपने ढग से त्याग और बलिदान के लिए प्रसिद्ध है। कहते हैं कि चकई रात्रि होते ही अपने प्रियतम चकवा से वियुक्त

(पिछले पृष्ठ का शेष)
सा लावण्यचमत्कृतिर्नववयो रूप च तन्मोहन,
तत्तत्केलि कलाविलास लहरी चातुर्यमाश्चर्य भू।
नो किंचित् कृतमेव यत्र न नुतिर्नागो न वा सम्भ्रमो
राधा माधवयो स कोऽपि सहज प्रेमोत्सव पातु व.॥
—राधासुधानिधि श्लोक सं० १०२

१—भजन शृङ्गार सत लीला ( ध्रुवदास ) व्यालीस लीला, पृष्ठ १०२।

होकर नदी के दूसरे किनारे चली जाती है। रात भर विरह वेदना से सतप्त रहती है और दैव के इस विधान को सहकर प्रभात होने तक अपने प्रियतम से मिलने की बाट जोहती है। रात्रि के विरह से उसकी प्रेमानुभूति तीक्ष्ण और प्रबल हो जाती है और प्रभात का मिलन उमे अपेक्षाकृत अधिक आह्लादक एव आनन्दमय प्रतीत होता है, 'सुख हि दुखान्यनुभूय शोभते।' चकई की दृष्टि मे यह विरह उसके प्रेम की परीक्षा है, उसकी वेदना का अन्त मिलन रूपी वरदान मे होता है अत वह इस वियोग को सहन करने में भी गौरव ही समझती है। चकई की इस दशा पर व्यग करता हुआ सारस कहता है—'हे चकई, प्रिय वियोग के बाद भी तेरे शरीर में प्राण व्यर्थ ही रहते हैं। सरिता के दो कूलो की दूरी, रात्रि का भयकर समय, भयावह निर्जन स्थान और भीषण मेघ गर्जन के होते हुए भी तू अपने प्रियतम से बिछुड कर जीवित रहती है, तुझे अपने इस जीवन पर लज्जा क्यो नही आती ? अश्रुविहीन नेत्रो से कैसे तू प्रभात की प्रतीक्षा करती हुई प्राण-रक्षा करती है ? कौन-सा ऐसा सन्देश है जो तुझे प्रभात तक जीवित बनाए रहता है ? विरह की दारुण घडियो मे जीविन रहने को मैं तो प्रेम की न्यूनता ही मानता हूँ। विरह मे जीवित रहना क्या किसी सच्चे प्रेमी को शोभा देता है।'[1]

सारस की इस व्यगोक्ति मे विरह-भाव पर गभीर आक्षेप छिपा है जो प्रेम मे वियोग की कल्पना भी सहन नही कर सकता। किन्तु विना विरह के प्रेम का पूर्ण परिपाक भी तो सम्भव नही। तव फिर कौन सी स्थिति यथार्थ, युक्तियुक्त और मनोवैज्ञानिक है। सारस की इस उक्ति के पीछे उसका अपना आत्मबलिदान, त्याग और प्राणविसर्जन का भाव छिपा है।

सारस-युगल के लिए प्रसिद्ध है कि ज्योही उनमे से एक का विछोह होता है, दूसरा उसके विरह में तडप-तड़पकर प्राण गँवा देता है। अतः सारस की दृष्टि में चकई का विरह-दशा में भी जीवित रहना प्रेम का दम्भ करना है। चकई का प्रेम कही न नही न्यून है, तभी तो विरह में भी वह जीवित रहकर मिलन की आकाक्षा को सहेजती है। किन्तु चकई की दृष्टि से विरह मे जीवित रहना प्रेम की न्यूनता नही वरन् प्रेम की परिपूर्णता ही है। सारस की व्यग्यमयी भर्त्सना का उत्तर देती हुई चकई कहती है कि—'हे सारस ! सरित के दूसरे कूल पर जाकर रात्रि-भर विरह-वेदना को सहकर और प्रेमाग्नि के सताप का अनुभव करके जीवित रहना ही प्रेमोन्माद का परिचायक है। वियोग में प्राण देने से तो प्रेमी के प्रति

---

१—सारस की उक्ति

चकई प्राण जु घट रहै पिय बिछुरन्त निकज्ज।
सर अन्तर, अरु काल निशि, तरफ तेज घन कज्ज॥
तरफ तेज घन कज्ज लज्ज तुहि वदन न आवै।
जल बिहून करि नैन भौर किय भाय वितावै॥
हित हरिवंश विचारि याद अस कौन जु चकई।
सारस यह सन्देश प्राण घट रहै जु चकई॥

—श्री हितहरिवंश रचित स्फुट वाणी, पद सं० ५।

अपनी मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति का अवसर ही नही आता। प्रेम की यथार्थ और परिपूर्ण अनुभूति के लिए विरह की घडियो का दाह अनुभव करना अनिवार्य है। हे सारस तुम निरन्तर अपने प्रेमपात्र के पास रहते हो अत प्रम के मर्म का तुम्हे भला क्या पता हो सकता है।'[1]

सारस-चकई के इस सम्वाद को प्रस्तुत करने का हमारा प्रयोजन यही है कि ये दोनो कुंडलियाँ सम्प्रदाय मे प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना करने वाली मानी जाती हैं। इनमें से कोई सा एक पक्ष स्वीकार नही किया जाता वरन चकई की विरहाकुलता और सारस का आत्म-त्याग दोनो ही मिलकर प्रेम के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं। श्री करपात्रीजी ने इस प्रेमतत्त्व को इस प्रकार व्यक्त किया है—'सारस-पत्नी लक्ष्मणा केवल सम्प्रयोग-जन्य रस का ही अनुभव करती है और चकवी विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनन्तर सहृदय-हृदय-वेद्य सम्प्रयोग-जन्य अनुपम रस का आस्वादन करती है, परन्तु वह भी विप्रयोग काल मे सम्प्रयोग-जन्य रसास्वादन से वचित रहती है। परन्तु नित्य निकुज में श्री निकुजेश्वरी को अपने प्रियतम परम प्रेमास्पद श्री व्रजराजकिशोर के साथ सारस-पत्नी लक्ष्मणा की अपेक्षा शत कोटि गुणित दिव्य सम्प्रयोग-जन्य-रस की अनुभूति होती है और साथ ही चकवी की अपेक्षा शत कोटि गुणित अधिक विप्रयोग-जन्य तीव्र ताप के अनुभव के अनन्तर पुन दिव्य रसानुभूति होती है। यही इसकी विशेषता है।'[2] 'भागवत सम्प्रदाय नामक ग्रथ में राधावल्लभीय सम्प्रदाय प्रकरण में इस विषय पर विचार व्यक्त करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है—'प्रेम विरहा ही राधावल्लभीय पद्धति का सार है। मिलने में भी विरह जैसी उत्कठा इसका प्राण है। युगलकिशोर श्री राधावल्लभलाल के नित्य मिलन में वियोग की कल्पना तक नही है। परन्तु इस मिलन में प्रेम की क्षीणता नही, प्रत्युत प्रतिक्षण नूतनता का स्वाद है।[3] प्रेमासव का अनवरत पान करने पर भी अतृप्ति रूपी महान् विरह की छाया सदा बनी रहती है, प्रतीत होता है—'मिलेहि रहत मानो कबहुँ मिले ना।'[4]

---

१—चकई की उक्ति

सारस सर बिछुरन्त को जौ पल सहय शरीर।
अगिन अनग जु तिय भखै तो जानै पर पीर।
तौ जानै पर पीर धीर धरि सकहि वज्र तन।
मरत सारसहि फूटि पुनि न परचौ जु लहत मन॥
हितहरिवश विचारि प्रेम विरहा विन वा रस।
निकट कत नित रहत मरम कह जानै सारस॥
—श्री हितहरिवश रचित स्फुट वाणी, पद सख्या–६।

२—श्री भगवत्तत्त्व—लेखक श्री करपात्रीजी, पृष्ठ १६१।

३—'भागवत सम्प्रदाय'—लेखक श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ४४०।

४—तन मन से विछुरैं नहीं चाह बढ़ै दिन रैन।
कबहुँ सजोग न मानहीं देखत भरि-भरि नैन॥
—श्री लोकनाथ—चतुरासी के टीकाकार।

मिलन में भी विरह की स्थिति स्वीकार करने का तात्पर्य सम्प्रदाय के अन्य आचार्यों ने भी स्पष्ट किया है। स्थूल और सूक्ष्म दो प्रकार का विरह वर्णित किया गया है। सूक्ष्म विरह वह है जहाँ प्रिया-प्रियतम एक ही पर्यंक पर समासीन होते हुए अपने तन और मन के पार्थक्य को असह्य मान कर तादात्म्य की बलवती उत्कंठा से प्रेम विह्वल हो कर एक दूसरे में लीन हो जाना चाहते हैं। तन-मन का यह पार्थक्य उन्हे विरह-जन्य वेदना का सा प्रतीत होता है। निरन्तर एक दूसरे के रूप-सौन्दर्य का पान करते हुए भी मन मे एक प्रकार की अव्यक्त अतृप्ति बनी रहती है और उसके कारण वे सूक्ष्म-विरह का अनुभव करते हैं। यह विरह साहित्य-शास्त्र मे प्रेम-वैचित्त्य के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। प्रिय के अति निकट रहने पर भी प्रेमोत्कर्ष के कारण प्रेमी को वियोग-दशा की जो अनुभूति होती है वही प्रेम-वैचित्त्य है। इस स्थिति का रूपगोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' ग्रथ मे सोदाहरण वर्णन किया है।[1] सूरदास के पदो में भी यह स्थिति वर्णित हुई है।[2] श्री हितहरिवंशजी ने इस भाव को व्यक्त करने के लिए नेत्र वर्णन का प्रसग चुना है और एक पल के लिए केश-लट के नेत्र के आगे आ जाने से दर्शन की बाधा को विरह की तीव्र वेदना कहा है।[3] यही प्रेम

---

१—प्रियस्य सनिकर्षेपि प्रेमोत्कर्ष. स्वभावत. ।
या विश्लेषधियार्तिस्तत्प्रेमवैचित्त्यमुच्यते ॥ १३४ ॥
आभीरेन्द्र सुते स्फुरत्यपि पुरस्तीव्रानुरागोत्थया
विश्लेषज्वरसम्पदा विवशधीरत्यन्तमुद्घूर्णिता ।
कान्तं में सखि दर्शयेति दशनैरुद्घूर्णशस्याकुरा
राधा हन्त तथा व्यचेष्टत यत कृष्णोऽप्यभूद्विस्मितः ॥ १३५ ॥
—रूपगोस्वामी—उज्ज्वल नीलमणि—पृष्ठ ५४८-४६

२—राधेहि मिलेहू प्रतीति न आवति ।
यदपि नाथ विधु वदन विलोकति दरसन को सुख पावति ।
भरि-भरि लोचन रूप परम निधि उर में आनि दुरावति ।
विरह विकलमति दृष्टि दुहु दिसि सचि सरधा ज्यो पावति ॥
चितवत चकित रहति चित अन्तर नैन निमेष न लावति ।
सपनों आहि कि सत्य ईश बुद्धि वितर्क बनावति ।
कबहुंक करति विचारि कौन हों हरि केहि यह भावति ।
सूर प्रेम की बात अटपटी मन तरग उपजावति ॥ —सूरसागर, दशम स्कन्ध पद सं० २७२१

३—कहा कहौं इन नैननि की बात ।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात ।
जब जब रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात ।
लम्पट लव निमेख अन्तर ते अलप कलप सत सात ।
श्रुति पर कज, दृगंजन कुच विच मृग मद ह्वै न समात ।
(जैश्री) हित हरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सांवल गात ।—हितचौरासी—पद ६० ।

वैचित्त्य दशा है। ध्रुवदासजी की 'हित शृंगार लीला' में भी यही भाव दृष्टिगोचर होता है।[1] "देखत देखत कल नहिं भाई, चाहत प्रान में प्रान समाई।"[2] स्थूल विरह का वर्णन तो शृंगार रस आदि में होता है, जैसे प्रवास काल में, गोचारण के समय गोपियो का कृष्ण विरह, मथुरागमन के समय सखियो का विरह आदि। इस स्थूल विरह का राधावल्लभीय सम्प्रदाय में कोई स्थान नही।[3]

श्री ध्रुवदासजी ने प्रेमतत्त्व का वर्णन 'सिद्धान्त विचार' नामक वार्ता (वचनिका) ग्रथ में विस्तारपूर्वक किया है। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रेम की ऐसी सुन्दर मीमासा किसी अन्य ग्रथ में नही हुई। ध्रुवदासजी कहते हैं कि—"प्रेम का निज स्वरूप है चाह, चटपटी, आधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरलता, नूतनता, और सदा एक रस रह कर भी जिसमें रुचि और भाव तरगे बढती ही रहे। इसके सिवा जो सहज हो, जिसमें मधुरता और मादकता हो और जिसका आदि-अन्त न हो। जिसमें क्षण-क्षण नवीनता के साथ स्वाद बना रहे वह प्रेम है।[4] प्रेम के सतत वर्द्धमान होने के लिए जिन गुणो का वर्णन ऊपर की

---

१—मधुर ते मधुर अनूप ते अनूप अति,
रसनि को रस सब सुखनि को सार री।
विलास को विलास निज प्रेम की राजे दशा,
राजे एक छत दिन विमल विहार री।
छिन छिन त्रिषित चकित रूप माधुरी में,
भूलें सेई रहें कछु आवै न विचार री।
भ्रमहू को विरह कहत जहां डर आवै,
ऐसे हैं रगीले ध्रुव तन सुकुमार री॥

—ध्रुवदास रचित—हित शृंगार लीला, ब्यालीस लीला, पृष्ठ १२६।

२—'ताते प्रेम विरह अनेक भांति है। जैसो जहा प्रेम तैसो तहा विरह। जहा स्थूल प्रेम तहा स्थूल विरह, जहा सूक्ष्म प्रम तहां सूक्ष्म विरह। जो कोऊ कहै स्थूल कहा सूक्ष्म कहा? सूक्ष्म प्रेम यासौ कहिए जो एक सेज पर रूप देखत चन्द चकोर ज्यों नैनाचल ओट भये महा कठिन दसा होइ अरु देह हू अपनी न्यारी नाही सहि सकति यह हू विरह मानत है।

—ध्रुवदासजी कृत—सिद्धात विचार, ब्यालीस लीला, पृष्ठ ५०।

३—जहा सयोग में देखत देखत विरह रहे तहां स्थूल विरह की समाई नहीं। सब रस, सब सिगार सब प्रेम, सब नेम मूरति धरें श्री किसोर किसोरी जू को सर्वदा सेवत रहत हैं।

—ध्रुवदासजी कृत—सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला, पृष्ठ ४४।

४—प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस, रुचि तरग बढत रहै। सहज सुछन्द मधुरता, मादकता, जाको आदि अन्त नाहि छिन-छिन नूतनता, स्वाद।

—ध्रुवदास जी कृत, सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला, पृष्ठ ४३-४४

पक्तियो मे किया गया है वे मनोविज्ञान शास्त्र की आधुनिक कसौटी पर भी खरे उतरते हैं। प्रेम के भाव को उद्दीप्त करने मे रूप-सौन्दर्य का महत्व सभी शास्त्रो मे स्वीकार किया गया है। रूप की परिभाषा का निर्णय भी कदाचित् इसी लिए नही होता कि उसके विधायक तत्त्व बाह्य न होकर द्रष्टा के आभ्यन्तर मन से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। एक बार जी भर कर देख लेने पर बार-बार देखने की चाह ही रूप-पिपासा की प्रेरक मानी जाती है। बार-बार देखने पर भी जो नूतन, निरवद्य, नवल लगे वही प्रीति कर रूप माना जाता है। "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूप रमणीयताया।" अत प्रेम दशा का राधावल्लभीय मत में विरह-मिलन जैसा ऐकान्तिक स्वरूप नही बनता। मिलन की नित्यता मानते हुए भी यहां सूक्ष्म विरह की स्वीकृति है जो अन्य सम्प्रदायो से सर्वथा नूतन है।

प्रेम-तत्त्व ही समस्त ससार मे व्याप्त है। वही हमें ( जीव को ) आराध्य के प्रति उन्मुख रखता है। इस प्रेम का पूर्ण परिपाक जुगल प्रेम ( राधाकृष्ण ) में होता है। जुगल प्रेम को सासारिक प्रेम से सर्वथा पृथक् और स्वतन्त्र मानकर इसका वाणी-ग्रथो में अमित विस्तार हुआ है। कुछ भक्तो ने सासारिक प्रेम के प्रतीको द्वारा उस आमुष्मिक प्रेम को अपनी वाणियो में उपन्यस्त किया है। सासारिक शैली से वर्णन करने मे ससारी जीवो को प्रारम्भ मे कुछ भ्रम हो सकता है और वे इस प्रेम को सामान्य मानव-समाज का वासना-प्रधान प्रेम समझ सकते हैं किन्तु ज्यो-ज्यो इसकी विविध दशाओ और सीमाओ का बोध होता जाता है त्यो-त्यो सासारिक भावनाओ का मैल दूर होकर निर्मल प्रेम का दिव्य स्वरूप शेष रह जाता है। *'सेवक चरित' लेखक श्री प्रियादासजी ने प्रेम की मीमासा करते हुए 'राधे नेह' का ब्रजभाषा* गद्य (वार्ता शैली) में बडे मार्मिक ढग से विस्तार किया है। प्रेम की सूक्ष्म और स्थूल दोनो स्थितियो के लिए लौकिक विशेषणो के साथ जो प्रस्ताव प्रस्तुत किया है वह भाव, भाषा, शैली (अभिव्यजना) सभी दृष्टियो से अद्भुत है। प्रेम की विभोर दशा के चित्रण के लिए जिन शब्दो, वाक्यो और वाक्यावलियो का प्रयोग इस गद्यवार्ता मे हुआ है वे प्रेम की शारीरिक तथा मानसिक दशाओ को स्पष्ट करने में पूर्णत समर्थ हैं। पद-चयन मे जो सजीवता और प्रेषणीयता है वह काव्य की व्यजक-पदावली की दृष्टि से प्रथम कोटि की है। ससार में रहते हुए भी प्रेमानुभूति के क्षणो मे जिस मन स्थिति मे हम होते हैं उसके वर्णन के लिए इतनी सटीक पद-योजना स्वानुभूति के बिना सम्भव नही हो सकती। प्रेम की कोई दशा, प्रेम का कोई परिवर्तन, प्रेमानन्द की मादक तरलता, प्रेमानुभूति के क्षण के समस्त कायिक एव मानसिक आन्दोलन इस वाणी मे प्रियादासजी ने ग्रथित कर दिये हैं। राधा-वल्लभ सम्प्रदाय में प्रेमतत्त्व को प्रेम-लक्षणा भक्ति से भी ऊपर स्थान देने के कारण इस सम्प्रदाय के अनेक भक्तो ने अपनी वाणियो मे इसका विशद विवेचन किया है। प्रियादासजी की यह गद्य वार्ता काव्यमयी होने के साथ अनुभूति प्रधान एव मनोवैज्ञानिक तत्वो से परिपूर्ण है।[1]

---

१—'उह हित राधे जुग नेह अमायक है। अति सूक्ष्म है, अति पैनो है, अति प्रबल है ++ + अति सुन्दर हूते सुन्दर है, अति अगाध गहरौ है, गंभीर है। या नेह समुद्र के सब

नेही नागरीदासजी ने प्रेमतत्त्व की अनिर्वचनीयता का उल्लेख करते हुए लिखा है कि प्रेम का यथार्थ स्वरूप केवल रसिक शिरोमणि (श्री हरिवंशजी) ही समझा सकते हैं। इस विलक्षण प्रेम का आदि, मध्य और अन्त नही है।[1] प्रेम द्वारा भजन की यह पद्धति सर्वसाधारण के लिए सुगम नही है। इसे स्वीकार करने के लिए रसमार्गी साधना पद्धति का पूरा-पूरा ज्ञान आवश्यक है।

चाचा वृन्दावनदास जी ने भी इस प्रेमतत्त्व का अपने पदो तथा दोहो में अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है। प्रेम को गहन, सूक्ष्म तत्त्व मानते हुए उन्होने भी इसकी अद्भुत स्थिति की चर्चा की है। वे कहते हैं कि यह प्रेमतत्त्व ही राधा-माधव (दम्पति) के हृदय में व्याप्त होकर खेल कराता है। मुनिजन के मन भी यह अपने वश मे करने की शक्ति रखता है। यह प्रेम अखिल विश्व में व्याप्त होकर सबके मन में उमग, आनन्द और आकर्षण पैदा करता है। सखियो के हृदय मे बैठकर यही प्रेम रसानुभव कराता है। इसलिए इसको दिव्यातिदिव्य कहा जाता है।[2]

प्रेमतत्त्व का वर्णन साम्प्रदायिक सिद्धान्त की दृष्टि से प्राय सभी भक्त महानुभावो

---

समुद्र अरणु समान है। नेह सिन्धु अति सचिक्कन हुते अति सचिक्कन है। अति मृदुल हुते मृदुल है। अति रम्य हुते रम्य है। + + + । .ति तन पुलकावनौ है अति हित वढ़ावनौ है, अति अलभ लुभावनौ है, तन मन सुधि अति बिसरावनौ है, अति मान खडनौ है, अति प्रीति मडनौ है। सरवसु लुटावनौ है, हिय में अग्नि उठावनौ है, अकह वचन सुनावनौ है। तन मन सींचि अति शीतल करावनौ है, अति तृषित करावनौ है, अति चित्त चुरावनौ है। दृग कोमल करावनौ है, अति भनावडो करावनौ हैं, कुल जगते खुवावनौ है, भली बुरी सिर धरावनौ है, कही सुनी सब सहावनौ है, सब सौ दुरावनौ है, हित को भजन करावनौ है, निज रूप दिव्य सुहावनौ है।'

—प्रियादास लिखित 'सेवक चरित'
(हस्तलिखित प्राचीन प्रति से उद्धृत)

टिप्पणी—यह प्रकरण हस्तलिखित प्रति में आठ पृष्ठों में बडे विस्तार से वर्णित है। उसके कुछ वाक्यांश ही यहां दिये गये हैं।

१ 'प्रवल प्रेमवर तत्व पायौ।
जाको आदि अन्त मधि नाहीं, रसिक नृपतिजू अदिख दिखायौ।
दुर्लभ, दुर्घट, दुर्गम ठाहर जाकौ प्रभु अलि मारग पायौ।
नागरीदास श्री व्यास सुवन जू अकह भजन निरवधि पकरायौ॥

—नेही नागरीदासजी की पदावली
(वावा वशीदासजी की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

२. वन्दौ प्रेम खिलारी दम्पति उर जो है। मुनिजन मन मोहै।
कौतुक रचै जु भारी भारी अति रस रूप छकावै।
सवा सदेह रहे वृन्दावन पिय प्यारी दुलरावै।

ने किया है। कतिपय स्थलो पर हित तत्त्व को ही प्रेमतत्त्व के रूप में प्रस्तुत करके इन दोनो में अभेद वर्णित हुआ है। रसोपासना का प्रतिपादन करते हुए भी कई भक्त-कवियो ने हित और प्रेम को उसी का पोषक बताया है। कही-कही प्रेम, हित और रस पर्यायवाची भी स्वीकार किये गये हैं। होली के धमार, वसन्त के पद, लीला और माझ लिखते समय भी प्रेम का रूपक और उत्प्रेक्षा की आलकारिक शैली से प्राय सभी वाणीकारो ने वर्णन किया है। चतुर्भुजदास, दामोदर स्वामी, गोस्वामी रूपलालजी, रतनदासजी, सहचरिसुखजी आदि ने अनेक पद प्रेमतत्त्व के प्रतिपादन में लिखे हैं। अर्वाचीन भक्त महानुभावो ने उसी परम्परा को स्वीकार करके प्रेम का सैद्धान्तिक शैली से वर्णन किया है। श्री भोलानाथ जी (हित भोरी जी) राधावल्लभ सम्प्रदाय के अर्वाचीन (मृत्यु सन् १६२८) भक्त कवि हुए हैं। उनकी पद रचना प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। उनकी शिक्षा-दीक्षा आधुनिक युग की थी किन्तु निष्ठा में वे पूर्णतः भक्त और धार्मिक व्यक्ति थे। प्रेम की अनिर्वचनीयता के सम्बन्ध में उनके बीसियो पद हमे देखने को मिले जिनमें सासारिक दृष्टान्त एव उदाहरणो द्वारा प्रेमतत्त्व को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। प्रेम का आस्वादन करते हुए भी प्यासा रहना इस प्रेम की सासारिक दृष्टि से विशेषता मानी जाती है। प्रेम की उभय पक्ष में समता प्रदर्शित करने के लिए दो दर्पणो के बीच रखी हुई दीप-ज्योति का उदाहरण बहुत सुन्दर है। चाँद और चकोर के उदाहरण को उन्होने प्रेम का एकागी स्वरूप माना है। प्रेम की सार्थकता वही है जहाँ दोनो में एकता-समता पैदा हो और फिर दोनो अपने-अपने सुख-लाभ को भूलकर दूसरे के सुख-लाभ में अपने को अर्पित कर दें।[1]

---

याके खेल रसिक जन परचै थिरचर सब मन भावै।
वृन्दावन हित रूप सहेलिनु चित जु चीज उपजावै।
—चाचा वृन्दावनदास की हस्तलिखित वाणी से उद्धृत।

महा प्रेम निज मधुर रस सबते न्यारौ आहि।
तहां न मिलिबौ बिछुरबौ जीवत रूपहि चाहि ॥
—ध्रुवदास कृत ख्याल हुलास लीला, ब्यालीस लीला, पृष्ठ २३।

१ प्रीति की रीति कैसे कहि आवै।
करि विचार हिय हार रहत हैं क्यों हूँ मन न समावै।
चद ही रहत एक टक देखत सो जग धन्य चकोरी।
टूटै शीश दीठ ना छूटे तदपि प्रीति अति थोरी।
तन मन होय चकोरी चन्दा शशि ह्वै शशि छवि पीवे।
तो कछु स्वाद और ही पावै पिय तजु प्यासी जीवे।
तदपि प्रीति एकगी कहियै जहां न प्रेमी दोऊ।
उघरहि रस जु चकोरहि इक टक चाहै चन्दा सोऊ।
ह्वै चकोर वह चहै चकोरहि यह चन्दा, ह्वै चन्दहि।
छिन-छिन में तन पलटे दोऊ अरुझे प्रेम के फन्दहि।

प्रेम पथ की दुरूहता का वर्णन तो सभी सम्प्रदायो के भक्तो ने किया है । नारद और शाडिल्य के भक्ति-सूत्रो में भी प्रेमाभक्ति को दुर्गम बताया गया है किन्तु उस दुर्गमता से भी अधिक विलक्षण है राधावल्लभीय प्रेमाभक्ति । भक्तवर श्री ध्रुवदासजी ने तो इसकी दुरूहता को हृदयगम करके इसे सर्वसाधारण के लिए कठिन बताया है—

चढिकै मैन तुरग पर चलिवौ पावक माहि ।
प्रेम पथ ऐसो कठिन सबकोऊ निवहत नाहि ॥[1]
प्रीति रीति अति कठिन है, कहूँ न समझै कोइ ।
प्रेम बान जिहि उर लगे निसि दिन जाने सोइ ॥[2]
सब तें कठिन उपासना प्रेम पथ, रस रीति ।
राई सम जो चले मन छूट जाय ध्रुव प्रीति ॥[3]
प्रेम बात ही बात में सूक्षम कह्यौ न जाइ ।
तन तरवर को छाडि कै मनहि झुलावै आइ ॥[4]
प्रेमी बिछुरत नाहि कहु मिल्यौ न सो पुनि आहि ।
कौन एक रस प्रेम को कह न सकत ध्रुव ताहि ॥ [5]

प्रेमतत्त्व का वर्णन गौडीय सम्प्रदाय में भी हुआ है । श्रीमद्भागवत में भी गोपी-प्रेम को महत्व दिया गया है और भक्ति-सूत्रो में भी गोपी-प्रेम का महत्व वर्णित है । किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में गोपी-प्रेम भी शुद्ध प्रेम तत्त्व तक नही पहुंचता क्योकि उसमें सकामता "आत्म सुख" की भावना आ जाती है । अत शुद्ध प्रेम तत्त्व ब्रज-देवियो के पवित्र प्रेम से भी ऊपर कहा गया है ।

---

याको वामैं वाको यामैं पलटि पलटि हित पावै ।
छिन-छिन प्रेम पयोनिधि सगम अधिक-अधिक अधिकावै ।
ज्यों द्वै दर्पन बीच दीप की अगनित आभा दरसै ।
द्विगुन चौगुनो फेरि अठगुनो त्यों अनन्त हित सरसै ।
अनुप्रमान अनुमान कह्यौ यह प्रीति बात कछु औरै ।
ताकी थाह कौन अवगाहै दूरहि तैं मति बौरै ।
भोरी हित जब द्रवै व्यास सुत गूगे लै गुर खाऊ ।
रोम-रोम भरि रहे मिठाई ना कछु कहू कहाऊ ॥
—श्री भोलानाथ की पदावली में से सकलित—श्री रास छद्म विनोद, पृष्ठ १७२-१७३

१ श्री ध्रुवदास रचित 'प्रीति चौवनी लीला' व्यालीस लीला पृष्ठ ५९ ।
२ ,, ,, ,, 'ब्रजलीला' ,, ,, पृष्ठ २५९ ।
३ ,, ,, ,, 'भजन शृङ्गार सत लीला' ,, ,, पृष्ठ ११० ।
४ ,, ,, ,, 'प्रीति चौवनी लीला' ,, ,, पृष्ठ ५९ ।
५ ,, ,, ,, 'प्रेमावली लीला' ,, ,, पृष्ठ १७६, दोहा ५२ ।

गोपिन के सम भक्त न आही, विधि उद्धव तिन की रज चाही।
तिन मन कछू सकामता आई, ताते बिच अन्तर परयौ भाई ॥[१]
ब्रज देविन के प्रेम की बधी धुजा अति दूरि।
ब्रह्मादिक वाञ्छित रहै तिनकै पद की धूरि ॥
तिनहू कौ मन तहा न परसै, ललितादिक जेहि ठां छवि दरसै ॥[२]

## प्रेम में सत्सुख भाव

प्रेम प्रेमी की रागात्मिका वृत्ति का वह रूप है जो उसे प्रेमास्पद के प्रति आकृष्ट करके उसके दर्शन, स्पर्शन, वार्तालाप आदि द्वारा प्रेमी को सन्तुष्ट और सुखी बनाता है। सासारिक प्रेम में, प्रेम करने वाला प्रेमी अपनी वृत्तियो के परितोष के लिए ही प्रेम के ससार मे प्रविष्ट होता है। स्व-सुख-सिद्धि ही सामान्यत प्रेम का लक्ष्य भी माना जाता है किन्तु राधावल्लभीय प्रेम की परिभाषा इससे सर्वथा भिन्न है। यहा प्रेमी और प्रेमपात्र (श्री राधा और माधव) अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष मे ही आत्मसमर्पण करते हैं। राधा की समस्त चेष्टाए माधव को रिझाने, प्रसन्न करने में हैं और माधव राधा के प्रमोद और आनन्द की चेष्टा करते हैं। आत्म-विसर्जन के बाद ही दूसरे की तुष्टि सम्भव है यही इस मत का प्रेम-सम्बन्धी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त को श्री हितहरिवशजी ने 'हित चौरासी' के प्रथम पद में ही स्पष्ट किया है। इस पद का आशय यही है कि राधाकृष्ण एक ही प्रेमतत्व के दो विग्रह हैं। क्रीड़ा या विलास के लिए दो रूप धारण करते हैं। जब राधाकृष्ण यथार्थ में एक ही तत्त्व के दो दृश्यमान् रूप हैं तो कौन किसे प्रसन्न-प्रमुदित करे यह प्रश्न ही नही उठता। अत: पारस्परिक परितुष्टि पर ही बल दिया जाता है। अपनी प्रसन्नता का आधान अपने भीतर न होकर 'जोई-जोई प्यारौ करै, सोहि मोहि भावै' अर्थात् प्रियतम श्रीकृष्ण जो कुछ करते हैं वही मेरी प्रसन्नता का कारण है क्योकि में अपने सुख की उपलब्धि में मग्न न होकर श्रीकृष्ण के सुख की सतत कामना करती हू। और दूसरी ओर श्रीकृष्ण भी अपना सुख न देखकर मेरे सुख के लिए वही-वही काम करते हैं जो मुझे अच्छे लगते हैं। मुझे उनके नेत्रो में रहना ही सुहाता है तो वे भी मेरे नेत्रो की पुतली बन जाने मे सुखी हैं। वे मुझे अपने तन, मन, प्राण से भी अधिक प्रिय हैं और उन्होने मेरे लिए अपने कोटि-कोटि प्राण न्यौछावर कर रखे हैं। श्री हितहरिवशजी इस भाव को दृष्टान्त से पल्लवित करके कहते हैं कि आप दोनो (राधाकृष्ण) वृन्दावन प्रेम पयोनिधि रूपी मानसरोवर के हस-हसनी हैं। आपका सम्बन्ध जल-तरग के समान अभिन्न है, आप दोनो को पृथक् कौन कर सकता है। इस पद में श्री हितहरिवशजी ने अपने प्रेमविषयक सिद्धान्त को स्पष्ट करने के साथ राधा-

१. श्री ध्रुवदास रचित 'अनुरागलता' (ब्यालीस लीला) पृष्ठ २४०।
२ ,, ,, ,, 'प्रेमलता लीला' ,, ,, पृष्ठ २४४।

कृष्ण के नित्य सम्बन्ध पर भी प्रकाश डाला है।[1] इस सिद्धान्त का मूलाधार राधाकृष्ण की एकता ही प्रतीत होता है। ब्रह्म सहिता, श्री महिता, श्री राधातापिन्युपनिषद् और गोपाल-तापिन्युपनिषद् में इसी भाव को 'य कृष्ण सापि राधा या राधा कृष्ण एव स' द्वारा प्रतिपादित किया है।[2]

श्री ध्रुवदासजी ने 'प्रेमलता लीला' में इसी भाव को ज्यो का त्यो वर्णित किया है।[3] 'सिद्धान्त विचार' ग्रन्थ में भी इस विषय पर विचार करते हुए वे लिखते हैं—"सहज प्रेम के रस में दोऊ मत्त रहत हैं। एक रस सनेह की रीति ऐसी है जो सनेही को सुख चाहे अपनी चाह कछु नाही। श्री प्रियाजी विलास करें सब लालजू के हेत और लालजी जामें लाडिलीजी सुख पावें, सोई करें अपनी चाह कछु नाही।"[4] अत सिद्धान्त स्थिर हुआ कि जो अपने प्रेमास्पद के सुख से आसक्त हो उसे ही स्नेही या प्रेमी कहना चाहिये। इस भाव को पारिभाषिक शब्दो में 'तत्सुखसुखित्व भाव' कहते हैं। इसके लिये स्व-सुख कामना का सर्वथा विसर्जन तथा अनन्य भाव से प्रेमास्पद के सुख में आसक्त होना अनिवार्य है। 'आसक्त' की व्याख्या करते हुये ध्रुवदासजी ने कहा है, 'आसक्त कहा ? सक्ति रहित आसक्त। जब ताईं मन की गति भँवर की सी चचल फिरै तब ताही आसक्त नाही। जब सब ठौर तै चचलता छूटै तब आसक्ति के रस में अटकै।'[5] ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य, विषय और वैराग्य को प्रेम

---

१ जोई-जोई प्यारौ करै सोइ मोहि भावै,
भावै मोहि जोई-जोई, सोई सोई करै प्यारै।
मोंकौ तो भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारौ भयौ चाहै मेरे नैननि के तारे।
मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कौटिक प्रान प्रीतम मों सौ हारै।
(जैश्री) हित हरिवश हस-हसिनी सांवल गौर,
कहौ कौन करै जल तरगिनि न्यारै॥ —हित चौरासी पद स० १।

२ या राधा यश्च कृष्णोरसाब्धिर्देहश्चैक क्रीडनार्थ द्विधाऽभूत्।
राधया सहितो देवो माधवे नैव राधिका। यो अनयोर्भेद पश्यति स ससृते मुक्तो न भवति, यस्तु राधां बिना त ध्यायति, प्रवदति, प्रपठति, समूढतमोत्तम।
—राधातापिन्युपनिषद्

३ जाकौ है जासौं मन मान्यौ, सो है ताके हाथ बिकान्यौ
अरु ताके अङ्ग सग की बातै, प्यारी लगै सबै तेहि नातै।
रुचै सोई जो ताको भावै, ऐसी नेह की रीति कहावै॥
ध्रुवदास कृत प्रेमलता लीला—व्यालीस लीला, पृष्ठ २४४

४ द्रष्टव्य—सिद्धान्त विचार, व्यालीस लीला पृ०, ४८।

५ " " " पृ० ५०।

मार्ग की अनुभूति मे इसीलिये अन्तराय माना गया है कि इनसे अभिभूत होने पर एकान्तिक आसक्ति नही होने पाती, आतक, भय, गर्व, प्रभुता आदि से प्रभावित होकर मन अपनी सहज अभिव्यक्तियो से वचित हो जाता है और भीतर ही भीतर अपने प्रेमास्पद की वाह्य गरिमा का ही गुणगान-स्तवन करने में लीन रहता है। आसक्त मन तो वह है जो गौरव-गरिमा की भावना से ऊपर उठकर प्रेम रस मे थकित हो जाय। जैसा कि श्री हितहरिवंशजी ने कहा है—

अति ही अरुण तेरे नैन नलिन री।
आलस जुत इतरात रग मगे भये निशि जागर मखिन मलिन री।
शिथिल पलक में उठन गोलक गति विंधयौ मोहन मृग सकत चलिन री।
(जैश्री) हित हरिवंश हंस कल गामिनि संभ्रम देत भ्रमरनि अलिन री॥
—हित चौरासी, पद स० ८

प्रेम में तत्सुख भाव का वर्णन नारद ने भी अपने भक्ति-सूत्रो मे किया है किन्तु उसका व्याख्यान हितहरिवशजी ने अपनी शैली से करके उसे नवीन रूप दे दिया है।

## प्रेम में अनन्यता

अनन्यता प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन है। सभी भक्तो ने अनन्यता को प्रेम की पहली शर्त मानकर इसे प्रेम-मार्ग की परमोपास्य निष्ठा वताया है। श्री हितहरिवशजी के मत में तो अनन्यता धर्म का आधार है। स्फुट वाणी के दो पद इस अनन्यता की स्थापना में इतने स्पष्ट और व्यापक रूप मे प्रस्तुत किये हैं कि किसी प्रेमी भक्त को नाना धर्मों के प्रलोभन में पडने और इधर-उधर भटकने का कोई प्रसग आ ही नही सकता।

रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये।
मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा सपथ करौं त्रण छियें।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजति मर्यादा बन विहार रस पियें॥
खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जियें।
(जैश्री) हित हरिवंश अनत सचु नाहीं विन या रजहिं लियें॥
श्री हितहरिवश कृत, स्फुट वाणी पद संख्या २०।

मोहनलाल के रंग राची।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ वात दसौं दिस मांची॥
कंत अनत करौं जो कोऊ वात कहौं सुनि सांची।
यह जिय जाहु भलैं सिर ऊपर हौं व प्रगट ह्वै नांची॥
जागृत शयन रहत उर ऊपर मणि कंचन ज्यो पांची।
(जैश्री) हित हरिवंश डरौं काके डर हौं नाहिन मति काची॥
श्री हितहरिवश कृत—स्फुट वाणी पद संख्या १२।

अनन्यता की परिभाषा और व्याख्या करते हुये ध्रुवदासजी कहते हैं—"अनन्यता

याकौं कहिये छाडि अपनौ इष्ट और न जानै। न मन चलै, जो चलै तो अनन्यता नाही। † † †। (सिद्धान्त विचारलीला)।" श्री सेवकजी ने 'श्री हित अनन्य टेक प्रकरण' में अनन्यता पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। उनकी मान्यता है कि प्रेम-मार्ग पर चलने वाले भक्त को सबसे पहले अपने इष्टदेव में अनन्य बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिये। श्री राधा-वल्लभलाल की उपासना करते समय किसी अन्य देवी-देवता का भाव भी मन में नही लाना चाहिये। राधाजी को इष्ट मान लेने पर किसी अन्य देवता की उपासना के लिये श्री हरि-वशजी के मतावलम्बी के लिये स्थान ही नही रहता। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य, माहात्म्य आदि जिन विभिन्न रूपो की उपासना अन्य वैष्णव सम्प्रदायो में प्रचलित है उसको राधावल्लभ सम्प्रदाय मे कोई स्थान नही। यहाँ तो केवल रसोपासना का विधान है जिसमें माधुर्य पक्ष की ही स्वीकृति है।[1]

श्री ध्रुवदासजी ने 'भजनसतलीला' के दोहो में अनन्यता का वर्णन करते हुए इसे अनिवार्य कहा है। उनकी धारणा है कि यह भक्तिरस वृन्दावन में ही राधा की उपासना से प्राप्त होता है। जो वृन्दावन-रस और राधाभाव के उपासक नही वे प्रेमलक्षणा-भक्ति के मर्म को नही पहचान सकते—

जे नर वृन्दाविपिन तजि अनतहि मन लै जात।
कचन तजि गहि काच को फिर पाछै पछितात॥
दुर्लभनिधि देखत सुनत सौ आवत उर नाहि।
जिन धर्मिन में कष्ट बहु हठ ठानत मन माहि॥
पाचों इन्द्री साधिके, यौग मौन व्रत लीन।
देख्यौ भजन अनन्य बिनु वाद वृथा श्रम कीन॥

---

१. कर्म धर्म कोऊ करहु वेद विधि कोऊ बहु विधि देवतन उपासी।
कोउ तीरथ तपज्ञान ध्यान व्रत अरु कोउ निर्गुण ब्रह्म उपासी॥
कोउ यमनेम करत अपनी रुचि, कोउ अवतार कदम्ब उपासी।
मन वच क्रम विशुद्ध सकल मत हम श्री हितहरिवंश उपासी॥
—सेवक वाणी (हितामृत सिन्धु—पृष्ठ १०६)

एक धरम्मी अनन्य कहाय वडाई को न्यारी ये वाजी सी माडत।
और के वाप सो वाप कहन्त दरव्व के काज धरम्महि छांडत॥
वोलत वोल वटाऊ से लागत ह्वै गुरुमानी न वात प्रमानत।
काचे धरम्मिन के सुनौं छन्द धरम्मी धरम्म मरम्म न जानत॥
—सेवक वाणी—हितामृत सिन्धु—पृष्ठ १३६।

रसिक अनन्य निसान वजायो एक श्याम श्यामा पद प्रीति।
श्री हरिवश चरण निज सेवक विचलै नहीं छांडि रस रीति॥
—सेवक वाणी—हितामृत सिन्धु—पृष्ठ १२६।

ह्वै आवै या देहते कैसेहु दोष विशाल।
जो है एक अनन्य व्रत तजत न ताहि गोपाल ॥
—भजन सतलीला—ध्रुवदास—(व्यालीस लीला) पृष्ठ ७४

श्री व्यास जी ने अपनी वाणी में अनन्यता पर बहुत जोर दिया है और प्रेम-मार्ग के लिए इसे निष्ठा-आस्था का जनक ठहराया है। उनकी मान्यता है कि अपना धर्म छोड़ पराये द्वार जाने पर अपना धर्म, आस्था, मर्यादा, विश्वास सब नष्ट होता है। 'स्वधर्मे निधन श्रेय.' ही अनन्यता की पहली सीढ़ी है। उनका कथन है कि यद्यपि अनन्य व्रत की टेक का निर्वाह तलवार की धार पर चलने के समान कठिन है फिर भी इसके बिना प्रेमी भक्त बनने का अधिकार प्राप्त ही नही होता। बिना अनन्य व्रत लिये प्रेमी होने का दम्भ गणिका के प्रेम के समान है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय मे अनन्यता पर अत्यधिक बल दिया गया है। परवर्त्ती सभी भक्त महानुभावो ने इसे सम्प्रदाय की निष्ठा का मूल बताकर धर्मी बनने के लिए सर्वथा अनिवार्य माना है। चाचा वृन्दावनदास ने अपनी 'रसिक पथ चन्द्रिका' मे अनन्य धर्म का प्रतिपादन तथा अनन्य धर्मी के कर्तव्य-कर्म का बडी सजीव शैली से वर्णन किया है। उनकी धारणा है कि एक की टेक निभाना सबकी टेक को समेटना है।[2]

## प्रेम और नेम

प्रेम-मार्ग मे नेम (नियम) का क्या स्थान है और नेम का प्रेम से क्या सम्बन्ध है यह प्रश्न प्रेमलक्षणा-भक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो में प्रारम्भ से ही विचारणीय रहा है। मर्यादा पालन की दृष्टि से नेम (नियम) की आवश्यकता और उपादेयता सभी वैष्णव सम्प्रदायो में स्वीकार की गई है। धार्मिक मर्यादा को स्थापित करने के लिए साधारणतः नेम की आवश्यकता होती ही है। भागवतपुराण मे भक्ति का स्वरूप स्थिर करते हुए नवधाभक्ति का विधान भी मर्यादा का ही एक रूप माना गया है। भक्तिसूत्रो

---

१. अनन्य व्रत खांडे की सी धार।
इत उत डगत, जगत हित तें हरि, फेर न करत सम्हार ॥
कहा व्यास कुल कर्मनि छाडै, जौ लगि विषय विकार।
बिनु प्रेमहि न प्रसाद नेम तहाँ, हरि न ग्रहत ज्योनार ॥
कौन कान कीरति बिनु प्रीतहि, गनिका कैसौ जार।
व्यासदास की पति गति नासै, गये पराये द्वार ॥
—व्यास वाणी—पूर्वार्द्ध पद स० १७५।

२. एक धर्म रस रीति प्रीति एकै रंग रहिए।
ताको कहत अनन्य आन दिसि सुपन न चहिए ॥
एक नाम इक धाम एक सांचौ व्रत धरिए।
अगम सुगम करि लियौ एरु सेवक हित करिए॥
—चाचा वृन्दावनदास रचित, रसिक पथ चन्द्रिका—पृष्ठ २०।

में नियम की बाह्य रूप से स्वीकृति न होने के कारण उसके विविध रूपो का विचार नही किया गया। फलत वहाँ यह प्रश्न विवादास्पद नही बन सका। किन्तु परवर्त्ती वैष्णव सम्प्रदायो ने जब प्रेम को सर्वोच्च स्थान देकर भक्ति-पथ को प्रशस्त किया तब स्वभावत यह प्रश्न सामने आया कि नेम का स्वरूप और सीमा क्या निर्धारित की जाय। श्री रूप-गोस्वामी ने अपने 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' में भक्ति के रूप प्रतिपादित करते हुए जब उसे वैधी और रागानुगा नाम दिया तब वैधी में शास्त्र मर्यादा का अनुगमन सहज ही में स्थान पा गया। रागानुगा भक्ति के कामरूपा और सम्बन्धरूपा नामक दो भेद करके उनमें नेम की मर्यादा का स्पष्टत बाह्य विधान नही किया किन्तु नेम का सर्वथा तिरस्कार भी वहाँ नही है।[1] उसमें काम और प्रेम की क्रीडाओ को स्थान देकर प्रकारान्तर से विहार-परक नेम की स्वीकृति ही समझनी चाहिए। 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' से अधिक परिष्कृत और व्यापक भक्ति का स्वरूप किसी अन्य ग्रथ में नही मिलता अत उसे ही प्रेम-लक्षणा भक्तिमार्गो में प्रमाण माना जाता है। श्री हितहरिवशजी ने प्रेम-नेम की स्थापना कुछ विलक्षण शैली से की है। उनके मत में नेम शब्द साधारण नियम के अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक विशेष तात्त्विक अभिप्राय का द्योतक है। उनके मत में नेम की भी स्थिति है और वह रससृष्टि में सहायक होकर प्रेम के साथ नित्य भाव से वर्त्तमान रहता है। नेम को आकृतिरूप और परिणामरूप स्वीकार किया गया है। नित्य एकरस रहने वाले प्रेम के साथ आविर्भाव और तिरोभाव होने वाली क्रिया-चेष्टाएँ, विविधरूप और परिणाम उसी में व्याप्त रहती है जिसे ध्रुवदास जी ने यन्त्रित की सज्ञा दी है। यह यन्त्रित रूप नेम का माना गया है। प्रेम जन्त्रित नेम को स्थायी माना गया है। स्थिति के अनुरूप उन्होने नेम को विभिन्न कोटियो मे रखकर इसकी व्याख्या की है। उनके किये हुए भेद को हम तीन भागो मे विभक्त करके विश्लेषण करेगे। पहला भेद 'विहारपरक प्रेम और नेम' है जिसमें सासारिक व्यवहार पक्ष को दृष्टि मे रखकर विचार नही किया जाता, दूसरा भेद 'साधना-परक प्रेम और नेम' है जिसमें विहार की स्थिति और व्यावहारिक स्थिति से हटकर प्रेम और नेम की स्थिति ही साधक के लिए विचारणीय रहती है, तीसरा सामान्य 'जागतिक प्रेम और नेम' का सम्बन्ध है जिसका प्राय व्यवहारपरक दृष्टि से ही विचार किया जाता है।

## विहार-परक प्रेम और नेम

विहार की स्थिति में प्रिया-प्रियतम की विविध केलि-क्रीडाएँ, मान-विरह, मिलन-वियोग आदि को नेम के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। प्रेम की स्थिति इन क्रीडाओ

---

१ वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा।
यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्ति रूप जायते ॥ ३ ॥
सा कामरूपा सम्बन्धरूपा चेति भवेद् द्विधा।
प्रानुकूल्यविपर्यासाद् भीति द्वेषो पराहतौ ॥ ६२ ॥
—रूप गोस्वामी रचित—हरिभक्तिरसामृत सिन्धु—पूर्व भाग लहरी २

द्वारा सम्पन्न होती है अत विहारपरक नेम को सर्वथा त्याज्य या हेय नही माना जाता। श्री हितहरिवशजी ने अपनी स्फुट वाणी के एक पद में इस प्रेम-नेम को नित्य विहार के लिए जिस रूप मे स्वीकार किया है हम उसको श्री भोलानाथ जी राधावल्लभीय की टीका सहित प्रस्तुत करते हैं—

तू रति रंग भरी अति देखियत हैरी राधे रहसि रमी मोहन सौं व रैन ।
गनि अति शिथिल, प्रगट पलटै पट, गौर अग पर राजत ऐन ।।
जलज कपोल ललित लटकति लट, भ्रकुटि कुटिल ज्यों धनुष घृत मैन ।
सुन्दरि रहव, कंहव कंचुकि, कत कनक कलश कुच विच नख दैन ।।
अधरबिम्ब दलमलित, आरसयुत, अरु आनन्द सूचित सखि नैन ।
हित हरिवश दुरति नहि नागरि, नागर मधुप मथत सुख सैन ।।

—स्फुट वाणी—पद सख्या १० ।

टीका—"इस पद में मगला के समय प्रियाजी की सुरतान्त छवि का वर्णन है । उसी में प्रियतम से मिलने पर प्रेमी जीव की जो दशा होती है उसका भी वर्णन है । रात्रि रमण से और रजनी आनन्दित करने से रात के नाम हैं । जब समस्त सासारिक व्यापार वन्द हो जाते हैं, वही प्रियतम से मिलने का समय है । 'रहसि' एकान्त मे मिलना होता है । जब तक हृदय में किसी दूसरे का लेशमात्र भी भान रहता है तब तक मिलना असम्भव है । 'मोहन' शब्द साभिप्राय है जिसे वह मोहित करले वही वडभागिनी उसके साथ रमण कर सकती है और किसी की वहाँ पहुँच नही हो सकती । हे राधे ! तू इसी प्रकार उससे मिली है क्योकि तू रति (प्रीति) और रग से भरी हुई दिखाई देती है। तेरी गति अत्यन्त शिथिल हो गई है, क्योकि हृदय मे रूप का प्रकाश हो जाने पर मन पगु हो जाता है, सब सुख फीके पड़ जाने से उदासीनता आ जाती है और भीतर की उलझन तथा आनन्द के भार के कारण चलने-फिरने मे भी पाँव की गति वहुत मद हो जाती है । तूने प्यारे से पट बदल लिये हैं, अर्थात् तन, मन जो कुछ तेरा था सो उनको दे दिया, तब उन्होने भी जो कुछ उनका था वह तुझे दे दिया, सो वह यह सब प्यारे की विभूति तेरे गोरे अग पर बिल्कुल ठीक-ठीक फबती है । श्याम की जोडी है इससे गौर शब्द दिया गया है । तेरे कपोल चन्द्रमा के समान हैं, दर्शनमात्र मे आनन्द और अमृत की वर्षा करते हैं । लटें छूट रही हैं अर्थात् अपनी देह की भी सुध नही है । टेढी भौंहे ऐसी जान पडती हैं मानो कामदेव ने धनुष धर दिया हो, अर्थात् अब इन भौंहो का उतरना-चढना और अनेक प्रकार के भावो का दिखाना सर्वथा वन्द हो गया है । हे सुन्दरि ! ठहरो, यह तो कहो कि कचुकी कहाँ गई ? अत्यन्त उन्मत्त प्रेम की दशा में न लाज है, न वस्त्र और न देह का ही भान है । क्योकि दोनो कुचो के वीच मे अर्थात् हृदय मे प्रेम के नख लग गये हैं, इसमे गहरा घाव हो रहा है । यद्यपि ओठ लाल ( अनुराग ) भरे हैं तथापि दलमलित हैं, वोल नही सकते हैं । केवल आलस भरे नेत्र ही इस आनन्द की सूचना करते हैं, ओठ विचारे क्या कह सकते हैं । नेत्रो की भी गति ( फडकना ) वन्द है । हे नागरि ! प्रेमरूपी आसव को पीकर उन्मत्त भये नागर के साथ शयन (सभोग) मे जो सुख का

मथन कर सार निकाला है सो क्या छिपाये छिप सकता है।"[1]

स्फुट वाणी का यह पद यथार्थ में प्रेम का सिद्धान्त स्थिर करने वाला पद है जिसमें सुरत प्रसगानुकूल रति-क्रीडाओ का वर्णन करके नेम की स्थापना की गई है। इस पद में राधा का रहसि मिलन, सुख-सम्भोग, प्रियतम के प्रकाश से मन की गति पगु होना, लटें बिखरना, कचुकी का विस्त्रस होना, भौंहो का निश्चेष्ट होना, अधरो का आनन्दातिरेक से मूक-स्तब्ध होना आदि क्रियाएँ विहारपरक नेम के अन्तर्गत समझी जायँगी अत इनकी स्थिति प्रेम की उन्मत्त दशा में भी मानी गई है। हित चौरासी के अनेक पदो में प्रेम और नेम की स्थितियो का विशद वर्णन मिलता है। प्रेम और नेम को विहारपरक समझने के लिए प्रिया प्रियतम की दशा का इस प्रकार विवेक करना आवश्यक है। जब प्रेम की आस्वाद्य स्थिति में लीन होकर दोनो आत्मविभोर हो जाते है और उन्हे अपने स्वरूप का बोध नही रहता वह स्थिति 'प्रेम' कहलायगी। जब विभोर दशा से उछलकर प्रेम तरगायित होता है और उस समय जो स्थिति उत्पन्न है वह 'नेम' कोटि में रखी जाती है। कभी-कभी प्रेम और नेम की सयुक्त दशा भी सभ्रम के कारण उत्पन्न होती है, क्षणभर में प्रेम तरगित होकर नेम में परिवर्तित होता है और नेम प्रेम में। इसे प्रेम-नेम की मिश्रित या सयुक्त दशा कहा जाता है। हम नीचे चौरासी का एक पद उद्धृत करके उसमें प्रेम-नेम की स्थिति को उदाहृत करेंगे—

विहरत दोऊ प्रीतम कुंज। ( नेम स्थिति )
अनुपम गौर श्याम तन शोभा, वन बरसत सुख पुज।
अद्‌भुत खेल महामन मनमथ को दुंदुभि भूषन राव।
जूझत सुभट परस्पर अग-अग, उपजत कौटिक भाव।

( नेम स्थिति )
भरि संग्राम अमित अति अबला निद्रायत कल नैन।
पिय के अक निशंक तकतन आलस जुत कृत सैन।

( प्रेम स्थिति )
लालन मिस आतुर पिय परसत उरू नाभि उरजात।

( नेम स्थिति )
अद्‌भुत छटा विलोकि अवनि पर विथकित वेपथु गात।

( प्रेम स्थिति )
( लालजी की )
नागरि निरखि वदन विष व्याप्त दियो सुधा घर घोर।
सत्वर उठे महा मधु पीवत मिलत मीन मिव नीर॥

( नेम स्थिति )

---

१—स्फुट वाणी—श्री हितहरिवंश रचित, टीका श्री भोलानाथ (प्रकाशित) पृष्ठ १४-१५।

अबही में मुख मध्य विलोके बिंबाधर सु रसाल ।
जाग्रत ज्यों भ्रम भयो परचौ मन सत मनसिज कुलजाल ॥
( संभ्रमजन्य मिश्रित स्थिति )

सकृदपिमयि अधरामृतमुपनय सुन्दरि सहज सनेह ।
तव पद पंकज को निज मन्दिर पालय सखि मम देह ॥
( नेम स्थिति )

प्रिया कहत कहु कहाँ हुते पिय नव निकुंज वर राज ।
सुन्दर वचन रचन कत वितरति रति लंपट बिनु काज ॥
( नेम स्थिति )

इतनो श्रवन सुनत मानिनि मुख अंतर रह्यौ न धीर ।
मति कातर बिरहज दुख व्यापत बहुतर स्वास समीर ॥
(प्रेम स्थिति)

(जैश्री) हित हरिवंश भुजन आकष लै राखे उर मांझ ।
मिथुन मिलत जु कछुक सुख उपज्यौ त्रुटि लवमिव भइ साझ ॥
(प्रेम की अनन्य दशा में लीन स्थिति)

—हित चौरासी, पद स० ६६ ।

जिस स्थिति को 'प्रेम जन्ित नेम' कहा जाता है उसका सुन्दर उदाहरण श्री हित-हरिवंशजी की स्फुट वाणी का निम्न पद है—

दोऊ जन भीजत अटके बातन ।
सघन कुंज के द्वारे ठाड़े अम्बर लपटे गातन ॥
ललिता ललित रूप रस भीनी, बूंद बचावत पातन ।
(जैश्री) हित हरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रतिरस घातन ॥

—स्फुट वाणी, पद सं० २३ ।

प्रेम को शाश्वत, त्रिकालातीत और सदा एकरस रहने वाला तत्त्व मानकर नेम को विहार की स्थिति मे आदि-अन्त-युक्त एक ऐसा धर्म माना है जो प्रेम को व्यवहार्य बनाने मे योग देता है । इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए पात्र और जल, सुवर्ण और आभूषण वस्त्र और रग आदि के लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं । पात्र आधार है सदा एक समान रहने वाला, जल आधेय है परिवर्तित होने वाला । अत. प्रेम की स्थिति पात्र के समान सदैव एकसी (शाश्वत) रहती है, नेम जल स्थानीय है जो परिवर्तन को प्राप्त होता रहता है । स्वर्ण के उदाहरण में सोने की स्थिति प्रकृति (धातु) रूप नित्य है, आभूषण, कनक-कुण्डलादि निर्माण करने में वह सोना ही विभिन्न नाम रूप धारण करके विकृति को प्राप्त होता है, अत· प्रेम की स्थिति शुद्ध स्वर्ण सदृश एकरस रहने वाली है, नेम आभूषण सदृश परिवर्तन को प्राप्त होने वाली दशा का नाम है । इन दोनो उदाहरणो से एक भ्रान्ति भी सम्भव है । जिज्ञासु के मन मे यह भाव आ सकता है कि प्रकृति और विकृति रूप मे यदि प्रेम और नेम को समझा और ग्रहण किया जाएगा तो इनमे तादात्म्य कैसे सम्भव होगा । इस प्रश्न का

समाधान इस प्रकार किया जायगा कि ये दोनो उदाहरण बाह्य रूप से वस्तुस्थिति को दर्शाने मात्र को हैं। यथार्थ में ऐसा भेदभाव—प्रकृति और विकृति रूप पार्थक्य—प्रेम और नेम मे नही बनता। वस्त्र के ताने-बाने की तरह विहार-परक प्रेम में ये दोनो मिले रहते हैं। रस सृष्टि में दोनो का समान रूप से योग सतत रहता है अत इन्हे अभिन्न-सदृश माना जाना चाहिए। अर्थात् रस रूपी पट के प्रेम और नेम ताने-बाने के समान है। एक के अभाव में पूर्ण रस-पट का निर्माण सम्भव नही। हाँ, मनोव्यापार की दृष्टि से प्रेम और नेम की क्रियाओ में कुछ अन्तर अवश्य देखा जा सकता है। और यही अन्तर इन दोनो में अपेक्षाकृत व्यापकता और वरिष्ठता का मापदड हो सकता है। प्रेम की स्थिति, प्रेम की आनन्दमयी विह्वल दशा, विवशता की जननी है। नेम की क्रिया सावधानता है जिसमें बाह्य क्रियाए हास-विलास आदि स्पष्ट परिलक्षित होती रहती हैं। अर्थात् प्रेम की गभीर स्थिति को जिन क्रियाओ द्वारा पहचाना जाता है वे सब नेम हैं। इस स्थल पर आते ही हम प्रेम और नेम के बीच विभाजक रेखा खीच सकते हैं।[1]

श्री ध्रुवदासजी के काव्य से हम प्रेम की विभोर दशा तथा नेम की क्रीडा-दशा का एक-एक उदाहरण प्रस्तुत करके इस विहारपरक प्रेम-नेम को और स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

माधुरी की कुंज तामें मोद की लै सेज रची
तेहि पर राजे अलबेले सुकुमार री।
रूप तेज मोद के युगल तन जगमगे
हाव भाव चातुरी के भूषन सुढार री॥
नेह नीर नैनन की सैनन में रहे भीजि,
कौन रग बाढ्यो जहा बोलि बोऊ भार री।
अति ही आसक्त सखी रहो मोहि जोहि जोहि
हित ध्रुव प्राननि को यहै है अहार री॥[2]

विहार की स्थिति में मोद की सेज पर प्रिया-प्रियतम विराजमान हैं। कान्ति, दीप्तिमय शरीर वाले दोनो हाव-भावपरायण होकर प्रेम में डूबे हुए हैं। नेत्रो से प्रेमाश्रु विगलित हो रहे हैं—प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए वाणी से वचन नही निकल रहे हैं, बोलना उस समय भार-स्वरूप प्रतीत होता है। अत्यन्त आसक्त (एक दूसरे में प्रेमातिरेक के कारण लीन) होकर मुग्ध होकर देख भर रहे है, उनके जीवन का यही आहार है। इस स्थिति में प्रेम की विभोर दशा के अतिरिक्त और कुछ शेष नही है।

---

१ 'प्रेम की क्रिया विवशता, नेम की क्रिया सावधानता या तें एक कहिए स्वाद को दोइ। कबहू खिलारी खेलवस, कबहू खिलारी बस खेल।'
ध्रुवदास रचित—सिद्धान्त विचार लीला, पृष्ठ ४९।

२. ध्रुवदास रचित 'भजन शृङ्गार सत लीला, दूसरी शृ खला, पृष्ठ ९५।

दूसरा उदाहरण नेम की रति-क्रीडापरक स्थिति का वर्णन करने वाला है—

खेलत फाग भरे अनुराग सों लाड़िली लाल महा अनुरागी।
तैसिये सग सखी सुठि सोहनी प्रेम सुरंग सुधा रस पागी॥
है पिचकारी चितौन छबीलो की प्रीतम के उर अन्तर लागी।
रंग कौ ओर न छोर सनेह कौ देखि सबै उपमा ध्रुव भागी॥[1]

उपर्युक्त सवैया मे लाल-लाडिली का पारस्परिक अनुराग व्यक्त करने का प्रसग है। चितवन की पिचकारी प्रीतम के अन्तरतम में लग उन्हे भी स्नेह-सिक्त कर देती है, इस फाग खेलने में प्रेम का ओर-छोर नही रहा है। कवि को उपमा नही मिल रही है। यह सब वर्णन नेम के अन्तर्गत ही रखा जायगा।

प्रेम-नेम की शास्त्रीय कसौटी पर परख श्री ध्रुवदासजी ने अपने 'सिद्धान्त विचार लीला' नामक ग्रथ में की है। सिद्धात की सूक्ष्मता और गभीरता से पूर्णतया अवगत होकर ही कदाचित् उन्होने पद्य के स्थान पर 'गद्यवार्त्ता' का आश्रय लिया है। गद्य मे प्रश्नोत्तर तथा शका-समाधान के द्वारा विचार-विमर्श के उपर्युक्त युक्ति, तर्क, प्रमाण आदि दिए जा सकते हैं अत यह शैली अधिक समीचीन रहती है। वचनिका के प्रारम्भ मे आपने एक प्रश्न उठाया है—"प्रेम-नेम के लक्षण कहा ? कहा प्रेम, कहा नेम ? प्रेम को निज रूप चाह, चट-पटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस रुचि तरग बढत रहै। सहज स्वच्छन्द जाकौ आदि अन्त नाहि, छिन-छिन नूतनता स्वाद। अरु नेम अनेक भान्ति है। जाकौ आदि अन्त होय सो सब नेम जानिबौ। † †। प्रेम नेम जैसे तन्तु का ताना-बाना, न्यारो कोई नाही। और सोना है ताते भूषण करयौ सो नेम भयौ। सोना एक रस है सो प्रेम है। † † †। एक ने कही जब प्रेम उपजै तब नेम रहै कि जाय। जो नेम-प्रेम तै न्यारे हैं ते जाईं, जे नेम प्रेम से जन्त्रित हैं ते कैसे जाईं। नवधा भक्ति हू नेम है। जब प्रेम लच्छना उपजै तहाँ प्रेम में लीन ह्वै रहै। ताको दृष्टान्त, जैसे श्वेत वस्त्र लाल रग्यौ तब यह लाल भयौ। वस्त्र कहूँ नही गयौ। जैसे भरिया पात्र को आकार नेम, पात्र प्रेम। जो करिये और निबरै सो सब नेम, अरु एक रस रहै सो प्रेम। † † †। प्रेम की क्रिया विव-सता, नेम की क्रिया सावधानता। यातें एक कहिए स्वाद को दोह। कबहु खिलारी खेल बस, कबहु खिलारी बस खेल।"[2]

---

१ ध्रुवदास रचित 'भजन शृङ्गार सत लीला', तृतीय शृङ्खला, पृ० १०४।

२. प्रेम मदन के सिन्धु द्वै दहत रहत दिनहीय।
कबहुं बिवस चेतत कबहु छिन-छिन प्यारी पीय॥
छिन-छिन प्यारी पीय मधुर रस बिलसत ऐसे।
सूक्ष्म प्रेम की बात कहौ कोऊ बरनै कैसे॥
यह सुख सखियन बट पर्‌यौ भूलै ध्रुव सब नेम।
इक रस फूली फिरत संग पाइ माधुरी प्रेम॥
द्रष्टव्य—ध्रुवदास कृत—सिद्धान्तविचार लीला, पृष्ठ ४६।

उपर्युक्त व्रजभाषा की गद्यवार्त्ता में श्री ध्रुवदासजी ने जिस गूढाशय का व्याख्यान किया है उसी को संक्षेप में आपने 'प्रीति चौवनी लीला' में लिखा है।[1] वे विहारपरक प्रेम-नेम का स्वरूप स्थिर करके साधनापरक तथा जागतिक प्रेम-नेम पर भी अपनी व्यवस्था देते हैं।

## साधारण प्रेम-नेम

प्रेम और नेम के स्वरूप, सीमा और पारस्परिक सम्बन्ध निर्धारण करते हुए राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक रसिक भक्त महानुभावो ने साधनापरक प्रेम-नेम के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। श्री हितहरिवशजी के सिद्धान्तो के सर्वप्रथम भाष्यकार श्री सेवक जी कहे जाते हैं। उन्होने अपनी 'सेवकवाणी' में प्रेमतत्त्व को प्रधान मानकर साधना की दृष्टि से नेम पालन के प्रति उपेक्षाभाव व्यक्त किया है। उनकी दृष्टि मे प्रेम के अखड राज्य में नेम-निर्वाह व्यर्थ है।[2] श्री ध्रुवदास जी ने भी साधनापरक प्रेम के साथ नेम की व्यर्थता प्रतिपादित की है।[3] भक्तकवि व्यासजी ने प्रेम-नेम का तात्त्विक विवेचन नही किया किन्तु प्रेम की व्यापक सीमा बताते हुए उसमें नेम की अनिवार्यता पर जोर नही दिया है। 'रसिक अनन्य व्रत' प्रसग मे प्रेम को उपादेय और काम्य सिद्ध करते हुए नेम को अनावश्यक कहा है।[4]

साधनापरक प्रेम-नेम के विषय मे ध्रुवदासजी कहते हैं कि जिस शरीर-रूपी वन में प्रेम-रूपी केहरी गर्जता है वहा नेम-रूपी मृग, गज, गीदड, विहग कैसे रह सकते हैं। जो साधक

---

१ जब लगि ह्वै मन बीच कछु स्वारथ को हित होय।
शुद्ध सुधा कैसे रहे, परै जो तामें तोय॥
आदि अन्त जाको भयौ सो तब प्रेम न रूप।
आवत जात न जानिये, जैसे छाह अरु धूप॥
—ध्रुवदास कृत—प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ५६।

२ श्री हरिवश जनित जहा प्रेम, तहा कहा व्रत सयम नेम।
क्षेम सकल सुख सम्पदा॥
—सेवक वाणी, श्री हितविलास प्रकरण, हितामृतसिन्धु, पृष्ठ ८२।

३ हरिवश चन्द्र सब रसिकजन राखे रस में बोरि।
प्रेमसिन्धु विस्तारकै नेम मेंड दई तोरि॥
—ध्रुवदास कृत—प्रेमावली लीला, पृष्ठ १७२।

४. अनन्य व्रत खाडे की-सी धार।

× × ×

बिनु प्रेमहि न प्रसाद नेम तहा हरि न ग्रहत ज्योंनार।
व्यामदास की पति गति नाशै गये पराये द्वार॥
—व्यासवाणी (रसिक अनन्य व्रत सिद्धान्त प्रकरण) पृष्ठ १०७।

नेम के जाल में उलझे हुए हैं वे प्रेम मार्ग पर सरपट कैसे दौड़ सकते हैं ।[1] मन से नेम का चक्कर दूर किये बिना प्रेम की प्राप्ति सम्भव नही । माधुर्य रसपूर्ण प्रेम के मन मे आते ही नवधाभक्ति और सब प्रकार के नेम दूर हो जाते हैं ।[2] 'भजनसत लीला' मे भी यही सिद्धान्त साधनापरक नेम के लिए स्थिर किया है । उनकी मान्यता है कि नेम द्वारा प्रेम नही होता, प्रेम के लिए रसिको का सम्पर्क आवश्यक है ।[3] विना नेम के जहा प्रेम विराजता है वही निष्काम प्रेम एकरस गर्जता है । यदि उस प्रेम में राई भर भी नेम मिला तो उस प्रेम की वही स्थिति होगी जो दूध में कांजी मिला देने से होती है । शुद्ध दूध एकदम फटकर नष्ट हो जाता है ।[4] 'प्रेमलता लीला' में लाल-लाडिली के प्रेम का कारण 'निज प्रीति रस' नाम से व्यवहृत हुआ है । नेम का तो वे दोनो स्पर्श भी नही करते । यदि नेम का भाव उन दोनो के प्रेम के वीच आ जाय तो वह स्थिर न होकर नष्ट हो जाता है ।

प्रेम-नेम के सम्वन्ध में सम्प्रदाय के प्राय सभी प्रमुख आचार्यों तथा भक्त महानुभावो ने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से विचार व्यक्त किये हैं । किन्तु पिष्टपेषण को वचाने की दृष्टि से हम और अधिक मत उद्धृत नही कर रहे हैं । श्री गोस्वामी रूपलालजी इस सम्प्रदाय के एक प्रभावशाली एव निर्भीक आचार्य हुए हैं । उनका जन्म सवत् १७३८ मे हुआ था । उन्होंने अपने विचार प्रदर्शित करते हुए नेम की वडी स्पष्ट व्याख्या की है । उनकी वाणी की हस्तलिखित प्रति से हम नीचे जो पद उद्धृत कर रहे है उसका सार यह है कि रस की विवश दशा में जव मन निमज्जित हो जाय और किसी प्रकार की सुध न रहे वही प्रेमदशा कही जाती है । इससे भिन्न जहा सावधानता वनी रहे वह सव नेम-काम कहा जायगा । जव मन सच्चे प्रेम

---

१. जेहि तन घन गरजत रहे अद्भुत केहरि प्रेम ।
वामें पावै रहन क्यों गज विहन मृग नेम ।
प्रेम चाल वांकी चलन मन पग नहि ठहराय ।
नख सिख अरुझे नेम तें ते कैसे तह जाय ॥
भूल्यौ नहि अपनौ विषय मिट्यौ नमन ते नेम ।
तासौं ध्रुव कैसे कहै जानि-वूझिकै प्रेम ॥
ध्रुवदास—प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ५८-५६ ।

२ महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर माहि ।
नवधाहूं तिहि रुचै नहिं नेम सवै मिटि जाहि ॥
ध्रुवदास—भजन कुंडलिया लीला, पृष्ठ ६४ ।

३. रे मन रसिकन संग विनु रंच न उपजै प्रेम ।
या रस कौ साधन यहै और करो जिनि नेम ॥
—ध्रुवदास—भजन सत लीला, पृष्ठ ७० ।

४. विना नेम यहां प्रेम विराजै, सौ निह काम एक-एक गाजै ।
राई सम जो नेम मिलाई, कांजी दूध प्रेम ह्वै जावै ।
—ध्रुवदास—अनुराग लता लीला, पृष्ठ २४१ ।

पयोनिधि में अवगाहन करने लगता है तब नेम-काम की भावना तक शेष नही रहती ।[1]

## जागतिक प्रेम-नेम

जागतिक प्रेम-नेम के विषय में अधिक विचार-विमर्श इसलिए नही किया गया कि साधारणत प्रेमलक्षणा-भक्ति के उदय होने पर अपने आप वाह्य नेम आदि का कोई स्थान नही रह जाता । जिन सम्प्रदायों में साधना-परक नेम को स्थान प्राप्त है वे भी लोकाचार पर आश्रित बाह्याडम्बर को नेम की कोटि में रख कर त्याज्य ही बताते हैं । जो कठोर मर्यादावादी है और प्रेममार्ग को स्वीकार नही करते उनके यहा अवश्य जागतिक नेम की स्वीकृति अन्त तक बनी रहती है । राधावल्लभ सम्प्रदाय मे चूंकि 'नेम' शब्द सामान्य जागतिक कर्मकाड का द्योतक नही है और इसका विचार करते समय किसी के सामने स्थूल नेम का ध्यान नहीं रहा है अत उसका यहा कोई महत्व नही । प्रेमपरिपाक में सहायक नेम तथा उसकी विविध क्रीडाए ही यहा नेम के अन्तर्गत आती है अत उन्ही का विचार हुआ है । फिर भी ध्रुवदास जी तथा अन्य महानुभावो ने इस जागतिक नेम को व्यर्थ ठहरा कर अवहेलना की दृष्टि से देखा है । श्री चतुर्भुजदास ने जागतिक प्रेम-नेम की व्यर्थता का अपने 'द्वादश यज्ञ' नामक ग्रंथ में तथा स्फुट पदो में बडी स्पष्टता से उल्लेख किया है । समस्त लोक-लाज, कुल-मर्यादा, कर्मकाड नेम का ही रूप है अत प्रेममार्ग के पथिक को इसे छोडना अनिवार्य है ।[2]

---

१ विवस भाव रस होइ सु प्रेम यातें और काम सब नेम ।
ना तौ नेह देह सम्बन्ध, ताकैं हित जग भटकैं अन्ध ।।
जो कछु प्रेम जगत को देख्यौ, सो तो नेम काम उर लेख्यौ ।
बूढ़ें उछरैं काम वासना, तातें इनकी नाहिं वासना ।
साचौ प्रेम जु हो तो ताहि, प्रेम रूप लेतौ अवगाहि ।।
—गोस्वामी रूपलाल जी की (हस्तलिखित) वाणी से उद्धृत ।

२. मारत हौ कत प्रेमहि लाजनि ।
करत प्रेम पै, नेम न विसरत करत फिरत विधि कुल के काजनि ।
पूरन प्रेम गनत गोपिन कौ सव कृत तजत जगत भई भ्राजनि ।।
तिनकैं प्रेम मगन मोहन भए तज कै अखिल लोक के राजनि ।
हृदय वसति हरि, नेम गयौ ढरि, प्रेम रह्यौ भरि विदित विराजनि ।।
+ + +
रही रिपि रवनी कन्त पति ज्यौं सरिता सागर हि समाजनि ।
प्रेम परैं निकटै न चत्रभुज मुरलीघर वर करत निवजानि ।।
—चतुर्भुजदास—स्फुट पद हस्तलिखित प्रति से ।

सुन सखि दशा होत जव प्रेम की ।
ज्ञान कर्म विधि वैभवता सव नहि ठहरात व्रत नेम की ।

सक्षेप मे, विहारपरक, साधनापरक तथा व्यवहारपरक नेम-प्रेम के मर्म को हृदयंगम करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि विहार दशा मे नेम भजनीय तत्त्व का पोषक क्षणिक उपादान है, उसकी स्थिति सर्वथा हेय या त्याज्य नही। वह प्रेम मे अन्तर्भुक्त होकर रसपरिपाक में सहायक होता है अत ग्राह्य एव उपादेय है। साधना-परक नेम साधक की मन स्थिति को सुस्थिर करने मे प्रारम्भ में उपयोगी होता है अत उसे भी कुछ काल तक स्वीकार किया जा सकता है। किन्तु तृतीय कोटि का मर्यादावादी कर्मकाड परक नेम इस मार्ग में उपादेय न होने से त्याज्य और हेय कहा गया है। उसका प्रायः सभी भक्तो ने खडन किया है।

## प्रेम और काम

प्रेमलक्षणा-भक्ति को माधुर्यभक्ति और शृंगार रस को उज्ज्वल रस की सज्ञा देकर चैतन्य सम्प्रदाय के विद्वान् पडित श्री रूप गोस्वामी ने अपने भक्ति-ग्रथो में शृंगार और प्रेम के लौकिक विषय-वासनामय रूप का उन्नयन किया था। शृंगार और प्रेम के सासारिक चित्रो के माध्यम से उन्होने हरिभक्ति का उज्ज्वल एव दिव्य रूप खडा करके शृंगार की भोग-वृत्ति का भली-भाति परिमार्जन भी किया। भक्ति के क्षेत्र मे जिस शृंगार को चैतन्य सम्प्रदाय के आचार्यो ने अवतरित किया था उसका कृष्णभक्ति-परक परवर्ती सभी वैष्णव सम्प्रदायो पर गहरा प्रभाव पडा और उनमें शृंगारमयी शैली से रसोपासना प्रवर्तित हो गई। रसिकाचार्यो ने प्रेम और शृंगार का वर्णन करके जो शैली ( अभिव्यक्ति का माध्यम ) ग्रहण की उसमें प्रेम के प्रतिपादन मे काम, मनोज, मार, मनसिज, मन्मथ आदि शब्दो का प्रचुर परिमाण मे प्रयोग हुआ। साथ ही भाववस्तु के लिए भी स्थूल काम-चेष्टाओ का सागोपाग वर्णन किया गया। उस वर्णन के पीछे भक्तो की चाहे जैसी पावन भावना रही हो किन्तु सामान्य पाठक को उसमें काम-वासना की गध आना स्वाभाविक है। रसोपासना में शृंगार का स्थान हम पहले स्पष्ट कर चुके है और हमने यह भी बता दिया है कि इस उपासना पद्धति को स्वीकार करने का कारण क्या था। प्रस्तुत प्रकरण मे हमे प्रेम और काम के पारस्परिक सम्बन्ध और उनके स्वरूप पर ही प्रकाश डालना है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का इस सबध में कोई नवीन दृष्टिकोण या मत नही है। राधासुधानिधि ग्रथ मे जिस भाव से राधा की महिमा का गान तथा उपासना का विधान हुआ है वह चैतन्य और निम्बार्क से भिन्न नही है अत शृंगार भावना के चित्रण में भी प्राय साम्य है। 'हित चौरासी' में भी काम, प्रेम और शृंगार के सम्बन्ध में कोई सिद्धात वाक्य नही लिखा गया किन्तु साम्प्रदायिक भावना का अध्ययन करके इस परिणाम पर पहुँचना कठिन नही है कि जिस 'काम' का स्थान-स्थान पर वर्णन किया गया है वह लौकिक वासना-जन्य काम न होकर प्रेम-मार्ग में प्रेरक, प्रबल

---

( पिछले पृष्ठ का शेष )

रहत अधीर ढरत नैननि जल मिटत सकल चंचलता मन की।
परमचित्त आनन्द सिन्धु में लजि तजि जात लाज गुरु जन की॥
—ध्रुवदास—स्फुट पदावली ब्यालीस लीला—पृष्ठ ३५।

भाव है। श्री मधुसूदन सरस्वती पाद ने अपने 'श्री भगवद्‌भक्ति रसायन' नामक ग्रथ में काम का उल्लेख करते हुए उसका लौकिक स्वरूप शरीर सम्बन्ध की इच्छा ही माना है। अर्थात् स्व सुख की सासारिक भावना ही काम की प्रेरक है। काम के सन्निधान और असन्निधान दो भेद भी किये हैं जो शरीर सन्निकर्ष और विप्रकर्ष रूप से कहे जाते हैं।

काम शरीरसम्बन्धविशेषस्पृहयालुता।
सन्निधानासन्निधानभेदेन स भवेद् द्विधा ॥[1]

प्रेम और काम के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'श्री चैतन्य चरितामृत' के लेखक श्रीकृष्णदास कविराज की उक्ति बडी सटीक और सुन्दर है —

आत्मेन्द्रिय प्रीति इच्छा तार काम नाम।
श्रीकृष्णेर प्रीति इच्छा तार प्रेम नाम ॥
अतएव काम प्रेमे वहौत अन्तर।
काम अधतम, प्रेम निर्मल भास्कर।
अतएव गोपीगण न करें विचार।
कृष्ण सुख हेतु करे सगम-विहार ॥

—श्री चैतन्य चरितामृत।

इस कथन में कृष्ण-प्रीति को प्रेम और अपनी इन्द्रियो के सुखभोग की इच्छा को काम कहा गया है। ठीक यही भाव राधावल्लभीय वाणियो में व्यक्त हुआ है। राधावल्लभीय भक्तो ने काम के सम्बन्ध में स्पष्टोक्तियो द्वारा उसे प्रेम से पृथक् दिखाने की श्लाघ्य चेष्टा की है। सासारिक काम-सम्बन्धो में नायक-नायिका की विलास-चेष्टाओ का मासल वर्णन रहता है। स्थूल रूप से शारीरिक सुखभोग ही काम का रूप है किन्तु राधाकृष्ण प्रेमवर्णन में इस स्थूल काम को सर्वथा त्यागकर आनन्द की ऐसी भूमिका तैयार की जाती है जहा वासना जैसा भाव मन में न आवे। श्री ध्रुवदासजी ने तो नायक-नायिका का अस्तित्व तक रस में स्वीकार नही किया फिर भौतिक काम प्रसग बनेगा ही कैसे।[2] उन्होने स्पष्ट कहा है कि जब (राधा-विषयक) प्रेमाकुर मन में पैदा होता है तब समस्त विषय-वासनाएं नष्ट हो जाती है। ससार से आन्तरिक वैराग्य हो जाता है और वृन्दावन रस मन में हिलोरें मारने लगता है।[3] राधा-कृष्ण प्रेम को निष्काम प्रेम की सज्ञा भी दी गई है। यद्यपि यह निष्काम भाव आध्यात्मिक

---

१—द्रष्टव्य—श्री मधुसूदन सरस्वती—भगवद्‌भक्ति रसायन, पृष्ठ १४०।

२—जहाँ न नायक नायका रस करवावत केलि।
उभै सखी सगम सुरस, पियत नैन पुट झेलि ॥
ध्रुवदासकृत, ब्यालीस लीला—पृष्ठ १६४।

३—प्रेम बीज उपजै मन माहीं, तब सब विषै वासना जाहीं।
जगतै फिरै भयौ वैरागी, वृन्दावन रस में अनुरागी ॥
—वही—पृष्ठ २३६।

दृष्टि से ही सम्पन्न होना है लोक में तो सकामना ही देखी जाती है।[१] 'सिद्धात विचार' में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कि काम और प्रेम में क्या भेद है, ध्रुवदास जी कहते हैं कि जहाँ तक सुख हैं उन सब में काम रस ही विशेष है। इससे बढकर और कोई सुख नही।[२]

इसी प्रसग में आगे और स्पष्ट करते हुए काम-प्रेम के विषय में कहते हैं कि कोई यह शका करे कि काम को पहले नेम के अन्तर्गत रखकर उसका युगल किशोर की प्रेम-लीलाओ मे उपयोग वर्णन किया है तो फिर इस काम भाव को त्याज्य या हेय कैसे समझा जा सकता है। इस शका का समाधान यह है कि युगल किशोर का काम प्राकृत काम नही अपितु दिव्य पेम है। यह निज प्रेम ही शृगार रस के पोषण के लिए नेम रस के रूप में अलग करके कहा है। श्री प्रियाजी के अग सग से जो बातें ( रस ) उत्पन्न होती हैं वे सभी प्रियतम श्रीलालजी को प्यारी लगती हैं, अत यह काम (प्रेम) अप्राकृत है। श्रीकृष्ण काम के वश में नही हैं। जिनका रूप देखकर कोटि-कोटि मनोज रति सहित मूर्च्छित होते हैं वे साक्षात् प्रेम हैं।[3]

"काम और प्रेम का अन्तर स्पष्ट करते हुए श्री मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है— 'भगवान् परमानन्द स्वरूपः स्वयमेवहि। मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम्।' प्रेमी के द्रुत चित्त पर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पद विच्छन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि हैं। जिस प्रकार अग्नि का ताप पहुँचने पर जतु (लाक्षा) पिघल जाती है उसी प्रकार स्नेहादि रूप अग्नि से भी प्रेमी का अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। कृष्ण आदि

---

१—दुख को मूल सकामता, सुख को मूल निहकाम।
विरह वियोग तहाँ न कछु, रस में ध्रुव सुख धाम॥
ध्रुवदास कृत—ब्यालीस लीला, पृष्ठ २४१।

२—'एक ने कही प्रेम में अरु काम में कहा भेद है ? सो सब समझाइ देहु। ताते जैसी यथा-मति उपजी तैसी कही। और जहाँ तांही सुख हैं तिन पर काम रस अधिक है या पर और नाहीं। तहाँ व्यासजू ने कही उहाँ के सुख की निसानी पद में। काम रति सुख की निसानी। ये प्रेम के रस के आगे काम लज्जित होइ रहे नाते सबनि काम-सुख नेम में राखे। या पर प्रेम को सुख निमित्त रहित सदा एक रस है।"
—सिद्धान्त विचार—ब्यालीस लीला, पृष्ठ ४६।

३—जो कोऊ कहे कि काम नेम में कहि आये हैं तो उनहू की काम केलि तो गाई है ? सो यह काम प्राकृत न होइ प्रेममई जानिवौ, निज प्रेममई जानिवौ। निज प्रेम ही नेम, रस, सिंगार, पोषक के लिए न्यारे कै कहे हैं। जो बात प्रियाजू के अग संगते उपजै सोई प्रीतम कौं प्यारी लगै यह अप्राकृत प्रेम है। श्रीकृष्ण काम के वश नाहीं। जिनकौ रूप देखते ही कोटि-कोटि मनोज रति सहित मूर्च्छित होंहि सो + + + साक्षात् प्रेम है।
—सिद्धान्त विचार, ब्यालीस लीला—पृष्ठ ४७।

आलम्बन सात्विक हैं इसलिए जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्य की द्रुत चित्त पर अभिव्यक्ति होती है तब उसे प्रेम कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्य की अभिव्यक्ति होती है तो उसे काम कहते है। प्रेम सुख और पुण्य स्वरूप है, तथा काम दुख और अपुण्यस्वरूप है।"[1]

श्री वल्लभ रसिक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रभाव में ही काम और प्रेम का पारस्परिक सम्बन्ध बताते हुए बडी सुन्दर बात कही है—"काम रूप बिन प्रेम न होही। काम रूप जहा प्रेम न सोई।" बिना काम (इच्छा) के प्रेम नही होता और जहा काम (सकामता) आ जाती है वहाँ प्रेम नही रहता। देखने में भले ही यह पहेली-सी प्रतीत हो किन्तु इसकी गूढता सराहनीय है। काम के बिना प्रेम नही होता इसका तात्पर्य यह है कि जब तक मन की समस्त कामना किसी के प्रति पूर्ण शक्ति के साथ नही लगती तब तक प्रेम कैसे होगा। और जब प्रेम हुआ तो निज सुख की काम वासना नही रहनी चाहिए। तत्सुखसुखित्व आने पर ही प्रेम की स्थिति बनेगी। यही साम्प्रदायिक भाव है। श्री हितहरिवशजी ने प्राकृत काम से भिन्न नित्य नूतन रहने वाले काम को स्वीकार कर उसी का वर्णन किया है। राधा अपने नैसर्गिक प्रेम के क्षणों मे जिम काम को उद्दीप्त (जीवित) करती है वह पशुपति द्वारा दग्ध हो जाने के वाद नित्य-नवीन रूप धारण करके पुन प्रेमोत्पादन में सहायक होता है। इसी मदन केलि के योग से प्रेम आस्वाद्य बनता है और फिर आस्वादित होकर रस कहलाता है।

श्री गोस्वामी रूपलालजी ने अपनी वाणियों मे कई स्थानो पर काम-प्रेम का अन्तर स्पष्ट किया है। काम और प्रेम का साहचर्य मानते हुए आपने सोने और सुहागे की उपमा दी है। जैसे आग में तपाने पर सुहागा भस्म हो जाता है और सोना शेप रहता है वैसे काम रूपी सुहागा शुद्ध प्रेम उत्पन्न होने पर नही रहता। जब तक प्रेमास्पद से आशा-इच्छा रहती है तब तक काम-वासना है और जब सब कुछ छोडकर मन रसमय हो जाता है तब प्रेम की स्थिति जाननी चाहिए।[2]

---

१—भगवत्तत्व—ले० स्वामी हरिहरानन्द (करपात्रीजी) पृष्ठ २२६।

२— पावक में उडिजात ज्यों कनक सुहागो सग।
काम प्रेम त्योंही लखौ, कचन प्रेम अनग॥
साचो भावक अग कहा वें, चाह धातु भावना मिलावैं।
सत सग में नित औटावें, दिव्य के लिये चितहि लगावें॥
तब कछ भजन उपासन आवें, पुलक रोम गद्गद् दरसावें॥
धातु अग साचो विसरावें, सोई प्रेमी दीन कहावें॥
या साचें में नित बसें, साचो प्रेमी आइ।
रूप लाल हित जानिकें, छिन छिन लखि वरि जाइ॥
—श्री गोस्वामी रूपलाल जी की वाणी (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)

## रसोपासना में विधि-निषेध मर्यादा

माधुर्यभक्ति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों मे भक्ति के दो भेद माने जाते हैं। पहली रसभक्ति और दूसरी शास्त्रभक्ति। शास्त्रभक्ति को ही मर्यादा-भक्ति भी कहते हैं। मर्यादा-मार्ग से भक्ति करने पर साधन-पालन अनिवार्य होता है। साधनो में रत रहने से स्नेह की हानि होती है। रसमार्ग की भक्ति में स्नेह की प्रधानता और परिपूर्णता ही साध्य और साधन है अत बाह्याचार पर वल नही दिया जाता। रसरूपाभक्ति के भाव, मा प्रणय, स्नेह, राग और अनुराग, ये पट् भेद बताये हैं, उनके लिए साधनो की विशेप आवश्यकता नही समभी गई। शास्त्र या मर्यादा भक्ति नवधा है जिसको सभी शास्त्रों ने स्वीकार किया है। अत यह निष्कर्ष निकालना कठिन नही कि रसमार्गीय भक्ति-पद्धति का अवलम्बन करके चलने वालो को शास्त्र-मर्यादानुरूप विविध साधनो की वैसी आवश्यकता नही होती जैसी नवधा भक्ति को स्वीकार करने मे होती है।[1]

श्री हरिवंशजी ने जिस भक्ति का प्रतिपादन अपने सम्प्रदाय में किया वह रस-भक्ति है अत. शास्त्रोक्त विधि-निषेध की कठोर मर्यादा का उस पर आरोप करना उन्हे उचित नही लगा। वैष्णव सम्प्रदायो में शास्त्रमर्यादा की अवहेलना किसी प्रकार भी सम्भव नही होती। छोटे-छोटे कर्मकाड के नियमो का पालन भी वहा अनिवार्य समभा जाता है किन्तु हरिवशजी ने शास्त्रीय नियम न बनाकर प्रेम-साधना के लिए राधा की वन्दना को ही एकमात्र नियम ठहराया। विधि-निषेध को स्वीकार न करने मे हरिवशजी का प्रयोजन यही था कि बाह्याचारो में फंसकर शुद्ध प्रेम की क्षति होती है। हृदय कर्मकांड की कठोरता के कारण सरस और स्निग्ध नहीं रहता। स्नेह का अभाव हो जाने से राधाकृष्ण के नित्यविहार की स्थिति का आनन्द-लाभ प्राप्त करने की उसमे क्षमता नही रहती। प्रेम की स्वच्छन्द लीलाओ को यदि शास्त्र की शृङ्खला से जकड दिया जाय तो उनमे चित्त को द्रवित करके अपने में रमाने की सहज-शक्ति का अभाव हो जाता है। जो प्रेममार्ग को स्वीकार कर चुका उसके लिए तप, जप, यज्ञ, पूजा, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता भी क्या है।

श्री नाभाजी ने अपने भक्तमाल मे 'हरिवश चरित' सम्बन्धी जो छप्पय लिखा है उसमें 'विधिनिषेध नहिं दास अनन्य उत्कट व्रतधारी' कहकर श्री हितहरिवश जी की दो विशेषताओ का उल्लेख किया है। 'विधि-निषेध नहिं' पद मे शास्त्रीय विधि-निषेध की अस्वीकृति व्यक्त की गई है किन्तु दूसरे पद मे अपने व्रत में अनन्यता और उत्कटता वताई गई है। यह

---

१—सा भक्तिरसास्त्राभ्यां द्विधैव परिकीर्तिता।
रसज्ञभक्त कृपया सा खडाखण्डतां व्रजेत्॥
श्री नारायण भट कृत—भक्तिरसतरंगिणी, पृष्ठ ६।
श्री भागवत सम्प्रोक्तसाधनैर्भक्तिमाप्नुयात्।
रसवतां ततोऽन्यैश्च सामान्यां समतां गताम्॥
वही—पृष्ठ १७।

विरोधाभास ही उनके चरित की विशेषता को घोषित करता है। 'अनन्य व्रतधारी' का तात्पर्य अपनी रसभक्ति (राधाभक्ति) में अनन्यता का सूचक है शास्त्रीय अनन्यता का नही। प्रियादास ने टीका कवित्त में यही बात और स्पष्ट रूप मे कह दी है—'विधि औ निषेध छेद डारे प्रान-प्यारे हिये।' 'आप विधि और निषेध से सर्वथा मुक्त थे। उनके प्राण प्राणनाथ ही थे जो हृदय मे बसते थे'। ( रूपकला वार्तिक तिलक )[1]

'राधासुधानिधि' ग्रन्थ में श्री हितहरिवशजी ने 'रसिक स्वरूप' का वर्णन करते हुए लिखा है कि "श्री गुरु के भजन रूपी पराक्रम युक्त कोई महा बुद्धिमान् पुरुष इस पृथ्वी पर विरले ही हैं जो न तो अपने बाहुमूल मे कभी शखचक्रादि ( वैष्णव चिह्न ) धारण करते हैं और न कभी ललाट-पटल पर विचित्र हरिमन्दिर ( तिलक ) ही रचते हैं, और कठ भाग में सुहावनी तुलसी माला ही धारण करते हैं।" आगे पुन दूसरे श्लोक में कहते हैं कि "गूढ़ाश्चर्य रूप उज्ज्वल रसाश्रित रसिकगण वेदोक्त कर्मकाड का अनुष्ठान करे या न करें, माला, चन्दन आदि विषय समूह अर्थात् भोग-विलास के उपकरण ग्रहण करें या न करें। इससे उनकी न कोई हानि है और न लाभ ही।"[2] इन दोनो श्लोको का भाव स्पष्ट रूप से कर्मकाड की कठोरता के पक्ष में नही है। राधासुधानिधि के अन्य श्लोको में विधि के रूप में एक ही तत्त्व को माना है वह है श्रीराधा की प्रेम-निमग्न निकुँज-विहार स्थिति का दर्शन। सहचरी रूप से जीवात्मा यदि जुगल-किशोर की लीला को देख सके तो यही उसके इस जीवन का फल है। निकुँज-लीला के समय 'माहिली' बनने का सौभाग्य मिले वही सब करना विधेय है। अन्य कुछ भी विधि के अन्तर्गत नही आता।

श्री हरिवशजी ने अपने स्फुट पदो मे श्रीकृष्ण की सेवा पूजा ( आरती ) के लिए एक पद लिखा है जिसमें विस्तारपूर्वक शृङ्गार तथा भोग-विधि का सकेत है। सेवा पूजा की विधि का बाह्याचार की दृष्टि से इससे अधिक विस्तृत वर्णन कही और नही किया। किन्तु इस विधि-विधान के होते हुए भी हित सम्प्रदाय में 'राधा-प्रेम' ही आराध्य माना गया है, अन्य

---

१—भक्तमाल—नाभाजी कृत, पृष्ठ ५९८, छप्पय १११।

२—लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शखचक्रादिक,
विचित्रहरिमन्दिर न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसि मालिका दधति कण्ठपीठेन वा,
गुरोर्भजन विक्रमात्म क इहते महाबुद्धय ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक ८१।

कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरा कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा।
गूढाश्चर्य रसा स्रगादि विषयान्गृह्णन्तु मुचन्तु वा ॥
कर्वा भावरहस्य पारगमति श्रीराधिकाप्रेयस।
किचिज्ज्ञैरनुयुज्यता बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक ८२।

सब पूजा-अर्चा गौण है ।[1] स्फुटवाणी मे भी सिद्धान्त प्रतिपादित करने वाले चार दोहो में किसी बाह्य कर्मकाड का वर्णन न करके सूक्ष्म तत्व का ही उल्लेख किया है ।

सबसो हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम ।
श्री राधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान मुख नाम ॥
तनहि राखि सत्संग में, मनहि प्रेम रस भेव ।
सुख चाहत हरिवश हित, कृष्ण कल्पतरु सेव ॥
—स्फुटवाणी श्री हितहरिवंश ।

श्री हितहरिवशजी की साम्प्रदायिक भावना के सर्वप्रथम व्याख्याता भाष्यकार श्री दामोदरदास ( सेवकजी ) हैं । आपने 'सेवकवाणी' मे सिद्धान्तो की स्थापना का प्रयत्न किया इसीलिए आपकी वाणी को 'हित चौरासी' का पूरक ग्रन्थ माना गया और श्री हरिवशजी के उत्तराधिकारी पुत्र गो० श्री वनचन्द्र जी ने हित चौरासी के साथ सेवकवाणी का रहना अनिवार्य बताया , 'सेवकवाणी को पढो हितचौरासी सग' । तब से हितहरिवशजी के चौरासी पद और सेवकवाणी एक साथ ही लिखी-पढी जाती है और दोनों को समान सम्मान प्राप्त है। सेवकवाणी मे श्री सेवकजी ने जो सिद्धान्त स्थिर किये हैं वे हितचौरासी के आधार पर हैं अत हम उन्हे भी साम्प्रदायिक महत्व मे किसी भाँति न्यून नही समझते । श्री सेवकजी ने विधि-निषेध की मर्यादा मे प्राचीन शास्त्रो की दुहाई नही दी वरन् जो विधेय बताया वह आचार्य हरिवशजी के आधार पर ही । हाँ, हरिवशजी का नाम स्मरण, उनका स्थान और महत्त्व अवश्य अपनी ओर से विधि मे ठहराया ।

---

१—आरती मदन गोपाल की कीजियै ।

\+ \+ \+

अगर करि धूप कुमकुम मलय रंजित,
नववर्त्तिका घृत सौं पूरि राखौ ।
कुसुम कृत माल नंदलाल के भाल पर ।
तिलक करि प्रकट यश क्यों न भाखौ ।
भोग प्रभु योग भरि थार धर कृष्ण पै
मुदित भुजदंड वर चमर ढारौ ।
आचमन पान हित, मिलत कर्पूर जल
सुभग सुख बास कुल ताप जारौ ।
शंख दुंदुभि पणव घट कलवेणु रव,
झल्लरी-सहित स्वर सप्त नांचौ ।
मनुज तन पाय यह दाय व्रजराज भज,
सुखद हरिवंश प्रभु क्यो न यांचौ ॥
—श्री हितहरिवशजी की स्फुटवाणी, पद सं० १८ ।

विधि-निषेध की दृष्टि से, सेवकजी द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तो को सक्षेप में इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता ह '—

१—श्री हरिवशजी की उपासना रीति यह है कि उसमे 'श्याम श्यामा' का नाम एक साथ किया जाता है। इनमें श्याम ( कृष्ण ) आराधक और श्यामा ( राधा ) आराध्य हैं। ये दोनो निकुंज में नित्यविहार करते हैं और श्री हरिवश इनकी परस्पर प्रीति का गान करते हैं। सहचरी रूप जीवात्मा को इनके सुख-भोग को देखकर आत्मसुख लाभ करना इष्ट या साध्य है।

२ श्री हरिवश की रस रीति मे वृन्दावन, सहचरीगण, श्यामसुन्दर और श्यामा (राधा) परस्पर तत्सुखमयी प्रीति में आबद्ध होकर लोक एव वेद की मर्यादाओ से अतीत परम प्रेममयी क्रीडा में प्रवृत्त रहते हैं।

३ अनन्य प्रेमियो के भजन में अन्तर्यामी स्वरूप (निर्गुण) की उपासना को अवकाश नही है क्योंकि प्रकट रूप से ही प्रीति का आश्रय बन सकता है। प्रकट रूपो में सबसे शुद्ध रूप वह है जो वृन्दावन में नित्य रास क्रीडा में निमग्न है।

४. श्री हरि (कृष्ण) और हरिवश में कोई भेद नही है। हरि की उपासना के लिए लीलाश्रवण, गुणकथन एव नामस्मरण में दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। इस रीति के ग्रहण किये विना भक्ति का उदय नही होता।

५ विधर्मियो के साथ प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने के कोई लाभ नही। विविध शास्त्रो के फेर मे रहने में स्वधर्म की हानि ही होती है। अतः सच्चे धर्मी को अपने धर्म मे दृढ़ आस्था रखकर हरिवश प्रतिपादित मार्ग पर ही चलना चाहिए।[1]

सक्षेप मे, यही सेवकजी के मतानुसार विधि-निषेध मर्यादा है। उपर्युक्त मर्यादा के होते हुए सेवकजी 'विधि निषेध' की कोई शास्त्रीय मर्यादा नही मानते क्योंकि प्रेमोपासना में व्रत, सयम, नियम आदि की कोई विधि टिकती नही। उन्होंने इसीलिए बहुत स्पष्ट शब्दो में कहा कि—

---

१ श्री हरिवश जनित जहाँ प्रेम, तहाँ कहाँ सयम व्रत नेम।
छेम सकल सुख सम्पदा, तहाँ जाति कुल नहीं विचार।
कौन सुउत्तम कौन गवार, सार भजन हरिवश के ॥
(हितामृतसिन्धु) सेवकवाणी—पृष्ठ ८२।

जाति पाति कुल कर्मधर्मव्रत, ससृति हेतु अविद्या नासी।
सेवक रीति प्रतीति प्रीति हित, विधि निषेध शृ खला विनासी।
—सेवकवाणी—पृष्ठ १०६।

विधि निषेध शृ खला छुडावै, निज आलय वन आनि वसावै।
—सेवकवाणी—पृष्ठ १२६।

गुनरीति आचरण प्रकट सब जग दिये।
ज्ञान धर्म व्रत कर्म भक्ति किंकर किये॥ —सेवकवाणी—पृष्ठ १२८।

"या रस में विधि नहीं निषेध, तहाँ न लगन ग्रहन के वेध, तहाँ कुदिन दिन कछु नहीं। नहीं शुभ अशुभ मान अपमान, स्नान क्रिया जप तप नहीं।"

—सेवकवाणी, पृष्ठ ८२।

श्री हरिराम व्यास ने अपनी वाणी मे रसमार्ग का अनुगमन करने वालो को विधि-निषेध से ऊपर ठहराया है और बार-बार यह कहा है कि प्रेम-मार्ग की उपासना करने वालो को किसी वाह्याचार, कर्मकाड और विधि-निषेध के फेर मे नही पडना चाहिए। 'निज दृढता कथन प्रकरण' में वे कहते हैं कि मुझे किसी भी धर्मी का विश्वास नही, आधुनिक युग में कोई भी अपने धर्म मे सच्चा नही रहा है अत किसका विश्वास करे, किससे प्रेम करें।[1] एकादशी को व्रत रखकर (उपवास करके) कोई अपनी धर्म-निष्ठा का दम्भ करता है तो कोई प्रसाद की निन्दा करता है।[2] एक दूसरे स्थल पर इसी प्रकरण में वे कहते हैं कि मैं तो उस धर्म का मानने वाला हूँ जिसे लोग अधर्म कहते हैं मैं अपना मार्ग लोगो से उल्टा ही समझता हूँ।[3] भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए एक स्थान पर आपने कहा है कि प्रेमभक्ति के मार्ग मे जात-पाति, ऊँच-नीच, यज्ञोपवीत, सस्कार आदि की क्या आवश्यकता है। सन्ध्या, तर्पण, गायत्री आदि उस मार्ग में सब व्यर्थ है। रामानन्द की भक्ति का प्रभाव व्यासजी पर प्रारम्भ मे रहा था—वे भक्ति के आगे समस्त वाह्याचारो को अवाछनीय मानते थे। वैष्णव की सच्ची साधना यही है कि वह प्रेम, अहिंसा, समता और भक्ति को अपनाता हुआ मानव मात्र में समवुद्धि रखे।[4] व्यासजी के विषय मे एक दन्तकथा प्रचलित है कि उनकी कन्या के विवाह मे उनके

---

१. रसिक अनन्य हमारी जाति।

कुल देवी राधा, वरसानो खैरो, व्रजवासिन सौं पाँति।
गोत गोपाल, जनेऊ माला, सिखा सिखंड, हरिमन्दिर भाल।
हरिगुन नाम वेदधुनि सुनियत, मूँज परवावज, कुरु करताल॥
+ + +
सेवा विधि निषेध जड़ संगति वृत्ति सदा वृन्दावन वास।
वंसी रिषि जजमान कल्पतरु, व्यास न देत असीस सराप॥

—व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध), पृष्ठ ७५, पद १२१।

२. मोहि न काहू की परतीति।

कोऊ अपने धर्म न सांचौ, कासौं कीजै प्रीति।
कबहुंक व्यास उपासि दिखावत लै प्रसाद तजि छीति।

—व्यासवाणी—पद १०६, पृष्ठ ६८।

३. जासौं लोग अधर्म कहत हैं सोई धर्म है मेरो।
लोग दाहिने मारग लाग्यौ हौंव चलत हौं डेरो॥ व्यासवाणी—पद १२२

४. भक्ति में कहा जनेऊ जाति।

सब दूषन भूषन विन प्राननि पति छू घरनि घिनाति।
+ + +
सन्ध्या तरपन गायत्री तजि भजि माला मंत्र सजाति।
व्यासदास के सुख सर्वोपरि वेद विदित विख्याति॥

—व्यासवाणी—पद १६२, पृष्ठ ६६।

सम्बन्धियो ने प्रथानुसार गरोश का पूजन किया, और वरात के लोगो ने समस्त भोज्य पदार्थो का भोजन किया। व्यासजी को ये दोनो वातें वहुत बुरी लगी और वे गरोश-पूजन को अपने रस-मार्ग में कलक की वात मानकर मन में इतने खिन्न हुए कि उन्होने कन्या को कोसते हुए कहा कि ऐसी कन्या पेट ही में क्यो न मर गई जिसने पैदा होकर विवाह के समय अनर्थ के कार्य करवा कर अपने कुल में दाग लगाया। इस किम्वदन्ती का आधार एक पद है जो स्पष्ट रूप से सारी कथा का सकेत देता है।[1]

व्यासजी ने अपने दोहो मे भी नीति की मर्यादा का समर्थन करते हुए शास्त्रीय विधि-निषेध की मर्यादा को व्यर्थ वताया है। वे कहते हैं कि जब विधि-निषेध के जाल मे मनुष्य फस जाता है तव भक्ति उससे दूर चली जाती है और वह आडम्वर का ही पोषक रह जाता है।[2] एकादशी व्रत का उपहास करते हुए वे कहते हैं कि जो वैष्णव एकादशी व्रत रखकर महाप्रसाद से दूर रहते हैं वे अवश्य ही यमपुर के भागी होगे और उनके मुख मे धूल पड़ेगी।[3]

श्री ध्रुवदास ने भी अपनी रचनाओ में विधि-निषेध का विवेचन 'मन-शिक्षालीला' नामक ग्रन्थ में किया है। सिद्धान्त विचार लीला में भी इस विषय पर विचार व्यक्त किये गये है। वे लिखते है कि वृन्दावन मे आकर यदि कोई 'उपासक निमित्त, तिथि (एकादशी) विधि माने तो यह ठीक नही है। जिस वृन्दावन मे लाडली लाल नित्यविहार में लीन रहते है वहा इस वाह्याडम्वर की आवश्यकना नही है।[4] आगे वे उसी प्रकरण में इस विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते है—'अति आचार पालन अनाचार समान है। वैष्णव सदाचार की रक्षा के लिए ही आचार का पालन करे—मन में यह विश्वास कभी न करे कि केवल आचार-पालन से ही कार्य सिद्ध होगा। शुद्धता के लिए आचार करे। अधिक वाह्याचार पालन से मन कर्कश हो जाता है। प्रेमोपासना का भजन अति कोमल है इसमें

---

१ मरं वे जिन मेरे घर गनेस पूजायौ।
जे पदारथ सन्तनिर्फ ध्यार्जे ते सारे सकतनने खायौ।
व्यासदास कन्या पेटहि क्यो न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ॥
—व्यासवाणी—पद १४६, पृष्ठ ६२।

२ तजिर्फ रसिक अनन्यता विधिनिषेध लये घेरि।
व्यासदास के भवनतें भक्ति गई दे टेरि॥ वही, पृष्ठ १६३।

३. परं व्रत एकादशी महाप्रसादते दूरि।
वांधे जमपुर जायगे, मुख में परि है धूरि॥ वही, पृष्ठ १६८

४ "ग्रोर श्री वृन्दावन में जो कोई निमित्त तिथि, विधि माने सो भली नाही। श्री लाड़िलीलालजू जहां नित्य विहार करत हैं।"
ध्रुवदास कृत—व्यालीस लीला—सिद्धान्तविचार, पृ० ५६।

कठिन कर्मकांड की पद्धति नही बनती अत' कोमल और कठिन का संग नही हो सकता ।[1] प्रेममार्ग की उपमा ध्रुवदासजी ने केहरी से दी है जो निर्द्वन्द्व होकर जंगल में घूमता है, किसी के शासन की परवाह नही करता । अन्य सब धर्म मृग के समान बधन मे बधे रहते हैं ।[2]

श्री चाचा वृन्दावनदास ने विधि का उल्लेख करते हुए राधावल्लभीय उपासना का सकेत किया है । 'रसिकपथ चन्द्रिका' में रसिको के लिए विधेय कर्मो का भी सकेत है किन्तु वह विधि शास्त्रीय नही—आचार पर निर्भर नही—वरन् रस की अनन्य रीति पर निर्भर करती है । कहने का प्रयोजन यह है कि किसी कठोर विधि का विधान वे नही करते । सहज रूप में उपासना का सीधा-सादा मार्ग बताते हैं :—

प्रीति पारखू जुगल हैं तिन पर राखो प्रीति ।
वृन्दावन हित रूप की यही उपासना रीति ॥

—(रसिकपथ चन्द्रिका, ५० दोहा)

श्री लाडिलीदास विरचित 'सुधर्मबोधिनी' नामक सिद्धान्त ग्रन्थ में विधि-निषेध मर्यादा का स्पष्टीकरण हुआ है । बाह्य साधनो को भक्ति-मार्ग में अनुपादेय सिद्ध करके उन्होने नाम-महिमा पर ही बल दिया है ।[3]

सक्षेप मे, विधि-निषेध के विषय मे राधावल्लभ सम्प्रदाय कट्टरपंथी नही है । वैष्णव धर्म की बाह्याचार सम्बन्धी रूढियो की इसमें उपेक्षा की गई है । एकादशी व्रत, अपरस,

---

१. अति आचार अनाचार समान है । वैष्णव सदाचार के लिए आचार करै । मन में विश्वास न धरै कि याही तै कारज सिद्ध होइगो । शुद्धता के लिए करै । बहुत आचार ते हियो कठोर होइ जाइ है । यह भजन अति कोमल है । कोमल और कठिन एक संग न बनै ।

—ब्यालीस लीला—सिद्धान्तविचार, पृ० ५३ ।

२ विधि निषेध के बन्द हैं और धर्म मृगमानि ।
केहरि पुनि निर्बध है, भगवत धर्महि जानि ॥

—ब्यालीस लीला—पृष्ठ ७२ ।

कह आचार अप रस कहा कह संयम व्रतनेम ।
कहा भजन विधि सौ बिध्यौ जौ नहि परख्यौ प्रेम ॥

—ब्यालीस लीला (मन-शिक्षालीला) पृष्ठ ६ ।

३. सब साधन करि हीन जो दुखी दीन चितलाइ ।
ताके सब कारज सहज नामहिं लेत बनाइ ॥
साधन सकल प्रनाम करि नाम गाइ दुलराइ ।
नामी नाम आसक्त सब सहज मिलेंगे आइ ॥

—श्री लाड़लीदास कृत—सुधर्मबोधिनी—पृष्ठ ३५ ।

सपरस, तीर्थ, स्नान आदि को सर्वथा विधेय और अनिवार्य नही माना गया। प्रेमियो के लिए इन औपचारिक कृत्यो की यथार्थ में आवश्यकता रहती भी नही है। श्री हितहरिवशजी से कुछ वर्ष पहले जिस प्रेमलक्षणा भक्ति का सूत्रपात बगीय वैष्णव भक्तो द्वारा ब्रजभूमि में हुआ था उसमें भी विधि-निषेध पर विशेष बल नही दिया गया था किन्तु शास्त्रीय परिपाटी की उसमें पूर्णतया स्वीकृति होने से विधि-निषेध भी किसी न किसी रूप में आ ही जाते थे। एकादशी व्रत, सत्यनारायण कथा, तुलसी पूजा आदि तो सभी वैष्णव धर्मो में अनिवार्य मानी जाती रही हैं। हरिवशजी ने इनको भी आवश्यक या विधेय नहीं ठहराया। फिर भी उपासना की वाह्य-विधि में कुछ बातें स्वीकार की गईं जिनका वर्णन हम आगे करेंगे।

पंचम अध्याय

# नित्यविहार के विधायक तत्त्व

## ( राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी )

### राधा का सामान्य परिचय

वैष्णव भक्ति मे राधा का समावेश किस युग मे हुआ यह निर्विवाद रूप से नही कहा जा सकता। राधा का जो रूप आज भक्ति-सम्प्रदायो में दृष्टिगत होता है वही एक सहस्र वर्ष पूर्व रहा होगा यह कहना भी कठिन है। कृष्णभक्ति शाखा के प्रत्येक वैष्णव सम्प्रदाय में राधा की किसी न किसी रूप मे स्वीकृति है। अपनी-अपनी मान्यता के अनुकूल राधा के स्वरूप और शक्ति की कल्पना की गई है। आभीर सस्कृति के कान्ह और राही को कृष्ण और राधा मानने वाले विद्वानो के पास भी इस बात का कोई प्रबल प्रमाण नही है कि राधा और कृष्ण का प्राचीनतम रूप वही है। राधा के उद्भवविषयक इतने अधिक पौराणिक आख्यान उपलब्ध होते हैं कि उनके आधार पर यह निर्णय नही किया जा सकता कि राधा का यथार्थ स्वरूप प्रारम्भ में क्या रहा होगा। जो लोग राधा को सामान्य नारी मानते हैं वे भी उसके वश, परिवार, गौत्र, जन्मस्थान आदि का कोई ऐतिहासिक विवरण नही देते। इसलिए इन विषम परिस्थितियो में अनुसंधाता के लिए यह विषय बडे महत्व का हो जाता है। यदि राधा को केवल कल्पित प्रेमदेवी ही मान लिया जाय और उसका सम्बन्ध किसी ऐतिहासिक परम्परा से सयुक्त न किया जाय तब भी उस देवी के प्रारम्भिक ( मूल ) उपासको की भावना की छानबीन करना आवश्यक होगा। यही कारण है कि राधा के स्वरूप और अस्तित्व का प्रश्न साहित्य और धर्म के क्षेत्र मे प्रवेश काल से ही जिज्ञासा का विषय बना हुआ है। यदि राधा का नाम भागवत पुराण मे उपलब्ध हो गया होता तो निश्चित ही वही से इस परम्परा की कड़ी का सधान प्रारम्भ हो जाता किन्तु राधा नाम के अभाव ने पहेली को और अधिक जटिल बना दिया है। इसी कारण प्रत्येक सम्प्रदाय मे अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार राधा का स्वरूप वर्णित और प्रतिपादित किया गया है। किन्तु उनके आधार पर यह

निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि यथार्थ रूप में राधा क्या है और राधा-भाव का आदि-उद्भव कैसे हुआ। ऐतिहासिक आधार पर तथ्य निर्णय करने वाले विद्वानो ने राधा को लोक-मानस की सृष्टि कहकर ऐतिह्य के जाल से बाहर करने की चेष्टा की है। लोक-मानस की सृष्टि मान लेने पर भी यह तो निर्णय करना ही होगा कि किस काल में लोक-मानस ने यह सृष्टि की और इसका आधार क्या था। वैष्णव सम्प्रदायो में राधा उसी प्रकार अनादि और अनन्त है जिस प्रकार भगवान् कृष्ण। दोनो का रूप भी एक ही है अत इतिहास के कालक्रम की कसौटी पर परखने का वहाँ कोई आग्रह है ही नही। किन्तु जिज्ञासु विद्यार्थी भावना के इस प्रवाह में न बहकर तथ्य निर्णय के लिए उत्सुक बना रहता है। इस औत्सुक्य-शमन के लिए कुछ विद्वानो ने वेदो में राधा का अस्तित्व ढूँढने का प्रयत्न किया और राधा शब्द का सधान करके ही छोडा। ऋग्वेद में 'स्तोत्रराधाना पते'[1] इस पद में 'राधाना' शब्द को राधा के साथ जोडने का साहस इसी प्रकार की चेष्टा का फल है। यद्यपि यहाँ राधा शब्द नामवाचक सज्ञा नही है फिर भी बाह्य शब्दसाम्य के आधार पर यह खोज की गई। इसी प्रकार दो-एक और मत्रो का सम्बन्ध भी—अर्थ का घोर अनर्थ करके—राधा से जोडा गया है। किन्तु किसी विद्वान् ने इस प्रकार के असगत एव अनर्थपूर्ण प्रयत्नो की सराहना नही की और न किसी ने वैदिक वाड्मय में राधा को स्वीकार ही किया। यथार्थ में वैदिक साहित्य में कही भी राधा शब्द ( नामवाचक सज्ञा शब्द ) उपलब्ध नही होता। उस काल मे राधा की कल्पना हुई ही नही थी। धन, अन्न, पूजा, नक्षत्र आदि अर्थो मे राधा शब्द का प्रयोग हुआ है, राधा नामक किसी आराध्या देवी के अर्थ में कही राधा शब्द नही है।

## उद्भव सम्बन्धी मान्यताएँ

राधा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे सर्वाधिक प्रचलित मत यह है कि राधा आर्य जाति की देवी न होकर आभीर जाति की इष्टदेवी थी। आर्यो का जब आभीर जाति से प्रगाढ सम्बन्ध स्थापित हुआ तब उन्होने आभीरो की आराध्या इष्टदेवी को भी अपनी पूजा-अर्चा में इष्टदेवी के रूप में ग्रहण कर लिया। सर भडारकर ने इस मत की पुष्टि की है और वे लिखते हैं कि सीरिया से आये हुए आभीरो की इष्टदेवी राधा को आर्यो ने स्वीकार किया। आभीरो के यहाँ बस जाने पर उनके बालगोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण के साथ सम्मिलित हो गये और कुछ शताब्दियो पश्चात् आभीरो की इष्टदेवी राधा भी आर्यजाति में स्वीकृत कर ली गई।[2] यही कारण है कि प्राचीन ग्रथो में बालगोपाल लीला तो मिलती है पर राधा का वर्णन कही नही मिलता। भडारकर की इस धारणा के सम्बन्ध में विद्वानो में मतभेद है। आभीर जाति को सीरिया से इस देश में आया हुआ भी नही माना जाता।

---

१ ऋग्वेद, १।२०।२६

2 Vaishnavism, Shaivism and other religious systems—Dr Bhandarker, Page 38

आभीर भारतीय ही थे, किन्तु वे अपनी उपासना-पद्धति की मौलिकता के कारण आर्यो से पृथक् समझे जाते हैं।[1]

भक्ति-क्षेत्र मे राधा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने दो संकेत प्रस्तुत किये हैं। उनकी कल्पना है कि "राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होगी, जिनका सम्बन्ध वालकृष्ण से रहा होगा। आरम्भ मे वालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण हुआ होगा इसीलिए आर्य-ग्रथो में राधा का नामोल्लेख नही है। पीछे वालकृष्ण की प्रधानता होने पर इस वालक देवता की सारी वातें आभीरो से ले ली गई होगी। और इस प्रकार राधा की प्रधानता हो गई होगी।" यह कल्पना भडारकर के मत की पुष्टिमात्र ही है। आभीरो को इसमें विदेशी नही कहा गया है, यही अन्तर है।

दूसरी कल्पना अनुमानाश्रित है। आपका अनुमान है कि "राधा इसी देश की आर्य-जाति की प्रेमदेवी रही होगी। वाद मे आर्यो में इसकी प्रधानता होने पर कृष्ण के साथ भक्ति के लिए इसका सम्बन्ध जोड दिया गया।" इसका तात्पर्य यही है कि सामान्य देवी राधा को कालान्तर मे विशेष स्थान मिल गया।[2]

दार्शनिक दृष्टि से राधा-भाव का विवेचन प्रस्तुत करने वाले विद्वान् सांख्य शास्त्र के पुरुष-प्रकृतिवाद को राधाकृष्ण का आधार मानते हैं। पुरुष और प्रकृति के स्वरूप को विवृत करने के लिए कृष्ण (पुरुष) और राधा (प्रकृति) की कल्पना की गई। डा० मुशीराम शर्मा कहते हैं कि "हमारी सम्मति मे इस नवीन वैष्णव धर्म की राधा अपने मूल रूप मे साख्य की प्रकृति ही है। ब्रह्म वैवर्त्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखड में लिखा है—"ममार्द्धश स्वरूपात्व मूलप्रकृतिरीश्वरी।"[3]

तत्रमत के शिव-भक्ति के स्वरूपाख्यान के मूल मे भी साख्य शास्त्र का यह पुरुष-प्रकृतिवाद अन्तर्निहित है ऐसा मानने वाले विद्वान् राधाकृष्ण भाव का सम्बन्ध तत्रमत के विकास की एक परवर्त्ती कडी के रूप मे स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार राधा का विकास शक्ति की कल्पना मे निहित है। शैव तथा शाक्त तान्त्रिकों के प्रभाव से राधा को कृष्ण के साथ स्थापित किया गया और कालान्तर में उसका वैष्णव भावना के अनुसार विभिन्न सम्प्रदायो में विकास

---

१ इस देश के किसी भी साहित्यिक ग्रंथ में आभीरों को वाहर से आया हुआ नहीं कहा गया है। विष्णु पुराण में आभीरवंश का उल्लेख है। वायु पुराण में भी आभीर राजाओं की वंशावली वर्णित है। यह भी लिखा है कि इन राजाओ ने शक और कुशानों के पूर्व दश पीढ़ियों तक सिंध में राज्य किया था।+++। महाभारत में यदुवंश के साथ आभीर वंश का घनिष्ट सम्बन्ध वताया गया है। और लिखा है कि श्रीकृष्ण की एक लाख नारायणी सेना मुख्यत. आभीर क्षत्रियो से ही निर्मित थी और युद्ध में दुर्योधन की ओर से लड़ी थी।

—भारतीय साधना और सूर साहित्य : डा० मुंशीराम शर्मा, पृष्ठ १६४।

२ सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १६-१७ (सशोधित संस्करण)

३. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ १७५।

हुआ। इसी कारण कतिपय विद्वान् जयदेव के गीतगोविन्द पर भी सहजयान का तथा तन्त्र-शक्ति का प्रभाव स्वीकार करते हैं। राधा को शक्तितत्त्व या आह्लादिनी शक्ति मानना स्पष्ट ही तन्त्रवाद का प्रभाव सिद्ध करता है।

वैष्णव सहजिया सम्प्रदाय में पुरुषतत्त्व तथा स्त्रीतत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कृष्णत्व एवं राधात्व का उल्लेख हुआ है। कृष्ण और राधा क्रमश रस और रति हैं। प्रत्येक पुरुष और स्त्री को अपने स्वरूप बोध के लिए प्रारम्भ में अपने को कृष्ण और राधा मानकर लौकिक रति में लीन होना अनिवार्य है। क्रमश यही लौकिक कामरति अलौकिक प्रेम में परिणत होकर आनन्द की सृष्टि करने वाली होती है। उस आनन्दोपलब्धि के क्षणो में पुरुष कृष्णत्व में और स्त्री राधात्व में निमज्जित होकर 'स्वरूप' का रहस्य समझते हैं। सहजिया सम्प्रदाय लौकिक काम की भूमि पर अलौकिक प्रेम की कल्पना करके आगे बढता है अत उसकी प्रारम्भिक सभी साधन-क्रियाए बाह्य शृगार या कामलीला पर स्थिर हैं। उनमें अश्लील शृगार की प्रधानता देखकर विकृत भावना उत्पन्न होना सहज ही है। बौद्ध सहजयान सम्प्रदाय से यौगिक क्रियाए ग्रहण करने के कारण इनमें भोग-काम की प्रधानता हुई। इसी कारण परकीया प्रेम को श्रेष्ठतम समझा गया। डा० हरवशलाल शर्मा ने 'सूर और उनका साहित्य' ग्रथ में लिखा है कि 'युगल-उपासना पर सहज मत का भी पूरा-पूरा प्रभाव पड़ा है। उसका ज्ञान हमें बगाल के सहजिया सम्प्रदाय के सिद्धान्तो से हो सकता है जिसके अनुसार चौरासी कोस का व्रजमडल स्त्री के चौरासी अगुल के शरीर के अतिरिक्त और कुछ नही है और व्रज की पचकोसी पचागुल परिमित अग विशेष है।"[1] किन्तु प्रकृत प्रसग में यह विचारणीय है कि क्या तान्त्रिक, बौद्ध या सहजिया राधा भाव की उत्पत्ति में प्रथम और प्रमुख कारण हैं? अथवा इनको भी राधा की पूर्व-कल्पना का आभास मिला था जिसका अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार इन्होने उपयोग किया। हमारी धारणा है कि राधा का कोई न कोई रूप इन्हें मिला होगा जिसका इन सम्प्रदायो में अपनी मान्यतानुसार उपयोग हुआ। कुछ विद्वान् राधा की उत्पत्ति के मूल में तात्त्विक दृष्टि से शक्तिवाद का प्रभाव मानते हैं। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने ग्रथ 'श्री राधा का क्रम विकास' में लिखा है—'राधावाद का बीज भारतीय सामान्य शक्तिवाद में है, वही सामान्य शक्तिवाद वैष्णव धर्म और दर्शन से भिन्न-भिन्न प्रकार से युक्त होकर भिन्न-भिन्न युगो और भिन्न-भिन्न देशो में विचित्र परिणति को प्राप्त हुआ है। उसी क्रम परिणति की एक विशेष अभिव्यक्ति ही राधावाद है। जो थी शुद्ध शक्तिरूपिणी क्रम परिणति के प्रवाह के अन्दर से उन्होंने आकर रूप परिग्रह किया है परम प्रेम-रूपिणी मूर्ति में।[2]

"भारतवर्ष शक्तिवाद का ही देश है। सृष्टि तत्त्व का अवलम्बन करके एक अस्पष्ट आदि-देवी की कल्पना दूसरे देशो में भी देखी जाती है और इस आदि-देवी में मातृत्व का आरोप करके देवी कल्पना अन्यत्र भी कुछ-कुछ मिलती है। लेकिन इस विश्व-प्रसूति एक

---

१—'सूर और उनका साहित्य'—डा० हरवशलाल शर्मा, पृष्ठ २६६।
२—श्रीराधा का क्रमविकास—डा० शशिभूषणदास, पृष्ठ ३।

सम्बन्ध में हम उनके लेख का कुछ अश उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं—"ऊपर जो तीन सिद्धान्त लिखे गये हैं उनका स्वरूप आगम शास्त्रो में विस्तारपूर्वक वर्णित है। तीन मार्ग ही त्रिविध उपास्य स्वरूप हैं। क्रमश आणवोपाय, सम्भवोपाय और शाक्तोपाय के साथ इनका कुछ अश में सादृश्य जान पडता है। दूसरा सिद्धान्त भारत मे बहुत दिनो का परिचित मत है। इस मत से भगवान् सौंदर्यस्वरूप और चिरसुन्दर हैं। आनन्दस्वरूप और आनन्दमय हे। सूफी लोग नररूप में इसकी पराकाष्ठा देख पाते हैं। जिन लोगो ने सूफी लोगो की काव्य-ग्रथ माला का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया है, वे जानते हैं कि सूफी सुन्दर नरमूर्ति की उपासना, ध्यान और सेवा करना ही परमानन्द प्राप्ति का साधन मानते हैं। इतना ही नही, वे कहते हैं कि मूर्त किशोरावस्था ही तो रसस्फूर्ति में सहायक होती है। किसी के मत में पुरुषमूर्ति श्रेष्ठ है तो किसी के मत में रमणीमूर्ति श्रेष्ठ है। परन्तु सूफी लोग कहते हैं कि इस वस्तु में पुरुष-प्रकृति भेद नही है। वह अभेद तत्त्व है। यही क्यो, उनके गजल, रुबाइयात, मसनवी आदि में जो वर्णन मिलता है, उससे किशोर वयस्क पुरुष किंवा किशोर वयस्का स्त्री के प्रसग का निर्णय नही किया जा सकता। + + +। आगम भी क्या ठीक वात नही कहते ? नटनानन्दनाथ या चिद्वल्ली या कामकला की टीका मे कहते हैं कि जिस प्रकार कोई अति सुन्दर राजा अपने सामने के दर्पण मे अपने ही प्रतिविम्ब को देखकर उस प्रतिविम्ब को 'मै' समझता है, परमेश्वर भी इसी प्रकार अपने ही अधीन आत्मशक्ति को दो 'देख' मे पूर्ण हूँ इस प्रकार आत्मस्वरूप को जानते हैं। यही पूर्णहता है। इसी प्रकार परम शिव के सग से पराशक्ति का स्वान्तस्थ प्रपच उनसे निर्मित होता है। इसी का नाम विश्व है। सचमुच भगवान् अपने रूप को देखकर आप ही मुग्ध हैं। सौदर्य का स्वभाव ही यही है। श्री चैतन्य चरितामृत में आया है—

'सव हेरि आपनाए कृष्णेर आगे चमत्कार आलिंगिते मने उसे काम।'

यह चमत्कार ही पूर्णहता चमत्कार है। काम या प्रेम इसी का प्रकाश है। यही शिव शक्ति सम्मिलन का प्रयोजक और कार्य-स्वरूप है—आदि रस या शृ गार रस है। विश्व सृष्टि के मूल में ही यह रस तत्त्व प्रतिष्ठित है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन मे जो पैंतीस और छत्तीस तत्त्व अथवा शक्ति और है—त्रिपुरा सिद्धान्त में वही कामेश्वर और कामेश्वरी हैं। और गौडीय वैष्णव दर्शन में वही श्रीकृष्ण और राधा हैं। शिवशक्ति, कामेश्वर, कामेश्वरी, कृष्ण राधा एक और अभिन्न हैं। यही चरम वस्तु त्रिपुरा मत में सुन्दरी है। अथवा त्रिपुर-सुन्दरी है। + + +। 'सौदर्य लहरी' के पचम श्लोक और वामकेश्वर महातन्त्र की 'ननु नारी' मे भी यही बात कही गई है।

इस सुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्र की सोलह कलाए हैं। सभी कलाए नित्य हैं, इसलिए सम्मिलित भाव से इनका नित्य षोडशिका के नाम से वर्णन किया जाता है। पहली पन्द्रह कलाओ का उदय-अस्त होता रहता है। सोलहवी का नहीं। यही अमृता नाम की चन्द्रकला है। वैयाकरण इसी को पश्यन्ती कहते हैं। दर्शनशास्त्र में इसका पारिभाषिक नाम आख्या है। मन्त्रशास्त्र में इसी को मत्र या देवताओ का स्वरूप

कहा गया है। + + +। इसी कारण उपासक के निकट सुन्दरी नित्य षोडशवर्षीया रहती है। गौडीय सम्प्रदाय में भी ठीक यही बात कही गई है। वे कहते हैं कि श्रीकृष्ण नित्य षोडशवर्षीय नित्य किशोर हैं—

'नित्यं किशोर एवासौ भगवानन्तकान्तक।'[1]

उपर्युक्त उद्धरण में गौडीय वैष्णव सम्प्रदाय में स्वीकृत राधाकृष्ण उपासना का सम्बन्ध काश्मीरीय शैवदर्शन की शक्ति-पूजा के साथ स्थापित किया गया है। राधा और कृष्ण के स्वरूप मे भेद होने पर भी कृष्णभक्ति के सभी सम्प्रदायो की आधारभूत मान्यता में अन्तर नही है अत: यह कहा जा सकता है कि राधा की कल्पना मे, हो सकता है कि शाक्तमत का भी प्रभाव रहा हो। किन्तु यह उपपत्ति कल्पना पर ही आश्रित मानी जायगी।

कुछ विद्वानो ने बौद्धो के व्रजयानी शाखा के तान्त्रिक मत की स्त्रीसाधना से राधा की उत्पत्ति बताई है, जो आशिक प्रभाव-साम्य होते हुए भी स्वीकार्य नही हो सकती। सिद्ध-साधना को राधा की उत्पत्ति का मूल मानने वाले यह भूल जाते है कि सिद्ध-दर्शन मे जिस कायासाधना का उपदेश है वह स्थूल और सूक्ष्म दोनो रूप मे भोगवृत्ति पर आश्रित है। सिद्धो की कायासाधना यौगिक प्रक्रिया का रूपान्तर था जो मर्यादावादी आर्य पुरुषो द्वारा स्वीकृत नही हुआ। सिद्धो की रहस्यात्मक प्रवृत्ति, उलटवासियाँ, गूढ शब्द-योजना आदि वैष्णव धर्म की सगुणोपासना प्रेमलक्षणा भक्ति के साथ सामजस्य नही रखती अतः राधा की उत्पत्ति या राधाकृष्ण-केलि को सिद्धो की देन नही कहा जा सकता। सिद्धो में निर्गुणवाद के साथ अज्ञेयवाद भी प्रचलित था जो वैष्णव धर्म का कभी अंग नही बना। राधाकृष्ण की उपासना में शृ गारमूलक भावनाओ के कारण इसे सिद्धो की देन कहना एकागी एवं पक्षपात-पूर्ण निर्णय है। हाँ, परवर्ती राधाभाव को भोग-शृंगार से लिप्त करने मे आशिक प्रभाव माना जा सकता है किन्तु राधा की उत्पत्ति में सिद्धो का प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई योग नही है।

राधा की कृष्ण के साथ देवता के रूप में आराधना का मूल कारण अभी तक विद्वानो ने यही निश्चित किया है कि राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी थी, उसकी उपासना शृ गार-प्रेम के मार्ग से आभीरो में प्रचलित थी। आर्यों ने इसके मोहक स्वरूप पर रीझ कर जैसे वालकृष्ण को अपना उपास्य वनाया वैसे ही कालान्तर में राधा को भी अपनी पूजा मे ग्रहण किया। दूसरी मान्यता राधा के शक्ति रूप पर आश्रित है जिसका विवेचन हम पहले कर चुके हैं।

राधा को शक्ति का प्रतीक मानने वाले तथा राधा का आध्यात्मिक रूप से विवेचन करने वाले कुछ विद्वान् राधा को महालक्ष्मी का स्वरूप भी कहते है, जो भगवान् कृष्ण की अन्तरग महाशक्ति का ही रूप है। यह शक्ति ही सृष्टि-निर्माण, पालन और विनाश का

---

१—कल्याण—शिवांक 'काश्मीरीय शैवदर्शन के सम्बन्ध में कुछ बातें'।
लेο कविराज गोपीनाथ, गीता प्रेस गोरखपुर।

कारण होती है। वृहद् गौतमीय तन्त्र में इस त्रिरूप का वर्णन करते हुए राधा को कृष्ण की वल्लभा कहा गया है —

'त्रितत्त्व रूपिणी सापि राधिका मम वल्लभा, प्रकृते परा इवाहं सापि मच्छक्तिरूपिणी, तयासार्धं त्वया न साय देवता द्रुहाम्।'

आदि पुराण का प्रमाण प्रस्तुत करके यह भी संकेत किया जाता है कि राधा ही भगवान् कृष्ण को सम्पूर्ण रूप से जानती है क्योंकि वह उन्ही का रूप है, अन्य देवतागण तो केवल अंश रूप की ही अर्चना करते हैं, 'जानाति राधिका नून अंशानर्चन्ति देवता'। यदि राधा को कृष्ण की शक्ति ही मान लिया जाय तो प्रेमलक्षणा-भक्ति के क्षेत्र में कुछ भ्रामक स्थितियाँ उत्पन्न होगी जिनका उल्लेख हमने आगे किया है।

## ज्योतिषशास्त्र और राधातत्त्व

अनुसंधान और आविष्कार के इस वैज्ञानिक युग में राधातत्त्व का सम्पूर्ण विस्तार ज्योतिषशास्त्र मे खोज निकालने का प्रयत्न हुआ है। ज्योतिषशास्त्रानुसार ही राधा और तद्विषयक विविध नामो की कल्पना की गई है ऐसा कुछ विद्वानो का मत है। श्री योगेशचन्द्र राय ने कृष्ण को सूर्य का अवतार सिद्ध करते हुए राधातत्त्व को भी ज्योतिष का ही प्रपंच बताया है।[1] श्रीकृष्ण सूर्य हैं तथा व्रज के अन्य गोपगण तारे हैं। श्रीकृष्ण की समस्त व्रजलीलाओ को भी नक्षत्रमंडल पर घटित करने की चेष्टा की गई है।

ज्योतिषशास्त्र के राधातत्त्व पर चरितार्थ करने से पूर्व विष्णु शब्द को सूर्यवाचक मानना चाहिए। उसके बाद प्रात, मध्याह्न और सन्ध्या यह सूर्य की तीन गति हैं। संचरणशील सूर्य इन तीनो कालो में होता हुआ त्रिपाद बनता है। विष्णु के वामनावतार में त्रिपाद की कल्पना इसी सूर्य की त्रिकालगति पर अवस्थित कही जाती है। वैदिक वाङ्मय में सूर्य के अर्थ में विष्णु शब्द का प्रचुर प्रयोग उपलब्ध होता है। कृष्ण विष्णु के अवतार हैं—विष्णु स्वरूप है अत वे सूर्य स्थानीय हैं। राधा का वर्णन श्रीकृष्ण के साथ रासलीला प्रसंग में आता है। यह लीला नक्षत्र मंडल की सम्पूर्ण गति है। राधा विशाखा नक्षत्र है। कृष्ण यजुर्वेद में विशाखा और अनुराधा नामक दो नक्षत्रो का वर्णन आता है जिसमें अनुराधा का तात्पर्य है राधा के पीछे आने वाला। अत विशाखा यथार्थ मे राधा का पर्यायवाची ही है। अथर्ववेद में 'राधोविशाखे' पद मे राधा का विशाखा अर्थ में स्पष्ट ही वर्णन है। ज्योतिषशास्त्र को राधातत्त्व पर चरितार्थ करने वाले विद्वानो की तो यही कल्पना है कि पहले राधा नाम ही प्रचलित रहा होगा किन्तु कालान्तर में किसी विशेष प्रयोजन मे राधा के स्थान पर विशाखा नाम व्यवहार में आने लगा। कार्तिक मास की पूर्णिमा को सूर्य (कृष्ण) विशाखा (राधा) नक्षत्र मे ठहरता है। उस दिन सूर्य तथा अन्य नक्षत्र एक साथ दृष्टिगत नही होते। सूर्य की किरणो में ही नक्षत्र समा जाते हैं। इस प्रकार रासलीला के दिन कृष्ण राधा के साथ विहार करते हैं, यह भाव भी ज्योतिषशास्त्रानुसार घट जाता है।

---

१ देखिये—भारतवर्ष (पत्र) माघ १३४० बंगाब्द।

राधा वृषभानु की पुत्री कही जाती है, इसका तात्पर्य है, वृषराशि की किरण। कृत्तिका वृषराशि मे ठहरती है अतः राधा की माता का नाम कृत्तिका होना चाहिए किंतु पद्मपुराण मे, 'कीर्तिदा' नाम मिलता है। सम्भवत कृत्तिका यह परिवर्तित रूप हो। राधा के पति का नाम आयाणघोप है। आयाण की व्युत्पत्ति है—उत्तरायण दिन मे जन्म धारण करने वाला व्यक्ति।

सस्कृत साहित्य मे विशाखा राधा का नाम न होकर राधा की परम सखी का नाम है। अनुराधा (ललिता), भद्रा, ज्येष्ठा, चित्रा आदि भी राधा की सखियाँ मानी गई हैं। तारका भी एक सखी है। चन्द्रावली का पर्याय सोमभा नाम भी मिलता है। ये समस्त नाम नक्षत्रो से सीधा सम्बन्ध रखते हैं। अत राधा का यह समस्त प्रपच ज्योतिपशास्त्र पर निर्भर है।

यही नही श्रीकृष्ण की पत्नियो के नाम भी नक्षत्रपरक हैं। वसुदेव की पत्नी रोहिणी, बलदेव की पत्नी रेवती, श्रीकृष्ण की बहिन चित्रा आदि सभी नक्षत्र है। राधा तत्त्व यथार्थ में इसी नक्षत्र विद्या के आधार पर आया था किन्तु पौराणिक काल मे इस रूपक को भूल जाने से भक्ति-क्षेत्र में ईश्वरीय शक्ति या श्रीकृष्ण-पत्नी के रूप मे राधा को स्थान मिलने लगा।

उपर्युक्त मान्यता के विषय में हमे विशेष टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नही है। ज्योतिपशास्त्र की पदावली के साम्य पर जो अनुसधान किया गया है वह सर्वथा अप्रामाणिक न होने पर भी 'राधा' के स्वरूप-विकास मे स्वीकार्य नही हो सकता, हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते है। विगत डेढ सहस्र वर्षो से राधातत्त्व भक्ति-क्षेत्र का आराध्य तत्त्व रहा है अत उसे नक्षत्र विद्या तक सीमित करने का दुस्साहस हम नही करना चाहते। एक अनुसधानात्मक कुतूहलपूर्ण मान्यता का सकेत करने के लिए हमने इसे यहाँ सक्षेप मे प्रस्तुत किया है।

## आलवार भक्तों द्वारा राधा का संकेत

राधाभाव के क्रमिक विकास में दक्षिण के आलवार भक्तों के योगदान पर भी इस प्रसंग में विचार करना उपयुक्त प्रतीत होता है। वैष्णव आलवार भक्तो का काल ईसा की पाचवी शती से नवम शती के मध्य का स्थिर किया जाता है। इन आलवारो मे श्रीकृष्ण को ही पुरुष स्वीकार करके पूज्य देवता माना जाता था। भक्तगण अपने को नायिका ( स्त्री ) मानते थे। इन भक्तो के चार हजार पद श्रीकृष्णलीला से सम्बद्ध पाये जाते हैं। इनमें श्रीकृष्ण तथा एक प्रमुख गोपी का वर्णन है। कल्पना की जाती है कि यह प्रमुख गोपी राधा ही है। जिस प्रमुख गोपी का वर्णन है उसका नाम 'नाप्पिनाइ' है, राधा नाम कही नही है। 'नाप्पिनाइ' एक फूल का नाम है। इसके अतिरिक्त 'कुरवैकुट्ट', नामक तामिल नृत्य विशेष का भी इसी लीला-प्रसग मे उल्लेख है। श्रीकृष्ण इस नृत्य में स्वयं भाग लेते थे। यह नृत्य श्रीकृष्ण की रासलीला का समकक्ष प्रतीत होता है। अत पाचवी-छठी शताब्दी में यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दक्षिण के आलवार वैष्णवो में रासलीला और राधाकृष्ण युगल

केलि विनोद का कोई न कोई रूप विद्यमान था जो परवर्ती काल में और व्यक्त तथा स्पष्ट होता गया। राधा का साक्षात् वर्णन आलवारो ने नही किया है।

## शिलालेखों पर राधा

ईस्वी सन् के २०० वर्ष पूर्व के किसी शिलालेख पर राधा या कृष्ण के चरित्र अथवा लीला-सम्बन्धी कोई चित्र उत्कीर्ण हुए नही मिलते। ईसा की चौथी शताब्दी के आस-पास श्रीकृष्णचरित-सम्बन्धी शिलालेख या प्रस्तर मूर्तियाँ मिलना प्रारम्भ होती हैं। मन्दसौर के मन्दिर के द्वार के दो स्तम्भो पर जो दृश्य उत्कीर्णित है उसे कृष्णचरित से सम्बद्ध गोवर्द्धन लीला का दृश्य कहा जाता है। उसी पर माखन लीला, शकटासुर लीला, धेनुक लीला, कालियनागलीला के दृश्य भी मिलते हैं जो इस बात के प्रमाण हैं कि श्रीकृष्णचरित की ये लीलाए जनता में प्रचार पा चुकी थी तभी प्रस्तरो पर अकित की गई।

बगाल के पहाडपुर की खुदाई मे जो मूर्ति मिली है उसे भी श्रीकृष्ण लीला से सम्बद्ध बताया जाता है। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के मतानुसार श्रीकृष्ण के साथ जो गोपी उत्कीर्ण की गई है वह और कोई नही राधा है और पाचवी शताब्दी में राधा के साथ श्रीकृष्ण-चरित व्यापक होने लगा था। यदि मूर्ति वाली गोपी को राधा ही माना जाय तो राधा-पूजन का काल भी पीछे ले जाना होगा जो बहुत असगत एव अयुक्त नही है। महाबलीपुर में भी गोवर्धन लीला का उत्कीर्णित प्रस्तर खड मिला है जो यह बताता है कि गोवर्धनलीला का व्यापक रूप से प्रचार हो गया था। बादामी की गुफाओ में श्रीकृष्ण लीलाओ का प्राचुर्य से अकन हुआ है जिनका काल ईसा की सातवी शती है।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ईसा की छठी-सातवी शताब्दी तक राधा-भक्ति का उदय नही हुआ था। उनके मत में प्रेमलक्षणा-भक्ति पद्धति के प्रचारित हो जाने के बाद ही राधा का भक्ति क्षेत्र में प्रवेश हुआ।[1] यह मन्तव्य इस दृष्टि से मान्य नही हो सकता कि जयदेव और विद्यापति के काल तक प्रेमलक्षणा-भक्ति भली भाति स्थिर नही हुई थी किन्तु राधाभक्ति तो जयदेव से पहले अवश्य प्रारम्भ हो गई होगी। आगे के पृष्ठो में हम राधा का विकास दिखाकर यह सप्रमाण सिद्ध करेंगे कि राधा-कृष्ण-भक्ति पाचवी शताब्दी के आस-पास फैलने लगी थी।

## सस्कृत साहित्य मे राधा

राधा का विस्तृत विवेचन तो पुराणो में ही मिलता है किन्तु पुराणो से पहले राधा शब्द व्यक्तिवाचक सज्ञा के रूप में तथा श्रीकृष्ण के साथ सयुक्त देवी के रूप में साहित्यिक ग्रन्थो में उपलब्ध होता है। उनमें से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थो का सकेत उपस्थित करना हम इस

---

1 The cult of Radha worship does not appear to have yet arisen, for Radha is not mentioned even in the Bhagawat But the amours of Krishna with the Gopis had become the leading doctrine of the Vaishnavas at this time
—History of medieval Hindu India Vol III C V Vaidya, Page 415

प्रसग मे आवश्यक समझते हैं। प्राकृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'गाहा सत्तसई (गाथा सप्तशती) मे कृष्ण की व्रजलीला और गोपियो का वर्णन है। गाहा सत्तसई ईसा की प्रथम शताब्दी की रचना है। पाचवी शताब्दी मे रचित 'पचतन्त्र' मे भी राधा का सधान किया गया है। इन दोनो ग्रन्थो के उद्धरण स्पष्ट नही हैं केवल नामोल्लेख मात्र है किन्तु छानबीन से यही सिद्ध होता है कि ईसा की चौथी-पाचवी शताब्दी से पूर्व राधा का नाम जन सामान्य मे प्रचारित नही हुआ था। इन ग्रन्थो मे राधा सामान्य नाम के रूप में ही प्रयुक्त हुआ समझना चाहिए। उसका राधाभक्ति-तत्त्व से कोई सम्बन्ध प्रतीत नही होता। गाहा सत्तसई के जिस पद मे यह आता है कि तुमने (कृष्ण ने) अपने मुख के श्वास से राधिका के कपोल पर लगे हुए धूलिकणो को दूर कर के अन्य गोपियो के महत्त्व को न्यून कर दिया है—(गाथा सप्तशती १-२६) वह पद अनेक विद्वानो की दृष्टि में प्रक्षिप्त है। और उसका काल चौथी-पाचवी शती माना जाता है।[1] श्रीकृष्ण की व्रजलीला का वर्णन सत्तसई में तीन स्थल पर हुआ है।

भट्टनारायण कृत वेणीसहार (रचनाकाल ८वी शताब्दी) में 'राधिका' का जिस रूप में वर्णन मिलता है वह रासपरायण कृष्ण प्रेमिका राधिका है और उसका परवर्ती भक्ति एव श्रृंगार परक साहित्य से साक्षात् सम्बन्ध है। अत इस नामोल्लेख को विशेष महत्व दिया जा सकता है। वेणीसहार के श्लोक मे कालिन्दी के पुलिनो में रासलीला परायण श्रीकृष्ण से कुपित होकर केलिक्रीडा का त्याग करके जाती हुई राधिका का कृष्ण जिस भाव से अनुसरण करते हैं वह परवर्ती साहित्य का विषय रहा है। अतः इस 'राधिका' शब्द को हम सामान्य उल्लेख मानकर छोड नही सकते।[2]

आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' में भी राधा का वर्णन है। श्रीकृष्ण उद्धव से राधा की कुशल पूछते हुये जो सकेत प्रस्तुत करते हैं उसमे यमुनापुलिन पर स्थित लतावेश्म की ओर इगित करके अपने हृदय के मधुरभाव को व्यक्त कर दिया है।[3] 'ध्वन्यालोक' में एक और श्लोक उद्धृत किया गया है जिसमे राधा का वर्णन है। यह श्लोक वक्रोक्तिकार कुन्तक ने भी अपने ग्रथ मे उद्धृत किया है। इस श्लोक में राधा का श्रीकृष्ण के वस्त्र पहनकर यमुना के किनारे पर उत्कठापूर्वक गद्गद् कठ से कृष्ण के विरह मे गान का

---

१ "मुहमारुएण त कहण गोरअ राहिआएँ अवणेन्तो।
एताणं बलवीणं अण्णाणं वि गोरअ हरसि॥" गाहा सत्तसई १।२६

२. "कालिन्द्या. पुलिनेषु केलि कुपितामुत्सृज्यरासे रसं।
गच्छन्तीमनुगच्छताऽश्रुकलुषां कंसद्विषो राधिकाम्॥
तत्पादप्रतिमानिवेशितपदस्योद्भूतरोमोद्गते—
रक्षुण्णोऽनुनयं प्रसन्नदयितादृष्टस्य पुष्णातु व॥"
वेणीसंहार अ० १, दृश्य १।

३. "तेषागोपवधूविलाससुहृदां राधारहः साक्षिणाम्।
क्षेमं भद्र कलिन्दराजतनया तीरे लतावेश्मनाम्॥ —ध्वन्यालोक

उल्लेख है । इस श्लोक के भाव पर यदि विचार किया जाय तो यह ध्वनि स्पष्ट प्रतीत होती है कि राधा श्रीकृष्ण के मथुरा में रहते समय नित्य उनके साथ यमुना के किनारे भ्रमण करती और लीला-परायण रहती थी । आज जब वे द्वारका चले गये हैं तो उनकी स्मृति में विह्वल हो गद्गद् कंठ से गाती हुई जलचरों को भी व्याकुल बना देती है ।[1]

त्रिविक्रम भट्ट ने अपने 'नलचम्पू' (दसवीं शताब्दी) में श्रीकृष्णचरित वर्णन के संदर्भ में राधा की कला-कुशलता का वर्णन किया है । यह वर्णन राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम-सम्बन्धों का परिचायक है । कला-कौशल में चतुर राधा परम पुरुष मायामय केशिहन्ता के प्रति अनुरक्त है ।[2]

वल्लभदेव काश्मीरी ने 'शिशुपाल वध' की टीका में किसी प्राचीन ग्रंथ से एक श्लोक उद्धृत किया है जिसमें राधा और कृष्ण का वर्णन है । भोजराज ने 'सरस्वती कंठाभरण' में किसी प्राचीन कवि के एक श्लोक को उद्धृत करते हुये राधा का रूप वर्णन किया है— "कनकानि काश स्वच्छे राधापयोधरमंडले"—यह श्लोक अनेक सुभाषित संग्रहों में उद्धृत किया गया है । भोजराज का समय ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है । अतः इस काल में निश्चित रूप से राधा का स्थान श्रीकृष्ण की प्रेमिका के रूप में श्रीकृष्ण भक्ति का अवयव बनकर भी स्थिर होने लगा था ।

धनञ्जय के 'दशरूपक' में भी राधा का नाम आता है और राधा के प्रणय-कोप का इसमें संकेत है ।

'केनालीकमिदं तवाद्य कथितं राधे मुधा ताम्यसि ।'

अमृतवती नामक एक स्त्री का उल्लेख करते हुये राधा का नारायण के प्रति आकृष्ट न होने का वर्णन किया है । दसवीं शताब्दी के 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' में भी राधा सम्बन्धी अनेक श्लोकों का संग्रह मिलता है । अतः यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि दसवीं शताब्दी में राधा नाम अनेक रूपों में साहित्य मे प्रविष्ट हो गया था ।

क्षेमेन्द्र ने अपने 'दशावतारचरित' में राधा का वर्णन करते हुये शृङ्गारपरक भाव को अभिव्यक्त किया है जो इस तथ्य का प्रमाण है कि इस काल में श्रीकृष्ण और राधा के वर्णन-प्रसङ्गों में प्रेम के व्यापक रूप में दोनों का उल्लेख होने लगा था ।

---

१ याते द्वारावतीं पुरीं मधुरिपौ तद्वस्त्रसव्यानया,
कालिन्दीतटकुंजवंजुललतामालम्ब्य सोत्कंठया ।।
उद्गीतं गुरुबाष्पगद्गद्गलत्तारस्वरं राधया,
येनान्तर्जलचारिभिः जलचरैरुत्कंठमाकूजितम् ।। (ध्वन्यालोक से उद्धृत)

२ शिक्षितवैदग्ध्यकलापराधान्मिरा परपुरुषे ।
मायाविनि कृतकेशिवधे रागं बध्नाति ।। नलचम्पू ।

हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन' में राधा-विषयक दो श्लोक मिलते हैं वे किसी प्राचीन कवि के हैं। इन श्लोको की व्यजना भी शृङ्गारमयी है जो विशेष प्रवृत्ति का द्योतन करती है। हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र ने अपने 'नाट्य दर्पण' में भेज्जल कवि कृत नाट्यपरक ग्रथ 'राधा विप्रलम्भ' का उल्लेख किया है। 'राधा विप्रलम्भ' नाट्य ग्रथ उपलब्ध नही है किंतु इस सकेत के आधार पर यह कल्पना करना कुछ असगत न होगा कि बारहवी शताब्दी मे राधा विप्रलम्भ भाव की जनता मे जानकारी थी और इस भाव से राधा का सम्बन्ध जुड गया था। शारदातनय ने अपने 'भावविलास' ग्रन्थ मे एक और नाटक का उल्लेख किया है जिसका नाम 'रामा राधा' है जो राधा से ही सम्बद्ध है। कवि कर्णपूर ने अपने अलकार कौस्तुभ में कदर्म-मजरी नाटिका का वर्णन किया है जो राधा से ही सम्बद्ध कही जाती है।

तेरहवी शताब्दी तक आते-आते राधा और कृष्ण के सम्बन्ध अधिक स्पष्ट और व्यक्त रूप मे वर्णित होने लगे। प्रिया-प्रियतम या परिणीता राधा का रूप भी अनेक काव्य-नाटको में उपलब्ध होता है। इस काल में श्रीकृष्ण ही 'राधाधव' नाम से व्यवहृत होने लगे थे।

प्राकृत पैंगल नामक प्राकृत-अपभ्रंश के ग्रथ मे श्रीकृष्ण का वर्णन राधाप्रेमी के रूप में हुआ है। श्रीकृष्ण-राधा नौका-विहार करते हुए भी वर्णित हुए हैं।

अपभ्रंश साहित्य मे भी राधा का वर्णन उसी रूप में हुआ है जिस रूप में सस्कृत और प्राकृत के ग्रथो में। राधा-कृष्ण दोनो समवेत रूप मे शृंगाररस की पृष्ठभूमि पर ही अकित किये गये हैं अत. उसका विस्तारपूर्वक उल्लेख करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

## गीतगोविन्द में राधा

राधा का विशद वर्णन प्रस्तुत करने वाले कवियो मे गीत-गोविन्दकार जयदेव का नाम सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। यथार्थ में राधा को काव्य के माध्यम से भक्ति-क्षेत्र मे प्रतिष्ठित करने का आद्य श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। जयदेव ने जिस राधा का वर्णन प्रस्तुत किया है वह साम्प्रदायिक दृष्टि से किस कोटि मे आती है यह निर्णय करना कठिन है। जयदेव ने राधा का वर्णन केवल काव्यानन्द के लिए न करके हरिस्मरण के लिए भी किया था अत. यह तो निश्चित रूप से मानना होगा कि उस काल मे राधा का भक्ति-क्षेत्र में किसी न किसी रूप में पदार्पण हो चुका था। तभी तो जयदेव अपने गीतो के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

यदि हरिस्मरणेसरसंमनो, यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलीं शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

गीतगोविन्द काव्य मे राधा के रूप-सौन्दर्य-वर्णन पर कवि का ध्यान आदि से अन्त तक सतत बना रहा है। बारह सर्ग के इस मधुर काव्य का ध्येय राधाकृष्ण की भक्ति का वह रूप

प्रस्तुत करना है जो शृंगारमयी भावना से परिपूर्ण होने के कारण सहृदय जन को यमुना तट के निकुंजों में सम्पन्न होने वाली राधाकृष्ण की प्रेमलीलाओं का आनन्द दे सके। जयदेव ने राधा को शक्ति या महालक्ष्मी का कोई रूप नहीं दिया। जयदेव के काव्य में राधा प्रेमिका-नायिका रूप में ही पाठक के समक्ष आती है। वह ऐसी प्रेमिका है जो दक्षिण नायक कृष्ण के चरित्र को भलीभाँति जानती हुई भी अपने हृदय के समस्त अनुराग और आकर्षण से उसे प्यार करती है, उसके लिए उन्मत्त की भाँति यमुना के पुलिन कुंजों में घूमती फिरती है। उसके मन में लोकलाज से उत्पन्न संकोच नहीं है। प्रगल्भा राधा शील की रक्षा के लिए प्रयत्नशील न होकर प्रेम पाने को उत्सुक है। विरह की दाहक घड़ियों में वह उस नायिका के समान आचरण करती है जो अपने चारों ओर के वातावरण से निरस्त होकर विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति में अश्रु-प्रवाह का आश्रय लेकर मान, मनुहार, विरह, आक्रोश, अनुनय सभी भावों का प्रदर्शन करती है। इस वर्णन में सूक्ष्म भावनाओं की अभिव्यक्ति न होकर राधा का मांसल अनुभूति पक्ष प्रबल हो गया है। परम्परा से तो जयदेव पर-कीयाभाव के साधक माने जाते हैं, परन्तु गीतगोविन्द के पदों में जयदेव की स्थिति परकीयात्व से भिन्न है। स्थूल शृंगार-लीला-वर्णन में कवि स्वकीया नायिका की मन स्थिति के उद्‌घाटन करने में लीन प्रतीत होता है। कदाचित् इन वर्णनों का आधार ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के वे प्रसंग रहे हों जिनमें राधा का स्वकीयात्व स्पष्ट रूप से स्थापित करके उसे मांसल रूप में चित्रित किया गया है। इस मान्यता के दोनों पक्ष हैं। कुछ विद्वान् ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण को गीतगोविन्द से पहले की रचना मानकर गीतगोविन्द के कई श्लोकों पर उसका प्रभाव देखते हैं और दूसरे पक्ष में ब्रह्मवैवर्त्त बाद की रचना है और गीतगोविन्द से प्रभावित कही जाती है। कुछ भी हो, इतना तो स्वीकार करना ही होगा कि जयदेव के गीतों ने राधा को काव्य और भक्ति दोनों क्षेत्रों में पूर्ण आकार देकर उसे प्रेमिका, नायिका, आराध्या देवी आदि के पूज्य एवं प्रेमास्पद पदों पर समासीन किया।

## पुराण साहित्य में राधा

राधाभक्ति का प्रादुर्भाव किसी भी युग में हुआ हो किन्तु उसका विशद व्यापक प्रचार पुराणों द्वारा ही स्वीकार करना होगा। संस्कृत साहित्य के काव्य, व्याकरण, कथा-आख्यान आदि में राधा का उल्लेख होने पर भी उसका स्वरूपाख्यान एवं सर्वांगीण वर्णन नहीं हो सका था। जयदेव को छोड़कर अन्य किसी कवि ने राधा को अपने काव्य का आधार बनाकर रचना नहीं की थी। इतना ही नहीं, राधा के आध्यात्मिक या दार्शनिक स्वरूप का वर्णन भी पुराणों में पहले नहीं मिलता। राधा के उद्भव और विकास की जैसी परिपूर्ण कथाएं पुराणों में मिलती हैं वैसी अन्यत्र नहीं है अतः राधा के स्वरूपाख्यान में पुराणों का सर्वाधिक योग है। विष्णु की शक्ति के रूप में राधा के विविध रूपों का वर्णन पुराणों ने ही प्रारम्भ हुआ।

वैष्णव साधना का मेरुदण्ड भागवत पुराण माना जाता है। किन्तु सम्पूर्ण भागवत पुराण में कहीं भी राधा नाम उपलब्ध नहीं होता। रासपंचाध्यायी में कृष्ण की एक प्रिय

गोपी का वर्णन है जिसे आधार बनाकर राधा का संधान किया जाता है। उसी प्रकरण मे श्रीकृष्ण का किसी विशिष्ट गोपी के प्रति अनुराग वर्णित है; उसमें राधित पद से दूरारूढ़ क्लिष्ट कल्पना द्वारा राधा का सम्बन्ध जोड़ा गया है।

'अनया राधितो नूनं भगवान् हरिरीश्वरः ।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतोयामनयद्रहः ॥'

—भागवत पुराण १०. ३०. ३८।

श्री सनातन गोस्वामी ने उपर्युक्त श्लोक के 'अनयाराधितो' पद की व्याख्या भागवत की 'वैष्णवतोषिणी' टीका मे करते हुये इससे राधा का सकेत ग्रहण किया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या में—नून 'हरिरय राधिताह राधा इतेह प्रपिताह—' लिखकर राधा से इसका सम्बन्ध जोडा है। कृष्णदास कविराज ने भी सनातन गोस्वामी का अनुगमन करते हुये राधा का अस्तित्व इसी पद मे स्वीकार किया है। यद्यपि यह दूरारूढ विलष्ट कल्पना है फिर भी इसे वैष्णव सम्प्रदायो में स्वीकार किया जाता है इसलिये हमने इसका उल्लेख करना आवश्यक समझा। भागवत पुराण के द्वितीय स्कन्ध में एक और श्लोक राधा से सम्बद्ध माना जाता है किन्तु उसकी व्याख्या से राधा अर्थ नही निकलता।

"निरस्त साम्यातिशयेन राधसा,
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नम.।"

—भागवत पुराण २. ४. १४।

इस श्लोक में 'रावसा' पद का अर्थ ऐश्वर्य (विभूति) है। राधा के साथ इसका कोई सम्बन्ध नही है अतः इसे राधा के साथ जोड़ना पद-पदार्थ के साथ अन्याय करना है।

प्रोफेसर विल्सन ने राधा के स्वरूप निर्धारण में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण का आश्रय लेकर राधा की शक्ति का कृष्ण-निष्ठ होना सिद्ध किया है। वे राधा को कृष्ण की प्रेयसी मानते हैं और गोलोक मे कृष्ण के साथ उसके रहने का पुराण के आधार पर ही वर्णन करते हैं।[1] उनका विश्वास है कि हिंदू-भक्ति-सम्प्रदायो में राधा की उपासना का उदय बहुत अर्वाचीन है। महाभारत में वर्णित राधा और पुराणो की राधा के भेद की ओर सकेत करते हुये उन्होने पौराणिक काल की राधा को—जिसका नाम कही भी भागवत पुराण

1. Radha the favourite mistress of Krishna is the object of adoration to all the sects who worship that deity, and not unfrequently obtains a degree of preference that almost throws the character from whom she derives her importance into the shade.

Hindu Religions—by Prof. H H Wilson, Page 113.

'Radha continued to reside with Krishna in Goloke where she gave origin to gopis, or her female companions and received the homage of all divinities.'

Ibid—Page 114.

मे नही है—कालक्रम से वाद मे निर्मित ब्रह्मवैवर्त्त की देन कहा है।[1]

प्रसिद्ध विद्वान् मोनियर विलियम्स ने वैष्णव भक्ति का उल्लेख करते हुए राधाकृष्ण की पूजा-उपासना को पौराणिक साहित्य की देन ठहराया है। राधा का स्वरूप उन्होने कही स्थिर नही किया किंतु राधा को उन्होने "मानवात्मा की उस इच्छा का प्रतीक माना है जो सतत परमात्मा के साथ तादात्म्य प्राप्त करने की होती है।" निम्बार्क सम्प्रदाय मे राधा का कृष्ण के साथ सम्बन्ध बताते हुए आपने राधा को कृष्ण की स्वामिनी लिखा है और दोनो की एक साथ उपासना करने के विधान की ओर सकेत किया है।[2]

अग्रेज विद्वान् जे० एन० फर्कुहर ने राधा का उद्भव और राधाभक्ति का प्रारम्भ भागवत पुराण से ही माना है। यद्यपि उक्त पुराण में राधा का नामोल्लेख नही है फिर भी प्रधान गोपी के रूप मे जिसका वर्णन है वही 'राधा' है अत यह सम्भव है कि उसी समय से राधा का भक्ति-क्षेत्र में प्रवेश हुआ हो। आपके मत में भी सर्वप्रथम राधा का नाम कहा आया यह अभी तक अज्ञात ही है। राध् धातु का अर्थ 'प्रसन्न करना' होने से आपने राधा नाम की कल्पना को स्वीकार कर लिया है किंतु यह स्वीकृति ऐतिह्य द्वारा पुष्ट नही होती।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन साहित्य में राधा का विशद-व्यापक वर्णन देखकर पाश्चात्य विद्वानो की ऐसी धारणा बनी कि जो शक्ति मानवात्मा तथा परमात्मा के बीच प्रेम सम्बन्ध स्थापित कराती है, वही राधा है, अत वही उपास्य है।

वृन्दावन-लीलाओ मे श्रीकृष्ण के प्रति जो प्रेम वर्णित हुआ है वह चार प्रकार का है—सेव्य-सेवक प्रेम, मैत्रीभाव पूर्ण प्रेम, मातृत्व का वात्सल्य भाव पूर्ण प्रेम, और गोपियो का माधुर्य-शृ गार परिपूर्ण (कांताभाव) प्रेम। प्रथम कोटि के प्रेम में कृष्ण का ऐश्वर्य एव महत्व

---

1 The adoration of Radha is a most undoubted innovation in the Hindu creed, and one of very recent origin Even the Bhagawat makes no particular mention of her amongst the gopis of Brindaban and we must look to the Brahma Vaivart Puran as the chief authority of a classical character on which the presentations of Radha are founded

Hindu Religions H H Wilson—Page 113

2 Krishna & Radha, as typical of the longing of the human soul for union with the divine—+ + +'

'Worship of the goddess Radha in conjunction with Krishna—'
Religious Thought & Life in India Part I
Monier Williams, Page 146-147

3 We have seen above in the Bhagawat Puran there is a Gopi whom Krishna favours somuch as to wander with her alone, and that the rest of the gopis surmise that she must have worshipped Krishna with peculiar devotion in a previous life to have thus won his special favour This seems to be the source whence Radha arose, and it is probable that the name Radha comes from the root in the sense of conciliating, pleasing She is thus the pleasing one In what book she first appears is not yet known

An Outline of the Religious Literature of India
—J N Farquhar, Page 237

स्पष्ट रूप से प्रधान रहता है तभी तो सेवक के मन में महत्व के प्रति आकर्षण होता है। मैत्री भाव मे भी श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य लुप्त नही होता, हा, उसके प्रति आतक न रहकर गरिमा का भाव हो जाता है किंतु 'मेरे मित्र कृष्ण महान हैं' यह भाव निर्मूल नही हो पाता। मातृत्व के वात्सल्यभाव में माता अपने पुत्र कृष्ण को वत्सलता से पालती है किंतु कृष्ण शैशव में ही यशोदा को अपने विष्णु-रूप का परिचय देकर उसे सामान्य माता से भिन्न कोटि में पहुँचा देते हैं जो एक प्रकार से कृष्ण के गौरव का भाव मन में उत्पन्न करने वाला है। चतुर्थ कोटि के माधुर्य-मडित शृगार-परक प्रेम में कान्ताभाव की परिपूर्णता भेद-बुद्धि को विनष्ट करके गोपियो के मन में ऐसी समता उत्पन्न कर देती है जो प्रेम के परिपाक के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। यह चतुर्थ कोटि का प्रेम भागवत पुराण में गोपियो की रास-लीला में पल्लवित हुआ है। यह लीला-वर्णन ही गोपियो के माध्यम से राधा को कृष्ण के साथ अभिन्न रूप से जोड देता है अतः भागवत पुराण के लीला-वर्णन प्रसगो को राधा-कृष्ण का वर्णन मानने की परम्परा चल पडी है। किंतु भागवत पुराण के पर्यालोचन से यह स्पष्ट विदित होता है कि इस पुराण के रचना काल तक राधा को वह स्थान नही मिला था जो बाद के भक्ति सम्प्रदायो में दृष्टिगत होता है।

श्रीकृष्ण की शृगारपूर्ण वृन्दावन लीलाओ का वर्णन सर्वप्रथम हरिवश पुराण में हुआ है किन्तु इसमें राधाकृष्ण के युगलभाव का वर्णन नही है। विष्णु पुराण के अट्ठाईसवें अध्याय मे भी सक्षेप मे रासलीला का वर्णन है किन्तु राधा का नामोल्लेख नही है। इन दोनो पुराणो के लीला-वर्णन प्रसग में राधा का नाम न आना इस तथ्य की ओर इगित करता है कि इनके रचनाकाल तक लीलाओ में राधा को प्रमुखता नही मिली थी। हा, ब्रह्म-वैवर्त्त, पद्म, वाराह और आदि पुराण में राधा का वर्णन है। यथार्थ मे ब्रह्मवैवर्त्त पुराण ही राधा के विशद-व्यापक वर्णन के लिए उत्तरदायी कहा जाना चाहिए। इस पुराण के ब्रह्म खड, प्रकृति खड और कृष्ण-जन्म-खड मे राधा का वर्णन इतने विस्तार से हुआ है कि पाठक को अनेक प्रसगो मे मूलकथा का ध्यान न रहकर राधा की कथा ही मुख्य प्रतीत होने लगती है। पद्म-पुराण और वाराह-पुराण मे भी राधा का वर्णन है किन्तु वहा इतना विस्तार नही है।

ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण मे 'राधा' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए उसका माहात्म्य प्रतिपादित किया गया है। रकार का उच्चारण कोटि जन्मो के अर्थ, शुभाशुभ कर्म-फलो को दूर करता है, आकार गर्भवास, मृत्यु और रोगो से छुडाता है, धकार आयु की हानि से बचाता है और आकार भवबन्धन से मुक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार राधा नाम के और भी कई अर्थ माहात्म्य वर्णन पूर्वक लिखे गये हैं। इन वर्णनो को पढकर यह धारणा होती है कि इस युग मे राधा को ही सर्वशक्तिमती मानकर पूजा-उपासना का क्रम प्रचलित हो गया था। रचना के कालक्रम मे ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के बहुत प्राचीन न होने से राधा-विषयक इस माहात्म्य-

वर्णन का महत्व भी स्वत कम हो जाता है।[1]

ब्रह्मवैवर्त्त पुराण के ब्रह्मखड के पचम अध्याय में राधा की उत्पत्ति का विस्तार-पूर्वक आख्यान की शैली मे वर्णन है। यह उत्पत्ति अप्राकृतिक शैली से वर्णित हुई है अत उसको किसी वैज्ञानिक या ऐतिहासिक कसौटी पर परखना कठिन है। राधा की उत्पत्ति-कथा में लिखा है कि गोलोक में रासपरायण श्रीकृष्ण के पार्श्व से एक कन्या उत्पन्न होकर उनकी पूजा में सलग्न हो गई। उसकी उत्पत्ति का कोई वाह्य कारण न होने से श्रीकृष्ण के प्राण से ही उत्पत्ति मानी गई और उसे श्रीकृष्ण की प्राणेश्वरी कहा गया। उत्पन्न होते ही षोडशी के रूप में अपने अनिंद्य सौन्दर्य से समस्त चराचर को मोहने वाली बनी और प्राणिमात्र उसकी ओर आकृष्ट होकर आने लगे। उसके रोम-कूपो से उसी के समान सौन्दर्यमयी अनन्त गोपिकाए उद्भूत हुई और तभी श्रीकृष्ण के रोमकूपो से असख्य गोप तथा गौए उत्पन्न हुई। यह समस्त उत्पत्ति गोलोक में रासलीला के समय हुई थी अत. उसे दिव्य और नित्य माना गया। राधा की उत्पत्ति का यह एक रूप है, इसी प्रकार के और भी अनेक रूपो में उद्भव का वर्णन पुराणो में उपलब्ध होता है।[2]

गोलोकोद्भवा यही राधा वृन्दावन धाम में अवतीर्ण हुई और व्रजमडल में भक्तजन की आराध्या बनी। यहा भी उसे रासपरायण ही चित्रित किया गया है। वृन्दावन धाम में अवतीर्ण होने के लिए जिस प्रसग की कल्पना की गई है वह भी इसी प्रकार की अलौकिक मान्यता पर केन्द्रित है। रमण की इच्छा से धावन करती राधा श्रीकृष्ण के समीप पहुची, इसी कारण उसका नाम 'राधा' पडा। इसी लम्बे कथा-प्रसग मे श्रीदामा का शाप भी राधा के व्रज मे उत्पन्न होने का कारण बताया गया है। 'राधावाराहकल्प' में लिखा है कि राधा गोकुल में वैश्यवर वृषभानुगोप की कन्या के रूप में पैदा हुई। साथ ही रायाण नामक वैश्य के साथ उसके विवाह का भी उल्लेख है। इस विवाह को अलौकिक कोटि में स्थापित करने

---

१. रेफोहि कोटि जन्माघ कर्मभोग शुभाशुभम्।
आकारो गर्भवास च मृत्यु च रोगमुत्सृजम्॥
धकारमायुषोहानि माकारो भवबन्धनम्।
+ + +
रेफोहि निश्चलां भक्ति दास्यकृष्णपदाम्बुजम्।
सर्वेप्सितं सदानन्द सर्वसिद्धौघमीश्वरम्॥
धकार सहवासच तत्तुल्य कालमेव च।
ददातिपार्ष्णि सारुप्य तत्त्वज्ञान हरें स्वयम्॥
आकारस्तेजसोराशि दान शक्ति हरौ यथा।
योगशक्ति योगमति सर्वकाल हरिस्मृतम्॥
—ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, कृष्ण जन्म खड, अध्याय १३।

२ द्रष्टव्य—ब्रह्म वैवर्त्त पुराण, ब्रह्म खड, अध्याय ५।
,, प्रकृति खड, अध्याय २।

के लिए यह भी लिखा है कि राधा अपनी छाया को वृषभानुसुता मे रख गई, और उसी छाया-राधा के साथ रायाण का विवाह हुआ। राधा स्वयं श्रीकृष्ण के पास निवास करती थी, उसकी छाया रायाण के पास थी। यह कल्पना भी राधा के दिव्य स्वरूप की स्थापना के उद्देश्य से की गई है। यथार्थ में इस प्रकार की आख्यान-मूलक अभिव्यक्तियो से राधा को लौकिक से पारलौकिक वनाया गया है।[1]

पद्म-पुराण के उत्तराखड प्रकरण मे राधाष्टमी व्रत का वर्णन करते हुए राधा-पूजन का महत्व वडे विस्तार से गाया गया है। यह वर्णन भावना-परक होते हुए भी परवर्ती राधा-पूजा या भक्ति मे जिस रूप में गृहीत हुआ वह लौकिक ही वन गया। पद्म-पुराण के पाताल खड के अन्तर्गत वृन्दावन माहात्म्य में भी राधाकृष्ण के 'युगल ध्यान' का वर्णन हुआ है।[2] पद्म-पुराण के राधा-विषयक एक श्लोक को रूपगोस्वामी और कृष्णदास कविराज ने उद्धृत किया है। यदि पद्म पुराण मे राधा का उस काल में भी इतना विशद वर्णन होता तो ये दोनो महानुभाव अवश्य और भी सामग्री का चयन करते। अत यह अश प्रक्षिप्त एव परवर्त्ती काल का है ऐसी कुछ विद्वानो की धारणा है। फर्कुहर ने इस पुराण के अधिकाश भाग को सोलहवी शती के वाद का रचा माना है।[3]

इन्ही पुराणो में राधा के अनेक नामो का भी वर्णन है। उनमें से मुख्य सोलह नाम इस प्रकार हैं—राधा, रासेश्वरी, रासवासिनी, रसिकेश्वरी, कृष्णप्राणाधिका, कृष्णप्रिया, कृष्णस्वरूपिणी, कृष्णवामांशसम्भूता, परमानन्द रूपिणी, कृष्णा, वृन्दावनी, वृन्दा, वृन्दावन विनोदिनी, चन्द्रावली, चन्द्रकान्ता और शतचन्द्रनिभानना।

'देवी भागवत' मे राधा की पूजा और राधा-मत्र का विस्तार से वर्णन है। मूल प्रकृतिरूपिणी चिन्मयी भुवनेश्वरी सव जगत् की सृष्टि कर रही थी उस समय प्राण और वुद्धि की पृथक्-पृथक् दो अधिष्ठात्री देविया प्रादुर्भूत हुईं। प्राण की अधिष्ठात्री देवी का नाम 'राधा' और वुद्धि की देवी का नाम दुर्गा था। राधा की आराधना के लिए 'श्री राधायै स्वाहा'' यह षडाक्षर मत्र लिखा है। मूल प्रकृति देवी के उपदेश से सर्वप्रथम यह मत्र श्रीकृष्ण को रासमडल मे प्राप्त हुआ। 'देवी भागवत' के अनुसार राधा की पूजा किये विना कृष्ण की पूजा का अधिकार नही है। कृष्ण क्षणभर को भी राधा के विना नही रह सकते।[4]

## तत्र में राधा

'राधातत्र' में महामाया की तपस्या में लीन वासुदेव का वर्णन है। यह तत्र वहुत अर्वाचीन माना जाता है। इसमें राधा की जो उद्भव कथा दी गई है वह भी अलौकिक एवं

१. ब्रह्म वैवर्त—प्रकृति खड, अध्याय ४, ८५।
२. पद्म पुराण—उत्तरा खंड—राधाष्टमी व्रत प्रकरण। अ० १६२-१६३।
,, ,, —पाताल खंड—वृन्दावन माहात्म्य, अ० ८२।
3 An Outline of the Religious Literature of India—Farquhar, Page 232
४—देवी भागवत, खड ६, अध्याय ५०।

अप्राकृतिक सिद्धान्त पर आधृत है। कथा का सक्षेप इस प्रकार है—'महामाया के वरदान से 'आम्नायरूपामाला' मे पद्मिनी नाम की माला ही राधा नाम से प्रसिद्ध हुई। पद्मिनी देवी डिम्ब रूप धारण कर कालिन्दी में आई। उस डिम्ब को जल में तैरते देख वृषभानु ने ग्रहण कर लिया और अपनी पत्नी कीर्तिदा को दिया। उसी डिम्ब से राधा का आविर्भाव हुआ।[1]

तत्र-साहित्य में 'रुद्रयामाल तत्र, गौतमीय तत्र तथा राधातापिनी उपनिषद् भी राधा के आविर्भाव की विचित्र एव विलक्षण कथाओ से परिपूर्ण हैं। गर्ग सहिता में भी राधा के उद्भव का सकेत है किन्तु हमारा उद्देश्य विस्तार से सबको उद्धृत करना नही है। हमने साकेतिक रूप से केवल प्रमुख स्थलो पर ही दृष्टिनिक्षेप किया है। यदि राधा-विषयक समस्त पौराणिक आख्यानो को उद्धृत किया जाय तो एक स्वतत्र ग्रन्थ की सामग्री एकत्र हो सकती है।

## राधिकोपनिषद्

राधिकोपनिषद् में राधा के स्वरूप का वर्णन आध्यात्मिक प्रतीक के रूप में किया गया है। उसका साराश डा० हरवशलाल शर्मा ने अपने 'सूर और उनका साहित्य' ग्रथ में इस प्रकार दिया है—

"उर्ध्व रेता सनकादि महर्षियो के द्वारा सर्वप्रथम देवता के पूछे जाने पर श्री ब्रह्माजी ने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परम देव हैं, ये छहो ऐश्वर्यो से पूर्ण, गोप और गोपियो के सेव्य, श्री वृन्दावन देवी से आराधित और श्री वृन्दावन के अधीश्वर हैं। यही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। इन्ही श्री हरि के एक स्वरूप नारायण भी हैं जो कि अखिल ब्रह्माडो के अधीश्वर हैं। वे श्रीकृष्ण प्रकृति से भी पुरातन और नित्य हैं। इनकी आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि बहुत सी शक्तिया हैं। उनमें आह्लादिनी सर्वप्रधान है। यही परम अन्तरगभूत, श्रीराधा हैं। कृष्ण इनकी आराधना करते है, अथवा वे सर्वदा कृष्ण की आराधना करती हैं इसलिए ये राधा कहलाती हैं। ये राधा और श्रीकृष्ण रससागर श्री विष्णु के एक शरीर से ही क्रीडा के लिए दो हो गये हैं। इन राधिका जी की अवज्ञा करके जो श्रीकृष्ण की आराधना करना चाहता है वह मूर्ख है। सन्धिनी शक्ति, धाम, भूषण, शैया और आसनादि तथा मित्रो और भृत्यादिको के रूप में परिणत होती है। ज्ञानशक्ति को क्षेत्रज्ञ शक्ति कहते हैं और इच्छाशक्ति अन्तर्भूत माया शक्ति है। यह सत्व, रज और तमोगुण रूपा है तथा बहिरंग और जड है। क्रियाशक्ति को लीला शक्ति कहते हैं।"[2]

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह उपनिषद अर्वाचीन है। सत्रहवी शताब्दी से पहले तो यह रचना नहीं हो सकती। जो राधाभाव वैष्णव भक्त कवियो ने सोलहवी-सत्रहवी शताब्दी में स्वीकार किया था वही इसमें प्रतिपादित किया गया है।

यथार्थ में पौराणिक आधार को ग्रहण करके ही राधा की उपासना मध्ययुगीन

---

१—राधा तत्र, पटल ८–८।

२—सूर और उनका साहित्य—डा० हरवशलाल शर्मा, पृष्ठ २६७।

वैष्णव-भक्ति में स्थान पा सकी है। इससे पूर्व कृष्ण-भक्ति में राधा को स्थान प्राप्त नही था। कुछ विद्वानो का तो यह भी अभिमत है कि माधुर्यभाव की उपासना के प्रवर्त्तित होने के बाद राधा को उसमें स्थान प्राप्त हुआ। कुछ विद्वान् माधुर्यभक्ति पर भी मुसलमान सूफी कवियों का प्रभाव देखते हैं।[1] कुछ भी हो, इतना तो स्पष्ट लक्षित होता है कि राधा की उपासना का समावेश होते ही माधुर्य-भाव की भक्ति में नवजीवन सचार हुआ और उसमे रस की निर्झरिणी प्रवाहित हो उठी। उसी के व्यापक प्रभाव में जयदेव आदि संस्कृत-कवि और भक्तिकालीन व्रजभाषा-कवि उत्पन्न हुए।

## चंडीदास के काव्य में राधा

बंगाल के प्रसिद्ध भावुक कवि चडीदास के गीतो में राधा का विलक्षण रूप चित्रित हुआ है। परकीया रूप से राधा का वर्णन कर चडीदास ने सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय की भावना को ही अपने पदो में पल्लवित किया है। परकीया होने के कारण उसका प्रेममार्ग अनेक प्रकार के अवरोधो से आक्रान्त है। प्रेममार्ग का अनुसरण करती हुई भी वह कभी उसका निर्विघ्न रूप मन मे नही आंक पाती। समाज की मर्यादा की रक्षा करते हुए कृष्ण का प्रेम पाना उसका लक्ष्य है, अतः पद-पद पर भय, आशका, त्रास, लज्जा आदि भावो से वह घिरी रहती है। कभी कलक से लाछित होने का भय सामने रहता है तो कभी मिलन की आकाक्षा के कारण उद्विग्नता से वह अधीर हो उठती है। सयोग के क्षणो में भी उसे भावी वियोग के कारण आत्यन्तिक आनन्दानुभूति नही होती। चडीदास ने जिस राधा की अवतारणा अपने गीतो मे की है वह अत्यधिक कोमल, करुण एव भावुक है। किसी वासना-कामना से प्रेरित होकर वह श्रीकृष्ण के पास नही आई वरन् अपने अन्तर में सुलगती हुई समर्पण की तीव्र अनल शान्त करने के लिए ही वह इस मार्ग पर अनजाने आ पहुँची है। यह कहा जाता है कि परकीया भाव मे प्रेम अपनी चरम उत्कट स्थिति पर होता है अत सद्-असद् विवेक नहीं रहता। किन्तु चडीदास की राधा में अद्भुत सयम और सयम-अवहेला दोनो ही दृष्टिगत होते हैं। अपने आभ्यन्तर आन्दोलन को वह इन शब्दो में व्यक्त करती है—

> "घरे गुरुजन, ननदी, दासन, विलवे वाहिर है नू।
> अहा भरि भरि, संकेत करि, यतना यातना दिनू।"

चडीदास ने राधा को प्रेम का पुनीत आदर्श माना है। कृष्ण के प्रति राधा का जो आसक्ति-भाव है वह संसार के समस्त जड़-जंगम से पृथक् होकर ऐकान्तिक रूप से कृष्ण में ही स्थिर हुआ है। परकीया होने पर भी उसे किसी और से—अपने सामाजिक बंधन के नाम पर विवाहित पति से भी—लेशमात्र परिचय नही है। इसीलिए कृष्ण में ही पति-भाव स्थापित करती हुई वह पुकार उठती है—"तुम मोर पति, तुम मोर पति, मन नाहिं आन भय।" संसार के शाश्वत सम्बन्धो में जल और मीन का उदाहरण प्रसिद्ध है। राधा उसी

१—'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल–संस्करण सं० १९९९, पृष्ठ १७८।

उपमान को अपने प्रेम-प्रसग में उदाहृत करती हुई कहती है :—

एमन पीरित कमु देखि नाइ शुनि,
पराणे पराण बांधा आपनें आपनि।
दुहुँ कोरे दुहुं कांदे विच्छेद भाविया,
आध तिलना देखलि चाय में मारिया।
जल विनु मीन जनु कवहु न जीये,
मानुखे एमन प्रेम कभुना देखिए॥

चडीदास ने राधा का चित्र प्रस्तुत करते समय किसी गहन दार्शनिक भाव का आरोप नही किया है। परकीया नायिका का वह रूप रखा है जो उत्सर्ग और समर्पण के द्वारा अपने प्रियतम नायक में ही सब कुछ देखती और पा लेना चाहती है। यदि चडीदास के अन्तर्मन में किसी गूढ आध्यात्मिक भावना का भार होता तो प्रेम की ऐसी दिव्य छटा उनके गीतो में कदापि प्रस्फुटित न होती। विरहासक्ति के द्वारा योगिनी राधा का जो रूप चडीदास प्रस्तुत कर सके वह 'व्रजबुलि साहित्य' का प्राणाधार है।

"चडीदास की राधा एक विशुद्ध बगाली कवि की मानस-प्रतिमा है—बगाली कवि के चित्त में धृत प्रेम प्रतिमा है। प्रेम की प्रतिमा इस राधा को हम देखते हैं कि बगाली कवि बगाल को छोडकर वृन्दावन नही चले गए, वृदावन की भूमि दूर से आकर क्षण-क्षण पर बगाली कवि की मनोभूमि में प्रतिष्ठित हुई है। ×××। हमारे राधा-प्रेम में प्राकृत कही भी अस्वीकृत नही हुई है—प्राकृत ही धीरे-धीरे दिव्यभूमि में उद्भासित हुई है।"[1]

चडीदास की राधा-कल्पना में एक विलक्षणता और दृष्टिगत होती है जो अन्यत्र कही नही है। समस्त पौराणिक साहित्य मे राधा के पिता का नाम वृषभानु और माता का नाम कीर्त्तिदा या कलावती मिलता है। किंतु चडीदास ने राधा के पिता का नाम सागर और माता का नाम पद्मा लिखा है। इस विपर्यय का कारण स्पष्ट है। चडीदास की वैष्णव-भावना विष्णु और लक्ष्मी के शाश्वत सम्बधो से दूर नही जाती, अत वे राधा को भी लक्ष्मी ही समझकर उसके पिता का नाम सागर—अर्थात् समुद्र जहाँ लक्ष्मी का जन्म हुआ था, और लक्ष्मी की उत्पत्ति कमल से मानी जाने के कारण माता का नाम पद्मा मानते हैं। यह कल्पना विष्णु और लक्ष्मी का ही आधार लेकर चली है।

## विद्यापति के पदों मे राधा

विद्यापति, चडीदास के समकालीन माधुर्यभाव के सरस कवि हैं। विद्यापति की पद-रचना का आदर्श जयदेव की कोमल-कात पदावली के अनुसरण में ढूंढा जा सकता है। जयदेव ने राधाकृष्ण की केलि-लीलाओ मे अपने काव्य का प्रारम्भ किया है किंतु विद्यापति ने राधा को वय सधि के देहली पर खडा करके मुग्धा भाव की अनुपम सृष्टि की है। वह वय सधि-प्रसग काव्य की दृष्टि से जहाँ रस-सृष्टि में सहायक है वहाँ राधा के भोलेपन के

---

१ श्री राधा का क्रम-विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ ३१३।

चित्रण के साथ उसकी मन स्थिति का भी आभास देता है। राधा को मुग्धावस्था में चाचल्य की साकार प्रतिमा बनाने के लिये, उसके व्यवहार में मादकता की सृष्टि करने के लिए यह आवश्यक था कि उसे इस वय सन्धि में प्रस्तुत किया जाय। इस चित्रण के कारण विद्यापति की राधा में प्रेम की प्रखरता कम और विलास की मात्रा अधिक हो गई है। नवानुराग के लिए औत्सुक्य-विधान करके राधा को न तो नायिका पद से हटाया गया है और न उसे भक्ति-क्षेत्र के अनुकूल ही बनाने की ओर ध्यान दिया गया है। शील और आचरण की भारतीय मर्यादा का उल्लंघन उसके लिए सहज है। वह परकीया प्रतीत नही होती। मान, अभिसार, दूती, मिलन आदि प्रसगो मे वह स्वकीया के अधिकारो का पूरा-पूरा उपयोग करती है। अत' उसमें गाभीर्य की न्यूनता आ जाती है। अज्ञात दिशा मे पख फैलाकर उडने वाले पक्षी की भाँति उसकी स्थिति है। नवविवाहिता से भी उसकी समता हो सकती है। इसी कारण विद्यापति की राधा मे शारीरिक पक्ष प्रधान माना जाता है। जो कुछ मन में है उस सबको व्यक्त करके वह अपने प्रियतम कृष्ण से सब कुछ पा लेने की उतावली में रहती है। कुछ पदो में गाथा सप्तशती के शृङ्गारपरक भावो की छाया है जो इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं कि विद्यापति ने अपने शृङ्गार-चित्रण में भक्ति की मर्यादा का नही वरन् सभोग शृङ्गार की रसमयी रचनाओ का आश्रय लिया है। कुछ विद्वान् विद्यापति के विरह-वर्णन को परकीया-भाव की अभिव्यक्ति मानते हैं। चैतन्य का विद्यापति के पदो पर रीझना भी उनके परकीया भाव के कारण समझा जाता है। किंतु यह बात तर्क और युक्ति की कसौटी पर खरी नही उतरती। विद्यापति ने यदि अपने आश्रयदाता राजा शिवसिंह और लखिमादेवी को कृष्ण और राधा माना है तब परकीया-भाव कहाँ टिकता है। यदि कृष्णभक्ति के पक्ष में ही इन पदो को लगाया जाय तब भी जीवात्मा का क्षणिक वियोग ही मानना संगत होगा। परकीया भाव के लिए तो वहाँ भी गुंजायश नही है।

कुछ भी हो, विद्यापति ने राधा को साहित्यिक शैली से भक्ति-क्षेत्र मे पहुँचाया है और शृङ्गार के उन्नयन की दिशा मे अपनी शक्ति-सीमाओ के भीतर रहकर ही प्रयत्न किया है। 'विद्यापति और चडीदास की राधा की तुलना कवि-कुलगुरु रवीन्द्रनाथ ने इस प्रकार की है—"विद्यापति की राधिका मे प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है, इसमे गम्भीरता का अटल स्थैर्य नही है, है केवल नवानुराग की उद्भ्रात लीला और चाचल्य। विद्यापति की राधा नवीना है, नवस्फुटा है। हृदय की सारी नवीन वासनाएँ पख फैलाकर उड़ना चाहती हैं, पर अभी मार्ग का बोध नही। कुतूहल और अनभिज्ञतावश वे जरा अग्रसर होती हैं, फिर सिकुडे, आँचल की ओट में अपने एकात कोमल घोसलो मे फिर आती हैं। कुछ व्याकुल भी है, कुछ आशा-निराशा का आन्दोलन भी है, किंतु चंडीदास की राधा में जैसे नयन चकोर मोर जिते करे उतरोल' भाव नही है। कुछ-कुछ उतावलापन अवश्य है। नवीना का नया प्रेम जिस प्रकार मुग्ध, मिश्रित, विचित्र और कुतूहलपूर्ण हुआ करता है उससे इसमें कुछ भी कमी नही है। चडीदास गम्भीर और व्याकुल हैं, विद्यापति नवीन और मधुर। दीनेश बाबू कहते हैं—विद्यापति-वर्णित राधिका कई चित्रपटो की समष्टि

हैं। जयदेव की राधा की भाँति इसमें शरीर का भाग अधिक है; हृदय का कम। परतु विरह में पहुँचकर कवि ने भक्ति और विरह का गान गाया है। उसके प्रेम में बंधी हुई विलास-कलामयी राधा का चित्रपट सहसा सजीव हो उठा है। विद्यापति की राधिका बडी सरल, बडी अनभिज्ञा है। चँडीदास की राधा प्रथम ही उन्मादिनी वेश में आती हैं, प्रेम के मलय समीर में उनका विकास हुआ है। इसके बाद प्रेम की विह्वलता, कितना कातर अश्रुमपात, कितना दुखनिवेदन, कितनी कातरोक्ति! प्रेम के दुख का परिशोध है अभिमान, किंतु वह तो केवल आत्मवचना है। चडीदास की राधा में मान करने की क्षमता भी नही है। दसो इन्द्रियाँ तो मुग्ध हैं मन मान करे कैसे? यह अपूर्व तन्मयता है।"[1]

## वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों मे राधा

माधुर्य-भक्ति को स्वीकार करने वाले वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायो में राधा का स्थान अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण विष्णु के अवतार माने जाते हैं और उनकी पत्नी के रूप में रुक्मिनी का नाम प्रसिद्ध है। रुक्मिनी के अतिरिक्त कृष्ण की अन्य पत्नियो के नाम भी पुराण-ग्रथो में पाये जाते हैं, फिर राधा का नाम ही क्यो कृष्ण के साथ इतने अधिक सम्मान और पूज्य बुद्धि के साथ ग्रहण किया जाता है—यह विचारणीय है। राधा को कृष्ण की वामाग-सम्भूता कहा जाता है और साथ ही उनकी 'ह्लादिनी शक्ति' भी माना जाता है। एक ओर वह समस्त लीलाओ की सचालिका है तो दूसरी ओर कृष्ण द्वारा आराध्या भी है। इस विलक्षण स्थिति पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकालना असगत प्रतीत नही होता कि कृष्ण के विष्णु-रूप की माधुर्य-भाव से कल्पना करते समय उसे केवल ऐश्वर्य-मडित ही न मानकर माधुर्य-मडित भी माना गया और इस भाव की परिकल्पना ने राधा-भाव को पूर्ण विकास पर पहुँचाया। वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायो के अतिरिक्त शैव एव शाक्त मत में भी राधा की रूपान्तर से कल्पना मिलती है किन्तु हम यहाँ केवल माधुर्य-भक्ति से सम्बद्ध, चैतन्य, निम्बार्क, और राधावल्लभीय सम्प्रदायो पर ही विचार प्रस्तुत करेंगे। अन्य सम्प्रदायो का विवरण इस सदर्भ में अनावश्यक समझकर छोड दिया गया है। सहजिया सम्प्रदाय भी अपने को वैष्णव ही कहता है किन्तु उसमें माधुर्य का रूप मर्यादा-विहित नही है। वामाचार-पद्धति के सम्मिश्रण से सहजिया वैष्णवो की भावना शाक्तमत के मेल में अधिक है, वैष्णवों की निष्ठा-भावना तथा भागवत-परम्परा का उनमें निर्वाह नही है। हाँ, राधा की परकीया भाव से उपासना की जो परिपाटी इस सम्प्रदाय में प्रचलित है उसका साराश हमने चैतन्य सम्प्रदाय के अतर्गत सक्षेप मे प्रस्तुत किया है। सहजिया सम्प्रदाय की राधा-भावना का परवर्ती युग में अव्यक्त प्रभाव भक्ति-पद्धति पर दृष्टिगत होता है अत. उस पर हमने यत्किंचित् प्रकाश डालने की चेष्टा की है।[2]

---

१ सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १०१ से उद्धृत। (द्वितीय सस्करण)

2 The post-chaitanya Sahajia cult by Manindramohan Bose Calcutta University Press 1927

## चैतन्य-सम्प्रदाय में राधा

चैतन्य महाप्रभु के जीवन की प्रमुख घटनाओं में उनका राधाकृष्ण-प्रेम कदाचित् सबसे बड़ी घटना मानी जायगी क्योंकि इसी अद्भुत प्रेम ने उन्हे धार्मिक क्षेत्र मे समर्थ क्रान्ति-दूत के रूप मे प्रस्तुत किया है। चैतन्य के उद्भव काल मे बंगाल, आसाम तथा बिहार मे शाक्तमत का प्राबल्य था। शक्ति-पूजा के नाम पर जो भीषण एवं दुर्दान्त कृत्य हो रहे थे, जनता को उनसे विमुख करने में चैतन्य देव की कीर्त्तन, भजन और पद-गायन की परिपाटी ने चमत्कारपूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया। चैतन्य के विषय में प्रसिद्ध है कि वे स्वयं चडीदास और विद्यापति के पदो का उन्मत्त भाव से गान करते हुए उनमे लीन हो जाते थे। उनकी तल्लीनता का आवेश भक्ति के निर्झर का उत्स बनकर उन्हे ही नही समस्त परिकर और परिवेश को भी उसी भक्तिरस में निमज्जित कर देता था। यह भी प्रसिद्ध है कि चैतन्य महाप्रभु को दक्षिण की यात्रा में दो ग्रंथ उपलब्ध हुए थे जिनका नाम ब्रह्म-संहिता और कृष्णकर्णामृत है। ये दोनो ग्रंथ चैतन्य महाप्रभु को परम प्रिय थे और वे उन्हे राधाभक्ति की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण समझते थे। इन दोनो ग्रंथो में राधा का नाम ही नही वरन् राधा का वर्णन भी बताया जाता है। चैतन्य को राधा-भक्ति की जो परपरा अपने से पूर्ववर्त्ती सस्कृत तथा 'ब्रजबुलि' साहित्य से मिली थी उसे उन्होने सर्वतोभावेन स्वीकार किया था और अपनी साधना से उसे नवीन रूप देकर व्यापक एवं सर्वजन-सुलभ बनाया था।

चैतन्य-सम्प्रदाय के 'प्रेमविलास' तथा 'भक्तिरत्नाकर' ग्रथ में इस तथ्य का उल्लेख मिलता है कि वृन्दावन में राधा की कृष्ण से साथ उपासना सोलहवी शताब्दी से पहले प्रचलित नही थी। जब नित्यानन्द प्रभु की द्वितीय पत्नी जाह्नवी वृन्दावन गईं और उन्होंने देखा कि वृन्दावन में श्रीकृष्ण के साथ राधा की पूजा नही होती तब उन्होने नयन-भास्कर नामक व्यक्ति से राधा की मूर्ति तैयार कराकर वृन्दावन में भेजी और वह मूर्त्ति जीव गोस्वामी के निर्देश पर श्रीकृष्ण के साथ स्थापित की गई। इससे पूर्व विष्णु की या बालकृष्ण की ही पूजा होती थी और उसी की मूर्त्ति रहती थी। इसमे कितना सत्य है, यह नही कहा जा सकता। राधा की पूजा से पहले बालकृष्ण की पूजा का प्रचार था यह तो सभी स्वीकार करते हैं, किंतु यह भी सत्य है कि राधाकृष्ण की युगल उपासना का रूप भक्ति-क्षेत्र में आठवी शताब्दी में विदित था। अत. प्रेम-विलास ग्रथ की उक्त चर्चा सदिग्ध ही समझनी चाहिए। प्रेम-विलास ग्रंथ वैसे भी प्रामाणिक कोटि का ग्रंथ नही है, उसमें प्रक्षिप्ताश का बाहुल्य ही पाया जाता है।

### परकीया-भाव

चैतन्य-सम्प्रदाय मे राधा का वर्णन परकीया कान्ताभाव से किया गया है। राधा का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत करने वाले श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' ग्रंथो मे जिस रूप में राधा का वर्णन किया है वह परवर्त्ती माधुर्य-भावपरक भक्ति-सम्प्रदायो मे अनेक रूपो में स्वीकृत और समादृत हुआ है। राधा को

परकीया रूप में वर्णन करने का मुख्य प्रयोजन प्रेमातिशय विधान कहा जाता है ।[1] परकीया भाव के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद भक्ति-सम्प्रदायो में पाये जाते हैं। परकीया भाव को प्रेम की चरम उत्कर्ष-स्थिति मानते हुये भी मर्यादावादी समाज में यह पद्धति सर्वतोभावेन ग्राह्य नही होती। परकीया भाव के सम्बन्ध में प्रारम्भ मे ही तर्क-वितर्क उठते रहे हैं और इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नही हो सका। जीव गोस्वामी ने किस रूप में परकीया भाव को ग्रहण किया था और परवर्ती काल में वह परमतत्त्व के रूप में क्योकर स्वीकृत हुआ यह भी विवाद का प्रश्न बना हुआ है। डा० शशिभूषणदास गुप्त ने अपने ग्रन्थ में इस प्रश्न पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"जीव गोस्वामी के परवर्त्ती काल में परकीयावाद परमतत्त्व के रूप में ही स्वीकृत हुआ है। परवर्त्ती काल के लेखको ने जीव गोस्वामी को भी परकीयावादी सिद्ध करने की चेष्टा की है। हमने चैतन्यचरितामृतकार कृष्णदास कविराज के परकीया-तत्त्व समर्थन की बात लिखी है। परवर्तीकाल के पडित विश्वनाथ ने भी अपनी दार्शनिक दृष्टि मे इस परकीया मत को प्रकट और अप्रकट दोनो लीलाओं में ही एक समान प्रमाणित करने की चेष्टा की है। यदुनन्दनदास के नाम से प्रचलित कर्णानन्द ग्रथ में इस परकीयावाद की स्थापना जीव गोस्वामी का असल उद्देश्य है, यह सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। परवर्ती काल में स्वकीया-परकीयावाद के सम्बन्ध में वितर्क-सभा हुई थी और उसमें युक्तितर्क के द्वारा परकीयावाद की ही प्रधानता स्थापित हुई थी ऐसे कुछ तथ्यो का पता चलता है। इन तथ्यो की प्रामाणिकता सशयातीत नही है।"

"तत्त्व की दृष्टि के अलावा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने से इस परकीयावाद की प्रतिष्ठा के बारे में दो प्रधान कारण मालूम होते हैं। पहला कारण है—बगाल का वैष्णव धर्म और साहित्य मुख्यत राधा-कृष्ण की प्रेमलीला का आलम्बन करके रस-समृद्ध है। जयदेव के बाद चडीदास और विद्यापति और उनके बाद के अगणित वैष्णव कवियो ने राधाकृष्ण की सूक्ष्म, असख्य विचित्रताओं के साथ रचनाएँ प्रस्तुत की हैं। इन सभी काव्य-कविताओं के भीतर से राधा का परकीयापन साहित्य में इस तरह से प्रतिष्ठित हो गया था कि तत्त्व की दृष्टि मे उसे अस्वीकार करने या केवल श्रद्धा मे ढक रखने की सूरत नही थी। परकीया को केवल कायिक मान लेने मे तो राधाकृष्ण की प्रकट लीला ( जो मुख्यत वैष्णव साहित्य का उपजीव्य है ) प्राणहीन हो जाती।"

"लगता है कि राधा का आलम्बन करके इस परकीयावाद की प्रतिष्ठा के पीछे तत्कालीन एक विशेष प्रकार की धर्म-साधना का प्रभाव भी था। यह है नर-नारी के युगल रूप की साधना। हिन्दू-तन्त्र, बौद्ध-तन्त्र, बौद्ध-सहजिया आदि के अन्दर से नर-नारी की युगल साधना की धारा प्रवाहित थी। वैष्णव सहजिया में आकर इस धारा ने एक विशेष रूप ग्रहण किया था। + + +। सहजिया साधना में परकीया की इस प्रधानता ने परवर्ती काल

---

द्रष्टव्य

1 उज्ज्वल नीलमणि—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ७५ से ९६ तक।

हरिभक्ति रसामृत सिन्धु—रूप गोस्वामी, पृष्ठ ४२७ लहरी ५।

में वैष्णव धर्म की राधा के परकीयापन में विश्वास को और भी दृढ किया था, ऐसा प्रतीत होता है।"[1]

## सहजियासम्प्रदाय मे परकीया-भाव

परकीया-भाव को स्पष्ट करने के लिए हम चैतन्य के पश्चात् बगाल मे जो सहजिया सम्प्रदाय विकसित हुआ उसके परकीया-सम्बन्धी मन्तव्यो का सक्षेप मे उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं। सहजिया सम्प्रदाय का परकीया-भाव चैतन्य के परकीयाभाव से सर्वतोभावेन साम्य नही रखता। उनकी परकीया की परिकल्पना साधना-परक होने से नवीन दिशा का सकेत देती है किन्तु परकीयात्व के मूल भाव में उन्होने चैतन्य से बहुत कुछ साम्य रखा है। अपने सिद्धान्त प्रतिपादन में भी उन्होने उज्ज्वल नीलमणि आदि ग्रथो का आश्रय लिया है। श्री मणीन्द्रमोहन वसु ने अपने 'पोस्ट-चैतन्य सहजिया कल्ट' नामक ग्रंथ में परकीया-भाव का रूप स्थिर करते हुए चैतन्य के शिष्य वर्ग के ग्रथो का प्रचुर मात्रा मे उपयोग किया है जो इस बात का द्योतक है कि परकीयाभाव का मूल स्रोत चैतन्य के मत के सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाले ग्रथो मे ही है।

परकीया का शाब्दिक अर्थ है दूसरे की ( स्त्री )। काव्यशास्त्र में परकीया का अर्थ है—

रागेणैवार्पितात्मानो लोकयुग्मानुपेक्षिणा।
धर्मेणास्वीकृता यास्तु परकीया भवन्ति ता.॥

उज्ज्वल नीलमणि (हरिवल्लभा) पृष्ठ ५२।

परकीया वह स्त्री है जो इस लोक या परलोक को छोडकर उस पुरुष के प्रेम में लिप्त है जिसके साथ वह विधिपूर्वक विवाहित नही है। इसके विपरीत स्वकीया उसे कहते हैं जो विधिपूर्वक एक पुरुष के साथ विवाहित है और जो अपने पति की इच्छाओ को पूर्ण करने में तत्पर रहती है :

'करग्रहविधिप्राप्ता. पत्युरादेश तत्परा'।
पातिव्रत्यादविचला. स्वकीयाः कथिता इह॥

—उज्ज्वल नीलमणि (हरिवल्लभा) पृष्ठ ४९।

परकीया-भाव को मानने वाले वेद और उपनिषद् से इसका सम्बन्ध जोडते हैं। ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी मे बौद्धमत में भी परकीया-भाव का अनुसधान कर लिया गया है। इतना ही नही वेद-प्रामाण्य के लिए अथर्ववेद का यह मत्र प्रस्तुत किया जाता है—

या पूर्वं पति विस्त्वाथान्य विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषत.॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः।
यो जं पञ्चौदनं दक्षिणा ज्योतिष ददाति॥

—अथर्ववेद—९, ५, २७-२८

अर्थात् परकीया के सम्पर्क से मनुष्य परलोक में भी वैसा ही जीवन व्यतीत करता

---

१. श्री राधा का क्रम-विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृष्ठ २३५-३६।

है। जो स्त्री अपने पूर्वपति के अतिरिक्त यदि दूसरा कोई पति स्वीकार कर लेती है तब इसके वियोग न होने के लिए उसे अजपचोदन संस्कार करना चाहिए, यदि वह भी ऐसा ही करता है तो मृत्यु के बाद वे दोनो एक ही लोक में जाते हैं। परकीया-सम्बन्ध मे स्वर्ग-प्राप्ति तक का विधान इस प्रकार खोज निकाला गया है।

हिन्दू-तन्त्र के आधार पर परकीया-भाव का सबसे प्रबल समर्थन किया जाता है। किन्तु ये तन्त्रग्रंथ बहुत अर्वाचीन प्रतीत होते हैं। अत इनको विशेष महत्व नही दिया जा सकता।

चैतन्य-सम्प्रदाय में प्रतीकात्मक परकीया-भाव की स्वीकृति है। सहजिया सम्प्रदाय में इन्द्रियो के संस्कारार्थ परकीया-भाव माना जाता है। चैतन्य सम्प्रदाय में परकीया-भाव का ग्रहण काम-सम्बन्धों के आधार पर न होकर शुद्ध आध्यात्मिक धरातल पर इस भाव का प्रतिपादन किया गया है। राधा ईश्वर-प्रेम का आदर्श है। सामाजिक सम्बन्धो की अवहेलना करके राधा ईश्वर-प्रेम में लीन रहती है—यही परकीयात्व का आदर्श है। परकीया-प्रेम के प्रसग में कैशोर का विधान किया गया है। 'चैतन्य चरितामृत' में कृष्णदास कविराज लिखते हैं कि गोपियो का सहज प्रेम ऐन्द्रिय सुख-भ्रान्ति नही होनी चाहिए। पूर्ण साधर्म्य के लिए परकीया-भाव के प्रेम की कल्पना का तात्पर्य कामेन्द्रिय-तृप्ति नही है। चैतन्यमत में गृहीत परकीयाभाव लौकिक परकीयात्व का भाव न होकर अलौकिक है। राधा के दिव्य परकीयात्व को स्पष्ट करने के लिए 'रागमय कण' तथा 'रससारग्रंथ' मे लिखा है—'राधा सच्चिदानन्द के आनन्द की प्रतीक है जो कृष्ण में भी है। यद्यपि वे दोनो (राधाकृष्ण) एक हैं तथापि उन्होने भिन्न होकर लीलाएँ की हैं। कृष्णदास कविराज तो चैतन्य को कृष्ण का अवतार मानते हैं और उनके अनुसार राधा कृष्ण के अखड आनन्द का अंश है इसीलिए उसे ईश्वर की ह्लादिनी शक्ति कहा जाता जाता है—इस शक्ति को सासारिक रूप मे हृदयगम करने के लिए राधा और कृष्ण विवाहित नही थे। ऐसी कल्पना कर ली गई है किन्तु यह सब यथार्थ में कुछ नही है। उज्ज्वल नीलमणि के अनेक मार्मिक प्रसगो के अनुशीलन से एक और तथ्य स्पष्ट होता है कि लौकिक रूप में परकीयाभाव का जैसा रूप समाज में गृहीत होता है उसे वैष्णव भाव मे स्थान नही है। उनकी दृष्टि में सासारिक परकीया-भाव तो सर्वथा दूषित ही रहा है और रहेगा। अत भक्त को इसे तात्विक अर्थ में समझना चाहिए। लौकिक काम-प्रेम की सीमा में परकीयात्व का बोध नहीं हो सकता।

## परकीया-भाव मे विकृति

वैष्णव भक्तों ने परकीया प्रेम को जिस तात्विक अर्थ मे ग्रहण किया था उसे परवर्ती सहजिया सम्प्रदाय मे सर्वथा परिवर्तित कर दिया गया। वैष्णव भक्त व्रज में ही परकीया-भाव स्वीकार करते थे। उनकी मान्यता थी कि व्रज की गोपियाँ सामान्य कोटि की भक्त न होकर दिव्य-गुणोपेत देवियाँ हैं। उनका कृष्ण-प्रेम भी दिव्य है जिसमें परकीयात्व का प्रभाव नष्ट हो जाता है। सामान्य जनता के लिए इसे विधेय नही ठहराया गया। किन्तु परकीया-भाव का विस्तार करते हुए सहजिया वैष्णवों ने इसे लौकिक रूप में प्रस्तुत किया और राधा के

परकीया को छोड सामान्य नारियो के परकीया प्रेम का विशद रूप उपन्यस्त करके इस क्षेत्र में एक प्रकार की विकृति उपस्थित कर दी। श्री मणीन्द्र-मोहन वसु के 'पोस्ट चैतन्य सहजिया कल्ट' नामक ग्रथ मे सहजिया सम्प्रदाय की परकीया-विषयक इस धारणा का विस्तार से उल्लेख मिलता है। उसी के आधार पर हम सहजिया की परकीया भावना का सार नीचे दे रहे हैं।[1]

सहजिया वर्ग ने परकीया-भावना को शारीरिक इन्द्रियो के संस्कार के लिए स्वीकार किया। इन्द्रिय-वासना की तृप्ति इसका ध्येय वना। उनकी धारणा है कि शरीर के संस्कार द्वारा ही मन पर अधिकार पाया जा सकता है। साधक को अपनी इन्द्रियो पर विजय पाने के लिए पहले शारीरिक साधना करनी चाहिए। शरीर की चार दिशाएँ हैं :—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण। शरीर पर एक हिरण चौकसी कर रहा है। यहाँ चार सरोवर हैं, कुछ लोग आठ सरोवर भी मानते हैं। शरीर की आध्यात्मिक व्याख्या करने के लिए नाना प्रकार के रूपक वाँधे गये और कमल को प्रिय प्रतीक बनाया गया।

परकीया-साधना के लिए सहजिया वर्ग ने देह को वृन्दावन माना। वृन्दावन के भू-सस्थान को देह के रूपक में इस प्रकार घटित करते हैं—वृन्दाकुंज स्तन हैं, तालवन शिर है, नासिका मदनकुज और देह रस का सरोवर है। यह ही उनके पूर्वग्रह का उदाहरण नही है वरन् उन्होने प्रसिद्ध वैष्णव विद्वानो के कथित अश की अपनी इच्छानुसार रहस्यसाधना-परक व्याख्या की है। 'चैतन्य चरितामृत' मे कहा गया है कि प्रेम के पथ पर बिना सखी या गुरु के सफलता नही आती। सहजिया इसको इस प्रकार ग्रहण करते हैं कि बिना 'प्रकृति' या 'मजरी' का सम्पर्क किए प्रेम की साधना नही हो सकती और यह प्रकृति या मजरी स्त्री का पर्याय है। जब 'चरितामृत' मे कहा गया कि सभी भावों में शृङ्गार आनन्दमय है, गौराग ने भी आध्यात्मिक मुक्ति के लिए इसे स्वीकार किया है। (सहजिया कहते हैं कि) तब बिना शारीरिक रति के ईश्वर का उत्थान नही हो सकता। इन्होंने यह भी कहा कि प्रत्येक गोस्वामी के पास एक मजरी थी जिससे वे प्रेम के संस्कार प्राप्त करते थे, इनके अनुसार रूप गोस्वामी मीरा से प्रेम करते थे, रघुनाथ भट्ट करनवाई से, सनातन लखहीरा से, लोकनाथ एक चाण्डाल लडकी से, कृष्णदास कविराज एक ग्वालिनि से, और जीव गोस्वामी एक नाई की स्त्री से प्रेम करते थे; गोपाल भट्ट गौरीप्रिया और राव रामानंद देवदासियो से। चण्डीदास रामी से और विद्यापति राजा शिवसिंह की पत्नी लखिमादेवी से प्रेम करते थे। जयदेव और पद्मावती का सबध यद्यपि विवाह से स्थापित हुआ था तब भी वह परकीया-प्रेम के उदाहरण-रूप मे प्रस्तुत किया जाता था। वैष्णव गुरुओ के प्रति भी इन्होंने जो कथा गढ़ी वह केवल अपने मतोक्त मैथुन को पुष्ट करने के लिए। चण्डीदास और कुछ अन्यो के लिए स्त्रियाँ प्रिय थी किन्तु उसका आधार आध्यात्मिक था स्थूल अनुराग नही। इन्ही सब व्याख्याओ के लिए सहजिया वैष्णव साधारण लोकमत में नीचे गिर गए।

---

1. *An Introduction to the Post-Chaitanya Sahajiya cult*—by Manindramohan Bose, Page 24-43.

परकीया-प्रेम शरीर के सस्कार के लिए विशेष रूप से अपनाया गया । परकीया-प्रेम मनुष्य के हृदय में रति जाग्रत कर उसे निर्मल बनाता है। यह रति ही प्रेम, स्नेह, प्रणय, राग की अवस्था को पार कर महाभाव में बदल जाती है। रति सभी मनोभावो की जननी है। काम मनुष्य का सबसे बडा शत्रु है। हिंदू शास्त्र इसको तप द्वारा रोकने का आदेश देते हैं। वैष्णव ईश्वर का अनुभव करने के लिए इस शक्ति का उपयोग करते हैं। और तब लोभ और मोह कृष्णार्पित हो जाते हैं। स्त्री को भी अधकारमय कहा गया है । महाभारत और योगवशिष्ठ रामायण में पूरा अध्याय ही स्त्री के दुर्गुणो पर लिखा गया है । साधक अपनी कमजोरी समझ कर ही स्त्री से दूर भागता रहा है। किंतु सहजिया का दूसरा मार्ग है। वे कुछ धार्मिक कृत्य करते हैं जो उनके शास्त्रो में लिखे हुए है। ऐसी रहस्य-साधना में एक यह है कि वे किसी सुन्दरी को चुनते हैं, उसके चरणो मे चार मास तक उसे बिना छुए पड़े रहते हैं और उतनी ही अवधि तक उसके आलिगन मे बिना कामातुर हुए सोते हैं। इसे स्त्री-सहवास की क्रिया कहा जाता है। इस प्रकार तथा कुछ अन्य अभ्यास से काम शात हो सकता है जैसा कि प्राय योगी किया करते हैं किंतु सहजिया उक्त रीति के सुधारो को पूर्ण मानता है और इसी कारण उनके मत में परकीया का ग्रहण प्रामाणिक ठहराया जाता है।

परकीया के पक्ष में दूसरी महत्वपूर्ण युक्ति है कि इसके द्वारा उनका चित्त भी निर्मल हो जाता है जिन्हें समाज में आदर नही मिलता। भागवत के एक श्लोक की व्याख्या करते समय श्रीधर स्वामी लिखते हैं—"ईश्वर ने ही क्यो परकीया ग्रहण की जब कि वह गर्हित थी ? क्योंकि कुछ ऐसे भी जन होते हैं जिनकी इन्द्रियाँ वासना में सम्पृक्त होती हैं अत इन लोगो के लिए धार्मिक विषयो के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए उन्ही की रुचि के अनुकूल ईश्वर ने वृन्दावन में प्रणय-लीला की।"

परकीया को स्वकीया से उत्तम बताया गया है । स्वकीया का प्रेम यद्यपि रीति-रिवाजो से पुष्ट है, शास्त्र-सम्मत भी है किंतु उसमें किंचिन्मात्र भी नवीनता नही है। उसका प्रेम मुक्त नही है अत वह नीरस हो जाता है । परकीया का अनुराग महदोल्लास का स्रोत है। मधुर रस के अतिरिक्त शात, दास्य, सख्य और वात्सल्य रस भी इसी में मिलते हैं। ये पाँचों रस यद्यपि स्वकीया और परकीया दोनो में मिल सकते हैं किन्तु परकीया के वियोग की हूक स्वकीया की अपेक्षा अधिक कष्टकर होती है।

स्वकीया का सहवास अधिक रोमाचकारी नही होता क्योंकि शास्त्र-सम्मत होने से उसमे एकरसता बनी रहती है। किंतु परकीया सभी बधनो से आबद्ध होने के कारण आकर्षक और सुखकर होती है।

परकीया की उत्तमता रति के वर्गानुकूल विभाजन से भी निश्चित की गई है। सामर्थ्य रति का अनुभव गोपियो ने कृष्ण-प्रेम में किया था अत वह सामजस्य रति से उत्तम है जो केवल पति-पत्नी मे ही होती है। परकीया सामर्थ्य रति है। स्वकीया का प्रेम तो सादृश्यमात्र है। "चडीदास के अनुसार प्रत्येक को परकीया ग्रहण करनी चाहिए क्योंकि वह सर्वोत्तम है। डा० टी० सी० सेन ने सहजिया स्त्री के कथन का इस प्रकार वर्णन किया है—"स्वकीया के सम्मुख सीता-सावित्री का आदर्श रहता है परम्परा के शास्त्रो के बधन में बँध जाती है। उस

लोक के सुख का आग्रह रहता है किंतु परकीया प्रेम के क्षेत्र में सब कुछ भूल जाती है। लोग उसे भला-बुरा कहते हैं किंतु वह इन सबके प्रति उदासीन है। इस परीक्षा मे उसकी विजय होती है जो बारहवर्णी सोने से अधिक पवित्र होती है। राधा ने इसी का अनुसरण किया था अत', उसका प्रेम अप्रतिम है। प्रेम ही सब कुछ है, परकीया के प्रेम से गंभीर और कोई प्रेम नही। इस प्रकार के प्रेम के अनेक दृष्टात प्रस्तुत किये जाते हैं। 'रत्नसार' के लेखक ने एक कथा द्वारा परकीयात्प्रेम को सर्वोत्तम सिद्ध किया है। पूर्व अनुराग मे आवद्ध होने पर भी जब राजकुमार और राजकुमारी का परिणय हो गया तब उनके प्रेम की तीव्रता घट गई। यह परिवर्तन परकीया से स्वकीया होने पर हुआ। इन सिद्धान्तो पर आश्रित धर्म साधारण जन के लिये अत्यन्त आकर्षक हुआ इसलिए सहजिया को सर्वसाधारण लोक ने अधिक ग्रहण किया जिनमें यह आजकल भी प्रचलित है।"[1]

जिस परकीया-भाव का हमने ऊपर की पक्तियो में विवेचन किया है वह माधुरी भक्ति के वैष्णव सम्प्रदायो में स्वीकृत नही हुआ। यथार्थ में राधा के साथ इस प्रकार के परकीयात्व की स्थिति को कोई भक्त ग्रहण भी नही कर सकता। काय-साधना के लिए परकीया-भाव राधा-भाव के साथ किसी प्रकार का तादात्म्य नही रखता अत. दोनो को एक कोटि में रखकर परखने की भूल नही करनी चाहिए। दोनो का भेद स्पष्ट करने के लिए ही हमने इस विषयान्तर को स्वीकार किया है।

चैतन्य मत में राधा के काता-भाव की स्वीकृति तो है किन्तु उसमें परिणय का सबध नही माना गया, यही परोक्ष रूप से परकीयात्व की स्वीकृति है। चैतन्य चरितामृत में कृष्णदास कविराज ने कांताप्रेम के उत्कृष्टतम रूप परकीया रति को स्थिर किया है—

**"परकीया भावे अति रसेर उल्लास, व्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि वास।**
**व्रजवधू गुणेर एइ भाव निरवधि, तार मध्ये श्रीराधार भावेर अवधि॥**

**—चैतन्य चरितामृत, आदिलीला, चतुर्थ परिच्छेद।**

अब प्रश्न यह है कि इस सम्प्रदाय में राधा-माधव में से किसको प्रमुख माना जाता है। क्या गौड़ीय भक्ति मे राधा का प्राधान्य चैतन्य के काल से इसी रूप मे चला आ रहा है या परवर्ती काल मे राधा का विशेष रूप से वर्णन हुआ। इस सबध में विद्वानो में मतभेद है। षट्सदर्भ के अनुसार इष्टदेव का स्वरूप तो कृष्ण में ही स्थित होता है, राधा में नही। चैतन्य चरितामृत भी कृष्ण को ही इष्टदेव बताता है।

श्रीकृष्ण को परतत्त्व और अद्वय ज्ञान बताते हुए सर्व अवतारी और समस्त सृष्टि का प्रधान कारण कहा है। वे अनंत वैकुण्ठो के, अनत अवतारो के और अनत ब्रह्माडो के आधार हैं। कृष्ण व्रजेन्द्रनदन हैं, सच्चिदानंद-रूप हैं, सर्वैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् और समस्त रसो से पूर्ण हैं। वे ही एकमात्र तत्त्ववस्तु हैं। वे पूर्ण भगवान् हैं और व्रजेन्द्रकुमार

---

1. The Post-Chaitanya Sahajiya cult—by Manindramohan Bose
Page 43.

हैं। वे व्रज में गोलोक सहित विहार करते हैं। वे अवतारी नही, स्वय भगवान् हैं । अन्य अवतार उनके कला-अशमात्र है।[1]

कृष्ण का यह अद्वय ज्ञान-तत्त्व वस्तु का स्वरूप ही प्रकाशपुञ्ज से ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् तीन रूप धारण करता है।[2]

श्री सुशीलकुमार डे ने अपने शोध ग्रथो में चैतन्य सम्प्रदाय मे राधा का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए जीव गोस्वामी के षट्सदर्भ ग्रथ का विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। 'श्रीकृष्ण सन्दर्भ' की विषयवस्तु को हृदयगम कर लेने पर यह निर्धारण करना कठिन नही रहता कि चैतन्य के मत में राधा की प्रधानता नही है । भक्ति का आलम्बन श्रीकृष्ण हैं। उसी को रूप गोस्वामी ने अपने ग्रथो में स्वीकार किया है और जीव गोस्वामी ने भी उसी मत का विस्तार किया है। शक्ति और शक्तिमान का भेद स्थापित करते हुए राधा को कृष्ण की नित्यशक्ति ही माना है तथा ह्लादिनी शक्ति का वह सर्वश्रेष्ठ रूप है। 'पूर्णात्मा' भागवत् कृष्ण ही हैं। राधा उनका अशमात्र है जो भक्ति द्वारा स्वय पूर्णात्मा में लीन होने की साधना करती है। शक्ति और शक्तिमान को यद्यपि इतना अभिन्न स्वीकार किया गया है, उनमें तात्त्विक दृष्टि से भेद होने पर भी प्रत्यक्ष में कोई भेद नही रहता। श्री राधा का प्रेम मादनाटक महाभाव तक उन्नत है, परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप में मादनाटक महाभाव की अभिव्यक्ति नही है। जैसे श्रीकृष्ण अखड रस-रूप हैं, श्री राधा भी उसी तरह अखड रसवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण जैसे स्वय भगवान् हैं—वैसे श्री राधा भी स्वय शक्ति-रूपा मूलकान्ताशक्ति हैं। सोलहवीं शताब्दी मे गौडीय सम्प्रदाय में राधा को श्रीकृष्ण से ऊपर स्थान नही मिला था। शनै -शनै व्रजमडल की राधाविषयक भावना का इस सम्प्रदाय पर भी प्रभाव पडा। माधुर्य भाव का जो रूप शास्त्रीय था वह कालान्तर में स्थूल रूप में व्यावहारिक होता

---

१ स्वय भगवान् कृष्ण, कृष्ण परतत्त्व।
पूर्ण ज्ञान पूर्णानन्द परम महत्त्व॥ (चैं० च० आदि लीला परि० २ पृ० ११)
+ + +
अद्वय ज्ञान तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप। (चैं०च० आ० परि० २ पृ० १४)
+ + +
ईश्वर परम कृष्ण स्वय भगवान।
सर्व्व अवतारी सर्व्व कारण प्रधान॥ (चैं० च० फ० लौ० परि० ८ पृ० १४८)
+ + +
पूर्ण भगवान् कृष्ण व्रजेन्द्रकुमार।
गोलोके व्रजेर सह करेन विहार॥ (चैं० च० आ० परि० ३ पृ० १७)
अवतार सब पुरुषेर कला अश।
स्वय भगवान् कृष्ण सर्व्व तस॥ (चैं० च० आ० परि० २ पृ० १३)
२ अद्वय ज्ञान तत्त्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप।
ब्रह्म, आत्मा, भगवान तिन भार रूप॥ (चैं० च० आ० परि० ३ पृ० १४)

गया और इस सम्प्रदाय मे राधा की प्रधानता भी बढती चली गई। आज स्थिति यह है कि व्रज के अन्य भक्ति-सम्प्रदायो की भाँति इस सम्प्रदाय मे भी राधा की प्रधानता हो गई है।[1]

## वल्लभ-सम्प्रदाय में राधा

वल्लभ-सम्प्रदाय मे राधा का वर्णन रासलीला-प्रसङ्ग मे गोपियो के अतर्गत हुआ है। रासलीला को आध्यात्मिक दृष्टि से अन्योक्तिपरक अर्थ द्वारा समझने के लिए कृष्ण को परमात्मा और गोपी (राधा) को आत्मा कहा जाता है किन्तु रासलीला में गोपियाँ रस की सृष्टि या आविर्भाव की स्थिति सम्पन्न कराने वाली शक्ति का प्रतीक भी हैं। राधा रसात्मक सिद्धि की प्रतीक मानी जाती है। डा० दीनदयालु गुप्त ने वल्लभ सम्प्रदाय मे गोपी का स्वरूप स्थिर करते हुए लिखा है—'नित्य गोलोक में होने वाले रसरूप कृष्ण के रास की गोपिकाएँ भगवान् की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्यशक्ति है। राधा भगवान् के आनन्द की पूर्ण सिद्ध-शक्ति है। एक से अनेक भगवान् की इच्छा शक्ति द्वारा अनेक अक्षर ब्रह्म रूप से सत्-रूप जगत् और चित् रूप जीव, देवता आदि की उत्पत्ति हुई और स्वय आनन्दस्वरूप पूर्ण पुरुषोत्तम रूप से गोप-गोपी आदि गोलोक की आनन्दरूप शक्तियो की उत्पत्ति हुई। कृष्ण धर्मी है और गोपिकाएँ उनका धर्म हैं। दोनो अभिन्न हैं सिद्ध शक्ति राधा और कृष्ण का सम्बन्ध चन्द्र और चाँदनी का है। भगवान् की रसशक्तियो के बीच की रस की सिद्ध शक्ति राधा स्वामिनी-रूपा है। भगवान् रस-शक्तियो के बीच पूर्ण रसशक्ति-स्वरूपा राधा के वश में रहते हैं।'[2] इस वक्तव्य मे राधा कृष्ण की अशस्वरूपा शक्ति के रूप मे उनका अभिन्न रूप मानी गई है। यह स्पष्ट है कि गोपियो में स्वामिनी और प्रमुख होने पर भी राधा कृष्ण का अंश ही है। अशी तो स्वय भगवान् कृष्ण ही हैं।

अष्टछाप के कवियो ने गोपियो का तथा राधा का वर्णन ब्रह्मवैवर्त्त पुराण तथा

---

1 "The Shaktimat in his infinite bliss sports with his own Shaktis, in other words the godhead realises himself in his own bliss. The Shaktis are accordingly represented in terms of human relationship considered in its emotional aspects, as his consorts or wives and his devout yet sensuous attitude entirely humanises the deity, and his consorts and presents them in a loveable human relation to their associates and Devotees .. Radha, who is his eternal consort and the greatest Bhakta, is represented as the highest form of his Hladini Shakti"

+ + +

The Shaktis are non-different from the Bhagavat, in asmuch as they are parts or Amsha of the Divine Being, but the very fact that they are parts only makes the superlativeness of divine attributes inapplicable to them, and there is thus an inevitable difference.

'Vaishnava Faith & Movement in Bengal Dr. S K Dey—

—Page 214

२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५०५-६।

भागवतपुराण के आधार पर किया है। गोपी-भाव का जिन दो रूपों में विभक्त करके वर्णन किया गया है उनमें ईश्वर की आनन्दविधायिनी तथा सृष्टिकारिणी शक्ति-रूपा गोपी प्रथम कोटि में आती है दूसरी गोपी वह है जो कान्ता-भाव से ईश्वर की भक्ति करके अपने को धन्य करती है। इनके रसशक्ति तथा सिद्धभक्ता नाम भी दिये गये हैं।

सूरदास ने राधा का वर्णन आध्यात्मिक रूप में भी किया है। राधा को प्रकृति और कृष्ण को पुरुष मानकर कहीं-कहीं अभेद रूप से अद्वैत की भी स्थापना की गई है।[1]

एक-दूसरे पद में जगत्-उत्पादिका शक्ति के नाम से भी राधा का वर्णन है। अष्टछाप के कवियों ने राधा के वर्णन में वल्लभाचार्य द्वारा स्थापित शुद्ध दार्शनिक भाव ही तक अपने को सीमित न रखकर माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधा का जो रूप स्थिर हो रहा था उसे भी समेटा है। स्वकीया-परकीया की दृष्टि से अष्टछाप के कवियों ने राधा को स्वकीया के रूप में ही चित्रित किया है। सूरदास ने स्पष्ट रूप से राधा का कृष्ण के साथ विवाह-वर्णन किया है।[2] नन्ददास ने रास पचाध्यायी में गोपियों की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्हें सिद्ध कोटि की पुनीत आत्मा कहा है।[3]

वल्लभाचार्य ने कृष्ण की अन्तरग और बहिरग दो शक्तियाँ मानकर बहिरग में माया को स्थान दिया और अन्तरग में सधिनी, सवित और ह्लादिनी को रखा। ह्लादिनी ही राधा है। गोपियों को राधा के अग रूप में स्वीकार किया है। गोपियों के विभिन्न नाम-रूप गिनाने का भी यही कारण है। सूरदास ने गोपियों के नाम भी गिनाये हैं।

"यथा मधुरिमा नीरे स्पर्शन भासते तथा।
गन्ध पृथिव्यामनघो राधिकेय तथा हरौ॥

कहकर राधा की व्यापकता और कृष्ण से अभिन्नता भी स्थापित की गई है। राधा

---

१ सूरसागर—दशम स्कन्ध ना० प्र० सभा पद स० १६८८ पृष्ठ ८४२

२ जाको व्यास वर्णत रास।
है गधर्व विवाह चित्त दै सुनो विविध विलास॥
कियो प्रथम कुमारि यह व्रत धर्यो हृदय निवास।
नन्द सुत पतिदेव, देवी पुजै मन को आस॥
—सूरसागर—दशम स्कन्ध, पद स० १६८९ पृष्ठ ६२९

३ धन्य कहत भई ताहि नाहिं कछु मन में कोपी।
निरमत सर जे सन्त तिननि चूरामनि गोपी।
इन नीके आराधे हरि ईश्वरवर जोई।
ताते अधर सुधारस निधरक पीयत सोई।
—नन्ददास—रासपचाध्यायी अ० २, पृष्ठ १०७।
( सम्पादक प० रामचन्द्र शुक्ल )

के वशवर्ती श्रीकृष्ण का भी कही-कही वर्णन हुआ है।[1]

सूर ने राधा को परकीया नही माना है अत. शुद्ध परकीया रूप मे उनका वर्णन भी नही किया। हाँ, परकीया-भाव में जैसी मन स्थिति होती है उसका वर्णन अवश्य किया है। 'लोक लाज कुल कानि' की मर्यादा के सामने आने से वह असमजस मे पडी हुई सोचती है कि अब क्या करूँ। इस वर्णन मे वह कृष्ण से इसी रूप में मिलती है जैसे परकीया नायिका लुक-छिपकर अपने प्रियतम से भेंटती है। मिलने के लिए नाना प्रकार के बहाने खोज लेना दोनो ओर से चलता है। विरहाकुलता में भी परकीयात्व का रूप ग्रहण किया है।

इसके बाद-स्वकीयाभाव का पूरा वर्णन है। यहाँ वह मानवती और गौरवशालिनी चित्रित की गई है। कृष्ण दक्षिण नायक है। राधा फिर भी अनन्य भाव से उन्ही का ध्यान करती है। इस प्रसग में सूर ने दम्पति विहार का वर्णन किया है। मान के साथ खडिता का भी वर्णन है। मोहन का नाम सुनते ही राधा का सारा मान क्षण भर में विलीन हो जाता है। मान के लिये विविध कारण सूरदास ने प्रस्तुत किये हैं। एक कारण यह भी था कि राधा को पता चल गया था कि कृष्ण अन्य नायिकाओ के पास रात मे मिलने जाते हैं। एक बार मानवती राधा जब किसी तरह मान-मोचन मे समर्थ न हुई तो कृष्ण ने दर्पण में पीछे से खडे होकर नेत्र से नेत्र मिलाये। बस राधा का सारा मान क्षण भर में विलीन हो गया। वसन्त और भूले के प्रसंग मे राधा दम्पति-रूप में वर्णित हुई है।

राधा का अतिम चित्र भ्रमरगीत के पदो मे वियोगिनी राधा का है। इस वर्णन में राधा का प्रेम मुखर न होकर अन्तर्मुख, शान्त और गम्भीर है। यशोदा तथा गोपियाँ तो विलाप करती हैं किन्तु राधा गम्भीर सोच में मग्न, नीचा सिर किये, नख से हरि का चित्र बनाती हुई दिखाई गई है। वह कृष्ण के पास अपना सदेश न भेजकर व्रज के गोप-गायो का सन्देश भेजती है। हरि के वापस न आने पर अपने प्रेम में त्रुटि देखती है। माधव-माधव रटती हुई तद्रूप हो जाती है। गोपियो ने उद्धव से कहा था कि—अति मलीन वृषभानुकुमारी।' इस पद मे राधा की शारीरिक तथा मानसिक स्थिति का बड़ा ही सटीक वर्णन किया गया है। उद्धव ने मथुरा पहुँचकर कृष्ण से राधा का जैसा रूप देखा था वैसा ही कहा।

राधा-माधव मिलन का अन्तिम दृश्य राधा-माधव अभेद स्थापित करने वाला गम्भीर

---

१. पुनि-पुनि कहति ब्रजनारि।
धन्य बड़भागिनी राधा तेरे वश गिरधारि।
धन्य नन्दकुमार धन्य तुम धन्य तेरी प्रीति।
धन्य तुम दोउ नवल जोरी कोककलानि जीति॥
हम विमुख तुम करुण सगिनि प्राण एक द्वै देह।
एक मन एक बुद्धि एक चित दुहिन एक सनेह।
एक छिन बिनु तुमहि देखे स्याम धरत न धीर।
मुरलि ये तुम नाम पुनि-पुनि कहत है बलवीर॥
—सूरसागर ना० प्र० सभा, पद संख्या २४६०।

अर्थ का द्योतक है। यही दार्शनिक भाव वल्लभाचार्य को अभीष्ट था।

## निम्बार्क-सम्प्रदाय में राधा

निम्बार्क सम्प्रदाय में राधा का जो स्वरूप आज स्वीकृत किया जाता है वह प्रारम्भ मे नही था। यद्यपि कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है कि राधाकृष्ण-भक्ति की युगल उपासना का उदय इसी सम्प्रदाय में हुआ। निम्बार्क-सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तो में, जो दशश्लोकी तथा अन्य ग्रथो पर आश्रित हैं, राधा को प्रमुखता प्राप्त नही थी। दशश्लोकी के आठवें श्लोक में स्पष्ट ही 'नान्यगति कृष्णपदारविन्दात्' कहकर श्रीकृष्ण के ध्यान करने का आदेश है। किन्तु 'अगेतु वामे वृषाभानुजा' कहकर 'स्मरेम देवी सकलेष्टकामदाम्' पद में राधा का स्मरण भी किया गया है। इस राधाभाव को परवर्त्ती भक्तो ने पूरी तरह ग्रहण किया और इसी को मुख्यता देकर ब्रजभाषा के वाणी-ग्रथो में विस्तार से उपस्थित किया। आज तो राधा की निम्बार्क-सम्प्रदाय में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठा है।

निम्बार्क-सम्प्रदाय की भावना में राधा स्वकीया है। स्वकीया-भाव को प्रतिपादित करने के लिए पुराणो के विवध प्रसगो को भी स्वपक्ष में उदाहृत किया जाता है। रायाण पत्नी राधा को यहाँ कोई स्थान प्राप्त नही। रायाण की कथा को यह कहकर असत्य ठहराया जाता है कि जिस छाया राधा का रायाण से परिणय हुआ था वह केवल मूर्खो के अज्ञान को दूर करने के लिए भगवान् की एक लीला थी। वस्तुत राधाकृष्ण का नित्य दाम्पत्य-सम्बन्ध है। यह दाम्पत्य अलौकिक एव दिव्य होने से वर्णन का विषय नही बनता।

नित्यमेव हि दाम्पत्य श्री राधाकृष्णयोर्यत ।
पाणिग्रहण सम्बन्धो वर्ण्यते न च वर्ण्यते ॥
रसत्व रसिकत्वच श्री युग्मे सुप्रतिष्ठितम् ।
दाम्पत्यच तयोर्नित्य तथात्वे कारण यत ॥[1]

शृगार रस को इस सम्प्रदाय में भी वैष्णव भक्ति के माधुर्य पक्ष को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायों के समान प्रधान स्थान प्राप्त है। अत शृगार के सयोग पक्ष, केलि-क्रीडा आदि के सम्पादनार्थ कान्ताभाव में दाम्पत्य भाव से ही राधा-वर्णन हुआ है। शृगार को मूलाधार मानते हुए राधा में ही उसकी निष्पत्ति स्वीकार की जाती है

द्विदलात्मको हि श्रृङ्गारालम्बन द्वयभेदत ।
तत्रैक तु रमारूप द्वितीय विष्णुरूपकम् ॥
परमैव रमा राधा परमाह्लाद विग्रहा ।
विष्णुस्तु परम कृष्ण परमानन्दविग्रह ॥
अतो राधाच कृष्णश्च दम्पती तु सनातनौ ।
रसस्य परम रूप यत्पर मधुर सुखम् ॥

---

१ श्री युग्म तत्त्व समीक्षा—ले० भगीरथ झा मैथिल, दशममयूख, पृष्ठ २५२।

श्रृङ्गारस्याधिदेवत्वमतस्तस्मिन्प्रतिष्ठितम् ।
यद्वस्तुनः पराकाष्ठा यस्मिन्देवेप्रतिष्ठिता ।
तद्वस्तुनोऽधिपो देव. स इत्येव व्यवस्थिति. ॥[1]

श्री भट्ट लिखित 'युगल शतक' और हरिव्यास देवाचार्य प्रणीत 'महावाणी' में राधा का स्वरूप माधुर्यभक्ति के सर्वथा अनुकूल और निकुंज-भावना को लक्ष्य में रखकर वर्णित हुआ है। वर्तमान युग मे नित्यविहार की दृष्टि से राधा को प्रमुख स्थान प्राप्त होना स्वाभाविक है; अत राधाविषयक वाणी ग्रथो में जो कुछ लिखा गया है वह सोलहवी शताब्दी की भावना पर ही आश्रित है। राधा का दार्शनिक दृष्टि से जहाँ कही वाणी-ग्रथो मे विवेचन प्रारम्भ हुआ है वहाँ राधा शक्ति के रूप मे ही आई है। महावाणी में राधाकृष्ण की नित्यविहार लीला का बड़े समारोह पूर्वक वर्णन मिलता है जो इस बात का निदर्शन है कि निम्बार्कीय मत मे राधा की प्रतिष्ठा आराध्या देवी के रूप मे स्वीकृत हो गई थी और राधा का स्मरण ही समस्त इच्छा-आकाक्षाओ का पूरक माना जाने लगा था। राधा का स्वरूप भी महावाणी के पदो में स्पष्ट किया गया है। महावाणी में राधा को ही इष्टाराध्या बनाकर उपासना के पद गाये गये हैं और उन पदो मे उन्ही हाव, भाव, विलास आदि का वर्णन है जो श्रृङ्गारपूर्ण पदो में प्राय होता है। महावाणी की शैली भी विविध पदमयी और रसमयी है। कही राधा का रूप वर्णित हुआ है तो कही स्वभाव की मोहकता का चित्र अकित किया गया है।[2]

"प्रियाशक्ति आह्लादिनी प्रिय आनन्द स्वरूप ।
तनु वृन्दावन जगमगे इच्छासखी अनुरूप ॥
कोटिन कोटि समूह सुख रुख लिये इच्छा शक्ति ।
प्राणेशहि प्रमुदावही प्रमदावली अनुरक्ति ॥"

'युगल शतक' के दोहो मे राधाकृष्ण का स्वरूप अधिक स्पष्ट रूप में प्रतिपादित हुआ है। वर्त्तमान समय में राधा को ही इस सम्प्रदाय में भी प्रमुख स्थान मिला हुआ है।

---

१. श्री युग्म तत्त्व समीक्षा—ले० भगीरथ झा मैथिल, पृष्ठ २३६।

२ "एक मैं कृपा सुदृष्टि चहौं ।
सोंह तिहारी मोंहि अहो जिय जो मैं राखि कहौं ।
जव तुम चितवत मो तन के तन तव सव सुखहि लहौं ।
श्रीहरि प्रिया नाउँ तेरे बिन और कछू न चहौं ॥"

[महावाणी पद ४४, पृष्ठ १५९। प्रकाशक—व्र० विहारीशरण, वृन्दावन।]

"जोई जोई करति तुम प्यारी सोई-सोई मो मन माने ।
अहो विहारिन सोंह तिहारी उर प्रतीति अति आने ॥
जव तुम नेक रुखाई चितवति प्रनयकोप-रस साने ।
श्रीहरि प्रिया स्वामिनी जिहि छिन मेरोई जी जाने ॥"

महावाणी पद ६६, पृष्ठ १६३।

यह व्रजभक्ति की इस पद्धति का परवर्ती प्रभाव ही समझना चाहिए। युगल शतक के दोहो का व्रजलीला, सेवासुख, सहज सुख, सुरत सुख और उत्सव सुख आदि में वर्गीकरण कदाचित् आधुनिक है किन्तु उनमें राधाकृष्ण के जुगलभाव की दिव्य छटा का वर्णन आद्योपान्त दृष्टिगत होता है। दोहो में राधा का माहात्म्य तो है ही, कृष्ण पर पड़ने वाले उसके प्रभाव का भी वर्णन है।[1]

## राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा

राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधा को उस अनादि वस्तु का नित्य रूप स्वीकार किया गया है जो इस अखिल ब्रह्माड मे व्याप्त होकर अपनी नित्यक्रीडा से आनन्द की अभिव्यक्ति करती रहती है। वह अवाङ्मनसगोचर होने पर भी अनुभवैकगम्य है। निर्गुण, निर्विशेप और निराकार रूप में उसका कही वर्णन नही किया गया, और न उसे केवल योगियो की निर्विकल्प समाधि का विषय ही माना गया। भक्त-रूप जीव जब अपने निज रूप (सहचरी) को प्राप्त कर उसके दर्शन में प्रवृत्त होता है, तभी वह माधव के साथ केलिक्रीडा-निरत अपनी आनन्ददायिनी दिव्य छटा की आभा बिखेरती हुई निकुंज-रध्रो से देखी जा सकती है। वह दर्शन भौतिक न होने पर भी निरतिशय आनन्द से परिपूर्ण और भवबन्धनो को उच्छिन्न करने वाला है। आस्तिक दर्शनो में जिस प्रकार भगवान् को सच्चिदानन्द-स्वरूप मानकर उसकी शक्ति का वर्णन किया जाता है और कतिपय वैष्णव सम्प्रदायो में उसी सच्चिदानन्द-स्वरूप ब्रह्म की 'ह्लादिनी शक्ति' का राधा नाम से व्यवहार किया जाता है, वैसा 'शक्ति' और शक्तिमान् का भेद इस सम्प्रदाय में नही है। यहाँ तो राधा स्वय आनन्दस्वरूप है। निरतिशय आनन्द का नाम ही राधा है। राधा नित्यभाव है। उनका विहार भी नित्य है, रास भी नित्य है। यह भाव किसी बाह्य लौकिक कर्म, ज्ञानादि से अवगत नहीं होता, अत इसे ज्ञानकर्मादिसस्पर्श शून्य कहते हैं। केवल प्रेमभाव, हितभाव ही राधा के स्वरूप-ज्ञान का मार्ग है, वह स्वय राधा-भाव का ही नाम है। वह श्रीकृष्ण की उपासिका, आराधिका नही, वरन् श्रीकृष्ण की उपास्या, आराध्या हैं। वैसे दोनो क्रीडा के लिए प्रिया-प्रियतम रूप हैं, श्रीकृष्ण की एक राधा है और राधा के एक कृष्ण। यहाँ न

---

१ राधे नेक निहारि करि पिय को हिय भायो जु।
भामिनि कोमल कमल से, पांयन चलि आयोजु॥ २८।
गोर श्याम अति सोहनी, जोरी परम उदारि।
अलिजन आरति करत हैं, छविहि निहारि निहारि॥४६।
राधे तेरे रूप की पटतर कहिए काहि।
सर्वस तजि रसवश भये नैन कोर तन चाहि॥ ६५।
जित-जित भामिनि पग धरें तित-तित भावत लाल।
करत पलक निज पांवड़े, रूप विमोहित बाल॥ ६६।
—श्रीभट्ट लिखित युगलशतक, प्रकाशक, श्री व्रजविहारीशरण, वृन्दावन।

कोई साधक है, न कोई साधना है और न कोई साध्य है। दोनों ही 'श्रीतत्त्व' के रूप हैं। दोनो एक हैं और एक होकर ही दो बने हुए हैं। परस्पर तत्सुखिभाव से रसास्वादन के लिए नित्य प्रेमलीला करते हैं, विहार करते हैं और उसी में लीन हैं। उनका साम्राज्य ही विचित्र है। कामना-वासना-विहीन नित्य विहार में लीन रहने वाली राधा इस सम्प्रदाय में सर्वोपरि विराजमान हैं।[1]

श्री हितहरिवंश जी ने अपने ग्रंथो में राधा का स्वरूप-निर्धारण करते हुए उसे 'रस-रूप' कहा है। आर्ष पदावलि में 'रसोवैसः' द्वारा जिस तत्त्व का बोध कराया जाता है और 'नेति-नेति' कहकर जिस दिव्य वस्तु का अनिर्वचनीयत्व स्थिर किया जाता है श्री हरिवंश जी के मत मे वही तत्त्व राधा' है। इसलिए अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में वर्णित स्वकीया-परकीया कान्ताभावपूर्ण राधा को यहाँ स्थान नही है।

'हित चौरासी' मे श्री हितहरिवंश जी ने राधा का वर्णन विभिन्न स्थितियो के आधार पर किया है। ये चौरासी पद तथा स्फुट वाणी के भी अधिकांश पद राधा-वर्णन से ही सबंध रखते हैं। इन वर्णनो को मुख्य रूप से तीन भागो मे विभक्त कर सकते हैं। प्रथम भाग मे उन पदो को स्थान मिलेगा जो राधा के नेत्र, वदन, कपोल, वक्षस्थल, अधर, नाभि, चरण आदि विभिन्न अंगो की रूप-छवि प्रस्तुत करते हैं। दूसरे भाग में वे पद हैं जिनमें राधा की मनःस्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली से वर्णन किया गया है; तीसरे भाग के पद नित्य-विहार और रासलीला से सम्बन्ध रखने वाले हैं।

'हित चौरासी' के जिन पदो में राधा की रूप-छवि का वर्णन है वे भी राधा के स्वरूप को प्रतिपादित करने में सहायक हैं। वाह्य-रूप-चित्रण के माध्यम से कवि ने उस दिव्य रूप का आभास दिया है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रवृत्त करने वाला है। राधा को सौंदर्य की सीमा बताते हुए कवि ने उसे 'व्रजनवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करति अघ ग्रीवां' कहा है—तथा रूप को व्यापक बनाने के लिए देवलोक, भूलोक, रसातल कही भी उसके रूप की समता नही पाई है।[2] वाह्य प्रसाधनो से युक्त, षोडश शृंगार से मंडित राधिका का वर्णन

---

१—यत्पादाम्बुरुहैक रेणुकणिकां मूर्ध्नानिधातुं नहि,
प्रापुर्ब्रह्म शिवादयोप्यधिकृति गौप्यैक भावाश्रयाः।
सापि प्रेमसुधा रसाम्बुधिनिधि राधापिसाधारणी,
भूता कालगतिक्रमेण वलिना हे दैव तुभ्यं नमः॥
राधासुधानिधि—श्लोक सं० ७२।

२—देखो माई सुन्दरता की सीवां।
व्रज नवतरुनि कदम्ब नागरी निरखि करत अघ ग्रीवां।
जो कोऊ कोटि कलप लगिजीवै रसना कोटिक पावै॥
तऊ रुचिर वदनारविन्द की शोभा कहत न आवै।
देवलोक भूलोक रसातल सुनि कवि कुल मत डरिये।
सहज माधुरी अंग अंग की कहि कासे पटतरिये।

शृंगारपरक भावना से करते हुए उसे मदन को अपने भृकुटि-विलास से जीतने वाली कहा गया है।[1] रूपवर्णन में नेत्रो का वर्णन सबसे अधिक पदो में है। नेत्रों में जिस ज्योति तथा सौंदर्य की कल्पना की गई है वह सामान्य न होकर असाधारण तेज, दीप्ति, कान्ति से परिपूर्ण है। रीतिकालीन कवियो ने नेत्र-वर्णन को 'नखशिख' का प्रधान विषय बनाया था। हितहरिवंश जी का एक पद नेत्रवर्णन के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है, उसकी छाया वाद के अनेक कवियो में दृष्टिगत होती है।[2] नेत्रवर्णन के लिए 'हित चौरासी' के पद विशेष रूप से पठनीय हैं।

रसमार्ग में 'रूप' को आकर्षण का केन्द्र स्थिर किया गया है। रस-रूपी रस्सी के दो छोर हैं। पहला सिरा है राग जो साधक के मन में उत्पन्न होता है और उसी के पास रहता है। दूसरा छोर जो उसे आकृष्ट करता रहता है—प्रियाजी का रूप है। इस रूप-छवि-दर्शन के लिए साधक का राग सतत वर्धमान रहता है। रस की रस्सी का यह दूसरा छोर इतना निर्मल और पवित्र होता है कि साधक कभी कालुष्य के पक में नही फँसता और उसे पकड पाने के लिए अपनी समस्त रागपूर्ण साधनाओ से अपने को योग्य बनाता है।

राधा की मन स्थिति का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक शैली से चित्रण करने वाले पद हित-चौरासी में यत्र-तत्र बिखरे पडे हैं। राधा की मन स्थिति को लौकिक शैली से प्रस्तुत करके

---

(जैश्री) हितहरिवंश प्रताप रूपगुण वय बल श्याम उजागर।
जाकी भ्रू विलास वस मधुरिव दिन विथकित रस सागर।
—हित चौरासी—पद सख्या ५२।

१—रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये मृगज लोचन उबटि अग शिर खोरी,
गड पडोर मडित चिकुर चन्द्रिका मेदिनी कवरि गु थित सुरग डोरी।
श्रवन ताटक के चिवुक पर बिन्दु दै कसुभि कचुकी दुरे उरज फल कोरी।
वलय कफन दोति नखनि जावक जोति उदर गनरेख पट नील कटि थोरी।
सुभग जघन स्थली क्वनित किंकिनि भली कोक सगीत रससिन्धु झकझोरी।
विविध लीला रचित रहसि हरिवश हित रसिक शिर मौर राधारमन जोरी।
भृकुटि निर्जित मदन मद सस्मित वदन किये रस विवस घनश्याम पिय गोरी॥
—हित चौरासी—पद सख्या ६७।

२—खजन मीन मृगज मदमेटत कहा कहौं नैनन की बातें।
सुनि सुन्दरी कहाँ लौं सिखई मोहन बसीकरन की घातें।
बक निशक चपल अनियारे अरुण स्याम सित रचे कहाँ तें।
डरत न हरत परायो सर्वस मृदु मधुमिव मादिक दृग पातें॥
नेक प्रसन्न दृष्टि पूरण कर नहि मोतन चितयो प्रमदातें।
हितहरिवश हस गुन गामिनि भावै सो करहु प्रेम के नातें।
—हित चौरासी, पद स० ७३।

राधा की कृपा, प्रियतम के प्रति अमृत-रस की वर्षा करने का भाव, प्रस्फुटित किया गया है।[1] मोहनलाल के रस में मतवाली राधा केलि-क्रीडा करने के बाद जिस आनद का अनुभव कर रही है वह उस आनदानुभूति का प्रतीक है जो श्रुतियो मे अनिर्वचनीय मानी जाती है।[2]

राधा को परात्पर तत्त्व और सर्वशक्तिमती मानने से उसके शक्ति रूप में उपास्य होने का सन्देह होना सम्भव है। किन्तु शक्ति की आराधना की परिपाटी और उसके स्वरूप को समझ लेने पर इस सन्देह के लिए अवकाश नही रहता। शक्ति की आराधना के लिए तान्त्रिक पद्धति मे जिन लौकिक कृत्यो का विधान है वैसा कोई विधान राधा की उपासना के लिए नही है। शक्ति की आराधना करने वाले उसे 'जगज्जननी माता' के रूप मे उपास्य मानते हैं। माता के चरणो मे श्रद्धावनत होकर उसके वात्सल्य की कामना करते हैं। शक्ति अपने पुत्रो को प्रसन्न होकर वरदान देती है; मातेश्वरी शक्ति का ऐश्वर्यजनित रूप भक्तो के आगे आतंकपूर्ण होकर आता है, उसके प्रति भयमिश्रित भावना के साथ भक्त उसकी कृपाकांक्षा से आगे बढता है। किन्तु राधा की कल्पना कही भी माता के रूप मे नही है। रस-सृष्टि के के लिए मातृत्व-पूर्ण वात्सल्य की अपेक्षा न होकर प्रिया के कृपा-कटाक्ष की ही कामना की जाती है। राधा के जिस रूप का दर्शन नित्यविहार में सहचरी (जीवात्मा) को काम्य होता है वह भय, उद्वेग, आतंक आदि किसी लोमहर्षक भाव से युक्त न होकर प्रेम, स्नेह, आनन्द से परिपूर्ण होने के कारण हर्ष-पुलक से सहचरी को प्रफुल्लित करने वाला है। उसकी आराधना के लिए न तो कोई कृच्छ्र साधना की अपेक्षा है और न किसी प्रकार के बलिदान की आवश्यकता। शक्ति को प्रसन्न करने के लिए जिन वीभत्स कृत्यो का तान्त्रिक ग्रथो मे प्रतिपादन है उनका लवलेश भी राधा-भाव के क्षेत्र मे गृहीत नही होता। फलतः राधा और

---

१—आज सम्हारत नाहिन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यो सुरत समुद्र झकोरी।
आलस वलित अरुन धूसर मषि प्रकट करत दृग चोरी।
पिय पर करुन अमीरस बरसत अधर अरुनता थोरी॥
+ + +
—हित चौरासी, पद स० ७०

२. मोहनलाल के रसमाती।
वधु गुपति गोवत कत मोसो प्रथम नेह सकुचाती।
देखि संभार पीत पट ऊपर कहाँ चूनरी राती।
टूटी लर लटकत मोतिन की नख विधु अंकित छाती।
अधर विंब खंडित मषि मंडित गंड चलत अरुझाती।
अरुण नैन घूमत आलस जुत कुसुम गलित लटपाती॥
आजु रहसि मोहन सब लूटी विविध आपुनी थाती।
हित हरिवंश वचन सुनि भामिनि भवन चली मुसकाती॥
—हित चौरासी—पद सं० २०।

शक्ति को एक समझने की भूल नहीं करनी चाहिए। राधावल्लभ सम्प्रदाय के आद्याचार्य ने इसी कारण शक्ति और शक्तिमान् के रूप में राधा और कृष्ण का कही वर्णन नही किया। चैतन्य और वल्लभ मत में राधा की उपासना ह्लादिनी शक्ति के रूप में हुई है। उनके मत में भी शक्ति का तात्पर्य शाक्त मत वाला भाव नही है किन्तु शक्ति और शक्तिमान् को पृथक् स्वीकार कर लेने से राधा की स्थिति श्रीकृष्ण की तुलना में वैसी ऊँची नही ठहरती जैसी राधावल्लभीय मत में है।

## आराध्या राधा

माधुर्यभाव की भक्ति-पद्धति को स्वीकार करने वाले सम्प्रदायो में साध्य तत्त्व के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। सामान्यत 'राधाकृष्ण' भक्ति का उल्लेख प्राय सभी कृष्ण-भक्तिपरक सम्प्रदायो में उपलब्ध होता है किन्तु उसके स्वरूप एव साध्य साधन शैली में इतनी व्यापक विभिन्नता है कि 'राधाकृष्ण' शब्द से विभिन्न-कोटिक पारमार्थिक आशय का ग्रहण होता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में राधाकृष्ण-भक्ति को अन्य सम्प्रदायो की भाति किसी दार्शनिक दृष्टि से ब्रह्म, जीव, प्रकृति आदि के विवेचन द्वारा स्थापित नही किया गया। मस्तिष्क या बुद्धि की सूक्ष्म छानबीन न करके इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री हितहरिवश ने हृदय-सवेद्य रस को अपनी भक्ति-पद्धति का आधार बनाया। इसीलिए इस सम्प्रदाय की पद्धति को रस-पद्धति या रस-दर्शन कहा जाता है। इस रस की चरम परिणति 'नित्यविहार' में ही सम्भव है। 'नित्यविहार' शब्द इस सम्प्रदाय का एक गूढाभिप्राय-व्यजक शब्द है जो 'रस', 'आनन्द' या 'हित' के चरमोत्कर्ष को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह एक विलक्षण कोटि का रस है जो साहित्य-शास्त्र तथा भक्ति-शास्त्र मे वर्णित विविध रसो से सर्वथा पृथक् एव नूतन है।

विभिन्न कृष्णभक्तिपरक वैष्णव सम्प्रदायो में श्रुति-प्रतिपादित 'रसोवैस'—रस रूप परम ब्रह्म—को ही श्रीकृष्ण-तत्त्व स्वीकार किया गया है। श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण, तत्रादिको में इस श्रीकृष्ण तत्त्व का 'परब्रह्म' के रूप में वर्णन करते हुए इसे अलक्षित तत्त्व मानकर अचिन्त्य और अतर्क्य समझते हुए 'नेति-नेति' कहकर निगूढ बताया है। यह श्रीकृष्ण-तत्त्व इन सम्प्रदायो में रूप, शृगार, माधुर्य, अनुराग और रस की परावधि है। इससे परे कुछ और नही।

किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'रसोवै स' की परावधि श्रीकृष्ण तक ही स्वीकार नही की गई। राधा का साम्प्रदायिक स्वरूप प्रतिपादित करते हुए हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीकृष्ण भी यहां दिव्य किशोरी राधा के चरणो में विलुठित होकर अपने को कृतकृत्य मानते हैं। अत अनिर्वचनीय इष्ट या साध्य तत्त्व की स्थिति श्रीकृष्ण में नही अपितु राधा में होगी। इस भाव की विवृति बडे स्पष्ट शब्दो में श्री हितहरिवशजी ने अपने 'राधासुधा-निधि नामक ग्रथ में की है। वे कहते है—'जिनका सुन्दर मोरपख निर्मित मुकुट श्री राधा के चरण-कमलो में लोटता रहता है तथा जो विचित्र केलि-महोत्सव मे उल्लसित है उन रसराज माहात्म्यभूमि श्रीहरि की मैं वन्दना करता हूँ। वन्दनीय हरि राधा के कृपाकटाक्ष

की कामना करते हैं, राधा के आदेश-निर्देश पर चलना ही उनका धर्म है।'[1]

हरि-आराधनीया राधा ही हितहरिवंशजी के मत में इष्ट-आराध्या है। उसी के रूप-दर्शन की बलवती स्पृहा सहचरी-रूप जीवात्मा की सबसे प्रबल कामना है। श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा को आराध्या और सेव्या मानकर राधासुधानिधि मे वे पुन. कहते है कि जो मधुर एव उज्ज्वल प्रेम की प्राणस्वरूपा, शृंगारलीलाकला की परावधि, श्रीकृष्ण की भी आराधनीया तथा अनिर्वचनीया एव शासनकर्त्तृ हैं, जो ईश्वर रूप श्रीकृष्ण की शची तथा परम सुखमय तनुधारिणी, परा और स्वतन्त्रा हैं वे वृन्दावननाथ श्रीकृष्ण की पट्टमहिषी राधा ही मेरी सेव्या हैं।[2]

श्रीकृष्ण का स्थान राधा की तुलना में इसलिये और भी कम महत्त्व का हो जाता है कि इस सम्प्रदाय में उसे 'परतत्त्व' न मानकर राधा को 'परतत्त्व' रूप मे स्थापित किया गया है तथा श्रीकृष्ण राधा की चाटुकारी और स्तुति करके अपने को कृतार्थ समझते है। श्रीकृष्ण स्वयं जिस राधा का नाम जपते हैं, सखीगण के मध्य मे जिसका गुणानुवाद करते हैं, प्रेमाश्रुपूर्ण वदन से जिसका बार-बार उच्चारण करते हैं, वही राधामृत मेरा जीवन है।[3] यह उक्ति श्री हितहरिवंशजी के आभ्यन्तर उद्‌गार को ध्वनित करती हुई राधा के जिस दिव्य स्वरूप का बोध कराती है वह इस तथ्य का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय मे इष्ट या साध्य कोटि मे श्रीकृष्ण परतत्त्व नही वरन् 'राधा' ही परात्पर तत्त्व है। 'हित चौरासी' में भी इसी प्रकार के भाव स्थान-स्थान पर श्री हितहरिवंशजी ने व्यक्त किये हैं। राधा के कृपाकटाक्ष की कामना करते हुये वे कहते हैं—'नेकु प्रसन्नदृष्टि पूरन करि नहिं मो तन चितयौ प्रमदा तें।'

राधा के उपर्युक्त वर्णन को पढकर यह शका होना स्वाभाविक है कि अन्य सम्प्रदायो तथा पुराणो मे वर्णित राधा का स्वरूप भी तो यही है, फिर राधावल्लभ

---

१. रसघन मोहन मूर्ति विचित्रकेलिमहोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरण विलोडित, रुचिरशिखण्डं हरि वन्दे।

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० २००

२. प्रेम्णः सन्मधुरोज्वलस्य हृदयं शृंगारलीलाकला
वैचित्री परमावधिर्भगवतः पूज्यैव कापीशता।
ईशानी च शची महासुख तनु. शक्ति. स्वतन्त्रा परा
श्री वृन्दावन नाथ पट्टमहिषी राधैव सेव्या मम॥

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७८

३. देवानामथभक्तमुक्तसुहृदामत्यन्त दूरं च यत्
प्रेमानन्द रसं महा सुखकरं चोच्चारितं प्रेमतः।
प्रेम्णाकर्णयते जपत्यथ मुदा गायत्यथालिष्वयं
जल्पत्यश्रुमुखो हरिस्तदमृतं राधेति मे जीवनम्॥

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ९६

सम्प्रदाय में नवीनता क्या है ? इस शका के समाधान के लिये पहले तो हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि राधा का जैसा महत्व, स्वरूप, स्थान, पद यहाँ स्थापित किया गया है वैसा अन्यत्र कही और नही हुआ । पुराणादि ग्रन्थो तथा अन्य साम्प्रदायिक वाणियो में राधा को कृष्ण की आराधिका बताया गया है। यहाँ वह कृष्णाराध्या है । उसका रूप सामान्य मानव के लिये ही अलक्षित नही वरन् स्वय श्रीकृष्ण के लिये भी वह अलक्षित है ।[1] यह मन्तव्य किसी अन्य सम्प्रदाय में स्थिर नही किया गया । इसीलिए श्री हितहरिवशजी ने अपनी मान्यता को दूसरो से पृथक् रखते हुये तथा अन्य साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का खण्डन करते हुए उन्हे स्वीकार नही किया है ।

सक्षेप में, श्री हितहरिवशजी की आराध्या इष्टदेवी राधा परात्पर तत्त्व श्रीकृष्ण की भी आराध्या हैं तथा अन्य आचार्यो द्वारा वर्णित राधा से भिन्न एव स्वतन्त्र हैं । वह एक साधारण गोपी नही वरन् रस की अधिष्ठात्री एव प्रेममूर्ति हैं । वह वृषभानु के घर में कृपा परवश प्रकट होती तो हैं किन्तु उनकी चरणरज ब्रह्मेश्वरादि दुर्लभ तथा सर्वार्थ सार सिद्धिदात्री है ।[2] इनके अंग-अग से उज्ज्वल प्रेमरस का तथा लावण्य कृपापूर्ण वात्सल्य-सार का अम्बुधि प्रवाहित होता रहता है। ये माधुर्य साम्राज्य की एकमात्र भूमि और रस की एकमात्र सीमा है । ये राधा वेदो से भी परम गुप्त अनुपम निधि हैं ।[3] इनके पदनख की छटा की एक किरण से घनीभूत प्रेमामृत समुद्र की अजस्र धारा प्रवाहित होती रहती है । इनकी चरण-कृपा से मुक्ति तुच्छ हो जाती है और समस्त विभव प्राकृत से हो जाते हैं। राधा के इस अलौकिक दिव्य स्वरूप का वर्णन श्री हितहरिवशजी ने हित चौरासी के निम्नलिखित पद में बडी सरस शैली से किया है—

सुनि मेरो वचन छबीली राधा, तैं पायो रससिन्धु अगाधा ।
तू वृषभान गोप की बेटी, मोहनलाल रसिक हँसि भेंटी ।

---

१ ब्रह्मेश्वरादि सुदुरूह पदारविन्द श्रीमत्पराग परमाद्भुत वैभवाया ।
सर्वार्थसार रस वर्षिकृपार्द्र दृष्टेस्तस्या नमोस्तु वृषभानुभुवो महिम्ने ।।
—राधासुधानिधि, श्लोक स २

२ यो ब्रह्मरुद्र शुक नारद भीष्म मुख्यैरालक्षितो न सहसा पुरुषस्य तस्य
सद्योवशीकरण चूर्णमनन्तशक्ति त राधिका चरणरेणुमनुस्मरामि ।।
—राधासुधानिधि, श्लोक स० ३

३ प्रत्यगोच्छलदुज्ज्वलामृत रस प्रेमैक पूर्णाम्बुधि.
लावण्यैक सुधानिधि गुरु कृपा वात्सल्य साराम्बुधि ।
तारुण्य प्रथम प्रवेश विलसन्माधुर्य साम्राज्य भू
गुप्त कोपि महानिधिर्विजयते राधा रसैकावधि ।
—राधासुधानिधि, श्लोक स० १३५-१३६

जाहि विरंचि उमापति नाये; तापै तू वनफूल बिनाये।
जो रस नेति नेति श्रुति गायौ, ताकौं तै अघर सुघा रस चाख्यौ।
तेरो रूप कहत नहिं आवै; हितहरिवंश कछुक जस गावै॥
—हित चौरासी पद सं० १८

श्री हितहरिवशजी की रचनाश्रो में इस राधा-रूप आराध्य तत्त्व का इतना अधिक वर्णन हुआ है कि हमने इस प्रसग में अन्य महानुभावो की वाणियो को उद्धृत करना अनावश्यक समझा। यथार्थ में 'आराध्य तत्त्व' की स्थापना प्रवर्त्तक द्वारा ही होती है। परवर्ती शिष्य-परम्परा में तो उसी का अनुमोदन,समर्थन आदि सम्भव है; अत. यहाँ आदि आचार्य के प्रमाण ही राधा को आराध्या सिद्ध करने में प्रस्तुत किये गये हैं।

## राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण

वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण ही रसिक किशोर रूप मे एकमात्र नित्यविहारी पुरुष हैं। उनकी परा प्रकृति श्री राधा हैं जो चित्-अचित्-विशिष्ट आह्लादिनी निज शक्ति-रूपा हैं। सारा चराचर जगत् इन्ही रसिक युगल किशोर का प्रतिबिम्व है। श्री राधा प्रकृति रूप में सर्वत्र व्याप्त हैं। जीवरूपा सखियाँ ही उनकी सहचरियाँ हैं। भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम, परात्पर ब्रह्म के भी आदि कारण और ईश्वरो के भी ईश्वर हैं। भागवत-पुराण में इसीलिए कहा है—'एतेचांश कला: पुंस कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।' पद्मपुराण मे भी यही भाव दूसरे शब्दो में व्यक्त हुआ है—'विष्णुर्महान् यस्य कला विशेषो गोविन्दमादि पुरुष तमहं भजामि।' श्रीकृष्ण को यहाँ मूर्तिमान शृंगार मानकर उनकी उपासना के भावो में से मधुर और शृंगार को ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है। श्रीकृष्ण के वर्णन के लिए उनके तीन रूपों का वर्णन प्राय. सभी वैष्णव सम्प्रदायो मे मिलता है—श्री वृन्दावनविहारी कृष्ण, मथुरावासी कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण। मथुरा और द्वारका मे श्रीकृष्ण का स्वरूप ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य, शक्ति आदि भावो से परिपूर्ण है। वे ब्रह्मनिष्ठ योगी और कर्त्तव्यनिष्ठ क्षत्रिय के रूप मे रहते हैं किन्तु वृन्दावन मे उनका रूप सर्वथा नूतन माना जाता है। ऐश्वर्य, ज्ञान, शक्ति, पराक्रम को अन्तर्लीन कर प्रेम और माधुर्य की साक्षात् मूर्ति बन वे गोप-गोपियो के साथ लीलारत रहते हैं। वे राधापति होकर रसराज शृंगार के सौन्दर्य-मंडित रूप का विस्तार करते हैं। ब्रजमंडल के माधुर्यभक्ति-परक सम्प्रदायो में यही रूप गृहीत हुआ है। यहाँ नित्य किशोर कृष्ण को ललित केलिलीलाओ का विधायक मानकर उनको कान्ताभाव का स्रष्टा कहा गया है। ब्रजरस और ब्रज विहार में जिस श्रीकृष्ण का वर्णन गौडीय आदि सम्प्रदायों मे किया गया है वे गोपियो के पति न होकर उपपति हैं। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को उपपति रूप में स्वीकार नही किया गया। श्रीकृष्ण जिस परिवेश और जिन परिकरो मे रहते हैं वे भी स्व और पर के भेद से रहित हैं, वे सदा एकरस होकर नित्यविहार की लीला में लीन रहते हैं। राधासुधानिधि मे इस स्थिति का इस प्रकार वर्णन मिलता है—

यद्वृन्दावन-मात्र गोचरमहो यन्नश्रुतीकं शिरो—
प्यारोढु क्षमते न यच्छिव शुकादीना तु यद्ध्यानगम् ।
यत्प्रेमामृतमाधुरी रसमय यन्नित्य कैशोरकं
तद्रूपं परिवेष्टुमेव नयन लोलायमानं मम ।।

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७६ ।

अर्थात् जो केवल वृन्दावन में ही दृष्टिगोचर होता है, अन्यत्र नही, जिसका वर्णन करने मे श्रुति शिरोभाग (उपनिपद्) भी समर्थ नही जो शिव, शुक्र आदि के ध्यान में भी नही आता, जो प्रेमामृत-माधुरी से परिपूर्ण और नित्यकिशोर है, उस कृष्ण के रूप को देखने के लिए मेरे नेत्र चचल हो रहे हैं।

अर्चावतार के रूप में श्रीकृष्ण को नित्यविहारी राधावल्लभ-रूप मे यहाँ ग्रहण किया जाता है। राधावल्लभ साम्प्रदायिक नाम है जिसमें राधा के वल्लभ प्रिय (कृष्ण) की उपासना का निर्देश इस बात का सकेत करता है कि इस सम्प्रदाय में उस कृष्ण की उपासना है जो राधा की स्वय आराधना करता है। सेवकजी ने अपने एक पद में कहा है—

राधावल्लभ भजत भजि भली भली सब होइ।
त्रिविध ताप नासहिं सकल सब सुख सम्पति होइ ।।
सब सुख सम्पति होइ, होइ हरिवश चरण रति,
होइ विषय विषनाश, होइ वृन्दावन बस गति।
होइ सुदृढ़ सत्सग होइ रस रीति अगाधा ।।
होइ सुजस जग प्रकट होइ पद प्रीति सुराधा ।।

—सेवक वाणी, दसवाँ प्रकरण, पद सं० ६ ।

'हित चौरासी' में श्रीकृष्ण के रूप का राधा से पृथक् स्वतत्र वर्णन नही के बराबर है। यो तो प्रत्येक पद में राधामाधव की केलि-क्रीडाओ का वर्णन है किन्तु कृष्ण का विशिष्ट स्वरूपाख्यान हित महाप्रभु ने नही किया। हां, पद संख्या ६३ में 'मोहन मदन त्रिभगी, मोहन मुनि मन रगी' कहकर विस्तार से कृष्ण की रूप, छवि, शक्ति-सौन्दर्य, शील का चित्र अकित किया है जिस का भाव इस प्रकार है .

'मोहन (कृष्ण) मदन (कामदेव) का भी समोहन करने वाले ललित त्रिभगी हैं। वे मुनियो को भी आनन्दित करने वाले हैं। मुनिमन-मोहन गोपाल गुणो में गम्भीर और परम आनन्द की मूर्ति हैं। उनके माथे पर मुकुट, कानो में मणिमय कु डल और वक्षस्थल पर सुन्दर वनमाला शोभित है। वे मोहन मनमोहक वशी वजा रहे हैं और वशीरव से व्रज वनिताओ को वुला रहे हैं। व्रजवनिताएँ कृष्ण के पास सव वधुवाधवो को त्याग कर आई और उन्होंने काम-ताप का नाश किया। तदुपरान्त कृष्ण ने व्रज-वनिताओ के साथ कदम्व वृक्ष के नीचे रास रचना की। इस रास के दृश्य ने सवको आकृष्ट कर लिया। पशु-पक्षी, लता-गुल्म, गिरि-निर्झर सभी मुग्ध होकर इस लीला को देखने लगे। श्रीकृष्ण का यह रूप सवको मनोमुग्धकारी प्रतीत हुआ।' आदि

प्रेम-सर्वस्व तथा प्रेम करने के उचित अधिकारी एकमात्र श्रीकृष्ण ही हैं और कोई

प्रेम का रहस्य न तो जानता है और न प्रेम करने का योग्य अधिकारी है ; ध्रुवदास जी कहते हैं :—

एकै प्रेमी एक रस, श्री राधावल्लभ आहि।
भूलि कहै जो और ठाँ झूठौ जानों ताहि॥

सक्षेप मे, इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को दार्शनिक दृष्टि से महत्त्व नही दिया गया वरन् प्रेम का आधार मानकर उनका वह रूप वर्णित किया गया है जो राधा के कृपाकटाक्ष की आकांक्षा रखकर नित्यविहार मे लीन रहता हैं। दूसरे शब्दो मे यो भी कह सकते हैं कि श्रीकृष्ण को इस सम्प्रदाय में उपास्यदेव तो माना गया है किन्तु राधा के अनुषग से ही उसकी उपासना है। प्रधान पद राधा का है। इसी कारण राधावल्लभ रूप मे तो स्वतत्र कृष्ण का कोई अस्तित्व नही माना गया। नित्यविहार की स्थिति मे प्रियतम के रूप मे कृष्ण का स्थान है अत हमने साकेतिक रूप से यह परिचय लिखा है।

## सहचरी का स्वरूप

सहचरी या सखी शब्द राधावल्लभ सम्प्रदाय में जीव के निज रूप की पारमार्थिक स्थिति का नाम है। प्रत्येक जीव शरीर धारण करके अपने को सासारिक प्राणी के रूप मे मानता है किन्तु वह अपने यथार्थ-तात्विक-रूप में सहचरी ही है। जब तक वह जीव रूप में अपने को मानकर इस लोक में लीन रहता है, भ्रम के जाल मे भटकता रहता है किन्तु जब उसके ऊपर श्रीराधा की कृपा होती है तब वह सहचरी रूप को प्राप्त होकर लौकिक सुख-दु ख की अनुभूतियो से ऊपर उठकर उस आनद को प्राप्त करने का अधिकारी बनता है जो नित्य-विहार के दर्शन से उपलब्ध माना गया है। यो तो ससार के समस्त प्राणिमात्र जीव कोटि में होने से सहचरी कहे जा सकते हैं किन्तु प्रत्येक को सहचरी की संज्ञा नही दी जा सकती। सहचरी या सखी बनने के लिए अपने निज रूप की प्रतीति या बोध अनिवार्य है। सहचरी स्त्री-पुरुष-रूप-लिंगभेद विवर्जित है। किसी भी जाति के साथ उसकी सीमित परिकल्पना नही की जा सकती। जिस प्रकार 'राधावल्लभ' परम अव्यक्त, अगोचर पुरुष अनिर्वचनीय है वैसे ही सहचरी भी अनिर्वचनीय है। दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं कि किशोर पुरुष के अतिरिक्त समस्त जीव रूप ससार प्रकृति का ही रूप है। इस प्रकृति-रूप से पृथक् होने पर सहचरी-रूप की प्राप्ति होती है और सहचरी होने पर वह लौकिक उपाधियो से निर्विशेष होकर अपने निजरूप में स्थित होता है।

सहचरी या सखी के समकक्ष 'गोपी' शब्द का प्रयोग भक्ति-सम्प्रदायो में प्रचलित है। 'गोपीभाव' और 'सखीभाव' का साम्य परिलक्षित होने पर भी इनमें तात्त्विक भेद है। बहुधा इस तात्त्विक भेद को विस्मृत कर दोनो को एक ही समझ लिया जाता है। इसलिए दोनो के व्यावर्त्तक धर्म जानना आवश्यक है। राधासुधानिधि में सखी का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हुआ है—

'राधाकेलि कलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने,
वत्स्यामि स्फुटमुज्वलाद्भुत रसे प्रेमैकमत्ताकृतिः।

तेजोरूप निकुंज एव कलयन् नेत्रादि पिण्डस्थितं,
तादृक्स्वोचित दिव्य कोमल वपु स्वीयं समालोकये ।'[1]

'राधाकेलि-कलाओ की साक्षी, उज्ज्वल अद्भुत रसपूर्ण वृन्दाविपिन में वास करने की कामना करने वाली, नेत्रपिडो में स्थित तेजोमय निकुज की भावना करने वाली, उस भावना के अनुरूप उपयोगी वपु की कामना करने वाली ही सहचरी है।' यही है सहचरी का स्वरूप।

श्री ध्रुवदास जी ने प्रेमलता लीला में सहचरी के प्रेमभाव का वर्णन करते हुए उन्हे तत्सुखभाव का आधान माना है। गोपीप्रेम, जिसको नारद और शाडिल्य के भक्तिसूत्रो मे बहुत ऊँचा कहा गया है, इम सहचरी-प्रेम के आगे तुच्छ पड जाता है।

व्रजदेविन के पेम की बँधी धुजा अति दूर।
ब्रह्मादिक वाछित रहै तिनके पद की धूरि ॥
तिनहू कौ मन तहाँ न परसै, ललितादिक जेहि ठा छवि दरसै।
लाल लाडिली प्रेम तें सरस सखिनु कौ प्रेम।
अटकी हैं निज प्रीति रस परसत तिनहिं न नेम ॥[2]

दोहा—नारदादि सनकादि सब उद्धव अरु ब्रह्मादि।
गोपिनु को सुख देखि किय भजनु आपुनौ बादि।
तिन गोपिनुते दुर्लभ नाईं, नित्यविहार सहज सुखदाई।
हित ध्रुव दुर्लभ सबनि ते, नित्यविहार सरूप।
ललितादिक निज सहचरी सो सुख लहति अनूप ॥[3]

सखियो का नामोल्लेखपूर्वक विशद वर्णन श्री ध्रुवदासजी ने रसानन्द लीला, सभा मडल लीला और नेहमजरी लीला में किया है। रसानन्द लीला मे प्रमुख अष्ट सखियो में ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पक लता, सुदेवी, इन्दुलेखा, तुगविद्या और रगदेवी का नाम गिनाया गया है।[4] सभामडल लीला मे अष्ट सखी के अतिरिक्त और अनेक सखियो का नामोल्लेख हुआ है। ये नाम गुणानुवादपरक प्रतीत होते हैं।[5] नेह मजरी लीला में सहचरियो के भेद परिगणित किये हैं।[6] ध्रुवदासजी ने गोपीभाव को सहचरी भाव से पृथक् करने के लिये, गोपियो की सकामता की ओर सकेत किया है।[7]

गोपिन के सम भक्त न आहीं, उद्धव विधि तिनकी रज चाही।
तिन मन कछू सकामता आई, ताते बिच अन्तर पर्यो भाई ॥

---

१—राधासुधानिधि—श्लोक २६६ पृष्ठ १६१ (बाबा हितदासजी द्वारा सम्पादित)
२—प्रेमलता लीला—(ब्यालीस लीला) ध्रुवदास जी कृत, पृष्ठ २४४—२४५।
३—नेह मजरी लीला—(ब्यालीस लीला), ध्रुवदासजी कृत, पृष्ठ २०३।
४—रसानन्द लीला— ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ६० से ८४ तक।
५—सभा मडल लीला— ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १३१-१३३।
६—नेह मजरी लीला— ,, ,, ,, ,, पृष्ठ २०३-२०७।
७—अनुराग लता लीला—,, ,, ,, ,, पृष्ठ २४०।

सहचरी के उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखते हुए यदि अन्य सम्प्रदायों की गोपी के साथ इसकी तुलना की जाय तो दोनो का भेद परिलक्षित हो सकेगा। वल्लभ सम्प्रदाय मे गोपीभाव का कोई एक रूप नही है। अनेक रूपो में अनेक कर्त्तव्य-कर्म से नियन्त्रित और अनेक नाम-गुण वाली गोपियाँ कही गई हैं। गोलोकधाम मे होने वाले नित्य रास की गोपियाँ श्रीकृष्ण की आनन्द-प्रसारिणी सामर्थ्य-शक्ति हैं। कृष्ण धर्मी हैं और गोपियाँ उनका धर्म। गोपी को वल्लभ-कुल के भक्तो ने रसात्मकता सिद्ध कराने वाली शक्ति का प्रतीक भी कहा है। रास में साथ रहने वाली गोपियो को भक्त का स्वरूप भी माना गया है। श्रीकृष्णलीला को अन्योक्ति मानने वाले विद्वान् गोपी को जीवात्मा और कृष्ण को परमात्मा भी ठहराते हैं। रास की गोपियो के भेद करते हुए उनके सात्विकी, राजसी, तामसी और निर्गुण आदि भेद भी किये गये हैं। वल्लभ सम्प्रदाय मे 'गोपी भाव' की अनेकरूपता देखकर यह निष्कर्ष निकालना कठिन है कि गोपी की मूल स्थिति क्या है। कही-कही राधा को भी गोपी ही कहकर प्रकृति रूप माना है और कृष्ण को पुरुष कहा है। अत गोपी के इन विविध रूपो मे से एक रूप को हम साम्प्रदायिक भावना में कैसे स्थिर करे? स्वकीया, परकीया का भी भेद गोपियो मे स्वीकार किया गया है—यद्यपि स्वकीया के रूप में ही अधिक वर्णन मिलता है। सूरदास की गोपियो की विरह-भावना में काव्योत्कर्ष होने पर भी सैद्धान्तिक स्वरूप की स्थापना करना कठिन है। अत राधावल्लभीय सहचरी-भाव से वल्लभ सम्प्रदाय के गोपीभाव का साम्य स्थापित नही किया जा सकता।

चैतन्य सम्प्रदाय मे गोपीभाव को अपेक्षाकृत अधिक दार्शनिक भित्ति पर प्रतिष्ठित किया गया है। गोपी को सर्वप्रथम कान्ताभाव दिया गया है और उसे राधा के ही असख्य रूपो में माना है, अर्थात् जैसे लता के पत्र, पुष्पादि लता रूप ही हैं वैसे ही राधा लता है और गोपियाँ उनके पत्र-पुष्पादि हैं। गोपी श्रीकृष्ण की प्रेयसी ही है—अनुगत सखी या सहचरी नही। श्रीकृष्ण गोपियो के साथ कान्ता भावमयी लीला करते है। श्रीकृष्ण का गोपियो के साथ रमण भी होता है। गोपी को साधनसिद्धा और नित्यसिद्धा दो नाम दिये गये हैं। जो अनादिकाल से कान्ता-भाव युक्त होकर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा करती आ रही हैं वे ह्लादिनी शक्तिरूपा गोपियाँ ही नित्यसिद्धा हैं। जो साधनो द्वारा सिद्धि लाभ करके व्रज में गोपीत्व को प्राप्त होकर नित्य सिद्ध परिकर के साथ-साथ श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं वे साधनसिद्धा हैं। वे स्वरूपत जीवतत्त्व हैं। सेवा के प्रकार भेद से गोपियो को पुन दो नाम प्रदान किये गये हैं—सखी तथा मजरी। जो गोपियाँ श्रीराधा की समजातीया सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति का विधान करती हैं उन्हे सखी कहते हैं—जैसे श्री ललिता, विशाखा आदि। जो श्री राधागोविन्द के मिलन एव सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती हैं उन्हे मजरी कहते हैं। ये राधा की किंकरी हैं और अन्तरग सेवा की अधिकारिणी हैं। अन्तरग सेवा में सखियो की अपेक्षा मजरियो का अधिकार अधिक है।[1]

---

१. श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त रत्न-संग्रह (हिन्दी रूपान्तर) बँगला

—मूललेखक—श्री राधागोविन्दनाथ, ९७ से १०४ तक। (अगले पृष्ठ पर)

निम्बार्क सम्प्रदाय में सखी का स्वरूप दशश्लोकी में निम्न प्रकार से वर्णित हुआ है—

अगे तु वामे वृषभानुजा मुदा
विराजमानामनुरोपसौभगाम् ।
सखीसहस्रै परिसेविता सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ।

राधा के स्मरण में उसे सहस्रो सखियो से परिवेष्टित कहा गया है। वे सखियाँ भी स्वकीया ही हैं और उसी रूप में श्रीकृष्ण के साथ विहार करती हैं। श्रीभट्ट जी ने 'जुगल-शतक' नामक ग्रन्थ में राधा का स्वरूप, नित्यविहार और सहचरीस्वरूप का बडी सरस शैली से प्रतिपादन किया है। यह ग्रथ भावना में राधावल्लभीय पद्धति से साम्य रखता है। सहचरी का वर्णन इसमें उसी रूप में है—

निरखि हिताई दुहुन की हाव भाव हिय धारि ।
सजि आरति वारति सबै प्रातमुदित सहचारि ॥
उझकति सहचरि निरखि सुख हिय में भरी हुलास ।
नव कुज रस पुज छवि श्यामाश्याम निवास ॥[1]

मूलत निम्बार्क मत में सखी का स्वरूप युगलशतक की सहचरी से कुछ भिन्न था किन्तु रस मार्ग का प्रवर्तन होने पर रसोपासना के अगभूत सखी का ही रूप वहाँ भी स्वीकृत हुआ। 'महावाणी' में तो रसोपासनानुकूल सहचरी वर्णित हुई है।[2]

विभिन्न सम्प्रदायो की गोपी-सखी का सकेत हमने यहाँ इसलिए करना आवश्यक

---

(पिछले पृष्ठ का शेष)

"The Sakhi is an important person in the Rasa-Shastric and theology of Chaitanyaism Without her the blissful erotic sport of Krishna and Radha is not nourished nor does it expand No one has access to the sport except the privileged Sakhis and those devotees who imitate (through Raganuga mode) their attitude Hence the devotional fancy of the faithful Vaishnava adopts the way of the Gopis and thinks on the sport, day and night, manifested in various erotic forms"

—Vaishnava Faith & Movement in Bengal Dr S K. De, Page 158

१—युगल शतक—श्रीभट्ट कृत दोहा, स० ३८, ७४।

२—सखीनां द्विविधत्व तु केचिदाहुर्मनीषिण. ।
सेवा मात्र परा काश्चित्कान्त भाव विवर्जिता ॥
कान्तभावान्विताकाश्चित्युग्मसेवाविन्तापि च ।
श्रीदेव्यामेक्कान्तत्वमपि केचिद्वदन्ति हि ॥
केचित् द्विविधत्वेऽपि रुपभेदोन मन्यते ।
लीला भेदेन भेदस्य सर्वासामपि सम्भवात् ॥
—श्री युग्मतत्त्व समीक्षा—पडित भगीरथ झा मैथिल, पृष्ठ १९३।

समझा कि दोनो की एकरूपता से जो भ्रम रहता है उसका उच्छेद हो सके और रसोपासना मे अंगभूत सहचरी का मर्म समझा जा सके।

## सहचरी का उपास्य-भाव

जैसा कि गत पृष्ठो में प्रतिपादित किया गया है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में आलम्बन श्रीराधा हैं, श्रीकृष्ण नही। जो राधा की उपासना करे वही सच्चा रसिक है। किन्तु यह रसिक-समाज स्वसुख से सर्वथा रहित होता है। जिस भाव का चिन्तन रसिक-वर्ग अपने मन में करता है वही उपास्य तत्त्व कहा जायगा। प्रिया-प्रियतम ( राधा और माधव ) की रति क्रीडा को सम्पन्न कराने में योग देना, निकुंज-रध्रो मे से दर्शन करके तृप्त होना और उसका निरन्तर चिन्तन करना ही उपास्य-भाव है। यह भाव सहचरी को ही सुलभ होता है।

श्री हितहरिवंश जी के मत में यह क्रीडा-विहार सहचरी सखियो द्वारा ही सम्पन्न होता है। युगल किशोर सखियो के सुख के लिए ही इसकी रचना करते हैं। सखियाँ इसका कुंज-रध्रो से अवलोकन कर अद्भुत आनन्द में मग्न होती हैं। यदि इस लीला का आध्यात्मिक अर्थ भली भाँति हृदयगम किया जाय तो जीवात्मा की परम तृप्ति इसी में है कि वह परात्पर शक्ति की लीला को देखकर उससे आनन्द प्राप्त करे, उसमें लीन होकर आत्म-विसर्जन की कामना करे। हित चौरासी में इसी भाव को इस प्रकार व्यक्त किया गया है—

सुन्दर पुलिन सुभग सुखदायक।
नव नव घन अनुराग परस्पर खेलति कुंवरि नागरी नायक।
सीतल हंस सुता रस वीचिनु परस पवन सीकर मृदु वरसत।
× × ×
हित हरिवंस रसिक ललितादिक लता भवन रंध्रनि अवलोकत।
अनुपम सुख भर भरित विवश असु आनंद वारि कंठ दृग रोकत॥

—हित चौरासी, पद सं० ७२।

सखियाँ केवल विहार की सम्पन्नता ही मे अपने को कृतकार्य नही मानती अपितु वे तो सब प्रकार की सेवा में नित्य तत्पर रहती हैं। श्री राधा के कृपा-कटाक्ष की अभिलाषा से वे सदा उसके भवन में उपस्थित रहना चाहती हैं, यदि उन्हे उसके भवन के मार्जन का कार्य भी मिले तो अपने को धन्य समझती हैं। इन सखियो का जहाँ प्रवेशाधिकार है वहाँ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भाव वाले भक्तों का प्रवेश कैसे सम्भव है। इन सखियो की चाटुकारिता मे श्रीकृष्ण स्वय सलग्न रहते हैं क्योकि उन्हे प्रिया का प्रसाद प्राप्त होता है।

रासेश्वरी राधा को रास में प्रवृत्त करने मे भी सखियो का बडा हाथ माना गया है। बडे चातुर्य से अपनी आराध्या राधा को ये सखियाँ रास के लिए बुला लाती हैं और इस प्रकार उनके साहाय्य से रास का समस्त क्रिया-कलाप सम्पन्न होता है। 'चौरासी' के पदो में अनेक पद इस भाव की व्यंजना करने वाले मिलते हैं—

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान
रास रच्यो स्याम तट कलिन्द नन्दिनी।

—हित चौरासी, पद सं० १२

मोहिनी मदन गोपाल की बांसुरी।
माधुरी श्रवन पुट सुनत सुन राधिके
करत रतिराज के ताप को नासुरी।
सरद राका रजनि विपनि वृन्दा सजनि
अनिल अति मद सीतल सहित बांसुरी।
—हित चौरासी, पद स० २६

तेरे हित लैन आई बनते श्याम पठाई
हरति कामिनि घन कदन काम को॥
काहे को करत बाधा सुन री चतुर राधा
भेंटि क मेटि री माई प्रगट जगत भौ॥
—हित चौरासी, पद स० ५८

नित्यविहार-परायण ये सखियाँ अन्य सम्प्रदायो में वर्णित गोपी-भाव से सर्वथा पृथक् और स्वतत्र अस्तित्व रखती हैं। इनके मन मे श्रीकृष्ण के प्रति रति भाव नही होता—ये श्रीकृष्ण से मिलन, आलिङ्गन आदि की कोई आकाक्षा लेकर रासविलास मे सम्मिलित नही होती। अपनी आराध्या की किंकरी जान यदि श्रीकृष्ण इनके प्रति अपने स्नेह भाव को व्यक्त भी करें तो भी ये उस प्रकार की वासना अपने मन में सहेजती नही। यह स्थिति और मन का यह उदार 'तत्सुखिभाव' ही इनको सामान्य गोपिगण से पृथक् ला खडा करता है। हित चौरासी के पदो में यह भाव अनेक स्यलो पर स्पष्ट रूप से वर्णित है—

आज वन नीको रास वनायो।
पुलिन पवित्र सुभग जमुना तट मोहन वेनु वजायो,
कल ककन किंकिन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायो।
जुवतिन मडल मध्य स्यामघन सारग राग वजायो,
ताल मृदग उपग मुरज डफ मिलि रस सिन्धु बढ़ायो॥
+ + +
सकल उदार नृपति चूडामनि सुख वारिद वरसायो।
परिरम्भन चुम्बन आलिगन उचित जुवति जन पायो॥
—हितचौरासी, पद स० ३६

यही भाव राधासुधानिधि के कई श्लोको में व्यापक विस्तार के साथ व्यक्त हुआ है।[1]

ये सखियाँ स्पर्धा, ईर्ष्या, जलन, डाह आदि किसी प्रकार के दुर्भाव को रचक मात्र

१ कदा रासे प्रेमोन्मद रसविलासेद्भुतमये
दिशोर्मध्ये भ्राजन्मधुपति सखीवृन्दवलये।
मुदान्त कान्तेन स्वरचित महालास्य कलया
निषेवे नृत्यन्तीं व्यजन नव ताम्बूल सकलै॥
—राधासुधानिधि, श्लोक स० १५८।

भी मन मे स्थान नही देती। इनकी कैतव-रहित प्रीति की व्यंजना उस समय भली भाँति होती है जब ये 'सुरतोपरान्त' युगल सरकार की सेवा में आनन्द पुलकित होकर लीन होती हैं। उनका हृदय राधा-माधव के निभृत निकुञ्ज में मिलन से इतना प्रमुदित है कि वे आत्मविभोर होकर मतवाली होकर नाचने लगती है।[1]

आज अति राजत दम्पति भोर।
सुरत रग के रस में भीने नागरि नवलकिशोर॥

—हित चौरासी, पद सं० ३१

लालजी (श्रीकृष्ण) को राधा के पास ले जाने के लिए सखियाँ जिन युक्तियो का प्रयोग करती हैं वे उनकी विदग्धता और वाक्पटुता का सुन्दर निदर्शन है। 'हित चौरासी' मे इस भाव को व्यक्त करने वाले चार-पाँच बहुत सुन्दर पद श्री हरिवश जी ने लिखे हैं। सहचरी राधा से कहती है—हे मानिनी राधा तू कु ज कुटीर में क्यो नही चलती ? कोटि-कोटि वनिताओ के होते हुए भी तेरे विना कुँवर (श्याम) मदन-पीडा से व्याकुल हैं।[2] दूसरे एक और पद में राधा को समझाती हुई सखी कहती है— 'हे मृगलोचनि ! तू व्यर्थ ही मान क्यों बढाती है ? मैं भय और संकोचवश तुझसे श्याम की वात कह नही सकती। मुरली बजाते हुए तेरी

---

१. प्रात. पीतपट कदा व्यपनयाम्यन्यांशु कस्यार्पणात्
कुंजे विस्मृत कचुकीमपि समानेतुं प्रवावामि वा।
वध्नीयां कवरीं युनज्मि गलितां मुक्तावली मंजये
नेत्रे नागरि रगकैश्चपि दधाम्यङ्ग व्रणं वा कदा॥

—राधासुधानिधि, श्लोक संख्या ७५।

कदा वा प्रोद्दाम स्मरसमरसंरम्भरभस,
प्ररूढ़ स्वेदाम्भ प्लुतलुलित चित्राखिलतनू।
गतौ कुंजद्वारे सुख मरुतिसंवीज्य परया,
मुदाह श्रीराधा-रसिक तिलकौ स्यां सुकृतिनी॥

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १६२।

२ चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर।
तो विनु कुँवरि कोटि वनिता जुत मथन मदन की पीर।
गद-गद सुर विरहाकुल पुलकित श्रवत विलोचन नीर।
क्वासि-क्वासि वृषभानुनंदिनी विलपत विपिन अधीर।
वंशी विसिष व्याल मालावलि पंचानन पिक कीर॥
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर।
हित हरिवश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर।
सुनि भयभीत व्रज को पजर सुरत सूर रणवीर॥

—हित चौरासी, पद सं० ३७।

आकृति का ध्यान करके उनके मन की स्थिति विचित्र हो जाती है।"[१] सहचरिगण की वचन-विदग्धता के तो इतने उदाहरण उपलब्ध होते हैं कि उन्हे उद्धृत करना सम्भव नही है। इसी भाव का विशद वर्णन राधासुधानिधि के अनक श्लोको मे हुआ है।[२]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में सहचरी को विभिन्न कोटियो में परिगणित नही किया गया। 'अन्तरग सखी' का वर्णन अवश्य है, जो निज रूप में आकर राधा के कैंकर्य द्वारा निकुञ्ज में स्थान पाने की अधिकारिणी वन जाती है वही अन्तरग वनती है। 'मजरी' आदि विशिष्ट नाम का विधान यहाँ नही है। नित्यविहार में इन सखियो का उपास्य-तत्त्व लीला-दर्शन मात्र है। उसी में इन्हें अनिर्वचीय आनन्दोपलब्धि होती है अत किसी और प्रकार की वासना इनके मन में आती ही नही। स्मरण रहे कि गोपीभाव के साथ सहचरीभाव का साम्य नही, दोनो का क्षेत्र और ध्येय पृथक् होने से नित्यविहार मे भी भेद ही रहता है।

## रसोपासना मे वृन्दावन

वैष्णव भक्तो ने वृन्दावन को श्रीकृष्ण का धाम होने के कारण वैकुठ, गोलोक आदि से बढकर माना है और उसका माहात्म्य प्रतिपादित करते हुए उन समस्त गुणो का उसमें आधान स्वीकार किया है जो अपनी रज के स्पर्शमात्र से भक्त के जन्म-जन्मान्तर के कल्मष धोकर उसे भगवान् के निकट पहुँचा देता है। वृन्दावन मे भगवद्भक्ति अबाध गति से सतत नृत्य करती रहती है ऐसा भागवतपुराण में कहा गया है—'धन्य वृन्दावन तेन भक्तिर्नृत्यति यत्र च।' 'श्रीमद्भागवतपुराण' में वृन्दावन के माहात्म्य का वर्णन श्रीकृष्ण, उद्धव, ब्रह्मा, आदि ने अनेक स्थान पर किया है। वृन्दावन को दिव्य धाम माना गया है और उसके स्वरूप वर्णन में समस्त गुणो का कीर्त्तन किया गया है। परम ज्ञानी उद्धव वृन्दावन में तृण बनने की आकाक्षा करते हैं ताकि गोपियो की चरण-रेणु का स्पर्श कर कृतार्थ हो सकें।

आसामहो चरणरेणुजुषामह स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यज स्वजनमार्यपथ च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

—श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।६१

---

१ काहे को मान बढ़ावत है बालक मृगलोचनि।
हौंव डरनि कछु कहि न सकत इक बात सकोचनि।
नत्त मुरलि अतर तव गावत जागृत सैन तवाकृति सोचनि।
हित हरिवश महामोहन पिय आतुर विट विरहज दुख मोचनि।
—हित चौरासी, पद स० ७४।

२ त र ते पत्रालि किमपि कुचयो' कर्त्तुमुचित
पद ते कु जेषु प्रियमभिसरन्त्या अभिसृतौ।
दृशौ कु जच्छिद्रैस्तव निभृतकेलि कलयितु
यदा वीक्षे राधे तदपि भविता किं शुभदिनम्॥ —राधासुधानिधि, श्लोक स० १०५।

पद्मपुराण के पाताल खड के द्वितीय अध्याय में वृन्दावन माहात्म्य का बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है। यह वर्णन दिव्य वृन्दावन का है अतः उसमे अलौकिक वैभव की स्थिति स्वाभाविक है। वृन्दावन धाम को गुह्य से गुह्य, परमानन्द दाता, अद्भुत रहस्यों से परिपूर्ण, दुर्लभ, सर्वशक्तिसम्पन्न, विष्णु को भी अत्यन्त दुर्लभ, ब्रह्माड के ऊपर स्थित धाम बताया है।[1] गोलोक से वृन्दावन को श्रेष्ठ ठहराते हुए निरस्तसाम्यातिशय भगवद्धाम कहा है। यहाँ वृन्दावन को शाश्वत कहकर प्रकृति के स्थूल रूप से पृथक् कर दिया है। प्राय. सभी पुराणो में वृन्दावन को नित्यधाम मानकर ही उसका वर्णन है। यह नित्यधाम पृथ्वी-स्थित आधुनिक वृन्दावन नही है अपितु प्रतीकपरक वृन्दावन का ही वर्णन पुराणो मे किया गया है। स्कन्दपुराण के वैष्णव खड में भगवत्माहात्म्य-वर्णन करते हुए भगवान् शांडिल्य व्रजभूमि का रहस्य बताते हैं—यह व्रज समस्त भूमडल मे व्याप्त है, गुणातीत परब्रह्म भी सर्वत्र व्याप्त रहते हैं अतः यह भी व्रज कहा जाता है। जिस प्रकार तालाब में कमल निर्लेप भाव से स्थित रहता है उसी प्रकार भूमडल पर यह व्रज भी किसी प्रकार के कालुष्य को ग्रहण किये बिना अनाविल और शुद्ध बना रहता है।[2] नारद पंचरात्र में भी वृन्दावन का

---

१—गुह्याद्गुह्यतरं पुण्य परमानंद कारकम्।
अत्युद्भुतं रह स्यानं रहस्यं परमं पदम्॥
दुर्लभानां च परमं दुर्लभ मोहनं परम्।
सर्वशक्तिमयं देवि सर्वस्यानेषु गोपितम्॥
सात्वतां स्थानमूर्द्धन्यं विष्णोरत्यन्त दुर्लभम्।
नित्यं वृन्दावनं नाम ब्रह्माण्डोपरि संस्थितम्॥
गोलोकैश्वर्यंच यत्किंचिद्गोकुले तत्प्रतिष्ठितम्।
वैकुंठ वैभवं यद्वै द्वारका तां प्रतिष्ठितम्॥
यद् ब्रह्म परमैश्वर्य नित्यं वृन्दावनं श्रियम्।
कृष्णधाम परं तेषा, वन मध्ये विशेषत·
+ + +
नित्यं वृन्दावनं नाम नित्यंरासरसोत्सवम्।
अदृश्यं परमं गुह्यं पूर्ण प्रेम रसात्मकम्॥
शून्ये स्थितं निराधारं ध्रुवमेवेश्वरेच्छया,
नित्यं वृन्दावनं नाम रहस्यं परमं पदम्॥

—पद्मपुराण, पाताल खंड, द्वितीय अध्याय
(वृन्दावन माहात्म्य प्रकरण)

२—व्रजनं व्याप्तिरित्युक्त्या व्यापनाद् व्रज उच्यते।
गुणातीतं परब्रह्म व्यापकं व्रज उच्यते॥
ततो वृन्दावनं पुण्यं वृन्दादेवी समाश्रितम्।
हरिणाधिष्ठित तच्च ब्रह्मरुद्रादिसेवितम्।

वर्णन दिव्यधाम के रूप में विस्तार से किया गया है। वृन्दावन में अनेक केलि-स्थलो की कल्पना की गई है। यहाँ के वृक्ष कल्पद्रुम के समान मनोरथ पूर्ण करने वाले हैं और व्रज-स्थली मणिमय है। असख्य विहग तथा गायें वहाँ विचरण करती हैं और नाना प्रकार की रासमडल भूमि हैं। केलिकुजो का वाहुल्य है। वृन्दावन का रूप ब्रह्म के समान सुन्दर है, कौन उसका वर्णन कर सकता है, वह वर्णनातीत और परम सुन्दर है।[1]

वृहद् ब्रह्मसहिता के द्वितीय अध्याय में वृन्दावन का वर्णन रासलीला प्रकरण में आया है। उसमें कहा गया है कि वृन्दावन की भूमि चिन्तामणि निर्मित है और वहाँ का जल अमृत के समान है। वृक्ष सुरद्रुमसनिभ हैं, सदा किशोर रहने वाले तरुण और तरुणियो से वृन्दावन आवेष्टित रहता है। वह वडा रहस्यमय और गुह्य है। हरि वहाँ राधा के साथ नित्य क्रीडा करते हैं।[2] इस वृन्दावन वर्णन में वृन्दावन व्यापक अर्थ में गृहीत हुआ है। वहाँ वृन्दावन को समस्त व्रज का पर्याय मान कर उसका वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि पुराणो में व्रज और वृन्दावन का भेद किसी सूक्ष्म आधार पर नही किया था। गोकुल, गोवर्धन तथा वृन्दावन तीनो को कई स्थलो पर एक ही मानकर वर्णन कर दिया गया है। कदाचित् व्रजमडल की समवेत भावना लेकर यह हुआ है। वैष्णव-भक्ति सम्प्रदायो में भी इसी प्रकार का सयुक्त वर्णन देखने में आता है। भावना के सम्बन्ध में भी सूक्ष्म वृन्दावन को ही प्राय

---

वत्सै वत्सरीभिश्च तत्र क्रीडति माधव ।
वृन्दावनान्तरगत सरार्मा वालकैर्मृत ।

—स्कद पुराण ( वैष्णव खड )

१—महावृन्दावन तत्र केलि वृन्दावनानिच ।
वृक्षा कल्पद्रुमाश्चैव चिन्तामणिमयी स्थली ॥
क्रीडा विहग लक्षा च सुरभीणामनेकश ।
नाना चित्रविचित्र श्रीरासमडल भूमय ॥
केलि कुज निकुजानि नाना सौख्य स्थलानि च ।
प्राचीरच्छत्र रत्नानि फणा शेपस्य भान्त्य हि ॥

—नारद पचरात्र ( श्रुतिविद्या सवाद )

२—श्रीमद्वृन्दावन रम्य पूर्णानन्द रसाश्रयम् ।
भूमिश्चिन्तामणिस्तोयममृत रसपूरितम् ॥
वृक्षा सुरद्रमास्तत्र सुरभीवृन्द मडितम् ।
सदाकिशोररूपैश्च तरुणीतरुणैर्युतम् ॥
वृन्द य चावन यस्मात् तस्मात् वृन्दावनस्मृतम् ।
गुह्याद्गुह्यतम गूढ़ गोलोके तत्प्रतिष्ठितम् ॥
तत्र गोविन्दरूपेण स्वय क्रीडति राधिका ।
एव वृन्दावनविद्धि गोवर्धनसमन्वितम् ॥

—वृहद् ब्रह्मसहिता, अध्याय २ ।

ग्रहण किया गया है। वृन्दावन भावना का विषय बनकर अपने स्थूल भौतिक रूप को जैसे खो बैठा है। "भगवदाकार से आकारितवृत्ति पर भगवत्तत्व का प्राकट्य होता है, उसे भी वृन्दावन कहते हैं। इस प्रकार साभास, अव्याकृत एवं साभास चरमावृत्ति को भी वृन्दावन कहते हैं। इसीलिए जो महानुभाव, वृन्दावन के उपासक होते हुए भी प्रसिद्ध वृन्दावन मे प्रारब्धवश नही रह पाते, वे भी व्यापी वैकुंठ, कारण-तत्त्वस्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से तत्स्वरूप वृन्दावन का प्राकट्य शक्ति-बल से कही भी रहकर सम्पादन करते हैं।"[1]

## भक्ति-स्तोत्र-ग्रंथों में वृन्दावन

श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ने 'वृन्दावन महिमामृत' नाम से वृन्दावन-शतक लिखा है। यह ग्रन्थ वृन्दावन का पार्थिव-अपार्थिव स्वरूप प्रस्तुत करता हुआ भक्त की वृन्दावन-भावना को व्यापक रूप से उद्घाटित करता है। वृन्दावन-महिमा पर इससे सुन्दर दूसरा स्तोत्र ग्रथ अद्यावधि नही लिखा गया। प्रबोधानन्दजी की भावना ही भक्ति-सम्प्रदायो की वृन्दावन विषयक भावना है अत हम सक्षेप मे उनके वृन्दावन-वर्णन पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं। यह अनुश्रुति से चला आ रहा है कि श्री प्रबोधानन्द जी ने वृन्दावन महिमा गान करने के लिए सौ-सौ श्लोको के सौ शतक लिखे थे। हमारे देखने में सम्पूर्ण सौ शतक नही आये हैं, अठारह शतक हमने देखे हैं। हो सकता है कि सम्पूर्ण शतक कही अब भी सुरक्षित हो। वृन्दावन की महिमा-गान करते हुए प्रथम शतक के द्वितीय श्लोक मे स्पष्ट कहा है कि 'स्वयं शेष भी वृन्दावन महिमामृत-रूपी-समुद्र के पार जाने में असमर्थ है—तब अन्य साधारण जन तो इस का वर्णन करने का साहस भी भला कैसे कर सकते हैं।[2]

वृन्दावन को दिव्य प्रकाश का धाम मानकर सासारिक अज्ञानांधकार से बचने का कारण बताया गया है। कोटि-कोटि सूर्य, चन्द्र, अग्नि एव विद्युत-समूह की प्रभा को जीतने वाली महादीप्तिमती वृन्दाटवी जिस किसी के चित्त में एक बार भी उदित हो जाती है फिर उसके मन में स्त्री, पुत्र, प्रतिष्ठा, विषय-वासना के लिए स्थान नही रहता।[3] इसलिए

---

१. भगवत्तत्व—ले० श्री स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्री जी), पृष्ठ १६०।

२. शेषोऽपियस्य महिमामृत वारिराशेः,
पारं प्रयातुमनलम्बत तत्र केऽन्ये।
किन्त्वल्पमप्यहमति प्रणयाद्विगाह्य,
स्यां धन्य धन्य इति मे समुपक्रमोऽयम्॥
—वृन्दावन महिमामृत प्रथम शतक, श्लोक २।

३ वृन्दाटवी यदि रवीन्दुहुताश विद्युत्
कोटि प्रभा विभवकारि महाप्रभाढ्या।
आत्मप्रभा सकृदपि प्रतिभातिचित्ते,
वित्तैषणादि नहि तस्य मनस्युदेति॥
—वृन्दावन महिमामृत शतक प्रथम, श्लोक ३७।

किसी भी बन्धन में पडकर वृन्दावन से दूर नहीं रहना चाहिए। यहाँ तक कि यदि वृन्दावन-वास करने के लिए वेदाज्ञा को भी भग करना पड़े तो निर्भय होकर उसका उल्लघन कर देना चाहिए। गुरुजनो का आदेश भी यदि वृन्दावन-वास के मार्ग में बाधक हो तो उसका निस्सकोच अतिक्रमण कर देना कर्त्तव्य है। वृ'दावन वास के लिए किसी भी प्रसग को ध्यान में नही लाना चाहिए। जितना शीघ्र सम्भव हो वृन्दावन के लिए साधक प्रस्थान कर दे।[1] वृन्दावन पहुँचकर यदि मदनमोहन (कृष्ण) के द्वार पर साधक को कुक्कुरी का भी स्थान मिले तो वह भी श्लाघ्य है। अन्य स्थानो पर लक्ष्मी बनकर रहना भी श्रेयस्कर नही है।[2] यदि वृन्दावन में तृण बनकर भी रहने का सुअवसर प्राप्त हो तो मुट्ठी में आई हुई वैकु ठ-लक्ष्मी की ओर आँख उठाकर भी साधक नही देखना चाहता। वृन्दावन मे यदि उसकी घोरतर निम्न दशा हो जाय तब तक भी वह समस्त प्राकृत-अप्राकृत ऐश्वर्यों की कामना नही करता। यदि वृन्दावन के जीव साधक का स्वागत न करें और उसे पीडा भी दे तो भी साधक को वही रहना चाहिए।[3]

श्री रसिकोत्तस ने अपने 'प्रेमपत्तनम्' ग्रन्थ में वृन्दावन को दिव्य-धाम का रूप देकर माधुर्य-भक्ति का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। वहाँ प्रेमपत्तन (वृन्दावन) की स्थिति गगन में वर्णित की गई है। प्रेमपत्तन की टीका में लिखा है—'तन्नगर च लीलापरिकरात्मक नित्यसिद्धा सूक्तजन निवासस्थान श्री वृन्दावनान्तर्गत मडलमेव भगवत प्रकाशविषये वृन्दावने वन मे देह रूपम्।'

---

१ न वेदाज्ञाभगे कुरु भयमयेनापि वचन,
गुरूणा मन्येथा प्रविश नहि लोकव्यवहृतौ।
कुटुम्बाद्येर्दीने व्रवन कृपया नौ भवसितौ,
असकृत्स्नेहैर्वृन्दावनमनु हठान्नि सरसखे ॥
—वृन्दावन शतक प्रथम, श्लोक ५२।

२ वरमिह वृन्दारण्ये सुखराकी मदनमोहन द्वारि।
अपि सरमापि रमाप्रियसख्यपिनान्यत्रनो रमापिस्याम् ॥
—वृन्दावन शतक द्वितीय, श्लोक ६७।

३. यदि वृन्दावन विन्दाम्यपि तृणतान्ते वनान्तेषु।
न तदा वैकुण्ठलक्ष्मीमपि करमिलितां निमालये ललिताम् ॥
सर्वदुसदशा घोरा वरं वृन्दावनेऽस्तु मे।
प्राकृताऽप्राकृताऽशेषविभूतिरपि नान्यत ॥
कुर्वत्यपि महारौद्रमुपद्रवमनुक्षणम्।
भक्तिवृन्दाटवीसत्वे तत्वेक्षात सदाऽस्तु मे।
वृन्दावन शतक, चतुर्थ श्लोक ६०, ६१, ६२।

मति रति युवति पतिर्यत्पालयिता मधुर मेच को राजा ।
गगने विलसति नतरं नैकशिरोमन्दिरं नाम ॥[1]

रसिकोत्तस का प्रेमपत्तन नाममात्र को वृन्दावन है, यथार्थ मे वह एक नित्य केलिस्थल का द्योतक कराने वाला भाव है। किसी स्थूल भौतिक स्थान का वर्णन उनके ग्रन्थ मे नहीं है। इस सूक्ष्म वृन्दावन के रास वृन्दावन और गोष्ठ्य वृन्दावन नामक दो भेद भी किये जाते हैं जो भाव-विशेष के आधार पर स्थिर किये गये हैं।

'चैतन्य चरितामृत' में इस दिव्य वृन्दावन का उल्लेख आया है और उसे समस्त धामो से श्रेष्ठ बताया गया है। कृष्ण के विभु-रूप तथा अवतार-रूप के लिए व्योम-लोक आदि की कल्पना की जाती है, उनके बाद द्वारका, मथुरा और गोकुल का वर्णन है। इनमें गोकुल को व्रजलोक धाम होने के कारण श्रेष्ठतम माना है। उसके बाद गोलोक में श्वेत द्वीप वृन्दावन को गिनाया है। इसका क्या तात्पर्य है यह स्पष्ट न होने पर भी वृन्दावन का सर्वाधिक माहात्म्य तो स्पष्ट ही है—

ताहार उपरि भागे कृष्ण लोकख्याति।
द्वारका, मथुरा, गोकुल त्रिविधत्वे स्थिति.
सर्वोपरि श्री गोकुल व्रजलोकधामा।
श्री गोलोक श्वेत द्वीप वृन्दावन नाम॥
सर्वग अनन्त विभु कृष्ण तनु सम।
उपर्यधो व्यापिछे नाहिक नियम॥[2]

पुराणो के आधार पर वृन्दावन को कल्पवृक्ष से युक्त चिन्तामणि-निर्मित भूमि वाला भी कहा गया है—

चिन्तामणि भूमि कल्पवृक्षमयवन, चर्मचक्षु देखे तारे प्रपंच मन।
प्रेमनेत्र देखे तार स्वरूपप्रकाश, गोपी संगे जाहाँ कृष्णेर विलास॥

उपर्युक्त उद्धरणो मे वृन्दावन का जैसा वर्णन है वह भौतिक वृन्दावन के दृश्य-स्वरूप पर प्रकाश डालने वाला नही है। इन वर्णनो में भावनापरक दिव्य वृन्दावन का ही उल्लेख है। प्राय सभी वैष्णव सम्प्रदायो में वृन्दावन के विषय मे ऐसी ही दिव्य धारणा रही है। भौतिक वृन्दावन को लेकर विवेचन नही किया गया। 'भावुको ने व्रजतत्त्व को हिततम वेद वेद्य प्रेमतत्त्व का स्वरूप अर्थात् शरीर ही माना है। प्रेमतत्त्व के व्रजधाम स्वरूप देह मे श्री व्रज नवयुवतिजन इन्द्रियरूपिणी हैं। मन स्वरूप रसिकेन्द्र वर्ग मूर्धन्यमणि श्री व्रजराज किशोर हैं तथा प्राणरूपा प्रज्ञा के स्थान मे व्रजनवयुवति कदम्ब मुकुटमणि श्री राधा हैं।'[3] भौतिक वृन्दावन का विशद वर्णन प्रस्तुत करके इसी वृन्दावन के स्थूल रूप पर आस्था रखने का आग्रह केवल राधावल्लभ सम्प्रदाय में पाया जाता है।

---

१ प्रेमपत्तनम्—रसिकोत्तस रचित, पृष्ठ ८, श्लोक ६।

२ चैतन्य चरितामृत—पृष्ठ २०१।

३. श्री भगवदतत्त्व, ले० स्वामी हरिहरानन्द सरस्वती (करपात्रीजी), पृष्ठ १५६।

## राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन

राधावल्लभ सम्प्रदाय में जिस वृन्दावन की स्वीकृति है और जिसका वाणी-ग्रथो में अत्यधिक वर्णन है वह कल्पना द्वारा चित्रित सूक्ष्म वृन्दावन नही है। यह भौतिक वृन्दावन ही अपने कुंज, लता, गुल्मो से वेष्टित होकर श्री राधा-कृष्ण की रास स्थली बनता है, नित्य-विहार का आधार बनता है और इस कारण प्राकृतिक होते हुए भी राधाकृष्ण के नित्य सयोग के कारण नित्य और शाश्वत वन जाता है। श्री हितहरिवशजी ने इसी भौतिक किन्तु नित्यवृन्दावन का राधासुधानिधि के अनेक श्लोको में वर्णन किया है। अपने मन को सम्बोधित करके वे कहते हैं कि हे मेरे मन! तू समस्त महत् चेष्टाओ को दूर ही से छोडकर प्रीतिपूर्वक वृन्दाटवी का अनुसरण कर—'वृन्दानि सर्वमहतामपहाय दूराद्वृन्दाटवीमनुसर प्रणयेन चेत'। भक्त को उस वैकुंठ से क्या प्रयोजन जहाँ उसकी परमाराध्या राधा नही है। भक्त तो वृन्दावन भूमि से मधुर आशा बनाये रखना चाहता है क्योकि इसी भूमि में उसे सुख प्राप्ति होती है—

**किंवा वैकुंठ लक्ष्म्याप्यहह परमया यत्र मे नास्ति राधा।**
**किन्त्वाशाप्यस्तु वृन्दावन भुवि मधुरा कोटि जन्मान्तरेऽपि ॥[1]**

भक्त अपनी जीवन-लीला समाप्त करने के लिए वृन्दावन भूमि को ही परम पुनीत मानकर प्रार्थना करता है कि क्या यह सम्भव होगा कि मैं श्री राधा के चरण-युगलो का ध्यान करता हुआ इस वृन्दावन में ही अपना शरीर त्यागकर अपने को धन्य बनाऊँ।[2]

वृन्दावन को राधा-केलि-कलाओ का साक्षी, प्रकट उज्ज्वल रस परिपूर्ण तथा परम पावन मानकर यहाँ वास करने की आकाक्षा इस प्रकार व्यक्त की गई है—

**राधाकेलि कलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने।**
**वत्स्यामि स्फुटमुज्ज्वलाद्भुतरसे प्रेमैकमत्ताकृति ॥[3]**

वृन्दावन नित्यविहार में उत्पन्न होने वाली परम रसमाधुरी का एकमात्र कारण है, अत राधा-माधव के बिना वैकुंठ भी इसकी समता नही कर पाता। श्री हितहरिवशजी ने इस भाव को वार-वार विविध शैलियो से व्यक्त किया है।

**किं ब्रूमोऽन्यत्र कुंठीकृतकजनपदे धाम्न्यपि श्रीविकुंठे,**
**राधामाधुर्य वेत्तामधुपतिरयतन्माधुरीं वेत्ति राधा।**
**वृन्दारण्यस्थलीय परमरससुधामाधुरीणा धुरीणां,**
**तद् द्वन्द्व स्वादनीय सकलमपि ददौ राधिका किंकरीभ्य ॥[4]**

हित चौरासी के पदो में भी वृन्दावन का वर्णन हुआ है। वृन्दावन को प्रणाम करते हुए श्री हितहरिवशजी कहते हैं

---

१ राधासुधानिधि—श्लोक २१६।
२ ,, — ,, २६१।
३ ,, — ,, २६६।
४ ,, — ,, १७५।

प्रथम यथामति प्रणऊँ श्री वृन्दावन अतिरम्य ।
श्रीराधिका कृपा बिनु सबके मननि अगम्य ।।
वर यमुना जल सींचत दिन ही शरद वसन्त ।
विविध भाँति सुमनस के सौरभ अलिकुलमंत ।।
अरुण नूत पल्लव पर कूजित कोकिल कीर ।
निर्तत करत सिखी कुल अति आनंद अधीर ।।
वहत पवन रुचिदायक शीतलमद सुगंध ।
अरुण नील सित मुकुलित जहँ तहँ पूषन बंधु ।।
अति कमनीय विराजत मंदिर नवल निकुंज ।
सेवत सगन प्रीति जुत दिन मीनध्वज पुंज ।।
रसिक रास जहाँ खेलत श्यामा श्याम किशोर ।
उभै बाहु परि रंजित उठे उनीदे भोर ।।[1]

सेवकवाणी में वृन्दावन के वैभव का वर्णन अनेक पदो मे सेवकजी ने किया है। यह वर्णन दिव्य वृन्दावन का न होकर भूमडल पर स्थित इसी भौतिक वृन्दावन का है। वृन्दावन का यह वैभव श्री हरिवश जी को उपलब्ध है अत. सेवकजी इसी भौतिक वृन्दावन की ओर इगित कर रहे हैं।

श्री वृन्दावन वैभव जिती, वरनत वुद्धि प्रमानौं किती। तिती सवै हरिवंश की।[2]

'श्री वृन्दावन नव-नवकुंज। श्री हरिवंश प्रेमरस पुंज । श्री हरिवंश करत नित केलि।'[3]

'श्री वृन्दावन वास रास रस भूमि जहाँ। पुलिन मंजुल तहाँ क्रीड़त श्यामा श्याम।'

पुलिन मंजुल परम पावन त्रिविध तहाँ मारुत वहै।
कुंज भवन विचित्र शोभा मदन नित सेवत रहै।।[4]

नित्यविहार के विधायक तत्त्व के रूप मे वृन्दावन-महिमा का सेवक जी ने विशद वर्णन नही किया है किन्तु उनके वृन्दावन-वर्णन का प्रयोजन वही है।

व्यासजी ने दिव्य और भूमंडल-स्थित वृन्दावन का अन्तर स्पष्ट करते हुए अपनी वाणी में सर्वत्र भौतिक वृन्दावन का ही वर्णन किया है। इसी वृन्दावन वास की बलवती कामना उनके मन में रही है और इसके पूर्ण होने पर वे समस्त वैभव को हस्तगत हुआ मानते हैं। जब तक वे वृन्दावन-वास का अधिकार नही पा सके हैं तब तक यही कहते हैं कि—

---

१. हित चौरासी—पद सं० ५७।
२. श्री सेवकवाणी—श्री हितजस विलास प्रकरण पृष्ठ ४१।
३. श्री सेवकवाणी—श्री हित वाणी प्रकरण पृष्ठ ५६।
४. श्री सेवकवाणी— श्री हितमंगल गान प्रकरण पृष्ठ ६२।

"हम कब होहिंगे ब्रजवासी ।
ठाकुर नन्द किशोर हमारे ठकुरानी राधा-सी ।
सखी सहेली कब मिलिहैं वे हरिवंशी, हरिद सी ।
वसीवट की सीतल छैंयां, सुभग नदी जमुना-सी ।
जाकी वैभव करत लालसा, कर मीडत कमला सी ।
इतनी आस व्यास की पुजवौ वृन्दाविपिनविलासी ।।"[1]

वृन्दावन आ जाने पर वे वृन्दावन की महिमा वर्णन करते हुए कहते हैं —

धनि धनि वृन्दावन की धरनि ।
अधिक कोटि वैकुण्ठ लोक तें, सुक नारद मुनि बरनि ।
जहां स्याम की वाम केलि कुल धाम, काम मन हरनि ।।
+ + +
जहां महोरुह राज विराजत सदा फूल फल फलनि ।
तहां व्यास वसि ताप बुझायौ अतरहित की जरनि ।।

अगले पद में पुन इसी पार्थिव वृन्दावन का वर्णन है—

छबीली वृन्दावन की धरनि ।
सदा हरित सुखभरित मोहनी मोहन परसति करनि ।
धवल धेनु छवि नवल ग्वाल फवि सोभत द्रुम की जरनि ।।[2]
+ + +

व्यासजी ने वृन्दावन-सम्बन्धी लगभग दो दर्जन पद लिखे हैं और प्रत्येक पद में भौतिक वृन्दावन की छवि अंकित करके भक्त को इसी वृन्दावन में वास करने की प्रेरणा दी है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में वृन्दावन का क्या महत्व और स्थान है यह जानने के लिए व्यासजी के पद सबसे अधिक स्पष्ट और सीधे हैं। वृन्दावन के वृक्ष, वेल, गुल्म, निर्झर, लता सबको व्यासजी ने अपने लिए उपास्य माना है। व्यासजी की वाणी का साक्षात् प्रभाव रसखान के कुछ पदो पर स्पष्ट देखा जा सकता है।

ध्रुवदास जी ने भी वृन्दावन का यही स्वरूप, जो भूमडल पर अपनी लौकिक शोभा के साथ उपस्थित है, स्वीकार किया है। नित्यविहार में धाम के रूप में वृन्दावन का जैसा सुन्दर वर्णन ध्रुवदास जी के पदो में मिलता है वैसा अन्यत्र कम ही देखने मे आता है। ध्रुवदास जी नित्यविहार के व्याख्याता महानुभाव है अत' आपके पदो में वृन्दावन का रूप भी उसी भावना के साथ प्राय अंकित हुआ है।

'वृन्दावन लीला' में ध्रुवदासजी ने ११६ दोहो में वृन्दावन का वर्णन किया है। उनमें से कुछ दोहो को हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं—

वृन्दावन दुतिपत्र की उपमा को कछु नाहिं ।
कोटि कोटि वैकुण्ठ हू तेहि सम कहे न आहिं ।।

---

१—व्यासवाणी—पद सख्या २५६। २ व्यासवाणी पद स० ३१, ७।

यह आशा धरि चित्त में कहत यथामतियोर।
वृन्दावन सुख रंग कौ काहुन पायौ ओर ॥
लता लता सब कल्पतरु, पारिजात सब फूल।
सहज एक रस रहत हैं झलकत यमुना कूल ॥
वृन्दावन वैभव जितौ तितौ कह्यौ नहिं जात।
देखत सम्पति विपिन की कमलाहू ललचात ॥
वृन्दावन के वास की जिनकौं नाहिं हुलास।
माता मित्र सुतादितिय तजि ध्रुव तिनको वास ॥
खंड खंड ह्वै जाइ तन, अंग अग सत टूक।
वृन्दावन नहिं छाँडिये छँडिबो है बड़ी चूक ॥
वृन्दावन को नाम रटि वृन्दावन को देखि।
वृन्दावन सौं प्रीति करि वृन्दावन उर लेखि ॥
तजि कै वृन्दाविपिन कौं और तीर्थ जे जात।
छाड़ि विमल चिन्तामणि कौड़ी को ललचात ॥[1]

लौकिक वृन्दावन का उपर्युक्त दोहो मे जो रूप ध्रुवदासजी ने चित्रित किया है वह साम्प्रदायिक भावना का परिणाम है। किन्तु नित्य दिव्यधाम वृन्दावन भी ध्रुवदास जी की कल्पना मे था ऐसा उनके अन्य दोहो से विदित होता है। नित्य वृन्दावन का वर्णन निम्नाकित दोहों में द्रष्टव्य है—

आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद वन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि ॥
वृन्दाविपिन सुहावनी रहत एकरस नित्य।
प्रेम तरंग रंगे तहाँ एक प्रान द्वै मित्त ॥
प्रेम सिन्धु वृन्दाविपिन जाको अन्त न आदि।
जहाँ कलोलत रहत नित युगल किशोर अनादि ॥[2]
नित्य सहज वृन्दाविपिन नित्य सखी ललितादि।
नित ही विलसत एक रस युगल किशोर अनादि ॥[3]
वैभव सब ऐश्वर्यता ठाढ़ी सेवत दूरि।
परसत पावत कबहुँ नहि श्री वृन्दावन धूरि ॥[4]

राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'सुधर्मबोधिनी' नामक वाणी-संग्रह को धार्मिक सिद्धान्त

---

१. वृन्दावन लीला—ध्रुवदास रचित (ब्यालीस लीला) पृष्ठ १६-२२।
२. " " " " " " २०।
३. वृहद् पावन पुरान की भाषा—ध्रुवदास रचित—पृष्ठ ४२।
४. नेह मंजरी लीला—ध्रुवदास रचित—पृष्ठ २०४।

विवेचन की दृष्टि से प्रामाणिक ग्रथ माना जाता है। इसमें वृन्दावन का रूप निम्न भाँति वर्णित हुआ है —

अखिल धाम लीलात्मक ज्ञेयरूप हरिवंश।
ध्येय रूप वृन्दाविपिन सेवकगिरा प्रशस॥

वृन्दावन को प्रकट (भौतिक) मानते हुए लाडिलीदासजी सुधर्म-वोधिनी में लिखते है —

प्रगट महल वृन्दाविपिन महिली श्यामा श्याम।
नर नारी सब टहलिनी सेवत आठौं याम॥
प्रकट भाव आवेश सौं कीजे विजै सुभाव।
वृन्दावन रस रीति में तब उपजै चित चाव॥
वृन्दावन रस खेत में भाव अभाव की रार।
एक मिलावै वस्तु को एक करै ससार॥[1]

संक्षेप मे, राधावल्लभ सम्प्रदाय मे वृन्दावन को भूमडल पर स्थित और लता-गुल्म-परिवेष्टित सौन्दर्य-निकेत माना जाता है। इसी वृन्दावन में राधाकृष्ण अपना नित्यविहार करते हैं। नित्यविहार के चार उपकरणो में इस वृन्दावन का भी स्थान है। आगे के पृष्ठों में हम नित्यविहार का वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं, वहाँ वृन्दावन के महत्व और उपयोग का भी सकेत करेगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि इस सम्प्रदाय में वृन्दावन को कल्पना पर निर्भर सूक्ष्म या आध्यात्मिक नही माना गया है। भौतिक रूप मे भी यह वृन्दावन नित्य और शाश्वत रहता है। यही इसकी विशेपता समझनी चाहिए। वृन्दावन, राधा-माधव को क्रीडा-स्फुरण प्रदान करने वाला है अत राधा-माधव भी इसके अधीन रहते हैं, वृन्दावन सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रहता है। इस भावना का आधार पौराणिक है और सभी वैष्णव सम्प्रदायो में यह समान भाव से स्वीकृत है किन्तु भूतल-स्थित वृन्दावन का स्थूल रूप अन्य सम्प्रदायो में इस कोटि तक मान्य नही है यही राधावल्लभ सम्प्रदाय की वृन्दावन-विषयक मान्यता मे विशेपता है।

## नित्यविहार का स्वरूप

रसमार्गीय उपासना-पद्धति को स्वीकार करने वाले वैष्णव सम्प्रदायो में नित्यविहार शब्द पर्याप्त प्रसिद्ध है। इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किस ग्रथ में और किन ग्रथों में हुआ यह जानने के लिए चैतन्य-सम्प्रदाय, निम्बार्क-सम्प्रदाय, वल्लभ-सम्प्रदाय और राधावल्लभ सम्प्रदाय की उपासना पद्धति का अनुशीलन आवश्यक है। चैतन्य सम्प्रदाय के सस्कृत ग्रथो में व्रजरस तथा निकुजलीला-रस का वर्णन तो हुआ है किन्तु साम्प्रदायिक उपासना-सिद्धान्त को दृष्टि में रखते हुए उसका पर्यवसान नित्यविहार की एकान्त स्थिति को ध्यान में रखकर समीचीन नही बैठता। श्री रूपगोस्वामी के 'निकुज रहस्यस्तव' ग्रथ में व्रजरस को ही व्यापक रूप में निकुजलीला के रूप में वर्णित किया है। चैतन्य सम्प्रदाय की 'व्रजरस एव

१—सुधर्म-बोधिनी—श्री लाडिलीदास कृत, पृष्ठ २।

व्रजपरिकर' की भावना का उल्लेख करते हुए 'श्रीमद्वैष्णव सिद्धान्त-रत्न-सग्रह' नामक ग्रथ में लिखा है—

'व्रज में श्रीकृष्ण की नरलीला है, गोप अभिमान एव गोपवेश हैं। व्रज में वे चारो भावो के लीलारस का आस्वादन करते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। उनकी स्वरूप शक्ति ही प्रत्येक भावानुकूल लीला परिकर के रूप मे आत्म प्रकट कर विराजती है। + + +। मधुर भाव मे वात्सल्य से भी अधिक ममता है। श्री राधा आदि व्रज गोपीगण मधुर भाव के परिकर हैं। श्री राधिका ह्लादिनी शक्ति की मूर्तिविग्रह हैं। इनका अभिमान है कि श्रीकृष्ण इनके प्राणवल्लभ हैं, वे उनकी प्रेयसी हैं। श्रीकृष्ण भी तदनुरूप मानते हैं। इस अभिमानमूलक भावानुकूल के निजाग द्वारा भी श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं।[1]

**व्रज-प्रेम**—'समस्त व्रज परिकर श्रीकृष्ण सुखैक तात्पर्यमय प्रेम सहित श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। इनका प्रेम विशुद्ध माधुर्यमय है, उस पर ऐश्वर्य का कोई भी प्रभाव नही है। द्वारका मथुरा में भी दास्यादि उक्त चारो भाव हैं। वहाँ ये भाव ऐश्वर्य-मिश्रित हैं। परिकरो के भाव भी ऐश्वर्य द्वारा संकुचित हैं। + + +। श्रीकृष्ण के व्रज परिकरो में दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य, वात्सल्य से मधुरभाव के परिकर वर्ग का वैशिष्ट्य है। प्रेयसी वर्ग में अखण्डरसवल्लभा श्रीराधिका के रूप-गुण-माधुर्य तथा रस परिवेशन परिपाटी सर्वातिशायी है।'

व्रजरस में जिन चार भावो का समावेश चैतन्य सम्प्रदाय मे स्वीकृत किया गया है और व्रज-परिकर में जिनको स्थान मिला है, शुद्ध नित्यविहार मे उनको स्थान नही प्राप्त होता। दास्य, सख्य, वात्सल्य भाव भी नित्यविहार मे नही समाते। हाँ, यह व्रजरस निकुज लीलारस की ओर अग्रसर होने की सरणि अवश्य है किन्तु ध्येय नही। अतः गौडीय सम्प्रदाय में हम शुद्ध नित्यविहार भावना की स्थापना नहीं पाते हैं।

'वल्लभ सम्प्रदाय' में माधुर्य भक्ति का समावेश होने के उपरान्त निकुजलीला-वर्णन प्रारम्भ हुआ। अष्टछाप के कवियो ने लीला वर्णन के प्रसंगो में शृगार-भावना को स्थान देते हुए व्रजरस से आगे निकुजरस का वर्णन किया किन्तु जिन नित्य तत्त्वों के द्वारा 'नित्यविहार' सम्पन्न होता है उनमें राधा, माधव, तथा सहचरी की स्थिति उस उदात्त कोटि तक नही वर्णित हुई जैसी 'नित्यविहार' की एकान्त एवं शुद्ध परिकल्पना मे होनी चाहिए। गोस्वामी विट्ठलनाथ ने अपने 'शृङ्गार मडन' ग्रथ में रस-मार्ग का निर्देश किया है किन्तु वे इस मार्ग को अनधिकारियो के लिए निषिद्ध बताकर बचने का सकेत देते रहे।[2] इस भाव के अनुकूल ही श्री नन्ददास ने भी अपनी रासपचाध्यायी में कहा है कि

---

१—श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्नसंग्रह—मूल लेखक—( बंगला)
( हिन्दी रूपान्तर )—श्री राधागोविन्दनाथ, पृष्ठ ६७-६८।

२ प्रार्थयेरसिकास्वैरं पश्यन्त्विदमहर्निशम्।
एतद्रसानभिज्ञ माद्राक्षीदपि वैष्णव.॥ —श्री विट्ठलनाथ कृत शृङ्गार मंडन।

इस (रसमार्गी) काव्य को पढने का अधिकार उन्ही को है जो वास्तव में वैषयिक वासनाओं से छूटना चाहते हैं और जो तन, मन से कृष्ण से सम्बन्ध जोड चुके हैं, बालक या श्रद्धाहीन लोगो को इस काव्य को पढने का अधिकार नही ।[1] वल्लभ-सम्प्रदाय में मधुर भक्ति के आधार पर जो शृङ्गारपरक भावना व्यक्त हुई उसका आधार क्या था ? क्या वह नित्य-विहारपरक भावना थी या दास्य, सख्य, और वात्सल्य से ऊपर उठने का उपक्रममात्र ? श्री डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने शोधपूर्ण 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' नामक ग्रथ मे इसका उत्तर देते हुए लिखा है कि—'राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के प्रेमशृङ्गार की सयोगलीला के ध्यान पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार की भक्ति को उस सम्प्रदाय में 'परम माधुरी भाव' कहा गया है । अष्टछाप-भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदास जी ने भी राधाकृष्ण की युगल लीलाओ की उपासना सखा-सखी भाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनो सम्प्रदायो की छाया, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पडी, जिसके फलस्वरूप अष्टछाप काव्य में हमें सखी भाव से की गई युगल भक्ति के पद भी बडी सख्या में मिलते हैं ।"[2]

वल्लभ-सम्प्रदाय के शृ गार-परक वर्णन को डा० गुप्त ने राधावल्लभ सम्प्रदाय तथा स्वामी हरिदास के प्रभाव में स्वीकार किया है। हम भी उक्त मत से पूर्णतया सहमत हैं। इस सम्बन्ध में इतना और निवेदन करना है कि अष्टछाप के कवियो में वात्सल्य भाव की प्रधानता होने तथा रूप-माधुरी के स्थूल एव बाह्य चित्रण की ओर प्रवृत्ति होने से सूक्ष्म एव तात्त्विक नित्यविहार न तो उन्हे अभीष्ट था और न वह अपनी समग्र भावना मे सम्भव ही हुआ। हाँ, व्रजरस के जैसे सजीव और सागोपाग चित्र अष्टछाप के भक्त महानुभाव अकित कर सके वैसे हिन्दी साहित्य में दुर्लभ हैं। यथार्थ में, व्रजलीला तक ही इनकी भावना थी और उसी के पूर्ण परिपाक में इनकी शक्ति का उपयोग हुआ। राधा के स्वकीया भाव की स्वीकृति भी नित्यविहार के लिए उस कोटि तक सहायक नही हो सकती थी जिस कोटि के विहार को श्री हितहरिवंश और श्री स्वामी हरिदासजी ने प्रतिपादित किया था।

निम्बार्क-सम्प्रदाय के मूलाधार ग्रथो में भगवान् कृष्ण और राधा का जो स्वरूप स्वीकृत है उसे यदि सम्प्रदाय का प्रतिपाद्य माना जाय तो नित्यविहार की निष्ठा के लिए वहाँ भी पूरा अवकाश नही है। निम्बार्क मत में श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। वे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनो के आश्रय हैं। 'दशश्लोकी पर भाष्य करते हुए श्री हरिव्यासदेवाचार्य कहते हैं— 'उनका सच्चिदानन्दात्मक विग्रह है। व्रजधाम मे नित्य स्थित हैं। व्रज में वे द्विभुज हैं, और द्वारावति में चतुर्भुज हैं। यही व्रजकृष्ण जो अपनी प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति

---

१ हीनश्रद्ध निन्दक नास्तिक हरिधर्मबहिर्मुख।
तिनसो कबहूँ ना कहै, कहै तो नाहिन लहै सुख॥
—रास पचाध्यायी, नन्ददास कृत, पृष्ठ १८२।

२ 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय'—भाग २, पृष्ठ ६४३-६४४
—डा० दीनदयालु गुप्त।

राधा तथा अन्य आह्लादिनी गोपी-स्वरूप शक्तिय से परिवेष्टित रहते हैं, निम्बार्क सम्प्रदाय के उपास्य देव हैं।'[1] दशश्लोकी में श्रीकृष्ण को ही आराध्य कहा गया है और वे ही इस ससार के नियामक हैं। नित्यविहार की स्थिति सम्पादन करने के लिए उन्ही कृष्ण को राधा के साथ सयुक्त करके जब वर्णित किया जायगा तब 'नान्य गति. कृष्णपदारविन्दात्' ही मानना समीचीन होगा जो एकान्तविहार-भावना की दृष्टि से युक्तियुक्त नही है। निम्बार्क सम्प्रदाय की व्रजभाषा की वाणियो मे 'नित्यविहार' का वर्णन उसी शैली से हुआ है जैसा श्री हितहरिवश और स्वामी हरिदास ने किया। किन्तु इस सम्प्रदाय की वाणियाँ अर्वाचीन होने से प्रमाणकोटि में नही आती। 'महावाणी' और 'जुगल शतक' में नित्यविहार का विशद वर्णन है और उसकी भावना, शैली, रूप, विधि सब कुछ सम्पूर्ण है। जब तक इन दोनो वाणियों को श्री हरिवंश से पहले का प्रमाणित न कर दिया जाय तब तक इन्हें हम पुरातन मान्यता की कोटि में नहीं रख सकते। शोधात्मक अनुशीलन से 'महावाणी' ग्रथ तो पुराना प्रतीत नही होता जबकि इसे व्रजभाषा का आदि ग्रथ अर्थात् तेरहवी शताब्दी का बताया जाता है। 'युगल शतक' का समय भी सम्वत् १६५२ है। भाषा, शैली, विषय-वस्तु के आधार पर इसे सत्रहवी शती से पूर्व का नही माना जा सकता।

स्वामी हरिदास को निम्बार्क सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वीकार करने वाले निम्बार्की सज्जन 'नित्यविहार' को अपने यहाँ प्रचलित सिद्ध करते हैं। हमें यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नही कि स्वामी हरिदासजी ने विशुद्ध कोटि का नित्यविहार गाया है। हाँ, स्वकीया की भावना उसमे अवश्य है जिसे स्वामीजी भी छोड नही सके। नित्यविहार के चारो अगो में सखी या सहचरी का रूप-विधान स्वामीजी ने जिस शैली से किया वह बहुत सुन्दर है। इसी कारण उनके अनुयायियों ने सखी—सम्प्रदाय नाम से स्वामीजी का सम्प्रदाय स्थिर किया है।

जिस तात्त्विक अर्थ में आज नित्यविहार शब्द का प्रयोग होता है, हमारी दृष्टि में, उसका मूलाधार श्री गोस्वामी हितहरिवशजी के 'हित चौरासी' और 'राधासुधानिधि' नामक दो ग्रथ ही हैं। इन्होने नित्यविहार को सबसे पहले सूक्ष्म भावनापरक धरातल पर अवस्थित करके उसका वर्णन किया। 'राधासुधानिधि' में तो नित्यविहार में लीन राधा-माधव (प्रियाप्रियतम) की केलि-क्रीड़ाओ को देखने की उत्कट आकाक्षा वाली सखियो की मोहक अभिव्यक्तियो का ताँता बँधा हुआ है। 'हित चौरासी' में विहारदशा के सागोपाग चित्र अकित किये गये हैं। हितहरिवशजी की पद्धति का अनुसरण करके उनकी शिष्य-परम्परा

---

१. 'उपास्यस्य कृष्ण स्वामिनो रूपं सच्चिदानन्द विग्रहं स्वमहिमसंव्योमपुर शब्दित व्रजादि नित्यपदस्थितं व्रजे द्विभुजं गोपवेष द्वार्वत्यां चतुर्भुजं च।'

—दशश्लोकी निम्बादित्य, टीका—हरिव्यासदेव, पृष्ठ ३८।

'वृषभानुजा विशिष्टं कृष्णस्यस्वरूपे सदोपासनीयं नितरामेकान्तभावेन श्रवणाधिमर-नुकलनीयमित्यर्थ.।'

—दशश्लोकी निम्बादित्य, टीका—हरिव्यासदेव, पृष्ठ ३२।

में नित्यविहार बहुत व्यापक रूप से वर्णित हुआ। श्री सेवकजी, व्यासजी, ध्रुवदासजी, नेही नागरीदासजी, अनन्य अलीजी, चाचा वृन्दावनदासजी आदि अनेक महानुभावो ने इसे अपनी-अपनी निष्ठा और भावना के आधार पर गाया। कहना न होगा कि स्वामी हरिदासजी की शिष्य-परम्परा में भी भगवत रसिक जैसे रसज्ञ भक्त हुए जिनकी पीयूषवर्षिणी वाणी ने नित्यविहार को इतना सवेद्य रूप दिया कि उनकी पदावली का-सा मोहक चमत्कार अन्यत्र कम देखने में आता है।

साम्प्रदायिक दृष्टि से 'नित्यविहार' शब्द एक गूढ रसलीन तात्त्विक व्यजना का द्योतन कराने वाला है। उसे अनिर्वचनीय रसदशा कहा जाता है। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए यह कह सकते हैं कि एक शीतल, सघन, सुरम्य निभृत निकुज में प्रिया-प्रियतम (राधामाधव) अविच्छिन्न भाव से—सतत, शाश्वत रति-क्रीडा में सलग्न रहते हैं। उनकी यह केलि-क्रीडा विना किसी वाह्य या आन्तरिक अन्तराय के अनवरत चलती रहती है। अपनी इस केलि-क्रीडा से वे दर्शक-सहचरी रूप जीवात्मा को—दर्शनमात्र से अमित आनन्द प्रदान करते हैं। सहचरी इस केलि को निकुज रध्रो से देखकर ही अपनी कृतार्थता मानती है। इस निकुज लीला में न तो निकुजान्तरगमन सम्भव है, और न किसी प्रकार का स्थूल मान या स्थूल विरह ही।[1] चैतन्य, निम्बार्क और वल्लभ सम्प्रदाय के वर्णनो में मान, विरह, कोप तथा निकुजान्तरगमन का वर्णन होने से उसे एकात, विशुद्ध नित्यविहार नही कहा जा सकता।

'नित्यविहार' सम्पन्न होने के लिए राधावल्लभ सम्प्रदाय में चार नित्य तत्त्व स्वीकार किए गये हैं। इन चारो के समवेत रूप को ही नित्यविहार कहा जाता है। ये चार तत्व हैं—नित्यकिशोरी राधा, नित्यकिशोर कृष्ण, नित्यकिशोरी सहचरी और नित्य-धाम वृन्दावन। श्री लाडलीदासजी ने 'सुधर्मबोधिनी' नामक ग्रथ में नित्यविहार के अगो का वर्णन इस प्रकार किया है—

**गौर, श्याम, सहचरि, विपिन चार नाम मिलि एक।**
**श्री हरिवश सरोजपद गहि अनन्य व्रत टेक॥**[2]
**गौर, श्याम, सहचरि, विपिन चार वर्ण हरिवश।**
**नाम धाम अरु जहाँ लौं ते सव इनके अश॥**[3]

पुराणो में भी श्रीकृष्ण के वृन्दावन-विहार का वर्णन है, वह गोपीरमण और गोपियो का व्रजविहार है, उसमें स्वकीया-परकीया भाव की स्वीकृति रहती है, साथ ही मिलन-विरह

---

१ विच्छेदाभास मानादहह निमिषतो गात्रविस्त्रसनादौ,
घचत्कल्पाग्नि कोटि ज्वलितमित भवेद्वाह्यमभ्यन्तर च।
गाढ स्नेहानुबन्धग्रथितमिव तयोरद्भुत प्रेममूर्त्यो।
श्रीराधामाधवाख्य परमिह मधुर तद् द्वय धाम जाने॥
—राधासुधानिधि—श्लोक १७३।

२ सुधर्म बोधिनी, (प्रकाशित) श्री लाडलीदास कृत, पृष्ठ १०

३ ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १२

आदि के लिए भी अवकाश रहता है। जो भाव नित्य नही है उसमें इस प्रकार के क्षणिक परिवर्तन सम्भव होगे ही। किन्तु नित्यविहार स्व और पर भेद-विवर्जित आत्मरति है।

**गौर श्याम सहचरि विपिन सम्पत्ति नित्य विहार।**
**चारनि के उर में लसत हित गुरु परम उदार॥**
**उछर लड़ावत तासु कौ बूडि जाति तिहि माहि।**
**विगलित वेद्यान्तर जु रस सौ अखंड विलसाहि॥**
**उर्द्धगति है, आत्म क्रीड़ है, आत्म रति है॥**[1]

श्रीकृष्ण की आत्मा राधा और उनकी अशभूता सखियो के साथ यह विहार नित्य वृन्दावन धाम में 'नित्य मिलन दशा में पूर्ण विरह के साथ' सम्पन्न होता है। इस विरोधाभास को हम 'मिलन विरह' के वर्णन में स्पष्ट कर चुके हैं।

श्री हितहरिवशजी के मत से स्वकीया और परकीया तथा मिलन-विरह आदि भाव 'नित्यविहार' की सृष्टि के लिए अपूर्ण हैं। स्वकीया में मिलन तो है किन्तु विरह का उद्वेलन और नित्य स्मरण नही। परकीया में विरह तो है किन्तु मिलन-सुख की चिर-आनन्दानुभूति नही। अत नित्यविहार को इन उपाधियों से रहित और स्वत.पूर्ण कहा गया है।

जैसा हमने पहले लिखा है कि नित्यविहार के विधायक चार अग हैं—श्री राधा (प्रिया), श्रीकृष्ण (प्रियतम), सहचरी (समाज) और धाम (वृन्दावन)। वृन्दावन जो भूतल पर स्थित होकर भी सर्वोपरि है, नित्य एकरस आनन्दमय और प्रेम से ओतप्रोत है। यहाँ शुद्ध माधुर्य रस की कैशोर लीला नित्य होती रहती है। वृन्दावन को धाम के रूप में प्रतिपादित करते हुए उसका स्वरूप इसी लोक में मानना हरिवशजी को अभीष्ट है। राधासुधानिधि में भूतल-स्थित वृन्दावन को दिव्य और सर्ववैभव-सम्पन्न वर्णन करते हुए इसे सर्वत्यागपूर्वक ग्रहण करने का आदेश है। यह वृन्दावन श्रीराधा के करो से स्पर्श की गई पल्लव-वल्लरी से मडित और राधापदचिह्नो से विभूषित है। यह राधा कुजकेलि का नित्यकानन है। वृन्दावन के नवल मदिर में तीव्र प्रेम के उन्माद से उन्मादित, रतिकेलि-कलाओ के कौतुकपूर्ण रस-स्वरूप एव आनदमय किशोराकृति युगल (प्रिया-प्रियतम) विराजमान रहकर अपनी रसक्रीडा सम्पन्न करते हैं।

यह वृन्दावन मधुर एव रसकेलि का धाम क्यो है? इसलिए कि इसमें विदग्धनागरी-मणि श्रीराधा एव रसिक-शेखर श्रीकृष्ण कभी गान से, कभी पुलकायमान शरीर द्वारा नृत्य से, कभी सुरत केलि चातुरी के प्रकाश से नाना प्रकार की आनददायिनी क्रीडाएँ किया करते हैं। यह वृन्दावन साक्षात् राधा रूप है। राधा और वृन्दावन का साम्य स्थापित करते हुए राधासुधानिधि में कई श्लोको में श्रीहितहरिवंश जी ने यह भाव व्यक्त किया है कि श्री राधा की रोमराजि वृन्दावन की यमुना है, अगो की दीप्ति-प्रभा वृन्दावन का वधूक पुष्प है। नाभिविवर्त ही वृन्दावन के सरोवर हैं, वक्षोज ही वृन्दावन के पुष्प-गुच्छ हैं, भुजाएँ वृन्दाविपिन की लताएँ हैं, नूपुरो की गुंजार मधुप का गुंजन है; आदि।

---

१. सुधर्म बोधिनी—श्री लाड़िलीदास—पृष्ठ २१

वृन्दावन राधा-रूप होकर भी लीला के लिए केवल प्रेमधाम है। इसके निभृत निकु जों में प्रेमरस-निमग्न एव चराचर का सम्मोहन करने वाले, अलौकिक छवि वाले युगल निवास करते हैं। इस वन की अधिष्ठात्री देवी हैं श्री राधा जो साक्षात् प्रेमरूपा एव रससिंधु की विमल सार सम्पत्ति हैं। इस वृन्दावन के बेतस कुजो में वह सारतत्व रहस्यपूर्ण ढग से छिपा हुआ है जो स्वय श्रीकृष्ण के लिए भी अगम्य और दुरूह है। वास्तव में श्री राधा की कृपा के विना वृन्दावन सबके लिए अगम्य है। राधा के चरणारविन्द में किंकरी रूप से रहने वाले ही इस धाम का यथार्थ रहस्य समझ सकते हैं।

वृन्दावन क्रीडास्फुरण प्रदान करने वाला है अत राधा-माधव वृन्दावन के अधीन हैं—वृन्दावन सर्वथा सर्वतत्र स्वतत्र है।

इस प्रकार चतुर्व्यूहात्मक नित्यविहार के चारो अगो का परिचय पा लेने के बाद विहार-स्थिति में रतिकेलि-क्रीडा से जिस आनद की, अनुभूति होती है तथा सहचरी रूप जीवात्मा उस विहार का दर्शन-चिंतन करके जिस रूप में प्रमुदित होती है उसका भी सक्षेप में वर्णन करना आवश्यक है।

जैसा कि पहले सकेत कर चुके हैं कि निकुंज लीला को रस के नाम से व्यवहृत किया जाता है और वह निकु ज रस ही इस सम्प्रदाय का अतिम प्रतिपाद्य है। वही ध्याता, ध्येय और ध्यान सबका अतिम फल है। श्री राधावल्लमलाल की स्थिति तभी सम्पन्न होती है जब राधा और माधव अपने स्वरूप को विभोर दशा में एकदम विस्मृत करके एकत्व को प्राप्त हो जाते हैं—स्थूल उदाहरण में जिस प्रकार लता और तरु आपस में इतने हिलमिल जायें कि उनका पृथकत्व सम्भव न रहे वैसे ही राधा और माधव मिलकर तादात्म्य भाव से एक हो जायें तभी विहार की चरम परिणति समझनी चाहिए। प्रेमावली लीला में ध्रुवदास जी ने इसी भाव को कहा है—

**रूप वेलि प्यारी बनी, प्रीतम प्रेम तमाल।**
**द्वै मन मिलि एकै भये, श्री राधावल्लभ लाल॥**

**प्रेमावली लीला (व्यालीसलीला)—पृष्ठ १७३।**

श्रीहितहरिवशजी ने पद्रह-बीस पदो में नित्यविहार का बडी व्यापक शैली से वर्णन किया है। विहार के लिए निभृत निकु ज स्थल को स्वीकार कर उसकी शीतल छाया का भी वर्णन है और रासलीला के माध्यम से भी विहार वर्णित हुआ है। इन वर्णनो में काव्य का चरम उत्कर्ष होने के साथ साम्प्रदायिक दृष्टि से विहार-भावना का भी सागोपाग निरूपण दृष्टिगत होता है। हम यहाँ विहार-सम्बधी समस्त पदो का उल्लेख न करके उदाहरणार्थ केवल दो-तीन पदो का ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। नित्यविहार मे लीन राधा-कृष्ण के प्रणय का सुन्दर वर्णन देखिए—

**आज निकु ज मजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।**
**अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥**
**विद्रुम फटिक विविध निर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरी।**
**कोमल किसलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी।**

मियुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर झोरी ॥
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीवी बंधन मोचत डोरी ॥
+ + +

हित चौरासी—पद सं० ७

विपिन घन कुंज रतिकेलि भुज मेलि,
रुचि श्याम श्यामा मिले शरद की जामिनी।
हृदै अति फूल सम तूल पिय नागरी,
करनि कर मत्त मनों विविध गुन रामिनी ॥
सरस गति हास परिहास आवेश वस,
दलित दल मदन बल कोक रस कामिनी ॥
(जैश्री) हितहरिवंश सुनि लाल लावन्य भिदे,
प्रिया अति सूर सुख सुरत संग्रामिनी ॥

हित चौरासी—पद सं० ४६

'हित चौरासी' के पद सख्या तीस मे नित्यविहार की वह स्थिति चित्रित की गई है जिसमें सुरत आदि के क्षणों में प्रिया-प्रियतम, रति-केलि-क्रीड़ाओ के द्वारा पारस्परिक प्रणय-शृंगार को व्यक्त करने में लीन हैं। इस पद को लौकिक दृष्टि से शुद्ध शृंगार का पद कहा जायेगा और उन्ही काम-कलाओ पर यह विकसित भी हुआ है किन्तु नित्यविहार की अलौकिक कल्पना करने पर इस पद का उत्कर्ष कई गुना बढ जाता है।

देखत नवनिकुंज सुनि सजनी लागत है अति चारु।
+ + +
श्रवन सुनत प्रापक रति राधा पद अम्बुज सुकुमार ॥

हित चौरासी—पद सं० ३०

स्फुट वाणी मे निकुज के द्वार पर खडे हुए प्रिया-प्रियतम की उस रूप-छवि को अंकित किया गया है जो प्रणयालाप के क्षणो में सब कुछ विस्मृत करके आनन्द-विभोर बना देने वाली है।

दोउ जन भीजत अटके बातन।
सघन कुंज के द्वारें ठाढ़े अम्बर लपटे गातन,
ललिता ललित रूप रस भींजी बूंद बचावत पातन,
(जैश्री) हित हरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवति रतिरस घातनु।

रिमझिम वर्षा होने पर भी कुंज के द्वार पर खड़े जुगल को विहार की रसमयी, स्थिति का ज्ञान है और वे रति-रस की घात लगाने में मस्त हैं।

रास भी नित्यविहार की एक स्थिति है। रासलीला का आध्यात्मिक रूप बहुत प्राचीन माना जाता है। लीला के विविध रूपो में रास का विशेष महत्व इसीलिये है कि उस में विहार के उपयुक्त आनन्द की उत्पत्ति सम्भव है। हितचौरासी में रासलीला-सम्बन्धी सात-आठ पद हैं जिनमे विभिन्न प्रकार से विहार वर्णित हुआ है—इस संबंध में निम्नलिखित पद द्रष्टव्य हैं—

आज वन नीको रास वनायो। पद ३६
चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुखनिधान,
रास रच्यो श्याम तट कलिन्द नन्दिनी। पद १२
रास में रसिक मोहन वने भामिनी। पद ६८
खेलत रास दुलहिनी दूलहु। पद ६२
श्याम सग राधिका रास मडल वनी। पद ७१

सस्कृत ग्रथ 'राधासुधानिधि' में भी नित्यविहार सम्वन्धी श्लोको का बाहुल्य है। सहचरी गण राधाकृष्ण के जिस रूप को देखने के लिये व्यग्र और उत्सुक हैं वह रूप विहार का ही है। सहचरीगण राधा का कैंकर्य करने की कामना से उसी क्षण का वरदान माँगती है जव प्रिया-प्रियतम दोनो विहार-दशा मे लीन होकर आत्मविभोर हो रहे हैं। राधासुधानिधि के अधिकाश श्लोक इसी भाव को विवृत करते हैं। कुछ श्लोको में शुद्ध नित्यविहार का ही वर्णन उपलब्ध होता है। उनका प्रयोजन सहचरीगण की आकाक्षा का द्योतन न होकर शुद्ध विहार-लीला का वर्णन है।

नित्यविहार में लीन श्री राधा का वर्णन करते हुए हितहरिवशजी कहते हैं—

अहो! प्रेमानन्द रस के विशाल समुद्र की तरग-मालाओ से आकुल एव अपने अरुण और चचल नेत्राचलो के चमत्कार से केलि कला महोत्सव का सिंचन करती हुई अद्भुत प्रेम वैभवमयी जगन्मोहिनी अनिर्वचनीया राधा वृन्दावन के निकु ज मन्दिर में आनन्दपूर्वक विहार करती है।[1]

जिस राधा ने नूतन प्रेमानुभव-प्रकाशन-पूर्ण चचल भ्रू भगी के लेशमात्र से व्रजमणि श्रीकृष्ण को मोहित कर लिया, जो भक्तो के मनोरथ को पूर्ण करने के लिए एक ही चिन्तामणि है, जो घनीभूत आनन्द रसामृत की निर्भरिणी रूपा मणि हैं, जिनकी अगज्योति दीप्तिमान् कोटि-कोटि विद्युल्लताओ के समान है वे अनिर्वचनीया महामोहिनी श्री राधा निकुञ्ज में विहार के समय उदित हो रही हैं।[2]

इस सम्वन्ध में राधासुधानिधि से हम अधिक श्लोक उद्धत करना अनावश्यक समझते

---

१ प्रेमानन्द रसैकवारिधि महा कल्लोलमालाकुला,
व्यालोलारुण लोचनाचल चमत्कारेण सचिन्वती।
किंचित् केलिकला महोत्सवमहो वृन्दाटवीमन्दिरे,
नन्दत्यद्भुत काम वैभवमयी राधा जगन्मोहिनी॥
—राधासुधानिधि, श्लोक ६६।

२ वृन्दारण्य निकु ज सीमनि नव प्रेमानुभाव भ्रम—
द्भ्रू भगी लव मोहित व्रज मणिर्भक्तैक चिन्तामणि।
सान्द्रानन्द रसामृतस्रवमणि प्रोद्दाम विद्युल्लता,
कोटि ज्योतिरुदेति कापि रमणी चूडामणिर्मोहिनी॥
—राधासुधानिधि, श्लोक ७०।

हैं। यथार्थ में सम्पूर्ण ग्रन्थ ही राधा के महत्त्व-प्रदर्शन और नित्यविहार-वर्णन के उद्देश्य से लिखा गया है। 'राधासुधानिधि' पर हमने स्वतन्त्र रूप से अष्टम अध्याय में विचार किया है—वहाँ विस्तार से इस विषय को लिखा है।

श्रीहितहरिवंश जी के प्रथम व्याख्याता भाष्यकार शिष्य श्री सेवकजी ने भी नित्यविहार का बहुत विस्तार से अपनी वाणी में वर्णन किया है। प्रथम प्रकरण में विविध प्रकार की भक्ति-पद्धतियो का सकेत देकर अत में अपनी नित्यविहार-पद्धति के विषय मे सेवक जी लिखते हैं—

अब निज धर्म आपुनौ कहत। तहाँ नित्य वृन्दावन रहत।
बहुत प्रेमसागर जहाँ—साधन सकल भक्ति जातनौ॥
निज वैभव प्रकटत आपनौ—मनौ एक रसना कहा।

इसके वाद समस्त द्वितीय प्रकरण 'हित विलास' में नित्यविहार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

श्री हरिवंश नित्य वर केलि
जूथ-जूथ जुवतिनु के घने। मध्यकिशोर किशोरी वने।
गनै कवन रति अति वढी।
नित-नित लीला नितनित दास, सुनुह रसिक हरिवंश विलास
श्री हरिवंशहि गाइ हौं॥

+ + +

जो रस रीति सवनते दूरि, सो सब विश्व रही भरि पूरि।
मूर सजीवन कहि दई॥

सेवक वाणी के सातवे प्रकरण में विस्तारपूर्वक नित्यविहार का वर्णन हुआ है। सेवकजी ने हित चौरासी को अपना उपजीव्य बनाकर उन्ही पदो के भावो को अपनी भाष्य-शैली से पल्लवित किया है। इस प्रकरण के पद सख्या ७ और ६ बहुत स्पष्ट और विशद हैं।[1]

---

सेवकवाणी-सप्तम प्रकरण—

१ बिपिन निर्तत रसिक रसरासि दंपति
अति आनन्द बस, प्रेममत्त निश्शंक क्रीड़त।
चंचल कुण्डल कर चरण नैन लोल रतिरग व्रीड़त॥
झटकत पट चुटकिनि चटक लटकत लट मृदु हास
पटकत पद उघटत शवद मटकत भृकुटि विलास॥ ७॥
नवल-नवल सुख चैन ऐन आपने आपु वस।
निगम लोक मर्याद भंजि क्रीडत रंग रस॥
सुरत प्रसङ्ग निशंक करत जोइ जोइ भावत मन।
ललित अंग चलि भंग भाइ लज्जित सु कोकगन॥
अद्‌भुत बिहार हरिवंश हित निरखि दास सेवक जियत।
बिस्तरित सुनत गावत रसिक सु नित-नित लीला रस पियत॥ ६॥

इसके अतिरिक्त दसवें प्रकरण के चौदहवें पद में तथा ग्यारहवें प्रकरण के दूसरे पद में रास रूप में नित्यविहार गोया गया है। सेवकजी की नित्यविहार-सम्बन्धी आस्था इसी से प्रकट है कि वे इस रस को ही सब कुछ मानकर अपनी बात कहते हैं। जहाँ यह निकुंज रस नही वहाँ प्रीति भाव का लेश भी नहीं।

ब्यालीसलीलाकार श्री ध्रुवदासजी ने तो अपने विशाल ग्रथ मे विविध शैलियो से नित्यविहार का वर्णन किया है। उनकी कई लीलाओ का आधार और उद्देश्य ही नित्य-विहार-वर्णन है। ध्रुवदासजी की विशेषता यह है कि वे विस्तार करते हुए वस्तु को इतना स्पष्ट करते जाते हैं कि भ्रम और सन्देह का अवकाश ही नही रहता। यदि प्रारम्भ से अत तक ब्यालीसलीला के उद्धरण नित्यविहार की सिद्धि में प्रस्तुत किये जायें तो निश्चय ही एक स्वतत्र विशाल ग्रथ तैयार हो जायगा। किंतु हम यहाँ कतिपय विशिष्ट स्थलो से चुने हुए उदाहरण ही प्रस्तुत करेंगे। बृहद् बावनपुरान की भाषालीला में ध्रुवदास जी कहते हैं—

एक रग रुचि एक रस, अद्भुत नित्य विहार।
जहाँ किशोरी लाडिली, करी लाल उरहार॥
नित्य लाडिली लाल दोउ, नित वृन्दावन धाम।
नित्य सखी ललितादि निज, सेवत श्यामा, श्याम॥
नित्य सहज वृन्दाविपिन, नित्य सखी ललितादि।
नित ही विलसत एक रस, जुगल किशोर अनादि॥ पृष्ठ ४०

नित्यविहार की तुलना मे उन्होने अन्य समस्त रसो को हेय ठहराया और किशोर रस को व्रज-वनिताओ के लिए साध्य कहा है और इससे आगे बढ़कर जुगलकिशोर विलास (नित्यविहार) को ललितादिक नित्य सहचरियो के लिए बताया है।

अद्भुत बाल चरित्र को, जो यशुदा सुख लेत।
ताते अधिक किशोर रस व्रज जुवतिन के हेत॥
—भजनाष्टक लीला, पृष्ठ ६३

सर्वोपर है मधुर रस युगल किशोर विलास।
ललितादिक सेवति तिनहिं मिटत न कबहूँ हुलास॥
यापर नाहिन भजन कछु नाहिन है सुख और।
प्रेम मगन विलसत दोऊ परम रसिक सिरमोर॥
नौतन बैस किशोर छवि बरसत जिहि उर नित्त।
पौगंड बाल लीलाविहूँ भावत नहिं तेहि चित्त॥
—भजनसतलीला, पृष्ठ ७३-७४

इस रस को ध्रुवदासजी सर्वसाधारण के लिए विहित नही मानते। उनकी धारणा है कि यह इतना जटिल और दुर्बोध है कि जो रसमार्गी नही है वह इसका आनन्द लेना तो [illegible] सकेगा। अत इसे अनधिकारी व्यक्ति से गोप्य ही रखना ठीक है—

यह रस परस्यो नाहि जिन तिनहि न नेक जताइ।
जैसे घन को घनी ध्रुव, राखत दूरि दुराइ।
—आनन्दलता लीला, पृष्ठ २३५।

महा गोप्य अद्भुत सरस, चितत रहौ नन मांहि।
या रस के रसिकन विना, सुन ध्रुव कहिवौ नाहि ॥
—रस रत्नावली लीला, पृष्ठ १६७।

रति-प्रसग मे विहार की दशा का वर्णन श्री ध्रुवदासजी ने अनेक लीलाओ मे विस्तारपूर्वक किया है। लौकिक दृष्टि से विभाव, अनुभाव और सचारी भावो की सुन्दर योजना देखकर आपके कवित्त्व की भूरि-भूरि सराहना करनी पडती है। एक कवित्त मे विहार-वर्णन इस प्रकार हुआ है—

नवल रंगीले लाल रस में रसीले अति
छवि सो छबीले दोऊ उर घुरि लागे हैं।
नैननि सौं नैन कोर, मुख-मुख रहै जोर,
रुचि कौन ओर छोर ऐसे अनुरागे हैं।
परे रूप सिंधु मांझ जानत न मोर सांझ,
अंग-अंग मैन रंग मोद मद पागे है।
हित ध्रुव विलसत तृपित न होत कहूं,
जद्दपि लड़ैती लाल सब निसि जागे हैं ॥
—रस मुक्तावली लीला, पृष्ठ १४६।

अलबेली सुकुवारी नैननि के आगे रहै,
जब लगि प्रीतम के प्रान रहै तन में।
यह जिय जानि प्यारी रंच कौन होत न्यारी,
तिनही के प्रेम रंग रंग रही मन में।
परम प्रवीन गोरी हाव-भाव में किशोरी,
नये-नये छवि के तरंग उठै छिन में।
हित ध्रुव प्रीतम के नैन मीन रस लीन,
खेलिवो करत दिन प्रति रूप वन में ॥
—आनन्द दसा विनोद लीला, पृष्ठ २२९।

ध्रुवदासजी ने नित्यविहार की सभी स्थितियो का सागोपाग चित्रण करने का प्रयत्न किया है। उनका-सा व्यापक विशद वर्णन किसी और ने नही किया। आपकी सवसे वड़ी साव-धानी यह है कि आपने व्रजरस और निकुजरस को मिलाकर नही लिखा अपितु दोनो का पार्थक्य हृदयगम करके निकुंज रस द्वारा नित्यविहार ही कहा है। नित्यविहार की सबसे अधिक विभोर दशा को समझने के लिये ध्रुवदासजी की नेहमजरी लीला, आनन्द दसा विनोद लीला, रहस्य लता लीला, प्रेमलता लीला, रसानन्द लीला और प्रेमावली लीला पठनीय हैं। नित्य-विहार दशा के वर्णन मे यही सर्वश्रेष्ठ स्थिति है कि नित्यकिशोर राधामाधव सब कुछ-भूल

कर तल्लीनता की चरम सीमा पर प्रेम-निमज्जित बने रहें —

नेह नीर नैननि की सैननि में रहे भींजि,
कौन रग वाढ्यौ जहाँ बोलिवोऊ भार री।
अति ही आसक्त सखी रही मोहि जोहि ताहि,
हितध्रुव प्राननि को यहै है अहार री॥

—आनन्द दसा विनोद लीला, पृ० २२६।

ध्रुवदासजी ने लीलाओ के अतिरिक्त पद्यावली नाम से फुटकर पद भी लिखे हैं जिन मे 'वन विहार समय' शीर्षक से नित्यविहार का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। पद-सख्या ६६ में ध्रुवदासजी ने नित्यविहार के चारो अगो का निर्देश करते हुये इसकी स्थापना करके ग्रन्थ समाप्त किया है—

नित्य किशोरी नित्य किशोर, नित वृन्दावन नित निशि भोर।
नित्य सहचरी नित्य विनोद, नित आनन्द वरषत चहुँ ओर॥
नित्य विहार नितहि सिंगार, पल पल पावत सुखकौ सार।
नित्य सखिनुकै यही अहार, नित्य सुरत रत करत विहार॥

—ध्रुवदास कृत—पद्यावली—६६ (व्यालीसलीला, पृ० ३५)

श्री हरिराम व्यास की रचना मे भी नित्यविहार को प्रमुख स्थान मिला है। व्यास-वाणी के पूर्वार्द्ध भाग में सिद्धातो की स्थापना की गई है और उत्तरार्द्ध में शृगार-रसविहार का वर्णन। व्यासजी के नित्यविहार-वर्णन मे सैद्धान्तिक सूक्ष्म भेद का अभाव है। कई स्थलो पर आपने व्रजरस और निकुजरस को समान रूप से लिखा है। रूप-छवि वर्णन करने मे भी व्यासजी ने काव्य-शैली को अधिक महत्व दिया है। निकुज की केलि-क्रीडाओ मे जो विभोर दशा और तल्लीनता होनी चाहिए उसे व्यास जी ने उतनी पराकाष्ठा तक नही लिखा, फुटकर व्रजलीला रस के पदो मे नित्यविहार की वह स्थिति दृष्टिगत नही होती जो उनके 'शैया विहार रस' तथा 'सुरतान्त रस' में विद्यमान है। रसोद्गार रस का वर्णन करते हुये व्यास जी कहते हैं—

वन की कुंजनि कुजनि केलि,
विविध वरन वीथिन महँ वीथी, विगसति नव द्रुमवेलि।
तिनि पर सहज सेज पर श्यामा श्याम विराजति खेल।
अगन कोटि अनग रग छवि सुरत सिन्धु महँ झेल,
मुख विधु वारिज पर लट लटकति असनि पर भुज मेल।
मावक अधर सुधा मधु पीवति जीवति नवल नवेलि।
जोवन जोर किशोर जगे रस निशि भोरहि अवहेलि।
व्यास स्वामिनिहि सेवत मोहन, निज वैभव पग पेलि।

—व्यासवाणी उत्तरार्द्ध—पृष्ठ २२२।

व्यासजी ने नित्यविहार के अन्तर्गत उन अनेक दशाओ को समेट लिया है जो लौकिक जगत् में शृगार रस के द्वारा व्यक्त की जाती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि श्री व्यास

जी ने राधावल्लभीय उपासना-पद्धति को स्वीकार करने से पहले ब्रजरस और ब्रजलीला का गान किया था। ब्रजरस-गान करने का दूसरा कारण यह भी है कि नित्यविहार-वर्णन के लिए जिन क्रमिक स्थितियों से होकर गुज़रना होता है उनमे ब्रजरस का स्थान है। एक प्रकार से अवतारलीला, ब्रजलीला आदि को हृदयगम कर लेने के वाद ही नित्यविहार की उच्चभूमि पर पहुँचने का अधिकार प्राप्त होता है। जो साधक किसी दिव्य कृपा-शक्ति के प्रभाव से सीधे उस भूमि पर पहुँच जाते हैं उनके लिए वीच की स्थितियाँ आवश्यक नही समझी जाती। एक तीसरा कारण और हो सकता है—चाचा वृन्दावनदास ने अपने 'ब्रजप्रेमानन्द सागर' मे ब्रज-लीला-वर्णन का कारण स्पष्ट करते हुए कहा है कि यह लीला वर्णन वाह्य होने पर भी 'देहली दीपक-न्याय' से अन्तरग कोटि के साधक के लिये आभ्यन्तर गूढार्थ की व्यंजना करेगा और वाह्य लीलाओ में अनुरक्त रहने वाले साधक को वहिर्जगत् की वस्तुओ द्वारा आमोद प्रदान करने वाला होगा। इसी कारण रसिक-समाज में इस कोटि के वर्णन भी समादृत होते रहे हैं। कुछ भी हो, हमारी दृष्टि मे शुद्ध नित्यविहार के वर्णन जो सैद्धान्तिक मान्यता पर स्थित है, इन वर्णनो से उच्चकोटि के ठहरते हैं।

ब्रजलीला-वर्णन में कृष्ण के जो रूप प्रस्तुत किये जाते हैं वे अधिकाश अवतार धारण करने वाले, ऐश्वर्य-विभूपित है। माधुर्य-मंडित चित्रो मे भी नित्य-मिलन की भावना पर वल नही रहता इसी कारण राधावल्लभ सम्प्रदाय मे श्रीकृष्ण का वह रूप गृहीत नही हुआ। श्री लाल स्वामी ने अपने पदो में यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है—

नन्दकुमार की लीला अपार औतार अनेक गने नहिं जाहीं।
नित्य विहार विलास अभग सुअग अनंग तृषा न वुझाहीं॥
लाड़िलीलाल महाप्रभुता विलसैं सरसैं अति हीं मनमाहीं।
पुंजभरे सुख सेज सरोज निकुंज के आंगन आवत नाहीं॥
प्रेम परावधि राधिकाजू अभिअन्तर भाव अखंड रहाहीं।
विखरी मन मोहन लम्पट कौ विथुरी लट संपुट पंक कराहीं॥
दरसें परसें रस में वरसें अतिसै तरसै न तृपित्त कराहीं।
पुंज भरे सुख सेज सरोज निकुंज के आंगन आवत नांही॥[1]

\+ \+ \+

प्रेमी अनन्य भजन्न न होइ जो अन्तरजामी भजै मन में,
जो भजि देख्यौ यशोदा को नन्दन विश्व दिखाई सबै तन में।
श्री हरिवश सु नाद विमोहीतै शुद्ध समीप मिली छिन में,
अब यामें मिलौनी मिलै न कछू जव खेलत रास सदावन में॥

—सेवक वाणी—प्रकरण, ८ छन्द ५।

'नित्यविहार' के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर दो प्रकार के विचार मन मे उठना स्वाभाविक है। पहला विचार तो यह है कि यह नित्यविहार शृंगारपरक कामकेलि-वर्णन

---

१—रास छद्म विनोद (प्रकाशित ग्रंथ, पृष्ठ १२८ से उद्धृत।)

होने पर भी अवश्य किसी गूढ आशय के आधार पर सम्प्रदाय मे गृहीत हुआ है। यह केवल कामकेलि-वर्णन न होकर उस दिव्य उपासना तत्त्व का ही रूप है जो भक्ति-सम्प्रदायों में अपनी अपनी मान्यता के आधार पर सृष्टि का आदि तत्त्व कहा गया है। दूसरा विचार यह भी मन में आता है कि लौकिक-शृगार भावनाओ को सब कुछ मानकर उन्हे ही जीवन का आराध्यभाव मान लिया गया। निश्चय ही कोई विचारक इस दूसरे मत के साथ नही होगा। जिन महानुभावो ने नित्यविहार को लौकिक रति भाव के द्वारा गाया वे न तो कामुक विलासी व्यक्ति थे और न भोगेच्छा की तृप्ति के लिये इसे साधन मानने की भूल कर सकते थे। एक ओर श्री हितहरिवशजी जैसे गृहस्थ इस रस-पद्धति की आराधना करने मे लीन थे तो दूसरी ओर उसी काल में विरक्त स्वामी हरिदासजी का भी नित्यविहार मान्य सिद्धात था। विरक्त और गृहस्थ दोनो समानभाव से इसमें अपनी साधना की चरम परिणति देखते रहे। और उनके बाद भी अनेक महात्माओ ने इस नित्यविहार को स्वीकार किया। अत इस वर्णन को लौकिक काम-शृगार वर्णन तो कहा ही नही जा सकता।

परम तत्त्व ब्रह्म, जीव और जड प्रकृति का पारस्परिक सम्बन्ध प्रदर्शित करने के लिए इस नित्यविहार-वर्णन को सम्प्रदाय में कोई स्थान प्राप्त नही। कही इसके आध्यात्मिक आरोप या रूपक का सकेत भी देखने में नही आया। किंतु इस क्रीडा का रहस्य अवश्य प्रतीक शैली से आध्यात्मिक होना चाहिए अन्यथा इसकी व्यापकता सिद्ध नही हो सकेगी। खीचतान द्वारा कोई आध्यात्मिक अर्थ निकालने का हमारा आग्रह नही है किन्तु हमारी यह धारणा है कि इसके पीछे परमशक्ति का दिव्य रहस्य छिपा हुआ है। हमारी दृष्टि में, राधा और माधव की नित्य क्रीडा या विहार उनके ('परात्पर वस्तु' के) आनन्द-स्वरूप के उद्घाटन की क्रिया है। लौकिक जगत् में जैसे अपने आभ्यन्तर आनन्द की प्राप्ति के निमित्त वाह्य शारीरिक चेष्टायें आवश्यक होती हे वैसे ही उस 'परात्पर शक्ति' को भी राधा और माधव रूप में वाह्य केलि-विनोद द्वारा अपने आनन्द का उद्घाटन करना होता है। सहचरीगण (जो जीव का ही निज रूप है) इस लीला को देखकर आनन्दित होते हे। वह दिव्य वस्तु विहार के लिए किसी एक विशिष्ट क्षण को नही चुनती अपितु निरन्तर सृष्टि के आदि से अन्त तक उसी में लीन रहती है। सहचरी पर जब इसकी कृपा होती है तब वह भी इस लीला के विहार रूप मे लीन होने की अधिकारिणी हो जाती है। राधा और कृष्ण को इसीलिए एक दिव्य वस्तु के दो रूपो में माना गया है। श्री हितहरिवश जी ने हित चौरासी के प्रथम पद में ही दोनो की एक-रूपता का स्पष्ट सकेत दे दिया है—'जैश्री हित हरिवश हस हसनी, सावल गौर कहौ कौन करै जल तरगनि न्यारे।' श्री ध्रुवदास जी ने एक ही वस्तु को प्रमुखता देकर उसी की इच्छा का ही यह सब खेल माना है। उपनिषदों के 'एकोऽह बहुस्याम्' की ध्वनि निम्न दोहो में दृष्टिगत होती है—

**एकै पुरुष किशोरहै दूजो नाहिन कोइ।**
**जाकी इच्छा सहज ही, यह कौतुक सब होइ॥**
**रूप माधुरी देखि कछु विवस भये मुरझाइ।**
**वाढ़ी रुचि की चाह अति रहे ललचाइ लुभाइ॥**

काम वासना बढ़ी उर यह उपजी अति आइ।
खेले ऐसे रूप संग, वनिता को तन पाइ॥
तिन प्रति तव वानी भई यह प्रभु लीन्ही मानि।
प्रकट होहु व्रज जाय तुम, हमहूँ प्रकटे आनि॥[1]

'वृहद वावन' पुरान की भाषा लीला में उपर्युक्त प्रकरण जिस अर्थ का सकेत देता है वह परात्पर तत्त्व का रहस्य बताने के लिए पर्याप्त है। कहा जाता है कि यह भाव श्री ध्रुवदासजी ने 'वृहद वावन पुराण' से ग्रहण किया था, साम्प्रदायिक भाव यह नही है किन्तु उसे अपनी लीलाओ मे स्थान देने से यह मानना होगा कि उन्हे भी यह अभिप्रेत था।

'नित्यविहार' को साधक के लिए जिस उच्च मनोभूमि पर अवस्थित करके उपास्य कहा गया है वह निश्चय ही रति-क्रीडा मात्र न होकर किसी दिव्य आनन्द के उद्घाटन का रूपक है। उसे हृदयगम करके उदात्त भावना का विषय वनाया जा सकता है। नित्यविहार रस का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए ध्रुवदासजी कहते हैं :—

मधुर ते मधुर अनूप ते अनूप अति,
रसनि कौ सार सब सुखनि कौ सार री।
विलास को विलास निज प्रेम की है राजै दसा,
राजै एक छत दिन विमल विहार री।
छिन छिन तृपित चकित रूप माधुरी में,
भूलै सेई रहैं कछु आवै न विचार री।
अमहूं कौ विरह कहत जहाँ डर आवै,
ऐसे हैं रगीले ध्रुव तन सुकुमार री॥[2]

१. वृहद वावनपुरान की भाषालीला; व्यालीसलीला; श्री ध्रुवदास पृष्ठ ४१।
२. हित शृंगारलीला—व्यालीस लीला—ध्रुवदास कृत पृष्ठ १२६।

## षष्ठ अध्याय

# भक्ति के बाह्य विधान

राधावल्लभ सम्प्रदाय में भक्ति के बाह्य विधान अर्थात् कर्मकाड की वैसी कठोरता नही है जैसी अन्य वैष्णव सम्प्रदायो में पाई जाती है फिर भी सेवा-पूजा सम्बन्धी विधि-विधान के कुछ निश्चित नियम हैं। उन्ही का इस अध्याय में विवरण प्रस्तुत किया जायगा।

नवधा भक्ति का विधान सभी वैष्णव सम्प्रदायो में है। अपनी-अपनी धार्मिक भावना के अनुकूल नवधाभक्ति के परिपालन में यत्किचित् परिवर्तन हुआ है, किन्तु भक्ति की प्रारम्भिक स्थिति में सभी सम्प्रदायो मे भक्त के लिए यह पद्धति अनिवार्य रही है। रसमार्गीय भक्ति मे नवधा भक्ति की वैसी कट्टरता और अनिवार्यता आगे चलकर अपेक्षाकृत कम हो जाती है। नवधा भक्ति के क्रमिक रूपो का भी इतना आग्रह नही रहता, साधक अपने अभ्यास के लिए यथोचित मार्ग स्वीकार करके नवधा का पालन करने में स्वतन्त्र हो जाता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय शुद्ध रसमार्गीय भक्ति-सम्प्रदाय है अत यहां नवधा की कठोरता का कही वर्णन नही मिलता, भक्ति-पथ का अभ्यास करने के लिए इसे प्रारम्भिक सरणिमात्र मानकर ग्राह्य बताया गया है, यह भक्ति का साध्य या ध्येय न होकर साधन मात्र है।

भक्ति के बाह्य विधानो में सेवा-परिचर्या का विधान भी परवर्ती ग्रथो में हुआ है। हितहरिवशजी के ग्रथो में बाह्य विधान का कोई उल्लेख नही है। इसीलिए नवधा के लिए भी आग्रह का अभाव है। हितजी के जीवन-काल में प्रथम पाटोत्सव सम्वत् १५९१ में हुआ। उस समय श्री राधावल्लभजी का विग्रह विधिपूर्वक स्थापित किया गया। फलत उसी समय यह आवश्यकता भी अनुभव की गई होगी कि मन्दिर में अर्चा-पूजा, आरती, अष्टयाम सेवा आदि का विधान भी किन्ही निश्चित नियमो के आधार पर स्थिर किया जाय। मन्दिर में विग्रह स्थापित करते समय पाटोत्सव सम्पन्न करने का विधान भी स्थिर किया गया होगा। उस समय श्री राधावल्लभजी का जो विग्रह स्थापित किया गया वह अन्य मन्दिरो से सर्वथा नूतन था। मन्दिर में श्री राधाजी की कोई मूर्त्ति स्थापित नही की गई, केवल श्रीलालजी का विग्रह

स्थापित किया गया। इसका कारण कुछ भी रहा हो किन्तु यह नवीनता इस सम्प्रदाय की अपनी विशेष पद्धति समझी जानी चाहिए।

## गद्दी-सेवा

श्री राधावल्लभजी का वर्तमान युग में एक ही प्रधान मन्दिर है जिसका उल्लेख हम विस्तारपूर्वक कर चुके हैं। लाल पत्थर का प्राचीन मन्दिर पुरातन विग्रह के अभाव मे अब उतना मान्य नही है। नये मन्दिर का पुरातन विग्रह के कारण महत्व बढना स्वाभाविक है। इस मन्दिर में सम्वत् १५६१ के समय से श्री जी का जो विग्रह चला आ रहा है वही स्थापित है, उसमें केवल वृन्दावनेश्वर श्रीकृष्ण का ही विग्रह है। श्री राधा की—जो इस सम्प्रदाय की इष्टाराध्या हैं—कोई मूर्ति स्थापित नही की गई। श्रीकृष्ण के वाम भाग में वस्त्रनिर्मित एक गद्दी है जिसके ऊपर 'श्रीराधा' नाम स्वर्णपत्र पर अंकित किया हुआ रखा है। इस गद्दी को श्री राधा का पद एवं गौरव प्राप्त है और इसी को गद्दी-सेवा नाम से व्यवहृत किया जाता है। इस गद्दी-सेवा का वर्णन श्री हितहरिवशजी ने स्वय नही किया किन्तु परवर्ती वाणियो में अवश्य इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है।[1]

इस गद्दी-सेवा का स्वरूप और अभिप्राय किसी ग्रथ में स्पष्ट नही किया गया। साम्प्रदायिक मतवादो के आधार पर जो निष्कर्ष हम निकाल सके हैं वे इस प्रकार हैं —

१ श्री हरिवशजी के मतानुसार राधा का स्वरूप 'अनिर्वचनीय जैसा' है, निर्गुण निराकार न होते हुए भी उनकी प्रतिमा में उन समस्त गुणो का आधान कदाचित् सम्भव न हो पाता जो उनके श्रीस्वरूप मे स्वीकार किये जाते हैं। अत राधा के मूर्त्त रूप को प्रस्तुत न करके केवल साकेतिक शैली से ही उनके ध्यान कराने की यह नूतन प्रक्रिया हो सकती है।

२ राधावल्लभ सम्प्रदाय मे राधा का स्थान गुरु का भी है, गुरु की भावना करने के लिए उनकी गद्दी में पूज्य बुद्धि रखना भी एक कारण बताया जाता है। गुरुभाव ही गद्दी-स्थापना का कारण हो सकता है।

३—राधा स्वय श्रीकृष्ण द्वारा आराध्या हैं अत. जागतिक समाज को श्रीकृष्ण के समान आराधक बनने के निमित्त प्रेरणा देना भी गद्दी-सेवा का प्रयोजन हो सकता है।

---

१ प्रभुश्री रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी।
रीझि लड़ैती कुँवरि आपुनी पद्धति ओपी।
मंत्र राज रस निकर माहिली सम्पति दीनी।
करवर भाल विसाल कृपा अति विनमित कीनी॥

—चाचा वृन्दावनदास कृत 'हरिवंश सहस्रनाम', पृष्ठ ११-१२ प्रकाशित।

'श्री प्रियाजी की सुन्दरवस्त्रादिक ते गादी सेवा रखनी। कठ में सुवर्ण की श्री राधा नाम सेवा धरावनी। वाही गादी को सुन्दर वस्त्र, मोती माला इत्यादिकते शृंगार करनो, सखी भाव को मन में रखनो।'

श्री सेवादर्पण, लेखक प्रियादास पटना वाले, पृष्ठ २।
प्रकाशक—अखिल भारतवर्षीय श्री हित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन।

४—राधा-कृष्ण अहर्निश निकुजलीला-परायण नित्यविहार रत रहते हैं अत राधा को मूर्त्त रूप में विहार-दशा मे प्रकट करना समीचीन प्रतीत नही होता, अत गद्दी-सेवा द्वारा भक्त के समक्ष नित्यविहार-रत राधा की मानस-भावना प्रस्तुत की जाती है, प्रत्यक्ष विग्रह उपस्थित नही किया जाता।

उपर्युक्त चारो कारणो को हम अन्तिम सत्य मानकर नही लिख रहे हैं। सम्भव है इनके अतिरिक्त भी कोई और विशेष साकेतिक कारण गद्दी-सेवा-स्थापना में रहा हो। किन्तु साम्प्रदायिक ग्रथो में कोई कारण स्पष्ट रूप से लिखा नही है।

## नाम-सेवा

नाम-सेवा भी राधा के अमूर्त रूप की सेवा का ही दूसरा प्रकार है। इस सेवा से तात्पर्य यह है कि लताकाष्ठ किंवा पाषाण पर 'श्रीराधा' नाम लिखकर उसे रासमडल आदि पवित्र स्थलो पर स्थापित कर दिया जाता है और उसकी सेवा-परिचर्या उसी श्रद्धाभक्ति के साथ होती है जैसे मन्दिर में स्थित श्री राधावल्लभ जी के विग्रह की। श्री हितहरिवंश जी ने जो रासमडल बनवाया था उसी पर सबसे पहले नाम-सेवा स्थापित की थी। यह रासमडल आज भी गोविन्दघाट के पास विद्यमान है। श्री हितहरिवशजी की भजन-स्थली मानसरोवर में भी नामसेवा ही स्थापित है। श्री हरिवशजी के सुपुत्र गोस्वामी वनचन्द्रजी ने बाद ग्राम में रासमडल बनवा कर वहा भी नाम सेवा स्थापित की। राधावल्लभ सम्प्रदाय में नाम-सेवा का प्रचार श्री हितहरिवशजी के समय से चला आ रहा है। मन्दिर या विशाल भवन के अभाव में (अनाच्छादित) खुले हुए रासमडलादि स्थलो में नाम-सेवा का प्रचार कई सुविधाओ को ध्यान में रखकर किया गया था। राधावल्लभजी का कोई चित्रपट उस काल में उपलब्ध न था अत नामसेवा द्वारा पवित्रतापूर्वक उन्हे अपने पास रखा जा सकता था। भावुक भक्त को यात्रा आदि के समय नाम-सेवा का ही आश्रय लेना पडता था। अत लता-काष्ठ आदि पर अकित 'नाम-सेवा' की परिपाटी का पर्याप्त प्रचार हुआ। रासमडलो पर जहाँ नाम-सेवा होती है वहाँ उसके ठीक सामने एक सिंहासन भी होता है जिस पर रासलीला के समय जुगल सरकार विराजते हैं।

## समाज

जिस प्रकार वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के गुणानुवाद के लिए कीर्तन की प्रणाली है उसी प्रकार यहाँ समाज की व्यवस्था है। वल्लभ सम्प्रदाय में पुजारी ही मुखिया कहाता है जो कीर्तन करता है वह कीर्त्तनिया कहाता है। किन्तु यहाँ समाज का प्रधान गायक मुखिया कहाता है। प्रधान गायक का शेष समाजी अनुगमन करते हैं। अन्तरग में प्रिया-प्रियतम जो लीला करते हैं और सखियाँ उस समय जिस भाव का पदगान करती हैं, बहिरग समाज में उसी भाव का पद समाजी गाते हैं।

सम्प्रदाय के विभिन्न उत्सवो के अवसर पर नाना प्रकार की राग-रागिनियो का विधान है। नित्यविहार की जिस लीला से सम्बद्ध पदो का गान होता है और उसमें जिस वेश-विन्यास का वर्णन होता है उसी के अनुकूल श्रीजी का शृगार किया जाता है। समाज में गान करने के लिए समस्त उत्सवो के अनुसार पदो का चयन किया हुआ है। वे ही पद

उत्सव के समय गेय समझे जाते हैं जो प्राचीन परम्परा से चले आ रहे हैं। इसमे यथासमय सुन्दर पदो का समावेश होता रहता है। यह पद-सग्रह 'वर्षोत्सव' कहाता है। ऋतुओ के अनुसार छह वर्षोत्सव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। वर्षोत्सवो की अनेक प्रतियां लेखक ने स्वयं भिन्न-भिन्न स्थानो मे देखी हैं। वर्षोत्सवो के अनुशीलन से यह विदित होता है कि किन-किन महानुभावो ने किस काल में पद-रचना की और कब उनका समावेश वर्षोत्सवो मे हुआ।[1]

## अष्टयाम-सेवा

१—मगला, २—शृङ्गार, ३—राजभोग, ४—उत्थापन, ५—सन्ध्या, ६—शयन ७—शैंया समय।

अष्टयाम सेवा के उपर्युक्त समय-विधान मे आरती तथा भोग का सविस्तर वर्णन साम्प्रदायिक ग्रथो में है। अष्टयाम सेवा के समय जो पद गाये जाते हैं उनका चयन भी किया हुआ है। हमने प्रत्येक समय के गेय पदो मे से चुनकर एक-दो पद साथ मे लिखे हैं।[2]

१—"मंगला—द्वै घड़ी रात्रि रहै अरु द्वै घड़ी चढ़ै तक मगला समय है।" भक्त स्वयं स्नानादि नित्य कर्म से निवृत्त होकर, मदिर का परिमार्जन करे। तदनन्तर श्रीजी को शयन से उठावे, उनका मुख प्रक्षालनादि करावे। तदनतर प्रात काल का कलेवा (प्रातराश) उनके सामने प्रस्तुत करे। इस भोग को मगला भोग कहते हैं। इस समय जो आरती की

---

१. वर्षोत्सवों की तालिका—

क— श्री राधावल्लभजी के मन्दिर के समाज में उपयोग में आने वाले कई वर्षोत्सव हैं। गोस्वामी श्री रूपलाल जी, गोस्वामी बाबा वंशीदास जी, बाबा तुलसीदास जी के पास वर्षोत्सवों का अच्छा संग्रह है। इसी वर्ष बाबा तुलसीदास जी ने एक विशाल वर्षोत्सव पद-संग्रह प्रकाशित कराया है।

ख—बरसाना में एक प्राचीन प्रति है जिसमें वर्षोत्सव लिखे हैं, वषभानु बाबा के मन्दिर में हैं। बठैनगांव, कोसी, नन्दगांव, जाव (ग्राम) आदि में भी प्रतियाँ हैं।

ग—वाद ग्राम के मन्दिर में वर्षोत्सवो की प्राचीन प्रतियाँ सुरक्षित हैं। इन वर्षोत्सवों के अध्ययन से भक्त महानुभावों के रचना-काल का ऐतिहासिक क्रम भी स्थिर करने में सहायता मिलती है। यदि दो-चार प्राचीन वर्षोत्सव प्रकाशित कर दिये जायँ तो साम्प्रदायिक उत्सवो के अनुशीलन का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

२—द्रष्टव्य—'अष्टयाम सेवाविधि' रुद्रयामलतंत्र से संकलित (संस्कृत) प्रकाशक—गो० हित रूपलालजी अधिकारी वृन्दावन।

जाती है वह मगला आरती कहाती है । श्रीजी को जागरण कराने के लिये सुन्दर पद गावे ।"[१]

मगला भोग के वाद श्रीजी प्रातकालीन भ्रमण के लिए जाते हैं। वहां पुष्प-चयन, शृगार, कन्दुक-क्रीडा आदि करते हैं । मगला भोग में माखन मिश्री आदि होना चाहिये ।[२]

२—शृंगार—"द्वै घडी दिन चढ़ैते वारह घडी पर्यन्त दिन चढै तव लग शृ गार समय है ', दो घडी दिन चढे पाछै श्री जोरी जू पुष्पवाटिका में वाग की रचना देखिवे को आवै ।"

---

१—द्रष्टव्य—'राधावल्लभ जू को अष्टप्रहर सेवा विलास' ( हिन्दी )
प्रकाशक—गो० हित रूपलालजी अधिकारी वृन्दावन ।

मगला के समय जागरण पद—

प्रात समै दोऊ रसलम्पट सूरत जुद्ध जयजुत अति फूल ।
श्रमवारिज घन विन्दु वदन पर भूषन अ गहि अ ग विकूल ।।
कछु रह्यो तिलक शिथिल अलकावलि वदन कमल मानो अलि भूल ।
(जैश्री) हितहरिवश मदन रग रगि रहै नैन वैन कटि, शिथिल दुकूल ।।

—हित चौरासी पद स० ३

आज अति राजति दम्पति भोर ।
सुरत रग के रस में भीने नागरि नवल किसोर ।।
अंसनि पर भुज दिये विलोकति इन्दु वदन विवि ओर ।
करत पान रसमत्त परस्पर लोचन तृषित चकोर ।
छुटी लटन लाल मन करष्यौ ये याके चित चोर ।।
परिरभन चुम्बन मिलि गावत सुर मदर कलघोर ।
पग डगमगत चलित वन विहरत रुचिर कु ज घनखोर ।
हित हरिवश लाल ललना मिलि हियो सिरावत मोर ।।

—हित चौरासी पद स० ३१

२—मगला आरती के पद—

नन्द के लाल हर्‌यो मन मोर ।
हौं अपने मोतिन लर पोवति कांकरि डारि गयौ सखि भोर ।
वकबिलोकनि चाल छबीली रसिक सिरोमनि नन्दकिसोर ।
कहु कैसे मन रहत श्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर ।
इन्दु गोविन्द वदन के कारन चितवन को भये नैन चकोर ।
(जैश्री) हितहरिवश रसिक रस जुवती तू लै मिलि सखी प्रान अकोर ।

—हित चौरासी, पद सं० १२

श्रीजी को स्नानकुंज मे ले जाकर उबटन आदि लगाकर स्नान कराया जाय। सुन्दर वस्त्र-विन्यास, शृंगार तथा तिलक आदि किया जाय। इसके वाद धूप आरती[1] की जाय। धूप आरती के वाद शृंगार भोग के लिये दही-मिष्ठान्न आदि का भोजन कराया जाय, भोग के उपरांत शृंगार आरती करे। इस आरती मे विशिष्ट पदो का गान होना चाहिये।[2] भोग के वाद नाना प्रकार के कौतुक होते हैं। कभी सखियाँ नृत्य दिखाती हैं, कभी कोई सुन्दर पदार्थ भेंट करती हैं, कभी दर्पण दिखाती हैं। नृत्य-गान आदि भी होता है।

जागरण, स्नान, शृंगार, प्रसाधन आदि कृत्यो मे सर्वप्रथम वशी की सेवा करनी चाहिए, फिर प्रियाजी की और तत्पश्चात् लाल जी की। इस क्रम को ध्यान में रखने का विधान है।

आभरणो मे प्रियाजी के सिर पर चन्द्रिका और लालजी के सिर पर शिखिपिच्छ, कलगी, सिरपेच पहरावे। मुकुट का धारण पूर्णिमा तथा एकादशी को होता है। प्रात-काल मुकुट श्री प्रियाजी धारण करती हैं सायकाल श्रीलाल जी।

**३—राजभोग—"वारहघड़ी दिन चढ़े पीछे राजभोग समयो लागें छह घड़ी पाछिलौ दिवस रहै तब लग है।"**

दोपहर के भोजन का समय राजभोग कहाता है। इस राजभोग में चावल, कढी, दाल, शाक, रोटी, रायता तथा अन्य पकवान रहते हैं। यह दिन का मुख्य भोजन समझना

---

१—धूप आरती के पद—

**आजु नीकी वनी राधिका नागरी।**
**ब्रज जुवति जूथ में रूप अरु चतुरई,**
**सील सिंगार गुन सबनिते आगरी।**
**कमल दच्छिन भुजा वाम भुज अंस सखि,**
**गावती सरस मिलि मधुर सुर राग री।**
**सकल विद्या विदित रहसि हरिवंश हित,**
**मिलत नवकुंज वर स्याम वड़ भाग री॥**

**—हित चौरासी, पद सं० २५**

२. शृङ्गार आरती के पद—

**वनी श्री राधा मोहन की जोरी।**
**इन्द्र नीलमनि स्याम मनोहर सातकुंभ तनु गोरी।**
**भाल विसाल तिलक हरि कामिनि चिकुरचन्द्र विच रोरी।**
**गज नायक प्रभु चाल गयदिनि गति वृषभानु किसोरी।**
**नील निचोल जुवति, मोहन पट पीत अरुन सिर खोरी।**
(जैश्री) हित हरिवश रसिक राधा पति सुरत रग मे बोरी॥

**—हित चौरासी, पद सं० ६**

चाहिए। भोजन के समय कुछ पद-गायन द्वारा मनोरंजन भी किया जाय।[1] कम से कम आधा घण्टा तक भोजन का थाल रखकर भावना की जाय, भोग उसार कर ताम्बूल आदि रखा जाय। भोजनोपरात कुछ देर तक चौपड आदि क्रीडाएं भी होनी चाहिए। तदनन्तर विश्राम-शयन की वेला है। विश्राम से पूर्व राजभोग आरती की जाय और पद गाये जावें।[2]

४. उत्थापन—'छह घड़ी दिन पाछिले सौं लेकर सायकाल पर्यन्त लौं सन्ध्या समय है।'

उत्थापन समय में विश्राम-शयन से उठना होता है। उत्थापन के निमित्त वीणा वाद्यादि बजावे और जागने पर मुख-प्रक्षालन कराकर स्वल्प भोजन की सामग्री मेवा फल आदि रखे। इस समय उत्थापन की धूप आरती होती है।[3] तदनतर भ्रमण के लिए वन-बिहार को जावें। बन-विहार के समय उद्यान में पुष्प-चयन, कन्दुक-क्रीडा, नौका-विहार, नृत्य-गान आदि की भावना की जाती है।

धूप आदि तथा आरती का पद गान होने के बाद क्रमानुगत पद गाये जाते हैं उनमें नौ पद प्रसिद्ध हैं।

५ सन्ध्या-सायकाल के समय वन-विहार से लौटने पर सन्ध्या समय का भोग होता है। यह भोग भी स्वल्प भोजन के ही अन्तर्गत है। इसमें नाना प्रकार की मिठाइयां आदि

---

१ भोजन कुंज में चलि आये।
जैसी ऋतु तैसी बैठक में हित सौं ले बैठाये।
भूषन वसन उतारि उचित पुनि औलाई पहिराये।
कुरला करि रूमाल पौंछि तब निज दासी निज नैन सिराये।

२ राजभोग आरती का पद—
नवल घनश्याम नवल वर राधिका,
नवल नव कुंज नवकेलि ठानी।
नवल कुसुमावली नवल सिज्या रचित,
नवल कोकिल कीर भृङ्ग गानी॥
नवल सहचरि वृन्द नवल वीना मृदग,
नवल सुर ताल नव राग वानी।
नवल गोपीनाथ हित नवल रस रीति सौं,
नवल हरिवंश अनुराग दानी॥

३. उत्थापन समय की धूप आरती का पद—
श्री राधा मेरे प्रानन हूँ ते प्यारी,
भूले हूँ मान न कीजै सुन्दरि हौं तो सरन तिहारी।
नेकु चितै हँसि बोलिये जू खोलिये घूंघट सारी।
कृष्णदास हित प्रीति रीति बस भरि लई अंकम वारी॥

रहती हैं। स्वल्प भोजन के बाद पदो का गान होता है।[1] इसके बाद सन्ध्या आरती होती है; इसमें भी आरती के पद गाये जाते हैं।[2] आरती के बाद रासलीला इसी समय होती है। रासलीला इस समय होनी आवश्यक है और समयो पर भी यथारुचि हो सकती है। नृत्य, वाद्य, संगीत आदि भी होना आवश्यक है।

(६—शयन—'छह घड़ी रात्रि गये ताई सन्ध्या समय भयो ता पाछे शयन समय घड़ी दोय दोय को है।')

शयन समय में रात्रिकालीन भोजन की समस्त सामग्री प्रस्तुत की जाती है। इस

---

१. सन्ध्या भोग के समय के पद—

रहो कोऊ काहू मनहि दियैं,
मेरे प्राननाथ श्री श्यामा सपथ करौ तृन छिये।
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा वन विहार रस पिये।
खोये रतन फिरत जे घर घर कौन काज ऐसे जिये।
हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिनु या रजहि लिये॥

—स्फुटवाणी पद सं० २०

हरि हम कब होंगे व्रजवासी।
ठाकुर नन्दकिशोर हमारे ठकुराइन राधा सी।
सखी सहेली नीकी मिलिहैं हरिवंशी, हरिदासी।
वंशीवट की सीतल छाया सुभग वहै जमुना सी।
जा वैभव की करत लालसा कर मींडत कमला सी।
इतनी आस 'व्यास' की पुजिवौ वृन्दाविपिन विहारी।

—व्यासवाणी, पद २२६

२. सन्ध्या समय की आरती—

आरती कीजे स्याम सुन्दर की, नन्द के नन्दन राधिका वर की।
भक्ति करि दीप प्रेम करि बाती, साधु संगत करि अनुदिन राती।
आरतीं व्रज जुवति जूथ मनभावै, स्याम लीला हरिवंश हित गावै।
सखि चहुँ ओर चंवर कर लीयैं, अनुरागन सौं भीनैं हीयैं।
सनमुख बीन मृदग बजावै, सहचरि नाना राग सुनावैं।
कंचन थार जटित मन सोहैं, मध्यवर्त्तिका त्रिभुवन मोहैं।
घंटानाद कह्यौ नहि जाई, आनन्द मगल की निधि माई।
जयति जयति जोरी सुखरासी, रूपलाल हित चरन निवासी॥

—श्री रूपलालजी की वाणी (हस्तलिखित)

भोजन में पक्का भोजन जैसे, पूरी, कचौरी, मोहन भोग, हलुआ, रबडी आदि रहते हैं।[1] भोजन होने के बाद शयन आरती होती है।[2] शयन आरती के बाद श्री जी के शैया पर पधारने की भावना की जाती है। शैया पर जाने के बाद केलि-क्रीडा प्रारम्भ होती है। हास्य, विनोद आदि होते हैं। यह लीला मध्यरात्रि तक जारी रहती है।

(७—शैया—'आठ घडी रात्रि गये पाछे सेज्या समय विचारे घडी बीस को सेज्या समय है।')

हास-परिहास परायण जुगल परिश्रान्त होने पर निकटस्थित शैया भोग की सामग्री ग्रहण करें। इस भोग को 'अनीसीथी भोग' भी कहते हैं। इस भोग के बाद प्रभात तक निद्रामग्न रहें।[3]

---

१. शयन समय के भोग के पद—

नवल नवेली अलबेली सुकुमारी जूकौं,
रूप पिय प्राननि कौ सहज अहारु री।
विजन सुभाइन के, नेह घृत सौंज बनी,
रोचक रुचिर हैं अनूप अति चारु री।
नैनन की रसना तृपित न होत क्यों हू
नई नई रुचि 'ध्रुव' बढत अपारु री।
पानिप कौ पानी प्याइ पान मुसकाइ ख्याइ,
राखे उर सेज स्वाइ पायौ सुखसारु री।
—ध्रुवदासजी

२ शयन आरती के समय का पद—

नागरी निकुंज ऐन किसलय दल रचित सैन,
कोक कला कुसल कुंवरि अति उदार री।
सुरत रग अग-अग हाव-भाव भृकुटि भग,
माधुरी तरग मथत कोटि मार री।
मुखर नुपुरनि सुभाव किंकिनी विचित्र राव,
विरमि विरमि नाथ वदत वर विहार री।
लाडिली किशोर राजहस हसिनी समाज,
सींचत हरिवस नैन सरवस सार री।
—ध्रुवदासजी

३. शैया समय के पद—

लडैती जू के नैनन नींद घुरी।
आलस बस, जोवन बस, मद बस, पिय के अस ढुरी।
पिय कर परस्यौ सहज चिबुक कर बांकी भौह मुरी।
'बाबरी सखी' औ 'व्यास' सुवन अल देखत लतनि दुरी।
(बाबरी सखी का पद)

## साम्प्रदायिक नैमित्तिक उत्सव

राधावल्लभ सम्प्रदाय में नैमित्तिक उत्सवो की परम्परा श्री हितहरिवश जी के समय से ही चली ग्रा रही है। पाटोत्सव के बाद श्री राधावल्लभजी के मन्दिर मे इन उत्सवो के बडे समारोह के साथ मनाये जाने का वर्णन वाणी-ग्रथो मे पाया जाता है। वर्तमान समय में जो उत्सव प्रचलित हैं उनकी सख्या बढ गई है। ग्राचार्य-कुल के गोस्वामियो के जन्मोत्सव भी इनमें सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्राचीन उत्सवो में प्रमुख रूप से दस उत्सवो का ही वर्णन पाया जाता है। श्री लाडलीदास जी ने ग्रपने सैद्धान्तिक ग्रथ 'सुधर्म बोधिनी' मे इस प्रकार दशोत्सव का वर्णन किया है—

फागु, डोल, चन्दन वसन, तीज हिंडौलें झूल।
सरद, पाट उत्सव, तहां गुरु पूजा रस मूल॥
दीपमालिका प्रतिपदा, वन विहार चित चाह।
खिचरी ग्रौर वसन्त ये ग्रपने दस उत्साह॥[1]

श्री गोस्वामी कमलनयनजी ने ग्रपने 'समय प्रवध' ग्रन्थ मे सोलह उत्सवो का वर्णन किया है। 'समय प्रवन्ध' के उत्सव बीजक मे इस प्रकार इनका उल्लेख है—

दोहा— माह सुदी तिथि पचमी, उत्सव खेल वसन्त।
फागुन सुदि तिथि द्वैज तें, खेलि होलिका ग्रन्त॥१॥
चैत वदी तिथि प्रतिपदा होलिका ग्रन्त प्रभात।
होरी डोल विचित्र ग्रति, झूल फूल हरषात॥२॥
चैत सुदी एकादशी, फूल डोलि तिथि होय।
सुदी तृतीया बैसाख की चन्दन यात्रा सोय॥३॥
ज्येष्ठ सुदी एकादसी जलविहार दिन जान।
सावन सुदि तिथि तीजतें पावस डोल बखान॥४॥
तेरह दिन झूलत नवल पूनौं सों सुखरासि।
पवित्रा ग्रङ्ग पहरावहीं एकादसी उजास॥५॥
पूनौं रक्षा वाँधिकें पुनि झूलहि मनफूल।
भादौं तिथि वदि ग्रष्टमी जन्म दिवस ग्रनुकूल॥६॥
भादौं सुदि तिथि ग्रष्टमी प्रियाजन्म सुखरासि।
ग्राश्विन सुदि तिथि पूनौं प्रकट सरद रास ग्रनियासि॥७॥

---

ग्रालस नैन ग्रावत घूमि।
खसित भुज पिय ग्रंसते सम्हराय कर दै चूमि।
लाल चुटकी दे जगावत खुले ताकत भूमि।
वृन्दावन हित रूप घूँघट वदन पै रह्यो झूमि॥
—श्री चाचा वृन्दावनदास की वाणी।

१. सुधर्म बोधिनी, श्री लाड़िलीदास कृत—पृष्ठ ७२।

कातिक वदि तिथि द्वैज की सरद समय पुनि होय।
मावस दीपोत्सव प्रकट अद्भुत रचना होय ॥८॥
कातिक सुदि प्रतिपदा सुदिन वनविहार अति प्यार।
तेरस पाटोत्सव सुखद तिलकोत्सव सु विचार ॥९॥
इह विधि उत्सव यें सकल हित पद्धति के जानि।
श्री हित जू हित कुल तिलक जन्म दिवस सुखखानि ॥१०॥
माघव सुदि एकादसी श्री जू जन्म प्रसिद्ध।[१]

उपर्युक्त उत्सवो के अतिरिक्त अन्य वैष्णव सम्प्रदायो की भांति यहाँ व्रतोपवास का विधान नही है। व्रत प्रवृत्ति एवं निवृत्ति भेद से दो प्रकार के होते हैं तथा ध्येय के विचार से व्रत तीन प्रकार के माने जाते हैं—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। नित्य व्रत प्राय सभी वैष्णव सम्प्रदायो में समान रूप से प्रचलित हैं। नैमित्तिक व्रत किसी ग्रह-नक्षत्र आदि के प्रदोष से यथासमय आते हैं अथवा किसी घटना विशेष से भी नैमित्तिक व्रतो का सम्बन्ध होता है। काम्य व्रत किसी अभिलाषा, कामना आदि की पूर्ति के निमित्त रखे जाते हैं। किन्तु श्री हितहरिवश जी ने प्रारम्भ से ही व्रतो को अपनी साधना से दूर रखा है। व्रत में उपवास की मर्यादा का प्रचार भी अत्यधिक है, किन्तु इस सम्प्रदाय में भागवत पुराण प्रतिपादित 'एकादशी व्रत' का भी विधान नही पाया जाता। श्री व्यासजी, सेवकजी आदि ने स्पष्ट रूप से इसका खडन किया है। व्रती के व्रत-कथा सुनने का विधान अन्य सभी वैष्णव सम्प्रदायो में है किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में उसको भी आवश्यकता नही समझी गई। आधुनिक युग में कतिपय राधावल्लभीय वैष्णव इन व्रतो के प्रति निष्ठा रखते हुए देखे जाते हैं, यह अन्य वैष्णव सम्प्रदायो का प्रभाव ही समझना चाहिए। सैद्धान्तिक रूप से व्रतोपवास का इस सम्प्रदाय में कोई स्थान नही है।

## तिलक और कंठी

इस सम्प्रदाय का तिलक भाल के प्रदेश नासिका से ऊर्ध्व भाग अर्थात् त्रिकुटी प्रदेश तक रहता है। दो सीधी पतली रेखाएँ भाल स्थल से सिंहासन अर्थात् विशुद्ध चक्र तक आती हैं और बीच में काली बिन्दी रहती है। तिलक की सीधी रेखाओ को कृष्ण रूप और श्याम बिन्दी को राधा स्थानीय माना जाता है, 'तिलक कृष्णरूपेण बिन्दुरूपेण राधिका।' तिलक के लिए कुछ लोग व्रजरज या राधा-कुड की रज को श्रेष्ठ समझते हैं। कुछ विद्वानो के मत में रोली का तिलक इस सम्प्रदाय में सर्वाधिक सौभाग्य-सूचक माना जाता है। उनके कथनानुसार पाटोत्सव, जन्माष्टमी राधाष्टमी आदि उत्सवो पर श्रीजी के शृगार मे रोली का ही तिलक होता है जो तेज और वर्चस्व का सूचक है।[२]

---

१ "समय प्रबंध" गो० कमलनयन कृत (हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ १० से उद्धृत)

2 The sect mark of the Radha Vallabhis is made in the front of a loop, the round portion below meeting near the eye-brows
—Monograph on the Religious Sects in India among the Hindus—by D A Pai, Page 54

साम्प्रदायिक दृष्टि से दीक्षा लेने के उपरान्त कंठी धारण करना अनिवार्य है। 'निज मत्र' ग्रहण करने के बाद ही दीक्षित व्यक्ति वैष्णव समाज का अग बनता है। कठी दो लडी होती हैं जिनमे छोटे-छोटे तुलसी दल के मनके होते हैं। मनको की सख्या का कोई विघान नही है केवल दुलड़ी होना आवश्यक है। 'दुलड़ी' के सम्बन्ध मे कहा जाता है कि यह जुगल ध्यान का द्योतन कराती है। इसी अन्तर्निहित जुगल भावना के आधार पर दुलडी का विधान हुआ है। मनको का सूत्र साधारण ही होता है किन्तु आजकल धनीवर्ग के वैष्णव लोग स्वर्ण-सूत्र में भी मनका पिरोकर कंठी धारण करते देखे जाते हैं।

तुलसी पूजन, अश्वत्य-पूजन आदि का कोई विधान इस सम्प्रदाय मे नही है। आधुनिक युग मे तुलसी-पूजन यत्र-तत्र देखने मे आता है किन्तु इसे राधावल्लभीय भावना का आभ्यन्तर अग नही समझना चाहिए। यह भी अन्य वैष्णव सम्प्रदायो का प्रभाव ही है।

## सप्तम अध्या

# रासलीला का स्वरूप और महत्त्व

माधुर्य-भक्ति-निष्ठ वैष्णव सम्प्रदायो में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ का वर्णन उनके सौन्दर्य, शक्ति और शील को व्यक्त करने के लिए स्वीकार किया गया है। इन लीलाओ के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनो प्रकार से अर्थ करके भक्तजन भगवान् के स्वरूप को हृदयगम करते हैं। इनमें रासलीला का स्थान आध्यात्मिक महत्त्व की दृष्टि से मूर्धन्य समझा जाता है। रासलीला मानसिक भावना के साथ-साथ लौकिक धरातल पर अनुकरणात्मक होकर दृश्य-लीला का रूप धारण करती है अत उसके प्रभाव की परिधि अन्य लीलाओ की अपेक्षा अधिक व्यापक हो जाती है।

भागवत पुराण के दशमस्कध के ( उनत्तीस से तैंतीसवे तक ) पाँच अध्यायो को 'रासपचाध्यायी' कहते हैं। इन पाच अध्यायो को भागवत का प्राण कहा जाता है। 'रास-पचाध्यायी' में रास का प्रारम्भ करने के लिए श्रीकृष्ण की अन्तर्प्रेरणा का तथा शारदीय पूर्णिमा की विभावरी का बहुत ही सरस एव काव्यमयी भाषा में वर्णन किया गया है। ज्योही श्रीकृष्ण के मन में रास प्रारम्भ करने का विचार आया, समस्त वन-प्रान्त अनुराग की लालिमा से अनुरजित हो उठा। श्रीकृष्ण ने अपनी प्रिय वशी उठाई और उसका वादन प्रारम्भ किया। वशी-रव को सुनते ही गोपियाँ अपने तन-मन की सुधि भूल, समस्त कार्य-कलाप को बीच में ही छोड, भाग खडी हुई और श्रीकृष्ण के समीप वन-प्रदेश में पहुँच गई। श्रीकृष्ण ने बडे सहजभाव से उन्हे पातिव्रत धर्म का उपदेश देकर वापस लौट जाने को कहा किन्तु गोपियो ने किसी मर्यादा को स्वीकार नही किया और अपनी टेक पर दृढ बनी रही। तब कृष्ण ने आनन्द-पुलक परिपूर्ण हो उनके साथ मडलाकार स्थित होकर रास रचाया। इस रास में कृष्ण और गोपियो का मिलन, सयोग शृगार के धरातल पर विभाव, अनुभाव, सचारी भाव आदि के साथ वर्णित किया गया है जिसे पढकर सामान्य पाठक को भ्रम होना सहज है कि यह लीला काम-प्रेम की शृगारमयी लीला है, इसका कोई आध्यात्मिक धरातल नही है। किन्तु रासलीला के मर्म को समझने के लिए उसके तात्त्विक आशय की अवहेला

नही की जा सकती। वैष्णव भक्तो ने इस रासलीला को ज्ञानमार्ग, योगमार्ग, कर्ममार्ग और भक्तिमार्ग की सरणि माना है—शृंगार या काम-चेष्टा का आधार उसमें गृहीत ही नही हुआ। इस रासलीला में उपास्य काम-विजयी है, इसीलिये इसके द्वारा काम-विजय रूप फल प्राप्ति मानी जाती है।

रासलीला के मूल उद्देश्य को विभिन्न सम्प्रदायो के आचार्यों ने अपनी-अपनी निष्ठा और भक्ति-भावना के अनुसार नाना रूपो मे वर्णित किया है किन्तु भागवत वर्णित रास-पंचाध्यायी को शृङ्गारपरक लौकिक काम-वासना का प्रेरक किसी ने नही माना। श्री वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी टीका में रास-प्रकरण के आरम्भ में कहा है—

'ब्रह्मानन्दात्समुद्धृत्य भजनानन्दयोजने ।
लीलाया युज्यते सम्यक् सातुर्ये विनिरूप्यते ।'

"भगवान् ने व्रज में लीलाएँ इसलिए की कि मुक्त जीवो का, ब्रह्मानन्द से उद्धार होकर उन्हें भजनानन्द मिले। इस प्रकार लौकिक विषयानन्द तथा काव्यरस से इतर रसरूप श्रीकृष्ण (रसोवैस) के ससर्ग की लीलाओ मे जो रस समूह मिले वह रास है। और यह रस-समूह गोपी-कृष्ण की शरद् रात्रि की लीला में अपने पूर्ण रूप मे स्थित बताया गया है।" "रासक्रीडा द्वारा मानसिक अनुभव से रस की अभिव्यक्ति होती है देह द्वारा प्राप्त अनुभव से नही—'रास क्रीडाया मनसो रसोद्गमः नतु देहस्य।'[1]

'वल्लभ सम्प्रदाय में रास के तीन रूप माने जाते हैं : १—नित्य रास, २—अवतरित रास या नैमित्तिक रास, ३—अनुकरणात्मक रास, यह दो प्रकार का होता है, (क) भावनात्मक या मानसिक, (ख) देहात्मक। गोलोक मे अथवा निजधाम वृन्दावन में भगवान् श्रीकृष्ण अपने आनन्द-विग्रह से अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियो के साथ नित्य रस-मग्न रहते हैं। उनकी यह क्रीड़ा अनादि और अनन्त है। यही भगवान् का नित्य रास है।'[2]

रासलीला मे शृङ्गारमयी चेष्टाओ और काम-क्रीड़ाओ का अत्यधिक वर्णन देखकर इसे अश्लील समझने की शंका का निरास करते हुए श्री वल्लभाचार्य ने सुबोधिनी की कारिकाओ में स्पष्ट रूप से यह भाव व्यक्त किया है कि कृष्ण के रास मे काम की समस्त चेष्टाएँ तो हैं परन्तु उनमें काम नही है। गोपियो के लौकिक काम का शमन और अलौकिक काम की पूर्ति निष्काम श्रीकृष्ण द्वारा हुई थी। यदि लौकिक काम से काम की पूर्ति होती तो उससे ससार उत्पन्न होता, परन्तु यहाँ तो गोपी और कृष्ण दोनो मे लौकिक काम का अभाव है, और साथ ही संसार से निवृत्ति है। इस रासलीला में किसी मर्यादा का भंग भी नही हुआ। इससे तो गोपियो को स्वरूपानन्द की मुक्ति ही मिली है। इसलिये इस लीला के सुनने से लोक निष्काम ही बनता है अर्थात् अपने काम की आहुति भगवान् में कर देता है। भगवान् का चरित्र सर्वथा निष्काम है, इससे काम का उद्बोध ही नही होता।'

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४६७ से उद्धृत।
२. „ „ „ पृ० ४६८ से उद्धृत।

क्रिया सर्वापि सैवात्र पर कामो न विद्यते ।
तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेति तास्तया ।।
कामेन पूरित काम ससार जनयेत्स्फुटम् ।
कामभावेन पूर्णस्तु निष्काम स्यात् न सशय ।।
अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ।
अत एतच्छ्रुतेर्लोको निष्काम सर्वदा भवेत् ।।
भगवच्चरित सर्वं यतो निष्काममीर्यते ।
अत कामस्य नोद्‌बोध तत शुकवच स्फुटम् ।।[1]

भागवत पुराण में इसी भाव को व्यक्त करते हुये कहा है कि यह लीला काम-रोग रूपी हृदय-रोग का नाश करने वाली है ।

विक्रीडित व्रजवधूभिरिद च विष्णो.
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथ वर्णयेद् य. ।
भक्ति परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीर ।।

—भागवत पुराण, दशम स्कध, अ० ३३, श्लोक ४० ।

अर्थात्, जो व्यक्ति श्रद्धान्वित होकर व्रज-बालाओ के साथ की गई भगवान् विष्णु की इस क्रीडा का श्रवण या कीर्तन करेगा, वह परम धीर भगवान् में पराभक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक काम-रोग से मुक्त हो जायगा । अत स्पष्ट है कि इस रासलीला को काम-लीला न मानकर विजय-लीला ही मानना चाहिये । राधावल्लभ सम्प्रदाय मे रासलीला को इसीलिए 'कामजयीलीला' कहते हैं ।

श्री सनातन गोस्वामी ने भी रासलीला को काम-विहीन ही माना है और ह्लादिनी शक्ति का अनादि विलास कहा है । 'ह्लादिनी शक्ति विलास लक्षण परमप्रेमयूयैवैषा रिरसा नतु काममयीति ।'

रास के लक्षण की स्थापना करते हुये कहा जाता है कि "सर्वशक्तिमान् परिपूर्ण परतत्व की पराख्या की शक्ति के साथ अनादि सिद्ध रिरसा की जो उत्कठा है और उस उत्कठा के साथ जो चिद्विलास है उसी को रास कहते हैं । इस लीला में अपूर्व नृत्य, गीत, वाद्य आदि का आयोजन तथा विविध भावो का योग रहता है ।"[2]

इस रासलीला को दो रहस्यों मे विभाजित किया जाता है—अन्तरग और वहिरग । अन्तरग रहस्य का अभिप्राय आनन्दरस का आस्वादन करना है और वहिरग का अभिप्राय काम को पराजित करना है । इसलिए जब तक काम को पूर्ण रूप से विजय न कर ले तब

---

१ भागवत की सुबोधिनी टीका, रास प्रकरण की कारिका—"अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय", पृष्ठ ५०३ से उद्धृत ।

२. कल्याण—श्री रासलीला रहस्य ले० आचार्य मदनमोहन गोस्वामी, अगस्त १९३१—वर्ष ६ । पृष्ठ १९१ ।

तक रासलीला देखने का अधिकारी नही होता।

रासपचाध्यायी को निवृत्तिपरक बताते हुये श्रीधर स्वामी ने लिखा है—'शृंगाररस-कथापदेशेन विशेषतोनिवृत्तिपरेयं पचाध्यायी।'

## रासलीला का प्रतीकार्थ

रासलीला के विभिन्न प्रतीकार्थ प्रस्तुत किये जाते हैं। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय मे प्रतीकार्थो की स्वीकृति नही है। यहाँ राधा और कृष्ण की अन्तरग लीला के ही एक रूप को रास के रूप में ग्रहण किया जाता है। किन्तु जो प्रतीकार्थ प्रचलित हैं उनका सक्षेप में हम यहाँ उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

*ब्रह्मविद्या* को आधार मानकर चलने वाले ज्ञानमार्गी रासलीला में भी 'तत्त्वमसि' का विधान पाते हैं। उनकी दृष्टि में भगवान् श्रीकृष्ण 'तत्' पदार्थ हैं और गोपागनाएँ 'त्व' पदार्थ हैं। इन दोनो का परस्पर सश्लेष हो तो क्या वह काम-लीला होगी ? यथार्थ में अन्तरंग दृष्टि से यह जीव और ब्रह्म का अद्भुत सयोग ही है।"[1]

*योगशास्त्र* के आधार पर रास का प्रतीकार्थ इस प्रकार समझा जा सकता है। अनाहत नाद ही भगवान् की वशीध्वनि है, अनेक नाडियाँ ही गोपियाँ हैं, कुल-कुण्डलिनी ही श्रीराधा हैं और मस्तिष्क का सहस्रदल कमल ही वह सुरम्य वृन्दावन है जहाँ आत्मा और परमात्मा का सुखमय सम्मिलन होता है तथा जहाँ पहुँच कर ईश्वरीय विभूति के साथ जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ सुरम्य रास रचती हुई नृत्य करती हैं।[2]

आत्मशक्ति की विभिन्न क्रीड़ाओ को ही लीला का आध्यात्मिक अर्थ मानने वाले विद्वान् कृष्ण, गोप, गोपी, वशी आदि सभी अवयवो का तात्त्विक अर्थ लगाते हैं—

"गो का अर्थ है इन्द्रिय। अत. गोप या गोपी का अर्थ हुआ इन्द्रियों की रक्षा करने वाला।+++। कृष्ण आत्मा के प्रतीक हैं जो वशी-ध्वनि से, सगीत आदि स्वरो से, गोपियो को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। जैसे इन्द्रियाँ या वृत्तियाँ एक मन एक प्राण होकर अन्तरात्मा में मग्न हो जाने के तैयारी करती हैं वैसे ही गोपियाँ वंशीध्वनि से कृष्ण की ओर केवल गति करती हैं। इसके पश्चात् रासलीला का नृत्य आता है जो अपनी तरंगो द्वारा गोपियो को कृष्ण-सामीप्य प्राप्त करा देता है। सामीप्य का अनुभव अपनी शक्ति और अहम्मन्यता का स्फुरण करता है। अतः पूर्ण मग्नता की दशा नही आ पाती। आत्म-प्रकाश पर अहंकार का आवरण छा जाता है। पर जैसे कृष्ण-रूपी आत्मज्योति अन्तर्हित होती है आत्ममग्न होने की प्रेरणा तीव्र हो उठती है और अहकार विलीन हो जाता है। वियोग की अनुभूति लक्ष्य-प्राप्ति के लिए इसीलिए आवश्यक मानी गई है। अहकार के नष्ट होते ही पार्थक्य के समस्त बन्धन छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, मनोवृत्तियाँ आत्मा में लीन हो जाती हैं,

---

१ श्री भगवतत्त्व—श्री करपात्रीजी, पृष्ठ २१८।

२. कल्याण—रासलीला में आध्यात्मिक तत्त्व—ले० श्री बलदेवप्रसाद मिश्र, वर्ष ६। अगस्त १९३१, पृष्ठ १९४।

गोपियाँ कृष्ण के साथ महारास रचने लगती हैं। यही है आत्मा का पूर्णानन्द में लीन होना। भारतीय सस्कृति का यही चरम लक्ष्य है।''[1]

रासलीला का एक आध्यात्मिक अर्थ यह भी किया जाता है कि भगवान् की यह लीला अपने साथ अपनी ही लीला है। भागवत पुराण में कहा है कि जैसे बालक अपने प्रतिबिम्ब को दर्पण-मणि आदि मे देखकर क्रीडा करता है वैसे भगवान् रमापति ने हास्य-आलिंगनादि द्वारा व्रजसुन्दरियो के साथ खेल किया। भगवान् ने आत्माराम होकर भी अपने अनेक रूप करके प्रत्येक गोपी के साथ पृथक्-पृथक् रह कर क्रीडा की। इसलिए कुछ लोग इस लीला के अभिनय या अनुकरण के पक्ष में नही है।[2]

## वेद और रासलीला

रासलीला का आध्यात्मिक प्रतीकार्थ मानने वाले कुछ विद्वानो ने वेद में भी दूरारूढ कल्पना द्वारा रासलीला की खोज की है और शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के रूप मे इसे ठहराया है। रासलीला के स्वरूप का विचार प्राचीनकाल से ही होता आया है। लीला के समस्त रूप भगवान् का ही प्रतिपादन करते हैं—इस सिद्धान्त को व्यक्त करने के लिए ही रास-लीला का प्रसग है। गोपियाँ वेद की ऋचाएँ हैं' और जिस प्रकार शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है उसी प्रकार ऋचा-रूपी गोपियो का और भगवान् का सम्बन्ध भी नित्य है। इसी का नाम 'नित्य रासलीला' है।

'भगवान् परमात्मा है और गोपिया प्रकृति हैं, अन्त करण की वृत्तियाँ हैं—यह मान कर भी रासलीला का रहस्य समझा जा सकता है। रासलीला ब्रह्मानुरूप का रहस्य प्रकट करती है परमात्मा के साथ अनेको सबध बाँधकर जीवात्मा भगवत्स्वरूप प्राप्त करता है। यह सम्बन्ध काम, क्रोध, भय, स्नेह, एकता और भक्ति से सिद्ध होता है। अतएव रासलीला जीवात्मा का परमात्मा के साथ घनिष्ठ सबध प्रकट करती है।'

'ऋग्वेद में विष्णु देवता के जो विशेषण हैं वही आगे भक्ति-सम्प्रदायो में कृष्ण के लिये प्रयोग किये गये हैं। कृष्ण वैदिक विष्णु एव सूर्य के विकसित रूप हैं। सूर्य अखिल चराचर विश्व की आत्मा है अतएव वे विश्व के आधार और मध्यविन्दु बने हुए हैं तथा विश्व के चारो ओर फिरते है। इसी बात को श्रीकृष्ण की रासलीला का स्वरूप दिया गया है। रासलीला तो जीव तथा विश्व का परमात्मा के साथ सम्बन्ध प्रकट करती है।'

'कृष्ण सूर्य हैं और गोपीजन किरण हैं। सूर्य की किरणें सूर्य में रहती हैं, सूर्य से बाहर निकलती हैं और फिर सूर्य में प्रवेश कर जाती हैं। सूर्य गोलाकार है और सर्वदा गतिमान है। यही सुन्दर रहस्य रासलीला में सिद्ध किया गया है।'

---

१ भारतीय साधना और सूर-साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृष्ठ २०८।

२ 'कल्याण—रासलीला' ले० रामदयाल मजूमदार, वर्ष ६, अगस्त १९३१, पृष्ठ १८४।

'इस प्रकार प्राचीन तथा अर्वाचीन तत्वचिन्तको ने रासलीला की तात्त्विक भावनाओं का वर्णन किया है। रासलीला की भावना काव्य-दृष्टि से तथा तत्वज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त भव्य और सुन्दर है। अतएव इसका स्थान साहित्य और तत्त्वज्ञान के इतिहास मे चिरन्तन है।'[1]

रासलीला के दिव्य-रूप की स्थापना करते हुए श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार ने श्रीमद्भागवत पुराण के रास-पचाध्यायी प्रकरण के सम्बन्ध में बड़े मार्मिक विचार व्यक्त किये हैं। रासलीला मे श्रीकृष्ण और गोपियो के पारस्परिक सम्बन्ध पर भी बडी सुन्दर शैली से प्रकाश डाला गया है। इस प्रसग में से कुछ पक्तियाँ हम पाठको के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत करते हैं :—

'जिस दिव्य क्रीडा में एक ही रस अनेक रसो के रूप में होकर अनन्त-अनन्त रस का समास्वादन करे; एक रस ही रस-समूह के रूप में प्रकट होकर स्वय ही आस्वाद्य-आस्वादक, लीला, धाम और विभिन्न आलम्बन और उद्दीपन के रूप से क्रीडा करे—उसका नाम रास है।' भगवान् की यह दिव्यलीला भगवान् के दिव्य धाम में दिव्य रूप से निरन्तर हुआ करती है। +++ रास पचाध्यायी में वशीध्वनि, गोपियो के अभिसार, श्रीकृष्ण के साथ उनकी बातचीत, रमण, श्री राधा के साथ अन्तर्धान, पुन. प्राकट्य, गोपियो के द्वारा दिये हुए वसनासन पर विराजना, गोपियो के कूट प्रश्न का उत्तर, रासनृत्य, क्रीड़ा, जलकेलि और वनविहार का वर्णन है—जो मानवी भाषा में होने पर भी वस्तुत परम दिव्य है।+++

"भगवान् का चिदानन्दघन शरीर दिव्य है। यह अजन्मा और अविनाशी है, हानोपादान-रहित है। वह नित्य सनातन शुद्ध भगवत्स्वरूप ही है। इस प्रकार गोपियाँ दिव्य जगत् की, भगवान् की स्वरूपभूता अन्तरग शक्तियाँ हैं। इन दोनो का सम्बन्ध भी दिव्य ही है। यह उच्चतम भावराज्य की लीला स्थूल शरीर, स्थूल मन से परे है। आवरण भग के अनन्तर अर्थात् चीरहरण करके जब भगवान् स्वीकृति देते हैं, तब इसमे प्रवेश होता है।"

"गोपियाँ श्रीकृष्ण की स्वकीया थी या परकीया, यह प्रश्न भी श्रीकृष्ण के स्वरूप को भुलाकर ही उठाया जाता है। श्रीकृष्ण जीव नही हैं कि जगत् की वस्तुओ में उनका हिस्सेदार दूसरा जीव हो। जो कुछ भी था, है और आगे होगा—उसके एकमात्र पति श्रीकृष्ण ही हैं।+++श्रीकृष्ण की दृष्टि से—जो कि वास्तविक दृष्टि है—कोई परकीया है ही नही; सब स्वकीया हैं, सब केवल अपना ही लीला-विलास है, सभी स्वरूप-भूता अन्तरगा शक्ति हैं। गोपियाँ इस बात को जानती थी और स्थान-स्थान पर उन्होने ऐसा कहा भी है। ऐसी स्थिति में 'जारभाव' और 'औपपत्य' का कोई लौकिक अर्थ नही रह जाता। जहाँ काम नही है, अग-संग नही है वहाँ औपपत्य और जारभाव की कल्पना ही कैसे हो सकती है। गोपियाँ परकीया नही थी, स्वकीया थी, परन्तु उनमें परकीया-भाव था। परकीया होने में और परकीया-भाव होने में आकाश-पाताल का अन्तर है। परकीया-भाव में तीन बातें बडे

---

१. देखिये—पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ—रासपंचाध्यायी—भागवत
लेο गोविन्दलाल हरगोविंद भट्ट, पृष्ठ ३६६-६७।

महत्त्व की होती हैं—अपने प्रियतम का निरन्तर चिन्तन, मिलन की उत्कट उत्कंठा और दोष-दृष्टि का सर्वथा अभाव। स्वकीया में निरन्तर एक साथ रहने के कारण ये तीनो बातें गौण हो जाती हैं। + + + ।'

'भगवान् की इस दिव्यलीला के वर्णन का यही प्रयोजन है कि जीव गोपियो के उस अहैतुक प्रेम का, जो कि श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाने के लिए था, स्मरण करे और उसके द्वारा भगवान् के रसमय दिव्यलीला-लोक में भगवान् के अनन्त प्रेम का अनुभव करे। हमें रासलीला का अध्ययन करते समय किसी प्रकार भी शका न करके इस भाव को जगाये रखना चाहिए।"[१]

## राधावल्लभ सम्प्रदाय में रासलीला

प्रतीकार्थों के आधार पर यदि रासलीला का मर्मोद्घाटन किया जाय तो यह लीला प्राकृत ठहरेगी ही नहीं। इसलिए इसमे किसी प्रकार की मर्यादा के अतिक्रमण का या काम-वासना का प्रश्न भी नही उठेगा।

रासलीला के सम्बन्ध में व्रज के भक्ति-सम्प्रदायो में यह मतवाद प्रवर्त्तित है कि व्रज के गोपो को अपना स्वरूप-साक्षात्कार कराने के उद्देश्य से कृष्ण ने यह रास रचा था। भगवत्-स्वरूप दर्शन के लिए जो विभिन्न दशाएँ वर्णित की जाती हैं रासलीला उनमें छठी दशा है। पांचवी तक पहुँचने पर साधक अपनी 'देहसुधि' भूल जाता है, 'पाचे भूले देह सुधि' तब कही 'छठी भावना रास की' प्राप्त होती है।

रासलीला के प्रयोजन और उद्देश्य के सम्बन्ध में और भी विचार उपलब्ध होते हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय के मतानुसार यह लीला श्री लालजी (श्रीकृष्ण) प्रेमतत्त्व (हित तत्त्व के) विकास के लिए करते हैं। इस लीला मे एक ही 'श्रीतत्व' श्रीकृष्ण और गोपी रूप में आविर्भूत होता है। यह शुद्ध, अनाविल, निरतिशय आनन्दपूर्ण प्रेम-लीला है इसलिए प्रेम के लौकिक रूप के सम्मुख रखकर शृंगारमयी भावनाओ का प्रस्फुटन इस लीला का आवश्यक तत्त्व बनता है। केवल यही ध्यान रखना चाहिए कि निर्विशेष प्रेमरस का आलम्बन जब लौकिक नायक-नायिका न होकर भगवान् होते हैं तब वह परम पवित्र माना जाता है। लौकिक दृष्टि से वर्णित होने के कारण इसमें नायक-नायिका का आरोप कर लिया जाता है और उसके बाद स्वकीया-परकीयात्व का भी आधान स्वय हो जाता है। वस्तुत ये गोपियाँ जिनका रासलीला में वर्णन है—स्वकीया-परकीया-भाव निर्विशेष ही थी किन्तु सासारिक दृष्टि से उन्हें स्वकीया-परकीया भेद द्वारा वर्णित किया जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण को ही परमाराध्य एव पति मानने के कारण यथार्थ में सभी नायिकाएँ (गोपियाँ) स्वकीया ही थी किन्तु यदि उनमें से कुछ को अन्य पुरुषो के साथ विवाहिता माना जाय तो परकीयात्व भी

---

१. देखिए—श्रीमद्भागवत महापुराण (गीता प्रेस गोरखपुर) द्वितीय खंड, दशम स्कन्ध अध्याय ३३ की पाद टिप्पणी—पृष्ठ ३३०-३३९ तक।

—टिप्पणी लेखक श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार।

माना जा सकता है। रासपंचाध्यायी की गोपियाँ सर्वत्यागपूर्वक श्रीकृष्ण में रत हुई थी अत: उन्हे स्वकीया ही कहा जाना चाहिए। श्री हितहरिवशजी ने राधा को दुलहन और कृष्ण को दूलह बनाकर रास मे स्वकीयात्व का ही भाव व्यक्त किया है।[1]

लीला का दूसरा प्रयोजन राधावल्लभीय दृष्टि से जीवो का कल्याण है। सासारिक जीव शृंगार और प्रेम के पथ पर चलता हुआ केवल 'काम' में ही अपने भोग-विलास की इतिश्री समझ बैठता है जिसके फलस्वरूप ससार के आवागमन के बन्धन में पुन-पुन फँसता रहता है। इस लीला द्वारा वह काम-विजय की भावना पोषित करके काम-जय-रूप फल को प्राप्त करता है। श्रीकृष्ण और गोपीगण के उत्कृष्ट प्रेम को अपने लिए उपास्य मानकर चलने से काम-जय रूप फल प्राप्ति सम्भव है।

राधावल्लभीय मत में रासलीला का तृतीय प्रयोजन यह है कि श्रीकृष्ण सदा राधिका को प्रसन्न करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। राधा को प्रमुदित रखना ही उनका परम ध्येय है। राधिका की अंशभूता अन्यान्य गोपिकाओ को रास मे एकत्र कर प्रकारान्तर से इष्टदेवी राधा को प्रमुदित करने का यह एक क्रीड़ा-कौतुक है। इस लीला मे 'तत्सुख सुखित्व' भाव की रक्षा करते हुए श्रीकृष्ण अपने आमोद का विस्तार करते हैं। इस 'तत्सुखसुखित्व' का पर्यवसान भी लोक-कल्याण में ही होना है। अत' इस लीला की भावना करना ही पर्याप्त नही अपितु इसका भौतिक रूप में अनुकरण करना भी अभीष्ट है। अनुकरण द्वारा राधा के प्रति कृष्णानुराग का स्वरूप सासारिक जीवो को भी व्यक्त हो जाता है।

---

१. खेलत रास दुलहिनी दूलहु।
सुनहु न सखी सहित ललितादिक निरखि निरखि नैननि किन फूलहु।
अति कल मधुर महा मोहन धुनि उपजत हंस सुता के कूलहु।
थेई-थेई वचन मिथुन मुख निसरत सुनि-सुनि देह दशा किन भूलहु।
+ + +
अति लावन्य रूप अभिनय गुन नाहिन कोटि काम सम तूलहु,
भृकुटि विलास हास रस वरषत हित हरिवंश प्रेम रस झूलहु।
हित चौरासी, पद सं० ६२।

वंश रस नाद मोहित सकल सुन्दरी,
आनि रति मानि कुल छांड़ि कानी।
बाहु परिरम्भ, नीवी उरज परसि हँसि,
उमगि रतिपति रमित रीत जानी।
जूथ जुवतिनु खचित, रासमंडल रचित,
गान गुन निर्त्त आनन्द दानी।
तत्त थेई-थेई करत, गतिव नौतन धरत,
रास रस रचित हरिवंश बानी॥
—सेवक वाणी—प्रकरण श्री हितवाणी, पद सं० ३।

रासलीला-स्थली के विषय में राधावल्लभ सम्प्रदाय का स्पष्ट सिद्धान्त है कि वह वृन्दावन ही है अन्य गोलोक आदि नही। हां, भावनागत रासलीला के लिए किसी भी अन्य स्थल की कल्पना की जा सकती है। स्थूल वृन्दावन का माहात्म्य स्वीकार करने वाले इस सम्प्रदाय में राधाकृष्ण की समस्त लीलाएँ यही घटित हुई हैं और आज भी रासलीला इसी धाम में नित्य होती हैं। ब्रजलीला की पराकाष्ठा ही रासलीला में है। रासपचाध्यायी में गोलोक में ही रासलीला का होना वर्णित है किन्तु भक्ति-सम्प्रदायो मे वृन्दावन को ही मुख्यता प्रदान की जाती है क्योकि इस भूमि का माहात्म्य गोलोक, ब्रह्मलोक आदि से भी बढकर माना जाता है। श्रीहितहरिवश जी ने अपने रास के पदो मे ब्रज को ही रासस्थल कहा है।[1]

रासलीला का रहस्य उद्घाटित करते हुए स्कन्दपुराण मे शाडिल्य ऋषि का राजा परीक्षित और राजा ब्रजनाथ से जो सम्वाद आता है वह मनोयोगपूर्वक पठनीय है। ब्रजभूमि की व्यापकता पर प्रकाश डालते हुए शाडिल्य ऋषि ने ब्रज को ब्रह्म का ही रूप ठहराया है। उस व्यापक ब्रज मे कृष्ण को देहधारी वताया है और उन्हे आत्मराम कहा है। श्रीकृष्ण परमात्मा हैं और उनकी आत्मा हैं श्री राधा। श्री राधा को प्रसन्न करने के लिए कृष्ण रासलीला रचते हैं। इस लीला में सत्व-रज-तम गुणो के द्वारा सृष्टि, स्थिति और प्रलय होता है। यह लीला दो प्रकार की है—वास्तवी और व्यावहारिकी।

"सर्ग स्थित्यप्यया यत्र रज सत्वतमोगुणैं।
लीलैव द्विविधा तस्य वास्तवी व्यावहारिकी॥
वास्तवी तत्स्वसवेद्या जीवाना व्यावहारिकी।
आद्यां विना द्वितीया न द्वितीया नाद्यगाक्वचित्॥

वास्तवी लीला सव जीवो के हृदय में होती है, परन्तु व्यावहारिकी लीला देखे विना वास्तवी लीला किसी की समझ में नही आती। साथ ही वास्तवी लीला के समझे विना व्यावहारिकी लीला का रस भी पवित्र भाव से आस्वादन नही किया जा सकता। इन दोनो लीलाओ का पारस्परिक गहन सम्बन्ध है।[2]

---

१ आज वन नीको रास बनायौ।
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन वेनु वजायौ।
कलककन किंकिनि नुपूर धुनि सुनि खग मृग सचु पायौ॥
जुवतिनु मडल मध्य श्याम घन सारग राग जमायौ।
ताल मृदग उपग मुरज ढफ मिलि रस सिंधु बढायौ।
विविध विशद वृषभानु नन्दिनी अग सुघग दिखायौ।
× × ×
बरषत कुसुम मुदित नभनायक इन्द्र-निसान वजायौ।
हितहरिवश रसिक राधापति जस वितान जग छायौ॥
—हित चौरासी, पद स० ३६।

२. कल्याण—रासलीला, लेखक—रामदयाल मजूमदार, वर्ष ६, अगस्त १९३१, पृष्ठ १७७।

रासलीला के स्वरूप-निर्णय के बाद यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि यदि यह लीला प्रतीक-रूपक और शुद्ध भावनापरक आध्यात्मिक है तो इसका अभिनय-अनुकरण करना युक्तिसगत नही। भगवान् की गूढ लीला का ससारी जीव किस प्रकार अनुकरण कर सकते हैं। किन्तु इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जाता है कि यदि केवल स्मरणात्मक शैली से इस लीला की मानसिक भावना मात्र की जायगी तो केवल उन्ही भक्तो को इसका लाभ प्राप्त होगा जिनका कल्मष-हीन मानस भगवान् की भावना करने योग्य, पवित्र हो गया है। साधारण कोटि के ससारी भक्त इस लीला की मानस-भावना नही कर पायेंगे और यह गूढ-गहन दार्शनिक अनुभूति मात्र रह जायगी। राधावल्लभ सम्प्रदाय में दार्शनिक गूढता को बचाकर प्रेम की स्निग्ध भूमि पर राधाकृष्ण के नित्यविहार की स्थापना की गई है, क्योकि प्रेमी भक्तजन भी अनुकरणात्मक लीला मे पावन प्रेमरस का आस्वादन कर तृप्त हो सकते हैं। अत इस लीला का अनुकरण विधेय माना गया है। श्री वल्लभाचार्य तथा चैतन्य महाप्रभु के अनुयायियो ने भावनापरक रासलीला का ही अधिकाश मे वर्णन किया है, क्योकि उन्हे अभिनयात्मक लीला में त्रुटियो के समावेश का भय था। रासपचाध्यायी के प्रसगो को लेकर नन्ददास आदि भक्तो ने बड़े ही मनोमुग्धकारी लीला-चित्र अकित किये हैं किन्तु स्थूल अनुकरण पर विशेष वल नही दिया। श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी ने भी अपनी कृति 'हित-चौरासी' में भावनापरक लीला का ही वर्णन किया है किन्तु उनके समय में लीला का अनुकरण उन्ही के प्रयत्नो से प्रारम्भ हो गया था इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। श्री स्वामी हरिदास तथा श्री हरिराम व्यासजी रासलीला के अनुकरण मे सहायक थे और इस प्रकार सोलहवी शताब्दी मे रासलीलानुकरण होता था। कुछ विद्वानो का मत है कि यह अनुकरण पहले से चला आ रहा था उसी को हितहरिवशजी ने पुनर्जीवित किया। सम्भव है यह मान्यता निर्मूल न हो किन्तु वृन्दावन में रासलीलानुकरण की परम्परा का हितहरिवशजी से पहले प्रवर्त्तित होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता। रासलीलानुकरण के सम्वन्ध में अनेक विवाद प्रचलित हो गये हैं, उनका विवेचन आगे की पक्तियो में प्रमाण पुरस्सर किया जायगा।

रासलीलानुकरण के सम्बन्ध मे हम विदेशी अंग्रेज विद्वानो का अभिमत, श्री नारविन हईन हेवन लिखित लेख के आधार पर यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं। आज से डेढ सौ वर्ष पूर्व जेम्स टाड लिखित 'दि एनल्स एण्ड एन्टिविवटीज आफ राजस्थान' में हमें तत्कालीन रासलीला का आँखो देखा वर्णन उपलब्ध होता है। रासधारियो के कृत्य के विषय मे वे लिखते हैं—'वे प्राय किशोर होते हैं, ब्राह्मण होते हैं। मथुरा में रास-सम्बन्धी शिक्षा पाते हैं जहाँ एक वडा भूभाग उनकी आजीविका का साधन है। शरद ऋतु में वे देश के विभिन्न भागो में, हिन्दू राजाओ के दरवारो में रास करने के लिए निकल पडते हैं। गायको के अतिरिक्त चार अभिनेता भी होते हैं और सब सुन्दर-वदन होते हैं।'

रासलीला का वर्णन करने वाले दूसरे अंग्रेज सज्जन ब्रोटन हैं। उन्होने रासलीला का बड़ी आलकारिक भाषा में सविस्तार वर्णन किया है। वे लिखते हैं—'रास बैले (समूह-नृत्य) के समान हुआ। इसमें प्रेम की भावना और चाचल्य का प्रादुर्भाव था, किन्तु

सब-कुछ रोचक और दिव्य था। गोपियो के साथ—गोकुल की बालाओ के साथ—भाषा में, जो ब्रज प्रान्त में बोली जाती है, गायन हुआ।' ग्रोटन महोदय ने रासलीला के पदो की भाषा पर मुग्ध होकर उनका अंग्रेजी में अनुवाद भी किया था। ब्रज भाषा के पद-लालित्य की उन्होने अपने विवरण में भूरि-भूरि प्रशसा की है। एक विदेशी के लिए रासलीला अपने नृत्य, गायन, सगीत और पद के कारण मोहक सिद्ध हुई यह कम आश्चर्य की बात नही है।

तीसरे अग्रेज सज्जन ग्राउस हैं जिन्होने 'मथुरा मैमायर्स' नामक अपने ग्रथ में रास का विस्तार के साथ वर्णन किया है। वे लिखते हैं—'रास अलिखित धार्मिक रूपक है जिसमें कृष्ण के जीवन की प्रमुख घटनाएँ व्यक्त होती हैं। यह मध्यकालीन योरोप के 'मिरेकिल प्लेज' के समरूप है। † † † जिस दृश्य को बडे सौभाग्य से मैं देख सका वह विवाह का दृश्य था जो सकेत में व्यक्त किया गया था। † † † दृश्य अत्यन्त मनोहारी था और प्रेम की लीला में भी किसी प्रकार के अविचार का आभास नही था।'

इन तीनो अग्रेज विद्वानो के अभिमतो का पर्यालोचन करते हुए श्री नारविन हईन हेवन ने लिखा है कि—'भारतीय नाट्य के अन्धकार युग से रासलीला क्यो अप्रभावित-अक्षत रही ? इसके कई कारण हो सकते हैं किन्तु दो कारणो का उल्लेख निस्सकोच किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि रासलीला अन्तत धार्मिक रूपक है। भारतवर्ष के सभी प्राचीन नाटक—यह सत्य है कि नाम से तो धार्मिक हैं किन्तु रासलीला मे केवल रूढि के लिए ही धर्म की छाया नही रहती वरन् वह नितान्त भक्तिपूर्ण भावावेशो का समीकरण है। इसके दर्शक भी भक्त-हृदय होते हैं जो अपने इष्टदेव का लीलामृत पान करने के इच्छुक होते हैं, ऐन्द्रिय आमोद-प्रमोद ग्रहण करने वाले नही। इस प्रकार रासलीला सामूहिक उल्लास के कुप्रभाव से सदा सुरक्षित रही है।"[१]

## सोलहवीं शताब्दी मे रासलीलानुकरण

रास के आध्यात्मिक रूप का वर्णन करने के बाद रासलीला के लौकिक अनुकरण के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। ब्रजभूमि के तत्कालीन विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायो में रासलीला का उल्लेख मिलता है। जैसा पहले निर्देश किया जा चुका है कि वल्लभ सम्प्रदाय में अष्टछाप के कवि सूरदास और नन्ददास ने रासलीला का विस्तृत वर्णन किया है और रासपचाध्यायी में रास के स्थूल कथानक की पृष्ठभूमि पर ही शृ गारपरक शैली से रास के आध्यात्मिक मर्म का उन्होने उद्घाटन किया है। किन्तु उनके वर्णनो में अनुकरणात्मक रास का सकेत नही मिलता और न यही कही कहा गया है कि अष्टछाप के कवियो के लीला-पदो या कथानको के आधार पर 'अभिनेयरास' होते थे। रासमडल स्थापना का भी कही सकेत नही मिलता। इससे प्रतीत होता है कि वल्लभ सम्प्रदाय ने रास को श्रीमद्भागवत पुराण की शैली पर शुद्ध आध्यात्मिक भाव से ही स्वीकार किया था, उसका लौकिक अनुकरणात्मक

---

१ देखिये—पोद्दार अभिनन्दन ग्रथ—श्री नारविन हईन हेवन लिखित 'रासलीला के विदेशी दर्शक' लेख—पृ० ७१३-१७।

रूप उन्होने कही वर्णन नही किया। किन्तु यह तो अनेक प्रमाणो से सिद्ध है कि सोलहवी शताब्दी से पहले ही रासलीलानुकरण देश के अन्य भागो में प्रारम हो गया था। जैन रासलीला तो बहुत प्राचीन है किन्तु व्रजमंडल मे विक्रम की पद्रहवी शताब्दी के अन्तिम दशाब्द से पहले रासलीलानुकरण का कोई ऐतिहासिक उल्लेख नहीं मिलता।

रासलीलानुकरण के प्रवर्त्तन के सबध में तीन मत हमारे सुनने और पढने में आये हैं। तीनो मतवादो के पीछे साम्प्रदायिक आग्रह भी हो सकता है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से काल-निर्णय करके यदि तीनो मतो की विवेचना की जाय तो आदि-प्रवर्तक की शोध दुष्कर नही है। हम तीनो मतो पर क्रमश विचार व्यक्त करेंगे :—

१—निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी श्री घमडदेवाचार्य को रासलीलानुकरण का आदि प्रवर्त्तक ठहराते हैं। इस सबध में ब्रह्मचारी विहारीशरण ने 'निम्बार्क माधुरी' की भूमिका में,[1] 'सुदर्शन'[2] पत्र मे तथा 'मुकुट की लटक'[3] पुस्तिका में अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनकी स्थापना है कि रासलीलानुकरण के आदि प्रवर्त्तक श्री घमडदेव श्री हरिव्यास देवाचार्य के शिष्य थे। उनका आविर्भाव काल संवत् १४५६ के लगभग है। सवत् १५६५ के आसपास निज अपार कीर्ति को छोड करहेला ग्राम में निकुजधाम को पधारे। जन्म तथा मृत्यु-सवत् स्थिर करने के बाद 'मुकुट की लटक' में उन्हे सवा चार सौ वर्ष प्राचीन भी बताते हैं जो जन्म सवत् से पूरे सौ वर्ष का अन्तर उत्पन्न करने वाली बात है। इसके साथ ही बादशाह अकबर का शासनकाल भी लेखक ने इसी प्रसग में जोड कर अपनी ऐतिहासिक ग़लती को पक्का कर दिया है। एक ही व्यक्ति के तीन विभिन्न काल कैसे हो सकते है जबकि उन्हे १०६ वर्ष की आयु का माना गया है।

'सुदर्शन' पत्रिका में अपने रास-विषयक लेख में ब्रह्मचारी विहारीशरण जी ने आगे लिखा है कि श्री घमडदेव जी स्वामी हरिदास जी तथा कतिपय अन्य सन्त-महतो को संग लेकर मथुरा गये। स्वामीजी के जीवन-वृत्त पर अभी तक प्रामाणिक रूप से कोई प्रकाश नही पडा है फिर भी जैसी अनुश्रुति परम्परा से चली आ रही है यदि उसे स्वीकार किया जाय तो निधुवन में स्वामीजी का आगमन-काल और ब्रह्मचारी जी द्वारा निश्चित घमडदेव

---

१—बरसाने में भाद्रमास के शुक्ल पक्ष में नवमी से चतुर्दशी तक एक मेला होता है, इसमें श्री घमडदेवाचार्य के द्वारा प्रकटित रासलीला बरसाने-स्थित रासमण्डली पर हुआ करती है।

—निम्बार्क माधुरी—भूमिका पृष्ठ ग—ब्र० विहारीशरण, वृन्दावन।

२—'सुदर्शन' (निम्बार्क सम्प्रदाय का धार्मिक पत्र, वृन्दावन) प्रथम प्रकाश—चतुर्थ किरण, पृष्ठ १६।

३—"प्राय सवा चार सौ वर्ष के लगभग प्राचीन काल में अकबर बादशाह के शासनान्तर्गत निम्बार्क सम्प्रदाय में श्री घमण्डदेव नामक नैष्ठिक ब्रह्मचारी विरक्त वैष्णव हुए।"

—मुकुट की लटक, ले० ब्रह्मचारी विहारीशरण, पृष्ठ १—२।

जी का परलोकगमन बहुत समीप ठहरता है। स्वामीजी जैसे उच्चकोटि के महात्मा को लेकर मथुरा जाने का जो प्रयोजन लिखा है वह भी अधिक बुद्धिगम्य और युक्ति-सगत प्रतीत नही होता।[1]

अपनी इस बात की पुष्टि में ब्रह्मचारी जी ने राधाकृष्ण रासधारी लिखित 'रास सर्वस्व' को प्रमाण माना है। किन्तु राधाकृष्ण रासधारी ने अपनी पुस्तक में रासलीलानुकरण का श्रेय घमण्डदेव जी को नही दिया है। केवल एक कल्पित कथानक का वर्णन देकर विष्णु-स्वामी-मतानुयायी किन्ही आचार्यजी को मूल प्रवर्त्तक बताया है। घमण्डदेवजी को केवल शिष्य-प्रशिष्य बनाने का आदेश मात्र उस कथा मे आया है, उन्हे लीलानुकरण का प्रवर्त्तक नही माना गया।[2]

ब्रह्मचारी विहारीशरणजी ने स्वामीजी के साथ मथुरा जाने और वहाँ विश्रामघाट पर पहुँचते ही श्री घमडदेवजी के चमत्कार का वर्णन किया है। घमडदेवजी ने सूर्य के समान चमकते हुए मुकुट का दर्शन कराया। इस मुकुट-दर्शन का अर्थ स्वामी हरिदासजी ने एकत्र राजाओ को यह बताया कि इस दर्शन का तात्पर्य है 'रासलीलानुकरण का आविष्कार।'[3]

'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' पुस्तक के लेखक श्रीकृष्णदास कुसुम सरोवर वाले बाबाजी ने ब्रह्मचारी विहारीशरणजी की एक और भयकर ऐतिहासिक तिथि सम्बन्धी भूल की ओर ध्यान आकृष्ट किया है—

**'विहारीशरणजी लिखते हैं—"और जब आमेर का राजा मानसिंह मुकुट देखने को करहला में घमडीदेवजी के पास आया तो पहले स्वामी हरिदासजी तथा रूप सनातन के दर्शन कर पीछे करहला गया।" यह भी बिल्कुल मिथ्या है। क्योंकि रूप, सनातन का ब्रज में आगमन काल सम्वत् १५७४ है। जब १५६५ सम्वत् में घमडदेवजी का देहान्त हो चुका था तब १५७० सम्वत् में उनकी करहला में स्थिति और मानसिंह का आगमन कैसे हो सकता है। राजा मानसिंह का वृन्दावन आना १६४७ सम्वत् है। १५६५ में तो मानसिंह**

---

१ श्री सुदर्शन पत्रिका, किरण १, प्रकाश ४, पृष्ठ २३ (वृन्दावन)।

२ राधाकृष्णदास लिखित 'राससर्वस्व' पुस्तक हमारे देखने में नहीं आई। उक्त बाते हमने श्रीकृष्णदास कुसुम सरोवर द्वारा लिखित 'रासलीलानुकरण और श्रीनारायण भट्ट' नामक पुस्तिका से ग्रहण की हैं। इसमें भी सार रूप में यह कथानक लिखा है।
—रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट, पृष्ठ ३८-३९।

३. देखिए 'सुदर्शन पत्रिका', किरण १, प्रकाश ४, पृष्ठ २३ (वृन्दावन)।
"तहां स्वामी एव घमडदेवजी ने, विश्रामघाट पर बहुत ही ऊचे आकाश के शून्य स्थान में चमकते हुए सूर्य के समान मुकुट का दर्शन कराया। अलौकिक मुकुट का दर्शन कर नृप समाज में अत्यन्त प्रसन्नता हुई। तब राजाओं ने प्रार्थना की कि—महाराज ! हमारे लिये कुछ सेवा की आज्ञा करो। तब स्वामी जी ने इस दर्शन का प्रयोजन 'रासलीलानुकरण आविष्कार' बताकर बावन राजाओं से स्वीकृत स्वरूप ताम्रपत्र ले घमडदेवजी को दी।"

का जन्म भी नहीं हुआ था और रूप सनातन बंगाल से वृन्दावन नहीं आये थे।[1]

## विवेचन

उपर्युक्त युक्ति और प्रमाणो में सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात है श्रीघमडदेवजी का आविर्भाव-काल और वृन्दावन-वास का समय। ब्रह्मचारी विहारीशरणजी ने उनको हरिव्यासदेवाचार्य का शिष्य बताया है और उनका जन्म सम्वत् १४५६ के लगभग ठहराया है। यह किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधृत नही कहा जा सकता। इतिहास-प्रसिद्ध है कि श्री हरिव्यासदेवाचार्यजी श्री भट्टजी के शिष्य थे। श्री भट्टजी रचित 'युगलशतक' के अन्त में उसका जो रचनाकाल दिया हुआ है वह सम्वत् १६५२ ही विद्वानो ने स्थिर किया है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की प्राचीन हस्तलिखित पोथी में भी 'राग' पाठ है और तदनुसार जुगलशतक का रचना-सम्वत् १६५२ ही है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, मिश्रबन्धु तथा अन्य इतिहास-लेखको ने श्री भट्ट का जन्म सवत् १५९५ के लगभग माना है।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय मे जुगलशतक का रचना सम्वत् १३५२ माना जाता है। किन्तु १३५२ सम्वत् स्थिर करने वाले विद्वान् यह भूल जाते हैं कि उस समय ब्रजभाषा का उद्भव और विकास किस कोटि तक हुआ था। यह विद्यापति का रचनाकाल है जब अपभ्रंश तथा शौरसेनी के प्राचीन रूप ही भाषा में प्रयुक्त हो रहे थे। ब्रजभाषा का जैसा परिमार्जित रूप युगलशतक में है वैसा तो सत्रहवी शताब्दी से पहले कदापि सम्भव नही हो सकता। श्री भट्टजी के सम्बन्ध में यह भी प्रसिद्ध ही है कि वे केशव काश्मीरी के शिष्य थे। केशव काश्मीरी और चैतन्य महाप्रभु की भेट का विवरण प्राचीन भक्तमाल में है। प्रियादास ने भक्तमाल की टीका में इसका उल्लेख किया है। चैतन्य महाप्रभु का समय सम्वत् १५४२ से १५९० तक है। इसी बीच में केशव काश्मीरी रहे। अत श्री भट्टजी का समय उसी परम्परा में स्वीकार करना ऐतिहासिक क्रम के साथ चलना है। 'युगल शतक' का रचनाकाल यदि १६५२ सवत् है तो श्री भट्ट जी इसके आसपास सवत् १६६० तक जीवित रहे होगे। श्री हरिव्यासदेवजी का आविर्भाव यदि १६२० के समीप मानकर उन्हें लम्बी आयु का भी माना जाय तो श्री घमडदेव जी १६६० के समीप कभी इनके शिष्य हुए होगे। निश्चित रूप से एक सम्वत् को जन्मकाल न बताकर हम केवल उनके जीवन-काल का समय ही स्थिर कर सकते हैं। उनके आधार पर यदि १६६० के लगभग घमडदेव जी का काल स्थिर होगा, जो ब्रह्मचारी विहारीशरणजी के इतिहास-विरुद्ध काल से लगभग सवा दो सौ वर्ष बाद का ठहरता है। इतने पीछे उत्पन्न हुए घमडदेव जी को रासलीलानुकरण का मूल प्रवर्त्तक कैसे माना जा सकता है।

---

१. रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट—पृष्ठ ४१।
लेखक—कृष्णदास कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड, मथुरा।

२. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१०।

श्री घमडदेवजी को रासलीलानुकरण का मूल प्रवर्त्तक सिद्ध करने के लिये 'मुकुट की लटक' और 'सुदर्शन' पत्रिका की जिन बातों का उल्लेख ऊपर हुआ है उनका निराकरण साथ ही साथ हो गया है क्योंकि उनमें वदतोव्याघात दोष है। बाबा कृष्णदास, कुसुम सरोवर ने भी अपनी रासलीलानुकरण में सविस्तर उनका खडन किया है।

श्री घमडदेव यदि रासलीला-प्रवर्तक होते तो नाभाजी अपने भक्तमाल में इस विषय में कुछ सकेत देते या प्रियादास जी अपनी टीका में ही कुछ चर्चा करते। लेकिन भक्तमाल में तो इनका नाममात्र को परिगणन है, रास-विषयक कोई उल्लेख नही।[1] हाँ, ध्रुवदासजी ने अपनी भक्त-नामावली-लीला में इनका वर्णन किया है और इनकी रसोपासना की चर्चा करते हुये वसीवट पर वास करते हुये श्यामाश्याम के गान की विशे-

---

१ भक्तमाल—नाभाजी कृत, छप्पय ४८८, पृष्ठ ६१३।
"वृन्दावन की माधुरी इन मिल आस्वादन कियौ।
घमडी युगल किशोर भृत्य भूगर्भ जीव दृढ़ व्रत लियौ॥"

टिप्पणी—

नाभाजी के इस छप्पय में 'घमण्डी' का केवल नाम है। रास-विषयक कोई उल्लेख नहीं। इन बारह व्यक्तियों में रास-प्रेमी दो महात्माओं के चरित्र पर प्रियादासजी ने भक्तमाल की टीका के कवित्त ३७३ में प्रकाश डाला है। वे दो महानुभाव हैं अली भगवान् और वीठल विपुल। अली भगवान् को रासमडल पर रास विहार देखकर सुधि भूलि गई। प्रश्न यह है कि कौन से रासमडल पर अली भगवान् ने रास देखा? उत्तर स्पष्ट है कि वृन्दावन के सब से प्राचीन रासमण्डल का ही यहाँ उल्लेख हुआ है जिसे श्री हितहरिवश जी ने स० १५९१ में चीरघाट के समीप बनवाया था और जो आज भी वृन्दावन में स्थित है।

प्रियादास का कवित्त—

अलि भगवान्, राम सेवा सावधान मन,
वृन्दावन आये कछु औरे रीति भई है॥
देखे रासमडल में विहरत रस रास,
बाढ़ी छवि प्यास दृग, सुधि बुधि गई है॥
नाम धरि रास औ बिहारी, सेवा प्यारी लागी,
लगी हिय माँझ, गुरु सुनी बात नई है॥
विपिन पधारे आप, जाये पग धारे सीस,
'ईश मेरे तुम' सुख पायौ कहि दई है॥
—कवित ३७३, पृष्ठ ६१४।

पता बताई है।[1] रासलीलानुकरण का या करहेला गाँव में रहने आदि का सकेत भी नही है। श्री घमडदेव रचित कोई वाणी अभी तक प्रकाश मे नही आई है अत. यह कहना भी कठिन है कि उन्होने स्वय इस विषय में कोई सकेत प्रस्तुत किया। फलत श्री घमंडदेव को रासलीलानुकरण का प्रवर्त्तक नही माना जा सकता।

श्री घमंडदेव के प्रवर्त्तक होने की बात सिद्ध न होने पर स्वामी हरिदासजी को रासलीला का प्रवर्त्तक कहा जाता है जो आशिक रूप से सत्य होने पर भी पूर्णतया युक्तिसगत प्रतीत नही होता। स्वामी हरिदासजी विरक्त साधु थे। रासलीलानुकरण के लिये पार्थिव साधन जुटाना और रंगमच की भूमिका मे आना उनकी साधुवृत्ति के सर्वथा प्रतिकूल है। 'केलिमाल' पुस्तक के सम्पादक आचार्य छबीलेवल्लभ गोस्वामी ने स्वामीजी को रासलीला-प्रवर्त्तक लिखा है। "कहा जाता है कि रासलीला का प्रारम्भ भी श्री स्वामीजी ने ही किया था। श्री स्वामी हरिदासजी एवं वल्लभाचार्य महाप्रभु ने मंत्रणा करके माथुर चतुर्वेदियो के आठ बालक माँगकर मथुरा में विश्राम घाट पर रासलीला का सर्वप्रथम आयोजन किया। इससे श्री स्वामीजी ने श्री राजेश्वरी का शृङ्गार किया और श्री वल्लभाचार्य जी ने श्री श्यामसुन्दर को सजाया। इस रासलीला का मुकुट श्री स्वामीजी ने घमडदेवजी को प्रदान किया। और करहला जाकर रासलीला मडली का सगठन करने की उन्हें प्रेरणा दी। श्री घमंडदेव जी द्वारा ही रासलीला का प्रचार हुआ।[2]"

२—रासलीलानुकरण के प्रवर्तन का श्रेय कुछ विद्वान् श्री नारायण भट्ट को देते हैं। श्री नारायण भट्ट महोदय चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी परम विद्वान् तैलग ब्राह्मण थे। इनके सम्बन्ध मे प्रसिद्ध है कि आपने शताधिक ग्रन्थो की सस्कृत भाषा मे रचना की थी। आपके रचित अनेक ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। श्री नारायण भट्ट को रासलीलानुकरण का प्रवर्तक मानने के पक्ष में नाभाजी कृत भक्तमाल का छप्पय, प्रियादास टीका का कवित्त और ध्रुवदास जी कृत भक्तनामावली का दोहा प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत किये जाते हैं।

इन प्रमाणो पर विचार करने से पूर्व हम श्री नारायण भट्ट जी की जन्म-तिथि तथा जीवन-काल पर विचार करना उचित समझते हैं। उनका जीवन-काल स्थिर हो जाने पर उनके द्वारा रासलीलानुकरण के प्रवर्त्तन पर गवेषणात्मक दृष्टि से विचार सम्भव होगा।

श्रीकृष्णदास कुसुम सरोवर लिखित 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट' पुस्तक में आपका जन्म सम्वत् १५८८ ठहराया है। तथा ब्रज-आगमन-काल १६०२ सम्वत् स्थिर किया है। इन दोनो सम्वतो का आधार गोस्वामी जानकीप्रसाद रचित 'नारायण भट्ट चरितामृत' है। इसी पुस्तक के आधार पर अन्य जीवनवृत्त भी सकलित करके लिखा गया है। "कुछ रोज भक्तिशास्त्र का अध्ययन कर महापराक्रमी होकर तीर्थ-समूह का उद्धार करने के

---

१ घमंडी रस में घमड़ि रह्यौ वृन्दावन निज धाम।
वंसीवट तट वास किय, गाये श्यामा श्याम ॥
—ध्रुवदास कृत, 'भक्तनामावली लीला'।

२. श्री केलिमाल—सम्पादक, आचार्य छबीलेवल्लभ गोस्वामी, पृ० १७ (वृन्दावन)

लिए चलने लगे । ब्रज में तीर्थ-समूह कर फिर राधाकुण्ड में अपने गुरु के पास वास किये। और वहाँ 'व्रजभक्तिविलास' प्रभृति सप्त ग्रथ निर्माण किये । व्रजभक्ति विलास की सम्पूर्ति समय १६१० सम्वत् है फिर वहाँ से ऊँचे गांव जाकर रहने लगे । श्री बलदेवजी वहाँ जाकर प्रकट हुए । कुछ रोज वरसाना में श्रीजी प्रकट हुई । आप श्रीजी को प्रकट कर प्रिय शिष्य श्री नारायणदास श्रोत्रिय को सेवा का भार अर्पण किये स्वय बलदेवजी की सेवा करने लगे । श्रीजी का प्राकट्य काल सम्वत् १६२६ में आषाढ सुदी २ का है । उसी दिन से अभी तक सब गुसाईं लाडिलीजी का व स्वामी का पाटोत्सव मनाते हैं । स्वामी नारायणदासजी पहले एक झोंपडी में सेवा करते थे । पीछे विह्वाल मन्दिर बन जाने पर श्रीजी को पधराय कर सेवा करने लगे ।+++। फिर हरि आज्ञा से मनोहर ब्राह्मण बालको को प्रियाजी प्रभृति का वेष बनाकर रासलीलानुकरण द्वारा रसिक भक्तो को कृतार्थ कर दिये । श्री स्वामी हरिदासजी, नाभाजी प्रभृति महानुभाव रसिको का आगमन होता था। सकेत में राधारमण मूर्ति का साक्षात् दर्शन हुआ । उनके आदेशानुसार समस्त भागवत की रसिकाह्लादिनी टीका बनाये । बूढ़ी लीला भी होने लगी । जो कि अब तक भाद्र मास में हो रही है । आप वैष्णव मडली को लेकर व्रजयात्रा व वनयात्रा करने चले । व्रजयात्रा भी उनसे चली है । उनने जयात्रा व वनयात्रा के लिए दो अद्भुत ग्रथ बनाये । एक 'व्रजभक्तिविलास' और दूसरा 'वृहत्व्रजगुणोत्सव' । +++। आप जन्माष्टमी के दिवस पुत्र दामोदर भट्ट गोस्वामी को गद्दी का समस्त भार देकर शिष्यमडली और वैष्णवमडली की उपस्थिति में त्रिवेणी के मध्य में गये और अन्तर्धान हो गये । यह समय १७०० सम्वत् से कुछ पहले अनुमान किया जाता है ।"[1]

यदि इस विवरण को श्री नारायण भट्ट का प्रामाणिक जीवन-वृत्त स्वीकार कर लिया जाय तो इसमें तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम जन्म सम्वत् १५८८, द्वितीय व्रज आगमन काल १६०२, तृतीय व्रज में रासलीलानुकरण के लिये ब्राह्मण बालको को प्रियाजी का वेश बनाकर सम्वत् १६२६ मे निकालना ।

इस विवरण का फलितार्थ स्पष्ट है कि सम्वत् १६२६ से पहले व्रज में रासलीलानुकरण नही होता था। किन्तु वृन्दावन में सम्वत् १५९१ में जब रासमडल की स्थापना का अनेक वाणियो में तथा श्रीहितहरिवश चरित्र में उल्लेख है तो यह कैसे माना जा सकता है कि श्री नारायण भट्ट ने इतने बाद के काल मे अनुकरण का प्रवर्त्तन किया । श्री हरिवशजी का देहावसान काल सम्वत् १६०९ है। उनके काल में श्री हरिराम व्यास का रासलीला की कथा का नाभाजी ने भी उल्लेख किया है जिसे हम विस्तार से इसी प्रकरण मे आगे दे रहे हैं ।

तब यह प्रश्न विचारणीय है कि श्री नारायण भट्ट की अनुकरण-प्रवर्त्तक के रूप में ख्याति कैसे हुई और नाभाजी के छप्पय आदि का क्या तात्पर्य है ? इस सम्बन्ध मे हमारा मत है कि नाभाजी ने रासलीला प्रवर्त्तक होने का कोई सकेत नही दिया, हाँ, मथुरा-मडल के गोप्य स्थलो में प्रकट करने की बात कही है । (स्मरण रहे वृन्दावन के गोप्य स्थलो के

---

१ 'रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट'
लें०—श्रीकृष्णदास, कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड, मथुरा—पृ० २३-२६ तक ।

प्राकट्य की बात नही कही)।[1] प्रियादासजी ने अपनी टीका के कवित्त में 'ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकट किए' अवश्य कहा है जो रास-विषयक अभिरुचि का द्योतक है।[2] श्री ध्रुवदासजी ने भी भक्तनामावली मे 'ठौर-ठौर रचना करी प्रकट कियो सकेत' कहा है जो रास की रचना करने का ही रूप माना जाता है।[3] इन तीनो महानुभावो के सकेतो से यह तो स्पष्ट है कि श्री नारायण भट्ट रासलीला मे विशेष अभिरुचि रखते थे और जहाँ-तहाँ रासलीला करवा कर रसिक जनो को तृप्त करते थे। श्री नारायण भट्ट की इस प्रवृत्ति को स्वीकार करने मे हमे कोई आपत्ति नही। हमारी भी उक्त उल्लेखो के आधार पर यह धारणा बन गई है कि उस काल मे आप रासलीला के सबसे प्रबल प्रचारक रहे होगे। किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि सोलहवी शताब्दी में प्रवर्तित लीला का आपने प्रारम्भ किया। लीलानुकरण तो सोलहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे वृन्दावन में प्रारम्भ हो गया था, जब तक श्री नारायण भट्ट दक्षिण देश से व्रजभूमि मे पधारे भी नही थे, अतः हम उन्हे आदि प्रवर्तक कैसे स्वीकार कर सकते हैं।

---

१ गोप्य स्थल मथुरा मंडल जितै वाराह बखाने।
ते किये नारायण प्रकट प्रसिद्ध पृथ्वी में जाने॥
भक्ति सुधा को सिन्धु सदा सतसंग समाजन।
परम रसज्ञ अनन्य कृष्ण लीला को भाजन।
ज्ञान स्मारत पक्षको नाहिन कोउ खण्डन किये।
व्रजभूमि उपासक भट्टसौं रचिपचि एकै किये॥

—भक्तमाल नाभाजी कृत—छप्पय ८७।

२ भट्ट श्री नारायणजू भये व्रज पारायण
जाय ताई गाँव तहाँ व्रत करि ध्याये हैं।
बोलिकै सुनावै इहाँ अमुका स्वरूप है जू
लीला कुंड धाम श्याम प्रकट दिखाये हैं।
ठौर-ठौर रास के विलास लै प्रकास किये
जियै यों रसिक जन कोटि सुख पाये हैं।
मथुरा ते कही चल्यो वेनी पूछे वेनी कहां
ऊँचे गाव आइ खोदि सीतलै दिखाये हैं।

—भक्तमाल टीका प्रियादास कृत, कवित्त सं० ३५५।

३. भट्ट नारायण अति सरस व्रजमंडल सौं हेत
ठौर-ठौर रचना करी प्रकट कियो संकेत॥

—भक्तमाल नामावली—ध्रुवदास कृत पद सं० ३२।
(ब्यालीस लीला में प्रकाशित)

श्री नारायण भट्ट के विषय में 'मथुरा मेमायर्स' के लेखक अंग्रेज विद्वान् ग्राउस ने भी अपना विवरण प्रस्तुत किया है और उन्हे रासलीला तथा वनयात्रा का सस्थापक ठहराया है। ग्राउस महोदय ने ईस्वी सन् १८८० मे अपना ग्रथ लिखा। उस समय तक व्रजमडल मे जो अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध हो गई थी उन्ही को आपने आधार मानकर अपनी बात कही है, किसी अनुसधान के आधार पर नही।[1] बाबा कृष्णदास (कुसुम सरोवर) ने तो श्री नारायण भट्ट को वैष्णव व्रजयात्रा का भी प्रवर्त्तक बताया है जो व्रजयात्रा के सुप्रसिद्ध इतिहास का सर्वथा तिरस्कार करके लिखा है। वैष्णव व्रजयात्रा 'वल्लभ सम्प्रदाय' की है और अभी तक उसी अविच्छिन्न परम्परा में वल्लभ कुल के द्वारा नियन्त्रित होकर चलती है। श्री वल्लभाचार्य की चौरासी बैठकें व्रज में प्रसिद्ध हैं जहाँ श्री वल्लभाचार्य ने भागवत-कथा पढी थी। उन्ही स्थानो पर होती हुई यह यात्रा आज भी जाती है।

श्रीकृष्णदास ने अपनी पुस्तक में चैतन्य सम्प्रदाय के कतिपय अन्य विद्वानो के भी प्रमाण श्री नारायण भट्ट के पक्ष में प्रस्तुत किये हैं किन्तु हम उन पर इसलिये विचार करना अनावश्यक समझते हैं कि वे बहुत अर्वाचीन लेखक हैं तथा उनका ऐतिह्य की दृष्टि से कोई महत्त्व नही है।

श्री नारायण भट्ट के सबध मे उपर्युक्त पक्तियो में जो विचार-विमर्श किया गया है उसका निष्कर्ष यही है कि श्री नारायण भट्ट ने अपने जीवनकाल में दो महान् कार्य किये, एक तो मथुरा-मडल के अनेक गोप्य स्थलो का प्राकट्य और दूसरा रासलीला का अनुकरण करवा कर उसका प्रचार करना, प्रवर्त्तन या लीलानुकरण प्रारभ करने का श्रेय आपको देना ऐतिहासिक साक्ष्य की अवहेलना करना है। श्री नारायण भट्ट से पहले वृन्दावन में श्री हितहरिवशजी, स्वामी हरिदास जी तथा श्री हरिराम व्यास जी का रासलीलानुकरण तथा रासमडल स्थापना का अनेक वाणी ग्रथो में वर्णन उपलब्ध होता है। श्री नारायण भट्ट ने रासलीलानुकरण के प्रचार में अवश्य ही सर्वाधिक योग दिया जिसके कारण उनको इस कार्य के सबध में यश भी मिला। निस्सदेह अनुकरण के प्रचार के लिए वे यश और ख्याति के पूर्णतया अधिकारी हैं।

३—अब तीसरा मत भी विचारणीय है। तीसरे मत के समर्थक हैं राधावल्लभीय सम्प्रदाय के अनुयायी, जो यह दावा करते हैं कि वृन्दावन में जो सबसे प्राचीन रास-मडल उपस्थित है वह श्री गोस्वामी हितहरिवश द्वारा सवत् १५९१ में स्थापित किया गया था। इस रास-मडल पर गोस्वामी जी के जीवनकाल में रासलीला होती थी और स्वामी हरिदास

---

1 The Vaishnava culture thus first developed into its present form under the influence of Rupa and Sanatana, the celebrated Bengali Gossins of Brindaban It was disciple Narain Bhatta, who first established the Banjatra and Raslila, and it was from him that every lake and grove in the circuit of Braj received a distinctive name in addition to the same seven or eight spots, which alone are mentioned in the earlier Puranas

—A District Memoir of Mathura by Growse, Page 89

जी तथा हरिराम व्यासजी इन लीलाओं में सम्मिलित होकर आनन्दलाभ करते थे। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे नित्य रास के साथ भौतिक पृथ्वीमण्डल पर—अनुकरण द्वारा लीला करने का विधान है।[1] इसलिये जहाँ रास का वर्णन आया है वहाँ सब जगह केवल आध्यात्मिक रास से ही प्रयोजन नही है। नित्य रास, जैसा विहार या निकुंजलीला मे स्वीकृत किया जाता है, वैसा ही सासारिक प्राणियो के दर्शनार्थ वृन्दावन के रासमण्डलो पर भी होता है जिसमें व्रजवासी ब्राह्मणो के वालकवृन्द प्रिया-प्रियतम का वेश धारण करके लीलाएँ करते हैं।

श्री व्यासजी ने, जो हितहरिवश जी के शिष्य और समकालीन थे उनकी वधाई लिखते हुए स्पष्ट कहा है—

> नमो-नमो जै श्री हरिवंश।
> रसिक अनन्य वेणु कुल मंडन, लीला मानसरोवर हंस।
> नमो जयति श्री वृन्दावन रास विलास प्रशंस।
> आगम निगम अगोचर राधे, चरण सरोज व्यास अवतंस ॥[2]

श्रीभगवत मुदित और श्री उत्तमदासजी ने अपने रसिकमाल में श्री हरिवश चरित्र लिखते हुए उन्हे 'रासकेलिरस रसिकन दीनौ' कहकर स्मरण किया है। उत्तमदासजी हरिवश-चरित्र लेखको में वहुत प्राचीन हैं और उनकी वाणी को प्रामाणिक समझा जाता है।[3]

गोस्वामी कुंजलालजी के शिप्य जयकृष्णजी ने (स० १७७०) अपनी वाणी में रास-लीलानुकरण पद्धति का विवरण तथा रासमडल स्थापना का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कार्तिक वदी द्वितीया को श्री हरिवशजी ने नाम-सेवा की स्थापनापूर्वक रासमंडल वनाया। यह तिथि आज भी सम्प्रदाय मे रासमडल पर नामसेवा की तिथि मानी जाती है। समस्त सम्प्रदायो मे शरद-पूर्णिमा को रासोत्सव दिवस मनाया जाता है। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में दो दिन वाद कार्तिक वदी द्वितीया को दूसरा शरदोत्सव मनाया

---

१—"रासलीला करै तो वेष व्रजवासी के वालक होहि उनके उच्छिष्ट में अरु गुरु के उच्छिष्ट में ग्लानि न करे। ज्यो सरूप त्यों वेष, पहले युगल आगे पनवारो राखे, तव सव सखि वेष आगे धरै।"

—हस्तामलक—(हस्तलिखित प्रति)
—गोस्वामी दामोदरवरजी कृत (जन्म सं० १६३४)

२. व्यासवाणी—(पूर्वार्द्ध) पद संख्या—३।

३ मंडल चैन घाट जंह कीनौ, रास केलि रस रसिकन दीनौ।

—उत्तमदास कृत वाणी—चौपाई सं० १५० (हस्तलिखित प्रति)

जाता है जो इस तथ्य का द्योतक है कि इसी दिन रासमडल पर नाम-सेवा की स्थापना और लीलानुकरण प्रारम्भ हुआ था ।[1]

लीलानुकरण के लिए रासमडल-स्थापना का उल्लेख परवर्त्ती अनेक महानुभावो ने अपनी वाणियो में किया है । चाचा वृन्दावनदासजी की 'हित वन्दन पत्रिका' में से हम कुछ पक्तियाँ उद्धृत करके रासमडल स्थापना का सकेत करना आवश्यक समझते हैं क्योंकि रास में गाई जाने वाली सर्वाधिक लीलाए श्री चाचा वृन्दावनदासजी ने ही लिखी हैं—

**सेवा कुज जु प्यारी ठौर, जहाँ नित विहरैं श्यामल गौर ।**
**आज्ञा दे मन्दिर वनपायौ, तहाँ हित हाथसु भोजन पायो ।।**
**मन्दिर भोग धरत हो जैसे, सेवा कुज धरौ नित ऐसे ।**
**रजनी यहाँ आवै नहि कोऊ, यामें नित सन्तत हम दोऊ ।।**
**चीर घाट पै रच्यौ जु मडल, हम नित रास रमत है उहथल ।**
**लीला ठौर चिताए अपने, कोउ परतिच्छ कोउ है सपने ।।**

**—चाचा वृन्दावनदास लिखित, हितवन्दन पत्रिका, पद स० १२६ से १२८ तक ।**

श्री हितहरिवशजी के समकालीन व्यासजी के सम्बन्ध में जो इतिवृत्त मिलता है उसमें उनका रासलीलानुकरण-परायण होना स्थान-स्थान पर वर्णित है । वाह्य एव आभ्यन्तर दोनो प्रकार के साक्ष्य के आधार पर व्यासजी का रासलीला-प्रेम सिद्ध होता है ।

श्री भगवत् मुदित ने अपने रसिकमाल में व्यासजी का वर्णन करते हुए लिखा है—

**'रास विलास महोत्सव पागे, श्री गुरु साधुन सेवन लागे ।'**[2]

नाभाजी अपने भक्तमाल में व्यासजी का वर्णन करते हुए एक कथा का सकेत देते है । कथा इस प्रकार है—एक बार रासमडल पर प्रत्यक्ष रासलीला (अनुकरण) हो रही थी । प्रिया-वेषधारी राधाजी का नृत्य करते समय नूपुर छूटकर उंगली से अलग गिर पडा । उस समय व्यासजी ने अपना यज्ञोपवीत तोडकर उसके सूत्र में नूपुर पिरोकर प्रियाजी के चरण में पहना दिया । सामाजिको ने पवित्र जनेऊ के तोडने पर आपत्ति उठाई तो व्यासजी ने कहा कि इसका भार ढोते-ढोते जन्म व्यतीत हुआ, आज इसका परम सौभाग्य है जो श्री प्रियाजी के चरणो में पहुँचकर कृतार्थ हुआ । साथ ही यह भी कह दिया कि हमारी तो कोई जात-

---

१. **सेव्य राधिकावल्लभ छाप, अति उत्सव हित जुत जु प्रताप ।**
**थापन थापक श्री हरिवश, सब मिलि कीनौ तिलक प्रशस ।।२८**
**सेव्य नामसेवा सुख मूल, सदाचार सम्पति अनुकूल ।**
**विधि अरु अविधिन वह कछु जानै, परिपाटी पद्धति पहिचानै ।।२६**
**कातिक वदी द्वितीया को रास-मडल वेष स्वरूप प्रकाश ।**
**निरदूषित सबसों जु अविरुद्ध, नित्यविहार सार सुख शुद्ध ।। ३०**
**मान अमानिनि दे रस बरसौ, मधुर स्वभाय चित्त आकर्ष्यो ।।३१**

**—जयकृष्णजी की वाणी (हस्तलिखित प्रति)**

२ **भगवत मुदित कृत—रसिक माल, पद स० ३८ ।**

पाँत नही, हम तो रसिक हैं, हमें यज्ञोपवीतधारी ब्राह्मण मत समझो। इस कथा को प्रियादास जी ने सविस्तर अपनी टीका मे लिखा है।[1]

नाभाजी ने अपने छप्पय में जिस 'महत् सभा' का उल्लेख किया है यह उन्ही महानुभावो की है जो उस समय रासलीला मे बैठकर आनन्द-लाभ करते थे। इनमें हरिवंशजी, नरवाहन जी, बीठलजी, मोहनदासजी, नाहरमलजी, व्यासजी आदि का वर्णन अन्यत्र भी आता है। हरिवशजी का समस्त परिकर ही इस महत् सभा में समाविष्ट था।

व्यासजी ने अपनी वाणी मे रासलीलानुकरण पर जो लिखा है उसे हम आभ्यन्तर साक्ष्य के रूप मे ग्रहण करके व्यासजी की रास-विषयक मान्यता पर प्रकाश डालेंगे। व्यासजी रासलीला का सकेत देते हुए कहते हैं—

व्यास जहाँ प्रभु को भजन होते रासविलास।
ते कामिनि वस ह्वै गये, ऊत पितर के दास।[2]

इस साखी में जिस रास की ओर सकेत है वह भावनात्मक नित्यविहार वाला रास न होकर अनुकरणात्मक प्रत्यक्ष रास ही है।

कुंजनि कुंजनि रसमय लूट।
दस दिसि निसि वासर वृन्दावन चन्द वृन्द सब छूट।
+ + +
रसिक अनन्य कहाइ अनत वसि राजा राउन पूट।[3]

इस पद में व्यासजी ने व्रज से वाहर जाकर रासलीला द्वारा राजा-रईसो से धन लेने वाली मडली पर आक्षेप किया है। जयमल नामक एक भक्त की रासमडली राजस्थान के मेडता नामक नगर मे गई थी जिसका उल्लेख हम इसी अध्याय मे आगे करेंगे।

नैनन देख्यौ सोई भावै।
जोई कपट लोभ तजिकै श्री राधावल्लभ के गुन गावै।
रसिक अनन्य भक्त मंडल की मीठी बात सुनावै।
ताकै चरण शरण ह्वै रहिए, दिन प्रति रास दिखावै।
श्यामाश्याम करै सोई जो, व्यासदास सुख पावै।[4]

इस पद में जिस रसिक-मडल द्वारा मीठी बात सुनाने और रास दिखाने की वात कही गई है वह भी भावनापरक रास से सम्बन्ध नही रखती। रसिक-मडल में हरिवशजी स्वामी हरिदासजी आदि की ओर ही व्यासजी का सकेत है। प्रतिदिन होने वाले रास से तात्पर्य चीर घाट वाले रासमडल के प्रत्यक्ष अनुकरणात्मक रास से ही है।

---

१ भक्तमाल—नाभादासकृत छप्पय पृ० सं०
२. व्यास वाणी—(पूर्वार्द्ध) पद सख्या—साखी
३ ,, ,, ,, ,, २४२
४. ,, ,, ,, ,, पद संख्या २३२

सोई घटी, सोई दिन, सोई पल, सोई छिन ।
जबही मिलत मेरो प्यारे के प्यारे ।
+ + +
सोई व्यास सोई दास त्रास तजि, हरि
भजि, रास दिखावै सोई प्राण हमारे ॥[1]

इसमें उसी को भक्त कहा गया है जो हरिभजन करके प्रत्यक्ष रास दिखाता है ।

राधावल्लभ के गुन गाइ लेहु ।
+ + +
पावन पुलिन रासमडल में मन दै तनहि नचाइ लेहु ।
गद्गद् स्वर कोमल पुलकित चित्त आनन्द नीर वहाइ लेहु ।[2]

इस पद में रासमडल में होने वाली रासलीला का वर्णन है जिसमें मन ही नही वरन् 'तन का नचाना' गदगद स्वर' 'पुलकित कोमल चित्त होकर आनन्दाश्रु वहाना' सव अनुकरणात्मक रास के लिए ही व्यासजी ने लिखा है । इस पद के प्रत्येक शब्द की व्यजना भावनात्मक रासपरक न होकर लौकिक जगत् में प्रत्यक्ष रूप से घटित लीला पर आधृत है ।

जाके मन वसै वृन्दावन ।
+ + +
ताके व्यास रासरस वरषत वहि गई कामिनि कचन ।[3]

यहाँ भी रासलीला के दर्शन से कामिनी और कचन की कामना के दूर होने की वात कही गई है ।

सोई जननी जो भक्तिहि जावै ।
+ + +
सोई व्यास जो रास करावै ।[4]

यहाँ 'रास कराना' शुद्ध लौकिक लीलानुकरण का ही भाव है । व्यास से तात्पर्य मडली के प्रधान श्री हरिवशजी से है । अत रास निर्माण उनका कार्य वताया है ।

जो हौं सत्य सुकुल कौं जायौ ।
+ + +
रासविलास जहाँ होते तहँ मलि या गौरिल गायौ ।[5]

इस पद में गौरी-वन्दना करने वालो को शाप दिया गया है । उनकी पुत्री के विवाह

---

१ व्यास वाणी—(पूर्वार्द्ध) पद सख्या—२२८
२. ,, ,, ,, ,, २१७
३. ,, ,, ,, ,, १७४
४ ,, ,, ,, ,, १७१
५. ,, ,, ,, ,, १५०

में उनके घर वालो ने रास को छोडकर गणेश-वन्दना की थी ऐसा उनके जीवन-वृत्त में आता है। उसी की ओर इस पद में सकेत किया गया है।

अब न कछु कर नै रहनै है वृन्दावन।

+ + +

मिलि हैं हितललितादिक दासी रास में गावत सुनिमन।[1]

इसमें हितहरिवशजी तथा ललिता सखी के द्वारा स्वामी हरिदासजी का रासलीला में गाते हुए मिलने की ओर सकेत किया है।

उपर्युक्त पदो के अतिरिक्त निम्न सख्याकित पदो में भी व्यासजी द्वारा रास का प्रत्यक्ष वर्णन देखा जा सकता है—

द्रष्टव्य पद—१८७, १९१, १३४, १२०, १०६, ६५, ६१, २०, १५, ६।

व्यासवाणी (पूर्वार्द्ध)

व्यासजी ने अपनी वाणी मे श्री हरिवशजी तथा स्वामी हरिदासजी का गुणगान करते हुये दोनो को रास-परायण बताया है। स्वामी हरिदासजी को उन्होने रासलीला में पद गायक भी कहा है।

अनन्य नृपति श्री स्वामी हरिदास।

× × ×

सेवा सावधान अति जान सुघर गावत दिन रास।[2]

सक्षेप में, व्यासजी ने जिस रूप में रास का वर्णन अपनी वाणी मे प्रस्तुत किया वह इस बात का प्रमाण है कि उनके समय में ब्रजभूमि में रासलीलानुकरण प्रारम्भ हो गया था। इस अनुकरण के लिए वृन्दावन में रासमडल की स्थापना हो चुकी थी। अत श्रीनारायण भट्ट को जो सम्वत् १६०२ में ब्रज में पधारे और जिन्होने सम्वत् १६२६ में श्रीजी के प्राकट्य करने के बाद रासलीलानुकरण के लिए प्रियाजी का वेप धारण कराके ब्राह्मण बालको को प्रवृत्त किया, लीलानुकरण का आदि प्रवर्त्तक कैसे कहा जा सकता है। श्री घमडदेव का काल तो इनके भी चालीस-पचास वर्ष बाद स्थिर होता है तब उनके आदि प्रवर्त्तक होने का तो प्रश्न ही नही उठता।

रासलीलानुकरण में प्रचलित कतिपय लीलाओ तथा परम्पराओ के आधार पर भी आदि प्रवर्त्तक की स्थापना की जाती है। कोई 'बूढी लीला' में परकीया भाव की स्थापना करते हैं तो दूसरे मुकुट के उद्भव होने और पूजे जाने की बात कहते हैं।[3] इन परम्पराओ का प्रचलन इस बात से साक्षात् कोई सम्बन्ध नही रखता कि आदि काल से ये सब किन्ही विशिष्ट

---

१. व्यास वाणी—(पूर्वार्द्ध) पद संख्या—१०६

२ ,, ,, ,, ,, ७०

३. रासलीलानुकरण और श्री नारायण भट्ट—पृष्ठ ३५-३७ तक।

—लेखक—बाबा कृष्णदास कुसुम सरोवर, राधाकुण्ड, मथुरा।

आचार्य द्वारा स्थापित होकर ज्यो की त्यो चली आ रही हैं। जैसा कि हमने पहले भी लिखा है कि रासलीलानुकरण के आदि प्रवर्त्तक होने पर भी उसके सबसे प्रबल पोपक और समर्थ प्रचारक श्री नारायण भट्ट जी हैं अत उनके द्वारा इसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि अवश्य हुए होगे जो आज भी स्वीकृत हो सकते हैं। इनका श्रेय उन्हे मिलना ही चाहिए।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्री हरिराम व्यास के अतिरिक्त अन्य सज्जनो द्वारा रासलीलानुकरण का उल्लेख अनेक वाणियो में उपलब्ध होता है। भगवत् मुदित ने अपने 'रसिकमाल' में जयमल का चरित्र लिखा है और उन्हें रामलीला प्रेमी बताया है। कहते हैं कि जयमल श्री हरिवश जी के शिष्य थे और दीक्षा लेने के बाद मेडता में रहकर रासलीला कराते थे। इनका जन्म सम्वत् १५३० के आसपास ठहरता है सम्वत् १६१० में आप ८० वर्ष के थे।

श्री हरिवश रजु धर्म दृढ़, जयमल भक्त अनन्य।
स्वारथ परमारथ विषै, तासम लख्यो न अन्य ॥
कथा कीरतन सुमरन भाव, रास विलास महोत्सव चाव ॥

—भगवत् मुदित कृत, रसिकमाल।
(जयमल चरित्र से उद्धृत)

दूसरे एक और सज्जन मोहनदासजी का उल्लेख गोविन्द अली तथा चाचा वृन्दावनदास की वाणियो में मिलता है। कहते हैं कि मोहनदासजी तथा उनके पुत्र माधुरीदासजी रासलीला करते थे। ये कामा के रहने वाले थे। प्रियाजी का वेप धारण कर उनके पुत्र रासलीला में अनुरक्त रहते थे। आप गोस्वामी दामोदरवरजी के शिष्य थे। गोस्वामी दामोदरवरजी का रासमडल वर्तमान वल्लीगज में था, ऐसा भी वृन्दावन में प्रसिद्ध है। किन्तु वर्तमान समय में वल्लीगज में भवन मात्र है, कोई रासमडल नही है।

गोविन्द अलीजी ने (सम्वत् १८४०) मोहनदास के विपय मे अपनी वाणी में इस प्रकार परिचय लिखा है—

श्री हित मोहनदास विप्र कामा के वासी,
सुत माधुर्य सरूप सकल गुन गन के रासी।
प्रिया वेष अति फवै रासमडली बनाई,
मिटे त्रिगुन विस्तार रहै हरिवश सहाई।
रसिकन मुख ऐसी सुनी सर्वस महाप्रसाद की,
श्री दामोदरवर कृपा तें पगे भावना रास की ॥

उपर्युक्त विवरणो के द्वारा यह सिद्ध करना कठिन नही कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में रासलीलानुकरण की परिपाटी अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है और वर्तमान समय में रासधारियो द्वारा जो लीलाएँ खेली जाती हैं उनमें भी अधिकाश राधावल्लभीय भक्तो द्वारा लिखित हैं। चाचा वृन्दावनदासजी ने तो अनेक लीलाएँ रास के उद्देश्य से ही लिखी हैं और उन्ही का प्राय हेर-फेर करके वर्त्तमान युग में अनुकरण भी होता है।

अतः राधावल्लभीय मत से रासलीलानुकरण उनके यहाँ सम्वत् १५९२ से ही प्रारम्भ माना जाता है। इसका प्रमाण इनके यहाँ का प्राचीनतम रासमंडल है। उससे पुराना रास-मडल दूसरा और कोई व्रजभूमि में नही है।

हमने वर्तमान काल में होने वाली रासलीलाओ का अध्ययन करने के लिए अनेक रास-लीलाओ को स्वय उपस्थित होकर देखा और उनकी भाषा, अभिव्यजना, धार्मिक भावना तथा अभिनेय शैली का विधिवत् अनुशीलन किया है। भाषा की दृष्टि से तो ये लीलाएँ शुद्ध व्रजभाषा के प्रभाव में हैं। सभी सम्प्रदायो के आचार्यो के पद इसमें उपलब्ध होते हैं। श्री हितहरिवशजी, स्वामी हरिदासजी, व्यासजी, भगवतरसिकजी, हरिव्यासदेवाचार्य जी, अनन्य अली जी, चाचा वृन्दावनदासजी आदि अनेक महानुभावो के पदो का जोड़-तोड़ ही वर्तमान रास की आत्मा है। 'वचनिका' के लिए वर्तमान युग की बोली का प्रयोग होता है जिसका श्रेय किसी एक महात्मा को नही है। अधिकाश रासमडलियाँ निम्बार्क सम्प्रदाय की हैं। वगाली वैष्णवो का रास पर विशेष प्रभाव नही पडा किन्तु परकीया-भाव की लीलाओ मे नारायण भट्ट का प्रभाव माना जा सकता है। गौड़ीय साधुओ ने व्रजभाषा में न तो विशेष पद रचना की और न कोई लीला ही लिखी। उनका क्षेत्र मुख्यतः सस्कृत और गौण रूप से बँगला भाषा ही रहा। व्रज मे बसने पर भी वगीय टोल सदा से व्रजभाषा से पृथक् रहा है, विपुल साहित्य-सृजन करने वाले विद्वानो ने सदा सस्कृत और बँगला को ही स्वीकार किया है। नारायण भट्ट जी तैलग ब्राह्मण थे, 'रागसागरोद्भव' में श्री राधाचरण गोस्वामी ने उनके कुछ पदो का आना लिखा है किन्तु उनका लिखा व्रजभाषा साहित्य अद्यावधि हमारे देखने में नही आया। उनकी शताधिक रचनाओ मे सस्कृत को ही स्थान मिला है—व्रजभाषा वहाँ भी लुप्त है।

फलतः उपर्युक्त तीनो मतो के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री नारायण भट्ट और श्री घमडदेवाचार्य से पहले वृन्दावन मे रास का प्रवर्त्तन हो गया था। श्री हरिवश जी, श्री स्वामी हरिदासजी तथा श्री हरिराम व्यास अपने समय मे रासलीलाओ में सम्मिलित होते थे। यदि रासमंडल (स्थान विशेष) की स्थापना को ही प्रारम्भ माना जाय तो इसका श्रेय श्री हितहरिवशजी को है, यदि गान-वाद्य को श्रेय दिया जाय तो स्वामी हरिदास जी इसके अधिकारी हैं। इतना तो अवश्य ही मानना होगा कि विरक्त स्वामी जी के लिए लीला की सामग्री जुटाना, साज-शृंगार तैयार कराना अपेक्षाकृत अधिक झंझट का काम था। यह तो गृहस्थ गोस्वामियो के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अत' जब तक श्री हितहरिवश जी से पहले किसी और महानुभाव द्वारा रासमंडल-निर्माण और रास-प्रवर्त्तन का प्रमाण न मिले उन्ही को इसका प्रवर्त्तक मानना अधिक न्याय-सगत होगा।

सोलहवी शताब्दी मे व्रजमडल में रासलीलानुकरण के सम्बन्ध में डा० दशरथ ओझा ने अपने शोध-ग्रथ 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास' में हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष के समान ही अपना अभिमत व्यक्त किया है। हम उनके ग्रंथ से प्रासगिक पक्तियाँ उद्धृत करना—आवश्यक समझते हैं—

आचार्य द्वारा स्थापित होकर ज्यो की त्यो चली आ रही हैं। जैसा कि हमने पहले भी लिखा है कि रासलीलानुकरण के आदि प्रवर्त्तक होने पर भी उसके सबसे प्रबल पोषक और समर्थ प्रचारक श्री नारायण भट्ट जी हैं अत उनके द्वारा इसमें परिवर्तन, परिवर्द्धन आदि अवश्य हुए होगे जो आज भी स्वीकृत हो सकते हैं। इनका श्रेय उन्हे मिलना ही चाहिए।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्री हरिराम व्यास के अतिरिक्त अन्य सज्जनो द्वारा रासलीलानुकरण का उल्लेख अनेक वाणियो में उपलब्ध होता है। भगवत् मुदित ने अपने 'रसिकमाल' में जयमल का चरित्र लिखा है और उन्हें रासलीला प्रेमी बताया है। कहते हैं कि जयमल श्री हरिवश जी के शिष्य थे और दीक्षा लेने के बाद मेडता में रहकर रासलीला कराते थे। इनका जन्म सम्वत् १५३० के आसपास ठहरता है सम्वत् १६१० में आप ८० वर्ष के थे।

**श्री हरिवश रजु धर्म दृढ़, जयमल भक्त अनन्य।**
**स्वारथ परमारथ विषै, तासम लख्यौ न अन्य ॥**
**कथा कीरतन सुमरन भाव, रास बिलास महोत्सव चाव ॥**

**—भगवत् मुदित कृत, रसिकमाल।**
**(जयमल चरित्र से उद्धृत)**

दूसरे एक और सज्जन मोहनदासजी का उल्लेख गोविन्द अली तथा चाचा वृन्दावनदास की वाणियो में मिलता है। कहते हैं कि मोहनदासजी तथा उनके पुत्र माधुरीदासजी रासलीला करते थे। ये कामा के रहने वाले थे। प्रियाजी का वेप धारण कर उनके पुत्र रासलीला में अनुरक्त रहते थे। आप गोस्वामी दामोदरवरजी के शिष्य थे। गोस्वामी दामोदरवरजी का रासमडल वर्तमान वल्लीगज में था, ऐसा भी वृन्दावन में प्रसिद्ध है। किन्तु वर्तमान समय में वल्लीगज में भवन मात्र है, कोई रासमडल नही है।

गोविन्द अलीजी ने (सम्वत् १८४०) मोहनदास के विषय मे अपनी वाणी में इस प्रकार परिचय लिखा है—

**श्री हित मोहनदास विप्र कामा के वासी,**
**सुत माधुर्य सरूप सकल गुन गन के रासी।**
**प्रिया वेष अति फबै रासमडली बनाई,**
**मिटे त्रिगुन विस्तार रहै हरिवश सहाई।**
**रसिकन मुख ऐसी सुनी सर्वस महाप्रसाद की,**
**श्री दामोदरवर कृपा तै पगे भावना रास की ॥**

उपर्युक्त विवरणो के द्वारा यह सिद्ध करना कठिन नही कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में रासलीलानुकरण की परिपाटी अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन है और वर्तमान समय में रासधारियो द्वारा जो लीलाएँ खेली जाती हैं उनमें भी अधिकाश राधावल्लभीय भक्तो द्वारा लिखित हैं। चाचा वृन्दावनदासजी ने तो अनेक लीलाएँ रास के उद्देश्य से ही लिखी हैं और उन्ही का प्राय हेर-फेर करके वर्त्तमान युग में अनुकरण भी होता है।

अतः राधावल्लभीय मत से रासलीलानुकरण उनके यहाँ सम्वत् १५९२ से ही प्रारम्भ माना जाता है। इसका प्रमाण इनके यहाँ का प्राचीनतम रासमंडल है। उससे पुराना रास-मडल दूसरा और कोई व्रजभूमि में नही है।

हमने वर्तमान काल में होने वाली रासलीलाओ का अध्ययन करने के लिए अनेक रास-लीलाओ को स्वय उपस्थित होकर देखा और उनकी भाषा, अभिव्यजना, धार्मिक भावना तथा अभिनेय शैली का विधिवत् अनुशीलन किया है। भाषा की दृष्टि से तो ये लीलाएँ शुद्ध व्रजभाषा के प्रभाव मे हैं। सभी सम्प्रदायो के आचार्यों के पद इसमे उपलब्ध होते हैं। श्री हितहरिवंशजी, स्वामी हरिदासजी, व्यासजी, भगवतरसिकजी, हरिव्यासदेवाचार्य जी, अनन्य अली जी, चाचा वृन्दावनदासजी आदि अनेक महानुभावो के पदो का जोड़-तोड़ ही वर्तमान रास की आत्मा है। 'वचनिका' के लिए वर्तमान युग की बोली का प्रयोग होता है जिसका श्रेय किसी एक महात्मा को नही है। अधिकाश रासमडलियाँ निम्बार्क सम्प्रदाय की हैं। वगाली वैष्णवो का रास पर विशेष प्रभाव नही पड़ा किन्तु परकीया-भाव की लीलाओं में नारायण भट्ट का प्रभाव माना जा सकता है। गौडीय साधुओ ने व्रजभाषा में न तो विशेष पद रचना की और न कोई लीला ही लिखी। उनका क्षेत्र मुख्यत. सस्कृत और गौण रूप से वॅंगला भाषा ही रहा। व्रज में वसने पर भी वगीय टोल सदा से व्रजभाषा से पृथक् रहा है, विपुल साहित्य-सृजन करने वाले विद्वानो ने सदा संस्कृत और वॅंगला को ही स्वीकार किया है। नारायण भट्ट जी तैलग ब्राह्मण थे; 'रागसागरोद्भव' में श्री राधाचरण गोस्वामी ने उनके कुछ पदो का आना लिखा है किन्तु उनका लिखा व्रजभाषा साहित्य अद्यावधि हमारे देखने में नही आया। उनकी शताधिक रचनाओ मे सस्कृत को ही स्थान मिला है—व्रजभाषा वहाँ भी लुप्त है।

फलतः उपर्युक्त तीनो मतो के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि श्री नारायण भट्ट और श्री घमडदेवाचार्य से पहले वृन्दावन में रास का प्रवर्त्तन हो गया था। श्री हरिवश जी, श्री स्वामी हरिदासजी तथा श्री हरिराम व्यास अपने समय मे रासलीलाओ में सम्मिलित होते थे। यदि रासमडल (स्थान विशेष) की स्थापना को ही प्रारम्भ माना जाय तो इसका श्रेय श्री हितहरिवंशजी को है, यदि गान-वाद्य को श्रेय दिया जाय तो स्वामी हरिदास जी इसके अधिकारी हैं। इतना तो अवश्य ही मानना होगा कि विरक्त स्वामी जी के लिए लीला की सामग्री जुटाना, साज-शृंगार तैयार कराना अपेक्षाकृत अधिक झंझट का काम था। यह तो गृहस्थ गोस्वामियो के द्वारा ही सम्भव हो सकता था। अत जव तक श्री हितहरिवश जी से पहले किसी और महानुभाव द्वारा रासमडल-निर्माण और रास-प्रवर्त्तन का प्रमाण न मिले उन्ही को इसका प्रवर्त्तक मानना अधिक न्याय-संगत होगा।

सोलहवी शताब्दी में व्रजमडल में रासलीलानुकरण के सम्वन्ध में डा० दशरथ ओझा ने अपने शोध-ग्रथ 'हिन्दी नाटक—उद्भव और विकास' मे हमारे उपर्युक्त निष्कर्ष के समान ही अपना अभिमत व्यक्त किया है। हम उनके ग्रंथ से प्रासंगिक पक्तियाँ उद्धृत करना—आवश्यक समझते हैं—

"उस समय (सोलहवीं शती में) वृन्दावन के लताकुञ्जों में स्थित साधुओं के पर्ण-कुटीर साहित्य के उद्भट कृष्णभक्त आचार्यों के आवास बन रहे थे। स्वामी वल्लभाचार्य और हितहरिवंशजी के पर्णकुटीरों में भक्तों की भीड लग गई थी। प्रसिद्ध गवैया तानसेन के गुरु स्वामी हरिदासजी भी वहीं आकर बस गये थे।+++। इन आचार्यों में एक आचार्य ऐसे थे जो राधाजी के परम उपासक थे। वे महात्मा राधिकाजी के ऐसे भक्त हुए कि उनके सम्प्रदाय का नाम ही राधावल्लभ सम्प्रदाय पड गया। यह थे महात्मा हितहरिवंश, जिनका जन्म सम्वत् १५५६ विक्रमी में हुआ था और जो सांसारिक व्यवहार त्यागकर वृन्दावन के एक लता कुन्ज में नित्य-प्रति ध्यान किया करते थे। कहा जाता है कि इस सूक्ष्म तत्वदर्शी महात्मा को सेवा कुन्ज में नित्य राधिकाजी के साथ कृष्ण का रास-विहार दृष्टिगोचर होता था। कभी-कभी ये महात्मा महारास का दर्शन किया करते थे।

एक दिन रासविहार का प्रसग छिडा। भक्तो में स्वभावत जिज्ञासा हुई कि आचार्य जी को वृन्दावन में भगवान् कृष्ण का जो रासविहार दिखाई पडता है वह किस प्रकार का है। साधकों की दृष्टि से तो यह नितान्त अदृश्य रहता है। आचार्य हितहरिवंशजी ने घमडीलाल (घमडदेव) महात्मा को बुलाया, उनको और स्वामी हरिदासजी को कुछ निर्देश किया। रासलीला में दृष्टिगोचर होने वाली राधाकृष्ण की छवि के अनुरूप प्रसाधन हुआ। गोपियों का प्रसाधन स्वय हितहरिवंशजी ने किया। इस प्रकार रासमडल की तैयारी हुई।

स्वामी हरिदास जी सगीत के धुरन्धर विद्वान् थे ही हितहरिवंशजी के पद 'आज बन नीको रास बनायो' में प्रस्तुत किया गया। अन्य महात्माओं ने भी सगीत में योग दिया। हितहरिवंशजी से साथ श्री वल्लभाचार्य तथा गदाधर भट्ट जी भी थे, ऐसा कहा जाता है। इस प्रकार सोलहवीं शताब्दी में इन आचार्य महात्माओं ने व्रजभाषा में सर्वप्रथम कृष्ण रासमडल रचाया जिसमें नृत्य, सगीत और नाट्य को ही स्थान मिला।"[1]

उपर्युक्त उद्धरण में श्री हितहरिवंशजी को व्रज में रासमडल का सस्थापक, रासलीलानुकरण का प्रवर्त्तक तथा शिरोमणि आचार्य सिद्ध किया गया है। विद्वान् लेखक ने घमडदेव गदाधर भट्ट, वल्लभाचार्य आदि के सहयोग—सम्पर्क का उल्लेख भी इस प्रकरण में किया है किन्तु उनके लिए परम्परागत अनुश्रुति के अतिरिक्त कोई ऐतिह्यपरक प्रमाण प्रस्तुत नही किया। फिर भी श्री हितहरिवंशजी के रासलीला-प्रवर्त्तक होने की बात लेखक को सब प्रकार मान्य है।

---

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास—डा० दशरथ ओझा, पृ० ६६-१००।

# उत्तरार्द्ध

★

[ साहित्य-खंड ]

## प्रथम अध्याय

# श्री हितहरिवंश रचित साहित्य

गोस्वामी हितहरिवशजी रचित दो हिन्दी ग्रंथ, दो सस्कृत ग्रथ और दो गद्य-पत्र अद्यावधि उपलब्ध हुए हैं। हिन्दी ग्रथो मे हित चौरासी और स्फुटवाणी हैं, सस्कृत ग्रथो में राधासुधानिधि तथा यमुनाष्टक हैं तथा विट्ठलदासजी को लिखे गये दो गद्य-पत्र हैं। उपर्युक्त सभी ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

इन ग्रंथो का विस्तारपूर्वक विशद विवेचन हम इसी अध्याय की अगली पक्तियो मे करेगे। किन्तु इस प्रसग में हम उन ग्रथो की चर्चा करना पहले आवश्यक समझते हैं जो भ्रमवश श्री हितहरिवशजी रचित कहे जाते हैं। श्री गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी ( श्री हरिवशजी के सुपुत्र ) रचित 'आशास्तव' तथा 'श्री राधा अनुनय विनोद काव्य' को किसी-किसी सज्जन ने श्री हरिवश-रचितबताया कहा है। यथार्थ मे इन दोनों ग्रंथो का हरिवशजी से कोई सम्बन्ध नही है। इन ग्रथो की रचना आदि का पूरा विवरण साम्प्रदायिक वाणियो में मिलता है जो इस वात का प्रमाण है कि ये ग्रथ श्री हरिवंशजी के सुपुत्र गोस्वामी कृष्णचन्द्र जी द्वारा रचे गये थे।

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों मे हस्तलिखित पुस्तको के विवरण में 'प्रेमलता' नामक एक ग्रथ का रचयिता श्री हितहरिवश को ठहराया है।[1] अग्रेज विद्वान् एफ ई. के. ने अपने 'हिन्दी लिटरेचर' नामक ग्रथ में हितचौरासी को ही प्रेमलता नाम से

---

१. संख्या १५५ ए प्रेमलता—रचयिता—हितहरिवंश, कागज देशी—पत्र ३६। आकार १०×६ इंच, पंक्ति प्रति पृष्ठ २४, परिमाण अनुष्टुप ६१८, रूप प्राचीन, लिपि—नागरी लिपि; काल—सं० १८२४, ईसवी १७६७। प्राप्तिस्थान—दीनानाथ पाठक, ग्राम पचौली, डा० जलेसर, जि० एटा।
हस्तलिखित हिन्दी ग्रंथों का चौदहवां वार्षिक विवरण—( सन् १९२९-१७३१ ) सं० डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।

लिखा है । यह नाम उन्होने क्यो और कैसे दिया इसका कोई प्रमाण नही दिया ।[1] इसी प्रकार कही-कही 'वृन्दावन शत' नामक ग्रथ का रचयिता भी हितहरिवशजी को लिखा गया है । यथार्थ में ये दोनो ग्रन्थ श्री ध्रुवदास रचित हैं। इनका अपने समय में अत्यधिक प्रचार था । वृन्दावन शत की पन्द्रह हस्तलिखित प्राचीन प्रतियो की सूचना खोज-रिपोर्टों में दी गई है । इसके अतिरिक्त वृन्दावन में और भी पुरानी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं जो इस वात की साक्षी हैं कि यह ग्रथ किसी समय अत्यधिक समादरणीय था । हो सकता है कि उसी समय किसी लिपिक ने भ्रमवश राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक का नाम इसके लेखक के रूप में दे दिया हो ।

श्री हरिवशजी रचित पदो के सम्बन्ध में भी कुछ विवाद उठे हैं। कुछ ऐसे पद वल्लभ सम्प्रदाय के वर्षोत्सवो में तथा राधावल्लभीय वर्षोत्सवो में मिलते हैं जिनमें 'जै श्री हितहरिवश' छाप स्पष्ट रूप से है । इस छाप को देखकर ऐसा प्रतीत होना स्वाभाविक है कि कदाचित् ये पद इन्ही के होंगे । इस प्रकार के पदो की सख्या दस-वारह है जिनमें छह पद तो वल्लभ कुल के वर्षोत्सवो में हैं और शेष राधावल्लभीय वर्षोत्सवो में । इन पदो का यथार्थ रहस्य यह है कि ये श्री हितहरिवशजी की रचना न होकर उनको भेंट में दिये गये विभिन्न भक्तो के पद हैं । पद भेंट करने की प्रणाली प्राचीनकाल से चली आ रही है, उसी का पालन करने के लिए समय-समय पर भक्तगण श्रद्धाबुद्धि से यह समर्पण करते रहे हैं और उस पद में श्रद्धेय का नाम या छाप रखकर अपने कर्तृत्व को बिल्कुल तिरोहित कर लेते हैं । ऐसी दशा में यदि परम्परा द्वारा या पद की शैली, भाव या अभिव्यजना से तथ्य का पता न चले तो कालान्तर में उनके रचियता के विषय में सन्देह उत्पन्न होना स्वाभाविक है। प्रकृत में जिन पदो का हम सकेत कर रहे हैं वे भाषा, भाव-व्यजना और समर्पण-शैली के कारण स्पष्ट ही बताते हैं कि उनके प्रणेता कोई भावुक महानुभाव थे जिन्होने श्री हरिवशजी के चरणो में समर्पण करने के निमित्त उनकी रचना की थी ।

हमने जिन चार ग्रथो और दो पत्रो को श्री हितहरिवशजी की रचना माना है उनके विषय में भी ऐकमत्य नही है । समय समय पर साम्प्रदायिक सकीर्णता और कटुता के कारण इन ग्रथो के विषय में भी सन्देह-शका उपस्थित होती रही है किन्तु हम इन्हें सर्वतोभावेन हित महाप्रभु की रचना मानते हैं अत प्रत्येक ग्रथ के सम्बन्ध मे युक्ति, तर्क और प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करेंगे और तदुपरान्त काव्य-समीक्षा ।

## १—राधासुधानिधि

यह सस्कृत में लिखा हुआ एक स्तोत्र-काव्य है जिसमें २७० श्लोक हैं । राधा की वन्दना, उपासना, प्रशस्ति, सेवा, पूजा, भक्ति, सामीप्य, सौन्दर्य आदि के विविध वर्णनों से परिपूर्ण यह ग्रथ अपनी इष्ट अनन्यता के लिए साम्प्रदायिक भक्ति-काव्यो में श्रेष्ठतम स्तोत्र-काव्य समझा जाता है । इसकी प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो का उल्लेख अनेक अग्रेज और भारतीय

---

1 His principal work in Hindi is the Chaurasi Pad or Premlata
Hindi literature by F. E Keay Page 77.

विद्वानो ने किया है। इंडिया आफिस के हस्तलिखित ग्रंथो के सूचीपत्र मे इसका उल्लेख है और उसमे इसके प्रणेता का नाम श्री हितहरिवंश दिया है।

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में चैतन्य सम्प्रदाय वालो ने यह मत प्रकट किया था कि यह श्री प्रबोधानन्द सरस्वती की रचना है। भक्ति प्रभा आफिस, हुगली से यह ग्रंथ दो भागो में 'श्री राधा रस सुधानिधि' नाम से प्रकाशित भी हुआ। ग्रन्थ के आदि और अन्त में श्री कृष्ण चैतन्य महाप्रभु की वन्दना का एक-एक श्लोक जोडकर इसे गौडीय सम्प्रदाय की रचनाओ में सम्मिलित कर लिया गया। श्लोक संख्या २७२ कर दी गई और रचयिता श्री प्रबोधानन्द सरस्वती ठहराये गए। किन्तु इतने विपर्यास के बाद भी ग्रन्थ की स्थिति में क्या कोई परिवर्तन हुआ ? क्या विद्वानो ने इसे चैतन्य सम्प्रदाय की सम्पत्ति स्वीकार किया और क्या परम्परा से चली आती हुई स्थिर मान्यताओ को निर्मूल करने में इस प्रयास से कोई फल निकला ?

हम इस सम्बन्ध में ग्रंथ के अन्तःसाक्ष्य तथा उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो और टीकाओ के बहि साक्ष्य द्वारा यह सिद्ध करेंगे कि 'राधासुधानिधि' मूल रूप में २७० श्लोको का स्तोत्र-काव्य है और इसके रचयिता श्री हितहरिवंशजी हैं, अन्य कोई महानुभाव नही।

जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही लिखा है कि राधासुधानिधि ग्रंथ अपनी इष्ट अनन्यता के लिये विख्यात है। राधा ही इस ग्रन्थ में इष्टाराध्या के रूप मे वर्णित हुई हैं। श्री हित-हरिवंशजी की इष्टाराध्या राधा ही हैं अतः उन्ही की पूजा-उपासना, वन्दना-प्रशस्ति के लिये उन्होने अपनी भावना के अनुरूप इसकी रचना की है। अन्त.साक्ष्य के लिये हम राधासुधानिधि के उन श्लोकों को उपस्थित कर सकते है जिनमे राधा को ही इष्टाराध्या कहा गया है और उनकी भाव-वर्णन शैली वही है जो हित चौरासी के पदो की है।

राधा के विना कृष्ण की आराधना का निषेध राधावल्लभ सम्प्रदाय मे ही किया गया है। यहाँ राधा के विना कृष्णोपासना की कल्पना भी नही है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए राधासुधानिधि मे कहा है कि "जो लोग राधा के चरणो का सेवन छोडकर गोविन्द के सग-लाभ की चेष्टा करते हैं वे मानो पूर्णिमा तिथि के विना ही पूर्ण सुधा-कर का परिचय प्राप्त करना चाहते हैं। वे अज्ञ यह नही जानते कि श्यामसुन्दर के रति-प्रवाह की लहरियो का बीज यही श्रीराधा है। आश्चर्य है कि ऐसा न जानने से ही वे अमृत का महान् समुद्र पाकर भी उसमे से केवल एक बूँद मात्र ही ग्रहण कर पाते हैं।[1]"

स्फुटवाणी मे हितहरिवंशजी ने अपनी राधा-अनन्यता का वर्णन बड़े स्पष्ट रूप से निम्न पद में किया है—

---

१. राधा दास्यमपास्य यः प्रयतते गोविन्द संगाशया
सोऽयं पूर्णसुधारुच. परिचयं राकां विना कांक्षति।
किंचश्याम रतिप्रवाहलहरी बीजं न ये तां विदु-
स्ते प्राप्यापि महामृताम्बुधिमहो बिन्दुं पर प्राप्नुयु.॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७६।

रहौ कोऊ काहू मनहिं दिये ।
मेरे प्राण नाथ श्री श्यामा शपथ करौं तृण छिये ॥
जे अवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ व्रत जु हिये ।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा वनविहार रस पिये ॥

—स्फुट वाणी, पद स० २० ।

निकुज में राधा और कृष्ण की प्रणय-लीला का वर्णन करते हुए राधासुधानिधि और हित-चौरासी में प्रणय-कोप के भाव का समान रूप से वर्णन किया गया है। यह भाव-साम्य आकस्मिक न होकर एक ही प्रणेता की भावधारा की सहज गति का परिचायक है। राधासुधानिधि के एक श्लोक का भाव है कि 'निकुज-लीला में सुख-सग महोत्सव में सम्मिलित होने पर भी प्रियतम के उर-प्रदेश के कौस्तुभमणि में अपना प्रतिबिम्ब देखकर राधा कुपित हो गई और उसने प्रियतम का हाथ झटक दिया।' 'हित चौरासी' में यही भाव यो व्यक्त हुआ है—'निकुज-लीला में रत राधा ने हरि के उर-प्रदेश के मुकुर में अपना प्रतिबिम्ब देखा तो यह विनम्र विकल होकर मानवती हो गई।' इन दोनो भावो की समानता इस तथ्य की ओर सकेत करने वाली है कि ये रचनायें एक ही महानुभाव की हैं।[1]"

हितहरिवशजी ने अपनी राधा-विषयक एकान्त निष्ठा का परिचय निम्न श्लोक मे बडी दृढता के साथ दिया है।

यत्र तत्र मम जन्म कर्मभिर्नारकेऽथ परमे पदेऽथवा ।
राधिका-रतिनिकुंजमडली तत्र तत्र हृदि मे विराजताम् ॥

—रा० सु० नि०, श्लोक स० २६७ ।

श्री प्रबोधानन्द जी की धामनिष्ठा प्रसिद्ध है, वे अपनी अनन्य धामनिष्ठा के समक्ष विभिन्न प्रकार की एकान्त निष्ठा का दूसरा रूप कैसे प्रस्तुत कर सकते थे। २७० श्लोक के इस काव्य में राधा को छोडकर किसी और भाव, वस्तु या व्यक्ति का वर्णन ही नही है अत इस ग्रथ को उसी की रचना मानना चाहिए जिसकी इष्टाराध्या राधा हो। निर्विवाद है कि

---

१ सगत्यापि महोत्सवेन मधुराकारा हृदि प्रेयस
स्वच्छायामभिवीक्ष्य कौस्तुभमणौ सम्भूत शोकाक्रुधा ।
उत्क्षिप्य प्रिय पाणिमेव विनयेत्युक्त्वा गताया बहि.
सख्यं सास्त्र निवेदितानि किमहृ श्रोष्यामि ते राधिके ॥

—रा० सु० निधि, श्लोक सं० २४६ ।

आज निकुज मजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी ।
+ + +
हरि उर मुकुर विलोक अपन पौ विभ्रम विकल मान जुत भोरी ।
चिबुक सुचारु प्रलोय प्रबोधत प्रिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी ॥

—हित चौरासी, पद स० ७

राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री स्वामी हितहरिवंशजी ने ही सर्वप्रथम राधा को इष्ट, गुरु और आराध्या स्वीकार किया था अत. यह स्तोत्र-काव्य भी उन्ही की कृति है।

## टीकाएँ :

वहि साक्ष्य के लिए सबसे बडा प्रमाण परम्परा और इतिहास है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में विगत चार सौ वर्ष से राधासुधानिधि को हितहरिवंशजी की रचना माना जाता आ रहा है। गोस्वामी कृष्णचन्द्रजी ने इसी के अनुकरण पर 'राधा उपसुधानिधि' की रचना की थी। उनके बाद राधावल्लभीय गोस्वामियो तथा शिष्य साधुओ ने इस ग्रथ पर निरन्तर टीका और भाष्य लिखे हैं। इन टीकाओ का सक्षिप्त विवरण हम यहाँ प्रकाशित राधासुधानिधि की भूमिका से उद्धृत करते हैं।[1]

| | | |
|---|---|---|
| १—श्री तुलसीदास | व्रजभाषा पद्य हस्तलिखित | सं० १७०० वि० |
| २—श्री सन्तदास | व्रजभाषा पद्य ,, | १८ वी शती विक्रमी |
| ३—श्री वृन्दावनदास | ,, ,, | १६ वी शती विक्रमी |
| ४—श्री नरोत्तमजी | सस्कृत प्रकाशित—वेंकटेश्वर प्रेस, वम्बई | स० १८३० वि० |
| ५—श्री हितदास | सस्कृत अन्वय, व्रजभाषा पद्य हस्तलिखित | स० १८३२ वि० |
| ६—श्री हरिलाल व्यास | सस्कृत-रसकुल्या, हस्तलिखित | स० १८६० वि० |
| ७— ,, (सक्षेप) | मध्य व्याख्या ,, | ,, |
| ८— ,, (अति संक्षेप) | लघु व्याख्या ,, | ,, |
| ९—श्री लोकनाथ | व्रजभाषा पद्य ,, | स० १६०० वि० |
| १०—श्री लड़ैतीलाल | व्रजभाषा पद्य प्रकाशित | सं० १९२८ वि० |

साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण कुछ व्यक्ति तो इस ग्रथ को हित जी का मानने को तैयार ही नही थे पर उन्हे पता नही कि राजा पृथु की तरह अनेक टीकाकार महानुभावो ने अनेक वार इस कामदुहा से अमृत निकाला है और इसी सुधानिधि से श्री हरिलाल व्यास ने रसकुल्या (नद) निकाल कर साहित्य-भाण्डागार को भर दिया है—साहित्य-रत्न पारखियो का ध्यान इस विशाल टीका की ओर हम आकर्षित करना चाहते है कि वे इस श्री राधासुधानिधि नामक महान् टीका ग्रंथ-सागर के रस-रत्नो को भी तो देखें। लेखक श्री हरिलाल ने दूसरा पुराण लिख कर अपने व्यास नाम को कितना सार्थक कर दिखलाया। यह संस्कृत की रसकुल्या टीका—चाचा वृन्दावनदास के गुरु श्री रूपलाल के सुपुत्र श्री किशोरी लाल के कृपापात्र (शिष्य) श्री हरिलाल व्यास जी की टीका है। यद्यपि टीका सस्कृत गद्य में है

---

१. श्री राधासुधानिधि—अनुवादक—वावा हितदास, भूमिका पृष्ठ १५। वृन्दावन से प्रकाशित।

परन्तु इसका अनुष्टुप छन्दो में परिमाण आंका जाय तो अठारह महस्र श्लोक भागवत पुराण के समान होगा। यदि कहे कि २७० श्लोक के लघु-काय ग्रथ की इतनी वडी टीका सस्कृत वाङ्मय में अब तक नही हुई तो अत्युक्ति न होगी। इसी से टीकाकार ने इसी की सक्षेप में मध्य व्याख्या की और फिर भी मन तुष्टि नही हुई तो अति सक्षिप्त लघु व्याख्या लिखी।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के साहित्य की प्रकाशित सूची--'साहित्य रत्नावली' नामक पुस्तक में कुछ और टीकाओ का उल्लेख है—[1]

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—श्री स्वामिनीशरण | व्रजभाषा पद्य | हस्तलिखित | १८ वी शती |
| २—गो० मनोहरवल्लभ | " | " | १९ वी शती |
| ३—गो० कृपालाल जी | " | " | १९ वी शती |
| ४—गो० लाडिली लाल जी | " | " | २० वी शती |
| ५—श्री गो० युगलवल्लभ जी | " | " | २० वी शती |
| ६—श्री भोलानाथ जी | " | " | २० वी शती |

इनके अतिरिक्त और भी टीकाएँ अवश्य लिखी गई होगी ऐसा अनुमान इसलिए किया जाता है कि कुछ टीकाओ में पूर्ववर्त्ती टीकाओ का कही-कही सकेत है। रसकुल्याटीका का तो पर्याप्त उपयोग हुआ है। इन डेढ दर्जन टीकाओ का अस्तित्व इस वात का प्रवल प्रमाण है कि राधासुधानिधि राधावल्लभ सम्प्रदाय में परम्परा से श्री हितहरिवशजी की कृति के रूप में समादृत होती चली आ रही है और आज भी इसका पठन-पाठन इस सम्प्रदाय में खूव होता है। किम्वदन्ती तो यह है कि राधासुधानिधि पर अब तक ४० टीकाएं लिखी जा चुकी हैं।

## प्राचीन प्रतियाँ

राधावल्लभीय वैष्णवो के पास राधासुधानिधि की जो हस्तलिखित प्राचीन प्रतियां उपलब्ध हैं उनमें २७० श्लोक हैं तथा सवने इसके रचयिता का नाम गोस्वामी हितहरिवश ही दिया है। इन प्राचीन प्रतियो का विवरण भी हम प्रकाशित "राधासुधानिधि" की भूमिका से ही उद्धृत कर रहे हैं।[2]

१—श्री बनवारीलालजी पचौरी ( अलीगढ ) के पास सम्वत् १७५७ वि० की हस्तलिखित प्रति है। इसमे श्री हितहरिवशजी का नाम रचयिता के रूप में दिया हुआ है।

२—श्री बावा बैजनाथजी ( झासी ) वर्तमान निवास-स्थान वृन्दावन। आपके पास स० १७८९ वि० की हस्तलिखित प्रति है, इसमें भी श्री हितहरिवश का नाम रचयिता के रूप मे दिया हुआ है।

३—श्री गोस्वामी वृन्दावनवल्लभजी (वृन्दावन) के पास आज से २६० वर्ष प्राचीन हस्तलिखित प्रति उपस्थित है। इसमें भी रचयिता का नाम हितहरिवश ही है।

---

१ 'साहित्य रत्नावली' सम्पादक—किशोरीशरण 'अलि'—पृष्ठ ७७, ७८, ७९, ८०, ६४, ७२।

२ राधासुधानिधि—( प्रकाशित ) अनुवादक—वावा हितदास, भूमिका पृष्ठ १४।

उपरिलिखित प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो के उपलब्ध होने से भी यह सिद्ध होता है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में चिरकाल से इस ग्रन्थ के प्रणेता श्री हरिवंशजी ही माने जाते रहे हैं और इस ग्रंथ का पठन-पाठन भी साम्प्रदायिक निष्ठा के साथ होता रहा है। यथार्थ मे इस ग्रन्थ की शैली और विषय-वस्तु भी श्री हितहरिवंशजी के सर्वथा अनुरूप है।

वहि साक्ष्य में श्री रसिकोतंसजी लिखित "प्रेमपतन ग्रंथ" का प्रमाण और प्रस्तुत किया जा सकता है। श्री रसिकोतसजी का समय १६९५ वि० है। श्री रसिकोतसजी ने अपने ग्रंथ में प्रेम-सिद्धान्त स्थिर करने के लिए अनेक भक्त महात्माओ के वाक्य स्थान-स्थान पर उद्धृत किये हैं। एक स्थल पर प्रेम की व्याख्या करते हुए कहा है—"यत्राधर्म एव धर्मः स्थापित" और इस मत की पुष्टि के लिए गीता, भागवत आदि के प्रमाण दिये हैं। वहीं श्री गोस्वामी हरिवंशजी का नामोल्लेखपूर्वक राधासुधानिधि से एक श्लोक प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया गया है।

तथैवोक्त श्री गोस्वामि श्रीहरिवंश महानुभावै [1]

कैशोराद्भुत माधुरीभर धुरीणांगच्छवि राधिकां
प्रेमोल्लासभराधिकां निरवधि ध्यायन्ति ये तद्धियः।
त्यक्ता . कर्मभिरात्मनैव भगवद्धर्म्मेप्यहो निर्ममा.
सर्वाश्चर्य गतिगता रसमयीं तेभ्यो महद्भ्यो नम ।

—राधासुधानिधि श्लो० सं० ८०।

तथोक्त तैरेव—

लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शखचक्रादिकं
विचित्र हरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसिमालिकां दधति कठपीठे न वा
गुरोर्भजन विक्रमात्म क इह ते महाबुद्धयः॥

—राधासुधानिधि श्लो० सं० ८१

इसी प्रसग में रसिकोतस जी ने श्री प्रबोधानन्द सरस्वती के वृन्दावन—शतक से भी श्लोक उद्धृत किये है।

तत्रैवोक्त श्री प्रबोधानन्द सरस्वती पादै [2]

कुरु सकल धर्म मु च सर्वंधर्मं—
त्यज गुरुमपि वृन्दारण्य वासानुरोधात्।
सतत परम धर्मः साच भक्तिगु रूणां
सकल कलुष राशिर्यद्धि वासान्तरायः॥

( श्री वृन्दावन महिमामृतम् )

---

१—प्रेमपतनम्—श्री रसिकोत्तंस विरचित—पृष्ठ ३५।
२— ,, ,, ,, ,, ३५-३६।

इस प्रकरण को पढकर यह तो निश्चित हो ही जाता है कि राधासुधानिधि के रचयिता श्री हरिवंश गोस्वामी और वृन्दावन महिमामृत के प्रणेता श्री प्रबोधानन्द सरस्वती दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। रसिकोतस जी के समय मे भी इन दोनों की कृतियो का बोध था और राधासुधानिधि के साथ प्रबोधानन्दजी का कोई सम्बन्ध नही माना जाता था। यदि ये दोनो ग्रथ किसी एक ही महानुभाव की रचना होते तो पृथक्-पृथक् नाम से उनका एक ही ग्रथ में उल्लेख क्यो होता।

श्री डा० सुशीलकुमार डे ने अपने शोधग्रथ—'वैष्णव फेथ एड मूवमेंट इन बंगाल' में राधासुधानिधि का उल्लेख करते हुए बडे स्पष्ट शब्दो में प्रमाणपूर्वक यह लिखा है कि यह स्तोत्र-काव्य व्यास के पुत्र श्री हितहरिवश रचित है। इसको चैतन्य सम्प्रदाय वालो ने हठात् अपना ग्रथ कहा है। यथार्थ में राधावल्लभी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हितहरिवश ही इसके रचयिता थे। अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में आपने लिखा है कि इस ग्रथ की जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं उनमें इसके प्रणेता का नाम सब जगह हितहरिवश ही दिया हुआ है। अत इस ग्रथ को प्रबोधानन्द रचित कहना असत्य है। चैतन्य की वन्दना के जो दो श्लोक इस में सयुक्त कर लिये गये हैं वे प्राचीन पोथियो में उपलब्ध नही होते अत इन्हे भी प्रक्षिप्त ही मानना होगा।[1] इडिया आफिस के 'केटेलाग तथा बोडेलिन के केटेलाग मे इस ग्रन्य को श्री हितहरिवश रचित ही लिखा गया है। अत इस ग्रन्थ को चैतन्य सम्प्रदाय वाले किसी प्रकार भी अपने मत का नही कह सकते। यदि वे ऐसा करने का साहस करते हैं तो निश्चित ही यह दूसरे सम्प्रदाय ग्रथ को हडपने का कार्य है जिसे विद्वन्मण्डली स्वीकार नही करेगी।"

इस प्रकार डा० सुशीलकुमार डे ने अपनी शोध द्वारा इस रहस्य का पूरी तरह उद्घाटन करके सत्य को सबके समक्ष प्रस्तुत कर दिया है।

## राधासुधानिधि का प्रतिपाद्य

राधा को इष्टाराध्या के रूप में प्रस्तुत करना ही इस स्तोत्र-काव्य का प्रमुख ध्येय है। सखी (जीवात्मा) की एकमात्र यही कामना है वह अपनी आराध्या राधा को विविध

1 The Stotra Kavya, named Radha-Ras-Sudhanidhi Printed in two parts from the Bhakti Prabha office Hugli (1924-25) is wrongly ascribed to Prabodhanand The first and the last verses of the printed text pay homage to Chaitanya, but these verses are missing in the Mss noticed by Eggeling (India Office Catalogue vii p 1464-65) Aufrecht (Bodleian Catalogue p 131 No 239) Harprasad Shastri (Descriptive Catalogue of ASB Collection, vii p 230 and notices, 2nd series i p 384), while the work is uniformly ascribed in these and other Mss to Hitharivamsha son of Vyas It is obviously a case of appropriation by the Chaitanya sect of a work composed by Hitharivamsha of the Radhavallabhi sect"
—Early History of the Vaishnava faith and Movement in Bengal by Dr S K De. page 99

रूप से आनन्दोल्लास में लीन देखकर स्वय प्रसन्न-प्रमुदित रहे। सखीगण के जीवन का उद्देश्य ही राधाकृष्ण की विहारपरक लीलाओ की निकुंज रध्रो से झाँकी लेकर सन्तुष्ट होना है। राधा की परिचर्या-सेवा की अतृप्त आकाक्षा सखी के मन मे सतत बनी रहती है और वह अहर्निश यही सोचती रहती है कि कब कौन-सा अवसर आवे जब मैं आत्मोत्सर्ग द्वारा राधा को प्रसन्न कर सकूँ। राधा के 'महल की खवासी' करना ही इनके जीवन का अन्तिम लक्ष्य कहा जा सकता है। जिस महल मे 'खवासी' करने की कामना से सखी अग्रसर होती है उसके विविध रूप और चित्र इस काव्य में अकित किये गये हैं। इसी मूल प्रतिपाद्य को विस्तार देने के निमित्त जो सौन्दर्य-चित्र अकित हुये हैं, उन्हे निम्न शीर्षकों में रखा जा सकता है :—

'राधा नाम महिमा राधा का शृंगार-मडन, कृष्ण का राधा के प्रति उत्कट प्रेम, कृष्ण का कैंकर्य, निकुज लीला, राधाकृष्ण के प्रेम मे सूक्ष्म मान और विरह, राधा का अनवद्य सौन्दर्य और उसका प्रभाव, राधाकृष्ण का रासोत्सव, राधा की नख-शिख छवि, श्री वृन्दावन धाम वर्णन, यमुना-वर्णन', आदि।

## राधा-नाम-माहात्म्य

श्री हरिवशजी के मत में राधा का नाम अतुल शक्ति-सम्पन्न है। जो कोई राधा नाम को एक बार अमृत नाम के रूप मे स्मरण कर लेता है उसके अनन्त महत् अपराधो को क्षमा करके प्रियतम मधुपति यह विचारने लगते हैं कि इस नामोच्चार के प्रतिदान मे भक्त को क्या देना चाहिए।[1]

जो सखी अनुदिन राधा नाम का उच्चारण करती है उसे इतना आनन्द प्राप्त होता है कि उसके चरणो में कोटि-कोटि सिद्धियाँ लोटती रहती हैं।[2] राधा नाम का संकीर्त्तन पराविद्या की कोटि में परिगणित किया गया है। भगवान् कृष्ण स्वय योगीन्द्रो के समान राधा की चरण ज्योति के ध्यान में लीन हो प्रेमाश्रुपूर्ण नेत्रो से कालिन्दी तट के निभृत निकुंज मन्दिर मे विराजमान हो राधा नाम का जप करते हैं। राधा-नाम के जप से भक्त, देवता और साधक सब प्रकार के बंधनों से छूटकर मुक्ति-सुख का लाभ करते हैं। राधा का नाम कोटि-कोटि मोक्ष-सुखो से बढकर आनन्द सुख की वर्षा करने वाला है।[3]

---

१. तवैकं श्रीराधे गृणत इह नामामृतरस।
महिम्नः कः सीमां स्पृशति तव दास्यैकमनसाम्॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १५४।

२. राधानामैव कार्य्यं ह्यनुदिन मिलितं साधनाधीश कोटि-
स्त्याज्यो नीराज्य राधापद कमल सुधा सत्पुमर्थाग्र कोटि.।
राधापादाब्जलीला भुवि जयति सदा मंद मंदार कोटि.।
श्रीराधा किंकरीणां लुठति चरणयोरद्भुता सिद्धि कोटि।
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १४३।

३. राधासुधानिधि—श्लोक सं० ९४-९६।

इस स्तोत्र-काव्य के अनुसार राधा अनेक प्रकार की शक्तियो से युक्त हो भक्तजन की आह्लाद-दात्री ही नही वरन् सर्वलोक-कल्याणकारिणी भी हैं। वे अपने स्वरूप में अनिद्य सुन्दरी, महामाधुरी की अनन्तधाराओ से समवेत, विदग्धता, अनुराग, प्रेम और वात्सल्य की प्रतिमूर्त्ति हैं। वे ईश्वर रूप कृष्ण की शची तथा परम सुख रूप वपुधारिणी परा और स्वतन्त्रा शक्ति हैं। वे श्याम सुन्दर की रति-प्रवाह की लहरियो की बीजरूपिणी हैं।[1]

राधा की शक्तियो की कोई सीमा नही—वे अनन्त शक्ति-समन्विता हैं। अनन्त शक्तियो की परिसीमा होने के कारण भक्तो के लिये वे ही एकमात्र गति हैं। श्रीकृष्ण भी राधा के चरण-कमल का मकरन्द पाकर अपने को शक्ति-सम्पन्न अनुभव करते हैं। राधा के चरणारविन्दो की कृपा प्राप्त हो जाने पर साधक को इस लोक और परलोक में कुछ और प्राप्य नहीं रहता।

राधासुधानिधि में राधाकृष्ण का दाम्पत्य भाव से ही वर्णन है किन्तु दम्पति की कल्पना मे भी कृष्ण का स्थान राधा से ऊपर नही है। कृष्ण भी राधा के प्रेम की आकाक्षा करते हुए उसकी चाटुकारी करते हुए वर्णित हुए हैं। श्रीकृष्ण का स्थान अनेक श्लोको में गौण ही दिखाया गया है, वे राधानुवर्ती होकर ही अपने सुख के लिए प्रयत्नशील देखे जाते हैं। कैंकर्यभाव भी उनमें वर्णित हुआ है और त्याग, बलिदान तथा उत्सर्ग तो उनके जन्मजात गुण हैं।

राधाकृष्ण के उपर्युक्त सम्बन्ध के अतिरिक्त प्रगाढ प्रेम सम्बन्ध का वर्णन अत्यधिक शृगारी पदावली में भी हुआ है। उन वर्णनो में राधा और कृष्ण पारस्परिक हाव-भाव और विलास का प्रदर्शन करते हुए रति-क्रीडा में आत्मविभोर हो रहे हैं। उन्हे अपने चारो ओर के वातावरण की भी सुधबुध शेष नही रह गई है। नित्यविहारपरक ऐसे वर्णन हैं जिनमें शृ गारिक भावना का ही प्राधान्य है।[2]

## उपास्य-तत्त्व

राधासुधानिधि में उपास्य-तत्त्व नित्यविहार-रत राधाकृष्ण का दर्शन करना है। सखी-गण का अभीष्ट यही है कि वे निकु ज-रध्रो से राधाकृष्ण की लीला का दर्शन कर सकें। इस नित्यविहार-दर्शन की आकाक्षा का वर्णन राधासुधानिधि के शताधिक श्लोको मे हुआ है। दर्शन की आकाक्षा करने वाली सखी राधा के विभिन्न रूपो की कल्पना करके उस के दर्शन की कामना करती है। सखी कहती है —

---

१ राधासुधानिधि, श्लोक—सं० ७१-७८।

२ रसघन मोहनमूर्ति विचित्रकेलि महोत्सवोल्लसितम्।
राधाचरणविलोडित रुचिरशिखड हरि वन्दे॥
राधासुधानिधि, श्लोक सं० २००।

'हे राधे ! जब तुमने अपने प्रियतम रसिक-नागर श्री लालजी के साथ सघन कुंज-भवन में आनन्द-विहार करते हुए मोद में ही सारी रात्रि जागकर व्यतीत की हो, तब प्रात.काल होने पर तुम्हे अच्छी तरह स्नान कराके में मधुर-मधुर भोजन कराऊँ और सुखद शैया पर पौढा कर अपने कोमल करों से ललित चरणो का संवाहन करूँ। मेरा ऐसा सौभाग्य कब होगा ?[1]

'हे राधिके ! किसी अभ्यन्तर कुंजभवन में आप अपने प्रियतम के साथ किसी अनिर्वचनीय रसोत्सव में सलग्न हो जिससे भूषण-ध्वनि मिश्रित आपके मधुर आलाप का स्वर सुनाई दे रहा हो और मैं आपकी एकान्त परिचारिका होकर कुंज-द्वार मे स्थित होकर उसे सुनूं। उसे सुनते ही प्रेम-विह्वल होकर रस के सरोवर मे डूब जाऊँ। हे स्वामिनि ! ऐसा कब होगा ?'[2]

## वृन्दावन-वर्णन

वृन्दावन का वाह्य रूप अपने सौंदर्यातिशय के कारण मोहक है। वृन्दावन की रज, लता-पत्र, गिरिगह्वर, नदी-नद सभी अपने रूप की थाती सँभाले नयनाभिराम प्रतीत होते हैं। किन्तु इनसे भी अधिक सुन्दर है वृन्दावन का अतरंग रूप जो भावना के द्वारा जाना जाता है। वृन्दावन धाम का वर्णन राधावल्लभ सम्प्रदाय की वाणियो में सबसे अधिक हुआ है। कही-कही तो धामी को भी धाम के अधीन मानकर धाम का महत्व बहुत बढा दिया गया है। राधासुधानिधि में भी वृन्दावन का सौंदर्य बहुत उत्कर्ष के साथ अकित हुआ है। गोलोक और वैकुण्ठ को इस धराधाम-स्थित वृन्दावन के आगे तुच्छ ठहराया है। सखी वृन्दावन की भावना करती हुई कहती है—'अद्भुत महिमा पूर्ण मधुर वृन्दावन से जिन का सग है वे भले ही क्रूर, पापी और सज्जनो के दर्शन-सम्भाषण के अयोग्य हो किन्तु वे सभी योगीन्द्र गणो के सुन्दर, दर्शनीय, सघन रसदायी और एकमात्र आनन्द की मूर्त्ति हैं। उनको वस्तुत. या—वास्तविक

---

१ उज्जागरं रसिक नागर संग रंगे
कुंजोदरे कृतवती नु मुदा रजन्याम्।
सुस्नापिता हि मधुनैव सुभोजिता त्वं
राधे कदा स्वपिषि मत्करलालिताङ्घ्रि: ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० १६।

२ कुंजान्तरे किमपि जातरसोत्सवाया:
श्रुत्वा तदालपित सिंजित मिश्रितानि।
श्रीराधिके तव रह परिचारिकाहं
द्वारस्थिता रसहृदे पतिता कदा स्याम् ॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ४७।

रूप में देखकर—उनमें मेरी परम आराध्य बुद्धि है।[1]

वृन्दावन-वास की इच्छा करती हुई सखी यही कहती है राधाकेलि-कलाओ के साक्षीभूत वृन्दावन में मैं कब निवास करने का सौभाग्य प्राप्त करूँगी। वृन्दावन की महिमा को अपने हृदय में स्फुरित होने की कामना भी वह बार-बार करती है।[2]

## राधाभक्ति और कर्मकांड

राधासुधानिधि ग्रथ में राधा-भक्ति के जिस भास्वर रूप को प्रस्तुत किया गया है उसमें बाह्याडबर या शास्त्रीय विधि-निषेध मर्यादा के लिए कोई स्थान नही है। वैष्णव-सम्प्रदायो में स्मार्त्त धर्म का पालन सामान्यत विधेय माना जाता है। जो शास्त्र प्रतिपादित कर्मकाड को निष्ठापूर्वक नही करते उन्हे वैष्णव-समाज में स्थान नही मिलता। कर्मकाण्ड की इतनी विशाल एव सुदृढ शृ खला है कि प्रत्येक भक्त कही न कही उसमें जकडकर अपनी सहज माधुर्यपूर्ण भक्ति से दूर जा पडता है। कर्मकाड एक नीरसतापूर्ण जड आचरण है, उसमें न तो माधुर्य का आनन्द है और न हृदय की सवेद्य भावधाराओ के आप्लावित होने का अवकाश ही। अत प्रेमलक्षणा भक्ति को स्वीकार करने वाले महात्मा इस जडतापूर्ण शुष्क कर्मकाड की अवहेलना करके ही अपने भक्ति-पथ पर आरूढ देखे जाते हैं। श्री हितहरिवश अपने समय के सवसे दुर्द्धर्ष वैष्णव थे जिन्होने किसी मिथ्याडवर को ग्रहण नही किया। उनकी वाणी का स्वर इस विषय में सबसे ऊँचा और सबसे अधिक स्पष्ट था। उन्होने राधासुधानिधि में कई श्लोक विधि-निषेध मर्यादा से ऊपर उठकर लिखे हैं, जिनका भाव सक्षेप मे इस प्रकार है —

'श्री गुरु (राधा) के भजन रूप पराक्रम युक्त वे कोई महाबुद्धिमान् पुरुष इस पृथ्वी पर विरले ही हैं जो न तो अपने बाहुमूल में कभी शख-चक्रादि वैष्णव चिह्न धारण करते हैं और न कभी ललाट-पटल पर विचित्र हरिमदिर (तिलक) ही रचते हैं। और न अपने

---

१ सद्योगीन्द्र सुदृश्य सान्द्र रसदानन्दैक सन्मूर्त्तय'
सर्वेप्यद्भुत सन्महिम्नि मधुरे वृन्दावने सगता।
ये क्रूरा अपि पापिनो न च सतां सभाष्य दृश्याश्चये
सर्वान्वस्तुतया निरीक्ष्य परम स्वाराध्य बुद्धिर्मम॥
—राधासुधानिधि, श्लोक स० २६४।

२ राधाकेलिकलासु साक्षिणि कदा वृन्दावने पावने,
वत्स्यामि स्फुटमुज्वलाद्भुत रसे प्रेमैक मत्ताकृति॥
तेजोरूप निकुंज एव कलयन्नेत्रावि पिंडस्थित
तावक्स्वोचित दिव्यकोमल वपु स्वीय समालोकये॥
—राधासुधानिधि, श्लोक स० २६६।

कंठ में तुलसी की माला ही धारण करते हैं।[1]

लौकिक-वैदिक क्रियाओं का सर्वथा परित्याग करने का भी राधासुधानिधि में स्पष्ट शब्दों में वर्णन है :—

रसमार्गीय रसिगण वेदोक्त कर्मकांड का अनुष्ठान करें या न करें, माला, चन्दन आदि भोगविलास के उपकरण ग्रहण करे या न करें, श्री राधाकांत के भाव मे पारंगत-मति ऐसे रसिक क्या कभी अल्पज्ञ, बहिर्मुख अथवा सकाम पुरुषों मे से किसी के साथ मिल भी सकते हैं ? क्या कभी इस प्रकार से लोगों के साथ उनका मेल खा सकता है ? नहीं।'[2]

इतना ही नहीं हरिवंशजी ने तो राधा-स्मरण के आगे श्रुतिकथा को भी बन्द करने का आदेश दिया है। कैवल्य से भी उन्हें भय प्रतीत होता है। यदि निर्गुण निराकार परमात्मा के ध्यान मे कोई शुकादि लीन है तो उन्हें रहने दो, हमें उनसे क्या प्रयोजन, हमारा मन तो केवल श्रीराधा के पद-रस में ही डूबा रहे। यही हमारी सबसे बड़ी इच्छा है।[3]

राधासुधानिधि में विधि-निषेध मर्यादा के विषय में जो श्लोक आये हैं वे यह बात सूचित करते हैं कि श्री हरिवंशजी के अतिरिक्त इतने बलपूर्वक इसका अतिक्रमण अन्य कोई महानुभाव उस काल मे नहीं कर सका था, अतः यह ग्रन्थ निश्चय ही उन्हीं का रचा हुआ है, किसी अन्य का नहीं।

## राधासुधानिधि की भाषा और शैली

राधासुधानिधि संस्कृत की कोमलकान्त पदावली मे लिखा हुआ स्तोत्र-काव्य है। समास विरल सरस पद-रचना और भावानुकूल शब्द-विधान इसकी विशेषता है। भाषा

---

१ लिखन्ति भुजमूलतो न खलु शंख चक्रादिकं
विचित्र हरिमन्दिरं न रचयन्ति भालस्थले।
लसत्तुलसिमालिकां दधति कंठपीठे न वा
गुरोर्भजन विक्रमात्म क इहते महावुद्धय.॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८१।

२. कर्माणि श्रुतिबोधितानि नितरां कुर्वन्तु कुर्वन्तु मा
गूढ़ाश्चर्य रसाः स्रगादि विषयान्गृह्णन्तु मुञ्चन्तु वा।
कैर्वा भावरहस्य पारगमति श्री राधिका प्रेयसः
किंचिज्ज्ञैरनुयुज्यता बहिरहो भ्राम्यद्भिरन्यैरपि॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८२।

३ अलं विषय वार्त्तया नरक कोटि वीभत्सया,
वृथा श्रुतिकथाश्रमो बत बिभेमि कैवल्यत।
परेश भजनोन्मदा यदि शुकादय. किं ततः
परं तु मम राधिकापदरसे मनो मज्जतु॥
—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ८३।

चित्ताकर्षक, हृदयद्रावक और चित्रात्मक है किन्तु विचारोत्तेजक नही। सुबोध, सार्थक और सरल शब्दो के प्रयोग से भाषा कृत्रिमता के भार से बच गई है। किन्तु इसकी एक त्रुटि यह है कि प्राय एक ही भाव की समान शब्दो और समान वाक्यो मे आवृत्ति हुई है। यह पुनरावृत्ति स्तोत्र-काव्यो और प्रशस्ति काव्यो का अपरिहार्य दोष है। अनुप्रास और उपमा की छटा के साथ माधुर्य और प्रसाद गुण से परिपूर्ण भाषा को साधारण सस्कृत जानने वाला भी समझ सकता है। भाषा में सहज प्रवाह और गति का उदाहरण द्रष्टव्य है :—

वृन्दारण्य निकुज मजुल गृहेष्वात्मेश्वरीं मार्गयन्
हा राधे सविदग्ध दर्शित पथ किं यासिनेत्यालपन्।
कालिन्दी सलिलेच तत्कुचतटी कस्तूरिका पकिले
स्नाय स्नायमहो कुदेहजमल जह्या कदा निर्मल ॥

—राधासुधानिधि, श्लोक स० ५६।

राधा के अग-सौष्ठव वर्णन में भाषा का मार्दव देखने योग्य है —

गौरागे म्रदिमा, स्मिते मधुरिमा, नेत्राचले द्राघिमा।
वक्षोजे गरिमा तथैव तनिमा मध्ये, गतौ मन्दिमा।
श्रोण्यां च प्रथिमा, भ्रुवोः कुटिलिमा, बिम्बाधरे शोणिमा
श्रीराधे हृदि ते रसेन जडिमा ध्यानेऽस्तु मे गोचर।

—राधासुधानिधि, श्लोक सं० ७४।

जिन श्लोको में समस्त पदावली का प्रयोग हुआ है वे भी क्लिष्ट नही है—प्रासादिकता की रक्षा करते हुए दीर्घ समासो का प्रयोग कुशल कवि ही कर पाते हैं। यमुना, निकुज और वृन्दावन के वर्णनो में भाषा में चित्रात्मकता तथा नाद-सौन्दर्य विशेष रूप से उपलब्ध होता है। उपर्युक्त वर्णनों से सम्बद्ध प्रत्येक श्लोक में सगीतात्मकता और चित्रमयता देखी जा सकती है।

राधासुधानिधि के विषय मे अग्रेज लेखको की स्पष्ट मान्यता रही है कि यह ग्रथ श्री हरिवंशजी रचित है। ग्राउस, फर्कुहर, विलसन, तथा एफ ई के आदि विद्वानो ने अपने ग्रथो में इसका उल्लेख राधावल्लभ सम्प्रदाय के अन्तर्गत किया है। ग्राउस ने तो कुछ श्लोको का अग्रेजी में अनुवाद भी किया था।[1]

## २—यमुनाष्टक

यह यमुना की वन्दना में लिखा हुआ आठ श्लोको का प्रशस्ति-काव्य है। इसमें दुरन्त मोह का भजन करने वाली कलिन्द-नन्दिनी यमुना का भजन किया गया है। यमुना की प्रशस्ति में जिन विशेषणो का प्रयोग हुआ है वे सार्थक और अर्थगर्भ हैं, उनके मर्म को समझकर ही इस काव्य का आनन्द उपलब्ध होता है। अष्टक के दूसरे श्लोक में यमुना के

---

1 Harivansa wrote in Sanskrit the Radha Sudha Nidhi which consists of 270 Couplets

Hindi Literature—F E Keay Page 77

लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं उनकी अर्थगर्भ शैली का अनुसरण करने पर राधावल्लभीय उपास्य तत्व का भी सकेत मिलता है—

रसैकसीम राधिकां पदाब्जभक्ति साधिकां
तदंगराग पिंजरप्रभाति पुंज मंजुलाम्।
स्वरोचिषाति शोभितां कृतां जनाधिगंजनां
भजे कलिन्द नन्दिनीं दुरन्त मोहभंजिनीम्॥

—यमुनाष्टक, श्लोक सं० २।

यमुना का आलंकारिक शैली से वर्णन करते हुए उसे मूर्तिमती बनाया गया है और उन समस्त उपकरणो को एकत्र किया है जो उसका शरीर निर्माण करने में समर्थ हैं। यमुना के भीतर खिले हुए कमल ही मुख है, नीलोत्पल ही नेत्र हैं, युगल चक्रवाक दम्पति ही युगल स्तन-मडल हैं, हसो की उदार गति ही यमुना की मनोहारी गति है, नदी के दोनों तट ही नितम्ब मडल हैं, इस प्रकार रूपक और उत्प्रेक्षा द्वारा समस्त रूपसौंदर्य की सृष्टि कर दी गई है—

प्रफुल्लपंकजाननां लसन्नवोत्पलेक्षणां
रथागनामयुग्मकस्तनीमुदारहसकाम्।
नितम्बचारु रोधसां हरेः प्रियारसोज्वलां
भजे कलिन्द नन्दिनीं दुरन्त मोहभंजिनीम्॥

—यमुनाष्टक, श्लोक सं० ७।

नवम श्लोक यमुनाष्टक की फलस्तुतिपरक है। अत ग्रथ का नाम अष्टक ही सार्थक है और मुख्य विषय से आठ श्लोको का ही सम्बन्ध है। यमुनाष्टक पर भी कई टीकाएँ लिखी गई हैं जिनमे चन्द्रलाल गोस्वामी और प्रियादास पटनावालो की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं।

## ३—हित चौरासी

श्री हितहरिवशजी रचित चौरासी पदो के सग्रह का नाम "हित चौरासी" है। राधावल्लभ सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ यही है। इसी ग्रथ के आधार पर परवर्ती भक्त-महात्माओ ने राधावल्लभीय तत्त्व को हृदयगम किया है। इस सम्प्रदाय में इस ग्रथ को मूलाधार मानकर सबसे अधिक सम्मान दिया जाता है। इस ग्रन्थ के चौरासी पदो में हरिवंशजी ने व्रजभाषा का समस्त माधुर्य उँड़ेल दिया है।

इस ग्रंथ की हस्तलिखित प्राचीन प्रति सत्रहवीं शती की मिलती है। चौरासी शब्द के कारण प्रारम्भ में कुछ लोगो की ग्रथ को बिना देखे ऐसी धारणा रही कि यह ग्रथ चौरासी भक्तो का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। किन्तु भक्तो के चरित्र-वर्णन से इसका प्रत्यक्ष या परोक्ष कोई सम्बन्ध नही है। यह तो शुद्ध रसपद्धति से लिखा गया मुक्तक पदो का सकलन है जिसे राधा-भावपरक प्रेमलक्षणा-भक्ति का ग्रथ ही कहा जाना चाहिए। चौरासी योनियो में चक्कर काटनेवाले प्राणी को मुक्त करने के लिए चौरासी पदो का सकलन किया गया ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं।

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्ट में इसका नाम "हरिवंश चौरासी" अन्य नाम "हित चौरासी धनी" भी दिया है और इसे चौरासी भक्तों की कथा का वर्णन करने वाला बताया है। यह उल्लेख खोज-रिपोर्ट में दो स्थलो पर हुआ है।[1] किन्तु अद्यावधि राधावल्लभ सम्प्रदाय के किसी ग्रंथ में या किसी प्राचीन हस्तलिखित वाणी में कही ऐसा उल्लेख उपलब्ध नही हुआ कि श्री हरिवंशजी ने "हित चौरासी धनी" नाम से कोई भक्त-चरित्र लिखा था। सम्भव है कि किसी महानुभाव ने ग्रंथ का अवलोकन किये बिना यह सूचना दी हो या इस नाम से कोई जाली ग्रंथ रच कर हितहरिवंशजी के नाम से ख्यात किया हो। कुछ भी हो, यह सब मिथ्या और निर्मूल है अत. "हित चौरासी" को भक्त-कथा न समझकर मुक्तक पद शैली से लिखा हुआ रसमार्गीय ग्रंथ ही समझना चाहिए।

खोज-रिपोर्टों में हितहरिवंशजी रचित "हित चौरासी" की अनेक हस्तलिखित प्रतियो के उपलब्ध होने की सूचना है जो पहले मृपावाद का स्वयं खंडन कर देती है।[2] लेखक ने स्वयं वृन्दावन में तीन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं जो तीन सौ वर्ष प्राचीन हैं और अपने स्वरूप, आकार-प्रकार, वर्ण-विन्यास, कागज़ आदि के बाह्याकार से ही पुरानी प्रतीत होती हैं।

साम्प्रदायिक विद्वेष-भावना के कारण कुछ लोगो ने हित चौरासी को सूरदास की रचना सिद्ध करने का भी प्रयास किया है जिसे समस्त ऐतिह्य की अवहेलना करने वाला मिथ्या प्रयास ही समझना चाहिए। सरस्वती पत्रिका में पटना-निवासी एक गोस्वामी महोदय ने कल्पित नाम से "हित चौरासी और सूरदास" शीर्षक लेख लिखकर पाँच पदो का ज्यो का त्यो सूर-सागर ( वेंकटेश्वर प्रेस वाली प्रति ) से उद्धृत करके यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि उनके रचयिता सूरदासजी थे। अपने पक्ष में युक्ति देते हुए लिखा कि हितहरिवंशजी की मातृभाषा या बोलचाल की भाषा ब्रज नही थी। वे देववन्द ( सहारनपुर ) के रहने वाले थे। परिपक्व आयु में वृन्दावन आकर इतनी प्रांजल भाषा लिखना उनके लिए सुगम न था। अत हित-चौरासी के पद सूरदास प्रणीत हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय वालो ने जबरदस्ती उन्हे अपना कर हित-चौरासी नाम दे दिया है। किन्तु उन्होने न तो ऐतिहासिक प्रमाणो की छानबीन

---

१ हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण—प्रथम भाग, सम्पादक—डा० श्यामसुन्दरदास। काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पृष्ठ ८४-१२०।

२ संख्या १५५ बी—चौरासी पद, रचयिता हितहरिवंश स्वामी वृन्दावन, पत्र ३०, आकार ८ ५ इंच। पंक्ति प्रति पृष्ठ १६। परिमाण-अनुष्टुप ४२९। रूप-प्राचीन, लिपि-नागरी, प्राप्ति-स्थान चौबे श्रीकृष्णजी। स्थान पिनाहट, जिला आगरा।
संख्या—९५५ सी चौरासी पदी, रचयिता हरिवंश, पत्र ३३, आकार=८×६ इंच, पंक्ति प्रति पृष्ठ १५, परिमाण-अनुष्टुप ५२८, रूप-प्राचीन, लिपि-नागरी, प्राप्तिस्थान-पं० वासुदेव सहाय, फतहपुर सीकरी, जिला आगरा।
हस्तलिखित हिन्दी ग्रन्थों का चौदहवा त्रैवार्षिक विवरण, सम्पादक-स्व० डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल।

की चेष्टा की और न किसी परम्परा का अनुसधान किया। साम्प्रदायिक तथा साहित्यिक दोनो परम्पराओ में हितहरिवंश रचित "हित चौरासी" ग्रथ हितजी के समय से ही प्रसिद्ध हुआ चला आ रहा है। इस ग्रन्थ को उपजीव्य मानकर सेवकजी, व्यासजी, ध्रुवदासजी ने इसके सिद्धान्तो का भाष्य, टीका, वृत्ति आदि लिखी थी। यदि चौरासी के पद उस समय से ही प्रसिद्ध न होते तो इन महानुभावो को उसके अनुगमन का आश्रय कैसे मिलता।

एक और प्रबल तर्क यह है कि 'हित चौरासी' नाम सख्या से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखता है। अर्थात् यह चौरासी पदो का ही सग्रह हो सकता है। सूरदास के पदो की संख्या अद्यावधि निश्चित नही है। यदि ये पाँच या छह पद चौरासी के न होकर सूरदास के माने जायें तो ग्रथ के नाम की सार्थकता नही रहती। अतः हित चौरासी मे जो पद सकलित हैं वे तो प्रारम्भ से इसी रूप मे चले आ रहे हैं। पक्षपात या प्रमादवश लिपिकारो ने इन पदो को सूर की रचनाओ में 'छाप-परिवर्तन' करके समाविष्ट कर दिया है। यथार्थ मे वे हित-हरिवशजी की ही रचना है। हम इसी अध्याय में उन छह पदो को हित चौरासी और सूरसागर दोनो से अविकल रूप मे, उद्धृत करके उनके साम्य-वैषम्य की सक्षिप्त विवेचना करेंगे।

## हित चौरासी का प्रतिपाद्य

हित चौरासी एक मुक्तक पद-रचना है जिसमें भाववस्तु का कोई व्यक्त कोटि-क्रम नही है। समय-प्रबन्ध की दृष्टि से कुछ महानुभावो ने कालक्रम निर्धारित करने की चेष्टा की है जो अनिवार्य रूप से मान्य नही कही जा सकती। श्री रूपलाल गोस्वामी ने हित-चौरासी के पदो को समय-प्रबन्ध मे इस प्रकार वर्गीकृत किया है—

१—सुरतान्त समय अर्थात् मंगला के १६ पद
२—शैया समय के १६ पद
३—रास के १७ पद
४—वन विहार के ३ पद
५—स्नान शृङ्गार के ४ पद
६—राजभोग (शैयाविहार) के २ पद
७—वसत वर्णन के २ पद
८—होरी वर्णन के २ पद
९—फूल डोल-झूलन का १ पद
१०—मलार के ४ पद
११—संभ्रम-मान के १३ पद
कुल योग=८४

इस वर्गीकरण की एक त्रुटि तो वहुत ही स्पष्ट है कि कुछ ऐसे पद हैं जिन्हे किसी एक वर्ग में सर्वतोभावेन समाविष्ट नही किया जा सकता। उनकी भावना इतनी सश्लिष्ट है कि न तो हम उसे सुरतान्त कह सकते हैं, न वन-विहार और न रास। उदाहरणार्थ एक पद नीचे दिया जाता है—

वन की कुंजनि कुंजनि डोलनि ।
निकसत निपट साकरी वीथिनि परसत नाहि निचोलिनि ॥
प्रातकाल रजनी सब जागे सूचत सुख दृग लोलनि ।
आलसवन्त अरुण अति व्याकुल कछु उपजति गति गोलनि ॥
निर्तनि भ्रकुटि वदन अम्बुज मृदु सरस हास मधु बोलनि ।
अति आसक्त लाल अलि लपट वस कीने विनु मोलनि ॥
विलुलित शिथिल श्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि ।
रति विपरित चुम्बन परिरम्भन चिबुक चारु टच टोलनि ॥
कबहुँ श्रमित किसलय सिज्या पर मुख अचल भक भोलनि ।
दिन हरिवस दासि हिय सींचत वारिध केलि कपोलनि ॥

—हित चौरासी, पद स० ३४

इस पद में वन-विहार एव सुरतान्त छवि दोनो का वर्णन स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसी प्रकार और भी कई पद ऐसे हैं जो सश्लिष्ट भावो मे ओतप्रोत होने के कारण ऐकान्तिक रूप से वर्गीकृत नही हो सकते। फिर भी सुविधा के लिए उपर्युक्त वर्गीकरण यहाँ उद्धृत कर दिया गया है।

हित-चौरासी का वर्ण्य विषय मुख्य रूप से अन्तरग भावना से सम्बन्ध रखता है। शृङ्गार रस की पृष्ठभूमि पर उन विषयो को इन पदो में हितहरिवशजी ने प्रस्तुत किया है जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के मेरुदड हैं। अर्थात् राधाकृष्ण का अनन्य प्रेम, नित्यविहार, रासलीला, भक्ति-भावना, प्रेम मे मान-विरह की स्थिति, राधावल्लभ का यथार्थ स्वरूप, नित्यविहार के चतुर्व्यूहात्मक अवयवो का वर्णन आदि ही इस ग्रथ का प्रमुख प्रतिपाद्य है। हम प्रमुख विषयो के स्पष्टीकरण के लिये सोदाहरण उन पर विचार-विमर्श प्रस्तुत करते हैं।

## प्रेम-सिद्धान्त और तत्सुखीभाव

हित-चौरासी का प्रथम पद राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाला सैद्धान्तिक पद है। इसमें एक ओर तत्सुखी भाव की स्थापना है तो दूसरी ओर जलतरग के समान अद्वैतभाव से साथ रहने वाले प्रिया प्रियतम के प्रगाढ और अविच्छेद्य प्रेम का सकेत है।

जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै,
भावै मोई जोई, सोई-सोई करै प्यारे ॥
मोकौ तौं भावती ठौर प्यारे के नैननि में,
प्यारो भयो चाहै मेरे नैननि के तारे ॥
मेरे तन मन प्रानहू ते प्रीतम प्रिय,
अपने कोटिक प्रान प्रीतम मोसौं हारे ॥
हितहरिवश हंस-हसिनी सांवल गौर,
कहो कौन करै जल तरगनि न्यारे ॥ —हित चौरासी, पद सं० १ ।

इस पद में अद्वयभाव की सृष्टि के लिए प्रिया-प्रियतम का एक दूसरे मे लीन होने का वर्णन है। इस अद्वैतभाव को ही कुछ विद्वानो ने सिद्धाद्वैत कहकर दार्शनिक रूप देने की चेष्टा की थी। तत्सुख सुखित्व भाव के लिए प्रिया-प्रियतम अपने प्राण एक दूसरे पर न्योछावर करने को उद्यत हैं, दोनो मे से किसी के भी भीतर स्वसुख-कामना का लेश नही है।

प्रेम-सिद्धान्त की स्थापना में हितहरिवंशजी ने किसी लौकिक-वैदिक मर्यादा का आश्रय नही लिया है। उनका प्रेम नैसर्गिक रूप से जिस दिशा मे प्रवाहित होता है उसे लोक या शास्त्र की सीमाएँ बाँध नही सकती।

**प्रीति न काहू की कानि विचारै।**
**मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै॥**
**ज्यों सरिता सावन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारै॥**
**ज्यों नादहि मन दिये कुंरगनि प्रकट पारधी मारै॥**
**हितहरिवंश हिलग सारंग ज्यों शलभ शरीरहि जारै॥**
**नाइक निपुन नवल मोहन विनु कौन अपनपौ हारै॥**

**—हित चौरासी, पद सं० ४२।**

सच्चे और निरवद्य प्रेम की पहचान यही है कि प्रेमी के हृदय में जब अपने आराध्य के प्रति दृढ आसक्ति उदय होती है तव उसे उचित-अनुचित का विचार-विवेक नही रहता। अपने प्रेमास्पद के लिए प्रेमपरवश हो जो कुछ भी करता है, ठीक ही करता है। लोक, वेद, शास्त्र सब मर्यादाएँ उसके लिए प्रेमी के आगे तुच्छ और हेय प्रतीत होती हैं। गोपियो के प्रेम का वर्णन इसी कोटि मे आता है। वे श्याम की मुरली-ध्वनि सुनकर सब प्रकार की मर्यादाओ का उल्लंघन कर भाग खडी हुईं; 'सुधिबुधि सब मुरली हरी प्रेम ठगौरी लाय।' इसी प्रेम को माधुर्य भक्ति का प्राण माना गया है।

प्रेम-राज्य में मान-सम्मान, पद-मर्यादा, छोटा-बडा, धनी-निर्धन किसी प्रकार का भेदभाव नही रहता। सकल लोक चूडामणि श्रीकृष्ण प्रेम के राज्य में प्रविष्ट होते ही अपने अस्तित्व को अकिंचन जैसो मानते हैं। प्रेम में दैन्य और कार्पण्य ही शोभा देता है। इस प्रम की महिमा वताते हुए कहा है—

**प्रीति की रीति रंगीलोई जानै।**
**जद्यपि सकल लोक चूड़ामणि दीन अपनपौ मानै॥**
**जमुना पुलिन निकुंज भवन में मान मानिनी ठानै।**
**निपट नवीन कोटि कामिनि कुल धीरज मनहिं न आनै॥**
**नस्वर नेह चपल मधुकर ज्यों आन आन सौं बानै।**
**हितहरिवंश चतुर सोई लालहिं छाड़ि मेंड पहिचानै॥**

**—हित चौरासी, पद सं० ४१।**

इस पद में रगीले श्याम को प्रीति का पारखी तत्त्ववेत्ता ठहराया गया है किन्तु अन्तिम चरण में 'चतुर सोई लालहि छाडि मेंड पहिचानै' कहकर प्रेम की स्थिति को ऊपर उठाने वाला सिद्धान्त झलक रहा है। इस चरण में स्पष्ट सकेत है कि हितहरिवशजी के मत में

'उपास्य तत्त्व केवल परात्पर प्रेम तत्त्व' ही है। प्रिया प्रियतम (राधाकृष्ण) इसी प्रेमोपासना के अन्तर्गत रहते हैं इसलिए 'मेंड पहिचानना' अर्थात् प्रेम की यथार्थ मर्यादा को समझने वाला ही प्रेमी हो सकता है। कृष्ण को प्रेम करने मात्र से प्रेम की प्राप्ति नही होती वरन् उससे भी आगे प्रेम को समझना अनिवार्य है, यही प्रच्छन्न भाव इस पद मे तात्विक शैली से रखा गया है।

## नित्यविहार-वर्णन

नित्यविहार का वर्णन करने वाले आचार्यो मे श्री हरिवंशजी का स्थान मूर्धन्य पर है। आपने ही सबसे पहले नित्यविहार की सैद्धान्तिक रूप से स्थापना की और उसे अपने पदो में गेय बनाकर प्रस्तुत किया। ब्रजलीला गान करने वाले सूरदास आदि कवियो ने जब निकुंज लीला की ओर कदम बढाया तो उन्हे प्रकाश-स्तम्भ की भाँति हितहरिवंशजी की नित्यविहार-पद्धति से मार्ग-प्रदर्शन मिला। नित्यविहार की सैद्धान्तिक मीमासा हम पचम अध्याय में विस्तार से कर चुके हैं प्रकृत प्रकरण में केवल यह दिखाना हमें अभीष्ट है कि हित-चौरासी में किस प्रकार नित्यविहार को स्थान मिला है।

नित्यविहार के वर्णन शृंगार-रस की शैली से ही प्रस्तुत होते हैं। लौकिक शृंगार में जिस प्रकार प्रिया-प्रियतम एक दूसरे के प्रेमपाश मे आबद्ध होकर रतिक्रीडा आदि करते हैं और अन्त में सुरत-प्रसग आदि काम-भोग में उनकी रति का पर्यवसान होता है ऐसे ही राधा और कृष्ण के नित्यविहार में दाम्पत्य भाव से प्रगाढ प्रेम का वर्णन होता है। यह प्रेम, काम की समस्त चेष्टाओ से परिपूर्ण होने पर भी लौकिक काम-वासनामय नही माना जाता क्योकि अन्तरग भावना में इसका पक्ष आध्यात्मिक ही स्वीकार किया जाता है। जो पद नित्यविहार सम्बन्धी हित-चौरासी मे या अन्य महानुभावो की वाणियो में मिलते हैं, उनका शाब्दिक धरातल लौकिक दृष्टि से शृंगारमय ही प्रतीत होगा, किन्तु भावना के उदात्तीकरण द्वारा ही उनका आध्यात्मिक रूप अन्तर्नेत्रो के सम्मुख आ सकता है। नित्यविहार के अनेक पद हित-चौरासी में हैं—

**प्रात समैं दोऊ रस लम्पट सुरत जुद्ध जय जुत अति फूल।
श्रम वारिज घन विन्दु वदन पर भूषण अँगहि अग विकूल॥
कछु रह्यौ तिलक, शिथिल अलकावलि बदन कमल मानो अति मूल।
हित हरिवंश मदन रग रगि रहे नैन वैन कटि, शिथिल दुकूल॥
—हित चौरासी, पद सं० ३।**

**निकुंज-लीला के सभ्रम और सूक्ष्म मान-विरह को चित्रित करने वाला सुन्दर पद द्रष्टव्य है :—**

**आजु निकुंज मंज में खेलत नवलकिशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परसपर सुनि अभूत भूतल पर जोरी॥
विद्रुप फटिक विविध निर्मित घर नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी॥**

मिथुन हास परिहास परायन पीक कपोल कमल पर झोरी ।
गौर श्याम भुज कलह मनोहर नीवी बधन मोचत डोरी ॥
हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानयुत भोरी ।
चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत पिय प्रतिबिम्ब जनाय निहोरी ॥
नेति नेति वचनामृत सुनि सुनि ललितादिक देखत दुरि चोरी ।
हित हरिवंश करत करधूनन प्रणयकोप मालावलि तोरी ॥

हित चौरासी, पद स० ७ ।

इस पद मे सूक्ष्म मान का वर्णन है—रति-क्रीडा-परायण मिथुन, मनोहर भुज-बधन मे आबद्ध हुए थे कि सहसा राधा की दृष्टि प्रियतम के हृदय-मुकुर पर चली गई और उसमे अपना ही प्रतिबिम्ब देखकर उन्हे भ्रम हुआ कि कृष्ण के हृदय में तो कोई और सुन्दरी घर किये हुए है। बस इसी भ्रमवश वे मानवती हो गई। तब कृष्ण ने उनके चिबुक को स्पर्श करके प्रेमपूर्वक वस्तुस्थिति का बोध कराया। ललिता आदि सखियाँ इस विहार रस को निकुंज-रध्रो से देखकर अपना जीवन सार्थक कर रही हैं ।

## राधा का रूप-चित्रण

रूप-सौन्दर्य-चित्रण की दृष्टि से हित-चौरासी के पद भक्तिकालीन कवियो में श्रेष्ठतम कहे जा सकते हैं। यद्यपि नखशिख-वर्णन भक्ति-काव्य का प्रतिपाद्य विषय नही है फिर भी उपास्य का विग्रह मूर्तिमन्त करने के लिए आनुषगिक रूप से नखशिख-वर्णन का प्रसग भक्ति-काव्य में आ ही जाता है। सूरदास ने तो राधा और कृष्ण दोनो का सागोपाग रूप-चित्रण किया है तथा नखशिख की शास्त्रीय परिपाटी का भी निर्वाह कर दिखाया है। हितहरिवशजी की रचना बहुत सीमित है अत. ब्यौरेवार चित्रण का इसमे न्यून ही अवकाश है फिर भी थोडे शब्दो में अति सशक्त, व्यापक और सर्वांगपूर्ण चित्रण देखकर आश्चर्य होता है। नखशिख का आभास देता हुआ राधाकृष्ण का सुन्दर रूप निम्नलिखित पद में प्रस्फुटित हो रहा है—

व्रजनवतरुणि कदम्ब, मुकुटमणि श्यामा आजु बनी ।
नखशिख लो अंग-अंग माधुरी मोहे श्याम धनी ॥
यो राजत कवरी गूंथित कच, कनक कज वदनी ।
चिकुर चंद्रकनि बीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी ॥
सौभग रस शिर श्रवत पनारी, पिय सीमन्त ठनी ।
भृकुटि काम कोदंड, नैन रस, कज्जल रेख अनी ॥
तरल तिलक, तांटंक गंड पर, नासा जलज मनी ।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव प्रीतम मन शमनी ॥
चिबुक मध्य अति चारु सहज सखि सावल विन्दु कनी ।
प्रीतम प्राण रतन संपुट कुच कंचुकि कसवि तनी ॥
भुज मृनाल बल हरत वलय जुत परस सरस श्रवनी ।
श्याम शीश तरुमनी मिडवारी रची रुचिर रवनी ॥

नाभि गभीर, मीन मोहन मन खेलन कौं ह्रदनी।
कृश कटि, पशु नितम्ब किंकिणि व्रत, कदली खभ जघनी ॥
पद अम्बुज जावक जुत, भूषन प्रीतम उर अवनी।
नव-नव भाय विलोभि भाम इभ विहरत वर करनी ॥
हित हरिवश प्रशंसित श्यामा कीरत विशद घनी।
गावत श्रवनन सुनत सुखाकर विश्व दुरित दमनी ॥
—हित चौरासी, पद स० २६।

उपर्युक्त पद का नखशिख-वर्णन यद्यपि रूढ शैली का है किन्तु उसकी दो विशेषताएँ द्रष्टव्य हैं, प्रथम तो सक्षेप में एक ही उपमान के द्वारा उपमेय को चमत्कृत किया गया है, दूसरे शिखा अर्थात् कवरी से प्रारम्भ करके नख अर्थात् जावकयुक्त चरणो तक समस्त अगो को इस पद में हितहरिवशजी ने समेटा है। इतना सक्षिप्त किन्तु सर्वांगपूर्ण, सार-युत नख-शिख वर्णन बहुत कम कवियो की लेखनी से नि सृत हुआ है।

इसी प्रकार का दूसरा चित्र है जिसमे राधा का शृ गार-प्रसाधन सहित वर्णन किया है —

आवति श्री वृषभानु दुलारी।
रूपराशि अति चतुर शिरोमणि अग अग सुकुमारी ॥
प्रथम उवटि, मज्जन करि, सज्जित नील वरन तन सारी।
गु थित अलक तिलक कृत सुन्दर, सेंदुर मांग संवारी ॥
मृगज समान नैन अजन जुत रुचिर रेख अनुसारी।
जटिल लवग ललित नासापर, दसनावली कृतकारी ॥
श्रीफल उरज, कसूभी कचुभी कसि ऊपर हार छवि न्यारी।
कृश कटि, उदर गभीर नाभि पुट, जघन नितम्बनि भारी ॥
मनौं मृनाल भूषन भूषित भुज श्याम अस पर डारी।
हितहरिवश जुगल करनी गज विहरत वन पिय प्यारी ॥
—हित चौरासी, पद सं० ४५।

इस पद मे रूप-वर्णन से पहले सौंदर्य और प्रसाधन के साथ स्यान, उवटन, वस्त्र-धारण आदि का वर्णन किया गया है। उसके बाद क्रमश अगो की शोभा का आलकारिक पद्धति से वर्णन है। यद्यपि इसमें न तो कोई नूतन उपमान है और न कोई वचन-वक्रता ही किन्तु समूचे पद में सौन्दर्य की छटा अवश्य प्रतिच्छायित हो रही है। मृगछौने के समान नेत्र और मृणाल-दड के समान भुजाओ का वर्णन परम्पराभुक्त होने पर भी उक्त पद में नवीन सौंदर्य की सृष्टि कर रहा है।

रूप-सौन्दर्य चित्रित करने वाले लगभग एक दर्जन पद हित चौरासी में हैं जिनमें नखशिख का कही सम्पूर्ण रूप से और कही कोई विशेष अग उभार के साथ वर्णित हुआ है।

रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये, मृगज लोचन, उवटि अग शिर खोरी।

गड पंडीर मडित, चिकुर चन्द्रिका मेदिनी, कवरि गूँथित सुरंग डोरी ।
श्रवन ताटंक कै चिवुक पर विन्दु दै, कसूंभि कंचुकि दुरै उरज फल कोरी ।
वलय कंकन दौति, नखन जावक जोति, उदर गुनरेख, घट नील कटि थोरी ।
सुभग जघनस्थली क्वणित किंकिनि भली, कोक संगीत रस सिंधु झकझोरी ।
विविध लीला रचित, रहसि हरिवंश हित, रसिक सिरमौर राधारमन जोरी ।।
भृकुटि निर्जित मदन, मंद सस्मित वदन, किये रस विवस घनस्याम पिय गोरी ।।

—हित चौरासी, पद सख्या ६७ ।

रूप-चित्रण में नेत्रो का वर्णन हित चौरासी मे सवसे अधिक हुआ है। नेत्रो का सौन्दर्य, प्रभाव, मोहकता, आकर्षण आदि विविध भावों को नेत्र-सम्वन्धी पदो मे व्यक्त किया गया है। हम नेत्र-सम्बन्धी समस्त पदो को उद्धृत न करके केवल दो-तीन पदो के सौदर्य की ओर रसिको का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं :—

खंजन, मीन, मृगज, मद मेटत कहा कहौं नैनन की वातें ।
सुनि सुन्दरी कहा लौं सिखई मोहन वसीकरन की घातें ।।
वंक, निशंक, चपल, अनियारे, अरुण श्याम सित रचे कहाते ।
डरत न हरत परायौ सर्वसु मृदु मधु मिव मादिक दृग पाते ।।
नेक प्रसन्न दृष्टि पूरण करि नहिं मो तन चितयौं प्रमदा तें ।
हित हरिवंश हंस कल गामिनि भावै सौ करहु प्रेम के नाते ।।

—हित चौरासी, पद सं० ७३ ।

राधा के नेत्र समस्त उपमानो को तिरस्कृत करने वाले हैं—खजन, मीन, मृगछौना सवका नेत्र-विषयक सौंदर्य-मद राधा के नेत्र चूर-चूर कर देते हैं। मोहन-वशीकरण की विद्या में राधा के नेत्र प्रवीण हैं। नेत्र-सौन्दर्य के लिए जो विशेषण प्रस्तुत किये गये हैं उनकी सार्थकता सराहनीय है—वक, तिरछे, निडर, चचल और नुकीले नेत्र तीनो वर्णो से (अरुण, स्याम, सित ) संयुक्त हैं। दूसरो का सर्वस्व (मन)-हरण करने मे इन नेत्रो को तनिक भी भय नही लगता—मीठी मादक चोट करके केवल दृष्टिपात से ही सवको मुग्ध कर लेते हैं। ऐसे आकर्षक नेत्रो की एक नजर के लिए श्रीकृष्ण भी लालायित हो उठे हैं और एक दृष्टि का वरदान मांगते है। परवर्ती कवियो ने इस पद के भाव को कई रूपो मे अपने काव्य में स्थान दिया है।

कहा कहौं इन नेननि की वात ।
ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात ।।
जव जव रुकत पलक सम्पुट लट अति आतुर अकुलात ।
लम्पट लव निमेष अन्तरते अलप कलप सत सात ।।
श्रुति पर कंज, दृगजन कुच विच मृग मद ह्वै न समात ।
हितहरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सावल गात ।।

—हित चौरासी, पद सं० ६० ।

उपर्युक्त पद मे श्रीकृष्ण के रूप-रसपान-लोभी नेत्रो का वर्णन है। श्रीकृष्ण के नेत्र-

रूपी भ्रमर राधा के मुख-कमल के रस मे अटक कर अन्यत्र कही जाना ही नही चाहते। जब कभी पलक-सम्पुट में अलक-लट के बीच में आ जाने से अन्तराय होता है तभी व्याकुल हो जाते हैं। एक पल का अदर्शन इन्हे शत कल्प के समान प्रतीत होता है। श्रीकृष्ण के नेत्र राधा के कानो मे कमल, आँखो में अजन, कुचो में मृगमद बनकर भी शान्ति नही पाते। अर्थात् उनमें रूप और प्रेम की तृषा निरन्तर बढती रहती है। इसलिए श्रीकृष्ण के नेत्र राधा की नाभि-सरोवर की मीन बनने की कामना करते है ताकि निरन्तर वही रहने का सौभाग्य प्राप्त हो सके।

**नैननि पर वारौं कोटिक खजन।**
**चचल चपल अरुण अनियारे अग्रभाग बन्यौ अजन ॥**
**रुचिर मनोहर वक्र विलोकनि सुरत समर दल गजन।**
**हितहरिवश कहत न बनै छवि सुख समुद्र मनरजन ॥**
**—हित चौरासी, पद सं० २२।**

हे राधे ! तुम्हारे सुन्दर नेत्रो पर मैं कोटि-कोटि खजन पक्षियो को न्यौछावर करता हूँ। तुम्हारे ये नेत्र सुन्दर चचल, चपल, अरुण और अनियारे (कोरदार-तीव्र पैने) हैं। उनके अग्रभाग में अजन लगा हुआ है। इन नयनो का रुचिर, मनोहर एव कटाक्षपूर्ण अवलोकन ही सुरत-युद्ध में विपक्षी दल का मथन करने वाला है। अर्थात् इन नेत्रो की एक चितवन से ही प्रतिपक्षी परास्त होकर तुम्हारे रूप पर रीझ कर रह जायगा।

## रास-वर्णन

हितहरिवश जी ने चौरासी में रास-विषयक १७ पद लिखे है जिनमे भावना-परक रास का वर्णन है। भागवत पुराण में जिस रास का वर्णन 'रास-पचाध्यायी' के अन्तर्गत हुआ है वैसा विवरणात्मक रास चित्रण यहाँ नही है। कृष्ण का मुरली बजाना और गोपियो का मुग्ध होकर उनके पास शरद-यामिनी में घरबार छोड कर आना किसी आख्यानात्मक शैली से कही नही आया है। यहाँ रास नित्यविहार की ही एक स्थिति है। राधा और कृष्ण अपने विनोद के लिए यमुना-पुलिन पर रास रचते है और वहाँ कृष्ण मुरली बजाते है, युवतियाँ नृत्य करती है और राधाकृष्ण का सम्मोहक, मिलन होते-होते लीला समाप्त होती है। रास प्रारम्भ होने से पूर्व एक सखी राधिका के पास आकर उसे सूचना देती है कि हे राधे ! तेरे लिए कलिन्दजा के किनारे कृष्ण ने रास रचा है—

**चलहि राधिके सुजान, तेरे हित सुख निधान**
**रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नन्दिनी।**
**निर्तत युवती समूह रागरग अति कुतूह**
**बाजत रसमूल मुरलिका अनन्दिनी ॥**
**बशीवट निकट जहा परम रमनि भूमि तहा**
**सकल सुखद मलय बहै वायु मन्दिनी।**
**जाती ईषद विकास, कानन अतिशय सुवास**
**राका निशि शरद मास विमल चन्दिनी ॥**

नरवाहन प्रभु निहार लोचन भरि घोष नारि
नखशिख सौन्दर्य काम दुख निकन्दिनी ।।
विलसहिं भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुख सिन्धु झेलि
नव निकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी ।।
—हित चौरासी, पद सं० १२।

श्याम सँग राधिका रास मंडल बनी।
बीच नंदलाल व्रजबाल चंपक बरन,
ज्यौंव घन तडित बिच कनक मर्कत मनी ।।
लेत गति मान तत्त थेइ हस्तक भेद
'सरिगमपधनि' ये सप्त सुर नन्दिनी ।।
निर्त्य रस पहिर पट नील प्रकटित छवी
वदन जनु जलद में मकर की चन्दिनी ।।
राग रागिनि तान मान संगीत मत
थकित राकेश नव शरद की जामिनी ।।
हित हरिवंश प्रभु हस कटि केहरी
दूर कृत मदन मदमत्त गजगामिनी ।।
—हित चौरासी, पद सं० ७१।

## हित चौरासी की टीकाएँ

'हित चौरासी' की ब्रजभाषा गद्य और पद्य दोनो मे अनेक टीकाएँ उपलब्ध हैं। अभी तक अन्तिम रूप से टीकाओ की सख्या निश्चित नही की जा सकी हैं। दो-तीन व्रजभाषा गद्य की ऐसी हस्तलिखित टीकाए प्राप्त हैं जिनके प्रारम्भ और अन्त के पृष्ठ फट जाने से लेखक का नाम भी विदित नही हो सका है। जिन सज्जनो के पास ये टीकाएँ विद्यमान हैं उनमें से अधिकाश सज्जन उन्हे इतना सँभाल कर रखना चाहते हैं कि किसी जिज्ञासु पाठक को पढने का अवसर देना तो दूर दिखाना भी नही चाहते। कभी-कभी बाह्याकार, लेखक-नाम तथा प्रतिकाल का सवत् मात्र देखने दिया है। प्रेमदासजी कृत टीका को आद्योपान्त पढने का सौभाग्य लेखक को एक कृपालु सज्जन की उदारता से प्राप्त हुआ। उस टीका में स्थान-स्थान पर सस्कृत के उद्धरण तथा गूढार्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न देखकर कहना न होगा कि प्रेमदासजी से पहले अवश्य ही चौरासी की विशद टीकाएँ लिखी जा चुकी थी।

वृन्दावन में ऐसी जनश्रुति है कि हित चौरासी पर अभी तक दो दर्जन के ऊपर टीकाएँ तैयार हो चुकी हैं। यदि यह जनश्रुति किसी सत्य पर निर्भर करती है तो अनुसधान के लिए पर्याप्त क्षेत्र है। इन पक्तियो के लेखक को तो प्रत्यक्ष रूप से चार टीकाएँ ही देखने का अवसर मिला है। शेष टीकाओ के नाम या तो उसने साधु-महात्माओ अथवा गोस्वामियो से सुने हैं या इधर-उधर राधावल्लभीय प्रकाशित पुस्तको में पढे हैं। कुछ टीकाओ का अधिकृत रूप

से पता हमें गोस्वामी महानुभावो से चला किन्तु उन सबको देखने-पढने का सौभाग्य नही मिला। लोकनाथजी की टीका भी हमने देखी है। गोस्वामी कृपालालजी ने चतुरासी की एक टीका सस्कृत में लिखी थी इसका काल १८२० सवत् 'साहित्य रत्नावली' मे दिया है। टीका हमारे देखने में नही आई। उपलब्ध या प्रख्यात टीकाओ का विवरण इस प्रकार है :—

| | | |
|---|---|---|
| १—गो० व्रजभूषणलाल | केलिदीपिनी टीका व्रजभाषा | स० |
| २—श्री रसिकलाल | चौरासी पद रहस्य-व्रजभाषा | स० १७३४ |
| ३—गो० सुखलालजी | व्रजभाषा टीका | स० १७६५ |
| ४—श्री प्रेमदासजी | ,, ,, | स० १७६१ |
| ५—श्री हित धरनीधरदास | ,, ,, | स० १७४६ |
| ६—श्री लोकनाथजी | व्रजभाषा पद्य-गद्य | प्रतिकाल स० १८३७ |
| ७—श्री केलिदासजी | ,, गद्य | १८ वी शती |
| ८—श्री गो० चन्दलाल | व्रजभाषा | अप्राप्त |
| ९—श्री गो० मनोहरवल्लभ | ,, | स० १९५३ |
| १०—श्री रतनदासजी | ,, | स० १८५६ |
| ११—रानी कमलकुवरि (हितदासी) | ,, | १८ वी शती |
| १२—श्री वृन्दावनदासजी | ,, | १८ वी शती |
| १३—श्री गो० कृपालालजी | सस्कृत टीका | १८२० सवत् |
| १४—श्री लाडिलीदासजी | व्रजभाषा | १९ वी शती |
| १५—अज्ञात लेखको की | ,, | २ टीकाएँ प्राप्त हैं। |

हित-चौरासी पर सत्रहवी शती के प्रारम्भ से ही टीकाएँ लिखी जा रही हैं। सबसे पहले किसने टीका लिखी यह निर्णय करना तो कठिन है किन्तु यदि टीका शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाय तो चौरासी का मर्मोद्घाटन सर्वप्रथम श्रीसेवकजी ने किया यह मानना होगा। उसके बाद श्री ध्रुवदासजी को यह श्रेय दिया जाना चाहिए। यद्यपि इन दोनो महात्माओ ने हित चौरासी की कोई टीका या भाष्य नही लिखा फिर भी अर्थोद्घाटन का मार्ग इन्ही की रचनाओ द्वारा प्रशस्त हुआ।

टीकाओ की यह परम्परा इस बात का प्रमाण है कि हित चौरासी के पदो में किसी प्रकार का परिवर्तन नही हुआ है। सूरदास आदि की रचनाओ मे उनका सम्मिश्रण परवर्ती लिपिकारो के प्रमाद या प्रक्षेप की प्रवृत्ति का ही परिणाम है।

## ४—स्फुटवाणी

श्री हित-हरिवशजी की रचनाओ में स्फुटवाणी को स्वतन्त्र ग्रन्थ का-सा स्थान प्राप्त हो गया है यद्यपि ये मुक्तक या प्रकीर्णक पद हैं जो विविध विषयो से सम्बन्ध रखते हैं। स्फुटवाणी की रचना कदाचित् 'हित चौरासी' के बाद हुई क्योकि इसमें कई पद सिद्धान्त-प्रतिपादन से साक्षात् सम्बन्ध रखने वाले हैं। 'हित-चौरासी' में परोक्ष रूप से यत्र-तत्र सिद्धान्त वर्णित हुए हैं। किन्तु स्फुटवाणी में प्रेम, अनन्यता, राधाभक्ति, जीवनोद्देश्य

ग्रादि विषयो का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन हुग्रा है। हितहरिवंशजी की रचनाग्रो मे हित-चौरासी के वाद इसी वाणी का स्थान है। परिष्कृत व्रजभाषा की रचना होने के कारण इसका प्रचार पर्याप्त हुग्रा। इसके पदो का वर्गीकरण इस प्रकार है—४ सवैया, २ छप्पय, २ कुंडलियाँ, १५ पद (रागवद्ध), ४—दोहे—कुल योग २७। विपय की दृष्टि से इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—४ दोहे ग्रौर २ कुंडलियाँ—सिद्धान्त, ७ पद—ग्रनन्यनिष्ठा, ४ पद—उपदेश, ५ पद—कृष्णजन्म ग्रौर राधा-रूप-वर्णन, ३ पद—विहार, २ पद—गोपाल की ग्रारती=कुल योग २७।

सिद्धान्त सम्वन्धी जो दो कुंडलियाँ इस वाणी में चकई ग्रौर सारस के प्रेम को उपलक्षण बना कर लिखी गई हैं, राधावल्लभीय प्रेम-सिद्धान्त का ग्राधार मानी जाती हैं। दोनो कुंडलियो की सैद्धान्तिक मीमासा हमने पंचम ग्रध्याय मे विस्तारपूर्वक की है। सिद्धान्त-विषय के चार दोहे हितहरिवंश जी के ग्रौदार्य, प्रेम, ममता, सहानुभूति, दृढता ग्रौर ग्रनन्य निष्ठा के परिचायक हैं—

**सबसों हित, निष्काम मति, वृन्दावन विश्राम।**
**राधावल्लभलाल कौ, हृदय ध्यान, मुख नाम॥ १**
**तनहि राखि सत्संग में, मनहि प्रेम रस भेव।**
**सुख चाहत हरिवंशहित, कृष्ण कल्पतरु सेव॥ २**
**निकसि कुंज ठाढ़े भये, भुजा परस्पर ग्रंस।**
**राधावल्लभ मुख कमल, निरखि नैन हरिवंस॥ ३**
**रसना कटौ जु ग्रनरटौं, निरखि ग्रनफुटो नैन।**
**श्रवण फुटौ जु ग्रनसुनौं, विन राधा यस वैन॥ ४**

—स्फुट वाणी—२४-२७।

ग्रनन्यनिष्ठा राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्राण है। हरिवशजी ने ग्रपने सम्प्रदाय का मूलाधार इस निष्ठा को ही वनाया था तभी वे ग्रकेले रहकर भी इतने शक्तिशाली सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने में सफल हो सके। राधा ग्रौर मोहन मे तन्मय होकर उन्होने किसी ग्रन्य देवी-देवता की न तो स्वय उपासना-ग्राराधना की ग्रौर न ग्रपने ग्रनुयायियो को किसी ग्रन्य देवता की उपासना का उपदेश दिया। मीरावाई की तरह हरिवशजी ने भी राधाकृष्ण को स्वीकार करने के वाद सब झंझटो से ग्रपने को मुक्त कर लिया था। उन्होने वडे स्पष्ट शब्दो में कहा है कि कोई भक्त किसी भी देवता की ग्राराधना में मन क्यो न दिये रहे किन्तु मैं तो तृण लेकर शपथ करता हूँ कि मेरा मन तो प्राणनाथ श्री श्यामा में ही लीन है। ग्रवतारो की उपासना करने वाले भक्तगण जब नित्यविहार का रसास्वादन करते हैं तव वे भी मर्यादाग्रो का ग्रतिक्रमण कर इस रस में निमज्जित होकर वह जाते हैं।

**रहौ कोऊ काहू मनहि दिये।**
**मेरे प्राणनाथ श्री श्यामा शपथ करौं तृण छिये॥**
**जे ग्रवतार कदम्ब भजत हैं धरि दृढ़ व्रत जु हिये।**
**तेऊ उमगि तजत मर्यादा, वनविहार रस पिये॥**

खोये रतन फिरत जे घर-घर कौन काज ऐसे जिये।
हितहरिवश अनत सचु नाहीं विन या रजहिं लिये ॥
—स्फुटवाणी—पद स० २०

अनन्यता की भावना को व्यक्त करने के लिए एक अन्य पद में कहा है कि मुझे अपनी अनन्यता म पूरा दृढ विश्वास है, मेरी मति कच्ची नही है अत मुझे किसी का भय क्यो कर हो सकता है ? भक्तगण भले ही अनन्त कन्त करे—विभिन्न ईश्वर या उपास्य देव माने—किन्तु मैं तो सोते-जागते केवल अपने आराध्य मोहनलाल का ही ध्यान करता हूँ और उन्ही के रग ( प्रेम ) मे अनुरक्त रह कर सुखी रहना चाहता हूँ।

मोहनलाल के रग राची ।
मेरे ख्याल परौ जिन कोऊ वात दसों दिशि मांची ॥
कन्त अनन्त करो जो कोऊ वात कहौं सुनि सांची ॥
यह जिय जाहु, भलै सिर ऊपर, हौंव प्रगट ह्वै नांची ।
जाग्रत शयन रहत उर ऊपर मणि कचन ज्यो पांची ॥
हितहरिवश डरो काकै डर हौं नाहिन मति कांची॥
—स्फुटवाणी पद स० १२ ।

अपनी निष्ठा के आगे हरिवशजी को किसी का भय नही है, वे कुत्सित ग्रहो, विपरीत नक्षत्रो और दुर्दिनो की चिन्ता नही करते । और न उन्हे नवग्रहो के लाभ की इच्छा है । वे अपनी अनन्य निष्ठा के आगे किसी की भी परवाह न करते हुए उपासना में लीन रहने में ही अपने कर्तव्य की सार्थकता समझते हैं । ज्योतिप-शास्त्र में जो रक नवग्रह (कुग्रह) कहलाते हैं उनका परिगणन करते हुए उन्होने कहा है कि 'जो पै कृष्ण चरण मन अर्पित तौ करिहैं कहा नवग्रह रक' और यदि गोविन्द में मन नही लगा तो 'नीके नवग्रह' (शुभ ग्रह) भी क्या लाभ कर सकते हैं ।

इस अनन्य भाव से अपने आराध्य में लीन रहने का उपदेश देते हुए हरिवशजी कहते हैं—-

तातैं भैया मेरी सौं कृष्ण गुण सचु ।
कुत्सित वाद विकारहिं परधन सुनु सिख मद परतिय वचु ॥
मणिगण पुञ्ज वृजपति छांडत हितहरिवश करि गहि कचु ।
पाये जान जगत में सब जन कपटी कुटिल कलियुग टचु ॥
इह परलोक सकल सुख पावत मेरी सौं कृष्ण गुण सचु ॥
—स्फुटवाणी, पद स० ८ ।

स्फुटवाणी में विहार-परक तीन पद है । इन पदो की सहजता ही इनकी विशेषता है । चित्रात्मक वर्णन की दृष्टि से पावस की फुहार में भीगते हुए राधाकृष्ण का नैसर्गिक रूप और सघन कुञ्ज का दृश्य निम्नलिखित पद में द्रष्टव्य है —

दोऊ जन भीजत अटके बातन ।
सघन कुञ्ज के द्वारे ठाड़े अम्बर लपटे गातन ॥
ललिता ललित रूप रस भींजीं बूंद बचावत पातन ।
हितहरिवंश परस्पर प्रीतम मिलवत रति रस घातन ॥

—स्फुट वाणी पद सं० २३ ।

प्रेम की तल्लीन दशा मे खडे हुए राधामाधव को न तो वर्षा की बूंदो की चिन्ता है और न समीप खडी हुई ललिता सखी के द्वारा देखे जाने का भय। दोनो कुञ्ज-द्वार पर आमोद-प्रमोद मे डूबे हुए रति-रस लूटने की घात में खडे हैं। यह समस्त वर्णन बिना किसी कृत्रिम शब्दजाल के इतने सहज रूप मे सामने आता है कि पाठक के अन्तर्नेत्रो के समक्ष राधामाधव पावस की सध्या को किसी लता-कुञ्ज के बाहर खडे प्रेमलीला में सराबोर से खड़े दीखने लगते हैं। यह वन-विहार का पद है और उसी भाव की सार्थक व्यंजना भी करता है।

शृंगार-रस से परिपूर्ण एक अन्य पद में विहार को रति-सुख के चरमोत्कर्ष तक पहुँचाकर राधा की उन्माद दशा अकित की गई है। पद की शैली और भाषा-प्रवाह जिस अबाध गति से आगे बढता है वह किसी कुशल शब्द-शिल्पी द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

तू रति रगभरी देखियत है री राधे रहसिरमी मोहन सौं बरैंन ।
गति अति शिथिल, प्रगट पलटे पट, गौर अंग पर राजत ऐन ॥
जलज कपोल, ललित लटकति लट, भृकुटि कुटिल ज्यों धनुष धृत मैन ।
सुन्दरि सहव, कँहव कंचुकि कत-कनक कलश कुच बिच नख दैंन ॥
अधर बिम्ब दलमलित, आरसयुत अरु आनन्द सूचत सखि नैंन ।
हितहरिवंश दुरति नहिं नागरि, नागर मधुप मथत सुख सैंन ॥

—स्फुट वाणी, पद सं० १० ।

श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन के लिए भी कल्याण राग में एक पद लिखा है—इस पद की शैली आलकारिक है। वेश-रचना में प्रयुक्त समस्त प्रसाधनो का बड़ी सटीक शैली से चित्रण किया गया है—

लाल की रूप माधुरी नैंननि निरखि नेकु सखी ।
मनसिज मन हरन हास, साँमरौ सुकुमारि राशि,
नखसिख अंग अगनि उमँगि सौभग सींव नखी ॥

× × ×

अभयद भुज दड मूल, पीग अंस सानुकूल,
कनक निकप लसि दुकूल दामिनी धरखी—

+ + +

—स्फुट वाणी, पद स० २२ ।

श्यामसुन्दर की आरती के दो पदो में भावना के दो रूप हैं। प्रथम पद मे समस्त उपकरणो सहित मदनगोपाल की आरती का विधान है। अगर, धूप, घृत, कुसुम, भोग, चमर,

कर्पूरजल, सुगन्ध, शख, दु दुभि, पणव, घटा, वेणु, आदि समस्त साधनो द्वारा विधि-विधान-पूर्ण आरती का वर्णन है। किन्तु दूसरे पद की आरती वाह्य साधनो की आरती न होकर शुद्ध भावना की आरती है जिसमे न धूप है न अगर। केवल भक्ति का दीप और प्रेम की वाती है, साधु-सगति का अनुराग उस आरती का उपाय है—

भक्ति करि दीप, प्रेम करि वातो,
साधु सगति करि अनुदिन रातो।

हितहरिवशजी के अन्य ग्रन्थो की तरह स्फुट वाणी पर भी अनेक टीकाएँ लिखी गई। पाँच टीकाएँ सम्प्रदाय में पर्याप्त प्रसिद्ध हैं—जिनके प्रणेता रतनदासजी, प्रियादासजी, व्रजगोपालजी, गोपालप्रसाद जी और भोलानाथ जी हैं। अन्तिम दो प्रकाशित भी हो चुकी हैं।

## काव्य-समीक्षा

श्री हरिवशजी की वाणी भक्ति रस से आप्लावित मुक्तक गेय पदो का सग्रह है। भक्तिभावना से अनुप्राणित इन पदो मे शास्त्रानुमोदित काव्य-सौष्ठव का सधान करना इन पदो की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा किन्तु भावुक एव सहृदय भक्तो की रसस्निग्ध वाणी केवल शिवत्व से ही परिपूर्ण नही होती वरन् सत्य और सौन्दर्य को भी अपने अचल मे छिपाये रहती है अत काव्योत्कर्ष के समस्त अलकृत उपकरण उसमे अनायास आ जाते हैं। भक्त-कवि की उक्ति का प्रभाव केवल उसके मगल-विधान के कारण ही नही होता अपितु उक्ति-सौन्दर्य के कारण भी होता है। यही कारण है कि निर्गुण मार्ग मे भक्ति-पथ का उन्मेष करने वाले कवीर और नानक जैसे महात्माओ की रचना में भी काव्य-सौन्दर्य की निसर्ग-सिद्ध छटा देखने मे आती है। श्री हितहरिवशजी तो माधुर्य भक्ति की रसधारा के उन्नायको में थे अत आपकी वाणी से यदि काव्य-सौन्दर्य की निर्झरिणी प्रवाहित हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या है?

काव्य की आत्मा रस है, हरिवशजी की वाणी का मूलाधार भी रस ही है। काव्य-रस सहृदयो के चित्त को विस्फारित एव चमत्कृत करता हुआ अलौकिक आनन्द की सृष्टि करता है, हरिवशजी की वाणी का रस भी रसिक भक्तो को प्रेम-विह्वल करके आनन्द-विभोर बना देता है। काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-सहोदर है, हरिवशजी की वाणी का आनन्द साक्षात् ब्रह्मानन्द का ही रूप है। काव्य के लौकिक आलम्बन नायक-नायिका, रति, हास, शोक आदि भावो को उद्‌बुद्ध करने में सहायक होते हैं, भक्तवाणी का आलम्बन लौकिक नायक-नायिका न होकर आमुष्मिक रति (राधाकृष्ण-रति) को जागृत कर चित्त को शाश्वत शान्ति प्रदान करता है। भक्ति रस को स्वीकार करने वाले मर्मी भक्तो के मत मे भक्ति काव्य का चरम उद्देश्य दिव्य प्रेम के मार्ग से रसिक-भक्तो को भव-बधन से मुक्त कर उसे एक ऐसे आनन्द-लोक में ले जाना है जहाँ सासारिक मायावी प्रपच के बधन उच्छिन्न हो जाते हैं। भक्त के मन में एकान्त अनाविल राधाकृष्ण-रति का अपार पारावार लहराने लगता है। उस अगाध और अपार भक्ति-सागर में कूद पडने के वाद ससार-सागर के कूल किनारे विलीन हो जाते हैं, सासारिक मर्यादाएँ ढह जाती हैं और भक्त का मन विशुद्ध आत्मचैतन्य में लीन होकर शाश्वत आनन्द की उपलब्धि करने लगता है।

वंशी के अवतार श्री हितहरिवशजी की यह विशेषता है कि उनकी वाणी रूपी वशी का निस्वन राधा के गुणानुवाद के लिए इतना कोमल और स्निग्ध रूप लेकर सरस पदों के माध्यम से गूँजा कि उसमें वर्णित राधा नख से सिख तक सौन्दर्य और प्रेम की मजुल मूर्ति बनकर भक्तजन के लिए आराधना की विषय बन गई। हितहरिवंशजी की वाणी के स्पर्श से कलाओ का शृगार पवित्र हो गया। भावो की मनोमुग्धकारी छटा से शृंगार का उज्ज्वल रूप निखार पाकर कान्तिमय हो उठा और शृ गार का माधुर्य-मडित रूप समस्त व्रजमडल में अनुकरण का विषय बन गया। हितजी ने कविता का आश्रय केवल साधन की दृष्टि से ग्रहण किया था, उनका साध्य तो राधा-भक्ति द्वारा आत्मतृप्ति था। रसविशेष की प्रतीति के लिए वे पद-रचना मे लीन नही हुए थे। स्वानुभूत रस की अभिव्यक्ति के लिए उन्होने काव्य का बाह्य आवरण स्वीकार किया था। जैसे उज्ज्वल भावनामय उनके पद हैं, वैसा ही तन्मयकारी उनका श्रुतिमधुर संगीत है, राधा का गुणगान जिन पदो का महत् उद्देश्य हो उनमे दीप्ति, कान्ति, ओज और माधुर्य भाव का अभाव कैसे हो सकता है।

## रस-निष्पत्ति

काव्य-रस की शास्त्रीय कसौटी पर यदि हरिवशजी के पदो को कसा जाय और विभाव, अनुभाव, सचारी आदि के सयोग से साहित्यिक शैली द्वारा रस-निष्पति की प्रक्रिया को चरितार्थ किया जाय तो भी हम उन्हे भक्ति रस या शृंगार रस की दृष्टि से सर्वांगपूर्ण पाते हैं। हिन्दी के भक्ति-साहित्य मे भक्ति-रस की शास्त्रीय व्याख्या नही मिलती किन्तु भक्ति का वर्णन रस-पद्धति पर ही हुआ है अत. भक्तिरस स्यापित करने वाले "उज्ज्वल नील मणि" और "भक्ति रसामृत सिन्धु" आदि ग्रथो के आधार पर हम भक्तो की वाणी का रस-विवेचन कर सकते हैं।

भक्ति-रस पाँच प्रकार का माना जाता है—शात, दास्य, सख्य, वात्सल्य, एव मधुर।

मधुर को ही शृंगार या उज्ज्वल रस की सज्ञा दी जाती है। मधुर रस के रूढ और अधिरूढ दो भेद हैं। महिषीगण रूढभाव से अनुरक्त होती हैं और अधिरूढ़ भाव की अधिष्ठातृ है गोपियाँ। इस अधिरूढ़ महाभाव को भी दो प्रकार का माना गया है। संयोग दशा मे यह 'मादन' कहाता है और वियोग मे मोहन। जिस प्रकार काव्य-शास्त्र में शृ गार रस के दो भेद हैं वैसे ही भक्तिरस-निष्ठ शृ गार भी सभोग और विप्रलम्भ भेद से द्विविध है। सम्भोग शृ गार के अनन्त रूप हैं किन्तु विप्रलम्भ के चार प्रकार माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास, और प्रेम-वैचित्त्य।

भक्तिरस का स्थायीभाव कृष्ण-रति या 'राधाकृष्ण प्रेम' है। हरिवंशजी की भक्ति मे शान्त, दास्य, सख्य, और वात्सल्य को स्थान न होने से केवल मधुर भाव ही बचता है। ऐश्वर्य ज्ञान के लिए भी हरिवशजी की भक्ति मे स्थान नही है। अतः राधाकृष्ण का केवल माधुर्य-मंडित रूप ही रति उद्‌बुद्ध करने का कारण है और वही स्थायी भाव के रूप मे प्रतिष्ठित होता है। इस रस के आलम्बन राधा और कृष्ण (नायक-नायिका) हैं। राधा-कृष्ण स्वकीया-परकीया-भाव-निर्विशेष होने पर भी परस्पर अनन्य भाव से अनुरक्त-आसक्त हैं

अत वे आलम्बन के समस्त धर्मों से युक्त हैं। अन्य सम्प्रदायो की अपेक्षा यहाँ यही नवीनता है कि कृष्ण राधा प्रेम के लिए लालायित होकर राधा की अर्चना-वन्दना करने में लीन देखे जाते हैं। कान्ता-शिरोमणि राधा अनिंद्य सुन्दरी एव समस्त गुणों से उपेत होने के कारण कृष्ण के लिए भी आराध्या बनी रहती हैं। निर्मल उज्ज्वल रस और प्रेम की आकर राधा रूप, गुण, शील से सबको मोहित किये रहती है। हर्षादि आठो सात्विक भाव और सहज प्रेम से उद्भूत विलास, ललित, कुट्टमित, विव्वोक आदि भाव उनके भूषण हैं। वशीरव आदि उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत हैं। अनुभावो के अन्तर्गत विलुठित, गीत, अट्टहास कटाक्ष, आदि हैं। स्वेद, स्तम्भ, रोमाचादि सात्विक भावो में स्वीकार किये गये हैं। सचारी या व्यभिचारियो की गणना ३३ है और वे सभी वर्णित भी हुए हैं।

निम्नलिखित पद में रस-परिपाक के विविध अ ग देखे जा सकते हैं --

**मजुल कलकुंज देश, राधा हरि विशद वेश,**
**राका नभ कुमुद बधु, शरद यामिनी ॥**
**श्यामल द्युति कनक अङ्ग, विहरत मिलि एक सग,**
**नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी ॥**
**अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल**
**सौरभ युत शीत अनिल मदगामिनी ॥**
**किसलय दल रचित शैन, बोलत पिय चाटु बैन,**
**मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी ॥**
**मोहन मन मथत मार, परसत कुच नीवि हार**
**वेपथुयुत नेति नेति वदति भामिनी ॥**
**नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत केलि,**
**सौरत रस रूप नदी जगत पावनी ॥**

**—हित चौरासी, पद सं० ११ ।**

उक्त पद मे विहार का दृश्य वर्णित हुआ है। शरद् पूर्णिमा की रात को राधाकृष्ण सुन्दर वेश धारण कर वनविहार कर रहे हैं। कृष्ण धीरोदात्त नायक हैं और राधा नायिका हैं। भक्त के लिए राधाकृष्ण आलम्बन हैं। शरद् पूर्णिमा की एकान्त रात्रि, सौरभ युत शीत अनिल, किसलय दल रचित शयन आदि उद्दीपन विभाव हैं। राधा का "मान सहित प्रतिपद" यह मानसिक अनुभाव है और वेपथुयुत होना सात्विक भाव है। इस प्रकार विभावादि से परिपुष्ट होकर राधाकृष्ण-रति स्थायीभाव को प्राप्त होती है।

## विभाव-अनुभाव

अनुभावो का विशद-व्यापक वर्णन हितजी की वाणी में भरा पडा है। कायिक-सात्विक, मानसिक और आहार्य सभी कोटि के अनुभावो का वर्णन देखकर लगता है कि इन को रसोद्दीपक मानकर ही अपने पदो में आपने एकत्र किया है। रसानुभव के क्षणो में हृद्-गत भावो को व्यक्त करने का कोई माध्यम न होने से सभी कवि अनुभावो का आश्रय लेते

हैं। हरिवंशजी के पद तो अनुभावो के भंडार हैं, यहाँ स्थाली-पुलाक-न्याय -से दो-चार उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

कायिक

'इन्दु गोविन्द वदन के कारन चितवन को भये नैन चकोर।'
'अभिनय निपुन लटकि लट लोचन भृकुटि अनंग नचायौ।'
'कोक कला कुल जानि शिरोमणि, अभिनय कुटिल भृकुटियन मटकति।'

मानसिक

'सखी सौं सुनि श्रवन वचन मुदित मन चली हरिवंश भवन मुसकाती।'
'दुरतन कच करजन के रोके अरुन नैन अलि चोर।'
'निर्तनि भृकुटि बदन अम्बुज मृदु सरस हास मधु बोलनि।'
'मदन मुदित अङ्ग-अङ्ग, बीच-बीच सुरत रंग, पल-पल हरिवंश पिवत नैन चषक झेलि।'

आहार्य

'रुचिर तिलक लेश, किरत कुसुम केश, शिर सीमन्त मानो भूषन तैन।'
'अरुण पीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल, सौरभयुत शीत, अनिल मंद गामिनी।'
'भषन बहुत विविध रग सारी, अंग सुधंग दिखावत नारी।'
'कंचुकि सुरंग, विविध रंग सारी, नख जुग ऊन बने तेरे तन।'

सात्विक

'तेरे नैन करत दोऊ चारी।
अति अकुलात समात नहीं कहुँ मिले है कुंज विहारी।
गदगद सुर विरहाकुल पुलकित, श्रवत विलोचन नीर।'
(स्तम्भ, रोमाच, अश्रु)

'अवही पंगु भई मन की गति विनु उद्दिम अनियास।' (स्तम्भ)
'अद्भुत छटा विलोक अवनि पर विथकित वेपथु गात।' (कप)
'संभ्रम द्रुम, परिरम्भन कुंजन ढूढत कालिन्दी तट।
विलपत, हँसत, विषीदत, स्वेदित सतु सीचतु अँसुवन वंशीवट।
(रोमाच, स्वेद, अश्रु)

नायिकाभेद के अन्तर्गत स्त्रियो की यौवनावस्था के २८ अनुभाव माने गये हैं। जो अंगज, अयत्नज और स्वभावज नाम से तीन प्रकार के अलकार कहे जाते हैं इनमे भाव, हाव और हेला अग से उत्पन्न होने के कारण अंगज हैं; शोभा, क्रान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य नामक सात अलकार कृत्रिम न होने के कारण अयत्नज हैं। लीला, विलास, विच्छित्ति, विव्वोक, किलकिंचित् मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद, विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, लसित, केलि ये अठारह कृति-साध्य होने के कारण

स्वभावज अलकार हैं। हरिवशजी की वाणी मे इन अलकारो का बहुत सुन्दर शैली से वर्णन उपलब्ध होता है।

१—हाव-भाव और हेला द्वारा राग की अभिव्यक्ति—

'वनी वृषभानु नन्दिनी आजु।
भूषन वसन विविध पहिरे तन पिय मोहन हित साजु।
हाव, भाव, लावन्य भृकुटि लट हरत जुवति जन पाजु॥'

२—शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, औदार्य, धैर्य आदि का वर्णन —

'आजु नीकी वनी राधिका नागरी।
व्रज जुवति जूप में, रूप अरु चतुरई शीलसिगार गुण सवनतें आगरी।'

'नागरता की राशि किशोरी।
रूप रुचिर अग अग माधुरी, विनु भूषन भूषित व्रज गोरी।'

'सुघग नाचत नवल किशोरी।
हित हरिवश अङ्ग अङ्ग माधरी वरवस लियो मोहन चितचोरी।'

'नागरी निकुंज ऐन, किसलय दल रचित शैन,
कोक कला कुशल कुंवरि अति उदार री।'

'व्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आज वनी।
नख शिख लौं अङ्ग अङ्ग माधुरी मोहे श्याम घनी।'

'आवति श्री वृषभानु दुलारी।
रूप राशि अति चतुर शिरोमणि अङ्ग अङ्ग सुकुमारी।'

३—लीला, विलास, विच्छित्ति—

'नव नारग कनक हीरावलि, विद्रुम सरस जलज मनि गोरी।
तो पै सकल सौंज दामिनि की कत सतराति कुटिल हग मोरी।'
'रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये तिलक मृगमद दिये,
मृगज लोचन, उबटि अङ्ग शिर खोरी॥
गंड पढीर मण्डित चिकुर चन्द्रिका
मेदिनी कवरि गूंथित सुरग डोरी॥
श्रवन ताटंक कै, चिबुक पर्रविदु दै
कंचुकी कुचनि दुरैं उरज फल कोरी॥'
'जटित क्रीट मकराकृत कुण्डल मुख अरविन्द भवर मनो लट।
दशननि कुन्द कली छवि लज्जित सज्जित कनक समान पीतपट॥'
'नयौनेह नव रग नयो रस नवल श्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीताम्बर नवल चूनरी [illegible]

विव्वोक

'पिय चितवत तव चन्द्रवदन तन, तू अध मुख निज चरण निहारत।
वे मृदु चिबुक प्रलोय प्रवोधत तू भामिनि करसों कर टारत ॥'

( इन पक्तियो मे विक्षेप और विव्वोक दोनों अनुभावो की सुन्दर ससृष्टि हुई है। )

किलकिंचित्

'रहसि रहसि मोहन पिय के संग री लड़ैती अति रस लटकति ॥
सरस सुधंग अङ्ग में नागरि थेई थेई कहत अवनि पद पटकति ॥'

'लटकत फिरति जुवति रस फूली।
लता भवन में सरस सकल निशि पिय सग सुरत हिंडोलो झूली ॥'
'आज प्रभात लता मन्दिर में सुख बरसत अति हरस युगल वर।
गौर श्याम अभिराम रगभरे लटकि लटकि पग धरत अवनि पर ॥
दम्पति अति अनुराग मुदित कल गान करत मन हरत परस्पर ॥'

'आजु तौ जुवति तेरौ वदन आनन्द भर्यौ।
पिय के संगम कै सूचत सुख चैन ॥'

कुट्टमित

'मोहन मन मथत मार परसत कुच नीवि हार।
वेपथु युत नेति नेति वदति भामिनी ॥'
'वधू कपट हठि कोप कहत कल नेति नेति मधु वोल।'

मद

'आज सम्हारत नाहिन गोरी।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यो सुरत समुद्र झकोरी।'
'अपनी वात मौसों कहि री भामिनी।
औंगी भौंगी रहति गरव की माती।'
'भरि संगाम श्रमित अति अबला निद्रायित कल नैन।
पिय के अक निशंक तक तनु आलस जुत कृत सैन ॥'

ललित

'कच सजमन ब्याज भुज दरसत मुसकनि वदन विकास।
हा हरिवंश अनीति रीति हित कत डारत तन त्रास ॥'

केलि

'रहसि रहसि मोहन के सग री लड़ैती अति रस लटकति।
सरस सुधंग अङ्ग में नागरि थेई-थेई कहति अवनि पद पटकति।
कोक कला कुल जानि शिरोमणि अभिनय कुटिल भृकुटियन भटकति
विवस भये प्रीतम अति लंपट निरखि करज, नासापुट चटकति।'

'आज निकुंज मंजु में खेलत नवल किशोर नवीन किशोरी।
अति अनुपम अनुराग परस्पर सुनि अभूत भूतल पर जोरी ।।

उपर्युक्त उदाहरणों में हमने कतिपय अनुभावाश्रित अलकारों का निर्देश किया है। हितचौरासी के प्रत्येक पद में किसी न किसी अनुभाव का सधान किया जा सकता है। हरिवशजी की पदरचना-शैली कुछ ऐसी विलक्षण है कि उसमे किसी न किसी रूप में सात्विक भाव अथवा नायिका के अनुभाव मिले रहते हैं। शृगार को अगीरस के रूप मे स्वीकार करने के कारण उसकी सभोगपरक दशाओं की पूर्ण विवृति इन पदो मे परिलक्षित होती है। कामकेलि की चरम परिणति सुरत-प्रसग आदि को भी हरिवशजी ने बडे विशद-विस्तार के साथ गाया है। उन प्रसगो का अन्तरग मर्म कदाचित् वे सत महानुभाव ही समझ सकते हो जिनका मन सब प्रकार निर्मल होकर साधना की उदात्त भूमि में अवस्थित हो चुका हो। सामान्य पाठक को ऐसे अवतरणों से भक्ति की उच्च भूमिका में पहुँचने मे कदाचित् भारी बाधा उपस्थित होगी। यह भी सम्भव है कि माधुर्य-भक्ति रस के मर्म से अनभिज्ञ पाठक ऐसे वर्णनो को शुद्ध शृगार वर्णन ही समझने की भूल करते रहे।

## भाषा और शैली

श्री हरिवशजी सस्कृत भाषा के पण्डित ही नही, निसर्गसिद्ध कवि भी थे। सस्कृत के लालित्य और सौकुमार्य की छटा उनके राधासुधानिधि ग्रथ में देखी जा सकती है। सस्कृत भाषा में पारगत होने पर भी उनकी नैसर्गिक अभिव्यक्ति का रूप हमें उनकी व्रजभाषा की पद-रचना में ही दृष्टिगत होता है। जो माधुर्य, सौकुमार्य, प्रवाह, भावव्यजकता, प्राजलता, और प्रेषणीयता उनके हितचौरासी ग्रथ में है उसका अर्द्धांश भी राधासुधानिधि मे नही मिलता। हितचौरासी के पदो का पाठ करने के साथ ही मन में उस भाषा की प्रेषणीयता और भावग्राहिणी क्षमता के कारण अभिव्यग्य या वर्ण्य विषय का चित्र मूर्तिमान हो जाता है। व्रजभाषा का जैसा समृद्ध और प्राजल रूप हितहरिवशजी की वाणी में प्रस्फुटित हुआ है वैसा किसी अन्य भक्त-कवि की रचना में नही हुआ। हमारे इस कथन को कदाचित् पक्षपातपूर्ण समझा जाय और सूरदास तथा नन्ददास जैसे सुप्रसिद्ध कवियो की व्रजभाषा को उनसे बढकर बताया जाय किन्तु समीक्षा की कसौटी पर हमारा कथन खरा उतरेगा। सूरदास की भाषा में व्रजभाषा का आचलिक पुट है, लोकभाषा के अधिक समीप होने के कारण मसृण और परिष्कृत शब्दो की ओर उनका झुकाव नही है। नन्ददास ने अवश्य शब्द-चयन में परिष्कार पर बल दिया है और शब्द-मैत्री तथा ध्वन्यात्मक नाद सौन्दर्य को अपना कर 'नन्ददास जडिया' का पद पाया है, किन्तु नन्ददास की भाषा में हितहरिवश के समान समृद्धता नही है। सस्कृत की तत्सम पदावली को व्रजभाषा के प्रवाह में ढालने की कला में हरिवशजी को अद्भुत क्षमता प्राप्त है। वे व्रजभाषा के क्रियापद तथा विभक्तियो के योग से ही सारे पद को तत्सम शैली के ढाँचे में इस सौष्ठव के साथ जडते हैं कि पाठक भावधारा में बहने के साथ पदावली के लालित्य पर भी मुग्ध हो उठता है। सस्कृत-कवि जयदेव की पदावली से विद्यापति ने प्रभाव ग्रहण किया था। हरिवशजी ने जयदेव और विद्यापति दोनो की पदावली

से प्रभाव ग्रहण करके उसे व्रजभाषा के कलेवर में अभिनव रूप दिया। शब्द-मैत्री, समीचीन वर्णविन्यास, नाद-सौन्दर्य, चित्रात्मकता, सगीतात्मकता और प्राजलता हरिवशजी की व्रजभाषा के उल्लेख्य गुण हैं जो उनको व्रजभाषा के भक्त-कवियो में मूर्धन्य पर आसीन करने मे पूरी तरह सहायक होते हैं।

काव्य की भाषा सरस, कोमल, मधुर और मसृण होने के साथ ही सुबोध, सार्थक, सहज, सरल और सुसम्बद्ध होनी चाहिए। रसानुकूल भाषा ही चित्ताकर्षक और हृदयद्रावक होती है। जो भाषा संवेदन के स्वरूप को मूर्त्त रूप देकर अन्तर्नेत्रो के समक्ष उपस्थित कर सकती है वही पाठक की रागात्मक वृत्तियो को उच्छ्वसित करने में भी समर्थ होती है। ऐसी भाषा के साथ शैली मे चारुता, सामजस्यपूर्णता और प्रभावोत्पादकता होना भी अनिवार्य है। भाषा और शैली के इस समन्वय पर ही अभिव्यक्ति में भावो के प्रेषणीय बनाने की क्षमता उत्पन्न होती है। हरिवशजी की भाषा और शैली को उपर्युक्त कसौटी पर हम सर्वतोभावेन खरा पाते हैं।

## वर्ण-विन्यास और शब्द-मैत्री

सुन्दर वर्णों (अक्षरो) से निर्मित शोभन शब्दो के आधान द्वारा काव्य का बाह्य कलेवर दीप्त हो उठता है। कोमल, मधुर और सरस वर्णों के योग से जो शब्द बनते हैं उनका प्रभाव मन को झकृत करने वाला और चिरस्थायी होता है। हरिवशजी के पदो में वर्ण-विन्यास का सौष्ठव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है

विद्रुम फटिक विविधनिर्मित धर नव कर्पूर पराग न थोरी।
कोमल किशलय शयन सुपेशल तापर श्याम निवेशित गोरी॥

उपर्युक्त पक्तियो में रेखाकित शब्दो का वर्ण-विन्यास इतना मधुर और सरस है कि शब्दो में तदनुकूल भाव्य-व्यजना अपने आप समाविष्ट हो गई है। किशलय, शयन, सुपेशल और निवेशित का सानुप्रासिक रूप अपने शुद्ध तत्सम रूप को और अधिक निखारने वाला है।

वन की कुञ्जनि कुञ्जनि डोलनि।
निकसत निपट साँकरी वीथिन परसत नाँहि निचोलनि।
विलुलित शिथिल श्याम छूटी लट राजत रुचिर कपोलनि।

इस पद में व्रजभाषा के तद्भव रूपो का ग्रहण हुआ है। 'डोलनि' शब्द डोलने-फिरने से बना है जो विहार-विचरण का ध्वन्यार्थ व्यजित करता है। निकसत, निपट, साँकरी, परसत, निचोलनि, राजत, रुचिर, कपोलनि आदि शब्दो का वर्ण-विन्यास इतना मनोज्ञ है कि व्रजभाषा की सुन्दर शब्द-योजना का मनोमुग्धकारी रूप प्रस्तुत करके पाठक को लुभा लेता है। निचोल और कपोल का वर्ण-विन्यास सदर्भ में इतना अर्थ-व्यजक है कि इनके स्थान पर इनका कोई दूसरा पर्याय काम नही दे सकता। छूटी लटो के लिये शिथिल और विलुलित पदो की योजना द्रष्टव्य है।

शब्द-मैत्री तो हरिवशजी की वाणी का प्राण है। तत्सम शब्दो के साथ व्रजभाषा के

लोक-प्रचलित सामान्य शब्दो को एक ही पक्ति मे बिठाकर उनकी अभिव्यजना को द्विगुणित करने की जैसी कला आपके पदो में परिलक्षित होती है वैसी भक्त-कवियो में अन्यत्र दुर्लभ है —

'कल ककन किंकन नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायौ।'

'हितहरिवश सुनि लाल लावन्य भिदे प्रिया अति सूर सुख सुरत सग्रामिनी।'

'कोमल कुटिल अलक सुठि सोभित अवलम्बित युग गडन।'

गलित कुसुम वेनी, सुनि री सारग नैनी, छूटी लट अचरा वदति अलसानी।'

'आलस जुत इतरात रग मगे भये निशि जागर मखिन मलिन री।

शिथिल पलक में उठति गोलक गति, विंध्यौ मोहन मृग सकत चलि न री ॥'

इन पक्तियो मे व्रजभाषा के शब्द तत्सम पदावली के साथ जिस सुन्दर मैत्री धर्म का निर्वाह कर रहे हैं वह मन को मोहने वाला रूप है। धुनि, सचु, लावन्य-भिदे, सुठि सोभित, सारगनैनी, अचरा, अलसानी, इतरात, विंध्यौ, आदि शब्द व्रजभाषा के प्रकृत रूप में सस्कृत शब्दो के साथ ऐसे हिल-मिल गये हैं कि उनके साथ यदि उनका तत्सम रूप रख दिया जाय तो पद का समस्त सौंदर्य समाप्त हो जायगा। यही कुशल कवि की सफल शब्द-मैत्री है।

शब्द-मैत्री का दूसरा रूप अर्थात् व्रजभाषा के वाक्य-विन्यास मे तत्सम शब्दो का प्रयोग भी हरिवशजी की वाणी मे प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होता है।

हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मानजुत भोरी।

चिबुक सुचारु प्रलोइ प्रबोधत प्रिय प्रतिविम्ब जनाइ निहोरी ॥

पद का प्रवाह व्रजभाषा की प्रकृति के सर्वथा अनुकूल है किन्तु शब्द-योजना में तत्सम पदावली का प्राधान्य है। यह मैत्री व्रजभाषा को अधिक सुहाती है।

मोहन मन मथत मार, परसत कुच, नीवि, हार।

वेपथु युत नेति नेति वदति भामिनी।

नरवाहन प्रभु सुकेलि, बहुविधि भर भरत झेलि

सौरत रस रूप नदी जगत पावनी ॥

इस पद के शब्द सस्कृत के होने पर भी वाक्य-योजना की दृष्टि से ऐसे प्रतीत होते हैं जैसे ये व्रजभाषा के ही हो। 'नेति नेति वदति भामिनी' और 'सौरत रस रूप नदी जगत पावनी' तो पूरे वाक्याश ही सस्कृत पदावली से भरे हैं किन्तु उनका प्रवाह इतना नैसर्गिक है कि व्रजभाषा-भाषी के लिए ये उसके अपने घर के से हैं।

## शब्द-चयन

श्री हरिवशजी के वर्ण-विन्यास और शब्द-चयन को भलीभाँति हृदयगम करने के लिए उनकी पदावली का मनोयोगपूर्वक अनुशीलन वाछनीय है। हम उनके प्रिय शब्दो मे से कुछ चयन करके नीचे लिखते हैं—

**तत्सम शब्द** —पशुपतिदग्ध, मजुल, कलकुज, विशदवेश, जलज, कपोल, ललितलट, विलुलित अलक, कुटिल भृकुटि, लोल लोचन, शिथिल गति, दलमलित अधर बिम्ब, कनक बेल, तमाल तरु कनकलता, सभ्रम, अतिरम्य, परिरम्भन, कनकनिकष, आयतदृग, पीन अस, किसलय

शयन, सुपेशल, शिखीकुल, निवेशित, वदति, प्रबोधित, अरुणपीत नव दुकूल, अनुपम अनुराग मूल, सुमनस, ईषदविकास, अतिशय सुवास, मुदित, चषक, पुलिन, कल्पतरु, चिबुक, सौरभ, विलम्ब, चिकुर, पदअम्बुज, मृदुल, विरहाकुल, पुलकित, लोचन, वासर, शाखामृग, श्रीफल उरज, कटि केहरि निविड निकुंज, हावभाव लावण्य, पूषणवन्धु, व्रज नव तरुणि कदम्ब मुकुटमणि, पूरित रस पीयूष, नवनारंग कनक मीनध्वज, हीरावलि, निद्रायित कलनैन, सत्वर, वेपथु, सुभगजनस्थली, विहग, 'सकृदपि मयि अधरामृतमुपनय' (एक वार ही मुझे अधरामृत प्रदान करो), काल-व्याल, 'पालय सखि मन देह' (हे सखी मेरे देह का पालन—रक्षा कीजिये ), शीश-किरीट, निर्मित कुसुम शयन, मधुपूरित भाजन, करधृत, भवनरध्र, हरिद्रागार, सरसीरुह, कुसुमकृत, वर्त्तिका, शुभकौशेय, वलवीरकृत, परिमल लुब्ध मधुव्रत, विवेचित, तवाकृति आदि।

तद्भव शब्द :—(व्रजभाषा के साँचे मे ढले हुए) क्रीड़त, अलप, विहून, परपच आरस-जुत (आलस्ययुक्त), सौभित, हरद (हरिद्रा), वार्ता, विलपत, विपीदत गात (गात्र), सावल, उकति (उक्ति), समै (समय), फटकि (स्फटिक), विलोकि (विलोक्य), परसत( स्पर्श), विहडन, गरव (गर्व), अचरा (अचल), जुवति (युवति), नाये (नमित), छपति, औसर, विलोनि (विलोम्य), धार, श्रवत, निरखि (निरीक्ष्य), पास (पार्श्व), भुवग, व्यापत (व्याप्नोति), जोति, दोति (द्युति), पिय, औघर, हुतासन, पजर, आरतिदवन, रवन, सलभ, अनियास, उद्दिम, सजमन, वसन।

व्रजभाषा —चौंप, नीके, टचु, काहु, तेऊ, दोऊ, मोको, तासो, अपनपौ, निहोरी, इतरात, पोवति, ओगीभौंगी, तापै, टोल, थोर, निपट, साकरी, सचु, रिझवार, किन, कत, मेंढ, उमगत, जारै, कोर, हुती, न्यारो, खोरि, खिरक, गहवर, खची, सौज, तऊ, सुभाय, झकझोलनि, नाहिन, नैंक, ढरिवौ, जायौ, धमारि, टकटोलनि आदि।

## समास और सन्धि

तत्सम पदावली का प्राचुर्य होने के कारण श्री हरिवशजी की भाषा मे समस्त पदो का वाहुल्य होना स्वाभाविक है। कही-कही पाँच-छह शब्दो का समास भी आपकी भाषा में मिलता है। किन्तु आपकी समस्त पदावली कहीं भी अस्वाभाविक या भाराक्रान्त नही लगती। गोस्वामी तुलसीदास ने विनयपत्रिका मे देवी-देवताओं की स्तुति मे जो पद लिखे हैं वहाँ समस्त-पदरचना है, किन्तु उसका आकार-प्रकार, शैली और अभिव्यजना न तो व्रजभाषा के मेल में है और न वह संस्कृत की प्रकृति का ही निर्वाह कर पाई है। हितहरिवशजी के पदो मे व्रजभाषा का निसर्ग-सिद्ध प्रवाह अक्षुण्ण वना रहा है और लम्बे-लम्बे समासो का वड़ी सजीव शैली से निर्वाह हुआ है। समस्त पद-रचना के दो-एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

—'विद्रुम-फटिक-विविध निर्मित धर,'

—'कोमल किशलय-शयन-सुपेशल,'

—'शुभ कौशेय कसिव कौस्तुभमणि पकज .।'

—'निज भजन कनक तन-जोवन'

—'सौरत रस रूप नदी जगत पावनी'

—'सरसाधरपल्लव, प्रीतम मन शमनी'

कही-कही व्रजभाषा के शब्दो को छन्द के आग्रह से इस प्रकार मिला दिया है कि वह नियमरहित सधि का रूप प्रतीत होने लगता है। यथार्थ में वहाँ लेखक का उद्देश्य भी सधि करना ही है। व्याकरण की दृष्टि से भले ही ऐसे शब्द शुद्ध न हो किन्तु छन्द की गति, यति, और मात्रा-लय में ठीक बैठते हैं। वैसे शब्दो को तोडने-मडोरने की ओर आपकी प्रवृत्ति नही रही। शब्दकोष के अत्यधिक समृद्ध होने के कारण आपने विकृति को बचाया है, शुद्ध और अशुद्ध दोनो प्रकार की सन्धि के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं —

| | |
|---|---|
| (अशुद्ध) क्यौंव=क्यो अव, | क्वासि=क्व असि (शुद्ध रूप) |
| (अशुद्ध) द्यावे=द्युति आवे | कृशोदरि=कृश उदरि (शुद्ध रूप) |
| (अशुद्ध) त्यौंव=त्यो अव, | हरिद्रागार=हरिद्राआगार (शुद्ध रूप) |
| (अशुद्ध) ज्यौंव=ज्यो अव, | किमपि=किं अपि (शुद्ध रूप) |

सन्धि और समास की दृष्टि से हरिवशजी की भाषा अत्यधिक पुष्ट और प्राजल है। जहाँ दो-चार स्थल पर छन्दानुरोध से विकृति आई भी है वह व्रजभाषा की प्रकृति से सर्वथा प्रतिकूल नही है इसलिए वह खटकने वाली नही है। गुण-सन्निपात में दोष का लेश स्वय निमज्जित हो जाता है। व्रजभाषा की प्रकृति में शब्द को घिसकर रखने का धर्म स्वाभाविक है। हितहरिवशजी ने शब्दो के कर्णकटु कोने, और पद-समुच्चय के काँटे घिसने में जो अपूर्व कौशल दिखाया है वह सूर और नन्ददास में भी नही मिलता।

## भाषा का चित्रधर्म और चित्रात्मकता

भाषा का चित्रधर्म वह है जिसके द्वारा किसी वस्तु या घटना का जगत् मे देखा या समझा हुआ रूप हमारे अन्तर्नेत्रो के सामने काव्य की भाषा द्वारा प्रतिकृति या प्रतिच्छवि-रूप में ज्यो का त्यो उपस्थित हो जाय। कल्पना मे आया हुआ यह रूप जितना ही स्पष्ट और स्वच्छ होगा भाषा का चित्रधर्म (इमेज) उतना ही श्रेष्ठ कहा जायगा। कवि जागतिक दृश्य या घटना को शब्दो के माध्यम से पाठक के अन्तर में चित्र के समान सचित या खचित करता है। चित्र-विन्यास में स्थूल और परिचित रूप से विषय को व्यक्त करने से भाव-सचार सहज रूप से होता है अत कुशल कवि भाव-जगत् की सूक्ष्म घटनाओ को स्थूल जगत् के प्रतीको, उपमानो और उदाहरणों द्वारा कल्पना में मूर्त रूप देने की चेष्टा करते हैं। श्री हरिवशजी की कविता में इस चित्रधर्म के अनेक सुन्दर वर्णन मिलते हैं।

सुरतान्त छवि का वर्णन करते हुए प्रिया का वह रूप अकित किया है जिसे पढकर कल्पना में शिथित दुकूल व कलान्त, श्रान्त नायिका का चित्र मूर्त होता जाता है। शब्द-विधान द्वारा बिम्ब (इमेज) बनकर भाव-सचार मे पूर्णता आ जाती है।

'आलस वलित बोल, सुरँग रँगे कपोल, सगम के सुख सूचत चैन।
रुचिर तिलक लेश, किरत कुसुम केश, शिर सीमन्त भ्रमित मनों तैन।
गलित उरसिमाल शिथिल किंकनी जाल हित हरिवश लता गृह शैन॥'

दूसरा वर्णन भी इसी कोटि का है :—

**'गलित कुसुम बेनी, सारंग नैनी, छूटी लट अचरा, वदति अलसाती ।**
**अधर निरंग, रंग रच्यौ री कपोलनि, जुवति चलति गजगति अरुझाती ।।'**

मद की स्थिति (उनीदी दशा) मे जुगलकिशोर कुंज से प्रभात वेला में वाहर आ रहे हैं :—

**'डगमगात पग परत शिथिल गति, परखत नख शशि छोर ।**
**दसन वसन खंडित, मषि मंडित, गंडतिलक कछु थोर ।।'**

विम्बाधायक भाषा का दूसरा रूप चित्रमय भाषा का है । उसे झंकार मे चित्र और चित्र में झंकार कहते हैं । शब्दचित्र, रेखाचित्र, भावचित्र आदि रूपो में वह चित्रात्मकता व्यक्त होती है । शब्द-चित्र ही सब चित्रो का मूल कारण है । हरिवंशजी ने भाषा के इस रूप को भली भांति पहचाना था और अपनी वाणी मे खूब प्रयोग किया था । भाषा की लाक्षणिकता को पहचानने मे जो कवि सिद्ध होगा वही चित्रधर्म भी ला सकेगा ।

चित्रात्मकता के लिए प्रतीक शैली से जो अप्रस्तुत योजना की जाती है उसके मूल में भी लाक्षणिकता का ही योग रहता है :—

**'कनक लता सी क्यो न विराजत अरुझी श्याम तमालही ।'**

उपमा अलंकार की प्रस्तुत योजना द्वारा कनक लता (राधा) और तमाल वृक्ष (श्याम) के मिलन का चित्र सहज ही में तैयार हो जाता है । इसी भाव को दूसरे शब्दो में यो कहा है :—

**'तरु तमाल सों उरझि कनक की वेलि री ।'**
**'भेंटि नवीन मेघ सों दामिनी ।'**

यहाँ भी नवीन मेघ (कृष्ण) और दामिनी (राधा) के मिलन का चित्र प्राकृतिक दृश्य के आधार पर प्रस्तुत किया गया है ।

**'शिथिल पलक में उठति गोलक गति विध्यौ मोहन मृग सकत चल न री ।'**

शिथिल पलको मे गोलक (नेत्रगोलक) की गति से (नेत्र-संचालन से) मोहन (कृष्ण) रूपी मृग विंध गया है । अर्थात् तुम्हारे अलसाए नेत्रो के भृकुटि विलास से कृष्ण व्याकुल हो गये हैं । यह मृग के आखेट का चित्र अंकित करके मोहन के मुग्ध होने का भाव उपस्थित करने वाला वर्णन है ।

## संगीतात्मकता

जिस भाषा से रस-भाव की उपलब्धि होती है, उसके दो धर्म स्पष्ट लक्षित होते हैं । एक संगीतधर्म और दूसरा चित्रधर्म । 'संगीत काव्य का रस है, चित्र रूप है । ध्वनि प्राण है, चित्र शरीर । इस प्रकार काव्य दृश्य द्वारा हमें चित्रकला की ओर ले जाता है और छन्द द्वारा संगीत के निकट । अभिव्यक्ति की पूर्णता के लिए दोनो आवश्यक हैं ।'[1]

---

१ काव्य में अप्रस्तुत योजना : ले० पं० रामदहिन मिश्र, पृष्ठ ४६ ।

काव्य में सगीत की दृष्टि मुख्यत छन्द, अनुप्रास और नादात्मक शब्दो से होती है। नाद-सौन्दर्य केवल श्रुतिमधुर ही नही लगता वरन् भाव की प्रेषणीयता में भी योग देता है। क्षेमेन्द्र तो इसीलिए छन्दोयोजना को रस और वर्णनीय विषय के अनुकूल ही रखने के पक्ष में हैं। सगीत की सृष्टि के लिए शब्दालकारो मे यमक, अनुप्रास, वीप्सा आदि का वडा हाथ है। माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणो की योजना भी रसानुकूल होने से पदावली को सगीतमय बनाने मे योग देती है अत वह भी सगीत-विधायक तत्त्वो मे है। श्री हरिवशजी की वाणी में काव्य का सगीत तो है ही साथ ही शास्त्रीय रागो से सम्बद्ध शुद्ध सगीत भी है। उन्होने अपने पदो में जहाँ काव्यात्मक सगीत का नाद-सौन्दर्य और शब्दो की ध्वन्यात्मकता पर ध्यान दिया है वहाँ वाह्य रूप से पदो को गेय बनाने के लिए विभिन्न रागो में भी बाधा है और प्रत्येक गेय पद पर राग का नाम भी दिया है।

सारग राग में बँधा हुआ निम्नलिखित पद वृत्यनुप्रास और माधुर्यगुण-मडित होकर सगीत की सरस-सुन्दर सृष्टि कर रहा है—

आज वन नीको रास बनायौ
पुलिन पवित्र सुभग यमुना तट मोहन वेनु वजायौ ॥
कल ककन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि खग मृग सचु पायौ ॥
जुवतिन मडल मध्य श्यामघन सारग राग जमायौ।

—हित चौरासी, पद स० ३६।

कविता मे नाद-सौन्दर्य के साधन हैं छन्द, तुक, गति, यति और लय। ये सब मिलकर रसानुकूल वर्णन होने पर काव्य मे सगीत भर देते हैं। कल्याण राग मे ग्रथित निम्नलिखित पद का सगीतजन्य प्रभाव द्रष्टव्य है —

रुचिर राजत वधू कानन किशोरी।
सरस षोडश किये, तिलक मृगमद दिये,
मृगज लोचन उबटि, अङ्ग शिर खोरी।
गड पडीर मडित चिकुर चन्द्रिका ॥
मेदिनी कवरि गूँथति सुरग डोरी ॥
श्रवन ताटक कै चिवुक पर बिन्दु दै
कंसु भि कचुकी दुरै उरज फल कोरी।
सुभग जमुनस्थली क्वनित किंकिन भली,
कोक सगीत रस सिंधु झकझोरी ॥

—हित चौरासी, पद सं० ६७।

उक्त पद का प्राण नाद-सौंदर्यजन्य सगीत है। इसके भावो में जहाँ सौदर्य की मधुरता है वहाँ भाषा में भी मादकता है। प्रत्येक शब्द और उसकी नाद-ध्वनि रोम-रोम में वासनात्मक भावना जगाने में समर्थ है। पद के सरस प्रवाह में एक ऐसा तन्द्रिल प्रवाह है कि वह अपने चारो ओर के वातावरण को शब्दो के माध्यम से ही मदिर बना देता है। नायक के

मानस मे वरवस अनुराग-मूलक सौन्दर्य और वासना की सृष्टि पद के पढने के साथ ही शब्द-नाद से ही होने लगती है।

सुन्दर निकुंज प्रदेश मे शरद की पूर्णिमा को राधाकृष्ण का मिलन हुआ, रात्रि का नीरव-निस्तब्ध समय था, शीतल मंद सुगंध पवन वह रहा था, कोमल किसलय दल से शैया का निर्माण किया था, उस पर मानवती राधा बैठी थी। श्रीकृष्ण चाटु वचन बोलकर उसके अगो को स्पर्श करने का उपक्रम कर रहे थे। यह परम सुन्दर दृश्य निम्न पद मे अंकित हुआ है। पद को पढते ही दो प्रकार का आनन्द उपलब्ध होता है। प्रथम नादात्मक सौन्दर्य-जन्य सगीत का और दूसरा भाव-सौन्दर्य का। पद की यति, गति और लय ध्यान देने योग्य हैं :—

मंजुल कलकुंज देश, राधा हरि विशद वेश,
राका नभ कुमुद वंधु, शरद यामिनी।
श्यामल दुति कनक अंग, विहरत मिलि एक सग,
नीरद मणि नील मध्य लसत दामिनी॥
अरुण पीत नवदुकूल, अनुपम अनुराग मूल
सौरभ युत शीत अनिल मद गामिनी।
किसलय दल रचित शैन बोलत पिय चाटु वैन,
मान सहित प्रतिपद प्रतिकूल कामिनी॥

—हित चौरासी, पद सं० ११।

नाद-सौंदर्य से परिपूर्ण पद-योजना तो हरिवशजी की वाणी मे पद-पद पर मिलती है।

श्री हरिवश जी शास्त्रीय संगीत के पडित थे। उनके पद रसिक-समाज में शास्त्रीय शैली से गाये जाते रहे हैं। आज भी राधावल्लभीय सगीत अपनी विशिष्ट गायन-शैली में समाज के विशिष्ट अवसरो पर सुना जाता है। हितचौरासी के पदो में चौदह रागो का समावेश है। एक ही छन्द में उनकी इस प्रकार किसी भक्त ने गणना कर दी है :—

छै पद विभास माझ, सात है विलावल में
टोड़ी में चतुर, आसावरी में द्वै बनै।
सप्त है धनाश्री मैं, जुगल वसत केलि
देव गाधार पंच, दोय रस सौं सनै।
सारग में षोडश हैं चारही मलार, एक
गौड़ में सुहायौ नव गौरी रस में भनै।
षट कल्याननिधि कान्हरे केदार वेद,
वानी हित जू की सब चौदह राग में गनै॥

## लाक्षणिक प्रयोग और ध्वनि

वाच्यार्थ से अधिक चारुता-प्रतिपादक व्यंग्यार्थ को ध्वनि कहते हैं। चमत्कार के

तारतम्य पर ही वाच्यार्थ या व्यग्यार्थ का प्रधान होना निर्भर है। व्यग्यार्थ के लिए लाक्षणिक प्रयोग का विधान कुशल कवि अपने काव्य मे करते हैं। किसी विशेष प्रयोजन के लिए लक्षणा शक्ति का प्रयोग होता है। श्री हरिवशजी की वाणी मे लक्षणा, व्यजना और ध्वनि के अनेक उदाहरण एकत्र किये जा सकते हैं—हम सांकेतिक रूप से निर्देशमात्र के लिए कतिपय पद प्रस्तुत करते हैं जिनमें लाक्षणिक प्रयोग के साथ सुन्दर ध्वनि-व्यग्य है।

प्यारौ भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे

—सारोपा शुद्ध प्रयोजनवती लक्षणा।

श्यामल द्युति कनक अग

—अभिधामूला शाब्दी व्यजना। (प्रत्युदाहरण)

चतवन को भये नैन चकोर

—लक्षणामूला शाब्दी व्यजना।

पिय सौं मिलै भले पिक वैनी

—साध्यवसाना लक्षणा।

माधुरी श्रवण पुट सुनत सुन राधिके
करत रति राज के ताप को नासुरी।

—बासुरी में कामजन्य ताप-विनाशक गुणो की विद्यमानता का वर्णन, वस्तु से वस्तु व्यग्य।

'पुलकित खग मृग वहत न वारि'

—वन की स्तब्धता और शान्त स्थिति-व्यग्य है।

'राधे देख वन की बात'

—साध्यवसाना लक्षणा।

'भृकुटि काम कोदड नैन सर कज्जल रेख अनी।'

—परिणाम अलकार से वस्तु-व्यग्य।

'ले राखे गिरि कुच विच सुन्दर सुरत सूर व्रज व्राल'

यहाँ मुख्यार्थ का तिरस्कार करके आलिंगन रूप ध्वनि ही मुख्य है। अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षित वाच्य-ध्वनि का यह भेद है।

'तू दामिनी मोहन नूतन घन'

—उपमा अलकार से वस्तु-ध्वनि।

'अब ही पगु भई मन की गति'

—लक्षणा।

गुणीभूत-व्यग्य और असलक्ष्य-क्रम ध्वनि के अनेक उदाहरण हितचौरासी में हैं। लाक्षणिक प्रयोग की दृष्टि से हरिवशजी की वाणी व्रजभाषा के भक्त-कवियो में श्रेष्ठतम कही जा सकती है।

## अलकार

अलकार कविता का सहज आभूषण हैं। निसर्ग-सिद्ध प्रतिभा वाले कवि की वाणी में अलकार अनायास स्वय लिपटे रहते हैं। किसी कृत्रिम आयास से उनकी योजना उसे नहीं

करनी पड़ती। उक्ति-वैचित्र्य, भावोत्कर्ष, विचारोत्तेजन और वचन-वक्रता आदि सभी काव्योपकरणो का प्रसाधन अलकार से होता है, अतः निरलकृत वाणी काव्य-पद-भाजन नही होती। किसी अलकार-विशेष की पूर्व-निश्चित योजना को सामने रखकर अलंकार-विधान भक्तो की वाणी में कभी नही होता। हितहरिवंश जी जैसे भक्त-कवि की वाणी तो सहज अलकारो की द्युति से जगमगा रही है। हरिवश जी के प्रिय अलकारो में—उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अतिशयोक्ति, विभावना, भ्रम, व्यतिरेक, प्रतीप, परिवृत्ति, उदाहरण, दृष्टात, परिकर और अनुप्रास हैं। इनके अतिरिक्त और अलकारो के भी दर्शन यत्र-तत्र होते हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं —

उपमा—

'लाल मरकतमणि छबीलौ तुम जु कंचन गात।'
'श्रीफल उरज कचन सी देही, कटि केहरि गुण सिंधु झकोरी।'
'वेनी भुजग चन्द्रसत वदनी, कदलि जघ जलचर गति चोरी॥'
'कामिनि कठ लागि किनि राजहि तू दामिनि मोहन नूतन घन।'
'इन्द्र नीलमणि श्याम मनोहर सात कुम्भ तनुगोरी॥'
'गजनायक प्रभुचाल गयंदनि गति वृषभानुकिशोरी।'
'अतिराजत घनश्याम तमाला, कंचन वेलि वनी व्रजवाला॥'
'नव नव भाय विलोभि भाम हम विहरत वरकरनी—वाक्यार्थोपमा।
'बीच नंदलाल व्रजवाल चपकवरन ज्यौंव घन तडित विच कनकमर्कतमनी॥'

उत्प्रेक्षा

'कोमल कुटिल अलक सुठि सोहत अवलम्वित युग गंडन।'
'मानहु मधुप थकित रस लम्पट नील कमल के खंडन॥'
'अंस अस बाहु दे किशोर और रूप रासि
मनो तमाल अरुझि रही सरस कनक वेलि।' (वस्तूत्प्रेक्षा)
'कुच युग पर नख रेख प्रकट मनों शकर शिर शशि टोल।'
'यों राजत कवरी गूंथित कच कनक कंज वदनी।
चिकुर चन्द्रिकनि वीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी॥'
'तरनि तनयातीर त्रिविध सखी समीर,
मानो मुनिव्रत धर्‌यौ कपोती कोकिला कीर॥'
'वदन जेति मनो मयंक अलक तिलक छवि कलक,
दपति श्याम अक मानौं जलद दामिनी॥'

रूपक

'सौभग रस शिर श्रवत पनारी पिय सीमन्त ठनी।
भृकुटि-काम-कोदड-नैन-सर-कज्जल रेख अनी॥
नाभि गंभीर मीन मोहन मन खेलन कौं हृदनी।'
'मानस मृग वल वेधत भृकुटि धनुष दृग चाप।'

ये अलि प्रिया वदन अम्बुज रस अटके अनत न जात।
हिततहरिवंश नाभि सर जलचर जांचत सावल गात।'
'बांधत भृंग उरज अम्बुज पर अलक निवध किशोरी।
अवनी उदर नाभि सरसी में मनो क कुछ मादिक मधु घोरी।।

रूपकातिशयोक्ति

'नव, नारंग कनक हीरावलि विद्रुम सरस जलजमिन गोरी।
पूरित रस पीयूष जुगल घट कमल कदलि खजन की जोरी।।'
'कनक लता सी क्यों न विराजत अरुझी श्याम तमालहीं।'
'रवि शशि शक भजन किये अपवस अद्भुत रंगनि कुसुम वनाऊं।'

भेदकातिशयोक्ति

'नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभानुकिशोरी।'
'नव पीताम्बर नवल चूनरी नई-नई बूंदन भीजत गोरी।।'

विभावना

'विनु भूषण भूषित तनु गोरी।'

व्यतिरेक

'नैननि पर वारौ कोटिक खजन।'
'खजन मीन मृगज मद मेटत कहा कहो नैनन की वातें।'
'तिलक कुंडल चन्द्रनि लजावैं।'

प्रतीप

'दशननि कुंद कली छवि लज्जित।'

भ्रम

'हरि उर मुकुर विलोकि अपनपौ विभ्रम विकल मान युत भोरी।
हितहरिवंश करत करधूनन प्रणय कोप मालावलि तोरी।।'

विषम

'जाहि विरंचि उमापति नाये तापैं तें वन फूल विनाये।'

परिवृत्ति

'तैं निज भजन कनक तन जीवन लियो मनोहर मोल।'

दृष्टान्त

'प्रीति न काहू की कानि विचारैं।
मारग अपमारग, विथकितमन को अनुसरत निवारैं।
ज्यों सरिता सांवन जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारैं।।

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायो ।
द्वै तुरंग पर चढ़त हठि परत कौन पै धायो ।"

अधिक

"अति गजमत निरंकुश मोहन निरखि वंधे लट पास ।"

काव्यलिंग

'आज सम्हारत नाहिन गोरी ।
फूली फिरत मत्त करनी ज्यो सुरत समुद्र झकोरी ।'

शब्दालकारो मे अनुप्रास की छटा तो हितचौरासी के प्रत्येक पद में देखी जा सकती है । उसके उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक नही है । ऊपर हमने जो उदाहरण दिये हैं, वे केवल थोडे-से निदर्शन मात्र हैं ।

### छन्द

हितजी की वाणी गेयपद-प्रधान है । प्राय शास्त्रीय सगीत के रागो मे पदो को वाँधा गया है फिर भी सवैया, दोहा, अरिल्ल, ताटक, कु डलियाँ, छप्पय आदि छन्द मिलते हैं । भक्तो की वाणी रस वर्णन में प्राय गेयपद-शैली का ही अनुसरण करती रही है अत हरिवशजी भी उसी परम्परा का निर्वाह करते रहे । उन्हे यह परम्परा अपने पूर्ववर्ती भक्तो से मिली थी ।

## हितचौरासी और सूरसागर के पदों में साम्य

सूरसागर और हितचौरासी के जिन पदो में पूर्ण साम्य है हम उन्हे तुलनात्मक अनुशीलन के लिए नीचे उद्धृत कर रहे हैं । इन पदो मे अपूर्व समता देखकर यह भ्रम होना स्वाभाविक है कि वे पद या तो सूरदास रचित हैं जो वाद मे हितहरिवशजी की वाणी में समाविष्ट कर लिये गये अथवा इनके मूल प्रणेता हितहरिवशजी हैं और परवर्ती लिपिकारो ने प्रमादवश या किन्ही भक्तो ने जानवूझकर इन्हे सूरसागर में रख दिया । ऐतिहासिक प्रमाण से यह निर्णय करना कठिन है कि इनका मूल प्रणेता कौन है किन्तु अभिव्यंजना-शैली, भाववस्तु और साम्प्रदायिक भावना के आधार पर कतिपय पदो के विषय में उनके रचयिता का निर्णय किया जा सकता है । नीचे एक-एक पद क्रमश दोनो ग्रथो से उद्धृत करके इसी दृष्टि से विचार किया गया है :—

१— चलहि किन मानिनि कु ज कुटीर ।
तो विनु कुंवरि कोटि वनिता जुत मथत मदन की पीर ॥
गदगद सुर, विरहाकुल पुलकित श्रवत विलोचन नीर ।
क्वासि क्वासि वृषभानु नन्दिनी विलपत विपिन अधीर ॥
वशी विशिख, व्याल मालावलि, पंचानन पिक कीर ।
मलयज गरल, हुतासन मारुत, साखामृग रिपु चीर ॥
हितहरिवश परम कोमल चित चपल चली पिय तीर ।
सुन भयभीत वज्र को पजर सुरत सूर रणधीर ॥

—हितचौरासी, पद स० ३७ ।

चलौ किन्तु मानिनि कुंज कुटीर ।
तुव विनु कुवर कोटि वनिता तजि, सहत मदन की पीर ।।
गद्‌गद् स्वर सभ्रम अति आतुर स्रवत सुलोचन नीर ।
क्वासि क्वासि वृषभानु नन्दिनी विलपत विपिन अधीर ।।
वशी विषिख काल व्यालावलि पचानन पिक कीर ।
मलयज गरल हुतासन मारुत साखामृग रिपु चीर ।
हिय मे हरखि प्रेम अति आतुर चतुर चली पिय तीर ।
सुन भयभीत वज्र को पिंजर, सूर सुरत रनधीर ।।

—सूरसागर, पद स० २४५५, पृष्ठ स० १०७२ ।
(काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सस्करण)

## विवेचन

उपर्युक्त पद मानिनी प्रिया के प्रति सखी की मनुहार-भरी उक्ति है—हे मानिनि ! तुम कुंज-कुटीर में क्यो नही चलती ? देखो, तुम्हारे विना, श्याममुन्दर को कोटि-कोटि सुन्दरियो से घिरे होने पर भी मदन की वाधा पीडा दे रही है। तुम्हारे वियोग में उनका स्वर गद्‌गद् है, शरीर रोमाचित है, चित्त विरहाकुल है, नेत्रो से अश्रुप्रवाह जारी है। वे अत्यन्त अधीर होकर समस्त वन मे हे वृपभानु-नन्दिनी तुम कहाँ हो—कहाँ हो—कहकर विलाप कर रहे हैं। तुम्हारे वियोग मे उन्हे वशी वाण के समान, वक्षस्थल पर धारण की हुई मालाएँ सर्प के समाम, कोयल और कीर की मीठी बोलियाँ सिंह की गर्जना के समान प्रतीत हो रही हैं। शीतल चन्दन विप के समान दाहक, शीतल वायु अग्नि के समान दग्ध करने वाली और वस्त्र (शाखामृग के रिपु) कमा फल के समान दुखदायी लग रहे हैं।

हितहरिवशजी कहते हैं कि इतना सुनते ही परम कोमल चित्त राधा शीघ्र ही प्रियतम के समीप चल पडी, उन सुरत शूरवीर का आगमन सुनकर वज्र के समान पजर वाला कामदेव भी भयभीत हो उठा।'

सूरसागर के पद में तीन स्थलो पर परिवर्तन है। 'वनिता जुत' की जगह 'वनिता तजि', 'मथत मदन' की जगह 'सहत मदन' और 'हितहरिवश' के स्थान पर 'हिय में हरखि' पाठ है। यद्यपि इतने पाठ-परिवर्तन से पद के अर्थ मे कोई अन्तर नही आता किन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस सूक्ष्म मान का वर्णन इस पद में है वैसा सूरदास मे मिलता है या नही। उत्तर में कहा जा सकता है कि इस कोटि का मान सूर ने भी गाया है किन्तु इस पद के मूल में राधा के उत्कर्ष के साथ अभिव्यजना में भी शुद्ध तत्सम पदावली की प्रधानता है। अस्सी प्रतिशत शब्द सस्कृत के तत्सम शब्द हैं जो सूर की रचना में नही मिलते। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पद परवर्ती काल में सूरसागर में स्थान पा गया।

२　आजु वन राजत जुगल किशोर ।
नन्दनन्दन वृषभानु नन्दिनी उठे उनींदे भोर ।।
डगमगात पग परत, शिथिल गति, परसत नख शशि छोर ।
दषन वसन खडित मषि मडित, गड तिलक कछु थोर ।।

दुरत न कच करजन के रोकै अरुन नैन अलि चोर।
हितहरिवंश सँभारन तन मन सुरत समुद्र झकोर।
—हित चौरासी, पद सं० ३३।

आज वन राजत जुगल किसोर।
दसन-वसन खंडित, मुखमंडित, गंड तिलक कछु थोर॥
डगमगात पग धरत सिथिल गति उठे काम रस भोर।
रति पति सारग अरुन महा छवि उमगि पलक लगे भोर॥
श्रुति अवतऊ विराजत हरि सुत सिद्ध दरस सुत श्रोर।
सूरदास प्रभु रस वस कीन्हीं परी महा रन जोर॥
—सूरसागर, पद सं० ११६६। १८१७। पृष्ठ ६८४।
ना० प्र० स० संस्करण

## विवेचन

दोनो पदो के चरण-क्रम मे पर्याप्त विपर्यास होने के साथ भावार्थ मे भी अन्तर है। अन्तिम दो चरण दोनो पदो मे सर्वथा भिन्न हैं। अत भावार्थ मे साम्य नही रह गया है फिर भी उक्त पद का तात्पर्य इस प्रकार है—

'आज वृन्दावन में राधा और कृष्ण ( प्रभात के समय ) अति शोभा पा रहे है। श्रीकृष्ण और राधा प्रात काल होने पर उनीदे (उन्निद्र दशा मे) से उठ पडे है। (रति विहार के कारण रात्रि में गाढनिद्रा-सुख नही ले सके अतः इस समय भी नेत्रो मे नीद भरी हुई है)। चलते समय नीद के कारण चरण डगमगाते से है, चाल शिथिल है, चलते-चलते दोनो एक दूसरे के वस्त्राचलो को अपने-अपने नखचन्द से स्पर्श करते हैं और अपनी ओर खीचते चलते है। अधर क्षत-विक्षत है, गडमडल कज्जल से मडित है। ललाट-पटल पर तिलक कुछ थोड़ा-सा ही शेप रह गया है। केशराशि एव अगुलियो द्वारा छिपाये जाने पर भी अरुण नयन जो भ्रमर के समान चोर है छिपते नही। गोप्य रसपूर्ण रति-विहार का भेद प्रकट किये दे रहे है। हितहरिवश कहते है कि सुरत-समुद्र को झकझोरने के कारण आज दोनो मे अपने तन-मन को सँभालने की शक्ति नही रह गई है।'

उक्त पद में रति-विहार का वर्णन है। सूरदास ने अपने पदो में यद्यपि सुरत-प्रसगो का उल्लेख किया है किन्तु युगल किशोर की इस उनीदी दशा का सहज स्वाभाविक वर्णन हितहरिवशजी की नित्यविहारपरक साम्प्रदायिक भावना के ही अधिक निकट है। इस प्रकार के कई पद चौरासी मे मिलते हैं। सूरदास के पद में जो परिवर्तन हुआ है वह भी साम्प्रदायिक भावना के आग्रह से ही हुआ प्रतीत होता है। सुरत-क्रीडा के भाव को पद में परिवर्तन करके हल्का बनाया गया है। यद्यपि सूरदास की शैली से यह पद मेल रखता हुआ है, किन्तु इसके मूल प्रणेता श्री हरिवश जी ही हैं।

३. नागरता की राशि किशोरी।
नव नागर कुल मौलि सांवरौ परवस कियौ चितै मुख मोरी॥
रूप रुचिर अग-अग माधुरी विनु भूषण भूषित व्रज गोरी।
छिन छिन कुशल सुधंग अंग में कोककमलरस सिन्धु झकोरी॥

चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुच कोरी ।
प्रीतम नैन जुगल खजन खग बांधे विविध निवधन डोरी ॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनो कछुक मादिक मधु घोरी ।
हितहरिवश पिवत सुन्दर वर सींव सुदृढ़ निगमन की तोरी ॥

—हित चौरासी, पद स० ८२ ।

नागरता की रासि किसोरी ।
नवनागर कुल मूल सावरी, बरबस कियौ चितै मुख मोरी ॥
रूप रुचिर अंग अग माधुरी, बिनु भूपन भूपित व्रज गोरी ।
छिन-छिन कुसल सुगध अग में कोक रभस रस सिधु झकोरी ॥
चचल रसिक मधुप मोहन मन राखै कनक कमल कुच कोरी ॥
प्रीतम नैन जुगल खजन खग बांधे विविध निवधनिडोरी ॥
अवनी उदर, नाभि सरसी में मनहुँ कछुक मादक मधु रोरी ।
सूरदास पीवत सुन्दरवर सींव सुदृढ़ निगमनि की तोरी ॥

—सूरसागर, पद स० १२०१ । १८१६ । पृष्ठ ६८४ ।

## विवेचन

उपर्युक्त दोनो पदो में केवल एक शब्द का अन्तर है। प्रथम पद के चतुर्थ चरण में "सुघग" शब्द है जब कि सूरदास के पद में 'सुगध' पाठ दिया है। सुघग नृत्य और शरीर-चाचल्य की दृष्टि से सुन्दर शब्द-चयन है। सुगध केवल शारीरिक आमोद के अर्थ में आया है। शेष दोनो पद समान हैं।

पद का भावार्थ इस प्रकार है —

"(इस पद में राधा के रूप, गुण, शील, सौन्दर्य, माधुर्य, उदारता, सुकुमारता, कला, विद्या, चातुर्य, रसिकता आदि अनेक गुणो का वर्णन है।) किशोरी राधा सुन्दरता की राशि है। नव-नागर-समूह के शिरोमणि श्यामसुन्दर को राधा ने अपनी चितवन और ललितभाव से अपने वश में कर लिया है या विवश कर दिया है। इनका रूप अत्यन्त रुचिर है, अग-अग में माधुर्य समाया हुआ है। बिना आभूषणो के भी यह व्रजगोरी राधा विभूपित रहती है। यह सुघग नृत्य के प्रत्येक अग में प्रवीण तो है ही साथ ही एकान्तिक कोक विलास के रस-समुद्र में भी सतत सराबोर रहती है। इसने अपने कनक सदृश कुच कमलो की कोर मे चचल रसिक मनमोहन के मन को अटका रखा है। प्रियतम कृष्ण के जुगल नयन रूपी खजन पक्षी को भी बधन की डोर से बाँध रखा है। हितहरिवश जी कहते हैं कि इस परम सौन्दर्यमयी राधा ने अपने उदर-रूपी भूमि में स्थित नाभि-सरोवर में कुछ अनिर्वचनीय मादक एव मधुर रस घोल रखा है जिसे सौन्दर्य-शिरोमणि श्रीकृष्ण वेदो की सुदृढ़ मर्यादा-सीमाओं का भी अतिक्रमण कर पान कर रहे हैं।"

पद के भावार्थ का अनुशीलन करने पर दो तथ्य स्पष्ट रूप से हमारे समक्ष आते हैं। अन्तिम दो चरणो में नाभिसर के रसपान के लिए वेदोक्त मर्यादा के उल्लघन का सकेत विधि-निषेध-मर्यादा को न मानने का ही सकेत है जो राधावल्लभीय सम्प्रदाय की विशेषता है। सेवक

जी (दामोदरदास) ने भी अपनी वाणी में यही भाव इसी पद की व्याख्या मे व्यक्त किया है—

"निगम लोक मरजाद भंजि क्रीडन्त रंग रस"

यथार्थ मे यह पद नित्यविहार का गूढ-गुह्य सकेत देता है। राधासुधानिधि में इसी भाव को व्यक्त करते हुए हितहरिवशजी लिखते हैं—

अलक्ष्य राधाख्य निखिल निगमैरप्यतितरां।
रसाम्भोधै सारं किमपि सुकुमार विजयते।"

सूरदास व्रजलीला-गान करने वाले भक्त हैं, नित्यविहार की इस गूढ-गहन दशा का वर्णन करना उनका अभीष्ट विषय ही नही रहा अतः यह पद निस्सन्देह हितचौरासी का है और परवर्त्तीकाल मे सूर-सागर में सक्रमित हुआ है।

४. नन्द के लाल हर्‌यौ मन मोर।
हौं अपने मोतिन लर पोवति कांकर डारि गयो सखि मोर॥
पंक विलोकनि चाल छबीली रसिक शिरोमणि नन्दकिशोर।
कहि कैसे मन रहत श्रवन सुनि सरस मधुर मुरली की घोर॥
[इन्दु गोविन्द वदन के कारन चितवन को भये नैन चकोर।]
हित हरिवंश रसिक रसजुवती तूलै मिलि सखी प्राण अकोर॥
—हित चौरासी, पद सं० १३।

नन्द के लाल हर्‌यौ मन मोर।
हौं बैठी मोतिन लर पोवति कांकरि डारि चलै सखि मोर॥
पंक विलोकनि, चाल छबीली, रसिक सिरोमनि नंदकिशोर।
कहि काको मन रहे श्रवन सुनि, सरस मधुर मुरली की घोर॥
वदन गुविन्द इन्दुकै कारन तरसत नैन विहग चकोर।
सूरदास प्रभु के मिलिवे को कुच श्रीफल हो करति अंकोर॥
—सूरसागर, पद सं० १८७१, पृष्ठ सं० ६००

## विवेचन

उपरिलिखित दोनो पदो में विशेष अन्तर नही है। अन्तिम दो चरणो मे कुछ परिवर्तन हुआ है यद्यपि भावार्थ पर उसका कोई विशेप प्रभाव नही पडता। हितचौरासी के पद में पाठ है—"चितवन को भये नैन चकोर" उसकी जगह सूर सागर में "तरसत नैन विहग चकोर" है। भाव प्राय· समान है। अन्तिम चरण में चौरासी का पाठ है—"हित हरिवश रसिक रस जुवती तूलै मिलि सखी प्राण अकोर" इसकी जगह सूरसागर का पाठ नितान्त परिवर्तित है—"सूरदास प्रभु के मिलिवै को कुच श्रीफल हो करति अकोर"। दोनो पदो के रचयिताओ का शैली-भेद इस पद मे स्पष्ट नही है। भावार्थ सरल और स्पष्ट है। किन्तु शब्दावली के आधार पर हम इसे श्री हितहरिवशजी की ही रचना मानते हैं।

५. नवल नागरि, नवल नागर किशोर मिलि,
कुंज कोमल कमल दलनि सिज्या रची।
गौर श्यामल अग रुचिर तापर मिले,
सरस मणि नील मनों मृदुल कंचन खची॥

सुरत नीवी निबध हेत प्रिय मानिनी प्रिया की,
भुजनि में कलह मोहन मची ।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत रोष,
हुंकार गर्व दृग भगि भामिनि लची ॥
कोक कोटिक रभस रहसि हरिवश हित,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची ।
प्रणय मम रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिवत मकरन्द सुख राशि अन्तर सची ॥

—हित चौरासी, पद स० ५० ।

नवल नागरि नवल नागर किसोर मिलि,
कु ज कोमल कमल दलनि सिज्या रची ।
गौर सावल अग रुचिर तापर मिले,
सरस मनि मृदुल कचन सु आभा लची ।
सुन्दर नीवी बध रहति पिय पानि गहि,
पीय के भुजनि में कलह मोहन रची ।
सुभग श्रीफल उरज पानि परसत हुकरि,
रोषि करि गर्व दृग भगि भामिनी लची ॥
कोटि-कोटिक रभस रसिक हरि सूरज,
विविध कल माधुरी किमपि नाहिन बची ।
प्रानमन रसिक ललितादि लोचन चषक,
पिवति मकरन्द सुख रासि अन्तर सची ॥

—सूरसागर, पद स० ११६१ । १८०६ । पृष्ठ स० ६८१ ।

## विवेचन

उपर्युक्त दोनो पदो में विशेष अन्तर नही है । छाप के अतिरिक्त प्राय दोनो पद समान हैं और एक ही भाव की व्यजना करते हैं ।

रात्रि के प्रहर का अन्त का समय है । सखियो ने युगलकिशोर की शयन-वेला जान उन्हे निभृत निकु ज तक पहुँचा दिया है जहा पहुँच कर युगलकिशोर ने स्वय अपने करो से कमनीय कोमल दलो की शैया तैयार की है और उस पर दोनो विराजमान हैं । इसके बाद सुरतकेलि-रस का अवगाहन करते हैं । गौर और श्याम अग ( राधा और कृष्ण ) परस्पर मिलकर ऐसे शोभायमान हो रहे हैं जैसे कोमल कचन में सुन्दर नील-मणि खचित कर दी गई हो । सुरत-रस के लिए उद्यत कृष्ण के नीवी बधन खोलने पर राधा कृष्ण के साथ मनोहर कलह रचती है । राधा के सुभग श्रीफल सदृश उरोजो के स्पर्श करने पर वह रोषपूर्ण हु कार, गर्व एव भ्रू-भगिमा के साथ झुक जाती है अर्थात् अनखा जाती है। हितहरिवश कहते हैं कि इस एकान्त के आनन्द विलास रूप मिलन में कोटि-कोटि कोक की विविध एव सुन्दर मधुरिमाओ में से कोई एक भी न बची । स्नेहमयी ललिता आदि सखियाँ अपने

नेत्रो का पान-पात्र बनाकर इस नित्यविहार-रस का पान करते हुए अपने हृदय मे अमित आनन्द की मकरन्द राशि को सचय करने लगी।

यह पद नित्यविहार-दशा का वर्णन करने वाला है। अन्तरग भावना मे इस पद को रूपासक्ति के साथ राधाकृष्ण की तादात्म्य स्थिति का द्योतक भी कहा जा सकता है। सूरदास ने नित्यविहारपरक दृष्टिकोण से पद-रचना नही की है। अत इस पद को सामान्य अर्थ का सूचक मानकर सूरदास रचित नहीं कहा जा सकता।

६. नयौ नेह नव रंग नयौ रस नवल श्याम वृषभानु किशोरी।
नव पीताम्बर नवल चूनरी नई-नई बूँदन भीजत गोरी॥
नव वृन्दावन हरित मनोहर नव चातक बोलत मोर मोरी।
नव मुरली जु मलार नई गति श्रवन सुनत आये घनघोरी॥
नव भूषण नव मुकुर विराजत नई-नई उरप लेत थोरी-थोरी।
हित हरिवंश असीस देत मुख चिरजीवौ भूतल यह जोरी॥
—हित चौरासी, पद स० ४४।

नयौ नेह, नयौ गेह, नयौ रस, नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयौ पिताम्बर, नई चूनरी नई-नई बूँदनि भीजत गोरी।
नये कुंज अति पुंज नये द्रुम सुभग जमुन जल पवन हिलोरी।
सूरदास प्रभु नव रस विलसत नवल राधिका जोवन भोरी॥
—सूरसागर, पद स० ६८५। १३०३। पृष्ठ सं० ५०१।

## विवेचन

उपर्युक्त दोनो पदो में पर्याप्त अन्तर है। हितहरिवंशजी के पद में छह चरण और सूरदासजी के पद मे चार चरण हैं। सूरदासजी का पद कामोद राग में गेय है तो हितजी का पद मलार में। इसके अतिरिक्त हितजी के पद मे नवल-श्याम और नवल वृषभानुकिशोरी का पारस्परिक मिलन वर्णन है जबकि सूरदास के पद मे केवल वृषभानुकिशोरी की ही चर्चा है।

यह पद नित्यविहार का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। सुहावनी पावस ऋतु में मधुर गर्जन करते हुए नव जलधर आकाश में छा गये हैं। नवल वेश धारण करके श्याम-श्यामा भी पावस का आनन्द उठाने के लिए प्रथम वर्षा की नवल बूँदो में भीग रहे हैं। श्यामसुन्दर और राधिका अपने नये पीताम्बर और नई चूनरी धारण किये हुए हैं। नवीन वृन्दावन मे नये मयूर और चातकवृन्द हैं। श्यामसुन्दर ने अपनी नवीन मुरली से नया स्वर निकाला है जिसे सुनकर नये-नये मेघ आकाश में घुमड आये हैं। श्यामसुन्दर अपने सिर पर नया मुकुट और शरीर पर नये आभूषण धारण किये हुए है। वे नवीन नृत्य में उरप और तिरप गतियो से लीन है। इस नवीन समाज एवं नूतन सुख-साज को देखकर हितहरिवंश अपने मुख से असीस देते हुए कहते है कि यह नवीन जोडी इस धाम (वृन्दावन) में क्रीडा करती हुई चिरजीवी रहे।

सूरदास के पद मे केवल नवल राधिका का ही वर्णन है जो पद की भावना की दृष्टि

से अपूर्ण है। नित्यविहार को नित्य नूतन और उसके समाज-साज को नित्य-नवीन माना जाता है। वह शाश्वत और नित्य है अत उसके समस्त उपादान भी नित्य नूतन रहते हैं। यह शुद्ध राधावल्लभीय साम्प्रदायिक भाव है जो इस पद में अभिव्यक्त हुआ है। सूरदास जी की रचना मे इसी कारण यह पद भिन्न रूप से स्थान पा सका है। यथार्थ में यह हितहरिवश जी की ही रचना है।

## श्री हितहरिवंशजी के दो गद्यात्मक पत्र

श्री हितहरिवशजी ने अपने शिष्य वीठलदास को, जो जूनागढ में दीवान थे, दो कुशल-पत्र लिखे थे। इन पत्रो की प्राचीन हस्तलिखित कोई प्रति हमारे देखने में नही आई किन्तु परम्परा से इनका उल्लेख होता आ रहा है। इन पत्रो की भाषा, वाक्य-विन्यास और शब्द-समूह पुरातन शैली की दृष्टि से निश्चय ही गद्यवार्त्ता की कोटि में रखे जाने योग्य है। टीका के गद्य में जिस प्रकार 'जो है सो' करके अर्थोद्घाटन की शैली थी, वैसी ही इन पत्रो में दृष्टिगत होती है। 'जोरी सुमिरन मत्त रहो, जोरी जोहैं सुख वरपत है'—आदि वाक्य इसके लिए उदाहृत किये जा सकते हैं।

प्रथम पत्र

'श्रीमुख पत्री'

'श्री सकल गुण सम्पन्न रस रीति वढावन चिरजीव मेरे प्राणन के प्राण वीठलदास योग्य लिखित श्री वृन्दावन रजोपमेवी हरिवश जोरी सुमरिन वचवौ। जोरी सुमरिन मत्त रहा। जोरी जोहै सुख वरपत है। तुम कुशल स्वरूप है। तिहारे हस्ताक्षर वारम्वार आवत है। सुख अमृत स्वरूप है। पत्री वाचत आनन्द उमडि चलै हैं। मेरी बुद्धि को इतनी शक्ति नही जो कहि सको पर तोहि जानत हो। श्री स्वामिनी जी तुम पर वहुत प्रसन्न हैं। हम कहा आशीर्वाद देंय, हम यही आशीर्वाद देत हैं कि तिहारो आयुप वढौ और तिहारी सकल सम्पत्ति बढौ। तिहारे मन को मनोरथ पूरण होहु, हम नेत्रनि मुख देखें, हमारी भेंट यही है। यहा की काहू वात की चिन्ता मत करो, तेरी पहिचान तें मोकू श्री श्यामाजू वहुत सुख देत हैं। तुम लिखी हो दिन दश मे आवेंगे सोई आशा प्राण रहे हैं। श्री श्यामाजू वेगि ले आयें। चिरजीव कृष्णदास कौ जोरी प्रसन्न है, श्याम वन्दिनी विहार चन्दन लेनो। गोविन्ददास, सन्तदास की दडौत, गागू मेदा को कृष्ण सुमिरन वाचनौ, कृष्णदास मोहनदास को कृष्ण सुमिरन, रगा की दडौत, वनमाली धर्मशाला को कृष्ण सुमिरन वाचनो।"

द्वितीय पत्र

श्री वृषभानु नन्दिनी जयति। जोग्य लिखित श्री हरिवश वीठलदास के कोटि-कोटि अपराध में सेवी आगले पाछिले। वीठलदास मेरे प्राण हैं। जो शास्त्र मर्यादा सत्य है और गुरु महिमा ऐसे ही सत्य है तो व्रज नव तरुणि कदम्ब चूडामणि श्री राधे तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी को होत है तातें यह मर्यादा राखनौ। तुम दोऊ सफल आनन्द वरसौ। वीठलदास को अहो सीचनौं॥ इति।[1]

---

१—श्री हितामृत सिन्धु—सम्पादक—हित गोवरधनवास—वृन्दावन, पृष्ठ १–२।

## टिप्पणी

उपर्युक्त दोनो पत्र हमने 'हितामृतसिन्धु' नामक प्रकाशित ग्रंथ से उद्धृत किये है। राधावल्लभीय प्रकाशित ग्रथो मे प्रायः ये इसी रूप में दिये गये हैं। श्री गोस्वामी रूपलालजी ने 'हितसुधासागर' मे सबसे पहले (संवत् १९९३) इन्हे प्रकाशित कराया था तभी से ये इसी रूप में प्रकाशित होते आ रहे हैं। इनके पाठान्तर हमे प्राचीन प्रतियो में जहाँ परिवर्तित रूप में मिले उन्हे हम नीचे दे रहे हैं। रेखाकित स्थल द्रष्टव्य हैं '—

देव—पाठान्तर—देहि, तेई—पाठान्तर—सोई।

वढावनि—पाठान्तर—वढावन,

पाठ-भेद—इतना अश छोड़ दिया गया है—

"कृष्णदासी मनोहरी को जोरी सुमिरन वांचनो।"

दूसरे पत्र में कोई पाठभेद नही है। दूसरा पत्र श्री हरिवशजी की राधा-विषयक गुरु-निष्ठा का द्योतक है। "तिहारे स्थापे गुरुमार्ग विषै अविश्वास अज्ञानी कौ होत है।" यह वाक्य राधा को इष्टाराध्या ही नही गुरु भी घोषित करता है॥

## उपसंहार

श्री हितहरिवश रचित साहित्य का हमने ऊपर की पक्तियो के सक्षेप मे विवेचन किया है। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से अभी तक इनके साहित्य का मूल्याङ्कन नही हुआ। फलत हिन्दी साहित्य के इतिहासो मे हितजी का सम्प्रदाय प्रवर्त्तक के रूप में नामोल्लेख मात्र ही उपलव्ध होता है। भक्तकवि के रूप मे उन्हें उचित सम्मान नही दिया जाता। हमारी यह निश्चित धारणा है कि यदि हितहरिवशजी के व्रजभाषा-साहित्य का विधिवत् अध्ययन-अनुशीलन किया जाय तो वह काव्य-सौष्ठव तथा माधुर्य-भाव का श्रेष्ठतम साहित्य सिद्ध होगा।

## द्वितीय अध्याय

# श्री दामोदरदास (सेवक जी)

श्री हितहरिवशजी की वाणी के अन्तरग मर्म का उद्घाटन करने वाले भक्त रसिको मे श्री सेवकजी का स्थान मूर्धा पर है। श्री सेवकजी ने अपनी दिव्य दृष्टि और नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा 'हित चौरासी' का रहस्यपूर्ण गूढाशय जिस शैली से हृदयगम किया और अपनी वाणी द्वारा अनुयायियो को कराया, वैसा उनसे पहले नही हुआ था, और कहना न होगा कि वैसी सूत्रात्मक शैली से बाद में भी नही हुआ।

श्री सेवकजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा समर्थित विशेष सामग्री उपलब्ध नही है। परवर्त्ती भक्तमाल या भक्त-जीवनियो में जो कुछ लिखा मिलता है उसी को प्रमाण मानकर इनके जीवनवृत्त का सकलन हमने किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक भक्त-कवियो की वाणियो में श्री सेवकजी का स्मरण और नामोल्लेख मिलता है किन्तु श्री भगवत मुदित ने तथा श्री उत्तमदास ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' तथा प्रियादासजी ने अपने 'सेवक चरित्र' में विस्तारपूर्वक आपका चरित्र लिखा है। प्रियादासजी का 'सेवक चरित्र' यथार्थ में इतिवृत्तात्मक जीवन-चरित्र न होकर भावात्मक शैली से लिखा हुआ साम्प्रदायिक भक्त-चरित्र है जिसमें जीवन की घटनाएँ अकित न होकर भावना की भूमि पर भक्त-चरित्र की कल्पना है। भगवत मुदित और उत्तमदास के चरित्रो में भी सेवकजी की जन्मतिथि, वश-परिवार आदि का कोई सकेत नही है। केवल उन प्रमुख घटनाओ का वर्णन है जिनका सेवकजी के चरित्र पर युगान्तरकारी प्रभाव पडा और जिनसे प्रभावित होकर सब कुछ त्यागकर वे श्री हित महाप्रभु के मन-वचन-कर्म से अनुयायी हो गये।

श्री भगवत मुदित ने ६७ पदो में विस्तार से सेवकजी के जीवन की घटनाओ पर प्रकाश डाला है किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक आधार ढूँढ़ लेना सहज नही। श्री उत्तमदास जी लिखित चरित्र भी लगभग वैसा ही है। अन्तर केवल इतना है इसमें किम्वदन्तियो को समेट कर सक्षेप में प्रस्तुत किया गया है। फलत २१ पदो मे समस्त जीवनवृत्त लिख दिया है। इन दोनो चरित्रो के आधार पर हम सक्षेप में श्री सेवकजी की जीवनी प्रस्तुत करते है:

श्री भगवत मुदित ने लिखा है कि गोडवाना प्रदेश में ( वर्त्तमान जवलपुर ) गढा नामक एक प्रसिद्ध गाँव था। वहाँ एक पवित्र ब्राह्मण-परिवार में श्री दामोदरदास ( श्री सेवकजी का पूर्व नाम ) का जन्म हुआ। उसी परिवार मे श्री चतुर्भुजदास नामक एक और नैष्ठिक सज्जन थे। सेवकजी का इनके प्रति बडा अनुराग था। दोनो में सहज, सरस, निश्छल प्रेम था। दोनो ही वडे विनीत, सज्जन, पंडित, चतुर और कुलीन थे।[1] किन्तु यह कही नही लिखा कि किस सम्वत् में इनका जन्म हुआ। जन्म-सम्वत् निर्धारण करने के लिए हमने प्रियादास लिखित 'श्री सेवक चरित्र' का आश्रय लिया है। यद्यपि यह जन्म-सम्वत् भी सर्वथा प्रामाणिक नही है क्योकि प्रियादासजी ने परम्परागत किसी अनुश्रुति को आधार मानकर एक स्वप्न लिखा है जिसमें सेवकजी का वाह्य रूप और आयु लिखी है। उसी के आधार पर हमने सम्वत् १५७७ के आसपास इनका जन्म-सम्वत् माना है। श्री प्रियादास लिखित स्वप्न इस प्रकार है :—

'गौरवरन हैं, तीस-वत्तीस वरस की अवस्था है। स्वेत धोती है, स्वेत ही उपरना है। पालथी मारे आसन पर वैठे हं। आगे चौकी है ताहू पर श्रीमद्गिराजू ( चतुरासी ) को गुटका है। तामें आरूढ दसा सों लवलीन ह्वै रहे है और उनके सामुही हौं वैठो हौं। उन्होने वा गहर में से निकसिकै मेरी ओर देख्यौ, तव मोसो कही कि सेवकजी को जन्म सावन सुदी तीज के दिना है तू दडवत करि—तव मैंने दडवत करिकै आज्ञा सिर धरि लई।'[2]

उपर्युक्त स्वप्न लिखने मे प्रियादासजी ने उस अनुश्रुति का निर्वाह किया है जो सेवकजी के विषय में परम्परा से सम्प्रदाय में चली चली आ रही है कि सेवकजी युवावस्था में वृन्दावन आये थे और वहुत अल्पकाल तक (दस दिन मात्र) जीवित रह कर निकुंज-लीला में प्रवेश कर गये। उनकी मृत्यु का सम्वत् १६१० माना जाता है जो कि श्री हरिवशजी के एक वर्ष उपरान्त है।

श्री भगवत मुदित ने लिखा है कि सेवक जी स्वभाव से रसिक-वृत्ति के भक्त थे और दैनिक कार्यकलाप से अवकाश पाते ही हरिसेवा मे लीन हो जाते थे। भक्ति मे इनकी तल्लीनता इस कोटि तक थी कि इन्हे अपने चारो ओर के संसार का वोध तक न रहता था। किन्तु इतनी भक्ति-साधना होने पर भी न तो कोई गुरु इन्हे मिला था और न भक्ति-पद्धति को शृंखलावद्ध करने के लिए किसी सम्प्रदाय की दीक्षा ही इन्होने ग्रहण की थी। फलत इनके मन में गुरु और सम्प्रदाय का अभाव खटकता रहता था। जो कोई सन्त-महात्मा गढा मे आता आप उसके दर्शन करने अवश्य जाते और अपनी मनोकामना व्यक्त करते। सुयोग से एक

---

१. देखिये—श्री भगवत मुदित कृत, अनन्यमाल—सेवक प्रकरण।
गौड़ देश में गढा निवास, तहाँ वसे जु चतुर्भुज दास।
तिनसों सेवक सो निज प्रीति, कपट रहित सौजन्य विनीत ॥
उत्तम द्विज कुल प्रकटे दोऊ, पंडित चतुर सुहृद पुनि सोऊ ॥

२ श्री प्रियादास लिखित—'सेवक जू को चरित्र' पृष्ठ ३२।
(हस्तलिखित प्रति श्री वावा वंशीदासजी, वृन्दावन)

## द्वितीय अध्याय

# श्री दामोदरदास (सेवक जी)

श्री हितहरिवशजी की वाणी के अन्तरग मर्म का उद्घाटन करने वाले भक्त रसिको मे श्री सेवकजी का स्थान मूर्धा पर है। श्री सेवकजी ने अपनी दिव्य दृष्टि और नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा 'हित चोरासी' का रहस्यपूर्ण गूढाशय जिस शैली से हृदयगम किया और अपनी वाणी द्वारा अनुयायियो को कराया, वैसा उनसे पहले नही हुआ था, और कहना न होगा कि वैसी सूत्रात्मक शैली से वाद में भी नही हुआ।

श्री सेवकजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा समर्थित विशेप सामग्री उपलब्ध नही है। परवर्त्ती भक्तमाल या भक्त-जीवनियो में जो कुछ लिखा मिलता है उसी को प्रमाण मानकर इनके जीवनवृत्त का सकलन हमने किया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनेक भक्त-कवियो की वाणियो मे श्री सेवकजी का स्मरण और नामोल्लेख मिलता है किन्तु श्री भगवत मुदित ने तथा श्री उत्तमदास ने अपने 'रसिक अनन्यमाल' तथा प्रियादासजी ने अपने 'सेवक चरित्र' मे विस्तारपूर्वक आपका चरित्र लिखा है। प्रियादासजी का 'सेवक चरित्र' यथार्थ में इतिवृत्तात्मक जीवन-चरित्र न होकर भावात्मक शैली से लिखा हुआ साम्प्रदायिक भक्त-चरित्र है जिसमें जीवन की घटनाएँ अकित न होकर भावना की भूमि पर भक्त-चरित्र की कल्पना है। भगवत मुदित और उत्तमदास के चरित्रो में भी सेवकजी की जन्मतिथि, वश-परिवार आदि का कोई सकेत नही है। केवल उन प्रमुख घटनाओ का वर्णन है जिनका सेवकजी के चरित्र पर युगान्तरकारी प्रभाव पडा और जिनसे प्रभावित होकर सब कुछ त्यागकर वे श्री हित महाप्रभु के मन-वचन-कर्म से अनुयायी हो गये।

श्री भगवत मुदित ने ६७ पदो में विस्तार से सेवकजी के जीवन की घटनाओ पर प्रकाश डाला है किन्तु उनका कोई ऐतिहासिक आधार ढूँढ लेना सहज नही। श्री उत्तमदास जी लिखित चरित्र भी लगभग वैसा ही है। अन्तर केवल इतना है इसमें किम्वदन्तियो को समेट कर सक्षेप मे प्रस्तुत किया गया है। फलत २१ पदो में समस्त जीवनवृत्त लिख दिया है। इन दोनो चरित्रो के आधार पर हम सक्षेप में श्री सेवकजी की जीवनी प्रस्तुत करते हैं :

श्री भगवत मुदित ने लिखा है कि गोडवाना प्रदेश में ( वर्त्तमान जवलपुर ) गढा नामक एक प्रसिद्ध गाँव था। वहाँ एक पवित्र ब्राह्मण-परिवार में श्री दामोदरदास ( श्री सेवकजी का पूर्व नाम ) का जन्म हुआ। उसी परिवार मे श्री चतुर्भुजदास नामक एक और नैष्ठिक सज्जन थे। सेवकजी का इनके प्रति वडा अनुराग था। दोनो में सहज, सरस, निश्छल प्रेम था। दोनो ही वड़े विनीत, सज्जन, पंडित, चतुर और कुलीन थे।[1] किन्तु यह कही नही लिखा कि किस सम्वत् में इनका जन्म हुआ। जन्म-सम्वत् निर्धारण करने के लिए हमने प्रियादास लिखित 'श्री सेवक चरित्र' का आश्रय लिया है। यद्यपि यह जन्म-सम्वत् भी सर्वथा प्रामाणिक नही है क्योकि प्रियादासजी ने परम्परागत किसी अनुश्रुति को आधार मानकर एक स्वप्न लिखा है जिसमें सेवकजी का वाह्य रूप और आयु लिखी है। उसी के आधार पर हमने सम्वत् १५७७ के आसपास इनका जन्म-सम्वत् माना है। श्री प्रियादास लिखित स्वप्न इस प्रकार है :—

'गौरवरन हैं, तीस-वत्तीस वरस की अवस्था है। स्वेत धोती है, स्वेत ही उपरना है। पालथी मारे आसन पर वैठे हे। आगे चौकी है ताहू पर श्रीमद्गिराजू ( चतुरासी ) को गुटका है। तामें आरूढ दसा सौ लवलीन ह्वै रहे हे और उनके सामुही हौ वैठो हौं। उन्होने वा गहर में से निकसिकै मेरी ओर देख्यौ, तव मौसो कही कि सेवकजी को जन्म सावन सुदी तीज के दिना है तू दडवत करि—तव मैंने दडवत करिकै आज्ञा सिर धरि लई।'[2]

उपर्युक्त स्वप्न लिखने मे प्रियादासजी ने उस अनुश्रुति का निर्वाह किया है जो सेवकजी के विपय मे परम्परा से सम्प्रदाय में चली चली आ रही है कि सेवकजी युवावस्था में वृन्दावन आये थे और वहुत अल्पकाल तक (दस दिन मात्र) जीवित रह कर निकुंज-लीला में प्रवेश कर गये। उनकी मृत्यु का सम्वत् १६१० माना जाता है जो कि श्री हरिवशजी के एक वर्ष उपरान्त है।

श्री भगवत मुदित ने लिखा है कि सेवक जी स्वभाव से रसिक-वृत्ति के भक्त थे और दैनिक कार्यकलाप से अवकाश पाते ही हरिसेवा मे लीन हो जाते थे। भक्ति मे इनकी तल्लीनता इस कोटि तक थी कि इन्हे अपने चारो ओर के ससार का वोध तक न रहता था। किन्तु इतनी भक्ति-साधना होने पर भी न तो कोई गुरु इन्हे मिला था और न भक्ति-पद्धति को शृंखलावद्ध करने के लिए किसी सम्प्रदाय की दीक्षा ही इन्होने ग्रहण की थी। फलत इनके मन में गुरु और सम्प्रदाय का अभाव खटकता रहता था। जो कोई सन्त-महात्मा गढा मे आता आप उसके दर्शन करने अवश्य जाते और अपनी मनोकामना व्यक्त करते। सुयोग से एक

---

१. देखिये—श्री भगवत मुदित कृत, अनन्यमाल—सेवक प्रकरण।
गौड़ देश में गढा निवास, तहाँ वसे जु चतुर्भुज दास।
तिनसों सेवक सों निज प्रीति, कपट रहित सौजन्य विनीत ॥
उत्तम द्विज कुल प्रकटे दोऊ, पंडित चतुर सुहृद पुनि सोऊ ॥

२ श्री प्रियादास लिखित—'सेवक जू को चरित्र' पृष्ठ ३२।
(हस्तलिखित प्रति श्री वावा वंशीदासजी, वृन्दावन)

वार ब्रजमण्डल के कुछ साधु-महात्मा भ्रमण करते हुए गढा पहुँचे और उन्होने अपनी रसो-पासना के अनुकूल समाज का आयोजन किया। इन भक्त रसिको की सेवा-पूजा पद्धति देखकर सेवक जी के मन पर प्रभाव पडा कि यदि इस पद्धति को स्वीकार कर उपासना की जाय तो शान्ति प्राप्त हो सकती है। सेवक जी ने उन महात्माओ के समक्ष अपने मन की बात रखी और जिज्ञासा प्रकट की कि इस उपासना का प्रवर्त्तक कौन है। महात्माओ ने श्री हितहरिवश महाप्रभु का परिचय दिया और सेवक जी को बताया कि तुम उनसे वृन्दावन जाकर दीक्षा ग्रहण करो। सेवक जी के हृदय पर इस पद्धति की छाप तो पड ही गई थी अत उन्होने वृन्दावन जाकर गुरुदीक्षा लेने का दृढ निश्चय किया। सयोगवश वे अविलम्ब वृन्दावन नही जा सके और इसी बीच आचार्य हितहरिवश इहलोक लीला सवरण करके निकुज लीला में प्रवेश कर गये। सेवक जी को जब उनके निधन का समाचार मिला तो बडे दुखी हुए और उन्होने निश्चय किया कि मैंने एक बार श्री हितजी को अपना मानस गुरु मान लिया है तो किसी अन्य आचार्य से मैं दीक्षा नही लूँगा, यदि मेरे गुरु मुझ पर प्रसन्न हैं और मेरी निष्ठा सच्ची है तो वे ही मुझे स्वय अशरीरी रूप से आकर ध्यान में मन्त्र देंगे। यदि मुझे ध्यान द्वारा मन्त्र-प्राप्ति न हुई तो मैं प्राण विसर्जन कर दूँगा। सेवक जी इसी दृढ निश्चय के साथ ध्यानावस्थित बैठ गये। कहते हैं कि उन्हे स्वप्न मे श्री राधा ने स्वय आकर दीक्षा-मन्त्र प्रदान किया।

श्री सेवक जी के साथी और अन्तरग बन्धु श्री चतुर्भुजदास इसी बीच दीक्षा-ग्रहण करने वृन्दावन आये और श्री हितहरिवशजी के ज्येष्ठ पुत्र श्री आचार्य वनचद्रजी से गुरु-मन्त्र लेकर वापस गढा गये। गढा पहुँचने पर उन्होने देखा कि जो दीक्षा-मन्त्र उन्होने वृन्दावन में श्री गुरुमुख से ग्रहण किया था सेवक जी बिना कही गये उसी का अनवरत जप कर रहे हैं। तब उनके आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। उन्होने सेवक जी से इस रहस्य का मर्म जानना चाहा तब सेवकजी ने बताया कि उन्होने ध्यान बल से राधा को प्रसन्न कर केवल मन्त्र ही नही पाया वरन् स्वप्न में ही समस्त वृन्दावन धाम का भी दर्शन किया है।

मन्त्र-प्राप्ति और धाम-दर्शन के उपरान्त सेवकजी की चित्तवृत्ति इतनी परिष्कृत और उदात्त हुई कि उन्हे चतुरासी के प्रत्येक पद का गूढ़ातिगूढ मर्म स्वय समझ में आने लगा। उस मर्म को हृदयगम करके उन्होने १६ प्रकरणो मे हरिवश का माहात्म्य तथा राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन करने वाली वाणी प्रस्तुत की। इस वाणी को भक्तजनो ने सुना तो वे विस्मय-विमुग्ध हो गये और उन्हे लगा कि चतुरासी के सारे रहस्यमय पद इस वाणी के द्वारा आलोकित हो उठे हैं। शनै-शनै यह वाणी वृन्दावन तक पहुँची और जब श्री आचार्य वनचद्रजी ने इसको सुना तो उन्होने यह विज्ञप्ति कर दी कि चौरासी जी को समझने, पढने और जानने के लिए सेवक-वाणी का पढना-समझना अनिवार्य है। अत भविष्य में चतु-रासी और सेवक-वाणी एक ही साथ पढी और लिखी जायें। इस आदरपूर्ण घोषणा के फल-स्वरूप आज तक दोनो वाणियाँ एक साथ लिखी, पढी और छापी जाती हैं।

सेवकजी की वाणी ने वृन्दावन के भक्तो को उनके प्रति इतने अधिक आकर्षण और अनुराग से पूर्ण कर दिया था कि जो कोई व्यक्ति वृन्दावन से गोडवाना जाता उसी के द्वारा

सेवकजी को वृन्दावन आने का निमन्त्रण भेजा जाता। श्री आचार्य वनचद्रजी तो सेवकजी पर इतने मुग्ध हुए कि उन्होने यह निश्चय कर लिया कि जिस दिन सेवकजी वृन्दावन पधारेंगे उस दिन उनके आगमन की प्रसन्नता मे श्री जी के मन्दिर का समस्त वैभव लुटा दिया जायगा। किसी भक्त के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिए इससे बढ़कर दूसरी कोई और भाव-व्यजना नही हो सकती। उधर सेवकजी ने आचार्य वनचद्रजी का यह निश्चय सुना तो वे बडी द्विविधा में फँस गये। उन्हे सकोच ने घेर लिया और अपने मन में सोचने लगे कि यदि मेरे कारण श्री जी का वैभव लुटाया गया तो यह अच्छा न होगा। भले ही इसमें मेरा प्रभूत सम्मान क्यो न हो—श्रीजी के मन्दिर की तो हानि होगी ही। अत. वृन्दावन जाने का निश्चय करने पर भी वे प्रत्यक्ष रूप में नही गये। भेष परिवर्तन करके मन्दिर में श्रीजी के दर्शन करने उपस्थित हुए। किन्तु भक्त की तल्लीनता और दिव्य मुखाकृति देखकर आचार्य वनचद्रजी ने भीड मे से सेवकजी को पहचान लिया और गद्‌गद् कठ से उनका आलिंगन किया। सेवकजी के मन में गहरा सकोच समाया हुआ था, वे भयभीत थे कि कही आचार्यवर श्रीजी का वैभव लुटाने का उपक्रम न कर बैठे। इसी बीच आचार्य ने अपने पूर्व निश्चयानुसार वैभव लुटाने का आदेश दिया। किन्तु सेवकजी ने बडे विनीत और स्नेहभाव से आचार्य जी से अनुरोध किया कि वे समस्त वैभव न लुटाकर केवल प्रसादी ही वितरण करे। आचार्य जी ने सेवकजी की प्रार्थना स्वीकार कर ली और समस्त प्रसादी पदार्थ तत्काल वितरित कर दिये गये। इस प्रकार वृन्दावन में श्री सेवकजी का पदार्पण हुआ।

श्रीसेवकजी सुदीर्घ काल तक वृन्दावन-वास नही कर सके। वे सच्चे रसिक महात्मा थे। रात-दिन भजन-पूजा में लगे रहते, ससार के प्रति विरक्त भाव उनके मन मे समा गया था। एक दिन रासमडल मे पीलू के पेड के नीचे ध्यानावस्थित दशा मे बैठे-बैठे ही वे निकुंज लीला मे प्रवेश कर गये।

## सेवकजी की वाणी का माहात्म्य

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय मे सेवक-वाणी का धार्मिक दृष्टि से वहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह वाणी आज हितचौरासी की पूरक वाणी मानी जाती है और इन दोनो का अभिन्न सम्बन्ध जुड गया है। 'चौरासी अरु सेवक वाणी, इक सग लिखत पढत सुखदानी।' दूसरे शब्दो में यो कह सकते हैं कि चतुरासी के मर्म को समझने के लिए सेवकवाणी ही टीका, भाष्य, व्याख्या सव कुछ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के तेंतीस महानुभावो ने सेवकवाणी का माहात्म्य लिखा है। गद्यवार्त्ता में लिखा हुआ प्रियादासजी का 'सेवक चरित्र' भी सेवकवाणी के सिद्धान्तो का उद्‌घाटन मात्र है। सेवकवाणी के इस महत्व और माहात्म्य के तीन प्रमुख कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि श्रीहितजी की चतुरासी का मर्मोद्‌घाटन करने वाली यह सर्वप्रथम वाणी है। दूसरा कारण यह है कि इसकी शैली शुद्ध साम्प्रदायिक भावना पर आधृत है। सम्प्रदाय की मूल भावना को व्यक्त करना ही इस वाणी का चरम लक्ष्य रहा है। माधुर्य-भक्ति के मार्ग में नाना प्रकार की परिपाटी उस समय प्रचलित थीं किन्तु सेवकजी अपने सम्प्रदाय की भावना के वाहर एक पग भी नही गये। न तो आपने चैतन्य-मत के साहित्यिक ग्रथो का आश्रय लिया और न वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग

से ही कुछ ग्रहण किया। ऐकान्तिक रूप से चतुरासी और हित महाप्रभु को सामने रखकर वाणी-प्रणयन किया फलत इसका मूलाधार शुद्ध एव सुदृढ साम्प्रदायिक ही बना रहा। तीसरा कारण है वाणी की सहज अभिव्यक्ति। इतनी सीधी-सादी सरल भाषा और शैली में पद-रचना करने वाले बहुत कम रसिक भक्त दृष्टिगोचर होते हैं। सब प्रकार की कृत्रिमता से सर्वथा दूर रहकर तात्विक चिन्तन ही सेवकजी का ध्येय था अत उनकी वाणी को आत्मा की भाषा कहा जाता है। सोलह प्रकरणो में विभक्त सेवकवाणी की विषय-सूची इस प्रकार है

१—श्रीहित जसविलास
२—श्रीहित विलास
३—श्रीहरिवश नाम प्रताप जस
४—श्रीहित वाणी प्रकरण
५—श्रीहित इष्टाराधन प्रकरण
६—श्रीहित धर्मिन कृत प्रकरण
७—श्रीहित रसरीति प्रकरण
८—श्रीहित अनन्य टेक प्रकरण
९—श्रीहित कृपा अकृपा प्रकरण
१०—श्रीहित भक्तभजन प्रकरण
११—श्रीहित ध्यान प्रकरण
१२—श्रीहित मगल गान प्रकरण
१३—श्रीहित पाके धर्मी प्रकरण
१४—श्रीहित काचे धर्मी प्रकरण
१५—अनलम्यलाभ प्रकरण
१६—मान सिद्धान्त प्रकरण

## सेवकवाणी का भावपक्ष

सेवकवाणी सोलह प्रकरणो मे ग्रथित सिद्धान्तवाणी है। वाणी का मूलाधार 'चतुरासी' है किन्तु प्रकरण-विभाजन और विषय-निर्धारण स्वतत्र पद्धति से किया गया है अतः यह प्रत्यक्ष रूप से टीका या व्याख्यापरक वाणी नही कही जा सकती। प्रथम प्रकरण का नाम यद्यपि 'श्रीहित जस विलास' है किन्तु इसमें केवल हितहरिवशजी का यशोगान नही वरन् तत्कालीन धार्मिक एव राजनीतिक परिस्थितियो का सक्षेप एव सार-रूप से वर्णन है। सेवकजी का प्रयोजन इस प्रकरण को प्रस्तुत करने में यह रहा है कि जिस काल में श्रीहितहरिवशजी का प्रादुर्भाव हुआ उस समय इस देश की दशा कैसी थी। धर्म और नीति के नाम पर कैसा घोर अधर्म और अनीतिपरायण व्यवहार समाज में प्रचलित था। हरिवशजी का अवतार इस दुर्दशा को दूर करने के निमित्त हुआ और उन्होंने उस घोर अधकार के युग में भक्ति का आलोकमय पथ प्रशस्त किया। उनकी मान्यता है कि हरिवश और हरि में भेद नही है, दोनो

एक ही हैं, समस्त ससार में हरि रूप से हरिवश ही व्याप्त है। जब हरि ने देखा कि कलियुग में वेदविधि उच्छिन्न हो गई है, धर्म का नाश हो गया है और समस्त संसार उसमें डूब रहा है तब हरिवंश ने अवतार लिया। इस प्रकरण मे युग-दशा का बहुत सुन्दर सकेत मिलता है। यवन-राज्य में हिन्दू जाति और हिन्दू-धर्म की दशा का बडा सजीव चित्र सेवकजी थोडे-से शब्दो में अकित कर गये हैं :—

कलियुग कठिन वेद विधि रही, धर्म कहूँ नहि दीखत सही।
कही भली कोऊ ना करै।
उदवस भयौ सब देस, धर्मरहित मेदिनी नरेस।
म्लेच्छ सकल पहुमी बड़े।
सब जन करैं आधुनिक धर्म, वेद विहित जानें नहि कर्म।
मर्म भक्ति को क्यो लहैं।
बूड़त भव आवै न उसास, जस बरनौ हरिवंश विलास।
श्री हरिवशहि गाइ हौं॥
धर्म रहित जानी सब दुनी, म्लेच्छनि भार दुखित मेदिनी।
धनी और दूजौ नहीं।
करी कृपा मन कियौ विचार, श्रुति पथ विमुख दुखित ससार।
सार वेद विधि उद्धरी।
सब अवतार भक्ति विस्तरी, पुनि रस रीति जात उद्धरी।
कर्यौ धर्म अपनौ प्रकट॥[1]

तत्कालीन परिस्थिति का चित्र प्रस्तुत करने के उपरान्त सेवकजी ने श्री हरिवश जी के अवतार की आवश्यकता और अवतार का शुभ परिणाम अकित किया है—श्री हरिवश जी के उत्पन्न होने पर सूखे सरोवर निर्मल जल से परिपूर्ण हो गये। शुष्क वृक्षो पर कोमल किशलय आ गये। शस्य से पृथ्वी श्यामल दीख पडने लगी। संसार की अशुभ घडियाँ समाप्त हुईं और शुभ दिनो का सूत्रपात हुआ। ब्राह्मण वर्ग मे पुनः वैदिक कर्मों की स्थापना हुई। पारस्परिक प्रीति का मगलमय वातावरण चारों ओर फैल गया। श्री हरिवश के अवतार के साथ एक नवीन परिवर्तन चतुर्दिक् उत्पन्न हो गया—

निर्जल सजल सरोवर भये, उखटे वृक्षनि पल्लव भये।
दए सकल सुख सवनि को।
चलहि सकल जन अपने धर्म, ब्राह्मन सकल करहि षट् कर्म।
मर्म सबनि को भाजियौ।[2]

हरिवशजी ने उत्पन्न होते ही अपनी नूतन भक्ति-पद्धति का प्रसार किया और मानव मात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त किया। नाना अवतारो की लीला का प्रपच समाप्त

---

१. श्री सेवक वाणी—प्रथम प्रकरण, पद ४-५।
२. ,, ,, —प्रथम प्रकरण, पद ८

इस रस वर्णन में लीन हुए हैं। इस वर्णन के बाद निकुंज रस के स्थल वृन्दावन का सकेतात्मक वर्णन है। तृतीय पद में साक्षात् निकुंज लीला रस गाया गया है जिसमें राधा-माधव की क्रीडाओ का वर्णन दृष्टिगत होता है —

श्री वृन्दावन नव नव कुंज, श्री हरिवंश प्रेम रस पुंज।
श्री हरिवंश करत नित केली, छिन छिन प्रति नव-नव रस झेली ॥
कबहुक निर्मित तरल हिंडोला, झूलत फूलत करत कलोला।
कबहुँक नव दल सेज रचावहि, श्री हरिवंश सुरत नहि गावहि ॥[1]
श्री हरिवंश प्रेम रस गाना, रसिक विमोहित परम सुजाना।
अंशनि पर भुज दिये विलोकति, तृषित न सुन्दर मुख अवलोकत ॥
इन्दुवदन दीखत विवि ओरा, चारु सुलोचन तृपित चकोरा।
करत पान रस मत्त सदाई, श्री हरिवंश प्रेम रति गाई ॥[2]

*नित्यविहार दशा मे राधामाधव के ध्यान-रीति का साम्प्रदायिक शैली से वर्णन करके* नित्यविहार के सिद्धान्त का वडी सटीक शैली से प्रतिपादन किया गया है। नित्यमिलन इस विहार की प्रथम शर्त है, क्षणमात्र का भी वियोग यहाँ सम्भव नही होता, दो शरीरो में एक प्राण की सहज कल्पना इस प्रेम सिद्धान्त का मूलाधार है। राधा के विना कृष्ण और कृष्ण के बिना राधा नाम लेने में भी नही वनता फिर साथ रहने में तो दोनो का पार्थक्य सम्भव ही कैसे है। यही नित्य मिलन नित्यविहार का प्रमुख विधायक तत्व है। सेवकजी ने इसको वडी स्पष्टता के साथ कहा है—

श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ, श्यामा श्याम एक सग गाऊँ।
छिन इक कबहुँ न अन्तर होई, प्राणसु एक देह ह्वै दोई ॥
राधा सग विना नहीं श्याम, श्याम विना नहि राधा नाम।
छिन छिन प्रति आराधत रहहीं, राधा नाम श्याम तव कहहीं ॥
ललितादिकनि सग सचु पावै, श्री हरिवंश सुरत रति गावै ॥[3]

यहै नित केलि, ये ई जु नाइक निपुन, यहै वनभूमि नित-नित वखानी।
वहुत रचना करत राग रागिनि धरत तान बधान सव ठानि आनी ॥
ज्यों मूंद नहि मिलत टकसार ते वाहिरी, लाख में गैर मुहरी जु जानी।
यों जु रस रीति वरनत न ठाई मिलत, जो न उच्चरत हरिवंश वानी ॥[4]

परसत पुलिन सुलिन गिरा करषत चित सुर घोर।
हरषत हित नित नवल रस वरषत जुगल किशोर ॥
बरषत जुगल किशोर जोर नव कुंज सुरत रन।
मोर चन्द्र चय चलत डोर कच शिथिल सुभगतन ॥

१—२ सेवक वाणी—प्रकरण ४, पद स० ३—६।
३—४. „ „ — „ ४, पद स० ७—६।

चोर चित्त ललितादि कोर रध्रनि निजु निरखत।
थोर प्रीति अन्तर न, भोर दम्पति छवि परसत ॥[१]

नित्यविहार के स्थूल वर्णन भी सेवकवाणी मे एक दो जगह दृष्टिगत होते हैं किन्तु उन का आधार प्रायः हित चौरासी ही है। ऐसा प्रतीत होता है स्थूल वर्णनो के लिए सेवकजी ने हित चौरासी के पदो को सामने रखा है। यथार्थ में राधामाधव का रूप ही इतना मोहक और सुन्दर है कि उसका ध्यान करते ही प्रत्येक दशा साकार रूप मे अन्तर्नेत्रो के समक्ष सजीव हो उठती है—

विपिन निर्तत रसिक रस रासि।
दपति अति आनन्द वस, प्रेममत्त निश्शंक क्रीड़त।
चंचल कुण्डल कर चरण नैन लोल रतिरग क्रीडत॥
झटकत पट, चुटकिनि चटक, लटकत लट मृदुहास।
पटकत पद, उघटत शवद भटकत भृकुटि विलास ॥[२]

## हितधर्म के सच्चे अनुयायी

सेवकजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होने श्री हितहरिवशजी के सम्प्रदाय मे दीक्षित होने वाले भक्तो को दृढ़ता और सच्चे धर्मानुयायी होने का मार्ग वताया। सेवकजी ने अपनी वाणी में दो प्रकरण 'पाके धर्मी' और 'काचेधर्मी' शीर्षक से लिखे हैं। इन दोनो प्रकरणो को पढ कर यह निर्णय किया जा सकता है कि दीक्षोपरात सच्चे धर्मानुयायी वनने के लिए किन लक्षणो का होना अनिवार्य है। जो दीक्षा लेने के वाद भी धर्म के लक्षणो का पालन नही कर पाते वे 'काचेधर्मी' कहे जाते हैं। किसी भी सम्प्रदाय मे ऐसे अनेक व्यक्ति पाये जाते हैं। 'पाके धर्मी' और 'काचे धर्मी' की सीमा-मर्यादाओ की स्थापना करते हुए सेवकजी के सम्मुख राधावल्लभ सम्प्रदाय की हितनिष्ठा सतत वनी रही है, अतः जो कुछ उन्होने इन दो प्रकरणो मे कहा है वह प्रकारान्तर से सम्प्रदाय का उपास्य और त्याज्य समझा जा सकता है। 'पाके धर्मी' के लक्षण वर्णन करते हुए ग्यारह सवैया छन्द सेवकजी ने लिखे हैं जिनमें राधावल्लभीय तत्व पूर्णरूपेण भरा हुआ है। पहले सवैया में सेवकजी ने कह दिया है कि 'पाके धर्मी' अर्थात् सच्चे राधावल्लभीय वैष्णव के लिए नाना प्रकार के वाह्य साधनो का परित्याग और ज्ञान, ध्यान, व्रत, कर्म में प्रीति का अभाव आवश्यक है। "ज्ञान ध्यान व्रत कर्म जिते सव काहू नहिं मोहि प्रतीति।" केवल श्यामा-श्याम के चरणो में प्रीति और हरिवश चरणो का विश्वास यही सच्चे धर्मी की आस्था- बुद्धि का परिचायक गुण है। सच्चा धर्मी इसी मूल भाव की थाती लेकर इस धर्म-मार्ग में प्रवृत्त होता है।

सच्चा धर्मी एक वार हरिवशजी के धर्म में दीक्षित होने पर कभी भी विधर्मी से सम्वन्ध नही करता। शाक्त मतानुयायियो से सदा दूर रहता है। सच्चे वैष्णव को स्वप्न मे

---

१ सेवकवाणी—प्रकरण १०—पद सं० १६
२. „ „ „ ७—पद सं ७

भी शाक्त से सम्बन्ध नही करना चाहिए। ऐसा ही भाव व्यास जी ने भी अपनी साखियो में प्रकट किया है। कदाचित् उस युग की शाक्त-भावना इतनी दूषित समझी जाती थी कि कोई भी वैष्णव उनसे सम्बन्ध रखना श्रेयस्कर नही समझता था। सेवकजी ने शाक्तो की निन्दा करते हुए उनसे दूर रहने का सकेत इन्ही दो प्रकरणो में दो बार किया है। उन्होने कहा है कि शाक्त के साथ रहना अग्नि की लपटो मे रहकर जलने के समान है अत सच्चे धर्मी को इस भयावह भीषण शाक्तरूपी दाहक अग्नि शिखा से दूर रहना चाहिए।

**श्री हरिवश वचन प्रमानि के शाक्त सग सबै जु बिसारत।**
**ससृति मांझ बर्याइ के पायौ जु मानुष देह वृथा कत डारत॥**

\+ \+ \+

**साकत सग अगन्नि लपट्ट, लपट्ट जरत्त क्यों सङ्गत कीजै।**
**साधु सुबुद्धि समान सुसन्तनि, जानिकै शीतल सङ्गत कीजै॥**[1]

\+ \+ \+

सच्चे धर्मी को प्रबोधते हुए सेवकजी ने कहा है कि हरिवशजी का मत लोक, कुल-रीति विरुद्ध है अत इसका अनुगमन करने वाले को साहसपूर्वक ही इसमें आना चाहिए। अन्य धर्मियो के साथ सम्पर्क रखने से इस धर्म में अनास्था पैदा होने का भय है अत सब मार्गों को छोडकर अनन्य भाव से श्री हरिवश-चरणो में आ जाना ही सच्चे धर्मी का लक्षण है।

'काचेधर्मी' का वर्णन सेवकजी ने सासारिक अनुभव के आधार पर किया है। कच्चा धर्मी वह है जो स्वार्थ भाव से जीवन के सिद्धात बनाकर अवसरानुकूल आचरण करने में लीन रहता है। 'जमुना गये जमुनादास, गगा गये गगादास' वाली कहावत को चरितार्थ करने वाले व्यक्ति ही काचेधर्मी हैं। काचे धर्मी का सारा क्रिया-व्यापार झूठ, फरेब, दम्भ और प्रतारणा पर निर्भर करता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर वह धर्म का ढोग तो रचता है किन्तु धर्म के किसी सच्चे लक्षण का पालन नही करता। छोटी-छोटी बातो पर विवाद, झगडा, कलह करना झूठे धर्मी की पहचान है। अवसर पडने पर गधे को बाप बनाने में भी उन्हे सकोच, भय, लाज कुछ नही आती। ये सब लक्षण कच्चे धर्मी के हैं अत समाज के लिए घातक इस कोटि के विधर्मियो को दूर ही से नमस्कार करना उचित है—

**बातनि जूठनि खान कहैं मुख देत प्रसाद अनूठोइ छाडत।**
**ग्रथ प्रमानि के जो समुझाइये तो तब क्रोध रारि फिर मांडत॥**
**ताछिन छाडि प्रेम की बातहि फेरि जाति कुल रीति प्रमानत।**
**काचे धरम्मिन के सुनो छन्द धरम्मी धरम्म मरम्म न जानत॥**[2]
**एक धरम्मी अनन्य कहाय बडाई कौ न्यारी ये बाजी सी मांडत।**
**और के बापसों बाप कहन दरब्ब के काजे धरम्म ही छांडत॥**

---

१ सेवक वाणी—प्रकरण १४, पद स० १५
२ „ „ — „ १४, „ २

बोलत बोल वडाऊ से लागत ह्वै गुरु मानी न बात प्रमानत ।
काचै धरम्मिन के सुनौ छन्द धरम्मी धरम्म मरम्म न जानत ॥[1]

कच्चे धर्मी के स्वभाव में दम्भ और छल की प्रधानता होती है वह अपनी मिथ्या प्रशसा पर भी मुग्ध होता है । हमेशा दूसरो से धन आदि लेकर ही प्रसन्न रहता है । खाने को स्वजाति का बन जाता है, खर्च करने का अवसर आने पर विजाति का बनकर दूर रहना चाहता है—

परखै सुनहु सुजान जहाँ कछु और कचाई ।
भक्त कहै परसन्न, नतरु ता कहै बुरवाई ॥
दिये सरा है सुख रहैं, दुख में दिन राती ।
खेंवे को जु सुजाति, खरच कों होत विजाती ॥[2]

इन दोनो प्रकरणो को पढकर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस काल में भी स्वार्थ-बुद्धि से लोग विभिन्न सम्प्रदायो मे दीक्षा लेकर अपना निर्वाह छल-कपट द्वारा अवश्य करते होगे । उन्ही बने हुए ढोंगी कच्चे धर्मियो पर सेवकजी ने प्रखर भाषा में प्रहार किया है ।

## सेवकवाणी का कलापक्ष

सेवकजी भक्त कोटि के वाणीकार थे । अपनी धार्मिक भावनाओ को काव्य के माध्यम से व्यक्त करना उनका उद्देश्य था । जिस उच्च आध्यात्मिक धरातल पर आसीन होकर वे वाणी द्वारा भाव-व्यजना करने में लीन हुए थे वह कविता का सहज धरातल नही है। यथार्थ मे कविता के साथ प्रत्यक्ष रूप में उसका कोई निकट सम्बन्ध है भी नही । इसलिए काव्य-शास्त्र की कसौटी सेवकवाणी की परख के लिए समीचीन नही हो सकती । फिर भी, सहज आत्माभिव्यक्ति जब अपनी हार्दिकता और प्राणवत्ता के साथ बाहर आती है तब वह इतने आलकारिक उपकरण स्वयं एकत्र कर लेती है कि उसे नग्न या अनलकृत कहने का कोई साहस नही कर सकता । सहृदय के लिए जो भाव सवेद्य बनाया जाता है उसकी मर्मस्पर्शिता जब तक प्रत्यक्ष नही होती, अपना प्रभाव नही डाल सकती । सेवकवाणी की प्रभविष्णुता के दो कारण स्पष्ट हैं—एक तो इसका आधार भक्त की अपनी सहज-अकृत्रिम अभिव्यक्ति है, दूसरे यह अध्यात्म की पृष्ठभूमि पर उसका गुणानुवाद करने मे प्रवृत्त हुई है जो सेवक जी का परम उपास्य है । अपने उपास्य तत्व का वर्णन कैसे भी शब्दो में क्यो न किया जाय वह निष्ठा और आस्था के बल पर इतना सशक्त और प्राणवान बन जाता है कि कि उसे क्या भाव और क्या भाषा, क्या शैली और क्या गुण किसी भी तरह दरिद्र नहीं कहा जा सकता ।

सेवकजी गढ़ा (जबलपुर) के निवासी थे । उस प्रदेश की भाषा बुंदेलखण्डी है ।

---

१. सेवक वाणी—प्रकरण १४, पद सं० १२

बुंदेलखण्डी भाषा का पुरानी ब्रजभाषा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध प्रारम्भ से रहा है। सेवकजी ने यद्यपि ब्रजभाषा को अपनी वाणी के लिए चुना था किन्तु वे अपनी भाषा के जन्मजात सस्कारो को निर्मूल नही कर सके थे। इसलिए उनकी ब्रजभाषा भी बुंदेलखंडी के प्रभाव में नवीन कलेवर धारण करके हमारे समक्ष आती है। कहीं-कहीं अवधी का भी प्रभाव उनकी भाषा पर है। सरस ब्रजभाषा के पदो का सेवकवाणी में अभाव नही है। कतिपय पदों में साहित्यिक ब्रजभाषा की अपूर्व छटा देखने में आती है। ब्रजभाषा की कोमल कान्त पदावली, सरस वाक्य-विन्यास, सुष्ठु शब्द-चयन, प्रवाह पूर्ण यति-गति-योजना देखकर आश्चर्य होता है कि ब्रजभूमि से छह सौ मील दूर रहकर भी सेवकजी ने कैसे इस भाषा की नैसर्गिक प्रकृति का मर्म पाया और उसे अपनी वाणी में विलसित किया।

'रस सागर हरिवंश हित लसत सरित वर तीर।
जस जग विशद सु विस्तरित वसत जु कुंज कुटीर॥
वसत जु कुंज कुटीर भीर नवरंग भामिनि भर।
चीर नीर गौरांग सरस घन तन पीताम्बर॥
धीर वहत दक्षिण समीर कलिकेलि करत अस।
नीरज सैन जु रचित वीरवर सुरतरंग रस॥[1]

उपरिलिखित कुंडलियो में ब्रजभाषा की सहज पद-रचना का प्रयोग है। किसी शब्द को न तो तोडा-मरोडा है और न शुद्ध तत्सम रूप में ही रख कर ब्रजभाषा-सौन्दर्य से विहीन बनाया है। क्रिया पदो में लसत, विस्तरित, वसत, वहत, रचित आदि की नैसर्गिक ऋजुता को देखकर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि सेवकजी ब्रजभाषा की प्रकृति से पूर्णतया परिचित थे। ब्रजभाषा सौन्दर्य के कुछ और उदाहरण हम यहाँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं।

सरिता तट सुर द्रुम निकट अलि ता सुमन सुवास।
ललितादिक रसनतिववस चलि ता कुंज निवास॥
चलि ता कुंज निवास आस तब हितमग परखत।
रास स्थल उत्तम विलास रूचि मिलि मन हरखत॥
तासु वचन सुनि चित हुलास विरहज दुख गलिता।
वासन्तन कुल जुवति मास माधव सुख सरिता॥[2]
कहीं नित केलि रस खेलि वृन्दाविपिन कुंजते कुंज डोलनि बखानी।
पट न परसन्त, निकसन्त वीथिनु सघन, प्रेम विह्वल सुनहि देह मानी॥
मगन जित जित चलत छिन सु डगमग मिलत, पथवन देत अति हेत जानी।
रसिक हित परम आनन्द अवलोकि तन सरस विस्तरित हरिवंश वानी॥[3]

---

१ सेवक वाणी—प्रकरण १०, पद सं० १४
२ ,, ,, ,, पद स० १८
३ ,, ,, ,, ४, छन्द २

ब्रजभापा की पद-रचना मे प्रवाहपूर्णता इस शैली से स्वतः आती है गई कि प्रथम पद दूसरे पद को आगे बढाता हुआ और कविता में नाद, ध्वनि, लय की सृष्टि करता हुआ सगीत का मोहक आकर्पण पैदा करता जाता है। सेवकजी ने अपने दोहो में निखार का जैसा रूप प्रस्तुत किया है वह रीतिकालीन विहारी आदि के परिमार्जन का स्मरण करा देता है।

वचन अधीन सदा रहै रूप समुद्र अगाध।
प्राण रवन सौं कत करत, विनु आगस अपराध॥
चितै कृपा करि भामिनी, लीनें कठ लगाइ।
सुख सागर पूरित भये, देखत हियौ सिराइ॥
सेवक शरण सदा रहै, अनत नहीं विश्राम।
वानी श्री हरिवंश की, कै हरिवंशहि नाम॥[1]

## बुंदेलखंडी भाषा का प्रभाव

सेवकजी की भापा पर बुंदेलखडी का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है। अपने जन्म-जात संस्कारो के कारण सेवक जी शब्द-चयन मे प्राय बुंदेलखडी का आश्रय लेते हैं। मुहावरे और कहावतो के प्रयोग में तो उनका आश्रय-स्थल यही भापा है। कही-कही मुहावरे अपने देशज रूप मे कुछ क्लिष्ट भी हो गये हैं। जैसे—

'वडाई को न्यारी ये वाजी सी माडत।'
'पंडित मानी ह्वै जीमहि ऐंठत।'
'पूछत रीति भभूकत धावत।'
ऐसे न वैसे रहे मझरेडव पाछिलि यों जुकरी निरभासित।'
'मन उत्तर फेरि चवग्गुन ठानत।'
'क्रोध रारि फिर मांडत।'
'प्रकृति विरुद्ध जुगति कौं ठानिवो।'

इनके अतिरिक्त प्रचलित मुहावरो का भी इनकी भाषा में पर्याप्त प्रयोग है। उसमें भी शब्द-विकृति देखकर लगता है बुंदेली के प्रभाव के कारण मुहावरो मे प्रायः वे ब्रजभाषा से दूर हट गये हैं।

निम्न किरीट छन्द मे बुन्देलखडी का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है—

'श्री हरिवंश धरम्म प्रगट्ट निपट्ट कँ ताकी उपमा को नाहि न।
साधन ता को सर्वं नव लक्षन तच्छिन वेग विचारत जाहि न॥
जो रस रीति सदा अविरुद्ध प्रसिद्ध विरुद्ध तजत्त क्यो ताहि न।
जो पै धरम्मी कहावत हौ तो धरम्मी धरम्म समुझ्झत काहि न॥[2]

शब्दो को तोडने-मरोडने की प्रवृत्ति भी सेवक जी की है। उसके दो कारण हैं, कही-

१. सेवक वाणी—प्रकरण १६, दोहा सं० ७, ८, ९।
२ ,, ,, —प्रकरण १३, पद सं० २।

कही तो छन्द के अनुरोध से शब्द के स्वरूप में विकार आया है। प्राय अपभ्र श की शैली पर शब्दो में द्वित्व किया गया है। कही बु देलखडी का भी परोक्ष प्रभाव अपना कार्य करता रहा है। कुछ शब्द हमारे उक्त कथन के निदर्शन हैं—

वचन्न, रचन्न, चिवुक्क, भजन्न, उद्दित्त (उदित)

हत्य, अकत्य, मनिज्जै, चढ्ढही, गढ्ढहीं, आदि।

विहडना, मडना, कायक्तकार, नश, उल्लास, पु ज, ताल, करन, भरन, वनमाल आदि।

अन्तिम शब्दो को व्रजभाषा के अनुकूल कही आकारान्त और कही सस्कृत के अनुसार अनुस्वारान्त भी किया गया है—

सस्कृत के तत्सम शब्दो के साथ गाथा छन्द में सेवकजी ने कुछ ऐसे भी पद लिखे हैं जो अपभ्र शकालीन प्राचीन हिन्दी के समकक्ष प्रतीत होते हैं। किन्तु उनमें क्रियापद शुद्ध व्रजभाषा के हैं अत उनका पार्थक्य स्पष्ट हो जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सेवकजी ने भाषा और छन्द-विधान परम्परा से विविध रूप में पाया होगा। उसी का निर्वाह आपने अपनी वाणी में करने की चेष्टा की।

रहत सदा सखि सग रास रग रस रसाल उल्लास।
लीला ललित रसाल, सम सुर ताल, वरखत सुख पु ज॥
+ + +
सारासार विवेकी, प्रेम पु ज अद्‌भुत अनुराग।
हरिजस रस मधुमत, सर्वत्यक्ता दुस्त्यज कुल कर्म॥
कर्म छाडि कर्मठ भजै, ज्ञानी ज्ञान विहाय।
व्रतधारी व्रत तजि भजै, श्रवनादिक चितलाय॥

उपर्युक्त पदो में सस्कृत के सारासार, मधुमत्त, सर्वत्त्यक्ता, दुस्त्यज, कर्मठ, विहाय, श्रवनादिक आदि पद इस तथ्य के द्योतक है कि कही-कही तत्सम की प्रचुरता आग्रहपूर्वक की गई है।

सस्कृत पद-रचना के साथ उसी पद्धति का निम्नाकित पद द्रष्टव्य है—

प्रकटत प्रेम प्रकाश, सकल जन्तु शिशरी कृत चित्त।
गत कलि तिमिर समूह, निर्मल अकल उदितजगचन्द्र।
विशद चन्द्र तारा तनय शीतल किरनि प्रकासि।
अमृत सींचत मम हृदय सुखमय आनन्दरासि॥[1]

अवधी भाषा की भी कही-कही हल्की-सी छाया देखने में आती है किन्तु अवधी भाषा का सौन्दर्य सेवकवाणी में कही नही है।

सुनै प्रपन्न जे भये, अभद्र सर्व के गये,
तिन्है मिले प्रसन्न ह्वै न जाति भेद मर्म नये॥

---

१. सेवकवाणी—प्रकरण १२, पद स० ४।

सुभाग लाग पाइ है, प्रशसि कंठ लाइ है,
सिराइ नैन देखिहै, अभेद बुद्धि आनिये ॥[1]

भाषा मे नाद-सौंदर्य की सृष्टि करने की ओर भी सेवकजी का ध्यान रहा है। अतः उनके पदो मे लय, ध्वनि, ताल का अनेक स्थलो पर सुन्दर समन्वय हुआ है। शब्दो में नादात्मकता ने केवल सगीत की ही सृष्टि नही की है वरन् छद में प्रवाह और प्रखर वेग भी भर दिया है। आधुनिक कवि जिस नाद-सौंदर्य को साहित्य का संगीतपरक पहलू स्वीकार करते हैं वह भक्त कवियो मे इतनी प्रभूत मात्रा मे उपलब्ध है कि उसे देखकर उनके सगीत ज्ञान पर आश्चर्य होता है। विस्तार-भय से हम केवल तीन उदाहरणो से ही अपने कथन की पुष्टि करेंगे—

श्री वृन्दावन नवनव कुञ्ज श्री हरिवंश प्रेम रस पुञ्ज।
श्री हरिवश करत नित केली, छिन छिन प्रति नव-नव रसभेली ॥
कवहुँक निर्मित तरल हिंडोला, झूलत फूलत करत किलोला।
कवहुँक नवदल सेज रचावहिं, श्री हरिवंश सुरत रति गांवहि ॥
झटकत पट, चुटकिनि चटक, लटकत लट मृदुहास।
पटकत पद, उघटत शवद, भटकत भृकुटि विलास ॥[3]
परसत पुलिन सुलिन गिरा करषत चित सुर घोर।
हरषत हित नित नवल रस वरषत जुगल किशोर ॥
वरषत जुगल किशोर जोर नवकुञ्ज सुरत रन।
गौर चन्द्र चयं चलत डोर कच शिथिल सुभगतन।[४]

अलंकार की दृष्टि से सेवकवाणी में अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक का आधिक्य है। अनुप्रास के तो वहुत ही सुन्दर उदाहरण दृष्टिगत होते हैं। गुणो में ओज की प्रधानता है। सारी भाषा पर सामूहिक रूप से ओज छाया हुआ है। कही-कही माधुर्य की छटा भी है। प्रसाद गुण का प्राय· अभाव है।

सेवकजी को छन्दो का अच्छा ज्ञान था। छन्दो में त्रुटियां तो हैं किन्तु उनकी विविधता एव प्रसगानुकूल चयन को देखकर यह स्वीकार करना पडता है कि छन्द की आत्मा को समझे विना कोई भी कवि इस रूप मे उन्हे यथास्थान ठीक नही विठा सकता। छन्द को राग के साथ ग्रथित करना सगीत-ज्ञान के विना सम्भव नही। जो छन्द विपय, भाव, राग, काल सव दृष्टियो से प्रवाहपूर्ण होता है वही श्रेष्ठ माना जाता है। सेवक वाणी में यह गुण आद्योपान्त उपलब्ध होता है। सोलह प्रकरण की इस लघुकाय वाणी में निम्नाकित छन्दो का समावेश हुआ है—

---

१ सेवकवाणी—प्रकरण १५—पद सं० २
२. " " " ४ " ३
३ " " " ७ " ७
४. " " " १० " १६

त्रिपदी छन्द, दुपई छन्द, करखा, छप्पय, गाथा, तोटक, रढ्ढा, सवैया, मालती, मदिरा, पद्मावती, सोरठा, कुण्डलियाँ, गाहा, किरीट, मल्लिका, दुर्मिल, रोला, दडक, नारायण, दोहा।

छन्दो के साथ कही कही रागो के नाम भी दिये हुए हैं जो सगीत की दृष्टि से गेय हैं।

सक्षेप में, सेवकजी की वाणी राधावल्लभ सम्प्रदाय मे प्रारम्भ से पूज्य बुद्धि से देखी जाती रही है और उसका पठन-पाठन जिस श्रद्धाभाव से होता है वह इस बात का प्रमाण है कि यह वाणी साम्प्रदायिक धार्मिक भावना को व्यक्त और स्पष्ट करने वाली धर्म-वाणी है। काव्य के उपकरणो की खोज करने और उनके आधार पर इसका मूल्याकन करने से इसकी गौरव-वृद्धि नही होती।

भक्त नामावली मे सेवकजी के विषय मे कहा है—

सेवक की सम को करै भजन सरोवर हस।
मन वच कै धरि एक व्रत गाये श्री हरिवस॥
वश बिना हरि नाम हू लियो न जाके टेक।
पावै सोई वस्तु को जाकै है व्रत एक॥

नाथभट्ट जी ने सेवकजी की प्रशसा में यह कवित्त लिखा है—

मन क्रम वचन विशुद्ध न कोऊ
　　सेवक सौं हरिवश उपासक॥
आन धरम्मी सौं सग नहीं
　　हरिवश धरम्मिन में वसवासक॥
हरिवश पतिव्रत लै निबह्यौ दुखपाइ
　　रिवसाइ रहैं उपहासक॥
हरिवश कृपा रसमत्त सदा सोई
　　नाथ कहै अब या मे कहा सक॥

चाचा वृन्दावनदास जी ने भक्त-प्रसाद-वेली में सेवकजी के विष्य में यह पद गाया है—

हित मारग पहुँचो निवटि सेवक प्रति बाकौ।
व्रज अनन्य धरि सुभट दृढ कियो परन न भाको॥
सकृत रीति मर्मी सुविधि गह्यौ गाढौ नाकौ।
श्री हरिवश सुनाम रति वन्यौ आनक डांकौ॥
धर्म कसौटी पर लरयौ कुन्दन विन टाकौ।
गुरु में हरि पूरन लखै कियौ इहि कलि साकौ॥
टेक नाम हरिवश इक नहि दूजो भाकौ।
सप्तक की मन क्रम वचन वल हित पर धाँकौ॥
कुञ्ज गमन अम्बुद उभय भर रूप सुधा कौ।
वृन्दावन हित रूप वलिचाअकी तहां कौ।

# तृतीय अध्याय

# श्री हरिराम व्यास

## जीवनवृत्त-विषयक सामग्री का संकेत

ओरछाधीश महाराज मधुकरशाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास व्रजमडल के प्रसिद्ध रसिक भक्तो में हैं। वृन्दावन मे हरित्रयी नाम से जो तीन महात्मा विख्यात हैं उनमें एक व्यासजी भी हैं क्योकि आपका नाम भी हरि से ही प्रारम्भ होता है। व्यासजी के जन्मसवत्, जन्मस्थान, दीक्षागुरु, सम्प्रदाय तथा कवितांकाल आदि के सम्बन्ध मे प्रारम्भ से ही अनेक मतवाद प्रचलित रहे हैं। इन मतवादो के मूल में एक ओर यदि अज्ञान कारण रहा है तो दूसरी ओर साम्प्रदायिक दुराग्रह ने भी तथ्यो पर पर्दा डाला है। फलत अज्ञानवश तो हरिव्यास देवाचार्य और हरिराम व्यास को एक समझ बैठने की भूल हुई। किन्तु जान-बूझकर हरिराम व्यास जी के दीक्षागुरु, वृन्दावन-आगमन तथा सम्प्रदाय आदि के विषय में कतिपय मिथ्या प्रवाद प्रचार में आये। मिश्रबन्धुओ ने सबसे पहले व्यासजी के विषय मे जानकारी प्रस्तुत की थी किन्तु अज्ञानवश वे हरिव्यासदेव और हरिराम व्यास को एक ही समझ बैठे। फलत. "मिश्रबन्धु विनोद' में यह विवरण भ्रान्तिपूर्ण रूप में प्रकाशित हुआ। 'शिवसिंह सरोज' मे व्यासजी के विषय में जो विवरण दिया गया था उसी को प्रमाण मानकर शायद मिश्रबन्धुओ ने अपना इतिवृत्त लिखा अत उसका भ्रामक होना स्वाभाविक ही था।

व्यासजी का वर्णन नाभाजी के भक्तमाल, भगवत् मुदित के रसिक अनन्यमाल तथा उत्तमदासजी के रसिकमाल में विशद विस्तार के साथ मिलता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त कवियो ने भी अपनी वाणियो में व्यासजी का अनेक स्थान पर स्मरण किया है। इन वर्णनो में प्राय· सभी स्थलों पर व्यासजी के सम्बन्ध में राधावल्लभीय होने का उल्लेख है।

नाभाजी के भक्तमाल में व्यासजी के परिचय में जो छप्पय दिया है उसके ऊपर 'श्री हरिवश जी के शिष्य व्यासजी' यह शीर्षक है।

काहू के आराध्य मच्छ कच्छ नरहरि सूकर
वामन, फरसा धरन सेतु बधन जु सैल कर ॥
एकन के यह रीति नेम नवधा सों लायें ।
सुकुल सुमोखन सुवन अच्युतगोत्री जु लडायें ॥
नौ गुण तोरि नूपुर गुह्यौ महत समा मधि रास के ।
उत्कर्ष तिलक अरु दाम को भक्त इष्ट अति व्यास के ॥

[ भक्तमाल नाभाजी—छप्पय स० ९२ । १२२ । ]

उक्त छप्पय पर टीका कवित्त ने कतिपय अन्य विशेषताओ का सकेत किया गया है।

आये गृह त्यागि वृन्दावन अनुराग करि,
गयौ हियौ पागि होय न्यारो तासों खीझियै ।
राजा लैन आयो ऐ पै जायवौ न भायो,
श्री किशोर उरझायौ मन सेवामति भीजियै ।
चीरा जरकसी सीस चीकनो खिसिल जाय,
लेहू जो बधाय, नहीं आप बांधि लीजियै ।
गये उठि कुंज सुधि आई सुख पुंज,
आये देरियौ बध्यौ मजु कही कैसे मोपै रीझियै ।

भक्तमाल के वार्त्तिक तिलक मे व्यासजी के जीवन के सम्बन्ध में प्रवर्तित कई जन-श्रुतियो का सविस्तर उल्लेख है जिनका सकेत हम जीवनी-विषयक घटनाओ के प्रसग में आगे करेंगे। टीका के छह कवित्तो में प्राय सभी प्रमुख घटनाओ को समेटने का प्रयत्न किया गया है।

श्री भगवत मुदित के रसिक अनन्यमाल में ५९ पदो में व्यासजी का चरित्र लिखा मिलता है। इस चरित्र में व्यासजी का वश-परिवार, बयालीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आना, हितहरिवश जी से साक्षात्कार होना, दीक्षा ग्रहण करना आदि पूर्णरूपेण वर्णित है। इस प्रसग की आवश्यक पक्तियाँ हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

"सुमुख सुमोखन बडे कुलीन, राजा परजा सबै अधीन,
तिनके पुत्र व्यास कुलवन्त, अति गभीर कोऊ लहै न अन्त ।
+ + +
ऊचौ मन गुरु करन विचारै, ऐसो करौं जु पार उतारै ।
कबहू कै रैदास सुहावै, कबहू मत कबीर कौ भावै ॥
कबहू पीपा पर मन राखै, कबहूं श्री जयदेवहि भाखै ॥
+ + +
कबहूं वृन्दावन गुन गावै, रसिक भक्ति में मन ललचावै ।
ऐसहि करत ठीक नहि करी, वरष बयालिस आयुष टरी ॥
एक दिन नवल वैरागी आये व्यास मिलै अति ही हरषाये ।
श्री राधावल्लभ इष्ट बताये नित्य विहार के भेद सुनाये ॥

चलि वृन्दावन दरसन कीजै, श्री हरिवंशहि को गुरु कीजै ।
कातिक लगत वृन्दावन आये, नवल रसिक संग लिये सुहाये ।।
मन्दिर मांझ गुसाईं पाये, दरसन करिकै नैन सिराये ।
हितजू प्रभु पाकहि विस्तारहि, व्यास कहहि हम चरचा करहि ।।
तवहि टोकनी धरी उतारी, आग वुझाई लगी न वारी ।
व्यास कही दोऊ किन कीजै, मुख सौं चरचा कर सुख दीजै ।।
करिवो धरिवो करको कर्म कहिवो-सुनिवो मुख श्रुति मर्म
तव हरिवश गुसाईं बोले, सव सन्देह हिये के खोले ।।
+ + +
यह उपदेश व्यास को भायौ, दोउ करि जोरि पगन सिर नायौ ।
शिक्षा दैके दीक्षा दीजै, अव तो मोहि आपनो कीजै ।।
श्रद्धा लखि निज मंत्र सुनायो, भयौ व्यास के मन को भायौ ।[1]

श्री उत्तमदास कृत 'रसिकमाल' में भी व्यासजी का चरित्र मिलता है। उसका भी शीर्षक है—'श्री हितपदाश्रित व्यासजू कौ चरित्र'। इस चरित्र मे श्री भगवत मुदित के चरित्र से विशेष अन्तर नही है। प्रमुख घटनाएँ प्राय. ज्यो की त्यो वर्णित हैं। ओरछा-निवास, राजसम्मान-प्राप्ति, साधु-सन्तो की सेवा मे परायण रहना, नवलदास वैरागी से भेट और वृन्दावन आने की तैयारी, वृन्दावन में हितहरिवश के दर्शन, रसोई बनाते समय पतीली उतारने पर व्यासजी की आपत्ति आदि सभी बातें प्राय समान ही हैं। एक विशेष घटना जो इस रसिकमाल में मिलती है वह यह है कि एक वार व्यासजी यमुना-स्नान करने गये। वहाँ बाहर से कुछ हरिभक्त आये हुए थे और वे कवीर तथा नामदेव के निर्गुणभक्तिपरक पद गाकर ईश्वराराधन कर रहे थे। व्यास जी निर्गुण भाव के पदो को सुनकर प्रसन्न नही हुए और उनके मन में इन भक्तो के प्रति हीन भाव उत्पन्न हुआ। इन विचारो को लेकर जव वे वापस आये तो उनका मन श्री राधावल्लभ जी की सेवा-पूजा मे नही लगा। तीन दिन तक यही अन्यमनस्कता चलती रही। तव वडे व्यग्र और खिन्न होकर हितहरिवशजी के पास पहुँचे और अपने मन का सताप कहा। हरिवशजी ने कहा कि राधावल्लभ जी की उपासना आराधना में मन न लगने का कारण 'महत् अपराध' होता है। अवश्य ही तुम से कोई महत् अपराध वन पडा है। बहुत सोचने के वाद उन्हे याद आया कि तीन दिन पहले यमुना पर कवीर और नामदेव के निर्गुणभावपरक पदो के प्रति उपेक्षा, अवहेला और हीनभाव ही 'महत् अपराध' है। तव उन्होने अपनी त्रुटि के लिए प्रायश्चित्त किया तथा भविष्य मे सभी साधु-सन्तो तथा सभी भक्ति-पद्धतियो के प्रति उदार वने रहने की प्रतिज्ञा की।

श्री ध्रुवदासजी ने 'भक्त नामावली लीला' में व्यासजी के सम्बन्ध मे तीन दोहे लिखे हैं—

---

१—रसिक अनन्यमाल—भगवत मुदित कृत ( हस्तलिखित प्रति से उद्धृत ) प्रतिकाल १७८६ सम्वत्

"भर किशोर दोऊ लाडिले नवल प्रिया नव पीय।
प्रकट देखियत जगमग, रसिक व्यास को हीय॥
कहनी करनी करि गयो, एक व्यास इहि काल।
लोक वेद तजि के भजे, राधावल्लभ लाल॥
प्रेम मगन नहि गन्यो कछु, वरना वरन विचार।
सबनि मध्य पायो प्रगट लै प्रसाद रस सार॥"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे[2] तथा श्री वियोगी हरि ने ब्रजमाधुरी सार[3] मे हरिराम व्यास जी के सम्बन्ध में प्रामाणिक रूप से वृत्तान्त देने का प्रयत्न किया है। किन्तु उक्त दोनो महानुभावो ने भी शोधात्मक शैली का अनुसरण न करके परिचयात्मक दृष्टि से ही लिखा है। फिर भी इनके विवरणो से अनेक भ्रान्तियो का परिहार हुआ। आचार्य शुक्ल तथा वियोगी हरि दोनो ने ही यह स्वीकार किया है कि श्री व्यास जी पहले गौडीय सम्प्रदाय के अनुयायी थे किन्तु बाद मे श्री हितहरिवशजी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। गौडीय सम्प्रदाय की वात का प्रमाण उपलब्ध न होने पर भी कदाचित् अनुश्रुति में यह बात चली आ रही होगी। आज तो व्यासवंशी परिवार अपने को स्वतत्र समझता है किन्तु माध्य सम्प्रदाय के साथ अपना परम्परागत सम्बन्ध मानता है। वस्तुस्थिति क्या है इसका निर्णय हम आगे की पक्तियो में प्रमाणपूर्वक करेंगे।

विक्रम सम्वत् २००९ में श्री वासुदेव गोस्वामी लिखित 'भक्त कवि व्यासजी' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। उक्त ग्रथ में पहली बार व्यासजी के व्यक्तित्व और कृतित्व पर गम्भीरतापूर्वक विचार-विमर्श किया गया है। लेखक स्वय व्यासवशीय गोस्वामी हैं, उनके परिवार में व्यासजी की वाणी का पठन-पाठन परम्परा से होता आ रहा है अत व्यासवाणी के मर्म को समझने और व्यासजी के व्यक्तित्व को पहिचानने का उनका जन्मजात अधिकार माना जा सकता है। इस ग्रथ में लेखक ने अनेक भ्रातियो के निवारण का स्तुत्य प्रयत्न किया है। लेखक अन्वेषक की दृष्टि से तथ्यो और तत्त्वो की शोध करने में प्रवृत्त हुआ है अत बहुत सी बातो का यथातथ्य रूप उसने पा लिया है। किन्तु व्यासवशीय होने के कारण जहाँ उन्हे यह लाभ मिला है वहाँ कुछ सीमाओ का बन्धन भी उनके साथ सतत बना रहा है। दीक्षागुरु और सम्प्रदाय आदि के विषय में गोस्वामी ने जो तर्क, युक्ति और प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वे न तो व्यासवाणी से सर्वथा मेल रखते है और न व्यासजी के विषय में विगत चार शताब्दियो से क्रमानुगत अनुश्रुतियो के साथ सम्बद्ध होते हैं। हम इस प्रकार के निष्कर्षो की परीक्षा करेंगे और यह सिद्ध करेंगे कि विद्वान् लेखक की ये मान्यताएँ प्रमाण या तर्कसम्मत न होकर किसी विशिष्ट आग्रह या पक्षपात पर आधृत हैं। किन्तु हमें यह लिखते हुए हार्दिक सन्तोष

---

१—भक्त नामावली लीला—श्री ध्रुवदास (ब्यालीस लीला) पृष्ठ ३१
२—हिन्दी साहित्य का इतिहास—प० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २११—सशोधित सस्करण
३—ब्रजमाधुरी सार—वियोगी हरि, पृष्ठ ११५–११६, अष्टम सास्करण।

है कि वासुदेव गोस्वामीजी ने व्यासजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का सर्वांगीण मूल्यांकन करके हिन्दी साहित्य का बडा उपकार किया है।[1]

नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की खोज-रिपोर्टों में अनेक वार व्यासवाणी का उल्लेख मिलता है। सम्वत् १९८० की खोज-रिपोर्ट में 'व्यासजी' शीर्षक से जो परिचय दिया हुआ है उसके आधार पर ही कदाचित् परवर्ती इतिहास-लेखकों ने व्यासजी का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया है।[2]

उपर्युक्त ग्रंथो के अतिरिक्त अर्वाचीन काल के भक्तमाल ग्रथो तथा हिन्दी साहित्य के इतिहासों में व्यासजी का वर्णन मिलता है किन्तु उनमें कोई नवीन सूचना न होने से उनका यहाँ उल्लेख करना व्यर्थ होगा। उपर्युक्त उपलब्ध सामग्री के आधार पर तथा व्यासवाणी के पदो के अन्त साक्ष्य के आधार पर हम व्यासजी की जीवनी संक्षेप मे नीचे प्रस्तुत करते हैं।

## जन्मस्थान और जन्म-संवत्

श्री हरिराम व्यास का जन्मस्थान निर्विवाद रूप से ओरछा ( टीकमगढ ) राज्य माना जाता है। वेतवा नदी के किनारे बसा हुआ यह नगर चिरकाल से हिन्दू राजाओ के शौर्य और पराक्रम का पावन प्रतीक रहा है। राजा मधुकर शाह अपने युग के एक सवल शासक थे उन्ही के शासनकाल में व्यासजी ओरछा से वृन्दावन आये थे। व्यासजी के जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध मे दो मत हैं। कुछ विद्वान् व्यासजी का जन्म सम्वत् १५६७ मार्गशीर्ष कृष्णा ५ बताते हैं।[3] किन्तु भगवत मुदित के रसिक अनन्यमाल को यदि प्रमाण माना जाय और उसके आधार पर यह भी स्वीकार किया जाय कि सम्वत् १५९१ में कार्तिक मास में व्यासजी वृन्दावन आये तो आपका जन्म सम्वत् १५४९ ठहरता है क्योकि वयालीस वर्ष की आयु मे आने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा श्री वियोगी हरि ने इनका जन्म सम्वत् स्थिर नही किया केवल सम्वत् १६२० के आसपास कविताकाल लिखा है। किन्तु इन दोनो महानुभावो के वर्णन में एक त्रुटि यह है कि वे सम्वत् १६२२ के समीप इनका हितहरिवश जी से दीक्षा ग्रहण करना मानते हैं जवकि राधावल्लभ सम्प्रदाय की प्राय सभी प्रामाणिक एव प्राचीन वाणियो में श्री हितजी का निधन काल सम्वत् १६०९ माना गया है। अत हम उनके कविताकाल को भी पीछे समझते है। सवत् १५९१ में वृन्दावन आने पर कविता की ओर आपकी प्रवृत्ति हुई और उसके वाद आजीवन काव्य-रचना में लीन रहे। व्यासजी के प्रथम वार सवत् १५९१ में वृन्दावन आने का वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रथ में समन्वय किया है।[4]

---

१. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, प्रकाशक अग्रवाल प्रेस, मथुरा।

२ हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का सक्षिप्त विवरण—स० श्यामसुन्दरदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सम्वत् १९८०।

३. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ३९।

४. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ७३।

व्यासजी के पिता का नाम समोखन शुक्ल था। प्राचीन भक्तमालो में इसी नाम का सकेत मिलता है। व्यासजी के जन्मोत्सव की जो बधाइयाँ उपलब्ध होती हैं उनमें भी समोखन शुक्ल का ही नाम पाया जाता है। इसी नाम को कतिपय स्थलो पर सुमोखन, या सुखोमणि भी लिखा गया है जो व्यर्थ ही नामवाचक सज्ञा शब्द के परिष्कार का प्रयास है। प्रेमदास कृत बधाई में कहा है—

श्री समोखन सुकल पूछत विप्रवरन मनाइ।
कहिये जू जाको भाव फल सब जन्म पत्र बनाइ॥
+ + +
रहे विसाखा सहर ओरछे दास हमारौ।
सकल समोखन नाम विप्रवर यह व्रत धारै॥

व्यासजी के नाम के सम्बन्ध मे भी कतिपय भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। यथार्थ में व्यास न तो जातिवाचक नाम है और न पूर्ण नाम। यह तो केवल पाडित्यसूचक उपाधि थी जो उनके हरिराम नाम के साथ सयुक्त होकर उपनाम के रूप में प्रयुक्त होने लगी। व्यास-वाणी में हरिराम व्यास शब्द नाम के अर्थ में उपलब्ध होता है। जातिसूचक अल्ल शुक्ल शब्द होना चाहिए। ऐसा मालूम होता है कि व्यास शब्द ने इतना अधिक प्रचार पा लिया कि वह मूल-नाम और उपजाति-सूचक शुक्ल शब्द को भी निगीर्ण कर गया। व्यासजी सनाढ्य ब्राह्मण परिवार मे उत्पन्न हुए थे। वृन्दावन आने पर गुरुगद्दी पर आसीन होने के बाद गुसाईं या गोस्वामी भी कहलाने लगे थे।

व्यासजी ने अपने परिवार की परम्परा के अनुकूल शैशव में ही सस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। बाद में उन्हे पुराण और दर्शन-शास्त्र के प्रति अनुराग हुआ। वे बड़े विद्या-व्यसनी पडित थे। जहाँ कही शास्त्रार्थ चर्चा होती, विना बुलाये भी पहुँच जाते और यथाशक्ति शास्त्रार्थ में भाग लेते। प्रसिद्ध है कि अपनी जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए आप काशी गये और वहाँ के पडितो के साथ शास्त्र-चर्चा करते रहे। वहाँ रहते हुए ही उनकी शास्त्रार्थ-वृत्ति में कुछ परिवर्तन आया और वे शास्त्रार्थी पडित के स्थान पर भक्ति-भाव की ओर उन्मुख हुए।

व्यासजी अपने पूर्व जीवन में विरक्त साधु नही थे। वे सच्चे आस्तिक भाव के सद्-गृहस्थ थे। युवावस्था में उनका विवाह हुआ था, उनकी पत्नी का नाम गोपी कहा जाता है। व्यासजी के परिवार में एक उनका छोटा भाई, बहिन, पत्नी, एक पुत्री तथा तीन पुत्रो की सूचना मिलती है।[1]

## दीक्षा-गुरु

व्यास जी के दीक्षा-गुरु के सम्बन्ध में व्यासवशीय गोस्वामियो ने जो व्यासवाणी प्रकाशित की है उसकी भूमिका में अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है कि "जब व्यासजी की अवस्था वैष्णव दीक्षा के योग्य हुई तो इनके पितृदेव ने अपने श्री गुरुदेव के आने पर

---

१—भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ५२।

उन्ही से दीक्षा दिलाने का निश्चय किया परन्तु व्यासजी की निष्ठा पितृचरणो मे अधिक थी, अत. आपने पितृदेव से प्रार्थना कर युगल-मत्र सविधि ग्रहण किया।"[1] अपने उक्त मत के समर्थन में व्यासवाणी के कुछ पद भी उद्धृत किये हैं। उक्त मत का ही समर्थन 'भक्त कवि व्यासजी' के लेखक वासुदेव गोस्वामी ने किया है। किन्तु उन्होंने उक्त प्रश्न को और अधिक विवेकसम्मत तथा तर्काश्रित बनाकर प्रस्तुत किया है। हम उनके अभिमत को प्रस्तुत कर उसके खडन में अपनी स्थापना आगे लिखेंगे। यहाँ गुरु के सम्बन्ध में एक और मत का उल्लेख करना आवश्यक है। पुलिन विहारीदत्त ने इन्हें श्री माधव नामक संन्यासी का शिष्य बताया है। लालदासकृत बंगला भक्तमाल में व्यासजी को माध्व-सम्प्रदाय का शिष्य बताकर माधव संन्यासी से दीक्षा प्राप्त कहा है।[2] डा० उमेश मिश्र ने प्राचीन वैष्णव सम्प्रदाय शीर्षक से 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका में एक लेख लिखकर हरिराम व्यास को श्री भट्ट का शिष्य सिद्ध किया है। इस प्रकार वे निम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्ध होते हैं। फलतः राधावल्लभ, माध्व तथा निम्बार्क तीनो सम्प्रदायो का नाम व्यासजी से जोड़ा जाता है।

यथार्थ में व्यासजी के दीक्षा-गुरु कौन थे और व्यासजी किस सम्प्रदाय के अनुयायी थे यह प्रश्न हमारी दृष्टि मे इधर चालीस-पचास वर्ष से पहले कभी इस रूप मे उत्पन्न ही नही हुआ था। वृन्दावन में ज्यो-ज्यो सम्प्रदायवाद का दम्भ और मिथ्या मोह बढ़ा, व्यासजी के दीक्षागुरु और सम्प्रदाय के सम्बन्ध मे खीचातानी प्रारभ हुई। व्यासवशीय गोस्वामियो ने अपना संबध माध्व सम्प्रदाय से स्थापित कर लिया है अत वे हरिराम व्यासजी को भी उसी सम्प्रदाय मे दीक्षित सिद्ध करने मे सचेष्ट देखे जाते हैं। व्यासवशीय गोस्वामी राधाकिशोरजी ने अपनी प्रकाशित व्यासवाणी में तथा वासुदेव गोस्वामी ने इस चेष्टा को पराकाष्ठा पर पहुँचाया है। हम नीचे उनकी युक्तियो का सार दे रहे हैं जिन्हे प्रस्तुत करके वे व्यास जी को माध्व सम्प्रदायानुयायी तथा अपने पितृचरण द्वारा दीक्षित सिद्ध करते हैं।

१—राधावल्लभीय व्यासवाणी में प्रकाशित जिन पदों में हितहरिवंशजी का नाम गुरु पद के साथ या गुरु भाव द्योतनार्थ आया है वे प्रक्षिप्त हैं। उदाहरणार्थ—

"व्यासहि गुरु हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि"
"व्यासहि हित हरिवंश बताई अपनी जीवन मूरि।"

इन पदो में गुरु शब्द का प्रयोग प्रक्षिप्त है। अपने पक्ष की सिद्धि मे हस्तलिखित १८८८ तथा १८९४ सम्वत् की प्रति का फोटोग्राफ ब्लाक भी 'भक्त कवि व्यासजी' में ५९ पृष्ठ पर दिया है।

---

१. श्री व्यासवाणी—प्रकाशक—आचार्य श्री राधाकिशोर गोस्वामी, प्राक्कथन पृष्ठ ७।

२. भक्त कवि व्यास जी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ६५।

२—'अब हम वृन्दावन धन पायौ' शीर्षक पद में—

'चरन सरन राधे मन दीनौ श्री हरिवश बतायौ' के स्थान पर
'मोहनलाल रिझायौ' पाठ बताया जाता है। तीसरे चरण में भी
'हित गुरु टेर जगायो' को प्रक्षिप्त मानकर
'श्री गुरु टेरि जगायौ' को मूल पाठ माना है।

३—इसके बाद राधावल्लभीय व्यासवाणी से चार पद उद्धृत करके उन्हें भी प्रक्षिप्त माना गया है।

उपर्युक्त तीनो आक्षेपो के दो उत्तर हैं—एक तो यह स्पष्ट है कि इन पदो की व्यजना यदि गुरु के स्थान पर हित या श्री पाठ कर दें तो भी किसी गुरु का सकेत तो देती है। 'व्यासहि हित हरिवश बताई अपनी जीवन मूरि' में जो भाव-व्यजना है वह इतनी सशक्त है कि गुरु या हित के परिवर्तन से सर्वथा दूर नही होती। 'जीवन-मूरि' का पता बताने वाला गुरु नही तो और कौन हो सकता है। दूसरा उत्तर यह है कि व्यासवाणी की जिन प्राचीन हस्तलिखित प्रतियो का उल्लेख श्री वासुदेव गोस्वामी ने किया है उससे भी प्राचीन प्रति कैलारस ( ग्वालियर ) नामक स्थान में उपलब्ध है। इस प्रति के आधार पर पाठ-भेदो का मिलान करने पर राधावल्लभीय व्यासवाणी के प्रक्षिप्त पदो का निर्णय हो सकता है। कैलारस वाली प्रति १७६१ सम्वत् की लिखी हुई है अत उसकी प्राचीनता अन्य प्राप्त प्रतियो से अधिक ठहरती है। इस प्रति में लिपिकाल इस प्रकार दिया हुआ है—

'इति श्री व्यासजी कृत साखी, विष्णु पद भाषा प्रबन्ध सम्पूर्ण लिख्यते। ज्येष्ठमासे, शुक्लपक्षे तिथौ नवम्या गुरुवासरे सवत् १७६१ लिपिकृत भूधरदासेन, शुभमस्तु। लेखक पाठकयोश्चिरतिष्ठतु। 'श्री' ॥"[1]

इस प्रति में वे समस्त पाठ विद्यमान हैं जिन्हें प्रक्षिप्त ठहराया गया है। यथार्थ में हितहरिवशजी और व्यासजी के अभिन्न सम्बन्धो को देखकर तथा व्यासवाणी के तात्विक पक्ष अथवा हार्द का अनुशीलन कर कोई भी निष्पक्ष विद्वान् यह सम्मति नही देगा कि व्यासजी का साम्प्रदायिक भाव राधावल्लभीय के अतिरिक्त कुछ और था। श्री हितहरिवशजी द्वारा पथ-प्रदर्शन तो श्री वासुदेव गोस्वामी जी भी स्वीकार करते हैं और दीक्षा-गुरु के स्थान पर सद्गुरु का स्थान देते हैं—किन्तु निम्नलिखित दोहो के मर्म को हृदयगम करने के बाद कौन सहृदय यह कहेगा कि व्यासजी के गुरु हितहरिवशजी नही थे—

उपदेस्यौ रसिकन प्रथम, तब पाये हरिवश।
जब हरिवश कृपा करी, मिटे व्यास के संस ॥
मोह मया के फन्द बहु, व्यासहि लीनौ घेरि।
श्री हरिवश कृपा करी, लीनौ मोको टेरि ॥

---

१. कैलारस वाली व्यासवाणी का पता हमें वृन्दावन निवासी श्री बाबा वशीदास जी से लगा। उन्होंने स्वय इस प्रति की नकल ली है। उपर्युक्त उद्धरण भी हमें उन्हीं से प्राप्त हुआ है।

श्री हरिवंश कृपा विना निमिष नहीं कहु ठौर ।
व्यासदास की स्वामिनी प्रगटी सब सिरमौर ॥
स्वामिनि प्रगटी सुखभयौ सुर पुहपन बरषाय ।
हित हरिवंश प्रताप वे मिले निशान वजाय ॥
व्यास श्रास हरिवंश की तिनही के बड़ भाग ।
वृन्दावन की कुंज में सदा रहत अनुराग ॥
राधावल्लभ व्यास कौ, इष्ट मित्र गुरुदेव ।
श्री हरिवंश प्रकट कियौ कुंज महल रस भेव ॥

उपर्युक्त दोहो की भावना को स्पष्ट करने के लिये किसी शाब्दिक व्याख्या की हम आवश्यकना नही समझते । प्रत्येक दोहे का पद-पदार्थ हितहरिवंशजी को गुरु घोषित कर रहा है । ये दोहे व्यासवंशीय गोस्वामियो द्वारा प्रकाशित व्यासवाणी में तथा श्री वासुदेव गोस्वामी लिखित 'भक्त कवि व्यासजी' मे भी ज्यो के त्यो उपलब्ध होते हैं । इन्हे कोई प्रक्षिप्त नही कहता । हरिवश की कृपा से ही अज्ञानांधकार में भटकने वाले व्यासजी के सशय उच्छिन्न हुए । मोह-माया के बधनो मे पडे हुए व्यासजी को अनुग्रह करके हरिवशजी ने पुकारा और अपनी शरण में ले लिया । उनके अनुग्रह के विना पल भर को भी कही चैन-विश्राम सुलभ नही था । श्री हरिवंशजी की कृपा से ही स्वामिनी (राधा) का दर्शन हुआ । श्री हरिवशजी ने ही पथप्रदर्शन करके (दीक्षा देकर) व्यासजी को इष्ट देवता राधावल्लभ तक पहुँचाया और कुंज महल का रस अर्थात् नित्यविहार का दर्शन कराया । इन दोहो का शब्दार्थ, गूढार्थ, व्यंग्यार्थ सभी इस तथ्य की ओर सकेत कर रहा है कि व्यासजी को भक्ति-पथ पर आरूढ करने के लिए हितहरिवशजी ने ही उपदेश (मत्र) दिया था ।

स्मरण रहे कि माध्व या निम्बार्क सम्प्रदाय में इष्टदेवता की संज्ञा 'राधावल्लभ' नही है । व्यासजी के अनेक पदो में राधावल्लभ को इष्टदेव की भाँति कहा गया है । हित-हरिवशजी की साम्प्रदायिक भावना में इस नाम का प्रयोग होता है, अन्यत्र नही । अत यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि व्यासजी को हित जी द्वारा ही इस मार्ग का ज्ञान हुआ था । राधावल्लभ शब्द को भी प्रक्षिप्त मानकर व्यास-वशीय वाणी में कुछ परिवर्त्तन किये गये हैं किन्तु परिवर्त्तनो के वावजूद भी वीसियो पदों में यह शब्द अपनी पूरी ध्वन्यात्मकता के साथ उपस्थित है और उसका कोई समाधान नही हो सकता । अपने उक्त कथन की पुष्टि मे हम श्री राधाकिशोर गोस्वामी द्वारा प्रकाशित व्यासवाणी से ही कुछ पद उद्धृत करते हैं—

श्री राधावल्लभ कौ हौं भवतौ चेरौ ।
राधावल्लभ कहत सुनत ही मन न नेम जय केरौ ।
राधावल्लभ वस्तु भूलि हूँ कियौ अनत नहि फेरौ ।
राधावल्लभ व्यासदास कं सुनहु श्रवण दै टेरौ ।

—व्यासवाणी—पद सं० १३०, पृ० ७१ ।

राधावल्लभ मेरौ प्यारौ
सर्वोपरि सबही कौ ठाकुर सर्व सुखदानि हमारौ।
ब्रज वृन्दावन नाइक सेवा लाइक स्याम उज्यारौ॥

—व्यासवाणी—पद स० ७६, पृष्ठ ४६।

श्री राधावल्लभ तुम मेरे हित।
और सबै स्वारथ के सगी, गुर चौपरी दै पोषत पित।
यह मैं जानि सबनि सौं तोरी तुम सौं जोरी वै चरनन चित॥
इतनी आस व्यास की पुजवहु ज्यौं चातक पोषत पावस रित॥

—व्यासवाणी—पद स० २८८, पृष्ठ १४६।

व्यासहि वामन जिन गनौ हरिभक्तन कौ दास।
राधावल्लभ कारने सह्यौ जगत उपहास॥

—व्यासवाणी—साखी—३, पृष्ठ १५१।

राधावल्लभ परम धन व्यासहि फबि गई लूट।
खरचतहू निवटै नहीं भरे भडार अटूट॥

—व्यासवाणी—साखी—३८, पृष्ठ १५५।

राधावल्लभ श्रुति सुमृति सुमिरौ कहौं सुटेरि।
श्री राधावर व्यासकै एक गाँठि सौ फेरि॥

—व्यासवाणी—साखी—६०, पृष्ठ १५७।

व्यासजी की भक्ति-भावना का अध्ययन करने पर उसके मूल में राधावल्लभीय साधना-पक्ष की ही प्रधानता दृष्टिगत होती है। यदि उनके अन्तर्मन पर माध्व या निम्बार्क सम्प्रदाय का प्रभाव होता तो अवश्य ही वे वैष्णव सम्प्रदायो की बाह्याचार एव आडम्बर-प्रियता के विरुद्ध कुछ न कहते। तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदायो में श्री हितहरिवशजी के सम्प्रदाय को छोडकर और किसी भी सम्प्रदाय में एकादशी व्रत के विरुद्ध कुछ नही कहा गया। एकादशी का व्रत भागवत धर्म का प्रधान लक्षण बन गया था जिसका सर्वप्रथम ज़बर्दस्त प्रतिवाद श्री हरिवशजी ने किया। राधावल्लभ के सिवा किसी और देवी-देवता की पूजा का विरोध भी हितजी के अतिरिक्त किसी अन्य आचार्य ने नही किया था—यहाँ तक कि गणेश, सरस्वती, शिव, पार्वती आदि किसी भी देवी-देवता की पूजा राधावल्लभ सम्प्रदाय में नही होती। श्री हरिराम व्यास ने भी यह मार्ग स्वीकार किया और एकादशी व्रत का तथा गणेश-पूजा का ज़ोरदार शब्दो में खडन किया। निस्सन्देह यह राधावल्लभीय दीक्षा का ही प्रभाव था जो उनकी वाणी में बडे ओज के साथ प्रतिध्वनित हो उठा—

मोहि न काहू की परतीति।
कोऊ अपने धर्म न सांचौ, कासौं कीजै प्रीति।
कबहु कि ग्यासि उपासि दिखावत लै प्रसाद तजि छीति॥

—व्यासवाणी—पद सं० १०६, पृष्ठ ६०।

स्याम निवेरचौ सबरौ झगरौ ।
निज दासनि के दास को हम, पायौ नाम अचगरौ ।
देवी देवाभूत पितर सबही को फारयौ कगरौ ।

—व्यासवाणी—पद सं० १०७, पृष्ठ ६० ।

मरें वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ ।
जे पदारथ सन्तन के काजै ते सारे सकतनने खायौ ।।
व्यासदास कन्या पेटहि क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ ।।

—व्यासवाणी—पद सं० १४६, पृष्ठ ८० ।

करै व्रत एकादसी हरि प्रताप ते दूरि ।
बाधे जमपुर जायंगे मुख में परि है धूरि ।।
व्यासहि अब जिन जानियो लोक वेद कौ दास ।
राधावल्लभ उर बसै औरनि ते जु उदास ।।
व्यास एक ही बात गहि राधावल्लभ धाम ।
और अनेक सु भक्त सो मेरो नाहिन काम ।।
तजि कै रसिक अनन्यता विधि निषेध लिये घेरि ।
व्यास दास के भावते भक्ति गई दै टेरि ।
श्री राधावर ध्याइकै और ध्याइये कौन ।
व्यासहि देत बनै नहीं वरी-वरी प्रति लौन ।।
रसिक अनन्य कहाइ कै पूजै गृह गन्नेस ।
व्यास क्यों न तिनके सदन यमगन करै प्रवेस ।।

—व्यासवाणी—साखी के दोहे ।

राधावल्लभीय उपासना का सार है नित्यविहार-दर्शन । इसी को रसोपासना नाम से व्यवहृत किया गया है । यह उपासना राधावल्लभ सम्प्रदाय में चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई । प्रेमलक्षणा भक्ति का ज्यो-ज्यो विकास और प्रसार होता गया उसके प्रति माधुर्य भाव वाले सभी सम्प्रदायो का अनुराग वढा और निकुंजलीला को इस भक्ति में प्रधानता मिलने लगी । श्री व्यासजी ने इसी भक्ति को अपने काव्य का मेरुदड वनाया और इसी निकुंजलीला का गान करते हुए नित्यविहारी राधा-माधव की छवि निहारने की कामना मे लीन रहे । यदि माध्व सम्प्रदाय का उन पर प्रभाव होता तो वे 'आम्नाय वेद्योहरि.' में आस्था रखकर द्वैतवाद की स्थापना अपनी वाणी में अवश्य करते, या अचिन्त्यभेदाभेद के आधार पर गौडीय सिद्धान्त का समर्थन करते । किन्तु व्यासजी की वाणी में ये दोनो दार्शनिक भाव कही भी उपलव्ध नही होते ।

श्री वासुदेव गोस्वामी ने मध्वाचार्य के ब्राह्म सम्प्रदाय का परिचय देते हुए व्यासजी की वाणी में द्वैतवादी भावना का अनुसधान किया है । नाभाजी लिखित छप्पय में आपने यह आभास पाया है कि व्यासजी उस समुदाय के उपासक थे जिसमे भगवान् के किसी भी अवतार की आराधना की जा सकती है । तथा जिसमें कोई-कोई नवधा भक्ति का पालन

करते हैं । परन्तु व्यासजी ने तदनुकुल वैराग्य से प्रेम किया और एक अवसर पर जनेऊ के सूत्र से नूपुर बाँधकर रास-प्रेम को प्रकट कर मधुर उपासना का परिचय दिया । उन्होने तिलक और माला का गौरव बढाया और भक्तो को अपना इष्ट समझा । इस परिचय से हमें व्यासजी के माध्वाचार्य के ब्रह्म सम्प्रदायी होने का सकेत मिलता है क्योकि ये सब तत्व उस सम्प्रदाय के अनुकूल हैं" ।[1] बडे आश्चर्य का विषय है कि विद्वान् लेखक ने नाभाजी के छप्पय में माध्वाचार्य की साम्प्रदायिक भावना ढूँढकर व्यासजी को उसका अनुयायी बता दिया । छप्पय का अर्थ स्पष्ट है कि कोई भी अवतार का पूजन क्यो न करे किन्तु हमे (व्यासजी को) अच्युत गोत्री (भागवत वैष्णव) ही इष्ट हैं । माध्वाचार्य नवधा भक्ति की कट्टरता पर बल देते हैं जबकि इस छप्पय में नवधा के प्रति कोई आग्रह नही है । अवतारवाद, नवधाभक्ति और सम्प्रदायवाद के विरोध में जो छप्पय है उसे उन्ही का पोषक कहकर उसका अनर्थ करना है । इस छप्पय का वार्त्तिक तिलक इस सम्बन्ध में पठनीय है —

'सतसेवी श्री व्यासजी ऊर्ध्वपुण्ड तिलक और श्री तुलसी की कठीमाला पर विशेष आग्रह रखते, माहात्म्य बडाई करते तथा हरिभक्तो को आप अपना परम इष्टदेव मानते थे । कोई-कोई श्री भगवत के मत्स्य, कच्छप, वराह, नृसिंह, परशुरामादिक अवतारो की आराधना करते हैं, कोई-कोई श्री कृष्णचन्द्रजी की उपासना करते हैं, किसी-किसी के सर्वस्व सीतापति श्री रामचन्द्रजी हैं, और किसी-किसी को भगवत् की नवधा भक्ति का नियम होता, है परन्तु श्री सुमोखन जी के पुत्र श्री शुक्ल श्रीव्यासजी महाराज तो अच्युतगोत्री (भागवत वैष्णव भगवद्भक्त सन्त) ही को अपना इष्ट जानकर भक्तो ही के लाड-प्यार उपासना-पूजा किया करते थे ।'[2]

द्वैतवाद के समर्थन में व्यासवाणी से जो पद उद्धृत किये गये हैं उनको चरितार्थ करने में खीचातानी से ही काम लिया गया है । शाखाचन्द्र न्याय का तात्पर्य है एक ही चन्द्र अनेक होकर प्रतिभासित होता है । उसमें अद्वैत पहले से है, द्वैत-प्रतीति केवल मिथ्या आभासमात्र है । सेव्य-सेवक भाव द्वारा भी माध्वमत का समर्थन किया गया है । किन्तु सेव्य-सेवक भाव तो विशिष्टाद्वैतावलम्बी भी मानते हैं । तुलसी की समस्त भक्ति-भावना इसी सेव्य-सेवक भाव पर आधृत है । क्या उन्हें द्वैतवादी माध्व कहा जायगा ? भक्तिपथ के समर्थन में व्यासजी ने जो कुछ कहा है वह माध्वमत के अनुसार न होकर माधुर्य-भक्ति-परक उन सम्प्रदायो के अनुकूल है जो उस समय ब्रजमडल में प्रचार पा रहे थे । विशेषत राधावल्लभ सम्प्रदाय को ही इसका श्रेय देना चाहिए ।

व्यासजी ने रसविहार सम्बन्धी जो पद लिखे हैं उनका अनुशीलन इस तथ्य का समर्थन करता है कि व्यासजी किसी दार्शनिक मतवाद के प्रपच में पडना ही नही चाहते थे । श्री हरिवशजी की सरणि पर ही शुष्क दर्शन को छोडकर रसस्निग्ध माधुर्य भाव को उन्होंने अपनी भक्ति की पीठिका बनाया था । अत दो-चार पदो में खींचतानी से द्वैतवादी

१—भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी—पृष्ठ १२४ ।

२—भक्तमाल—नाभाजी, वार्तिक तिलक—पृष्ठ ६०४ ।

विचारधारा का सधान करना और व्यासजी को दार्शनिक उलझन में फँसाना उनकी रसमयी वाणी के पद-पदार्थ के साथ अन्याय करना है। व्यासजी ने स्पष्ट कह दिया है :—

राधावल्लभ ध्याइकैं और ध्याइयै कौन।
व्यासहि देत बनै नही वरी-वरी प्रति लौन ॥
व्यासहि अब जनि जानियो लोक वेद को दास।
राधावल्लभ उर बसे औरन तै जु उदास ॥

श्रीलाडलीकिशोर गोस्वामी ने व्यासवाणी के प्राक्कथन में एक युक्ति यह उपस्थित की है कि व्यासजी ने श्रीहितहरिवशजी का नाम पूज्य बुद्धि या गुरु बुद्धि से नही किया अपितु स्नेहबुद्धि या सखाभाव से किया है। इसी प्रसग में आपने श्रीहितहरिवशजी के निकुजगमन के सम्बन्ध मे लिखा हुआ व्यासजी का पद उद्धृत किया है, उसकी प्रथम पक्ति है :—

'हुतौ रस रसिकन का आधार'
'बिन हरिबंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार।'

इस पद में हितजी को रस और रसिको का आधार माना है। जो आधार होता है वह आधेय की दृष्टि से कितना महत्वपूर्ण है यह स्पष्ट विदित है। जिसे व्यासजी रस और रसिको का आधार मानते हैं, उसे वे सखा-बुद्धि से कैसे देख सकते हैं ? व्यासजी के मन में हितहरिवशजी के प्रति गुरुभाव था और वे उन्हे श्रद्धापूर्वक ही स्मरण करते हैं। उनके अनेक पदो मे यह श्रद्धाभाव स्पष्ट व्यक्त हुआ है।

हम व्यासवाणी से कुछ पद उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा करेंगे कि भगवत मुदित ने व्यास चरित्र में जो घटनाएँ लिखी हैं उनका सकेत व्यासवाणी मे भी मिलता है अत. भगवत मुदित के व्यास चरित्र को उपेक्षणीय नही समझना चाहिए।

(१) हरि मिलिहै मोहि वृन्दावन में।
साधु वचन मैं सांचे जाने,फूल भई मेरे मन में।

—व्यासवाणी—पद सं० २५५।

इस पद में 'साधुवचन साचे जाने' का तात्पर्य नवलदास के वचन से है जिसने इन्हे वृन्दावन जाने की प्रेरणा की थी।

(२) व्यास भक्ति को फल लह्यौ श्री वृन्दावन घूरि।
हित हरिवश प्रताप ते, पाई जीवन मूरि ॥

—व्यासवाणी—साखी १०५, पृष्ठ ४१५।

इस साखी में वृन्दावन-भक्ति की प्राप्ति में श्री हितहरिवशजी को ही कारण ठहराया गया है।

(३) अब न और कछु करनै, रहनै है वृन्दावन।
होनी होय सो होय किनि, दिन-दिन आयु घटति झूठे तन।
मिलिहै हित ललितादिक दासी रास में गावत सुनि मन ॥

—व्यासवाणी—पद सं० २५८, पृष्ठ २५६।

इस पद में वृन्दावन वास के साथ समस्त आशा-आकाक्षाओ का त्याग तथा हितहरिवश तथा स्वामी हरिदास के साथ रहने का स्पष्ट सकेत है।

(४) राधा आसा पूजवौ मेरी,
हा, हा कुवरि किशोरी वलि जाऊँ करहु आपनी चेरी।
मोहि स्याम को डर नहिं, स्यामा छुटत न आसा तेरी॥
—व्यासवाणी—पद स० २६५, पृष्ठ २५८।

यहाँ राधा को ही इष्ट देवी मानकर राधावल्लभीय पद्धति से उसकी ही शरण की कामना है। स्पष्ट कहा गया है कि "मुझे श्याम का कोई भय नही—मैं तो केवल हे राधा! तेरी ही आशा मे रहता हूँ।" राधाभक्ति का यह रूप माध्व सम्प्रदाय का विधेय नही है।

व्यासवाणी के अनेक पदो पर हितहरिवशजी की हित चौरासी की छाप स्पष्ट देखी जा सकती है। भावना और वस्तु मे साम्य होने के साथ अभिव्यजक पदावली में भी समानता है। यह साम्य हित चौरासी के निरन्तर पाठ द्वारा ही सम्भव हो सकता है। शृगार-रस-विहार के व्यासवाणी के पद हितजी के नित्यविहार के पदो के इतने समीप हैं कि उन दोनो में कही-कही व्यावर्त्तक रेखा खीचना कठिन होता है। हमारा यह आरोप नही है कि व्यासजी ने इन पदो को ग्रहण किया है किन्तु विचार, भाव और पद्धति के ऐक्य से इस प्रकार की समता सहज स्वाभाविक है। हम दो-चार पद इस प्रसग में भी उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं।

मजुलतर कुज अयन कुसुम पुज रचित सयन,
विहरत नन्द-नन्दन वृषभान नन्दिनी।
आनन्द कन्द सरदचन्द्र मन्द पवन ताप दवन,
सीतल जल तरल पूर सूर नन्दिनी॥
—व्यासवाणी—पद सं० ३०८।

हितचौरासी का पद है—

चलहि राधिके सुजान तेरे हित सुख निधान,
रास रच्यौ श्याम तट कलिन्द नन्दिनी।
+ + +
विलसहि भुज ग्रीव मेलि भामिनि सुखसिन्धु,
झेलि नवनिकुंज श्याम केलि जगत वन्दिनी।
—हित चौरासी—पद स० १२।

उपर्युक्त पदो की अभिव्यजक पदावली में इतनी समता है कि वह व्यासजी की पदरचना पर हित-चौरासी के प्रभाव का स्पष्ट सकेत देती है। रूपवर्णन में व्यासजी और हितजी के पद प्राय एक से ही प्रतीको पर आश्रित हैं। इन प्रतीको का आधार मूलत राधावल्लभीय उपासना-पद्धति है, माध्व या निम्बार्क नहीं। अत यह स्वीकार करना होगा कि व्यासजी का श्री हितहरिवशजी से दीक्षा-गुरु का ही सम्बन्ध था। हो सकता है पहले उन्होंने पितचरण से कोई धर्म-दीक्षा ग्रहण की हो किन्तु वृन्दावन आने पर वे शुद्ध राधा-

वल्लभीय होकर ही उपासना करते रहे। अत उन्हे हितहरिवशजी से पुनः दीक्षा-मंत्र लेना आवश्यक प्रतीत हुआ।

इस सम्बन्ध मे जो अनुश्रुति परम्परा से मिलती है उसका भी उल्लेख करना आवश्यक है। कहते हैं कि नवलदासजी के कहने पर जब व्यासजी वृन्दावन आये और हितजी के दर्शनार्थ मन्दिर में गये तब वे रसोई बना रहे थे। व्यासजी ने दर्शन के बाद शास्त्र-चर्चा करने का विचार प्रकट किया। हितजी ने तत्काल चूल्हे से पतीली उतारी और आग बुझाकर बात करने का उपक्रम किया। यह देखकर व्यासजी बोले—"आपने दाल का बर्तन चूल्हे से उतार क्यो लिया। हाथ से रसोई बनाई जाती है, मुख से बोलकर शास्त्र-चर्चा होती है। दोनो इन्द्रियो के पृथक्-पृथक् कर्म हैं फिर शास्त्र-चर्चा के साथ भोजन सिद्ध करने में अन्तराय कैसा!" यह सुनकर श्री हितहरिवशजी ने चित्तवृत्तियो की चचलता और एक विषय पर स्थिर होकर विचार करने की अनिवार्यता उन्हे समझाई और इसी विषय पर एक पद कहा। निम्नलिखित पद मे मन की एकाग्रता के साथ व्यासजी की चंचल चित्तवृत्ति का भी व्यग्यार्थ से भी आभास मिलता है। व्यासजी ने इसे भलीभाँति हृदयंगम किया और अपनी विभिन्न धर्मो और सम्प्रदायो के प्रति जो चचल भावना थी उसका परिहार कर श्री हितजी के मार्ग को दृढ़ता के साथ स्वीकार कर जीवन कृतार्थ किया। हितजी का वह पद इस प्रकार है :—

यह जु एक मन बहुत ठौर करि कहि कौने सचु पायौ।
जहाँ तहाँ विपति जार जुवति लौं प्रकट पिंगला पायौ॥
द्वै तुरंग परि जोर चढ़त हठि परत कौन पै धायौ।
कहि धौं कौन अंक परि राखै जो गनिका सुत जायौ॥
(जैश्री) हित हरिवंश प्रपंच बंच सब काल व्याल को खायौ।
यह जिय जान श्याम श्यामा पद कमल संगी शिर नायौ॥

—हित चौरासी—पद सं० ५६।

इस पद मे वर्णित कथा राधावल्लभीय सम्प्रदाय के प्रायः सभी प्रसिद्ध वाणी-ग्रंथो में मिलती है। यदि यह कपोल-कल्पित होती तो इसका इतना अधिक उल्लेख क्यो होता?

सक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि व्यासवाणी के अनुशीलन तथा परम्परागत ऐतिह्य के पर्यालोचन से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि व्यासजी के दीक्षा-गुरु या 'गुरु' श्री हित-हरिवशजी थे। गोस्वामी श्री वासुदेवजी उन्हे दीक्षा गुरु नही मानते और सद्गुरु या गुरुवत् स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है—"यह सत्संग व्यासजी को कदाचित् सवत् १५६१ से उपलब्ध हुआ और हितहरिवंशजी की विद्वत्ता, काव्यरचना एव भजन रीति का तभी से उनपर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे उन्हे 'गुरुवत्' मानने लगे।"[१]

## वृन्दावन-आगमन

श्री व्यासजी सस्कृत भाषा के पूर्ण पडित थे। उनके वंश में चिरकाल से पौरोहित्य का कार्य होता चला आ रहा था। ओरछा के महाराज उनके शिष्य थे। उनकी स्थिति धन-धान्य

१. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ ७१।

सम्मान और पद की दृष्टि से सुदृढ थी। युवावस्था मे देशाटन करके उन्होने लौकिक अनुभव में भी पूर्णता प्राप्त कर ली थी। किन्तु इन सब सासारिक साधनो के होने पर भी उनके अन्त करण में आध्यात्मिक शान्ति नही थी। शास्त्रो के अध्ययन से मन सन्देह-शकाकुल हो गया था। वे उस रस की तलाश मे भटक रहे थे जो उन्हे शाश्वत शान्ति प्रदान कर सुखी बना सकता। कभी-कभी साधु-सतो द्वारा वृन्दावन-रस की चर्चा सुनते तो उनका मन वृन्दावन की ओर दौडता किन्तु गृहस्थ के प्रपचो से छुटकारा न होने के कारण वृन्दावन आना सभव न हो सका। राधावल्लभीय साधु नवलदास के ओरछा आने पर उनसे प्रेरणा प्राप्त कर आप सवत् १५९१ में प्रथम बार वृन्दावन आये। भगवत् मुदित तथा परमानन्द लिखित चरित्रो के अनुसार वे कुछ समय तक वृन्दावन में रहे और तभी उन्होने श्री हितहरिवशजी से दीक्षा ग्रहण की। व्यासजी के वृन्दावनवास के विपय में कुछ विद्वानो का यह मत है कि वे वृन्दावन आने के बाद फिर कभी वापस नही गये। किंतु कुछ विद्वान् उनका प्रथम वार आकर लौट जाना भी मानते हैं। यदि उनका दो बार वृन्दावन आना माना जाय तो प्रथम वार वे लबे अर्से तक वृन्दावन में नही ठहर सके और गृहस्थी के भार के कारण वापस ओरछा चले गये यह मानना होगा। ओरछा पहुँचने पर उनके मन में सब कुछ त्यागकर व्रजवासी होने की उत्कट इच्छा बनी रही और वे इस प्रयत्न में सतत लगे रहे कि गृहस्थ के झझट से मुक्त हो कर स्थायी रूप में वृन्दावनवास के लिए आ सकें। फलत सवत् १५९१ में वे सबकुछ त्याग कर स्थायी रूप से वृन्दावनवास के लिए आ गये। ऐसी भी किम्वदन्ती है कि महाराज मधु-कर शाह उन्हे फिर ओरछा लिवा ले जाने के लिए आये किंतु व्यासजी ने किसी भी शर्त पर वापस जाना स्वीकार नही किया।

वृन्दावनवास के समय व्यासजी ने अपने आराध्य देवता का मन्दिर श्री जुगलकिशोर जी के नाम से बनवाया था। इस मदिर का अवशेष आज भी वर्तमान है। कहते हैं माघ शुक्ल ११ सवत् १६२० को वृन्दावन में जुगलकिशोरजी की मूर्त्ति की स्थापना आपने ही की थी। इस विग्रह के प्राकट्य के विषय में भी दो मत हैं—कुछ लोग यह मानते हैं कि व्यासजी इस विग्रह को साथ लाए थे।[1] इस मन्दिर की मूर्त्ति यवन उत्पीडन काल में वृन्दावन से पन्ना राज्य में ले जाई गई और अद्यावधि वही विद्यमान है।

व्यासजी ने अपने पार्थिव वैभव को विचित्र शैली से आँका और उसका विभाजन भी अदभुत ढग से किया। सबसे प्रथम भाग में जुगलकिशोरजी की सेवा-पूजा, दूसरे भाग में मकान और चल-सम्पत्ति रुपया-पैसा, तीसरे भाग में केवल छाप, तिलक और माला। अपने तीनो पुत्रो में इसी क्रम से वैभव का बँटवारा कर दिया। छोटे पुत्र किशोरदास के हिस्से में छाप, तिलक और माला आई। वह स्वामी हरिदास के शिष्य हो गये और उसी भाव में लीन रहने लगे।

---

१. देखिए—कल्याण—भक्ताङ्क लेख—'भक्त व्यासजी' ले० श्री व्रज भूषण

## व्यासजी का चरित्र और स्वभाव

वैष्णव भक्तो में व्यासजी विशाखा सखी के अवतार माने जाते हैं। विशाखा सखी राधामाधव मिलन में सहयोग देकर राधा का अनुगमन करती है। उसका स्वभाव प्रेम, ममता, दया और वात्सल्य से परिपूर्ण है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट उसे छू भी नही गये। व्यासजी का जीवन भी इसी प्रकार के उदात्त गुणो की खान है। नाभाजी ने तो व्यास के इष्ट 'भक्त' ही माने हैं जो इस बात का प्रमाण है कि वे भक्तो अर्थात् साधु-सतो की पूजा को ही सच्ची ईश्वर-पूजा समझते थे। व्यासवाणी में भक्तो की वडी महिमा गाई गई है। हरिजनो और भक्तो को वे अपना प्राणधन, जीवन-धन कहकर पुकारते हैं। भक्तमाल की टीका में प्रियादासजी ने व्यासजी की भक्तिनिष्ठा व्यक्त करने वाली कई घटनाएँ लिखी हैं। एक प्रमुख घटना है कि व्यासजी की कन्या के विवाह के अवसर पर जो पकवान तैयार हुआ उसे देखकर व्यासजी के मन में आया कि क्या ही अच्छा हो कि साधु-सत इसका प्रसाद ग्रहण करें। बरातियों की उदरपूर्ति से तो यह व्यर्थ ही जायगा। ऐसा सोचकर वे साधुओ की वाट जोहने लगे। इसी बीच साधुओ की एक टोली उधर आ निकली और व्यासजी ने वडे प्रेम और सम्मान के साथ समस्त पकवान उन्हे परोस दिया। घरवालो के समझाने की उन्होने कोई परवाह नही की और अपनी साधुनिष्ठा का पूरी तरह निर्वाह किया।

व्यासजी अपने अतिथि-सत्कार के लिए विख्यात थे। उनके यहाँ से कभी कोई साधु-महात्मा अप्रसन्न होकर नही लौटता था। वे तन, मन, धन से अतिथियो का आदर-सम्मान करते थे। प्रसाद का माहात्म्य तो उनके लिए स्वर्ग और अपवर्ग से भी वढकर था। प्रियादास जी ने प्रसाद-महिमा से सम्बद्ध एक कथानक भक्तमाल की टीका मे लिखा है। इस कथानक में व्यासजी की प्रसाद-निष्ठा इस कोटि तक पहुँच गई है कि साधारण समाज में उसे कदाचित् अनुचित भी ठहरा दिया जाय किन्तु सच्चे भक्त सामाजिक वधनो की तृणमात्र भी परवाह नही करते।[1]

एक ऐसी भी किम्वदन्ती प्रचलित है कि व्यासजी ने एक वार भंगिन की डलिया में से प्रसाद की एक पकौडी उठाकर खा ली और इस प्रकार प्रसाद-प्राप्ति का अमित आनन्द प्राप्त किया। प्रसाद को वे सदा परम पवित्र और आराध्यवत् पावन मानते थे। साखी में उन्होने लिखा है—

स्वान प्रसादहि छू गयौ, कौवा गयौ विटारि।
दोऊ पावन व्यास कै, कहै भागौत विचारि॥
व्यास जाति तजि भक्ति करि, कहत भागवत् टेरि।
जातिहि भक्तिहि ना वनै, ज्यों कैरा ढिग वेरि॥

व्यासजी ने भक्ति के क्षेत्र में कवीर की विचारधारा का सामाजिक मान्यता-मर्यादाओ के लिए वहुत अनुगमन किया है। वे इस क्षेत्र में ऊँच-नीच, ब्राह्मण-शूद्र, वर्ण-व्यवस्था, दम्भ-पाखण्ड किसी को भी स्वीकार नही करते। उन्होंने ठीक उसी रूप में इन सव

---

१ भक्तमाल—नाभाजी, प्रियादास जी की टीका, कवित्त स० ३६०-३६३।

बातो का खण्डन किया है जिस रूप में कबीर ने किया था। कही-कही तो भाववस्तु में ही नही अपितु भाव्य-व्यजना तक में साम्य है। वे स्पष्ट कहते हैं कि प्रेममार्ग में वर्णावर्ण का विचार नही किया जाता, सब में एक ही आत्मा है और सबमें प्रसाद का महत्व एक समान है :—

**प्रेम मगन नहिं गन्यौ कछु वरनावरन विचार।**
**सबनि मध्य पायौ प्रकट लै प्रसाद रससार ॥**

व्यासजी अपनी भक्ति-साधना मे इतना सुदृढ विश्वास रखते थे कि भगवान् से भी कभी-कभी रूठ जाते और यह मानकर बैठे रहते कि यदि मेरी भक्ति-भावना निष्ठामयी होगी तो भगवान् स्वय पसीजेंगे और कृपा करेंगे। इस भावना से सम्बन्ध रखने वाली अनेक अलौकिक चमत्कारपूर्ण बातें किम्वदन्ती के रूप में फैली हुई हैं। उनके सत्यासत्य का निर्णय न करके केवल भक्त की भावना को व्यक्त करने के लिए हम एक-दो अनुश्रुतियो का यहां प्रासगिक रूप से उल्लेख करना चाहते हैं।

एक दिन व्यासजी अपने आराध्यदेव श्री युगलकिशोरजी के जरकसी पगडी बाँध रहे थे। पगडी इतनी फिसलती थी कि बार-बार प्रयत्न करने पर भी सिर पर टिकती ही न थी। अनेक बार प्रयत्न करने पर भी जब वे पगडी बाँधने मे सफल न हुए तो निराश होकर झुँझलाहट में कह बैठे—'मुझसे बँधवाना है तो ठीक से बँधवा लो नही तो, लो यह पगडी धरी है स्वय जैसी बँधे, बाँध लो'—और यह कह कर पूजागृह से बाहर निकल चबूतरे पर जा बैठे। कुछ देर बाद स्मरण आया तो दौडे हुए फिर मन्दिर में पहुँचे तो क्या देखते हैं कि ठाकुर के सिर पर बडी सुन्दर पगडी बँधी हुई है।[1]

ऐसी ही दूसरी घटना वशीधारण की है। एक बार व्यासजी श्री ठाकुर जी के हाथ में वशी धारण करा रहे थे। वशी मोटी थी, ठाकुरजी की छोटी-छोटी अगुलियो की पकड में न आती थी। बार-बार प्रयत्न करने पर उन्होने वशी को धरती पर पटक दिया और बडे उदास होकर दिन भर बिना खाए-पीए पडे रहे। सायकाल मन्दिर आने पर देखते हैं कि उन्ही नन्हें से हाथो में वही मोटी वाली वशी ठाकुरजी धारण किये हुए हैं।[2]

अपने सेवक उमेद को ब्रज रस देकर कुष्ठरोग निवारण करना भी एक प्रसिद्ध चमत्कार-पूर्ण घटना है। इसी प्रकार शालग्राम के विग्रह को सुन्दर श्रीकृष्णचन्द्र के रूप में केवल अपने व्यग्य बाण से परिवर्तित करना भी प्रसिद्ध है। जुगलकिशोर जी के विग्रह का कूप में से प्राकट्य भी आपके चमत्कारो के अन्तर्गत लिखा मिलता है। सक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि व्यासजी ने अपनी सेवा, पूजा, भगवत्निष्ठा और उदार चरित्र से तत्कालीन समाज को मुग्ध किया हुआ था। आपका चरित्र इतना उदात्त और महान् था कि जो कोई आपके सम्पर्क में आता प्रभावित हुए बिना न रहता।

---

१ भक्तमाल—नाभाजी, प्रियादास की टीका के कवित्त स० ३५९ तथा ३६१।
२ " " " " " "

## निकुञ्ज-गमन

व्यासजी को वहुत लम्वी आयु मिली थी। उन्होने अपनी वाणी मे जिन समसामयिक साधु-सन्तो का वर्णन किया है उसको देखकर लगता है कि उन सवके निधन के वाद व्यासजी ने निकुञ्ज लीला मे प्रवेश किया। सभी की मृत्यु पर शोकार्त्त होकर व्यासजी ने पद लिखे हैं। गुरु-शिष्य वंशावली के अनुसार व्यासजी की निधन तिथि सम्वत् १६८६ ज्येष्ठ शुक्ला ११ सोमवार पडती है। ध्रुवदासजी ने अपनी भक्त नामावली मे व्यासजी का उल्लेख किया है अतः भक्त नामावली की रचना से पूर्व उनका निधन अवश्य हो चुका था। ध्रुवदासजी और व्यासजी समसामयिक थे। नाभाजी के भक्तमाल में जो छप्पय व्यासजी के सम्वन्ध में लिखा है यदि उसका काल निर्धारित हो सके तव भी व्यासजी के मृत्यु सम्वत् पर प्रकाश पड़ सकता है किन्तु वह भी विवादास्पद है। वियोगी हरिजी ने व्यासजी का रचनाकाल १६५५ सम्वत् तक ठहराया है, इसी के आस-पास मृत्यु-सम्वत् भी हो सकता है। किन्तु ऐतिहासिक घटनाओ तथा प्रमाणो के आधार पर वासुदेव गोस्वामी ने भक्त कवि व्यासजी का मृत्यु सम्वत् १६७५ के पूर्व माना है।[1] सम्वत् १६७५ से पूर्व कहने से किसी निश्चित सम्वत् पर पहुँचना कठिन है अत. सम्वत् १६५० से १६५५ के मध्य ही इनकी मृत्यु माननी चाहिए।

## व्यासजी के ग्रंथ

व्यासजी की रचनाओ के सम्वन्व में अभी तक अन्तिम रूप से कुछ नही कहा जा सकता। हस्तलिखित ग्रथो की खोज करने पर व्यास-रचित पद, दोहे, साखी उपलब्ध होते रहते हैं। व्यासवाणी नाम से जो ग्रथ प्रकाशित हुआ है वह भी तीन रूपो मे है और उसमें भी पदो की सख्या मे अन्तर है। व्यासजी सस्कृत भापा के भी पडित थे। उनके नाम से दो ग्रथ सस्कृत के भी विख्यात हैं किन्तु उपलव्व न होने के कारण उनकी विषय-वस्तु की मीमासा करना सम्भव नही है। ये सस्कृत ग्रथ 'नवरत्न' और 'स्वधर्म पद्धति' नाम से प्रसिद्ध हैं। हिन्दी में 'रागमाला' नामक एक संगीतशास्त्र का ग्रंथ है। यह ग्रथ भी अभी तक अप्रकाशित है। इस ग्रथ के आधार पर व्यासजी का सगीतशास्त्र-विपयक ज्ञान का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके ग्रथो को हम इस प्रकार विभक्त कर सकते हैं—

१ व्यासवाणी—७५८ पद और १४८ दोहे। प्रकाशित।
२. रागमाला (अप्रकाशित) ६०४ दोहे सगीतशास्त्र।
३ नवरत्न और स्वधर्म पद्धति (सस्कृत, अप्राप्य)

## व्यासवाणी

व्यासवाणी की विपय-वस्तु का विभाजन प्रकाशित प्रतियो मे सपादक महोदयो ने स्वरुचि के अनुसार किया है। उपयुक्त शीर्षको का प्रयोग भी सपादको की अपनी मान्यता पर ही निर्भर करता है। व्यासवशीय श्री राधाकिशोर गोस्वामी ने समस्त व्यासवाणी को दो भागो में विभक्त किया है—सिद्धान्त-रस-विपय तथा शृङ्गार-रस-विषय। सिद्धान्तरस मे स्तुति,

---

१. भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ १०४।

महिमा, निज दृढता, सत महिमा, भक्ति की श्रेष्ठता, भक्त-प्रशसा, प्रेम, ज्ञान, भक्ति, तृष्णा निवृत्ति, कलितरण उपाय, व्यासजी की साखी आदि को स्थान दिया है । इस विभाग को उन्होंने अपने विभाजन द्वारा ३७ प्रकरणो में बाँटा है । शृङ्गार रस-विभाग में ७१ प्रकरण बनाये हैं । अपनी रुचि के अनुसार पदो को उपयुक्त शीर्षको के भीतर समेटा है ।

श्रीहित राधावल्लभीय वैष्णव महासभा द्वारा प्रकाशित 'व्यासवाणी' पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भागो में छपी है । पूर्वार्द्ध मे 'सिद्धान्त रस' सम्बन्धी पदो का सकलन है । इसमें २६४ पद और १४६ साखी (दोहे) हैं । उत्तरार्द्ध में शृगार रस-विहार के पद हैं । पदसख्या ३०१ है । इस व्यासवाणी की भूमिका में पद-सख्या एक सहस्र तक लिखी है । इसके मुद्रण में उपलब्ध चार हस्तलिखित प्रतियो का सपादक ने उपयोग किया है । हमारी सम्मति में यदि ७५६ से अधिक पद होते तो प्रकाश में अवश्य आते । हाँ, दस-वीस पदो का न्यूनाधिक होना तो सभव है ।

तीसरी प्रकाशित व्यासवाणी श्रीवासुदेव गोस्वामी की 'भक्तकवि व्यासजी' नामक ग्रथ में सलग्न है । इसमें कुल पदसस्या ७५७ है । रास पचाध्यायी के ३० पद पृथक् हैं । साखी के १४८ दोहे भी इनसे पृथक् ही हैं । सदिग्ध रचनाओ में ५ पदो पर लेखक ने विचार व्यक्त किये हैं । यह ठीक ही है कि कुछ पदो में हस्तलिखित प्रतियो में साम्प्रदायिक भावना के आधार पर प्रतिलिपि करते समय परिवर्तन होता रहा है । श्री राधाकिशोर गोस्वामी वाली व्यासवाणी में जो पाठ हैं उनमें सबसे अधिक परिवर्त्तन किये गये हैं । ये परिवर्त्तन किसी प्राचीन प्रति के आधार पर किये गये हैं, ऐसा कोई उल्लेख कही नही किया गया । वासुदेव गोस्वामी ने परिवर्तित पाठो का सकेत दिया है । कुछ स्थलो पर गोस्वामीजी ने ऐसे पाठ-परिवर्त्तन किये हैं जो प्राचीन प्रतियो से मेल नही खाते । सभव है गोस्वामीजी के पास जो हस्तलिखित प्रति है उसमें वे ही पाठ हो किन्तु हमने जो प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ देखी हैं और उनसे पाठ मिलाने पर वासुदेव गोस्वामी जी के पाठो से भेद पाया है । उदाहरणार्थ हम दो-एक पद उद्धृत करते हैं —

**हमारी जीवन मूरि प्रसाद ।**
**श्रीगुरु सुकुल प्रताप व्यास यह रस पायो अनहाद ।**

**—व्यासवाणी—पद स० २९ पृष्ठ १९८ ।**

यह पद प्राचीन हस्तलिखित प्रति में हमें दूसरे ही रूप में लिखा मिला—"व्यास प्रीति परतीति रीति सौं जूठन ते गुन नाद ।' इसमें व्यासजी की प्रसाद-निष्ठा अधिक व्यक्त हो सकी है । हमारी सम्मति में यही प्राचीन और शुद्ध पाठ है ।

**अब मैं वृन्दावन धन पायो ।**
**चरण-शरण दीनों मन राधे मोहनलाल रिझायो ।**

**—व्यासवाणी—पद स० २३१ पृष्ठ २४९ ।**

उक्त पद भी प्राचीन हस्तलिखित प्रति के अनुसार निम्न प्रकार है—'चरण-शरण दीनों मन राधे श्री हरिवश बतायो ।' यह पाठ व्यासवशीय श्रीराधाकिशोर गोस्वामी ने भी अपनी व्यासवाणी में स्वीकार किया है । श्री वासुदेव गोस्वामी ने किस आधार पर इसमें

परिवर्तन किया, इसका कोई प्रमाण नही दिया ।

धर्म दुर्यो कलि दई दिखाई ।
व्यासदास के सकृत सांवरे श्री गोपाल सहाई ।
—व्यासवाणी पूर्वार्द्ध पद स० २३५, पृष्ठ ११४ ।

इस पद का पाठ भी निम्न प्रकार है—

'व्यासदास के सकृत सावरे श्रीहरिवंश सहाई ।' व्यासवंशीय वाणी में भी हरिवंश ही पाठ है । वासुदेवजी ने परिवर्त्तन का कोई कारण या प्रमाण नही दिया ।

उक्त परिवर्त्तनो की विवेचना न करके हम केवल यह दिखाना चाहते हैं कि व्यासजी की रचनाओ में परिवर्त्तन हुए हैं, और वर्तमान काल की प्रकाशित प्रतियो में भी अपनी रुचि के अनुसार परिवर्त्तन करने का अधिकार सपादक महोदय स्वय प्राप्त कर लेते हैं जो प्राचीन सत-साहित्य के साथ अन्याय है ।

व्यासजी का समस्त उपलब्ध साहित्य दो भागो मे विभक्त किया जा सकता है । प्रथम भाग में उनकी समस्त माधुर्य-भक्तिपरक सैद्धान्तिक पदावली को स्थान मिलेगा जिसमें राधा, कृष्ण, सहचरी, वृन्दावन, निकुंजलीला, नित्यविहार, राधावल्लभ जुगलकिशोर-उपासना आदि का वर्णन है । इसमें ही हम उन पदो को स्थान देंगे जिनके लिए शृङ्गार रस नाम व्यवहृत किया गया है । यथार्थ मे व्यासजी की शृङ्गार-भावना नायक-नायिका भेद की लौकिक शृङ्गार-रचना नही है । उनका शृङ्गार तो माधुर्यभक्ति का तात्त्विक विवेचन है जिसे हम सिद्धान्त या रसदर्शन का प्रधान अग मानते हैं । दूसरे भाग में उनके वे पद या साखियाँ आती हैं जिनमें उन्होने जीवन के व्यवहार-पक्ष का आकलन करते हुए सासारिक दृष्टि से वस्तुओ का विश्लेषण-विवेचन किया है । इनमे व्यवहार-पक्ष की प्रधानता है । सूक्ष्म, सैद्धान्तिक अवगाहन से दूर रहकर लौकिक धरातल पर ही व्यासजी ने अपनी वात कही है ।

## व्यासवाणी का प्रतिपाद्य

व्यासवाणी का प्रतिपाद्य माधुर्यभक्ति और राधाकृष्ण की निकुंजलीला का वर्णन है । इस मुख्य विषय की स्थापना के लिए भक्ति के अन्तराय, भक्ति के साधक अग, भक्ति-पथ के आकर्षण-विकर्षण, भक्तो की मन स्थिति और विविध कोटियो का वर्णन भी किया गया है । माधुर्य-भक्ति का सार है राधाकृष्ण के नित्यविहार का शृंगारमयी पद्धति से सागोपांग वर्णन । राधा, कृष्ण, वृन्दावन और सहचरी इन चारो को प्रेम द्वारा एक ही सूत्र मे अनुस्यूत करके निकुजलीला का वर्णन विधेय माना जाता है । राधावल्लभीय सम्प्रदाय मे तो इसी को प्रधान समझा जाता है, यही वृन्दावन रस है । यही प्रेम लक्षणा-भक्ति का चरम लक्ष्य है । व्यासवाणी में इसी को प्रमुख रूप से गाया गया है ।

माधुर्य भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की कुजलीलाओ को सयोग और वियोग दोनो रूपो में स्वीकृत किया गया है । चैतन्य सम्प्रदाय की उपासना वियोग-पक्ष को प्रवल मानकर चली है । निम्वार्क और राधावल्लभ सम्प्रदाय में सयोग पक्ष को ही स्वीकृत किया गया है । व्यासजी ने सयोग को कुंजकेलि का प्राण माना और विरह-पक्ष की भक्ति को सीठी ठहराया है ।

कुंज केलि मीठी है, विरह भक्ति सीठी ज्यों आग ।
व्यास विलास रासरस पीवत, मिटैं हृदय के दाग ॥
व्यासवाणी–पद स० ८१, पृष्ठ २१२ ॥

माधुर्य भक्ति के लिए राधाकृष्ण की कैशोर लीलाओ का ही वर्णन स्वीकार किया जाता है । राधावल्लभ सम्प्रदाय मे नित्यकिशोर उपासना का ही विधान है । व्यासजी ने भी अपने पदो मे नित्यकिशोरी राधा और नित्यकिशोर कृष्ण की लीलाओ का वर्णन किया है । राधा के रूप-चित्रण में व्यासजी की पदावली अत्यधिक अलकृत तथा अभिव्यजना रीतिकालीन कवियो के समान है । रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का सारा प्रपच उसी शैली पर पल्लवित हुआ है । इस प्रसग में राधा का नखशिख भी व्यासजी ने शृगार-पद्धति पर विशद विस्तार से उपस्थित किया है । राधा के नेत्रो का जैसा वर्णन व्यासजी के पदो में दृष्टिगत होता है वैसा सूरदास और हितहरिवशजी को छोडकर और कही नही मिलता—

निरुपम राधा नैन तुम्हारे ।
बक विसाल, स्याम-सित लोहित, तरलित तुंग अनियारे ।
अजन छवि, खजन मदगजन, मीनि पानि दुरि हारे ॥
+ + +
डरत न हरत परायो सर्वस, व्यास प्रान घन वारे ॥
(उत्तरार्द्ध) पद स० ३५८, पृष्ठ २४१ ।

चचल क्रीडाशील नेत्रो का वर्णन करते हुए कहते हैं—

नैन खग उडिवै कों अकुलात ।
उरजन डर बिछुरे दुख मानत, पल पिंजरा न समात ।
घूंघट विपट छांह विनु विहरत, रविकर कुलहि डरात ॥
रूप अनूप चुनौ, चुनि निकट अधर सर देखि सिरात ।
धीर न धरत, पीर कहि सकत न, काम बधिक की घात ॥
व्यास स्वामिनी सुनि करुना हसि, पियके उर लपटात ।
(उत्तरार्द्ध) पद स० २६०, पृष्ठ २४२ ।

नेत्रो की मनोज्ञता, विशालता और चपलता के वर्णन तक ही व्यासजी ने अपने कथन की इति नही की है वरन् नेत्रो के प्रभाव, आकर्षण और मोहक धर्म की बडी सटीक योजना उनके अनेक पदो में दृष्टिगत होती है ।

राधा के मुख-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए व्यासजी ने अलकार-शास्त्र—समस्त उपमाओं, रूपको और उत्प्रेक्षाओ की जैसे इतिश्री कर दी हो । मुख-सौन्दर्य के साथ उसका मृदुहास, दन्तछवि, कपोल-आभा और गौरवर्ण मिश्रित सस्मित कान्ति का वर्णन प्रस्तुत करके शृगार के वाह्य उपकरणो का चमत्कार ला खडा किया है । कही-कही तो रूपकातिशयोक्ति के माध्यम से पूरे मुख को विशाल सागर बनाकर नाना प्रकार के उपमानों से अलकृत कर विचित्र रूप दे डाला है—

चन्द्र बिम्ब पर वारिज फूले।
तापर फनि के सिर पर मनिगन, तर मधुकर मधु मद मिलि भूले।
तहां मीन, कच्छप, सुक खेलत, वंसिहि देखि न भये विकूले॥
विद्रुम दार्यो में पिक बोलत, केसरि नखपद नारि गरूले।
सर में चक्रवाक बक व्यालिनि, विहरत वैर परस्पर भूले॥
रंभा सिंध बीच मनमथ धरु, तापर गान धुनि सुनि मुख मूले।
सबही पर घनु बरषत हरषत, सर-सागर भये जमुना कूले॥
पूजी आस व्यास चातक की, स्थावर जगम भये विसूले॥

(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ७०, पृष्ठ २४७।

व्यासजी ने राधा का वर्णन राधावल्लभीय पद्धति के अनुसार उसे स्वकीया-परकीया-भेद-विवर्जित मानकर ही किया है। परकीया भाव से राधा का वर्णन करने वाले चैतन्य मत में राधा की अतृप्त लालसा और उद्दाम वासना इतनी प्रखर हो जाती है कि उसे कही-कही घोर असयम के पक में फँसा हुआ देखकर साधारण पाठक का मन उद्विग्न होने लगता है। व्यासजी ने इसीलिए अपनी राधा को परकीयात्व से तो सर्वथा दूर ही रखा है। नित्य-मिलन के कारण उसके वर्णन मे स्वकीयात्व का सधान अवश्य हो सकता है। संयोग शृगार के इतने अधिक वर्णन व्यासवाणी मे उपलब्ध होते है कि उन्हे पढते ही यह निश्चय हो जाता है कि व्यासजी परकीया-भाव को स्वप्न में भी स्वीकार नही करते थे और न विरह-भाव को ही वे नित्यविहार की किसी स्थिति में ग्राह्य समझते थे। राधा माधव के प्रेमातिशय का वर्णन करने में व्यासजी ने अभिसार, मिलन, शय्या, विहार, विपरीत रति, सुरत, आदि का खूब जमकर वर्णन किया है। इन प्रसगो में अश्लील कही जाने वाली प्राय सभी व्यंजनाओ का उपयोग हुआ है। राधामाधव-प्रेम के विभिन्न रूपो के उदाहरणो से यह बात स्पष्ट होगी—

सहज प्रेम

राधामाधव सहज सनेही।
सहज रूप गुन सहज लाड़िले, एक प्रान द्वै देही।
सहज माधुरी अंग-अंग प्रति, सहज रची वन गेही।
व्यास सहज जोरी सों मन मेरे, सहज प्रीति कर लेही।

(उत्तरार्द्ध) पद सं० ४, पृष्ठ २०३।

सहज वृन्दावन सहज विहार।
सहज श्याम श्यामा दोऊ कामी, उपजत सहज विकार।
सहज कुंज रस पुंजनि बरषत, सहज सेज सुख सार।
सहज सैन नैननि दें, सहज हंसनि, भ्रुवभंग सिंगार।

† † †

सहज माधुरी सागर नागर, धन्य अनन्यनि के आधार॥

(उत्तरार्द्ध) पद-सं० ६, पृष्ठ २०४।

उपरिलिखित दोनो पदो में राधाकृष्ण के प्रेम तथा उनके समस्त क्रिया-कलाप को सहज शब्द द्वारा व्यक्त किया गया है। यह सहज शब्द प्रेम लक्षणा भक्ति का पारिभाषिक शब्द-सा बन गया है। यहाँ सहज का तात्पर्य है तन और मन की अकृत्रिम, स्वाभाविक, अनायास, अप्रयत्न होने वाली क्रिया। राधा के मन में कृष्ण के प्रति जो अनुराग है या कृष्ण के मन में राधा के लिए जो प्रेम-भाव है उसकी प्रेरक कोई स्वार्थ-बुद्धि, स्वसुख-कामना या वासना नही है। कृष्ण राधा के प्रति नैसर्गिक रूप से आकृष्ट हैं और राधा भी कृष्ण को सहज-भाव से चाहती हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस 'सहज' शब्द को प्रेमानुभूति का प्रबल व्यजक शब्द माना जाता है। जो प्रेमभाव सहज नही, जिसमे किसी भी प्रकार की कामना, वासना या स्वार्थ-भावना है वह राधाकृष्ण-प्रेम के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है।

राधावल्लभीय उपासना-पद्धति में (जैसा कि हमने सिद्धान्तविवेचन में लिखा है) राधा ही इष्ट और आराध्या है। कृष्ण भी उसकी उपासना करते हैं। यदि दोनो में दाम्पत्य सम्बन्ध भी माना जाय तो कृष्ण आज्ञानुवर्ती पति हैं जो प्रतिक्षण राधा के मुखारविन्द की ओर ताकते रहते हैं। दोनो का कभी वियोग तो सम्भव ही नही क्योकि यहाँ नित्य-बिहार की कल्पना है। उनका कभी वियोग नही होता और जो मान आदि कारणो से क्षणिक अन्तर दृष्टिगोचर होता है वह भावी मिलन मे प्रगाढता उत्पन्न करने की सहेतुक प्रक्रिया मात्र है। ऐसी भावना को व्यक्त करने वाले काव्य में शृङ्गार-रसान्तर्गत विप्रलम्भ शृङ्गार का अभाव तो होगा ही, किन्तु सयोग शृगार के सब हाव-भाव और लौकिक नायिका-भेद की सभी अवस्थाओं के वर्णन करने का भी अवसर नही आ पाता। फलत उनकी वाणी में स्वाधीनपतिका नायिका के चित्रण की विशेषता रहती है। "श्रीकृष्ण अनुकूलरति के रूप में प्रकट होते हैं और वाणी में नायिका के सयोग शृगार की व्यजना विशेष रूप से पाई जाती है।"[1]

शृगार रस के पूर्ण परिपाक के लिए काव्यशास्त्र में जिन सात्विक भावो, सचारी भावो तथा हाव-भावादिको का वर्णन आवश्यक होता है, व्यासजी ने अपनी वाणी में उनका यथास्थान समीचीन पद्धति से निर्वाह किया है। हाव-भावो में लीला, किलकिंचित्, विभ्रम, मद, चकित, विच्छिति, कुट्टमित आदि का अनेक पदो में सुन्दर वर्णन मिलता है।

लीला

कुंवरि कुवर को रूप भेषधरि, नागर प्रिय पह आई।
प्यारिहि हरिन मिले सकुची जिय उपजी तव इक बुद्धि उठाई॥
हौं वृन्दावन चन्द छबीलौ, राधापति सुखदाई।
तू को प्रिया-प्रिया कह टेरत, तजि वन भूमि पराई॥
(उत्तरार्द्ध) पद स० ११३, पृष्ठ २७५।

कुट्टमित

स्याम काम वस चोली खोलत, आतुर निसि के भोरें।
डाढी छाडि करत परिरम्भन, चुंबन देत निहोरै॥
सैननि वरजति पियहिं किसोरी, वे कुच कोर अकोरै॥

---

१—भक्त कवि व्यासजी—ले० वासुदेव गोस्वामी, पृष्ठ स० १५५।

विभ्रम

अंजत एक नैन बिसर्‌यौ, कटि कंचुकी लहंगा उर धर्‌यौ।
हरि लपेट्यौ चरन सो॥
स्रवनन पहिरे उलटे तार, तिरनी पर चौकी सिंगार।
चतुर चतुरता हरि लई॥

चकित

जब जब कौंधति दामिनी, तब तब यामिनी डराति प्रीतम उर लागति।
उन्मद मेघ घटा धुनि सुनि निसि पियहिं जगावति आपुनि जागति॥

सभोग दशा का सागोपाग चित्र देखिए—

क्रीड़त कुंज कुटीर किसोर।
कुसुम पुंज रचि सेज हेज मिलि बिछुर न जानत भोर॥
स्याम काम बस तोरि कंचुकी करजनि गहि कुच कोर।
स्यामा मुंच मुंच कह, खंडित गंड अधर की ओर॥
नागर नीवी बंधन मोचत चरन गहि करत निहोर।
नागर नेति नेति कहि करसों कर पेलत गहि डोर॥
मत्त मिथुन मैथुन दोऊ प्रकटत बरबट जोवन जोर।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखति भये सखि लोचन चोर॥

(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २८०, पृष्ठ ३८५।

मान के पद भी व्यास जी ने लिखे हैं। राधावल्लभीय नित्यमिलन में सूक्ष्म मान की ही स्वीकृति है। स्थूल मान के लिए अवकाश न होने से श्री हितहरिवश जी, सेवक जी तथा ध्रुवदास जी ने उसका वर्णन नही किया है। व्यासजी ने अपनी भावना में तो सूक्ष्म मान को ही स्वीकार किया है किन्तु उनके वर्णनों में स्थूल चित्रण आ गया है, इसका सर्वथा निषेध नही किया जा सकता। सम्भ्रम मान और खडिता मान दोनो का वर्णन है। सैद्धान्तिक दृष्टि से उसे सूक्ष्म भावना का ही विषय मानना चाहिए।

शृंगारपरक लीलाओ का वर्णन भी व्यासजी ने किया है। पनघट लीला, दानलीला, मानलीला, फागलीला आदि के लिए जो पद लिखे हैं उनमें काव्य-रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। रास के सम्बन्ध में व्यास के पद काव्यमयी भाषा में हैं। उनमे सजीवता अपने चरम विन्दु पर पहुँची है। व्यासजी रास-प्रेमी थे, उनके लिए प्रसिद्ध है कि रासलीला के समय देह की सुध-बुध भूल कर इतने तल्लीन हो जाते थे कि उन्हे अपने चारो ओर के वातावरण का ज्ञान तक न रहता। प्रत्यक्ष देखी हुई रासलीला को वे पदो में उतारते और उसे गाकर फिर रास की मनोभूमि में पहुँच जाते। व्यासवाणी से यदि रास के सुन्दर पद चयन किये जायें तो उनकी सख्या चार दर्जन से ऊपर होगी। त्रिपदी छद में लिखी हुई व्यासजी की रासपचाध्यायी भी हिन्दी में अपने ढग की निराली है। इसमें व्यासजी ने राधावल्लभीय भक्तिभावना का बडी सुन्दर शैली से वर्णन किया है—

जाकौ मन जास्यो अटक्यो रहै न छिन ता विनु छटक्यौ ।
कठिन प्रीति कौ फद है ।
जैसे सरिता सिन्धुहि भजै कोटिक गिरि भेदत नहि लजै ।
तैसी गति इनकी भई ।
एक जु घर तें निकसी नहीं हरि करुना करि आये तहीं ।
रास रसिक गुन गाइ हौं ।
नीरस कविन कहै रस रीति रसिकहि लीला रस परतीति ।
यह सुख सुकमति जानिवौ ॥
—व्यासवाणी—रासपचाध्यायी—पद स० ५ ।

रास के पद

रास रच्यौ वन कुंजविहारी ।
सरदमल्लिका देख प्रफुल्लित वनि आई पियप्यारी ।
वाम स्याम कै स्यामा सोभित जनु चाँदनी अँधियारी ।
भूषन गन तारका तरल छवि वदन चद उजियारी ।
कोमल पुलिन कमल मडल महं मडित नवल दुलारी ।
(उत्तरार्द्ध)—पद २२९, पृष्ठ ३४६ ।

रच्यौ स्याम जमुना जल पर रास ।
सग राधिका अग रग छवि सब गुन रूप निवास ।
विविध कमल मडल की सोभा जल थल कुसुम विकास ।
उडगन सहित सकल राका निसि चरननि तन आकास ।
भूषन धुनि सुनि हंस हसिनी मधुप न छाडत पास ।
पद पटकत घन छींटन छिरकत लेति मान तज त्रास ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद स० २४३, पृष्ठ ३५७ ।

राजत दुलहिनि दूलह संग ।
रास रच्यौ राधा मोहन मिल गुन सागर झिलि रंग ।
कमल मडली पुलिन खड में चद किरन अनुषग ।
गावत कोकिल कल सुर वाजत भूषन ताल मृदग ।
वीच-बीच मुरली मन चुरली बाजत सुख मुख चग ।
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २५६, पृष्ठ ३६७ ।

वन महं कुजनि कुजनि केलि ।
जमुना पुलिन कमल मंडल मह रहे रास रस झेलि ।
वीथिन वर विहार गहवर गिरि, लीला ललित सुवेलि ॥
खोरि खरिक प्रति रचना सखि री, जानि बाहु गलि मेलि ॥
रस सरिता झिरना सौरभ जल अवगाहत पग पेलि ।
व्यास स्वामिनी विरमित छिनछिन निसदिन पिय सग खेलि ।
(उत्तरार्द्ध)—पद स० १२२, पृष्ठ २७४ ।

छबीलौ वृन्दावन कौ रास ।
जापर राधा मोहन विहरत, उपजत सरस विलास ।
जीवन मूरि कपूरि धूरि जहाँ, उड़नि चहूँ दिसि वास ॥
जल थल कमल मंडली विगसत अलि मकरन्द निवास ।
कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुन खग मृग तजत न पास ॥
तान बान सुर जान विमोहित चंद सहित आकास ।
सुख सोभा रस रूप प्रीति गुन अङ्गनिरङ्ग सुहास ॥
दोऊ रीझि परसपर भेटत छाँह निरखि बलि व्यास ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ३२१, पृष्ठ ३७८ ।

शृङ्गाररस को चरमोत्कर्ष पर पहुँचाने के लिए पूर्णचन्द्र, ज्योत्स्ना धौत-रात्रि, यमुना पुलिन, पावस, शरद, वनवीथिका, कुंजकेलि आदि का उद्दीपन विभाव की दृष्टि से अनेक स्थलो पर वर्णन किया गया है । इन वर्णनो का धरातल लौकिक दृष्टि से काव्य का उद्दीपन विभाव कहा जाता है किन्तु निकुंजरस के विचार से ऐसे समस्त वर्णन नित्यविहार के पोषक माने जाते हैं ।

पावस ऋतु का वर्णन

मानौ माई कुंजन पावस आयौ ।
स्याम घटा देखत उनमद ह्वै, मोरन सोर मचायौ ॥
दामिनि दमकति चमकति कामिनि प्रीतम उर लपटायौ ।
निसि अँधियारी दिसि नहि सूझति काजु भयौ मन भायौ ॥
डोलत बग बोलत घन धुनि सुनि, चातक बदन उठायौ ।
बरषत धुरवा सीतल बूंदनि, तन मन ताप बुझायौ ॥
कुसुमित धरनि तरनि तनया तट चंद बदन सुख पायौ ।
व्यास आस सबही की पूजी, सरिता सिंधु चढ़ायौ ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २८७, पृष्ठ ३९० ।

आज कछु कुंजन में वर्षा-सी ।
बादल दल में देखि सखी री चमकति है चपला सी ॥
नान्ही नान्ही बूंदनि कछु धुरवासे पवन बहै सुखरासी ।
मंद मद गरजनि सी सुनियत नाचति मोर सभा सी ।
इन्द्रधनुष बग पंगति डोलति, बोलति कोक कला सी ।
इन्द्र वधू छवि छाइ रही, मनु गिरि पर अरुन घटा सी ॥
उमगि मही रुह सेमहि फूली झूली मृग माला सी ।
रटत व्यास चातक ज्यौं रसना रस पीवत हू प्यासी ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० २९२, पृष्ठ ३९२ ।

वसतऋतु-वर्णन

चल चलहि वृन्दावन वसन्त आयौ ।
झूलत फूलन के भ्रवरा, मारुत मकरन्द उडायौ ॥
मधुकर कोकिल कीर कोक मिलि कोलाहल उपजायौ ।
नांचत स्याम बजावत गावत राधा राग जमायौ ॥
चोवा चदन बूका वन्दन लाल गुलाल उडायौ ।
व्यास स्वामिनी की छवि निरखत रोम-रोम सचु पायौ ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद स० ३२६, पृष्ठ ४१५ ।

+ + +

शरद्ऋतु-वर्णन

दोऊ मिलि देखत सरद उजियारी ।
बिछी चाँदनी मध्य पुलिन के तासजरी फुलकारी ॥
सेत बादलो सेत किनारी, ऐसी है यह सारी ।
हीरन के आभूषण राजत जो वृषभानुदुलारी ॥
(उत्तरार्द्ध)—पद स० २४४, पृष्ठ ३५६ ।

वृन्दावन-वर्णन

व्यासजी ने अपनी वाणी मे वृन्दावन-माहात्म्य का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है । जब तक वे वृन्दावन स्वय नही आये थे तब तक उनके मन में वृन्दावन-आगमन की बलवती आकाक्षा हिलोरें मारती थी । आकाक्षा की उस प्रखर दशा को अपनी वाणी से व्यक्त करते हुए उन्होंने साधक दशा में वृन्दावन के प्रति अनुराग दर्शाया है ।

हम कब होहिंगे ब्रजवासी ।
ठाकुर नन्दकिशोर हमारे ठकुराइन राधासी ॥
सखी सहेली कब मिलि ह्वै हैं हरिवशी, हरिदासी ।
वसी वट की सीतल छैयां सुभग नदी जमुना सी ॥
जाकौ वैभव करत लालसा कर मीडत कमलासी ।
इतनी आस व्यासकी पुजवौ वृन्दा विपिन विलासी ॥
(पूर्वार्द्ध)—पद स० १०४, पृष्ठ ६६ ।

वृन्दावन कबहि बसाइहौ ॥
कर करुवा, हरवा गु ज जिर्क कटि कोपीन कसाइहौं ।
—पद स० १०५ ।

हरि निलिहै मोहि वृन्दावन में ।
साधु वचन में सांचे जाने फूल भई मेरे मन में ।
—पद स० १०७ ।

अब न और कछु करने, रहने है वृन्दावन ।
हौनो होइसो होइकिनि, दिनदिन आयु घटत झूठे तन ।
—पद स० १०६ ।

करि मन वृन्दावन सो हेत ।
निसि दिन छिन छाया जिनि छाड़हि रसिकनकौ रस खेत ।
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ९१ ।

वृन्दावन आकर वृन्दावन की रसोपासना में निमज्जित होने के बाद वृन्दावन का वर्णन सिद्धावस्था में किया है । वृन्दावन आना और वहाँ की उपासना में सरावोर हो जाना ही लोक-परलोक को सुधारना है जो वृन्दावन के रहस्य को न समझ कर इधर-उधर भटकते फिरते हैं वे इस जीवन के मर्म को ही हृदयगम नही करते ।

अब मैं वृन्दावन धन-पायौ ।
राधाचरन शरन मनु दीनौ हितहरिवंश जगायौ ॥
सूतो हुतौ विषय मन्दिर में हित गुरु टेर जगायौ ।
अब तो व्यास विहार विलोकत सुक नारद मुनि गायौ ॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ८४

वृन्दावन की स्तुति में व्यासजी ने दो दर्जन से ऊपर पद लिखकर अपनी भावना को इतना स्फीत कर दिया है कि प्रत्येक पाठक के मन पर यही प्रभाव पडता है कि व्यासजी वृन्दावन-वास को जीवन की सफलता का चरम ध्येय मानते थे । वृन्दावन को समस्त वैभव का आगार, सबका आदि, वृन्दावन की भूमि को कोटि वैकुठ से बढकर और वृन्दावन के कीट-पतंग, गुल्म, लता द्रुम को भी धन्य माना है—

सदा वृन्दावन सबको आदि ।
रस निधि ,सुखनिधि जहाँ विराजत नित्य अनन्त अनादि ॥
गौर स्याम को सरन, हरन दुख कंदमूल मुंजादि ।
सुक पिक केकी कोक कुरंग कपोत मृगज सनकादि ॥
कीट पतंग, विहंग सिंह कपि तहाँ सोहत जनकादि ।
तरु तृन गुल्म कल्पतरु कामधेनु गो वृष धर्मादि ॥
मोहन की मनसा तें प्रकटित अंस कला कपिलादि ।
गोपिक को नित नेम प्रेम, पद पकज जल कमलादि ॥
\+ \+ \+
सर्वं सन्त सेवत निरवैरिन लखि माया नासादि ।
सेष असेष पार नहि पावत गावत सुक व्यासादि ॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ४, पृष्ठ २ ।

वृन्दावन की सौन्दर्य-माधुरी के वर्णन में व्यासजी का मन इतना लीन होता है कि वे स्थूल और सूक्ष्म सभी पदार्थो पर दृष्टि डालते हुए उसके सौन्दर्य को भाँति-भाँति से प्रस्फुटित करते जाते हैं। हम कुछ पदो का सकेत देकर अपने कथन को सम्पुष्ट करना चाहते हैं—

१—धनि-धनि श्री वृन्दावन की धरनि—पद स० ३०
२—छवीली वृन्दावन की धरनि —पद स० ४८
३—श्री वृन्दावन देखत नैन सिरात —पद सं० ६

४—वृन्दावन की बलैया लैहो —पद स० ७
५—प्यारी श्री वृन्दावन की रैन —पद स० ९
६—प्यारे श्री वृन्दावन के रूख —पद स० १०
७—विराजै श्री वृन्दावन की वेली —पद स० १२

व्यासजी का मत है कि सच्चे सिद्ध-भक्त कभी वृन्दावन को छोडते नही, उनके मन में सदा वृन्दावन-वास की चाह रहती है। वृन्दावन की रज को वे पवित्र तीर्थ मान कर सिर पर धारण करते हैं। 'मोहि वृन्दावन रज सो काम' और 'श्री वृन्दावन न तजै अधिकारी' कह कर वृन्दावन को ही अपना घरबार, सम्पत्ति तथा व्यवहार मान लेना सच्चे भक्त की पहचान है।

व्यासजी के वृन्दावन-वर्णन में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वे वृन्दावन के भौतिक स्वरूप का ही उद्घाटन करते हैं। इसी भूमि पर स्थित स्थूल वृन्दावन को वे परम धाम और नित्य केलिक्रीडा का स्थल कहते हैं। राधावल्लभीय मत में यही पाञ्चभौतिक वृन्दावन उपास्य और आराध्य है। इसी धाम वृन्दावन में नित्यकिशोर-नित्यकिशोरी अपनी नित्यविहार-लीला करते हैं। अन्य सम्प्रदायो तथा भागवत आदि पुराणो में वर्णित वृन्दावन इस भौतिक वृन्दावन से भिन्न गोलोक, वैकुंठ आदि के समान सूक्ष्म धाम माना जाता है। उसमें कभी कोई परिवर्तन आदि नही होता। किन्तु व्यासजी ने आद्योपान्त स्थूल वृन्दावन पर ही दृष्टि रखी है। इसी वृन्दावन में वास करने की कामना प्रकट की है, इसी के कन्द-मूल-फल खाकर जीवन व्यतीत करने में कल्याण माना है, इसी वृन्दावन के गुल्म-लता, द्रुम-वेलि पत्रो में नित्य-विहार की छवि देखने की लालसा रखी है और इसी वृन्दावन को आराध्य-इष्ट बताया है।

## व्यासवाणी का व्यवहार-पक्ष

व्यासजी व्यापक दृष्टि वाले जागरूक कोटि के व्यक्ति थे। भक्ति-क्षेत्र मे प्रवेश करने से पहले उन्होने ससार के प्रपचो का मर्म भली भाँति देखा और समझा था। पुस्तक-ज्ञान के साथ-साथ जीवन के व्यवहार-पक्ष पर उनकी पैनी दृष्टि सतत बनी रही थी। अत अपने सैद्धान्तिक विवेचन के साथ उन्होने उन मार्मिक विषयों पर भी अपने विचार प्रकट किये हैं जो समाज के धर्म, चरित्र, नीति, आदि से निकट सम्बन्ध रखते हैं। धार्मिक जगत् के ढोंग, दम्भ, बाह्याडम्बर, कृत्रिम आचरण की परीक्षा करके उन्होने इनका त्याग ही उचित समझा। उस युग में बाह्याडम्बर का त्याग करने वालो में निर्गुण भावना के भक्त कबीर थे या सगुण भावना के उपासक श्री हितहरिवश और उनके शिष्य श्री हरिराम व्यास। पाखड और कपटपूर्ण आचरण करने वालों के प्रति व्यासजी के मन मे कदर्थित विचार थे और उन्होने ऐसे ढोंगी भक्तो की पोल खोलने में बडे साहस से काम लिया है।

**बिनु भक्तिहिं जे भक्त कहावत।**
**भीतर कपट निपट सबही सों, ऊपर उज्ज्वल ह्वै जु दिखावत।**
**धन सब ही कौ घूँसि ठूँसि कै, घरभरि सठ सो सुतनि खवावत॥**
**दिन दिन क्रोध विरोध जगत में, सोध न बोध हियो भरि आवत॥**

(पूर्वार्द्ध)—पद स० १४२।

× × ×

साधु मडली में चेला-चेली बनाने की प्रथा अत्यधिक प्रचलित है। किन्तु सच्चे शिष्य बनने वालो का सदा ही अभाव रहा है। व्यासजी के युग में भी स्वार्थ बुद्धि से दीक्षित हुए चेलो की भरमार थी। उन चेलो के मन मे गुरु के प्रति न तो आदर भाव था और न सेवा-परायण होकर वे अपने गुरुओ की पूजा ही करते थे। आज तो और भी दुर्दशा है। गुरु और शिष्य दोनो ही अपने-अपने स्वार्थ में लीन होकर एक दूसरे को ठगने की घात लगाते देखे जाते हैं। व्यासजी ने बनावटी शिष्यो की भर्त्सना करते हुए उनके आचरण को उजागर करने के लिए कितना स्पष्ट पद लिखा है—

गुरुहि न मानत चेली-चेला।
गुरु रोटी पानी सों घूँटति, शिष्य के दूध पिये कुकरेला॥
शिष्यन के सोने के बासन, गुरु के कुंडी-कुंडेला।
× × ×
व्यास आस जे करत शिष्य की, तिनते भले भड़ेला॥

(पूर्वार्द्ध)—पद सं० २३८।

व्यासजी ने विभिन्न सम्प्रदायो के धर्म के ठेकेदारो को समीप से देखा-परखा था; और अन्त में निराश होकर उन्हे कहना पडा था कि इस युग मे कोई अपने धर्म में निष्ठावान नही दिखाई देता। मिथ्या वितडावाद करने मे कुशल धर्माचार्य बाल की खाल तो खीचते हैं किन्तु सच्चे धर्म के मर्म को नही जानते इसलिए कोई भी प्रतीति-योग्य नही रहा है—

मोहि न काहू की परतीति।
कोऊ अपने धर्म न सांचौं, कासौं कीजे प्रीति॥
कबहुँक व्यास उपासि दिखावत लै प्रसाद तजि छोति।
ह्वै अनन्य सोभा लगि दिन द्वै सबसों करत समोति॥
बातनि खैंचत खाल बार की, लीपत भुस पर भीति।
कुवा परै बादर चादत है, धूम घोर हर ईति॥
स्वारथ परमारथ पथ बिगर्‍यौ उतपथ चलत अनीति।
व्यास दिनै चारिक या बन में जानि गही रस रीति॥

(उत्तरार्द्ध)—पद सं० १०९।

धर्म के नाम पर जीविकोपार्जन करने वाले ब्राह्मणो की निन्दा करते हुए व्यासजी ने बडे कठोर शब्दो मे अपने मन की ग्लानि अभिव्यक्त की है और कहा है—जाति का अभिमान करने वाले दम्भी ब्राह्मण के मन में भक्तिभाव का कभी प्रवेश नही हो सकता क्योकि वह स्वय भी माया के प्रपचो में पडा भटक रहा है लेकिन दूसरो के पथ-प्रदर्शन का स्वाँग रचता है। स्वयं अज्ञानाधकार में भटक रहा है—सोया पड़ा है किन्तु दूसरो को सावधान करके जगाता फिरता है। वेद-पुराणो की कथा क्या करता है मानो उन्हे बाजार में बेचकर धन कमाता है, सत्य का हनन करके हत्या का पाप सिर पर लेता है। सच्चे हरि (कृष्ण) और हरिदास (कृष्ण भक्तो) को तो देखना भी पसन्द नही करता, भूत, पितर और देवताओ को पूजता फिरता है। ऐसे मिथ्याचारी ब्राह्मण को व्यासजी न तो भक्त मानते हैं और न पडित। उनकी दृष्टि में वह समाज पर कलक का काला धब्बा है—

बाँभन के मन भक्ति न आवै, भूलै आप सवनि समझावै ॥
औरनि ठगि ठगि अपुन ठगावै, आपुनि सोवै सबै जगावै ॥
वेद पुरान वेचि धन ल्यावै सत्या तजि हत्याहि मिलावै ॥
हरि हरिदास न देख्यौ भावै, भूत पितर देवता पुजावै ॥
अपुन नरक परि कुलहि वुलावै, व्यास भक्ति विनु को गति पावै ॥
(पूर्वार्द्ध)—पद स० २७४, पृष्ठ १६७ ।

व्यासजी की वाणी में सच्चे भक्त होते हुए भी समाजसुधारक-उपदेष्टा का ओजस्वी स्वर बडी प्रखरता के साथ गूंजता हुआ सुनाई पडता है । वे उपदेश देते समय न तो अपने कुटुम्ब-परिवार की त्रुटियो को क्षमा करते हैं और न समाज के वडे कहे जाने वाले वर्ग से भयभीत होते हैं । अपने परिवार वालो के गणेश पूजन पर उन्होने जिस कठोरता से उन्हे फटकारा है वह इस बात का द्योतक है कि व्यासजी इष्ट-अनन्यता के आगे किसी की चिन्ता नही करते । जब एक बार राधावल्लभ को अनन्य इष्ट देवता मान लिया तो अन्य देवी-देवता पूजन की आवश्यकता ही क्या रह गई । एकादशी व्रत के सम्वन्ध में भी उनकी सुधारक वृत्ति ही प्रबल रही है ।

मरं वे जिन मेरे घर गनेस पुजायौ ॥
जे पदार्थ सन्तन कं काजं तं सारे सकतन नं खायौ ।
व्यास दास कन्या पेटहि क्यों न मरी अनन्य धर्म में दाग लगायौ ॥
× × ×
रसिक अनन्य कहाइक पूजे गृह गन्नेस ।
व्यास क्यो न जिनकं सदन जमगन करं प्रवेस ॥ —पद स० १४९ ।

व्यासजी की अनन्य वैष्णव-भावना में शाक्तमत के लिए कोई स्थान नही था । जैसे कबीर ने अनाचारपूर्ण शाक्तो की अत्यधिक भर्त्सना की है वैसे ही व्यासजी ने शाक्तो को समाजधर्म-जातिद्रोही मानकर त्याज्य, हेय और तिरस्करणीय ठहाराया है । तान्त्रिक साधना के विकृत रूप के कारण उस समय शाक्तो की कही प्रतिष्ठा नही रह गई थी । मद्य, मास, मदिरा आदि के निर्बाध प्रयोग के कारण वे सामाजिक ह्रास का वातावरण उपस्थित कर रहे थे । काम-वासना तथा बीभत्स तान्त्रिक साधना ने शाक्तो को उस भूमि पर ले जाकर अवस्थित कर दिया था कि वैष्णव साधना से उनका साक्षात् विरोध दृष्टिगत होने लगा था । व्यासजी ने शाक्तनिन्दा में बडी दशमयी कठोर भाषा का प्रयोग किया है—

'करि मन साकत को मुंह कारौ ।
साकत मोहिन देख्यौ भावै, कहा बूढ़ौ कहा बारौ ॥'
'साकत सगोन मेटिये व्यास सु कठ लगाय ।
परमारथ लं जाइगो, रहै पाप लपटाय ॥'
'साकत सूकर कूकरा इनकी मति है एक ।
कोटि जतन परबोधियं, तऊ न छांडे टेक ॥'
'साकत भैया सत्रुसम वेगहि तजियं व्यास ।
जो वाकी सङ्गति करं करिहै नरक निवास ॥'

## कलियुग का प्रभाव

पुराणो की मान्यता के अनुकूल कलियुग के विनाशकारी प्रभाव को व्यासजी ने अपनी वाणी मे स्वीकार किया है, और उससे वचने के लिए भक्त-भजन को साधन वताया है। भगवद्-भक्ति करने से ही कलियुग के घातक प्रभाव से वचा जा सकता है।

छिनु-छिनु ग्रसत तनहि मन काल।
अजहुँ चेत चरन गहि हरि के आयो है कलि काल॥
+ + +
व्यास वचन माने बिन जुग जुग हम कै हाथ विकैहै।
—(पूर्वार्द्ध) पद सं० २१४।

धर्म दुर्‌यौ कलि दई दिखाई।
कीनौ प्रकट प्रताप आपनौ सव विपरीति चलाई॥
जोगी जपी तपी संन्यासी व्रत छांड्यौ अकुलाई।
वरनास्रम की कौन चलाई सन्तनहूँ में आई॥
+ + +
उपदेसनिकौं गुरु गोसाइँ, आचरनैं अधमाई।
व्यासदास के सकृत सांवरे श्री हरिवंश सहाई॥
—(पूर्वार्द्ध) पद स० २३५।

अव सांचेहू कलिजुग आयौ।
पूत न कह्यौ पिता कौ मानत करत आपनौ भायौ॥
वेटी वेचत सङ्कु न मानत दिन-दिन मोल वढ़ायौ॥
वाही ते वरषा मंद होति है पुन्य तें पाप सवायौ॥
मथुरा खुदत कटत वृन्दावन मुनिजन सोच उपायौ॥
इतनो दुख सहिवे के काजे काहे कौ व्यास जिवायौ॥
—(पूर्वार्द्ध) पद सं० २३६

उपर्युक्त पद केवल कलियुग का ही आभास नही देते वरन् यथार्थ में तत्कालीन सामाजिक दशा पर भी अच्छा प्रकाश डालते है। स्वेच्छाचारी पुत्र, पुत्री वेचने की कुप्रथा, वर्षा का अभाव, मथुरा-वृन्दावन पर यवनो के आक्रमण तथा वार्धक्य में इन सव दारुण कष्टो को झेलने के लिए व्यासजी का जीवित रहना—एक साथ इतनी वातो का समावेश इस पद में है। व्यासजी की सामाजिक चेतना भक्त होते हुए भी इतनी प्रवुद्ध है कि कवीर और तुलसी को छोडकर किसी भक्त-कवि मे हमें नही मिलती। भक्ति के क्षेत्र में विचरण करने पर भी वे अपने चारो ओर के समाज से सर्वथा उच्छिन्न या अलग होकर आत्मोत्थान मात्र नही चाहते। 'सर्वेभवन्तु सुखिन.' का आदर्श उनके सामने रहता है और वे आत्मोद्धार के साथ सामूहिक कल्याण का पथ भी प्रशस्त करते चलते हैं।

ससार के माया-मोह मे आवद्ध करने वाले आकर्षक उपादानो मे कंचन और कामिनी का वर्णन अनादि काल से होता चला आ रहा है। विशेषतः विरक्त भावना को

स्वीकार करने वाले ज्ञानमार्गी दार्शनिक सन्तो और भक्तिमार्ग को स्वीकार करने वाले भावुक भक्तो ने इन दोनो से दूर रहने का उपदेश दिया है। कबीर जैसे भक्त तो कामिनी और कचन को माया का ही ससारी रूप मानते थे । विवाहित जीवन व्यतीत करने पर भी नारी के प्रति कबीर की अनास्था-बुद्धि थी और वे कामिनी से बचने का ही उपदेश देते रहे। व्यासजी ने भी अपनी वाणी में कबीर का ही प्राय अनुसरण किया है और उसी पद्धति पर कामिनी और कचन को परिहार्य ठहराया है।

व्यास कनक अरु कामिनी ये लांबी तरवारि ।
निकसे हे हरि भजन कों बीचहिं लीने मारि ।।
व्यास कनक अरु कामिनी तजियै भजियै दूर ।
हरि सों अन्तर पारिहैं मुख दै जैहैं घूरि ।।

व्यासजी ने उपदेशात्मक शैली में जो १४८ साखियाँ लिखी हैं उनमें जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर ही अधिक बल दिया है और उनमें सार रूप में अपनी आराधना-पद्धति, इष्टदेव, उपास्य तत्व, सत-प्रशसा, हरिजन-महिमा, दैन्य-गौरव, अनन्य विश्वास, अनन्य भक्ति—कहनी—करनी, प्रसाद-माहात्म्य, हरिवश-कृपा, राधावल्लभ इष्टदेव, आदि भक्तिविषयक विचारो के साथ लोक-प्रतिष्ठा, कपट से घृणा, आशा का परित्याग, अभिमान से बचना, माया-जाल को समझना, जीवन-यापन के लिए शिक्षा आदि व्यावहारिक बातो का बडा सजीव वर्णन किया है। उनकी साखी के कई दोहे इतने सटीक हैं कि वे भाव को व्यापक विस्तार के साथ अन्तर्नेत्रो के समक्ष अकित कर देते हैं।

ससार को माया का भ्रमजाल ठहराते हुए दृष्टान्त द्वारा जो चित्र खीचा है वह स्तुत्य है—

व्यास बिझूका खेत कौ दुक्ख न काहू देत ।
जो निसङ्क ह्वै जाय सो वस्तु घनेरी लेय ।।

लोक में यशोकामना को हेय बताते हुए कहते हैं—

व्यास बडाई लोक की कुक्कर की पहिचानि।
प्रीति करै मुख चाट ही वैर करै तनुहानि ।।

कथनी-करनी में भेद होने पर व्यग्य करते हैं—

व्यास न कथनी काम की करनी है इक सार ।
भक्ति बिना पडित वृथा ज्यौं खर चन्दन भार ।।

भगवद्-भक्ति में दैन्य ही भगवान् से मिलाने वाला होता है—

व्यास दीनता पारसै नहिं जानत जग अध ।
दीन भये तें मिलत हैं दीनबधु से बध ।।

व्यासजी का दृढ विश्वास भी देखने योग्य है—

काहू के बल भजनकौ काहू के आचार ।
व्यास भरोसे कुवरि के सोवत पाय पसार।।

सत-महिमा में उनकी गाली को भी वरदान समझकर कहते हैं—

व्यास बड़ाई और की मेरे मन धिक्कार।
रसिकन की गारी भली यह मेरो सिंगार॥

## व्यासवाणी का कलापक्ष

'व्यासवाणी' भक्ति-भावना का उन्मेष करने वाली प्रौढ रचना है। भक्ति भावावेश की चरमावस्था है। अन्तर के भावो में उत्ताल गति आने पर भक्त की वाणी से जो अभिव्यक्त होता है वही भक्ति-साहित्य का रूप धारण करता है। प्रेम को दिव्य भावावेश का रूप भक्ति के माध्यम से उपलब्ध होता है। अत व्यासवाणी मे रस की दृष्टि से जो सरस पदावली मिलती है वह व्यासजी के काव्योत्कर्ष की नही वरन् भावोत्कर्ष की परिचायिका है। किंतु भावोत्कर्ष को हम काव्य-सौष्ठव से बाहर नही कर सकते और कला की अन्तरात्मा के रूप में उसे स्वीकार करते हैं। शृगार रस के लिए जिन सुन्दर पदो का सृजन व्यासजी ने किया हम उनका उल्लेख पहले कर चुके हैं। आधी वाणी का प्रतिपाद्य ही शृगार रसपूर्ण माधुर्य भक्ति है। शान्त रस का भी अनेक पदो मे सुन्दर वर्णन हुआ। यथार्थ मे ये दो रस ही व्यासजी की कविता के प्राण हैं—शेष रसो की खोज करना व्यासवाणी की भावना के अधिक अनुकूल प्रतीत नही होता। वैसे रौद्र, वीर, वीभत्स और अद्भुत रसो से सम्बद्ध कुछ पद यत्र-तत्र बिखरे मिलते हैं। शृ गार रस की अभिव्यजना बहुत सुन्दर रीति से की है। उनके पदो का मुख्य रस भक्तिरस है। भक्ति मे भी माधुर्य-भक्ति ही इनकी सर्वप्रिय भक्ति है अत. शृ गाररस के उत्तम पदो का ही बाहुल्य है। राधा और कृष्ण को आश्रय-आलम्बन बनाकर, शृंगार रस के सब उपादान उपर्युक्त मात्रा मे प्रयुक्त किए हैं।

बिहरत नवल रसिक राधा सङ्ग।
रचित कुसुम सयनीय, भामिनी—कमल विमल, हरि भृंग॥
अधर-पान-परिरंभन-चुंबन, बिलसत कर जुग उरज उतंग।
नीवी बंधन, मोचत, सोचत, नेति वचन सुनि अधिक उमंग॥
नैनसैन, परिहास-बचन कहि, हंसत लखत पुलकित भुव भंग।
कबहुंक प्यारी मुरलि बजावति मोहन अधर धरत मुख चग॥
नव निकुंज रति पुंजनि बरषत, सुख सूचत, नखसिख अंग अग।
बीच-बीच पंचम सुर गावत, सुनि धुनि थिथकित 'व्यास' कुरंग॥

—(उत्तरार्द्ध)पद सं० २७४, पृष्ठ ३८०।

शृ गार रस के अतिरिक्त शान्त रस भी पाया जाता है। संसार तथा कलियुग की कुचालो को देखकर अपने मन को शाति तथा प्रकाश देने के लिए शातरस से परिपूर्ण अनेको पद लिखे हैं।

मन रति वृन्दावन सों कीजै।
खायौ पियौ भर्यौ भूंज्यौ अब, जीवन को फल लीजै॥
काज अकाज जानि सब अपनौ, दाउ सवारौंदी जै।
देखि धेनु, सुनि बैनु, रैन तजि, धिक्-धिक् जग जो जीजै॥
जमुना-तट बंसीवट निकट रहत, जु यह तन छीजै।

वरषत स्यामास्याम-रासरस, 'व्यास' नैन भरि पीजै ॥
(पूर्वार्द्ध) पद स० २४, पृष्ठ २५ ।

आत्म-निवेदन, दीनता, भगवदनुग्रह, विश्वास आदि से सम्वद्ध अनेको पद मिलते हैं। भक्तिरस की परिपुष्टि के लिए अनिवार्य सभी प्रमुख तत्त्वो का समावेश इनके पदो में मिलता है। इनके पठन-पाठन से हृदय भक्ति से सराबोर हो जाता है।

साधु-विरद सम्वन्धी पदो में करुण रस का स्रोत उमड पडा है। जयदेव, रूप सनातन, हितहरिवश, रामानन्द आदि महानुभावो के विरह में जो पद लिखे हैं वे अति हृदयस्पर्शी और करुणापूर्ण हैं। श्री हितहरिवश के देहावसान पर जो पद लिखा है वह अद्वितीय है। इस पद में हृदय की वेदना फूटी पड रही है। करुण रस की धारा वह रही है—

हुतौ रस रसिकन कौ आधार।
विनु हरिवसहि सरस रीति कौ, कापै चलि है भार ॥
को राधा दुलरावै गावै, वचन सुनावै चार।
वृन्दावन की सहज माधुरी, कहि है कौन उदार ॥
यह रचना अब कापै ह्वै है, निरस भयौ स सार।
बढौ अभाग अनन्य सभा कौ, उठिगौ ठाठ सिगार ॥
जिन विनु दिन छिनु सत जुग वीतत, सहज रूप आगार।
'व्यास' एक कुल कुमुद-गन्धविनु, उडगन जूठौ थार ॥
—(पूर्वार्द्ध) पद स० ८१।

अन्य रसो की व्यजना स्वतत्र रूप से तो नही की किन्तु शान्त और शृ गार के सहायक के रूप में हो गई है। जैसे शात के पूर्ण परिपाक के लिए उनका यह कथन बीभत्स रस की निष्पत्ति करवाता है —

जूठन जे न भक्त की खात
तिनके मुख सूकर कूकर के, भक्षि अभक्षि पोषत गात ॥
जिनके बदन सदन नर्कनि के, जे हरि जननि घिनात।
काम विवस कामिनि के पीवत अधरन लार चुचात ॥
भोजन पर मांखी मूतति हैं, ताहू रुचि सों खात ॥
—(पूर्वार्द्ध) पद स० १६८, पृष्ठ १०३।

इसी प्रकार भयानक, रौद्र और वीर रस की भी कही-कही अभिव्यजना मिलती है।

व्यासजी ने राधा और कृष्ण के बाल्यकाल का विस्तृत और सजीव चित्रण तो नही किया किन्तु उनके जन्मोत्सव की वधाइयाँ लिखी हैं। उन्ही पदो में वात्सल्य रस की निष्पत्ति हुई है।

जैसे—

सुवरन पलना ललना झूलहु।
अग-अग प्रति गुनगन निरखत, दुख मोचत लोचन अति फूलहु।
—(उत्तरार्द्ध) पद स० ४५४, पृष्ठ ५२७।

व्यासजी का भाषा पर पूर्ण अधिकार था। उनकी भाषा मे भावानुकूल पद-योजना के साथ मृदुल, कठोर और व्यगपूर्ण होने की शक्ति पाई जाती है। शब्दो के चयन में किसी प्रकार के आयास का पता नही चलता। ऐसा प्रतीत होता है कि भावो के उद्बोधन के साथ ही साथ शब्दो का जन्म होता गया है। प्रत्येक भाव के लिए शब्दो की नियोजना अपूर्व है। शृगार के पदो में भाषा अत्यन्त वैभवपूर्ण और सुकुमार हो गई है। माधुर्य भाव की अभिव्यक्ति के लिए शब्द भी माधुर्य गुण से परिपूर्ण हैं। एक उदाहरण देखिए :—

आजु बनी वृषभान दुलारी।
नव निकुंज विहरत प्रीतम सग, मंद पवन चांदिनी उज्यारी॥
भूषन भूषित अग सुपेसल, नील वसन तन झूमक सारी।
चिकुर-चद्रकनि चपकली गुहि, सिरसीमत सुकंत सँवारी॥
+ + +
तरुवनि कुमकुम नरवनि महावर, पद मृगमद चूरा चौधारी॥
नखसिख सुन्दरता की सीवां, 'व्यास' स्वामिनी जय पिय प्यारी॥
(उत्तरार्द्ध)—पद सं० ४८, पृष्ठ २३३।

अलकार तो आपके पदो में स्वाभाविक रूप से स्वय चले आते हैं। हरिवश, हरिदास आदि भक्त महानुभावों के निधन होने पर उनके वियोग-वर्णन मे व्यासजी की भाषा करुणार्द्र है तो भक्ति के पदो मे अत्यन्त दैन्यपूर्ण और शात रस के पदो में अत्यन्त ही वैराग्यपूर्ण है। दैन्य की अभिव्यक्ति में भाषा भी अलकार आदि से रहित अत्यन्त ही विनम्र हो जाती है :—

मेरो मन मानत नाचै-गायें
एकै प्रेम भक्ति कौ फल है, मोहन लाल रिझायें॥
गदगद सुर, पुलकित जस गावत, नैननि नीर बहायें।
नटगोपाल कपट नहिं मानत, कोटिन स्वांग बनायें॥
तजि अभिमान दीनता जनकी, स्याम रहत सचु पायें।
'व्यास' सुपच तारे, कुल वोरे, विप्रनिहरि विसराये॥
(पूर्वार्द्ध)—पद सं० ११२, पृष्ठ ७०।

रासलीला के पदो में नृत्य की सी गति पाई जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द ही नाच रहे हैं :—

वृषभाननदिनी सरद-चंदनी, नटति गोविन्द सगे।
जगत वदिनी, सूरनदिनी तट वसीवट, नागर मिली प्रगट सरस सुघंगे॥
+ + +
ककन-किकिन नूपुर धुनि मिलि, सुनियत ताल मृदगे।
हस्तक मस्तक भेद दिखावत, उमगत उरज उतगे॥
—पद स० २३३, पृष्ठ ३४६।

वास्तव में इन पदो मे इनके मन का उल्लास और प्रेम ही सजीव हो उठा है। यही कारण है कि इसमें हृदय लीन हो कर विभोर दशा को प्राप्त हो जाता है। आनुप्रासिक

और आनुस्वारिक शब्द-विन्यासपूर्ण पदावली नृत्य की-सी भावभगिमा के साथ आती है और जयदेव की सी मधुर झकारपूर्ण कोमलकात पदावली का आभास देती है। शब्दो में सहज गति और सजीवता थिरक रही है।

व्यासजी की व्रजभाषा सस्कृत-गर्भित होते हुए भी वोलचाल की भाषा सी सरलता और स्वाभाविकता लिए हुए है। इनकी भाषा में प्रान्तीय शब्दो का, जो वोलचाल की भाषा में पाए जाते हैं, अति सुन्दर प्रयोग मिलता है। वुदेलखड के निवासी होने के कारण वुन्देलखडी शब्द, मुहावरे और लोकोक्तियाँ आदि पाए जाते हैं। डुकास, उवीठी, मौरी आदि शब्द ठेठ वुन्देलखण्डी हैं। 'हरनी सी विडरी,' 'सव गुर माटी,' 'लीपत भुस पर भीति' आदि लोक-प्रचलित मुहावरो का प्रयोग भी खूव किया है।

तत्सम और तद्भव शब्दो का समान प्रयोग मिलता है। देशज शब्दो का भी यथा-स्थान प्रयोग है। इन प्रयोगो को देखकर कह सकते हैं कि व्यासजी की भाषा शुद्ध व्रजभाषा नही है किन्तु कलात्मक है। व्यासजी ने ध्वन्यात्मक शब्दो की भी योजना की है —

**किंकिन कंकन नूपुर धुनि सुनि, नचि मृदग सुघग सुताल।**

व्यासजी ने अपनी वाणी को कृत्रिम सौन्दर्य से वचाया है। किन्तु अलकारो का प्रयोग वहुत स्वाभाविक रूप से किया है। शब्दालकारो में अनुप्रास का अधिक प्रयोग किया है। अनुप्रास के कारण इनकी भाषा में गति, सजीवता और सुकुमारता ही आई है। रास के पदो में अनुप्रास की छटा अधिक पाई जाती है।

**अग-अंग प्रतिसुघग, रग गति तरग सग,**
**रति-अनग-मान भग मनि-मृदग वाजे।**
**सुर-वधान गान-तान भान जान गुन-निधान,**
**भुव-कमान, नैंन वान सुर विमान छाजै॥**

अर्थालकारो में रूपक और उत्प्रेक्षा का अधिक प्रयोग मिलता है।

राधा और कृष्ण के रूप-वर्णन में उत्प्रेक्षा और रूपक की भरमार है। राधा के नेत्रो के वर्णन में पूरा धनुष का रूपक बाँधा है :—

**अजन पनच धनुष सम भौंहैं।**
**वक निसक अनी अनियारे, लगत नैंन सरसोहैं॥**

राधा और कृष्ण के क्रीडा के चित्रो में सुन्दर रूपक बाँधे हैं —

**राधाहीं आधीन किसोर।**
**गौर अग के रग-सिंधु कौ, पावत नाहिंन हरि आदि-ओर।**
**महामाधुरी अधर-सुधा-विधु पियत, जियत उर चामुये कोर॥**
**मेघ सुदेस केसकुल देखत, नाचत गावत मोहन मोर।**
**मानसरोवर ऊपर निवसतु, लाल मराल कमल-कुचकोर॥**

स्वेद-सलिल-सरिता महँ बिहरत, मीन मनोहर चंचल चोर ।
बरषत मेह सनेह बूँदि चुनि, हरि चातिक मधु जीवन जोर ।।
—(उत्तरार्द्ध) पद स० ३१७, पृष्ठ ४१० ।

व्यासजी ने साग रूपक खूब बाधे हैं और उनमे उन्हे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। वृन्दावन का शृङ्गारपरक रूपक अत्यन्त ही सुन्दर बन पडा है। राधा के नेत्रो को नट बनाकर उसकी प्रत्येक क्रीडा का सांगोपाग चित्रण किया है :—

नटवा नैन सुघग दिखावत
चचल पलक सबद उघटत हैं थं थ तत् थेई थेई कल गावत ।।
तारे तरल तिरष गति मिलवत, गोलक सुलप दिखावत ।
उरप भेद भ्रू भग सग मिलि, रतिपति कुलनि लजावत ।।
अभिनय निपुन सैन सर ऐंननि, निसि वारिद वरषावत ।
गुनगन रूप अनूप, 'व्यास' प्रभु निरखि परम सुखपावत ।
—(उत्तरार्द्ध) पद सं० ३६४, पृष्ठ २४४ ।

इसी प्रकार से राधा के यौवन का नदी से साग रूपक बाँधा है—

दिनहीं दिन जोवन सरिता बाढ़ी ।
स्याम सजल घन रति रस बरखत, गिरत करारिन चाढ़ी ।
पद स० ३७३, पृष्ठ २८८ ।

वृन्दावन के प्रति भक्ति-भावना का सुन्दर प्रभाव उपस्थित करने के लिए व्यासजी रूपक की भाषा में बोलते हैं —

'व्यास' पपीहा वन घन सेयौ, दुख सलिला-सर सूख ।।

इसी प्रकार से दुख को सागर बनाकर साग रूपक का उदाहरण प्रस्तुत किया है :—

दुख सागर को वार न पार ।
जुग-जुग जीव थाह नहिं पावत, बूढत सिर धर भार ।

व्यासजी ने रूपक से अधिक उत्प्रेक्षा का प्रयोग किया है। उत्प्रेक्षा मे उन्होने राधा के रूप के सुन्दर-सुन्दर चित्र प्रस्तुत किए हैं। राधा के मुख पर केश छाए हुए हैं, उस पर कवि उत्प्रेक्षा करना है —

गौर ललाट पटल पर सोभित, कुंचित कच अरुझात ।
मानहु कनक कंज मकरदहि, पीवत अलि न अघात ।।

केश कधो पर गिरे हुए हैं उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

अति आवेस केस बिगलित जनु दामिनि तर बरसत घन घोरी ।

मनियो की माला राधा के वक्षस्थल पर शोभित हो रही है। कवि उत्प्रेक्षा करता है :

मनिमय माल हृदै अलंकृत, कुच जुग उरज वितान ।
मानहुँ उडगन सहित गगन महँ, मिले उभै ससि भान ॥

वक्षस्थल पर आए हुए केशो पर सुन्दर उत्प्रेक्षा :—

छूटी चिकुर चन्द्रिका उरजनि पर लटकति लर-पात ।
मानहुँ गिरिवर कचन ऊपर, मेघ घटा घुरवात ॥

राधा और कृष्ण दोनो एक साथ रतिक्रीडा में मग्न हैं इस दृश्य पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

इन्द्र नीलमनि मोहन तन छवि, कचन तन व्रजबाला ।
'व्यास' स्वामिनी हरि उर राजत, मानहु चंपक माला ॥

सुरति के पश्चात् राधाकृष्ण की सुन्दरता का वर्णन उत्प्रेक्षा द्वारा व्यासजी इस प्रकार करते हैं —

सुरत स्नमित प्यारी प्रीतम के कठ भुजा धरि लटकी ।
मनहु मेघमडल में दामिनि, चचलता तजि अटकी ॥
गौर गडरस मडित स्याम बदन गति नैकन ठटकी ।
मानहु नूत मजरी के रस, अनत न कोइल मटकी ॥

व्यासजी ने एक-दो पदो में राधा और कृष्ण की रति-क्रीडाओ को प्रकृति के वर्णन में उपमान रूप में ग्रहण किया है :—

ताल, तमाल, रसाल, साल, पल-पल चमकत, फल-पात ।
मनहु गौर मुख विधु कर रजित, सीमित सांवल गात ॥
किंसुक नवल नवीन माधुरी बिगसित हित उरझात ।
मनहु अबीर-गुलाल भरे तन, दपति रति अकुलात ॥
बैठे अलि अरविंद बिंब पर, मुख मकरद चुचात ।
मानहु स्याम कचु कुच कर गहि, अधर सुधा पीवत बलि जात ॥

व्यासजी ने रूपकातिशयोक्ति का भी सुन्दर प्रयोग किया है । राधा और कृष्ण दोनो एक साथ आ रहे हैं, कवि ने रूपकातिशयोक्ति द्वारा इस दृश्य को अंकित किया है :—

आवत सखि, चदा साथ अंध्यारी ।
घन-दामिनि चकोर-चातिक मिलि, मोरति राका प्यारी ।
गज मराल, केहरि, कदली, सर, बक, चकवा सुकसारी ।
खजन, मीन, मकर, कच्छप, मृग, मधुप भुजगिनि कारी ।
कमल-मृनाल, लाल, मनि, मुक्ता, हीरा सरसु पवारी ॥

(उत्तरार्द्ध)—पद स० १०४, पृष्ठ २६८ ।

राधा के शरीर का रूपकातिशयोक्ति द्वारा विशाल चित्र खडा किया है :—

चंद्र बिंब पर वारिज फूले ।
या पर फनि के सिर पर मनिगन, तर मधुकर मधुमद मिलि झूले ।
तहाँ मीन, कच्छप, सुक, खेलत, बंसिहिं देखि न भये विकूलै ।।
विद्रुम दार्यौ में पिक बोलत, केसरि-नखपद नारि गरूले ।।
सर में चक्रवाक, वक, व्यालिनि, विहरत वैर परस्पर भूले ।
रंभा सिंध बीच मनमथ धरु, तापर गान-धुनि सुनि सुख-मूले ।
सबही पर धनु बरषत, हरषत, सर-सागर भये जमुना कूले ।
पूजी ग्रास 'व्यास' चातक की, स्थावर-जगम भये बिसूले ।।
—(उत्तरार्द्ध पद स० ३७०, पृष्ठ २४८)

व्यतिरेक :—

चौकी की चमकनि के आगें, दामिनि भई कुचैनी ।
बसि पाताल व्यास नहिं आवत, जानि मन्यारी बैनी ।।

भ्रम :—

भंवरन को सम्भ्रम कटि भँवरिन, भेंटत अलकनि आइ ।
खेलत मैननि सौं खजन, भुव धनुषहिं रहें उराइ ।।
दार्यौ दसन जानि सुकदाला, भंवरनि वाँधि अकुलाइ ।।

व्यासजी ने अलकारो का प्रयोग तो किया है किन्तु रूपक, उपमा और उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त अन्य अलकारो के उदाहरण कम ही मिलते हैं। व्यासजी ने अपने काव्य को कृत्रिम अलकारो के भार से लादना नही चाहा ।

व्यासजी की वाणी भक्तिरस से भरपूर है। उनमें कला और भक्ति का मणि-काचन संयोग पाया जाता है । वास्तव में व्यासजी उत्कृष्ट कलाकार और उच्चकोटि के भक्त थे उनका भावोद्गार ही काव्य बन गया है ।

## व्यासवाणी में संगीत और पिंगल

व्यासजी संगीतशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे यह बात उनकी 'रागमाला' नामक रचना से सिद्ध होती है । संगीत की छाप उनकी व्यासवाणी के पदो पर भी स्पष्ट है क्योकि प्रत्येक पद किसी-न-किसी शास्त्रीय राग के अन्तर्गत बँधा हुआ है । उसे पूरी तरह गेय बनाने का आग्रह व्यासजी का रहा था । समाज में कीर्तन के लिए पद-रचना की प्रणाली उस समय सभी वैष्णव सम्प्रदायो में प्रचलित थी । व्यासजी ने उसी को अपने काव्य के लिए उपादेय मानकर स्वीकार किया ।

छन्दशास्त्र की दृष्टि से मुक्तक पद-रचना मे छन्द का विशेष आग्रह नही होता क्योकि उनका निर्माण लय, स्वर, ताल और नाद को दृष्टि मे रखते हुए रागाश्रित अधिक होता है,

छन्दाश्रित नही। यही कारण है कि व्यासवाणी में दोहा और कवित्त को छोडकर अन्य वर्णिक या मात्रिक छदो का प्रयोग नही हुआ है। फिर भी पदो के निर्माण में रोला, त्रोटक, षट्पदी, त्रिपदी आदि छद स्वत आ गये हैं। यह तो मानना ही होगा कि व्यासजी पिंगल के ज्ञाता थे किन्तु राग और सगीत के कारण छदोबद्ध रचना की ओर प्रवृत्त नही हुए।

## व्यासजी पर पूर्ववर्त्ती भक्तों का प्रभाव

व्यासजी ने पूर्ववर्ती भक्त महात्माओ से कुछ प्रभाव ग्रहण कर उसे अपनी वाणी द्वारा व्यक्त किया था। इनमें भक्त कबीर का प्रभाव सर्वाधिक है। कबीर का स्मरण करते हुए व्यासजी ने उन्हें कलियुग में सच्चा भक्त स्वीकार किया है। साखी के दोहो में कबीर की भाव-व्यजना पद्धति और भाव-वस्तु दोनो को ही व्यासजी ने अपनाया है। जैसा कि पहले दिखाया जा चुका है कि शाक्तो की निन्दा में व्यासजी कबीर का अक्षरश अनुगमन करते हैं। बाह्याडबर, दम्भ, पाखड, धूर्त पडित और ब्राह्मणो की भर्त्सना तथा व्रत-नियमो का मिथ्याचार दिखाने में भी कबीर का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। कही-कही तो शब्द-चयन में भी कबीर की शैली को स्वीकार किया है :—

करैं व्रत्त एकादसी हरिप्रसाद में दूरि।
बाँधे जमपुर जायँगे मुख में परिहै धूरि॥

अष्टछाप के कवि सूरदास और नन्ददास का भी अव्यक्त प्रभाव व्यासजी की पद-रचना पर पडा है। रासपचाध्यायी के सम्बन्ध में तो यह प्रश्न विवादास्पद ही है कि व्यासजी की पचाध्यायी उनकी न होकर सूरदास रचित है और सूरसागर में इसे प्रकाशित भी किया गया है किन्तु इस पचाध्यायी के हार्द का विवेचन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि यह व्यासजी की है, कालान्तर में परिवर्त्तन द्वारा सूरसागर में समाविष्ट कर दी गई। श्री वासुदेव गोस्वामी ने अपने ग्रथ में इसका विवेचन किया है और इसे व्यासजी की ही रचना ठहराया है। रासपचाध्यायी लिखने की प्रेरणा का मूलस्रोत तो भागवत पुराण की रासपचाध्यायी ही रहा होगा किन्तु नंददास की सुन्दर रचना भी प्रेरणा देने वाली मानी जा सकती है। सूरसागर के दो-एक पद भी व्यासवाणी से किंचित् परिवर्त्तन के साथ वहाँ रखे गये हैं। यथार्थ में वे व्यासजी के ही हैं। सूरदास का पद—

ऐसे बसियै ब्रज की वीथिनि

—सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पद स० ११०८।

व्यासवाणी के पद—'ऐसेहि बसियै ब्रज बीथिनि' के साथ बहुत साम्य रखता है। भावना की दृष्टि से यह पुष्टिमार्गीय नहीं हो सकता अत व्यासजी का ही मानना होगा।

व्यासवाणी पर इस प्रभाव को हमने बाह्य इस कारण कहा है कि कबीर निर्गुण भाव के उपासक थे, सूरदास और नददास वल्लभ सम्प्रदाय के भक्त थे। इसी प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय की विरह भावना तथा परकीया भावना भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है। यह तत्कालीन बगाली भक्त रूप और सनातन गोस्वामी का प्रभाव हो सकता है। यथार्थ में व्यासजी हितहरिवश और स्वामी हरिदास के प्रभाव में ही रहे और उन्ही की भक्ति-पद्धति को पल्लवित करने में लीन रहे।

## चतुर्थ अध्याय

# श्री चतुर्भुजदास

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो में श्री चतुर्भुजदास का जीवनवृत्त वड़े भ्रामक रूप मे अकित होता रहा है। अष्टछाप के चतुर्भुजदास को राधावल्लभ सम्प्रदाय के चतुर्भुजदास के साथ मिलाकर एक कर दिया गया है और फलत. इनकी रचनाओ को अष्टछाप के भक्त कवि चतुर्भुजदास के नाम से लिखा गया है। यह भ्रम प्रारम्भ में मिश्रवन्धुओ की लेखनी से हुआ। मिश्रवन्धुओ ने राधावल्लभी चतुर्भुजदास की 'भक्ति प्रताप, 'द्वादश यश', और 'हित जू को मंगल' जैसी विख्यात रचनाओ को अष्टछापी भक्त चतुर्भुजदास के नाम से विनोद में लिखा। एक वार यह भूल हो जाने के वाद किसी ने इसके सुधार की ओर ध्यान नही दिया। पडित रामचन्द्र शुक्ल और डा० रामकुमार वर्मा के इतिहासो में वही भ्रामक वातें लिखी हैं। डा० वर्मा ने तो अपनी ओर से यह भी जोड दिया है कि—"इनकी ( श्री हितहरिवश की ) प्रशसा में अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास ने 'हित जू को मगल' लिखा था।[1]" आचार्य शुक्ल ने अष्टछापी कवि के तीन ग्रन्थ—'द्वादश यश' 'भक्ति प्रताप' और 'हित जू को मगल' माने हैं।[2] डाक्टर दीनदयालु गुप्त ने इस विषय का सवसे पहली वार शोधपरक शैली से अनुशीलन किया और यह वताया कि उपर्युक्त तीनो ग्रंथो के रचयिता राधावल्लभी चतुर्भुजदास हैं, अष्टछापी नहीं।[3] डा० गुप्त ने अष्टछापी चतुर्भुजदास के नाम से प्रख्यात सभी ग्रथो का प्रामाणिक एव शोधपरक विवेचन करके दोनो का पृथक् अस्तित्व सिद्ध किया है और ग्रन्थो के वर्ण्य विषय पर भी प्रकाश डाला है। हम इस विषय का पिष्टपेषण करना अनावश्यक समझ कर छोड रहे हैं। ग्रथो के विषय में शोधपूर्ण कार्य होने पर भी किसी लेखक ने राधावल्लभीय चतुर्भुजदास का जीवनवृत्त नही लिखा और यह वताने का कष्ट नही किया

---

१ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ८४६।

२ हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २००।

३ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ २७८–२८०।

कि ये किस काल मे, किस स्थान पर उत्पन्न हुए और किस सम्प्रदाय में दीक्षित होकर रचनाएँ करते रहे।

## जन्मस्थान और जन्म-सवत्

श्री चतुर्भुजदास के जन्मस्थान का सकेत हमें नाभाजी के भक्तमाल में उनके सम्बन्ध में लिखे गये छप्पय में मिलता है, जन्मस्थान के साथ ही सम्प्रदाय, छाप और गुरु का भी स्पष्ट सकेत है —

**गायौ भक्ति प्रताप सबहिं दासत्व बढ़ायौ।**
**राधावल्लभ भजन अनन्यता वर्ग बढ़ायौ॥**
**मुरलीधर की छाप कवित अति ही निर्दूषन।**
**भक्तनि की अघ्रिरेनु बहै घाटी सिर भूषन॥**
**सत्संग महा आनन्द में प्रेम रहत भीज्यौ हियौ।**
**हरिवश चरन बल चतुरभुज गौंड देश तीरथ कियौ॥**

उपर्युक्त छप्पय की टीका करते हुए वार्त्तिक तिलक में इस प्रकार लिखा है—

'अपने गुरु श्री हितहरिवशजी के चरणो के बल से श्री चतुर्भुजजी ने 'गोडवाना देश' अधम को तीर्थ समान पवित्र कर दिया। श्रीभक्ति का प्रताप भले प्रकार गान कर। वहाँ के सब जीवो को श्री हरिदासता दृढा दी और श्री राधावल्लभजी के भजन अनन्यता का परिवार अतिशय बढ़ाया। अपनी कविता में मुरलीधर की छाप रखते थे, आपका कवित्त अति ही निर्दूषण होता था, भगवद्भक्तो के चरणो की रेणु आपके अग का भूषण थी। सत्सग में महा आनन्द देने वाले प्रभु के प्रेम से आपका हृदय भीगा रहता था।'[1]

ध्रुवदासजी ने आपका चरित लिखते हुए भी यही कहा है कि आपने अपने भक्ति के प्रताप से समस्त देश को पवित्र बना दिया।

**स्वामी चतुर्भुजदास की बानी अति गंभीर।**
**परम भागवत अति भये भजन माँहि दृढ़ धीर॥[2]**
**सकल देस पावन कियौ भगवत जसहि बढ़ाइ।**
**जहाँ तहाँ निज एक रस, गाई भक्ति लडाइ॥**

भक्तमाल के टीकाकार प्रियादास ने भी बडे विस्तारपूर्वक आपके चरित्र की अनेक बातों का उल्लेख किया है। जिन प्रसगो का प्रियादासजी ने उल्लेख किया है उनका चतुर्भुजदास के जीवन के ऐतिह्य से विशेष सम्बन्ध न होने पर भी चरित्रगत विशेषताओ पर अच्छा प्रकाश पडता है। पहला प्रसग श्री चतुर्भुजदासजी की भागवत कथा का है। किम्वदन्ती है कि एक बार भागवत कथा के समय एक चोर चोरी का द्रव्य लेकर कथा सुनने बैठ गया। कथा की शैली और कथावस्तु से प्रभावित होकर वह तत्काल आपका शिष्य हो गया और

---

**१ भक्तमाल–नाभाजी कृत, छप्पय १२३, पृष्ठ ७३९। टीका वार्त्तिक तिलक।**

**२ भक्त नामावली लीला—ध्रुवदासजी कृत, (बयालीस लीला) पृष्ठ ३१**

चोरी का सारा धन भी उसने साधु-सन्तो में वितरित कर दिया। इसी बीच चोर की खोज करते हुए राजा के सिपाही वहाँ आ पहुँचे और उन्होने चोर को पकड लिया। चोर ने राजा के दरबार में पहुँचने पर कहा कि मैंने इस जीवन में कभी किसी का कुछ नही चुराया है। अन्त में चोरी का निर्णय करने के लिए गर्म तेल के पात्र में चोर का हाथ डालकर यह निर्णय करना तय हुआ कि यदि चोरी की होगी तो हाथ जलेगा, अन्यथा नही। तेल के पात्र मे हाथ डालने पर भक्त-चोर का हाथ नही जला। फलत वह चोर सिद्ध न हुआ। यह देखकर राजा ने साहूकार को ही भला-बुरा कहकर दड देना तय किया। तब चोर ने यथार्थ बात बता दी और कहा कि स्वामी चतुर्भुजदास की कथा का मुझ पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि मैं एकदम चोर से साधु हो गया। राजा ने जब यह सच्ची घटना सुनी तो वह भी स्वामीजी का शिष्य हो गया।

दूसरी एक और घटना भी स्वामीजी की साधु-निष्ठा प्रगट करती है। एक समय चतुर्भुजदासजी जब गृहस्थाश्रम में थे, आपकी खेती पकी खडी थी। संतो की एक जमात घूमते हुए उधर आ निकली और उन्होने गेहूँ की बालें तोडकर और चने के बूटे उखाड़ कर खाना शुरू कर दिया। खेत के रखवालो ने मना किया और कहा कि यह खेत चतुर्भुजदास का है। तब तो सतो ने और अधिक खेत को उजाडना शुरू किया। निदान शिकायत स्वामीजी के पास पहुँची तो वे नाराज होने की जगह बडे प्रसन्न हुए और बोले कि मेरा बडा सौभाग्य है कि आज मेरा खेत साधुओ के काम आ सका। तत्काल खेत में पहुँचे और सतो को निमत्रण देकर अपने घर लिवा लाये और उनका श्रद्धापूर्वक अतिथि-सत्कार किया।[1]

श्री भगवत मुदित ने अनन्य रसिकमाल में चतुर्भुजदासजी का चरित्र १७५ पदो में लिखा है। उसमें प्रेतो के उद्धार की कथा तथा देवी को दीक्षा देकर वैष्णव बनाने की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन है। चोर के दीक्षा लेने की कथा भी इसमें है। भगवत मुदित ने प्रथम दोहे में ही स्पष्ट कहा है कि आप हरिवशजी के अनुयायी थे तथा आपने वनमाली (वन-चद्र) गोस्वामी से दीक्षा ली थी। गोडदेश में जन्म लिया था और रसिक होकर जीवन-यापन किया।

> चरण कमल हरिवंश बल, वनमाली गुरु आस।
> गौंड़ देश पावन कियौ, रसिक चतुर्भुजदास॥

गौंड देश में गढा नामक प्रसिद्ध गाँव है। इसी गाँव मे आपका जन्म हुआ। श्री सेवक जी के आप परम सुहृद् कहे जाते हैं। श्री सेवकजी के साथ ही आपके जीवन का वर्णन मिलता है। सेवकजी के समवयस्क होने के कारण आपका जन्म सम्वत् १५८५ के आसपास ठहरता है। 'द्वादश यश' नामक ग्रथ के द्वितीय यश मे रचनाकाल इस प्रकार दिया है :—

> सम्वत् सोरह सौ चौरासी अधिक द्वै वरष सिरानी जू।
> मुरलीधर वर भक्ति चतुर्भुजदास प्रताप बखानी जू॥ —धर्म विचार यश।

---

१. भक्तमाल—नाभाजी कृत—टीका प्रियादास—पृष्ठ ७४३।

इसके आधार पर सम्वत् १६८६ इसका रचना-काल निर्धारित होता है। यदि इसी को अन्तिम रचना माना जाय तो सम्वत् १६९० के आसपास इनका निधन-काल ठहरेगा।

श्री गोविंद अली ने 'भक्त गाथा' में चतुर्भुजदासजी का चरित्र लिखा है और वैष्णवदास को इनका भाई बताया है। 'भ्रात चतुर्भुजदास के वैष्णवदास अनन्य'। गोविंद अली ने एक ही छप्पय मे इनके चरित्र की अनेक वातो को समेटा है —

**(श्री) वनमाली गुरु आस वास वन गृह तज आये।**
**मुरलीधर सिरधार सत सम लाड लडाये॥**
**गोंड देश कियों भक्त, प्रेत, देवी, नृप माने।**
**चोर भोर भयौ साह विदित सब सत बखाने॥**
**व्यास सुवन सन्तत बसे हियें निरमले नीर।**
**सुनौ चतुर्भुज जस गिरा द्वादस विमल गभीर॥**
**—गोविन्द अली की वाणी (हस्तलिखित प्रति)[1]**

## चतुर्भुजदासजी के ग्रन्थ

श्री चतुर्भुजदास के ग्रथ 'द्वादश यश' नाम से प्रसिद्ध है। इसकी कई हस्तलिखित प्राचीन पोथियाँ उपलब्ध हैं। सेठ मणिलाल जमुनादास शाह अहमदाबाद ने इसे वि० सम्वत् १९९३ में प्रकाशित भी कराया था। इस ग्रथ मे बारह पृथक्-पृथक् यश गाये गये हैं। इन्ही बारह यशो में तृतीय 'भक्ति प्रताप यश' भी है जो प्राचीन हस्तलिखित पोथियो में अलग भी लिखा मिलता है। इसी प्रकार एकादश यश—'मगल सार यश' है जो 'हितजू को मगल' नाम से लिखा मिलता है। हिंदी साहित्य के इतिहास-लेखको ने 'द्वादश यश' के अतिरिक्त उक्त दोनो ग्रथो को भी पृथक् गिनाया है। यथार्थ में ये दोनो ग्रथ द्वादश यश के अतर्गत ही हैं। प्रसिद्धि और प्रचार के कारण ये अलग-अलग लिख लिये गये और स्वतत्र रूप से प्रसिद्ध हो गये। द्वादश यश में सकलित बारहो ग्रथो का हमने विषय-वस्तु की दृष्टि से विस्तारपूर्वक अगली पक्तियो में परिचय लिखा है। द्वादश यश के अतिरिक्त चतुर्भुजदास के फुटकर पद भी मिले हैं। इनके पदो का एक विशाल सग्रह श्री बाबा वशीदासजी (हित आश्रम, वृन्दावन) के पास सुरक्षित है।

श्री चतुर्भुजदासजी की रचना व्रजभाषा में है। ब्रजभाषा का माधुर्य ही आपकी रचना का प्राण है। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि आपने अपने ग्रथ द्वादश यश की टीका सस्कृत भाषा मे लिखी। यह टीका वृन्दावन में उपलब्ध है। टीका की सस्कृत सरल और प्रवाहपूर्ण है। हम यहाँ टीका के सस्कृत श्लोक का एक उद्धरण पाठको के अवलोकनार्थ प्रस्तुत कर रहे हैं—

---

१ भक्तगाथा—गोविन्द अली ( वृन्दावन निवासी बाबा ध्रुव अलिजी के पास की हस्तलिखित प्रति से उद्धृत— )

'श्रीमद् व्यास कुले कलौ करुणया भृ गायमानान्सतः,
श्री राधापतिपादपद्म मधुरा भोदेव तीर्णरसम् ।
वन्दे प्रापयितुं निगूढ़तरमप्यात्मोक्ति रश्मिस्फुटम्,
दूराक्षिप्त समस्त लोक तिमिरं वैयासिकं भास्करम्' ॥[1]

उपर्युक्त श्लोक श्री हितहरिवंश जी की वन्दना का है। इस सस्कृत टीका में कही-कही गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इस टीका के अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि पहले चतुर्भुजदासजी ने सस्कृत का ही अध्ययन किया था। व्रजभाषा तो व्रज में आने के बाद सीखी और उसमें रचना की। द्वादश यश मे ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पुराण तथा विभिन्न शास्त्रो के ज्ञान की छाप है। सस्कृत भाषा के गहन अध्ययन के विना इस प्रकार के प्रसंग आना सम्भव नही अतः टीका के प्रणेता आप ही रहे होगे यही मानना पडता है। हम नीचे सक्षेप में उनके ग्रथो का साराश दे रहे हैं। साराश लिखते समय हमने प्रयत्न किया है कि चतुर्भुजदास जी की पदावली तथा शैली अक्षुण्ण बनी रहे।

१—शिक्षा सकल समाज यश

प्रथम यश में सासारिक प्रपच और मोह-माया मे आवद्ध प्राणी को भक्ति की महिमा वताकर, निर्मल भाव से कृष्ण के प्रति आसक्त होने की शिक्षा दी गई है। चतुर्भुजदास जी की मान्यता है कि भगवान के यश-कथन और श्रवण के बिना सद्गति नही होती। हरि-भक्ति मे कुल और कर्म का विचार नही होता। हरि-भक्ति-विहीन ब्राह्मण श्वपच तुल्य है तथा भक्ति-युक्त श्वपच सर्वोत्कृष्ट है। करोडो वर्षों तक पाप करने के उपरांत भी यदि अतकाल मे हरि-नाम स्मरण कर लिया तो उत्तम पद की प्राप्ति हो जाती है।

कोटि कल्प जो अघ अति कीने। अन्त काल हरि नामहि लीने ॥
सो पुनीत उत्तम पद पावे।

विषय-भोग के पदार्थ, पुत्र, कलत्र, कुटुम्ब आदि सासारिक तपो को देने वाले हैं। 'माया को फल गृह सुत जाया। सब संसार धूरि-सी छाया।' विभिन्न इन्द्रियाँ भी भक्ति-विमुख प्राणी को इस प्रकार के नाच नचाती हैं, जिस प्रकार एक पति को वहु पत्नियाँ। यह दुख तभी मिट सकता है जब भगवान से रति हो जाए। कचन और कामिनी से मोह रखने वाला व्यक्ति वास्तविक सुख को प्राप्त नही कर सकता।

विधि-निषेध से युक्त नाना कर्म मनुष्य को संसार में भ्रमित करते हैं। 'कोटिक कर्म-धर्म करि आवे। विषय-वासना चितहि नचावै।' कर्मो के साथ भक्ति का कोई मेल नही। जहाँ कर्म-विचार है वहाँ भक्ति हो ही नही सकती। कर्म के साथ भक्ति की स्थापना करना काजल को सफेद करना है :—

जहाँ कर्म तहाँ भक्ति न आवै। रवि छत कैसे रात वतावै ॥
क्‍ै काजर को सेत बनावै। कर्मनि मांझ भक्ति तौ पावै ॥

---

१. द्वादश यश की संस्कृत टीका—(हस्तलिखित प्रति) श्री वावा वंशीदास जी, वृन्दावन की प्रति से उद्धृत

यह कर्म तो अन्य देवताओ के लिए हैं। और यह देवता भी हरि के विना ऐसे हैं जैसे दर्पण और दीया नयन के बिना। तप, योग, यज्ञ से हरि की प्राप्ति नही होती। इनसे मन का अज्ञान-अधकार नही मिटता। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि अन्य सव साधनो को छोड कर वह कृष्ण से प्रेम करे। प्रेम के वश में होकर ही भगवान कृष्ण व्रज मे रहते हैं।

**प्रेम भक्ति ब्रज में अति भारी। ता वस अटके कुंज विहारी॥**

अत मान, अपमान, छल-कपट, मोह-माया को छोडकर केवल कृष्ण से रति करनी चाहिए।

## २—धर्मविचार यश

इस यश के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म तथा उनके कर्तव्यो का उल्लेख है। ब्राह्मण वर्ण के धर्म और कर्म पर विस्तार से विवेचन है, शेप तीनो वर्ण विस्तार नही पा सके। चतुर्भुजदास कहते हैं कि धर्म विचार तभी मन में आता है जव दृढ विश्वास और भक्ति हो।

प्रथम वर्ण ब्राह्मण है। ब्राह्मण को पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। वह शिखा, मेखला, मुंजी वधन, दण्ड और कमण्डल को धारण करें। उत्तम भोजन अपने हाथ से तैयार करे और तृण पर सोये। वेद का अध्ययन तथा सब ग्रथो के सिद्धान्तो का मनन करे। तत्पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर वेद-विहित आचरण करे। फिर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करे। कन्दमूल-फल का भोजन करे, नख-केश रखे हुए वारह वर्प विताये। फिर सन्यास धारण कर शिखा और सूत्र का त्याग करे। विजयाहोम करे। तीन बार स्नान कर, दो वस्त्रो को धोकर धारण करे। धातु और ताम्बूल को कभी ग्रहण न करे। स्त्री की ओर न देखे। किसी भी क्षेत्र में पाँच दिन और गाँव में एक दिन बिताए। हरि का स्मरण करे। इस प्रकार से सायुज्य मुक्ति हो जाती है। योगी योग की युक्ति में लीन रहते हैं, प्राणायाम आदि युक्तियो से सिद्धि को प्राप्त करते हैं किन्तु फिर भी बिना हरि-भजन के पतित हो जाते हैं।

**जोग जज्ञ तप दान ग्यान तें विषय बढ़त अति भारी जू।**

क्षत्रिय का धर्म है कि रणक्षेत्र में युद्ध करता हुआ प्राण-विसर्जन कर स्वर्ग प्राप्त करे। उत्तम काल, देश, उत्तम वित्त तथा उत्तम ब्राह्मण को पाकर मन, वचन, कर्म को शुद्ध करने वाला यज्ञ करे।

वैश्य के कर्तव्य-कर्म, का स्पप्ट रूप से सकेत नही है। किन्तु वैश्य नाना प्रकार के कर्म करते हैं—धर्म व्रत, सयम आदि करते हैं किन्तु इनसे आवागमन का बधन नही कटता। हरि भक्ति बिना कर्म के वीज नही मिटते। भक्ति के तेज से कर्म के अकुर जल जाते हैं। नवधा भक्ति में से एक को धारण करने से सब अमगलो का नाश हो जाता है।

श्वपच यदि जनेऊ धारण कर कर्म करता है तो नरक में पडता है। ससार को दुख देता है। किन्तु माला तिलक धारण कर हरिगुण गान से ससार के भय दूर हो जाते हैं। इस यश को पढ़कर लगता है कि चतुर्भुजदास जी के वर्णाश्रम सम्वधी सस्कार इस समय तक निर्मूल नही हुए थे।

संवत् १६८६ में यह यश लिखा गया ऐसा इसके अन्तिम पद से स्पष्ट है।

३—भक्तिप्रताप यश

तृतीय यश में भक्ति का महत्व-गान है। पौराणिक कथाओं के आधार पर भक्ति के प्रताप का उद्घाटन किया गया है। चतुर्भुजदासजी कहते हैं आगम निगम रूपी नीर-क्षीर में से संतों-रूपी हसो ने जिस भक्ति-रूपी क्षीर को निकाला उसी का वर्णन करता हूँ। नवधा भक्ति मे से एक का पालन करने से मुक्ति मिल जाती है।

**नवधा भक्ति एक जो करे भवसागर नारी नर तरें।**

हरि की ओर यदि कुभाव से भी देखा या स्मरण किया जाए तव भी उद्धार हो जाता है जैसे कसकुल, अघासुर, शिशुपाल, राजा पौण्ड्रक, पूतना आदि। भगवान तो भक्तो के वश में रहते हैं। जिसने एक बार भी ज्ञान या अज्ञान अथवा स्वार्थ से हरि-नाम ले लिया उसको भी पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो गई जैसे अजामिल। ऋषि माण्डव्य ने सहस्रो वर्ष तप किया किंतु कर्मबंधन नही कटे। राजा नृग की भी भक्ति विना बुरी गति हुई। भक्ति का प्रताप ऐसा है कि यमगण भी भक्त के पास जाते डरते हैं।

आर्त्त भक्त की पुकार पर हरि स्वय कष्ट-निवारणार्थ दौड़े चले आते हैं। द्रौपदी का चीर वढाया, गज को ग्राह से छुडाया, पाण्डवो की रक्षा की। प्रेम के अधीन हो यशोदा से वन्धन में वँधे, गोपियो के ऋणी रहे। अर्जुन के सारथी वने, प्रह्लाद की रक्षा की। भगवान कृष्ण भक्तो के दुख से दुखी हो जाते हैं, भक्ति मे कुल-कर्म को भी नही जानते, भक्तो के मन को प्रसन्न करने वाले कार्य करते हैं। नामदेव, कवीर, सेना, धना, रैदास आदि अधम कुल वालो, व्याध, गीध, गनिका जैसे पापियो का उद्धार किया। चार वेद ज्ञाता हरि-विमुख ब्राह्मण से श्वपच भक्त महान है।

जो हरि-रूप को हृदय में, नाम को मुख में, प्रसाद को उदर में धारण करता है, तन-मन कृष्ण को अर्पित कर देता है, सत्सगति करता है, भक्तो की निंदा नही करता, हरि-स्मरण करते हुए जो आनन्दित, पुलकित हो जाता है, नेत्रो में जल भर लाता है वही अनन्य भक्त है, मुक्ति उसकी दासी है।

४—सन्त-प्रताप यश

इस यश मे सतो के प्रताप और सत्सगति की महिमा का वर्णन है। शुकदेव, व्यास, कपिल मुनि की साक्षी देकर अपने मत का प्रतिपादन किया है। जो मनुष्य यम और भव से भयभीत है उसको निरन्तर सत्सगति करनी चाहिए उसी से कष्ट दूर होंगे। अल्पकालिकी सत्सगति से ही लोकापवाद निर्मूल हो जाते हैं। साधु-सगति के समक्ष स्वर्ग, मुक्ति तथा राज्य-सुख भी हेय हैं :—

**स्वर्ग मुक्ति सुख ते अति हीन, नर राजनि सुख तब की हीन**
**साधु संग समसर नहीं।**

साधु वैकुण्ठ का मार्ग है, मुक्ति का द्वार है। सत्सगति से मन के पाप और ताप उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे रवि उदय से तम। सतसग भवसागर पार करने के लिए दृढ़ नौका है। साधु हरि से भी महान है। भक्त वैर-बुद्धि का त्याग कर तथा स्वजन बान्धवो के

मोह को छोड़कर, तन को भूल अनन्य भाव से हरिदर्शनार्थ भजन करता है किंतु हरिदर्शन के पश्चात् सब यही वर मांगते हैं 'देहु साधु सगति हमें ।'—'ताते सन्त सबते बडे ।' राजा पृथु, प्रचेनन, प्रह्लाद आदि सच्चे भक्तो की यही कामना थी ।

स्वय भगवान ने भी सन्तो की महिमा का गान किया है । अपने प्रिय भक्तो को सत्सगति के लिए प्रेरित किया है । कृष्ण कहते हैं कि मेरे भक्तो में ही सकल तीर्थ और देवता रहते हैं, मेरे भक्तो का भजन करने से मेरी भक्ति से अधिक आनन्द मिलता है ।

> मेरे भक्त जहां हैं रहत । तहा सकल हरि तीरथ कहत ।
> सुख आनन्द सदा तहां ।।
> भक्त वदन ब्रह्मा कौ बास । शिर हौं, शकर नाभि निवास ।
> पग किन्नर गन्धर्व सब ।।
> मेरे जनगावत हैं जहा । सतत पथ बसो हो तहा ।
> ताते तू सन्तन भजहि ।।
> भक्तनि भजें सु मेरौ दास । मोहि भजै सुख लहे न तास ।
> सत प्रतापहि गाइहौं ।।

हरि, व्रत, यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, योग, नियम, सयम, प्राणायाम आदि से प्राप्त नही होते—

> व्रत अरु जज्ञ छद तप दान । तीरथ योग नेम जम प्रान ।
> इन सबहिन के बश नहीं ।।
> सतसगति बस रहौं सही ।·· ·

सत्सगति से पशु-पक्षी भी पार लग गए । जो इन्द्रिय-स्वार्थ में लिप्त रहते हैं वे सदा कष्ट पाते हैं—जन्म-मरण के बधन में पडे रहते हैं । यम और भव के दुखो के निवारणार्थ सतो की चरणरज धारण करनी चाहिए । चतुर्भुजदास कहते है कि जो इस यश को धारण करते है वह अति सुखपूर्वक भवसागर पार कर जाते है ।

५—शिक्षासार यश

पचम यश में गुरु शिष्य के सबध तथा शिष्य के नित्य-नैमित्तिक कर्म पर विचार किया गया है । भक्ति के लिए गुरु अनिवार्य है । गुरु उसी को बनाना चाहिए जो वर्णाश्रम से पृथक्, इन्द्रियजित, अनर्पित भोजन न करने वाला, अन्य देवताओ की आराधना न करने वाला, सत्यभाषी, विषय-वासना से रहित, जगतप्रसिद्ध, चारो सम्प्रदायो से पूर्ण परिचित, मत्र-तत्र-भेदज्ञ, वेद तत्वज्ञ हो । ऐसे गुरु से मत्र लेकर उसकी शिक्षा पर दृढतापूर्वक शिष्य को आचरण करना चाहिए ।

दीक्षा-प्राप्त शिष्य को नियमानुकूल नित्य आचरण करना चाहिए । वह प्रात उठकर हरि को जगाए—उनका स्मरण अथवा गुणगान करे । मृत्तिका से शौच कार्य करे । दस बार बाएं हाथ को मिट्टी से धोए, फिर सात बार दोनो हाथो को धोए । दो बार चरणो को धोए । फिर कडवी दातौन करे । विधिपूर्वक स्नान कर दण्डाकार छिद्रयुक्त नासिका के अग्रभाग से लेकर केश-पर्यन्त रामानुजी (?) तिलक लगाए और हरि को तुलसी माला अर्पित करे तथा

स्वयं भी धारण करे। माला के विना जलपान न करे। प्रथम गुरु का ध्यान करे फिर मूलमंत्र का स्मरण करे तदनन्तर विधिपूर्वक हरि की आराधना करे। शुद्ध पकवान का भोग लगाकर भक्तों-सहित स्वय प्रसाद ग्रहण करे। इस प्रकार जो कुल-कर्म छोड भक्तों की रीति पूर्ण करता है वह परम पद प्राप्त करता है।

नित्यकर्म के साथ शिष्य गुरु की शिक्षा को भी सदैव स्मरण रख तदनुसार आचरण करे। गौ और बछड़े का वियोग न करे, कर्कश वचन को हत्या-पाप के सदृश समझे, अपने तन को तृण से भी तुच्छ समझे, अमानी को मान दे, वृक्ष के समान सहन-शील वने, जिह्वा से हरिनाम ले। वैल-बछड़े पर कभी पैर न रखे, अकारण जल को अस्थिर न करे। गाँव और वन में आग न लगाए, अनर्पित भोजन न करे, क्रोध-वशात् आत्मघात न करे, जुए की ओर दृष्टिपात तक न करे, मद-मांस का परित्याग करे, अन्य देवताओ का ध्यान न करे। परस्त्री को माता समझे, स्वर्ण को लौह सदृश समझे, तृण आदि की भी चोरी न करे, अपने समान सवको समझे, काम, क्रोध, तृष्णा को छोड़ दे। सावधानी से हरि के मन्दिर में जाए। जूता पहन कर न जाए तथा सम्मुख जल फल आदि ग्रहण न करे। अपवित्र उच्छिष्ट न छोडे, आसन बाँध कर पास न वैठे, सामने पाँव न फैलाए तथा अनुग्रह करे। अपने दान का अभिमान न करे, निन्दा से दूर रहे। हरि की ओर पीठ न करे। दंडवत प्रमाण करे। यथाशक्ति उपहार दे तथा उत्तम अन्न, फल-फूल अर्पित करे। विना अर्पित किए यदि स्वयं ग्रहण किया तो यमपुर जायगा।

गुरु को हरि के सदृश समझना चाहिए। शिष्य गुरु के सामने अपनी वात (अभिमान) न कहे। गुरु की छाया का उल्लघन न करे और गुरु के होते शैय्या पर पैर न रखे, परो मे जूते न पहने। इतने समीप से वात न करे कि गुरु को शिष्य की ऊष्ण वायु का स्पर्श हो।

जो हरि-विग्रह को शिला समझे, गुरु को सामान्य मनुष्यो के समान समझे, कृष्णमन्त्र को साधारण वचन सदृश माने, और हरि को अन्य देवताओ सदृश समझे, वह शिष्य नरक-वास करता है।

इस प्रकार सावधान होकर नवधा भक्ति करे। श्रवण, कथन, स्मरण में मन लगाये तथा निरन्तर सत्संगति करे। अल्प आयु में सब कुछ छोड हरि का स्मरण करो, सब सुखो की प्राप्ति होगी। अन्य देवता की उपासना करने से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति नही होती। जैसे :—

**भूखे हाथ पांव इन्द्रिन दुख। भोजन करत सवै पावै सुख॥**
**खीर खांड कर चरन लपेटै। होहिन वल, विनु प्रानिन मेटै॥**

इस यश को पढ कर ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी रचना चतुर्भुजदासजी ने राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले की होगी। रामानुजी तिलक, तुलसी-पूजा, नवधा भक्ति की कठोरता तथा नित्य नैमित्तिक कर्मो की प्रधानता आदि हमारे इस अनुमान के पोषक हैं।

६—हितोपदेश यश

इस यश में चौरासी लाख योनियों में जीव का भ्रमण, जन्म-मरण, यातना, मानव जीवन की दुर्लभता आदि विषयो पर विचार किया गया है।

जो विषयो के आधीन हो सत्पथ छोड कुपथ ग्रहण करता है वह अगणित जन्मो में भ्रमित होता रहता है। उसे व्यालीस लाख जल-जीवो की तथा व्यालीस लाख थल-जीवो की योनियो में भटकना पडता है। साठ सहस्र वर्ष वृक्ष की योनियो में जाकर वर्षा, गर्मी और शीत सहन करना पडता है। तब गौ-योनि प्राप्त होती है। बहुत बार गौ-योनि को प्राप्त हो मनुष्य-योनि का अवसर आता है। यमदूत अनेको बार पापकुण्डो में डाल कर अति दुख-दायी यातना देते हैं। फिर जननी के गर्भ में आकर पिछले कर्म याद आते हैं और भगवान से प्रार्थना करता है कि यदि अबकी बार इस दुख से छुट गया तो कृष्ण को छोड और कही नही जाऊँगा किन्तु जन्म ग्रहण करते ही सब कुछ भुला देता है। अनेक प्रकार के दुष्ट कर्म करता है। यौवन कामवासना में खो दिया। वृद्धावस्था आ जाती है। तब तृष्णा और उद्दीप्त हो जाती है। इस प्रकार मृत्यु आ जाती है और परिजन एक पल भी घर में नही रखना चाहते। मरने पर प्रेत कहलाने लगता है। इस प्रकार अनेक योनियो मे जन्म ले मनुष्य दुखी होता रहता है। यम भी जीव पर करुणा कर कहने लगता है—

**बार-बार ह्यां तू कत आवै। भूतल गये न हरि गुन गावै॥**
**राधावल्लभ चरन उपासहि। तौ कत सहतौ एती त्रासहि॥**

\+ \+ \+

**मन वच कर्म हरिहिं भजि भाई। ता तन हम पै हेर्यौ न जाई॥**

हरि-स्मरण से ही जन्म-जन्म की यातना का निवारण हो सकता है।

७—पतितपावन यश

इस यश में कृष्ण की पतितपावन प्रकृति का वर्णन उदाहरण सहित प्रस्तुत किया गया है।

कृष्ण पतित-पावन हैं, निर्धन के धन, अकुलीनो के कुल, सन्तरिपु के लिए काल-सदृश हैं—

**निरधन कौ धन दीनदय्याल। अकुलिन कौ कुल नन्द कौ लाल।**
**तौ काल सन्तरिपु कौ सही जू।**

पतित-पावन हरि केवल नाम-स्मरण से ही अधम से अधम पापियो को पार कर देते हैं जैसे पिंगला, अहिल्या, व्याध, अजामिल आदि। शबरी के जूठे फल ही खाकर उसे निजधाम दिया। अपने पतित पावन स्वभाव से राक्षस, रीछ, पक्षी, पशु, कपि, अन्त्यज को भी भवसागर से पार लगा दिया। हरि कुलविचार भी नही करते। उन्होंने नारद, विदुर, कबीर, रैदास को भी पवित्र कर दिया। भक्ति में वर्णगत भेद-भाव मिट जाता है :—

**चारि बरन हरिकौं भजें, एक बरन ह्वै जात।**
**अष्टधातु पारस परसि, एकै मोल बिकात॥**

८—मोहिनी यश

इस यश में माया की प्रबलता का वर्णन है। माया ने जल, थल, सुर, नर, ऋषि सबको अपनी सुन्दरता से मोहित कर लिया। इसने बडे-बडे तपस्वी, सामर्थ्यवान लोगों को भी ईश्वरभक्ति और सद्मार्ग से विचलित कर दिया। इसी माया के प्रभाव से शशि कलंकित

हुआ, इन्द्र सहस्र-लोचनकारी हुए, रवि बारह खंड मे विभक्त हुआ, कश्यप वन-वन भटके, विश्वामित्र की तपस्या भंग हुई, परासर और भृगु जैसे ऋषियो के चित्त चचल हो गए। माया का व्यापक प्रभाव है—विस्तृत राज्य है। कुमति, तृष्णा, विषयादि इसकी परम सखियाँ हैं, मोह सँया है, काम-क्रोध अनुचर हैं जो मनुष्य के ज्ञान-रूपी रत्न का हरण करते हैं। इस माया ने किसी को दिगम्बर बना दिया, किसी को जटाधारी, तो किसी का सिर मुँडवा दिया, किसी को जल में तो किसी को थल मे रमा दिया। इस प्रकार माया सबको नाच नचाती है। कर्म-धर्म तथा तप, यज्ञ करने वाले ज्ञानी भी इस माया से नही बच पाए। यह अल्प सुख दिखा महाकष्ट देती है। किन्तु कृष्ण-भक्तो के पास आती हुई यह डरती है, उनको ससार मे भ्रमित नही करती।

९—अनन्य भजन यश

इस यश में जप, तप, कर्म-धर्म, व्रत-नियम आदि का खंडन कर भक्ति का प्रतिपादन किया गया है।

जो वर्णाश्रम धर्म और कर्म का पालन करते हैं वह केवल वर्णी और आश्रमी होकर रह जाते हैं—उन्हे हरि प्राप्त नही होते। भक्ति कर्म-धर्म से पृथक् है, और बिना भक्ति हरि की प्राप्ति सभव नही। अनन्य भाव से हरिनाम स्मरण से बढकर अन्य कोई धर्म नही। इसी से हरि सहज प्राप्त हो जाते हैं। चाहे करोडो गौ दान करो, ग्रहण और सक्रान्ति पर काशी और प्रयाग स्नान करो, एक कल्प तक व्रत रखो, सुमेरु जितना स्वर्ण दान दो किन्तु यह सब हरिनाम-स्मरण तुल्य नही हो पाते। इनसे हरि सन्तुष्ट नही होते। एकादशी के व्रत और भोग से सन्तो को कष्ट होता है क्योकि व्रतोपवास करने से महाप्रसाद का अपमान होता है। महाप्रसाद से बढकर कोई प्रसाद नही। अनन्य भाव से कृष्ण की उपासना करने से ही प्रभु प्रसन्न होते हैं। भागवत मे इसी भक्ति का गान है। शुकदेव ने भी पंचाध्यायी मे इसी भक्ति का उल्लेख किया है। जयदेव ने भी राधाकृष्ण के गीत गाए हैं। कबीर और नामदेव ने मिश्रित रूप से राधाकृष्ण ही की उपासना की है। श्री हरिवश ने उस भक्ति को सबके लिए प्रकट कर दिया। ऐसी भक्ति को पाकर निर्गुण की उपासना नही की जाती :—

**निरालम्ब मन महि नहिं आवै। वचन अगोचर कहि क्यों पावै।**

बिना गुण वाले निर्गुण का गुणगान सभव नही। सगुण हरि के गुणगान से जन-सामान्य को भी मुक्ति मिल जाती है। सगुण कृष्ण के भजन से अनन्य पद मिलता है। इस अनन्य भेद को मूर्ख भी समझ सकता है किन्तु ज्ञानी नही समझ सकता :—

**कै पण्डित कै मूरख मानै। ज्ञान दग्ध नहिं मन नहिं आनै।**

१०—राधा सु प्रताप यश

कृष्ण की अनन्य भक्ति का प्रतिपादन पिछले यशो में हुआ है। इस यश में राधा का विशेष रूप से माहात्म्य प्रकट किया गया।

राधा के श्रेष्ठ नाम के स्मरण से परमसुख, अभयदान और परमधाम की प्राप्ति होती है।

**जो सुमिरै राधावर नाम, सब सुख सिन्धु अभै निज धाम ॥**

राधा सदैव वृन्दावन में निवास करती है। जैसे फणि मणि का त्याग एक पल के लिए नही कर सकता, जल और जलतरग भिन्न नही हो सकते, सूर्य और धूप छाया और वृक्ष साथ रहते हैं उसी प्रकार कृष्ण और राधा निरन्तर साथ रहते हैं। राधा का सामीप्य प्राप्त करना अति कठिन है। ब्रह्मा साठ सहस्र वर्ष तप करके भी गोपियो की चरण-रज प्राप्त नही कर सके। जब महाप्रलय हुआ और हरि ने शेष-शैया ग्रहण की तब वेदो की स्तुति पर उनकी प्रत्येक ऋचा को गोपी होकर विहार मे सम्मिलित होने का वर प्रभु ने दिया। श्री राधा के चरणो की वन्दना करने से आनन्दसिन्धु प्राप्त हो जाता है।

जो राधा की आराधना करता है उस पर कृष्ण कृपा करते हैं तथा श्रीकृष्ण का नाम स्मरण करने पर राधा कृपा करती है —

**जो सेवै श्री राधा नाम। ता कहँ कृपा करे अतिश्याम**

**श्याम नाम, राधा कृपा।**

राधा की सखी बनने के लिए कठोर तपस्या करनी पडती है। ब्रह्मज्ञानी अपनी ज्ञान की कठोर साधना से राधा की सखी नही बन सकता। प्रेमलक्षणा भक्ति से ही राधा का साहचर्य प्राप्त होता है। भक्त राधा-भक्ति के सामने मुक्ति का भी त्याग कर देते हैं। कृष्ण भी राधा की नवधा भक्ति कर परम आनन्द प्राप्त करते हैं। कृष्ण राधा का यश सखियो से श्रवण करते हैं, रात-दिन राधा नाम जाप करते हैं, मन में स्मरण करते हैं। चरणो में जावक लगाकर पाद-सेवन करते हैं। मृगमद तिलक लगा, माला, भूषण, वस्त्र पहनाते हैं तथा पान खिलाकर अर्चन-पूजन करते हैं। राधा के चरणो में शीश रख वन्दना करते हैं। दास्य भाव से तन-मन अर्पित कर देते हैं। राधा का मधुर सग प्राप्त करने के लिए निवेदन करते है। उनके साथ नित्यविहार करते है। कृष्ण राधा की प्रत्येक क्षण आराधना करते है इसी से राधा का नाम राधा पड गया। राधा और कृष्ण एक प्राण दो शरीर है। इनकी लीला में नेम नही, केवल प्रेम है। शेष, स्वयभू, शभु भी इस लीला का आदि, मध्य, अन्त नही जानते। कर्म-धर्म, व्रत का त्याग कर, राधावल्लभ की लीला का भजन करने से इस रस की प्राप्ति होती है।

११—मगल सार यस

इसमें हरिवश जी का तथा उनके द्वारा प्रतिपादित प्रेमलक्षणा भक्ति का यशोगान किया गया है।

हरिवश का नाम मगलमय है। उससे सुख की सार, मधुर प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है, सासारिक द्वन्द्वो का नाश हो जाता है। उनकी वाणी के माधुर्य से कृपा करके किशोर-किशोरी वृन्दावन में निवास करते है। वहाँ माया और काल-रूपी सर्प नही जाते —

**माया काल-व्याल डर तातें नेंकु न नियरो आवै हरि जू॥** हरिवशजी द्वारा स्थापित मार्ग पर चलकर रतिक्रीडा-लीन हरि-राधा के दर्शन होते है।

सतयुग में वेद-विदित भक्ति से महानिधि प्राप्त होती थी। त्रेतायुग में स्मृति-शास्त्र का प्राधान्य रहा, द्वापुर युग में यज्ञ-याग की रीति प्रचलित थी किन्तु कलियुग में अन्त्यज और

यवनो ने अपने प्रयत्नो से वेद-शास्त्र नष्ट कर दिए। पाखण्डपूर्ण धर्म का पृथ्वी पर राज्य हो गया। तत्त्व-रूप हरि-भजन लुप्त हो गया। सारा ससार शिवजी ने पागल कर दिया। तब व्यासनन्दन हरिवश ने आगम-निगम रूपी सागर का मथन कर सार निकाला। जो उनकी शरण में आए उनकी कर्म-जेवडी के बंधनो को काट दिया। उनकी वाक्-समीर से पाखण्ड के बादल उड़ गए। उन्होने सारासार विचार रूपी कुल्हाड़ी से मोह-मद के वृक्ष काट दिए। मत्सर, दम्भ प्रपच रूपी पर्वत को आनन्द रूपी तलवार से मिटा दिया। शुभ और अशुभ, पाप कालुष्य को प्रेम के सरोवर मे डुबा दिया। इस प्रकार हरिवंश ने प्रेमलक्षणा नवधा भक्ति से दसवी भक्ति का प्रचार किया। जो रसरीति सुर-असुर को दुर्लभ है वह अपनी वाणी मे प्रकट की। नवधा भक्ति प्रेमभक्ति के साधन स्वरूप है। ब्राह्मण कुल के लिए चन्द्रमा के समान शीतल और रसदायी है। श्री हरिवश ने कहा है कि 'जहाँ प्रेम तहाँ नेम नही।' यह प्रेम-भक्ति नेम से रहित होकर भी नेम और प्रेम से युक्त है।

'लीला नेम प्रेम पूरित घट रट राधा गुण गावत हरि जू।' इस प्रकार हरिवंश ने नित्य विहार रस को सुलभ बना दिया। हितहरिवश की विमल वाणी से जगत जगमगा रहा है। इसमे भागवत और वेद का सार है।

## १२—विमुख मुख भजन यश

इस यश में भक्ति, कर्म, धर्म, व्रत, अनन्य भक्ति आदि विभिन्न विषयो पर विचार किया गया है।

कर्म, धर्म व्रत, दान से हृदय की जलन नही जाती। वर्ण, धर्म, आश्रम, दान, व्रत आदि तो विवाद वचन के समान हैं। प्रेमलक्षणा भक्ति में कर्म नही टिकते। हरि भूत प्रेत की भक्ति, तथा व्रत आदि से प्राप्त नही होते। जहाँ कर्म-धर्म है वहाँ भक्ति नही। जहाँ रजोगुण और तमोगुण है वहाँ भक्ति नही—गाजर और बेर के बाजार में कपूर कहाँ। कर्म-धर्म करके किसी को मुक्ति नही मिलती और भक्ति करके किसको मुक्ति नही मिलती ?

पतिव्रता नारी की भाँति अनन्य भाव से हरि की भक्ति करनी चाहिए। ससल्य से दूर रहना चाहिए। ससल्य वह है जो दीक्षा-मन्त्र ले, अपने को कृष्ण का सेवक कहता है किन्तु अन्य देवताओ की ओर दौडता है, कर्म-धर्म को नही भुलाता, कामवासना में लिप्त रहता है। उसे अनन्य भाव के बिना यम की कठोर यातना सहनी पड़ती है।

अनन्य भक्त वह है जो—सुत, वित्त के प्रेम को तुच्छ समझता है, दैत्य-देवताओ की सेवा नही करता, वाणी से किसी अन्य का गुणगान नही करता, नेत्रो से किसी अन्य देवता के दर्शन नही करता, श्रवण से हरि-भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नही सुनता, चित्त से हरि-चिंतन के अतिरिक्त अन्य चिंता नही करता। मन-वचन को हरि के अर्पित कर देता है, सकल जीवो को हरि की सत्ता मानता है। हरिभजन में मन लगाता है। ऐसे अनन्य भक्त को किसी का भय नही होता।

**नवधा में मन लगै तब कर्मनि क्यों डरि है।**

कर्म से दुख ही प्राप्त होते हैं। कर्म, तप, व्रतादि को कृष्णार्पित करता हुआ भी जो भागवत को नही मानता वह करोडो कल्पो तक ससार में भटकता है। कर्म बीज अनन्य भाव

के विना नही मिटते। अनन्य भक्ति के विना भवसागर पार करने की कामना करना कुत्ते की पूँछ पकडकर सागर पार करना है। सव छल-कपट छोडकर हरिभजन करने से ही भवसागर पार किया जा सकता है —

सकलतु वल छल छाडि मुग्ध सेवै मुरलीधर।
मिटहिं महा भव द्वन्द्व फन्द फटि रहि राधावर॥

## द्वादश यश मे सिद्धान्त-प्रतिपादन

चतुर्भुजदासकृत द्वादश यश में मूल रूप से भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। प्रत्येक यश प्रेमलक्षणा भक्ति की पुष्टि में लिखा गया प्रतीत होता है। उनके मत में भक्ति ही एकमात्र साधन है जिससे हरि की प्राप्ति सम्भव है। हरि भक्तो के लिए ही जन्म लेते हैं, उनके दुख से दुखी होते हैं और उन्हे जो अच्छा लगता है वही करते हैं —

भक्तनि के दुख दुखित श्याम। भक्तन हेत जनम क्रम नाम
भक्तनि भावै सो करे।

नवधा भक्ति में से एक भी करने से नर-नारी भवसागर पार हो जाते हैं—

नवधा मध्य एक जो करै। भवसागर नारी-नर तरै।

कृष्ण के नाम-स्मरण मात्र से ही उत्तम पद की प्राप्ति हो जाती है। चाहे कितना भी कर्म-धर्म क्यो न करो किन्तु हरिनाम-स्मरण के विना वह सव व्यर्थ हो जाते हैं —

१—कर्म धर्म देवन को जो फल। भक्ति बिना भटकत ज्यों खल नल॥
२—कोटि कलर जो अघ अति कीने अन्तकाल हरिनामहिं लीने।
सो पुनीत उत्तम पद पावै।

प्रेमाभक्ति ही सर्वोत्तम है। इसके वश मे होकर स्वय हरि वधन में बँधते हैं। व्रज मे इसी के कारण निवास करते हैं —

प्रेमभक्ति व्रज में अति भारी। ता बस अटके कुंजबिहारी।

भक्त इसी प्रेमभक्ति रस की कामना रखते हैं। यह रस सुरासुर को भी दुर्लभ होता है। चतुर्भुजदास जी ने प्रेमलक्षणा भक्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है —

सुख कौ सुख अरु मोद मोद रसकौ रस एकत कीनौ हरि जू।
तुषा तुषा की गुन कौ गुन ताकौ जु सार मथि लीनौ हरि जू॥
ता सार कौ शोधि सर्वस लियौ पुनि जु माधुरी लीनी हरि जू।
तव निज आनन्द प्रेम मिलै कै रुचि की रुचि जिन कीनी हरि जू॥
प्रेम लच्छना नाम तासु सुख सेवत सदा बिहारी हरि जू।

यह प्रेमलक्षणा भक्ति ही भक्त को इष्ट है। उसके सामने वह मुक्ति की भी कामना नही करता—

चार भक्ति मोहन वर देत। भक्त ! भक्ति तजि ताहि न लेत।

इस भक्ति में नेम नही केवल प्रेम ही है—

इहि रस प्रेम मगन हरि भये। नित्य विहार कल्पशत गये।
नेम नहीं, जहां प्रेम है।

प्रेमा भक्ति मे विधि-निषेध मर्यादा की आवश्यकता नही। राधावल्लभ सम्प्रदाय में विधिनिषेध मर्यादा का पालन प्रेम की तीव्रानुभूति मे बाधक समझकर नही किया जाता। विधि-निषेध की उलझन में ही भक्त भटक जाता है, वह प्रभु मे एकात्मना लीन हो कर प्रेम नही कर सकता इसीलिए चतुर्भुजदास ने सर्वत्र विधिनिषेध आदि बाह्य बधनो का भक्ति के क्षेत्र में तिरस्कार किया है। जहाँ कर्म को महत्व दिया जाता है वहाँ भक्ति का प्रवेश नही हो सकता :—

'ऐसे विधि निषेध साधन करि। होइ न अभै जो न सेवै हरि।
जहाँ कर्म तहाँ भक्ति न आवै। रवि छत कैसे रात वतावै॥"[1]

'विधि निषेध सब देई देवा। हरि सेवतनि करत सब सेवा।
सुधा सिन्धु तट प्यासो मरई। कर्म करै हरिभक्ति न करई॥'[2]

चतुर्भुजदास ने द्वादश यश मे अपने विचारो को प्रकट करते हुए कहा है कि कर्म का फल अवश्य प्राप्त होता है अत. कर्मानुसार मनुष्य का जन्म-मरण होता रहेगा, वह कभी भी मुक्त नही हो सकता। भक्ति ही मुक्ति का साधन है :—

'कर्म धर्म तीरथ व्रत संजम इनके मारग न्यारे जू
आवागमन मिटै नहिं तिनतैं, साधुनि सोधि विचारे जू॥'[3]
'एकादशी जू भोग लगावत ताते सन्त कछुक दुख पावत।'

चतुर्भुजदास ने स्थान-स्थान पर चार्वाक, क्षपणक, जैन, शैव, मायावादी, अनीश्वरवादी, शाक्त, साख्य, बौद्ध-मतावलम्बियो के प्रति उग्र विचार प्रकट किए हैं :—

"चारवाक, छपनक, जैनी अरु मायावादी जेते जू।
शैवी, काल अनीश्वरवादी पशुपातादिक तेते जू॥
सांख्य बौध अरु न्याय तर्कमत चलत ते जम वास पठाये जू।
सुर और नाश, सुरनि के कारन शिव आपुन बौराये जू॥"[4]
"चारवाक छप्पनक छांवि कुहुर समान तिमिर महा छाये हरि जू।
तारातनय तरणि सम ह्वै कै अति तम तेज नशाये जू॥"[5]

स्वामीजी ने निर्गुणवाद का भी खण्डन सूरदास की भाँति ही किया है :—

निरालम्ब मन महि नहिं आवै, वचन अगोचर कहि क्यों पावै।
लीला रस जु भक्त हित कीन्हों, उन कन तजि छोकल मन दीन्हों॥
गुन विनु धनुष काम नहिं आवै, ऐसे निरगुन गुन विनु गावै।[6]

---

१. द्वादश (शिक्षा सकल समाज यश) पृष्ठ ३
२. वही वही पृष्ठ ४
३. वही (धर्म विचार यश) पृष्ठ ८
४ वही वही पृष्ठ ८
५ वही (मंगलसार यश) पृष्ठ ४६
६ वही (अनन्य भजन यश) पृष्ठ ३६

मानव-समाज को भक्ति का उपदेश देते हुए मनुष्य जीवन मे प्राप्त होने वाले नाना दुखो के रूप का भी चित्रण किया है। भक्ति को अति सरल एव सुबोध शब्दो में रखने का प्रयत्न 'द्वादश यश' में स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है।

## द्वादश यश का कला पक्ष

द्वादश यश भक्ति-महिमा का स्रोत है। भक्ति का माहात्म्य बताना ही इनका अभीष्ट था अत साधारण जनता के समझने के योग्य भाषा में विचार व्यक्त किए गए हैं। सरस ब्रजभाषा में लिखित होने पर भी यत्र-तत्र देशज तथा प्रान्तीय शब्दो का प्रयोग मिलता है। ब्रजभाषा पर बुन्देलखडी की झपट इतनी अधिक है कि कही-कही ब्रजभाषा का रूप विकृत हो गया है। प्रचलित लोकोक्तियो तथा मुहावरो का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में है जिससे भावाभिव्यक्ति स्पष्ट हो गई है .—

**हस्ती चढ्यौ स्वान ते डरहि है ? कहा साँप पावक कौ करि है।**
**दावानलहि न ओझ बुझावै। गज की प्यास न कुहरु गवावै ॥**
**नहीं प्रबल पावस को पानी रोके तृन यह कौने मानी।**

\+ \+ \+

**स्वान पूँछ जलनिधि क्यो तरिये दीपक लिये कूप क्यों परिये ॥**

ब्रजभाषा के शब्दो के अतिरिक्त अन्य प्रान्तीय शब्दो का प्रयोग भी मिलता है। कुछ अप्रचलित शब्दो का भी प्रयोग है जैसे कुरि (योनि), चवै (कहै), नानें (न्यून), फोकट आदि।

भावो को प्राजल और स्पष्ट बनाने के लिए अलकारो की भी सजधज मिलती है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टात, निदर्शना का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक है। अलकारो का सौदर्य देखने के लिए कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे —

उपमा :

**माया को फल गृह सुत जाया। सब ससार धूरि सी छाया।**
**बाजीगर की-सी सब चौंधी। तन की गति चपला सी कौंधी ॥**
**पारथाक् छप्पनक छबि कुहुर समान तिमिर महा छाये हरि जू।**
**तारातनय तरणि सम ह्वै कै अति तम तेज नशाये हरि जू ॥**

उत्प्रेक्षा .

**कमल वदन पर कुचित केश, मानहु राजत मधुप सुदेश।**
**सेत केश मृत की ध्वज मानौ, भयौ सही काल को पयानौ ॥**

रूपक

**दुरलभ तन पायौ सुरलय करि। गुरु खेवट हरिनाम नाव करि ॥**
**सखी कुमति अति तृष्णा विषया, जिहि तिहि गति गहि आने हो हरि।**
**एकनि भरम भवन लै पैठत, मोह सेज सग सोवै हो हरि।**
**काम क्रोध घर चोर सिखै कै ज्ञान रतन धन खोवै हो हरि ॥**

अर्थान्तरन्यास :

कर्म भरोसौ करि शठ सोवै। उलमुख क्यों अकासतम खोवै ॥
दरपन दिया नैन विनु जैसे। देव पितर सब हृदि विनु ऐसै ॥

प्रतीप :

कोटि चन्द्र-सुन्दरता सारु। लै जिनि रचे चरण नख चारु।
मुख शोभा वरणै कवन ॥
लोचन करत कछुक रज रही। खंजन, मीन, कमल मृग लही।
रोमहि प्रति लजे मैन गन ॥

दृष्टान्त :

विनु सत्संग भक्ति विनु कीन्हे। है हरि निकट जात नहिं चीन्हे ॥
ज्यो तिल तैल रहै घृत पय महें। अग्नि दारु सयोग जहाँ, तहँ ॥

द्वादश यश में विभिन्न राग-रागिनियो का प्रयोग हुआ है अत सगीतात्मकता भी पर्याप्त मात्रा मे दृष्टिगत होती है। विलावल, जयति श्री, घनाक्षरी, मारु, सारग, धनाश्री रागो का प्रयोग किया है। छन्दो में त्रिपदी, चौपाई, छप्पय आदि का प्रयोग है।

चतुर्भुजदास के द्वादश-यश का महत्व कला की दृष्टि से उतना नही है जितना भक्ति के क्षेत्र में उसकी भाव-सामग्री का है। द्वादश-यश की भावनिधि बहुत ही गभीर और अगाध है।

'भक्तप्रसाद वेली' मे चाचा वृन्दावनदास ने आपकी स्तुति में यह पद लिखा है —

कियो गौड़ देश पावन सकल।
धर्म अनन्य धरि मन क्रम वच, चत्रभुज श्री हरिवश वल।
सक्ति-भक्ति वल जिन उपदेसी, तारे भूत अनन्य थल ॥
माला तिलक इष्ट सम सेयो, मुरलीधर प्रभु छाप भल।
द्वादस मरु हरि-हरिजन महिमा, कथी उधारण महीतल ॥
अगनित विमुख किये, हरि सन्मुख जिन गंज्यौ पाखंड दल।
गुरु वनचन्द्र कृपा को भाजन, भक्ति तेज कियो नाश छल ॥
वृन्दावन हित रूप जाउ वलि जुगल रासि पायो सुफल ॥

—भक्ति प्रसाद वेली, पद सं० ९६।

श्री चतुर्भुजदास के द्वादश यश के अतिरिक्त कुछ फुटकर पद भी उपलब्ध होते हैं। श्री वावा वशीदासजी (वृन्दावन) के पास इनके पदो का प्राचीन सग्रह है। उसी में से कतिपय पद नीचे दिये जा रहे हैं :—

अवही आन विचारिये जू।
पुत्र कलत्र सजन सुपनें सौं जागे तें कछु न निहारिये जू ॥
नाना सुतनु विषै सुख भुगते भक्ति न कवहूँ सँभारिये जू।
सुकृतन कौ फल लह्यो अमरपद तहीं ते लै गहि डारिये जू ॥
जाको विरद पतित पावन है सो कैसे निमिष विसारिये जू।
चत्रभुज मुरलीधरन जजन विनु मनुवा जनम हारिये ज ॥

राग सारग

मैं मोहन विहरत वन पाये ।
मजुल कुज पुज वर वीथिनि दपति करन मोद मन भाये ॥
उपजत गति जत्र चलत मुदित अति अशनि पानि परस्पर नाये ।
जनु घन दामिनि इन्दु उभैरवि उडुगन सहित एक मिलि आये ॥
कबहुक कजकली हरि करि धरि प्रिया घ्रान सौरभ हित लाये ।
है मनो वरै भेंटवै कारण कमल सुतादै सोभ मनाये ॥
विकसत अब्ज समीप सु विधु के आनदित अलिगन उठि धाये ॥
क्रीडत निकट बरहि अहि मानौं अर्क मकर उर लाय खिलाये ।
प्रमुदित पानि धरत उन रुह पर राजत अति एसें जु दिखाये ।
कनक कुंभ पीयुष में पन्नग पद्म पत्रफन लाइ दुराये ॥
औरे बहुत विनोद सखी री को गनि कहै कोटि गुन गाये ॥
मुरलीधर अवलोकि चत्रभुज मकरध्वज के पुज लजाये ॥

मारत हो कत प्रेमहि लाजनि ।
करत प्रेम पै नेम न विसरत करत फिरत विधि कुल के काजनि ॥
पूरन प्रेम गनत गोपिनको सब कृत तजत जगत भई आजनि ।
तिनके प्रेम मगन मोहन भये तजिकें अखिल लोक के राजनि ॥
हृदय वसत हरि नेम गयौ ढरि प्रेम रह्यो भरि विदित विराजनि ।
ज्यों कुलवधू गरबवति कौंधित प्रगट जथातन साजनि ॥
नीर जानि जब चीर सचे वृथा वदत मद कनकी बाजनि ।
कर्म धर्म करें काल न विसरत प्रेम कर झूंठो गावनि ॥
रही रिष खूनी कतपति ज्यों सरिता सागर हि समाजनि ।
प्रेम परे निकरे न चत्रभुज मुरलीधर वरकरत निवाजनि ॥

निरखत गति मन की पंग भई ।
जुगल किशोर केलि कुजनि में रुचिर भाति सवई ॥
सुभग भाल मृग मद घसि कलंक बढ़ावति पूरव समुझि ठई ।
पुनि जो वीरी श्यामा आनन हित हरि जू हाथ लई ॥
मानों अकुज उपहार डरपि ले शशि कों जाई दई ।
ललित चाल धरिप्रिया अश भुज मुख तन कछुक नई ॥
मनों खग पति की त्रास कालभजि विधु की आड़ तकई ।
उपमा आन न मेरे जिय में अखिल लाके चितई ॥
चत्रभुज मुरलीधर जोरी वनी विश्व शोभा रितई ॥

## राग विभास

सब मिलि आवौ मगल गावौ गहगहे मृदंग बजावौ ।
घर घर कहत सकल नारी नर चंदन आंगन लिपावौ ।।
मोतिन चौक पुरावौ विप्रनि विविधि दान सनमान करावौ ।
जनम द्योस वनचन्द गुसांई द्वारनि वदन माल बधावो ।।
कदली खभ रूपाइ दीपावलि चित्रित कलस धरावौ ।
जै-जै शब्द करत सुरनर मुनि कुसुमा वलि वरसावौ ।।
फूलै फिरत सकल लोकन जन दुन्दुभि धुनि करवावौ ।
गोवर्द्धन हित चंदबधाई वृन्दावन के मांझ वसावौ ।।

## राग विलावल

वारी में प्यारी हो जाऊ बलिहारी ।
चलि कुज गनी दृग देखेंगी अली ।।
प्रिय सीतलराजे रुचिर भ्राजत अति सब भांति भली ।।
श्याम सुभग करि करिनी प्यारी कनक बेलि निर्मल सी कली ।
प्रिये लाल गुलाल सुरंग रंग मधि पर वर रचि सेत भली ।।
हिमकर की वापर छवि छाजत भ्राजत अति सब भांति भली ।
पीप यहै रुचि चरन चिह्न अति प्रात गात चाहत बलि लाल मली ।।
अतन ताप तन दाप दमत अवलोकत अवनि नलिन अवली ।
प्रिये कुज पुंज वर धाम अभिराम कामकुल केलि थली ।।
त्रिविधि पवन सुख भवन तवनि तजि भवन करि कहि ललित लली ।
गंध शिखर वर हुपनि निर्भर घोर कमल कर लाल रली ।।
बीच बीच छवि छिरकि छीटे कवि चित्रित असित धाराधवल ।
कुसुमाकर मधुकर भ्रम भ्राजत छाजत गुच्छ मवली ।।
डुलत भंवर गति अति रवनी अवनी पर परम पराग कली ।
फल दल द्रुम कमनीय विराजत छाजत ललित लवंग फली ।।
कोकिल कल पुनि मिलि धुनि धावत मुनि मन की मनसा सुहली ।
तव हित रचि पचि सचि सुदरि वर जुग वन तन गति मति बदली ।।
वचनि रचनि पुनि सुनि वृन्दा के कुंवरि कृपा करि मिलनि चली ।।
मिलनि हिलनि की कौन मति मदन कदन सेन्या सुदली ।।
जैश्री चत्रभुजहित मुरलीधर वर रति गति जानत ललितादिक महली ।।

पंचम अध्याय

# श्री ध्रुवदास

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त-कवियों में साम्प्रदायिक सिद्धान्तो का जैसा सर्वांगपूर्ण विवेचन ध्रुवदासजी की वाणी मे उपलब्ध होता है वैसा किसी अन्य महानुभाव की वाणी में नही है। ध्रुवदासजी ने राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को जितनी समग्रता और व्यापकता के साथ अपनी वाणी में पल्लवित किया वह इस तथ्य का प्रमाण है कि वे हितहरिवंशजी की भक्ति-पद्धति के भाष्यकार व्याख्याता थे। सेवक जी ने वृत्तिकार का कार्य किया था तो ध्रुवदासजी ने स्वतन्त्र रूप से व्याख्या और भाष्य प्रस्तुत किया। राधावल्लभीय भक्ति-तत्त्व को हृदयगम करने के लिए आपकी वाणी का अध्ययन-अनुशीलन अनिवार्य रूप से आवश्यक है। हमने सैद्धान्तिक विवेचन में श्री हितहरिवंशजी के बाद आपकी वाणी से ही सबसे अधिक उदाहरण प्रमाणरूप में प्रस्तुत किए हैं।

## जन्म-संवत् और जन्म-स्थान

हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थो में आपके जन्म-सवत् के विषय में प्रामाणिक रूप से कुछ नही लिखा गया। आपके जीवन-वृत्त की रूपरेखा तैयार करने के लिए आपकी रचनाओ से ही सामग्री चयन की जा सकती है किन्तु उनमें भी तीन-चार ग्रथो के रचना-काल के अतिरिक्त और कोई उल्लेख्य बात नही मिलती। हमने स्वय देववन्द ( सहारनपुर ) जाकर इनका जीवन-वृत्त जानने का प्रयत्न किया किन्तु कतिपय जनश्रुतियो के सिवा कोई प्रामाणिक वृत्त नही मिल सका। श्री भगवत मुदित और गोस्वामी जतनलाल कृत 'रसिक अनन्यसार' में इनका जो परिचय दिया है उसी के आधार पर यत्र-तत्र इनका चरित्र लिखा गया है। चाचा वृन्दावनदास ने अपनी 'भक्त प्रसाद वेली' में ध्रुवदासजी का वर्णन करते हुए इन्हें निकुंज-लीला की अन्तरग सखी माहिली कहा है। किन्तु परिचय की दृष्टि से कुछ नही लिखा। अत भगवत मुदित और जतनलाल गोस्वामी के रसिक अनन्यमाल को ही प्रमाण मानकर आपका जीवन-वृत्त लिखा जाता है। भगवत मुदित इनकी कथा के प्रारम्भ मे लिखते हैं —

"काइय कुल देवन के वासी परम्पराइ अनन्य उपासी ।
श्री गोपीनाथ के शिष्यन श्रेष्ठ सेवत राधावल्लभ इष्ट ।।"

देववन्द में कायस्थ-कुल मे आपका जन्म हुआ था । आपके वश मे पहले ही से वैष्णव-पद्धति की अनन्य उपासना प्रवर्त्तित थी, अतः जन्मजात वैष्णव सस्कार लेकर आप उत्पन्न हुए और शैशव से ही भक्ति-पथ पर सहज रूप से चल पड़े । 'राधावल्लभ भक्तमाल' मे इनका जन्म-सम्वत् १६२२ दिया है ।[1] किन्तु इनकी रचनाओ के आधार पर यह सम्वत् आनुमानिक ही प्रतीत होता है । आपने अपने 'रसानन्द लीला' नामक ग्रंथ में रचना-काल इस प्रकार दिया है—

'संवत् सोलह सै पंचासा, वरनत हित ध्रुव जुगल विलासा'

सवत् १६५० मे आपने यह ग्रथ लिखा । इस ग्रथ को यदि आपकी प्रारम्भिक रचना माना जाय तो उससे कम से कम वीस वर्ष पूर्व आपकी जन्मतिथि माननी होगी । इस अनुमानाश्रित आधार पर आपका जन्म-सवत् १६३० के आसपास निश्चित होता है । ग्रथरचना-काल के आधार पर ही आपकी निधन-तिथि का भी निर्णय किया जा सकता है । आपने 'रहस्य मजरी लीला' मे रचना-काल सवत् १६९८ दिया है । इस सवत् के वाद का उल्लेख किसी रचना मे नही मिलता । यदि इसी को अतिम रचना मान लिया जाय तो आपका रचना काल सवत् १६५० से १६९८ तक ठहरता है । सम्भव है इस के दो-चार वर्ष के भीतर ही आपने इहलोक-लीला सवरण की हो अत-संवत् १७०० के आस-पास आपका मृत्यु-सवत् स्थिर किया जा सकता है । इस प्रकार सत्तर वर्ष की लम्बी आयु तक आप जीवित रहे । 'रहस्य मजरी लीला' में रचना-काल का इस प्रकार वर्णन है :

सत्रह सै द्वै ऊन अरु अगहन पछि उजियार ।
दोहा चौपाई कहै ध्रुव इकसत ऊपर चार ।।
रहस्य मंजरी लीला—दोहा सं० १०५ ।।

श्री वियोगी हरि ने 'व्रजमाधुरीसार' मे इनका जन्म-संवत् १६५० ठहराया है जो इनकी रचनाओ के आधार पर उचित प्रतीत नही होता ।[1] १६५० संवत् की इनकी लिखी पुस्तक मिलने पर जन्म कैसे माना जा सकता है । मृत्यु-सवत् भी आपने १७४० के लगभग माना है और उसका कारण दिया है कि १७३५ तक के भक्तो का जीवन ध्रुवदासजी ने अपनी 'भक्त-नामावली' में लिखा है । किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी ऐसे भवत का जीवन उसमें नही है जो १७३५ मे उत्पन्न हुआ हो । उन्ही भक्तो का चरित्र है जो १७०० के आस-पास विख्यात थे । अत मृत्यु सवत् १७०० के आसपास ही माननी चाहिए क्योकि अन्तिम रचना का सवत् १६९८ है ।

जन्म-स्थान के विपय में कोई विवाद नही है । हमने स्वय वह स्थान देखा है जहाँ

---

१ राधावल्लभ भक्तमाल—ले० प्रियादास शुक्ल, पृष्ठ ३२८ ।

२. व्रजमाधुरी सार—वियोगी हरि, पृष्ठ १५९–१६० ।

आज भी आपके वशज निवास करते हैं। पुरातन घर भी अभी तक उपस्थित है किन्तु आपके वशजो में आज वैसी वैष्णव-भावना नही है।

वशजो के विषय में प्रसिद्ध है कि वीठलदास (ध्रुवदासजी के पितामह) श्री हित-हरिवशजी के शिष्य थे और जूनागढ स्टेट में दीवान थे। ध्रुवदासजी के पिता श्यामदास भी परम भक्त और साधु-सेवी पुरुष थे। इन्होने हित जी के पुत्र श्री गोपीनाथ जी से राधावल्लभीय दीक्षा ग्रहण की थी। 'राधावल्लभ भक्तमाल' में इनके पिता को विजनौर के राजा सोमदेव के यहाँ नौकर लिखा है।[1] वीठलदास का नाम तो राधावल्लभ सम्प्रदाय की अनेक जन-श्रुतियो में मिलता है। उनके विषय में प्रसिद्ध है कि उनकी मृत्यु जूनागढ में उसी दिन हुई जिस दिन वृन्दावन में श्री हितहरिवश का निकुंज-गमन हुआ। यह भी किम्वदन्ती है कि ध्रुवदासजी परम्परा से राधावल्लभी थे अत जन्मगत सस्कारो के प्रभाव के कारण शैशव में ही विरक्त हो गये और दस वर्ष की अल्पायु में वृन्दावन चले आये। वृन्दावन आकर भजन-पूजन में ऐसे लीन हुए कि उन्हे अपने चारों ओर के ससार का कुछ वोध नही रहा। अपनी भजन-भावना में लीन होकर जव उन्हे सासारिक विषयो का वोध न रहता तव वे वाणी-रचना करते। इस लीन दशा को कुछ लोगो ने उनकी 'सूरदशा' कह दिया है और इसी आधार पर उन्हें जन्माध समझने की भूल की है। यथार्थ में उनकी रचनाओ में कही भी अन्ध दशा का प्रत्यक्ष या परोक्ष सकेत नही है। हाँ, भावना की लीनदशा का वर्णन अवश्य मिलता है, उसे जन्माध दशा नही समझना चाहिए।

## दीक्षा-गुरु

आचार्य पडित रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास मे लिखा है कि—'ये श्री हितहरिवशजी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। यह जनश्रुति आज भी प्रसिद्ध है कि पहले इन्होने आराधना के बल से स्वप्न में मत्र प्राप्त कर लिया था किन्तु मर्यादा-रक्षा के विचार से इन्होने हित महाप्रभु के तृतीय पुत्र श्री गोस्वामी गोपीनाथ जी से विधिवत् दीक्षा ग्रहण की थी। गोस्वामी गोपीनाथ जी देववन्द में ही निवास करते थे और उनके पास श्री रगीलाल ठाकुर की सेवा-परिचर्या का दायित्व था। गोस्वामी जी का जन्म काल-सम्वत् १५८८ है। श्री ध्रुवदासजी ने भी गोस्वामी गोपीनाथ जी का गुरु-रूप में उल्लेख किया है

**"श्री गोपीनाथ पद उर धरे महागोप्य रस सार।**
**बिनु विलम आवै हियै अद्भुत जुगल विहार॥"**

श्री भगवत मुदित तथा जतनलाल जी ने भी गोस्वामी गोपीनाथ को आपका गुरु लिखा है अत दीक्षा-गुरु के विषय में मतभेद का प्रश्न नही उठता।

## वृन्दावन-वास

जैसा कि हमने पहले लिखा है कि आप दस वर्ष की अल्पायु मे ही घरवार त्याग विरक्त-भावना से वृन्दावन आ गये थे। वृन्दावन ही आपका निवास-स्थान बना और जन्म

---

१—राधावल्लभ भक्तमाल—लेखक प्रियादास शुक्ल, पृष्ठ ३२८।

पर्यन्त इसी धाम में रहकर श्याम-श्यामा की क्रीडाओ का वर्णन कर जीवन कृतार्थ करते रहे। वृन्दावन आने के बाद एक दिन के लिए ब्रज की सीमाओ से बाहर पैर नही रखा। वृन्दावन में आपने वनविहार परिक्रमा के रास्ते में अपनी कुटिया बनाई थी। उसी में वास करते हुए भजन में लीन रहते। किम्वदन्ती है कि युगलकिशोर (राधाकृष्ण) इनकी भक्ति-भावना से इतने सन्तुष्ट थे कि जब साय समय वनविहार को निकलते तो ध्रुवदासजी की कुटिया में विश्राम करते। भगवत मुदित ने इस घटना का वर्णन अपने 'रसिक अनन्य माल' मे इस प्रकार किया है।

**वन विहार कौं जब प्रभु जाते इनकी कुटी तहाँ ठहराते।**
**भोग आरती तहाँ जु करते तव निज इष्ट भवन अनुसरते।**

गोस्वामी जतनलाल ने भी इस घटना को इन्ही शब्दो में दुहराया है—

**वन विहार को चलें प्रभु तब इत कौं आवें।**
**इनकी कुटी जु देखि तहाँ आपुन ठहरावें॥**
**भोग आरती भेंट होइ तब भजन पधारें॥**

श्री ध्रुवदासजी ने अपनी 'वनविहार लीला' नामक रचना में इसका वर्णन किया है—

**देखि विपिन जमुना पुलिन ढरें कुटी की ओर।**
**शोभा आवनि चलनि फिरि जो ध्रुव कहै सु थोर॥**

**—वनविहार लीला, दोहा सं० ५४।**

'वृन्दावन सत' नामक अपनी रचना में आपने वृन्दावन-धाम का जैसा माहात्म्य गाया है वह इस बात का प्रमाण है कि आपकी दृष्टि में वृन्दावन से बढकर और कोई धाम नही था। उनके मत मे धाम (वृन्दावन) के ही आश्रित धामी (कृष्ण) हैं। धाम में जब जो भाव उपस्थित होता है उसी का धामी अनुमरण करते हैं अतः धाम स्वय सर्वशक्ति-सम्पन्न और समर्थ है। धाम की ऐसी विलक्षण शक्ति है कि जब वह अपने अनुकूल ऋतु उपस्थित करता है तभी धामी उस ऋतु का स्वागत करने को तैयार होते हैं। इस प्रकार धाम के धामी आश्रित हैं। यह राधावल्लभीय भाव है जिसकी सुचारु रूप से ध्रुवदासजी ने अपने ग्रथो मे स्थापना की है।

## स्वभाव और शील

ध्रुवदासजी अत्यंत नम्र, विनीत, साधुसेवी, सहनशील, और गभीर प्रकृति के महात्मा थे। यदि कभी कोई इनके मन के प्रतिकूल कठोर वचन भी कह जाता तो शात भाव से सुन लेते, कभी आक्रोश या क्रोध में उत्तर नहीं देते थे। शैशव से ही इनका मन युगलकिशोर की रसमयी लीलाओ की ओर आकृष्ट था किन्तु रसलीलाओ के गोप्य होने के कारण प्रत्यक्ष रूप से पदरचना करके गाने का इन्हे साहस न था। आयु की दृष्टि से भी वे छोटे थे, ऐसी स्थिति में सतों और गुरुजनो का सकोच होना स्वाभाविक ही था। अत उन्होने अपने इष्टदेव से स्वीकृति प्राप्त करने की तैयारी की। किम्वदती है कि वे गोविंदघाट के रासमडल पर सर्वेश्वरी श्री राधा से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए राधा नाम का जप करने में लीन हो गये। तीन दिन और तीन रात निरतर समाधि में राधा का जप करने के बाद अर्धरात्रि के समय

राधा ने प्रसन्न हो दर्शन दिया । आपने बडे विनम्र शब्दो में अपना आशय व्यक्त करते हुए प्रार्थना की कि यदि आपकी कृपा हो तो मैं युगलकिशोर के नित्यरस का अपनी वाणी में गान करूँ । कहते हैं कि श्रीराधा ने बडे उल्लास के साथ अनुमति प्रदान की और उसी दिन से ध्रुवदासजी ने पदरचना प्रारम्भ की । इस घटना का वर्णन भगवत मुदित ने अपने रसिक अनन्य माल में इस प्रकार किया है :—

निसि दिन जुगल केलि उर माहै । वानी करि कछु वरन्यौ चाहै ।
सब विधि शेष प्रवेश न मन कौ । कैसे कह्यौ जात गुन तिनकौ ।।
देख्यौ चाहै इक टक रढै । डर आवे मुख तै नहि कढै ।
खान पान तजि मंडल पर्यौ । देख्यौ गुन वरनौ हठि कर्यौ ।।
दिन द्वै गये तीसरौ आयौ । तब राधे को हिय अकुलायौ ।।
आधी रात लात सिर दई । चौंकि पर्यौ नूपुर धुनि भई ।।
वानी भई जु चाहत कियौ । उठि सो वरु वस ताकौं दियौ ।।
ऐसे कहि अन्तर्हित भई । ध्रुव कौ मति रति आनी दई ।।
निरखी दम्पति सपति सिगरी । है वैकुंठ कोटि ते अगरी ।।

—रसिक अनन्य माल—भगवत मुदित कृत
( हस्तलिखित प्रति )

## ग्रन्थ-रचना

इष्टाराध्या राधा से वरदान प्राप्त होने पर ध्रुवदासजी निरन्तर पद-रचना में लीन रहने लगे । काव्य-शास्त्र में आपकी नैसर्गिक रुचि थी । छन्दशास्त्र का भी आपने अच्छा अध्ययन किया था, अत अपनी वाणी का विस्तार आपने किसी एक विशिष्ट शैली तक ही सीमित नही रखा वरन् उस समय की प्रचलित सभी पद्धतियो का यत्किंचित समावेश अपनी वाणी में किया । यद्यपि समस्त ग्रन्थ-रचना मुक्तक ही है—क्योकि आख्यानात्मक प्रबध के लिये विषय-दृष्टि से अधिक अवकाश भी नही था, किंतु आपके मुक्तक काव्य में शैलीगत विविधता देखकर आश्चर्य होता है । जिस विषय को आपने स्वीकार किया उसके अतरतम में पैठकर पूर्ण-रूपेण मर्मोद्घाटन करके ही छोडा है । आत्मा की भाषा ही आपकी काव्य भाषा है, अर्थात् रस परिपाटी को ग्रहण करने के बाद शुद्ध रसात्मक काव्य-रचना ही आपका ध्येय था । भक्ति-मार्ग की सरसता ही आपका उपास्य तत्व बन गया था अत. शुष्कता, रस-विहीनता, क्लिष्टता, दुरूहता आदि दोषो से आपकी वाणी सर्वथा बची रही है । अपने ग्रथो का नाम आपने 'लीला' रखा है । ब्यालीस ग्रथो को अब लीला नाम से व्यवहृत किया जाता है । इन ग्रथो में विविध शास्त्र, स्मृति, पुराण आदि का सार तत्त्व आपने सकलित किया है । भगवत मुदित आपके ग्रथो के विषय में लिखते हैं

आरष पौरुष ग्रन्थ निहारत । कुजनि नित्य बिहार निहारत ।।
श्रुति सुस्मृति पुरान मत भाषा । करि उपाइ जननि अभिलाषा ।।
केलि रहसि दम्पति की वरनी । कही जु रसिक अनन्यनि करनी ।।

प्रेम नेम सिद्धान्त जु कीनों। व्रज विनोद न्यारो करि दीनों॥
कुंज महल पिय प्यारी सखी। अद्भुत केलि कही जो लखी॥
नव-नव लीला हिय में भासी। ते रसिकन हित सबै प्रकासी॥
सत सिंगार आदि रचि ग्रन्थ। दरसायौ जीवन हित पन्थ॥
नाम वरन पट टहल सखिन की। तत्र पुरातन मत सु लिखन की॥
कोमल वानी सबकों भावै। अक्षर पढ़त अर्थ दरसावै॥
—रसिक अनन्य माल, भगवत मुदित।

श्री ध्रुवदासजी लिखित ब्यालीस ग्रन्थ विख्यात हैं। वे ब्यालीस लीला नाम से भी व्यवहृत होते हैं। यथार्थ में इन्हें ग्रंथ नाम देना उचित नही है क्योकि सब में न तो ग्रन्थ-कोटि की व्यापकता है और न वर्ण्य-वस्तु की दृष्टि से ग्रथ की मर्यादा का पालन ही। कोई-कोई लीला तो केवल आठ दोहो मे वर्णित हुई है। प्रत्येक दोहा मुक्तक शैली से स्वतन्त्र है। ग्रन्थात्मकता का उसमें आभास तक नही मिलता फिर ग्रन्थ नाम देने से यह भ्रम होता है कि किसी विशद-व्यापक वर्ण्य-वस्तु का इसमें सर्वांगीण ग्रथन होगा किंतु वस्तु-स्थिति सर्वदा प्रतिकूल दृष्टिगत होती है। इन ग्रथो के साथ लीला शब्द का व्यवहार भी रस-पद्धति के कारण हुआ है। यह आवश्यक नही है कि प्रत्येक ग्रथ में किसी लीला का वर्णन हो। लीला-वर्णन का अधिकाश ग्रथो मे अभाव है किंतु साम्प्रदायिक परिपाटी के कारण इनके ग्रन्थो को लीला कह देते हैं। ब्यालीस लीला के अतिरिक्त आपके १०३ फुटकर पद और मिलते हैं जिन्हे पद्यावली शीर्षक से 'ब्यालीस लीला' मे स्थान मिलता है। प्रत्येक ग्रन्थ का विस्तारपूर्वक वर्णन हम इसी अध्याय में करेंगे किंतु उससे पहले सक्षेप में इन ब्यालीस ग्रंथो के वर्ण्य-विषय पर विचार करना आवश्यक समझते हैं। छतरपुर और दतिया के संग्रहालय में कुछ ग्रथो की सूची मिलती है यदि उनकी पूरी छानबीन की जाय तो सम्भव है ध्रुवदासजी के कुछ अन्य ग्रंथो का पता चले।

## ब्यालीस लीला का प्रतिपाद्य

श्री ध्रुवदासजी रचित ग्रथो का प्रतिपाद्य राधावल्लभ सम्प्रदाय का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करना है। निकुंज लीला (नित्यविहार) वर्णन करने के लिए लीला के विधायक अन्य उपादानो का वर्णन आवश्यक होता है। ध्रुवदासजी ने अपनी मुक्तक रचना में इस वात का निरंतर ध्यान रखा है कि प्रेमलक्षणा मधुरा भक्ति का जैसा रूप राधावल्लभीय मत मे गृहीत हुआ था उसका ही सागोपाग विवेचन-विश्लेपण अपनी वाणी द्वारा किया जाय। इसी कारण सैद्धातिक दृष्टिकोण को हृदयगम करने के लिए आपकी वाणी से अधिक स्पष्ट और गभीर किसी अन्य महानुभाव की वाणी नही है। दूसरे शब्दो में हम कह सकते है कि व्याख्यापरक दृष्टि से तत्त्ववोध का इतना व्यापक प्रयत्न अद्यावधि इस सम्प्रदाय में आपको छोडकर किसी और ने नही किया। जटिल और दुर्बोध तत्वो को समझाने के लिए आपने वचनिका (गद्यवार्त्ता) का भी प्रयोग किया है और अनेक दुरूह प्रश्नो को उसमें वडी सरल और सुवोध शैली से सुलझाया है।

'ब्यालीस लीला' में प्रतिपादित विपयो को हम निम्न शीर्पको में विभक्त कर सकते हैं—

(१) वृन्दावन-माहात्म्य और धाम का राधावल्लभ सम्प्रदाय में स्थान।
(२) भक्त महानुभावो का सक्षिप्त परिचय।
(३) प्रेम और काम की स्थिति (सैद्धातिक विवेचन)।
(४) प्रेम और नेम की स्थिति, प्रेम और मान की स्थिति, प्रेम और विरह की स्थिति।
(५) निकुजलीला और नित्यविहार (व्यापक रूप से आद्योपान्त वर्णन है)।
(६) निकुज लीला में सखियो का स्थान, और सखियो का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन।
(७) युगल ध्यान का महत्त्व और राधावल्लभीय रूप।
(८) विविध लीलाओ का रसपरक वर्णन (दानलीला, मानलीला, वनविहार आदि)।
(९) राधा-कृष्ण के प्रेम की विभिन्न दशाओ का माधुर्यपरक वर्णन (शृगारपूर्ण)।
(१०) श्रीराधा का स्वरूप और नामावली।
(११) रसोपासना के विविध उपादान और उनकी स्वरूप-स्थापना।
(१२) रसोपासना में विधि-निषेध की स्थिति।
(१३) रसभक्ति में नख-शिख, ऋतु वर्णन और नायक-नायिका वर्णन की अनिवार्यता (शृगार का भक्ति में पर्यवसान)।
(१४) इष्टाराधना और अनन्य भक्ति का रूप (राधावल्लभीय सिद्धान्त-दृष्टि)।
(१५) नैतिक आचार, मर्यादा और जीवन का व्यवहार-पक्ष (व्यापक जीवन-दृष्टि)।

उपर्युक्त शीर्षको के भीतर ही अन्य छोटी-मोटी अनेक वातो का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि इन तत्त्वो का विस्तार किया जाय तो राधावल्लभ सम्प्रदाय का समस्त तात्त्विक विवेचन सम्भव है। हम इन्ही शीर्षको के आधार पर श्री ध्रुवदासजी की रचनाओ के प्रतिपाद्य विषय का सक्षेप में अनुशीलन करेंगे। तदनन्तर प्रत्येक लीला (ग्रन्थ) पर स्वतत्र रूप से भी पृथक् विचार किया जायगा। ग्रथ-विचार के अतर्गत ही भाषा, शैली, रस, अलकार, अभिव्यजना आदि काव्य-सौष्ठव सम्बन्धी शास्त्रीय विषयो पर विचार होगा।

## वृन्दावन का स्वरूप और माहात्म्य

'वृन्दावन सत लीला' नामक ग्रन्थ में सौ दोहों में आपने वृन्दावन धाम का महत्त्व बडे विस्तार से गाया है। वृन्दावन को आप उपास्य तत्त्व का प्रधान अग मानते हैं अत वह भी रहस्यमय, गूढ और दुर्बोध है। श्रीराधा-कृपा के बिना वृन्दावन का स्वरूप भक्त के लिए दुर्लभ बना रहता है —

यह आशा धरि, चित्त में कहत यथामति मोर।
वृन्दावन सुख रग को, काहुन पायो ओर ॥ स० ४।
दुर्लभ, दुर्घटना सब निते, वृन्दावन निज मौन।
नवल राधिका कृपा बिनु कहिधौं पावै कौन ॥ स० ५।
वृन्दावन दुतिपत्र की उपमा को कछु नाहिं।
कोटि-कोटि बैकुठ हू तेहि सम कहे न जाहिं ॥ स० १४।

वृन्दावन नित्य है, उसका आदि-अन्त नही है, उसे त्रिगुणात्मक माया का स्पर्श भी नही होता

समस्त ससार से भिन्न, नित्य-किशोर नित्य-किशोरी की क्रीड़ास्थली वृन्दावन को प्राप्त करना सहज नही है। वृन्दावन का वैभव वर्णनातीत है, उसे देख कर कमला को भी लालच पैदा होता है। वृन्दावन की लताओं की समता कल्पतरु भी नही कर सकता। जिसके मन में वृन्दावन-वास की इच्छा नही है ऐसे माता, पिता, मित्र, पुत्र, पत्नी सबको त्याग देना चाहिए। वृन्दावन मे रहते हुए यदि दुर्भाग्यवश भजन-पूजन न भी बन पडे तो कोई हानि नही, क्योकि व्रजरज और जमुना-जल तो सहज रूप से सुलभ होता ही रहेगा और वही जीवनोद्धार के लिए पर्याप्त है। चौदह भुवनो से न्यारा यह वृन्दावन कभी महाप्रलय के चक्कर मे नही पडता।

'आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद बन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि॥'
'न्यारो है सब लोक ते वृन्दावन निज गेह।
खेलत लाड़िली लाल जह, भीजे सरस सनेह॥'
'वृन्दावन वैभव जितौ, तितो कह्यौ नहिं जात।
देखत सम्पत्ति विपिन की कमलाहू ललचात॥'
'वृन्दावन की लतासम कोटि कल्पतरु नाहिं।
रज की तुल वैकुंठ नहिं और लोक किहि माँहि॥'
'वृन्दावन के वास को जिनके नहीं हुलास।
माता मित्र सुतादि तिय तजि ध्रुव तिनको पास॥'
'वृन्दावन में जो कवहूँ, भजन कछू नहिं होय।
रज तो उड़ि लागै तनहिं, पीवै जमुना तोय॥'
'न्यारो चौदह लोक तें, वृन्दावन निज भौन।
तहाँ न कवहूँ लगत है, महा प्रलय की पौन॥'
—वृन्दावन सत लीला—पृष्ठ १८–२१।

'वृहद् वावन पुरान की भाषा लीला' मे भी वृन्दावन का वर्णन इसी शैली मैं हुआ है:

'वृन्दावन महिमा कछू कहत हौं सो सुनि लेहु।
द्रुम द्रुम प्रति अरु लता रति लपट्यो सहज सनेह॥'
'न्यारो चौदह लोकतें वृन्दावन निज धाम।
इक छत विलसत रहत नित सहजहिं श्यामाश्याम॥'
—वृहद् वावन पुरान की भाषा लीला—पृ० ४०।

'भजन सत लीला' में भी वृन्दावन का वहुत अधिक महत्व कहा है—

जे नर निन्दत मंद मति वृन्दावन को वास।
सपनेहुँ परस न कीजिए तजि ध्रुव तिनको पास॥
—भजन सत लीला—पृष्ठ ७४।

वहु बीती थोड़ी रही सोऊ वीती जाइ।
हित ध्रुव वेगि विचारिकै बसि वृन्दावन आइ॥

वसि वृन्दावन आइ लाज तजिकैं अभिमानैं।
प्रम लीन ह्वै दीन आपको तृण सम जानैं ।।
सकल भजन को सार सार तू करि रस रीती।
रे मन देखि विचारि रही कछु इक वीती ।।
—भजन सत लीला—पृष्ठ ७६।

ध्रुवदासजी ने अपने ग्रन्थो में वृन्दावन को जो महत्त्व दिया है वह साम्प्रदायिक निष्ठा के आधार पर है। भागवत पुराण आदि में भी वृन्दावन को पवित्रतम धाम कहा है किन्तु इसी अवनि पर स्थित वृन्दावन को इतना महत्व कही और नही दिया गया।

## नित्यविहार और निकुंज-लीला

निकुजलीला सम्बन्धी पदो में ध्रुवदासजी ने शृगार के माध्यम से जिस सयोग भाव की स्थापना की है वह राधावल्लभीय नित्यविहार का पोषक भाव है। 'भजन शृगार सत लीला' में इस लीला का वर्णन करने वाले १२५ कवित्त और सवैया तथा २५ दोहे मिलाकर १५० पद हैं। काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से पूर्व 'भजन शृगार सत लीला' बहुत ही उच्चकोटि की रचना है। निकुजलीला प्रारम्भ करने से पूर्व श्रीकृष्ण और राधा के स्वाभाविक रूप तथा कृत्रिम वेश-विन्यास और प्राकृतिक वैभव का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण के नीलाम्बर और राधा के सीसफूल की ओर भक्त का ध्यान आकृष्ट करते हुए निकुजलीला का उपक्रम हुआ है। इसके उपरान्त राधा के वेश-विन्यास का वर्णन बडे विस्तार के साथ पूरी भव्यता से हुआ है। यदि इन कवित्त-सवैयो में अतर्निहित विहारभाव का मर्म हृदयगम न किया जाय तो बाह्य रूप से सयोग शृगार का वर्णनमात्र ही इनसे व्यक्त होगा। रीतिकालीन कवियो के समान अभिव्यजना देखकर सामान्य शृगार-वर्णन का भ्रम होना स्वाभाविक है। निम्नाकित कतिपय उदाहरणो से निकुजलीला और शृगार-वर्णन की शैली स्पष्ट हो सकेगी—

फूलि फूलि रहे सब फूल फुलवारी में के
रीझि रीझि छवि आइ पाइनि में परी है।
लाडिली नवेली अलबेली सुख सहज ही
निकसि निकुज ते अनूप भाँति खरी है।
नखशिख भूषन लावण्य ही कैं जगमगैं
दीठ सौं छुवत सुकुमार ताहू डरी है।
हित ध्रुव मुकनि हेरत विकाइ रहे
दामिनी की दुति अरुहीरन हरी है ।।[1]

नेत्र-वर्णन में आलकारिक परिपाटी को स्वीकार किया है —
बडे-बडे उज्ज्वल सुरंग अनियारे नैना,
अजन की रेख हरे हियरो सिरात हैं।

---

१ भजन शृगार सत लीला—प्रथम शृंखला, पृष्ठ ८१।

चपलाई खंजन की अरुनाई कजन की,
उपराई मोतिन की पानिप लजात हैं।
सरस सलज्ज नये, रहत हैं प्रेम भरे,
चंचल न अंचल में कैसे हूँ समात है।
हित ध्रुव चितवनि छटा जेही कोट परैं,
तेही ओर वरपासी रूप की ह्वै जात है॥
डीठि हू को भार जानि देखत न डीठि भर
ऐसी सुकुमारी नैन प्रानहू ते प्यारी है।
माधुरी सहज कछू कहत न वनि आवै
नेकही के चितवत चकित विहारी है।
कौन भाँति सुख की अनूप कांति सरसाति
करत विचार तऊ जात न विचारी है।
हित ध्रुव मन पर्यो रूप के भवँर मांझ
नेह बस भये सुधि देह की विसारी है।[1]

रूपक अलकार मे राधाकृष्ण का शैया-विहार वर्णन किया है :—

सेज सरोवर राजत है जल मादिक रूप भरे तरुनाई।
अगनि आभा तरंग उठै तहाँ मीन कटाक्षनि की चपलाई॥
प्यासी सखी भरि अञ्जलि नैन पियैं ते गिरी उपमा ध्रुव पाई।
प्रेम गयन्द ने डारे हैं तोरिकै कंचन कज चहूँ दिशि भाई॥[2]
आनंद पुञ्ज सुहाग की कुञ्ज में सेज सुदेश सुरग सुहानी।
लै ध्रुव फूल अनूप दुकूल रची सुख मूल सुगंध सों सानी॥
दूलहु दोउ विचित्र महा कलही कल कोक कला कल ठानी।
पै रस रग तरग अभग भई लव रैनि विहात न जानी॥[3]

निरन्तर एक दूसरे की ओर निहारते हुए भी रूपदर्शन की तृषा शान्त नही होती, यह सयोग में भी विरह भाव की सृष्टि करने वाली विचित्र दशा है। नित्यविहार में इस दशा का वर्णन अनेक रूप से किया जाता है। ध्रुवदासजी ने राधा के रूप को प्यास (दर्शन की इच्छा) का ही रूप ठहराया है।

'ज्यो-ज्यो लाल देखे मुख नैनन को तृषा होत
प्यारी जू को रूप मानो प्यास ही को रूप है।
डीठि-डीठि रही मिलि जैसे एक धारा ध्रुव,
हौं हूँ भूली देख दशा अति ही अनूप है।

---

१. भजन शृङ्गार सत लीला—प्रथम शृङ्खला—पृष्ठ ८३, ८८।
२. ,, ,, ,, —द्वितीय शृङ्खला—पृष्ठ ६१।
३. ,, ,, ,, — ,, ,, — ,, ६४।

कौन रस स्वाद गह्यौ कैसे हू न जात कह्यौ ।
जानत न छांह और कैसी होत धूप है ।
और सुख जेते सब भये हैं पतग रस—
राज के सुखन पर प्रेम मान भूप है ।'[1]

नित्यविहार को स्पष्ट करने वाले दो सवैये यहां उद्धृत किये जाते हैं —

'न आदि न अन्त विलास करैं दोउ लाल प्रिया से भई न चिन्हारी ।
है नई भांति नई छवि कान्ति नई नवला नव नेह विहारी ।।
रहैं मुख चाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वस हारी ।
रहैं इक पास करैं मृदु हास सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथा री ।।'[2]

'रूप की राशि किशोर किशोरी रगे रस केलि निकुञ्ज विहारा ।
मातै अनंग प्रवीन सबै अङ्ग फूल सरीसहु ते सुकुमारा ।।
बसौ उर नैनन में दिन रैन नशौ मन के जिते आहि विकारा ।
जांचत बात न और कछू ध्रुव देहु प्रिये रस प्रेम की धारा ।।'[3]

## प्रेम का स्वरूप

प्रेम का स्वरूप राधावल्लभ सम्प्रदाय में विलक्षण है । यथार्थ में प्रेम के ऊपर ही यह सम्प्रदाय स्थिर है । श्री राधावल्लभ लाल और प्रेमतत्त्व इन दोनो में कोई भेद नही है । ध्रुवदासजी ने अपनी सिद्धात सम्बन्धी वचनिका में (गद्यवार्ता) तथा प्रेमावली लीला में प्रेमतत्त्व का बड़े सूक्ष्म रूप से विवेचन किया है । प्रेम को ही ससार का आदि, मध्य और अवसान मानकर उसी पर समस्त ससार को निर्भर माना है ।

प्रेम मदन कौ सुख जहां सहज प्रेम सिंगार ।
आदि मध्य अवसान इक-इक रस विमल विहार ।।
प्रेमी बिछुरत नाहि कहूँ मिल्यौ न सो पुनि आहि ।
कौन एक रस प्रेम कौ कहि न सकत ध्रुव ताहि ।।
अङ्ग-अङ्ग सब लाल के झुकत प्रिया की ओर ।
सहज प्रेम का ढर पर्यौ बधे नेह की डोर ।।

प्रेमावली लीला—पृष्ठ १७८-८९ ।

'ख्याल हुलास लीला' में प्रेम की समीक्षा करते हुए ध्रुवदासजी ने प्रेम को सुखातिशय तथा दुखातिशय दोनो का स्रष्टा कहा है । प्रेम-पथ को दुरूह भी कहा है, उपादेय भी । प्रेम को स्वीकार किये विना जीना भी व्यर्थ है और प्रेम पाना दुर्लभ भी है । प्रेम-पथ को उल्टा बताते हुए उसकी विचित्रता का बडी सुन्दर शैली से इस लीला में वर्णन मिलता है ।

---

१ भजन शृङ्गार सत लीला—तृतीय शृङ्खला—पृष्ठ १०३ ।
२ ,, ,, ,, — ,, ,, ,, १०२ ।
३. ,, ,, ,, — ,, ,, — ,, १०९ ।

प्रीति समान न और सुख, दुखहू होत अपार ।
मिलिवो सुख, दुख विछुरिवो यह कीनौ निरधार ॥
महाप्रेम निज मधुर अति सबतें न्यारो आहि ।
तहाँ न मिलिवो विछुरिवो जीवत रूपहि चाहि ॥
चढ़िकै मैन तुरंग पै चलिवो पावक माँहि ।
प्रेम पंथ ऐसो कठिन सब कोऊ निवहत नाँहि ॥
उलटो पथ है प्रेम को तहाँ रह्यौ मन हारि ।
यशहू सुनि लागत वुरो मीठी लागत गारि ॥

—ख्याल हुलास लीला, पृष्ठ २२-२६ ।

इस प्रसग मे हम एक विशेष दोहे की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं जिसमे ध्रुवदास जी ने स्वदेश (भारतवर्ष) में उत्पन्न होने की कामना की है। भक्ति और रीति-कालीन हिन्दी कवियो मे भूषण को छोड़कर किसी का ध्यान स्वदेश-भारतवर्ष की ओर नही गया। ध्रुवदासजी ने प्रेम के प्रसग में 'ख्याल हुलास लीला' मे भरतखंड मे जन्म होने की इच्छा व्यक्त की है।

ज्ञान सहित नर देह वर भरत खंड में होइ ।
जो नहि समुझै प्रेम रस ताकौ रहिये रोइ ॥

—ख्याल हुलास लीला—पृष्ठ २७ ।

'प्रीति चौवनी लीला' में भी प्रेम का ही विशद विस्तार है। प्रेम की परिभाषा तथा स्वरूप-निर्धारण के लिए कई सुन्दर दोहे ध्रुवदासजी ने कहे हैं जो प्राकृत, सासारिक प्रेम को पारमार्थिक प्रेम से पृथक् करने वाले हैं। संसारी प्रेम क्षणिक और स्व-सुख कामनापूर्ण होता है। जब तक मन विषय-वासनाओ में भटकता रहता है तव तक प्रेम-पथ का पथिक नही हो सकता। ससार में भ्रमर, शलभ, हरिण, मछली और हाथी विषय-सुख के कारण प्रेम का मार्ग स्वीकार करते हैं, किन्तु इनकी निष्ठा शाश्वत प्रेम पर नही होती फलतः इन्द्रियेच्छा सुख-भोग के लिए शरीर त्याग कर भी अनाविल प्रेम को वरण नही कर पाते। प्रेम की चर्चा तो वहुत है परन्तु प्रेम का सच्चा रूप जगत् में वहुत कम दिखाई देता है। समस्त सासारिक सम्बन्धो में जो रागात्मक सूत्र समान रूप से अनुस्यूत है उसका आधार प्रेम है किन्तु वही ऐकान्तिक प्रेम नहीं है।

आदि अन्त जाको भयो सो सब प्रेम न रूप ।
आवत जात न जानिये जैसे छाह रु धूप ॥
प्रेम बात हूँ वात में सूक्षम कहो न जाय ।
तन तरवर को छाँड़िकै मनहि भुलावै आय ॥
अलि, पतंग, मृग, मीन, गज चातक चकइ चकोर ।
ये सब झूठे नेह में बँधे विषय की डोर ॥

—प्रीति चौवनी लीला, पृष्ठ ५८ ।

प्रेम का स्वरूप स्थिर करने के बाद माधुर्य भक्ति-परक प्रेम को इसमे अभिन्न ठहराया है। प्रेम के मार्ग में नवधा भक्ति तथा विविध नेम (नियम) सब छूट जाते हैं।

महा माधुरी प्रेम रस आवै जिहि उर माँहि।
नवधा हू तिहि रुचै नहिं नेम सबै मिटि जाँहि॥
प्रीति रीति अति कठिन है कहै न समुझै कोइ।
प्रेम बान जिहि उर लगै निसि दिन जानै सोइ॥
भजन कुंडलियाँ, पृष्ठ ६६।

'प्रेम लता लीला' में प्रेम का स्वरूप बताते हुए कहा है जो अपना शरीर-सुख—आत्म-सुख—चाहते हैं वे प्रेम के मर्म को तनिक भी नही समझते। प्रेम तत्सुख सुखित्व भाव मे ही होता है, स्वसुख की कामना प्रेम नही है।

"जिन नहिं समुझ्यौ प्रेम रस तिनसौं कौन अलाप।
दादुर हूँ जल में रहे जानै मीन मिलाप॥
खान पान सुख चाहत अपने तिनको प्रेम धुवल नहिं सपने।
जो या प्रेम हिंडोरें झूलै, तिनको और सबै सुख भूलै॥
प्रेम रसा सब चाख्यौ जबहीं, औरे रग चढै ध्रुव तबहीं।
या रस प्रेम परै मन आई, मीन नीर की गति ह्वै जाई॥
निसि दिन ताहि न कछू सुहाई, प्रीतम के रग रहे समाई।
रुचै सोई जो ताकौ भावै, ऐसी नेह की रीति कहावै॥
जो रस लाल लडैती माहीं, ऐसो प्रेम और कहूँ नाहीं॥"

ध्रुवदासजी ने प्रेम का बड़ा व्यापक रूप से वर्णन किया है। प्रत्येक ग्रथ में किसी न किसी रूप में प्रेम की चर्चा है और उसे प्राकृत प्रेम से पृथक् करने की ओर उनका सतत ध्यान रहा है। काम और प्रेम, प्रेम और नेम, प्रेम और विरह, प्रेम और प्रतीति आदि विषयो का अलग-अलग वर्णन करके दोनो के व्यावर्त्तक धर्मो का भी निर्णय किया है।

## विधि-निषेध-मर्यादा

राधावल्लभ सम्प्रदाय की प्रमुख विशेषता यही है कि विशुद्ध वैष्णव भावना के पोषक होने पर भी इस सम्प्रदाय में अनेक रूढ़िगत विधि-निषेधो को ग्रहण नही किया गया। एकादशी व्रत, तीर्थाटन, तिलक-कठी आदि बाह्याचारो की ओर इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक का मोह नही था। भुजमूल पर तिलक-त्रिपुंड बनाने वाले ढोंगी भक्तो का स्वय हितहरिवश जी ने उपहास किया है। ध्रुवदासजी ने इस विषय में अपने आचार्य का ही अनुगमन किया है। 'जीव दशा लीला' में नाम-माहात्म्य वर्णन करते हुए अन्य सब कर्मकाडो को व्यर्थ कह दिया है —

'व्रत तप निगम नेम यम सजम करहु कलेश कोटि किन भारी।
इनमें पहुँच नाहिं काहू की परे रहत ज्यों द्वार-भिखारी।

जोग यज्ञ फल भेंट करत हैं तीरथ सब कर लीनें झारी ।
धर्म मोक्ष कोउ पूछत नाहीं इन मग सिद्धं कौन विचारी ।।'

—जीवदशा लीला, पृष्ठ ३ ।

'मन शिक्षा लीला' में अनेक व्यावहारिक नीतिपरक वातो का वर्णन करते हुए ध्रुवदास जी ने रूढियो को त्यागने का स्पष्ट संकेत किया है—

कह अचार अपरस कहा, कह सयम व्रत नेम ।
कहा भजन विधि सौं विध्यौ, जो नहिं परस्यौ प्रेम ।।

+ + +

अपरस ग्यान समान यम, भजन धर्म आचार ।
पाहन कवहुँ न होत मृदु, पर्‍यौ रहै जलधार ।।
विधि-निषेध के बंद हैं, और धर्म मृग भानि ।
केहरि पुनि निर्बन्ध है, भगवत धर्मंहि जानि ।।

विधि-निषेध के सम्वन्ध में वचनिका में वहुत ही स्पष्ट रूप से सिद्धान्त स्थिर करते हुए इसे गौण ठहराया है। सच्चे भक्त के लिए किसी प्रकार के वाह्य कर्मकाड की कोई आवश्यकता नही रहती । 'सिद्धान्त विचार लीला' मे कहा है—'श्री वृन्दावन में जो कोई निमित्त, तिथि विधि मानैं सो भली नाही, श्री लाडिलीलाल जू जहाँ नित्य विहार करत हैं।' एक स्थल पर और कहा है—'अति आचार अनाचार समान हैं। रांधे अन्न विपय कछू न मानै । जो भोग श्री जी को न लाग्यौ तो सव वरावर। कहा काचो कहा पाको। वैष्णव सदाचार के लिए आचार करै। मन में विश्वास न धरै कि याही तें कारज सिद्ध होइगो। वहुत आचार ते हियौ अति कठोर होइ जाइ है। यह भजन अति कोमल है, कोमल कठोर एक सग न वनै।'

—सिद्धान्त विचार लीला, पृष्ठ ५३ ।

## ध्रुवदासजी के ग्रंथों का परिचय

श्री ध्रुवदासजी-रचित ग्रथो की सख्या व्यालीस है। हमने इनके ग्रथो के विषय में प्रारम्भ में कहा है कि इन्हे ग्रथ या लीला सज्ञा देना अधिक युक्तियुक्त और समीचीन नही है क्योकि इनमें से अधिकाश न तो आकार-प्रकार में ग्रथ का कलेवर रखते हैं और न विषय-वस्तु की दृष्टि से ही उन्हे ग्रथ कहा जा सकता है। आठ-आठ दोहो के फुटकर सकलन को ग्रन्थ या लीला सज्ञा देना किसी प्रकार भी उचित नही है। लीला शब्द तो अत्यधिक भ्रामक है। सामान्यत श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ से सम्वद्ध रचनाओ को ही लीला कहा जाता है, जैसे, दानलीला, मानलीला, माखन लीला, चीरहरण लीला आदि। किसी तत्ववोध को लीला नाम से व्यवहृत करने की साधारणत परिपाटी नही है। ऐसा प्रतीत होता है प्रारम्भ में किसी सग्रहकर्ता ने इनकी समस्त रचनाओ को सकलित कर उन्हे 'व्यालीस लीला' नाम दे दिया होगा, तव से यही नाम प्रयोग में आता रहा है। इसके वाच्यार्थ या व्यग्यार्थ का किसी ने विचार नही किया, केवल रूढ अर्थ में ही व्यवहार होता चला आ रहा है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायियो ने ध्रुवदास जी की रचनाओ को 'व्यालीस लीला' नाम से प्रकाशित कराया है। अभी तक तीन स्थानो से इनका प्रकाशन हुआ है। प्रथम सस्करण अप्राप्य है। द्वितीय सस्करण कानपुर के सेठ लक्ष्मीनारायण जी ने प्रकाशित किया था जो उपलब्ध होता है। तृतीय सस्करण बाबा तुलसीदास ने वृन्दावन से सम्वत् २०१० में प्रकाशित किया है। हमने इसी सस्करण से पद्यादि उद्धृत किये हैं और इसी सस्करण की पृष्ठ-सख्या दी है।

ध्रुवदासजी के कुछ ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से भी प्रकाशित हुए हैं। भारत जीवन प्रेस में बाबू रामकृष्ण वर्मा ने 'ध्रुवसर्वस्व' नाम से कई ग्रथ छापे थे। नागरी प्रचारिणी सभा काशी से 'भक्त नामावली' प्रकाशित हुई है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज-रिपोर्टों में इनके ग्रथो का अनेक स्थलो पर उल्लेख है। एक ही ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं जो इस बात का प्रमाण हैं कि इनकी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा में पढी जाती रही हैं और राधावल्लभीय वैष्णवो से इतर वैष्णव-समाज में भी उनका आदर-मान रहा है। हस्तलिखित प्राप्त ग्रथो की एक तालिका हमने इसी अध्याय में दी है जिसे पढकर इनकी रचनाओ के प्रचार का अनुमान सहज ही मे लगाया जा सकता है।

ध्रुवदासजी के ग्रथो की सख्या अब बयालीस निर्धारित हो चुकी है किन्तु कुछ समय पहले इसमें थोडा-सा विवाद था। श्री वियोगी हरि ने अपने 'ब्रजमाधुरी सार' ग्रन्थ में इनके चालीस ग्रथो की सूची दी है जिसमें दो ग्रन्थ—'ब्याहुलो और ब्यालीस बानी' हमारी सूची में नही हैं। हमारी सूची के चार ग्रन्थ वियोगी हरिजी की सूची में नही मिलते—१—प्रियाजी की नामावली, २—आनन्दाष्टक, ३—भजनाष्टक, ४—जुगल ध्यान। वियोगी हरिजी ने जिन चार ग्रथो को छोड दिया है वे यथार्थ में ग्रथ जैसे प्रतीत भी नही होते किन्तु व्यालीस लीला नाम से जो सकलन प्रारम्भ से चला आ रहा है उसमें इन्हे स्थान मिला है। 'ब्याहुलो' और 'ब्यालीस बानी' को वियोगी हरिजी ने स्वतत्र ग्रथ माना है किन्तु इनमें 'ब्याहुलो' तो स्वतत्र पदो में गिना जाता है। ब्यालीस बानी का नाम भ्रम से दिया गया है। यथार्थ में 'ब्यालीस लीला' को ही यह नाम प्राप्त हो गया है।[1] वियोगी हरिजी ने अपनी सूची के तीन ग्रंथो के विषय में सन्देह प्रगट करते हुए लिखा है कि 'मन शिक्षा', 'ख्याल हुलास लीला' और 'ब्यालीस बानी' ग्रथ इन ध्रुवदासजी कृत प्रतीत नही होते। इस सदेह का कोई आधार नही लिखा गया है। यह ठीक है कि ब्यालीस बानी तो सकलनकर्त्ता का दिया हुआ नाम है कोई स्वतत्र रचना नही, किन्तु 'मन शिक्षा' और 'ख्याल हुलास लीला' को हम इन्ही ध्रुवदासजी की रचना मानते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में ध्रुवदासजी के ३७ ग्रथो की सूची दी है। वियोगी हरि की सूची के ब्याहुलो ग्रथ का नाम इसमें भी है किन्तु 'ब्यालीस बानी' का नाम नही है। 'मन शिक्षा' और 'ख्याल हुलास' को भी शुक्लजी ने नही गिनाया है। भजनाष्टक, आनन्दाष्टक, प्रियाजी की नामावली और जुगल ध्यान का भी समावेश

१—ब्रजमाधुरी सार—श्री वियोगी हरि, पृष्ठ १६०।

नही है। इन ग्रंथो को ध्रुवदास कृत न मानने का कोई कारण किसी ने नही दिया किन्तु इस सदेह का मूल कारण खोज में प्राप्त हस्तलिखित प्रतियाँ हैं जिन्हे देखकर इस भ्रम को अवकाश मिला है। इस सम्बन्ध में हम सम्बद्ध ग्रथ की समीक्षा में ही विस्तार से अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।[1] इनके ग्रंथो के विषय मे 'मिश्रबन्धु विनोद' में 'बानी' नामक एक स्वतन्त्र ग्रथ का उल्लेख है। यह ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नही हुआ है।[2]

## ग्रन्थों की तालिका

| | |
|---|---|
| १—जीव दशा लीला | २—वैद्यक ज्ञान लीला |
| ३—मन शिक्षा लीला | ४—वृन्दावन सतलीला |
| ५—ख्याल हुलास लीला | ६—भक्त नामावली लीला |
| ७—बृहद् वावन पुराण की भाषालीला | ८—सिद्धान्त विचार लीला (गद्यवार्त्ता) |
| ९—प्रीति चौवनीलीला | १०—आनन्दाष्टक लीला |
| ११—भजनाष्टक लीला | १२—भजन कुण्डलिया लीला |
| १३—भजन सत लीला | १४—भजन शृङ्गार सत लीला |
| १५—मन शृंगार लीला | १६—हित शृंगार लीला |
| १७—सभामडल लीला | १८—रस मुक्तावली लीला |
| १९—रस हीरावली लीला | २०—रस रतनावली लीला |
| २१—प्रेमावली लीला | २२—प्रियाजी नामावली लीला |
| २३—रहस्य मजरी लीला | २४—सुख मंजरी लीला |
| २५—रति मजरी लीला | २६—नेह मजरी लीला |
| २७—वन-विहार लीला | २८—रगविहार लीला |
| २९—रसविहार लीला | ३०—रंग हुलास लीला |
| ३१—रंग विनोदलीला | ३२—आनन्ददशा विनोद लीला |
| ३३—रहस्य लता लीला | ३४—आनन्द लता लीला |
| ३५—अनुराग लता लीला | ३६—प्रेमदशा लीला |
| ३७—रसानन्द लीला | ३८—ब्रजलीला |
| ३९—जुगल ध्यान लीला | ४०—नृत्यविलास लीला |
| ४१—मानलीला | ४२—दान लीला |

१—हिन्दी साहित्य का इतिहास—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१६।

२—"इनके व्यासीस लीला, वानी और पदावली ग्रन्थ हमने छतरपुर में देखे। ये उपर्युक्त नामावली में नहीं हैं। वाणी में ब्रजभाषा द्वारा शृंगार रस के सवैया, कवित्त इत्यादि तथा अन्य छन्दों में श्रीकृष्ण चन्द्र की लीलाओं के वर्णन ३०० पृष्ठ फुलस्केप साइज पर बड़े ही सरस तथा मधुर किये गये हैं।"

—मिश्रबन्धु-विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३९९

## पद्यावली

प्रियाजी की नामावली, लालजी की नामावली, शृ गार स्नान के फुटकर पद, उत्थापन समय के पद, वनविहार समय के पद, व्याहुलो के पद, कुल पद सख्या १०३ । सभव है पद सख्या और भी हो किन्तु प्रकाशित पद इतने ही हैं ।

१ जीवन-दशा-लीला

सासारिक माया-मोह मे आवद्ध जीव के उद्‌वोधन के लिए इस ग्रथ की रचना की गई है । यथार्थ में जीव परमात्मा से वियुक्त होकर इस ससार में भटकता रहता है । उसे यह भी पता नही रहता कि जिस शरीर को वह अपना समझ रहा है वह क्षणभगुर है—ससार के और नाते-रिश्ते तो काल्पनिक हैं ही । सावन मास की सरिता की तरह आयु व्यतीत हो जाती है और अन्त मे पश्चात्ताप के सिवा कुछ हाथ नही लगता । जीव-दशा के वर्णन में ध्रुवदास ने उपनिषद्, पुराण तथा दर्शनशास्त्र का आश्रय लिया है । यह ग्रन्थ सदाचार, ज्ञान और वैराग्य का बोध कराने वाला है । व्यावहारिक पक्ष में भी इसका स्वर इतना नैतिक और उदात्त है कि सामान्य पाठक भी इसे पढकर प्रकाश प्राप्त कर सकता है ।[1]

जीव का ध्येय शाश्वत सुख प्राप्त करना है । वाह्याडवरो में फँसे हुये दम्भी साधुओ और कपटी भक्तो को क्षणिक सुख भले ही मिल जाय अखड सुख की प्राप्ति नही होती । बाह्याचार द्वारा राधाकृष्ण के दर्शन नही होते ।

**व्रत, तप, निगम, नेम, जम, सजम**
**करहु कलेस कोटि किन भारी ।**
**इनमें पहुँच नाहिं काहू की ।**
**परे रहत ज्यों द्वार भिखारी ।।**
**जोग जज्ञ फल मेंड़ करत हैं**
**तीरथ सब कर लीनै भारी ।।**
**धर्म मोक्ष कोऊ पूछत नहीं**
**इन मग सिद्धै कौन विचारी ।।**
**—जीवदशा—सवैया स० ३३ ।**

प्रकाशित 'व्यालीस लीला' में जीव-दशा ग्रन्थ को प्रथम स्थान दिया गया है । यद्यपि रचनाकाल-क्रम में यह प्रथम नही है । प्रथम रखने का कारण कदाचित् यही है कि इस ग्रथ का प्रतिपाद्य विषय जीवन के प्रारम्भिक स्तर के निर्माण में सहायक होता है । जव तक जीव अपने स्वरूप को न समझे और वैराग्य, ज्ञान आदि का सचय न करे, रस-मार्ग का अनुगमन नही कर सकता ।

---

१—श्री व्यालीस लीला तथा पद्यावली—वावा तुलसीदास, मुकुट महल, वृन्दावन से प्रकाशित, सं० २०१० ।

जीवदशा मे दोहा, चौपाई, कवित्त, सवैया आदि कुल मिलाकर ३८ पद हैं। छन्दो का विधान इस बात का सूचक है कि यह ध्रुवदासजी की प्रारम्भिक रचना नही है। भाषा में भी स्वच्छता और प्राजलता है। कवीर, तुलसी और व्यास ने इस प्रकार के उपदेशात्मक दोहे लिखे हैं। उनका भी प्रभाव इस ग्रन्थ पर दृष्टिगत होता है।

## २—वैद्यक-ज्ञान

यह रूपक-शैली मे लिखा हुआ पारमार्थिक उपदेश देने वाला ग्रन्थ है। ससार के बन्धनो में फँसा हुआ जीव अपने कष्ट-निवारणार्थ किसी सन्त महानुभाव की शरण में जाता है और अपनी वेदना ( रोगकष्ट ) उसी प्रकार कहता है जैसे रोगी अपनी कष्टकथा वैद्य से। सन्त-रूपी वैद्य उसके रोग का निदान करके उसे उत्तम भेषज देता है। यहाँ भेषज स्थानीय सदुपदेश है। भवरोग की औषध का वर्णन होने के कारण इस ग्रथ की सज्ञा वैद्यक-ज्ञान है।

ग्रन्थ के आरम्भ मे सन्त-वैद्य करुणा से द्रवित होकर आर्त्त भव-रोगियो का आवाहन करता है। और उन्हे आश्वस्त करता हुआ कहता है कि तुम मेरे पास आओ मैं तुम्हारे समस्त दु.खो का शमन करूँगा। जिस व्यक्ति का जैसा दु ख ( रोग ) होगा मैं उसे वैसी ही औषध दूँगा। मेरी औषध में इतनी शक्ति है कि वह सब प्रकार के तापो को नष्ट कर सकती है। इसके बाद भव-रोगी अपना रोग निवेदन करता हुआ कहता है मैंने अनेक पाप किये हैं, विषय-वासना का विष मेरे अन्तर मे व्याप्त है। इसी गरल-पान से मेरा जीवन नष्ट हो रहा है। भव-रोगी अपनी समस्त दुर्बलताओ को सन्त-वैद्य से स्पष्ट बताता है कुछ छिपाता नही। वह हाथ जोडकर निवेदन करता है कि वैद्यराज ! मुझे आप इस भव-रोग से बचाइये। तृष्णा में मैं फँसा हुआ हूँ—यह तृष्णा मुझे मारे डाल रही है, आपके सिवा कोई त्राण नही। विषय-वासनाओ से जर्जर हो गया हूँ किन्तु फिर भी इस भव-तृष्णा से पिण्ड नही छूटता—

> नैन गये अरु श्रवन हूँ, और गये मुख दन्त।
> वुद्धि घटी तन गति लटी, तृष्णा को नहिं अन्त ॥ २२ ।

भवरोगी का वृत्तान्त सुनकर वैद्यराज उसके रोग का निदान करते हैं। पथ्य-परहेज वताते हुए उसे भेषज देते है। परहेज यह है —

> इन्द्री निग्रह जो पथ करही तिय, इमलीते मन परिहरही ॥ २९ ।
> लोभ खटाई मोह मिठाई, दही क्रोध के निकट न जाई ॥ ३० ।
> जड़ वैराग्य वृक्ष की लावहु, सोट सन्तोषहि आनि मिलावहु ॥४४
> मिरच तितिक्षन करुना चीता, निस्पृह पापर मिलवहु सीता ॥४५
> कोमलता सव सौंज गिलोई, मधु वानी सौं लेहु समोई ॥ ४६ ।
> हरड़ आमरा सुचि अरु दाया, ताते निरमल ह्वै है काया ४७ ।

इस प्रकार रूपक की शैली से भव-रोग से ग्रसित संसारी मानव को स्वस्थ करने का उपचार इस ग्रथ में ध्रुवदासजी ने प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ भी प्रारम्भिक स्तर की

साधना कोटि का मार्ग बताने वाला ही है। रस-पद्धति की भक्ति से साक्षात् इसका सम्बन्ध नही है। इसमें ६० दोहे-चौपाई हैं।

३—मन-शिक्षा

ध्रुवदासजी 'जीवदशा' और 'वैद्यक ज्ञान' ग्रथो मे जीवन की स्थिति और ससार के बधन से छूटने का उपाय प्रस्तुत करके अब मन को प्रवोधते हुए ससार से छूटकर जुगल-किशोर के चरणो में लीन होने का उपदेश करते हैं। यह ग्रथ मन के उद्बोधन के लिए लिखा गया है। हमारा मन जब तक सासारिक प्रपचो में फँसा रहता है तब तक उसे चैन नही मिलता। इसलिए 'मन शिक्षा' का उपक्रम करते हुए ध्रुवदासजी ने श्रीकृष्ण-चरणो की महिमा, जगत से वैराग्य भावना, प्रेममार्ग, भजन की शैली, प्रेमी भक्त की रहनी-करनी सत्सग की महिमा, आदि आमुष्मिक कल्याण-पथ की बातें इस ग्रथ में कही हैं।

ग्रन्थ का प्रारम्भ श्री हरिवश-चरण की वन्दना से होता है। श्री हरिवशजी को अपने गुरु के रूप में स्मरण किया है। उसके बाद मनोद्बोधन का प्रसग है—

रे मन चंचल तजि विषै, ढरौ भजन की ओर।
छाडि कुमति अब सुमति गहि, भजलै नवल किशोर ॥ ४
रे मन कबहूँ जाइ जिन, भूलि विषै मन रग।
मनमथ ठग भारत तहाँ, लिये बहुत ठग संग ॥११
मत्सर क्रोध भरो रहै, अरु सहाइ अभिमान।
बिनु पावक जरिवो करे, महा मूढ़ अज्ञान ॥ २२

मन को उद्बुद्ध करने के बाद भगवद्भक्ति की समीचीन पद्धति का वर्णन किया है। भजन-प्रद्धति का अनुशीलन इस तथ्य का द्योतक है कि यह ग्रथ ध्रुवदासजी का ही लिखा हुआ है। इसकी भक्ति-भावना का आधार शुद्ध राधावल्लभीय है। श्री वियोगी हरि ने यह शंका उठाई है कि यह ग्रथ किसी अन्य की रचना प्रतीत होती है। उनके मत में कदाचित् ध्रुवदास नामक कोई और सत हुए हैं, उन्ही ने 'मन शिक्षा' ग्रंथ लिखा। अपने मत के समर्थन में कोई युक्ति, तर्क या प्रमाण उन्होने नही दिये। यदि इस ग्रथ का भलीभाँति वियोगी हरिजी ने अध्ययन किया होता तो यह शका उत्पन्न ही न होती। रसिक-मार्गीय अनन्यता का वर्णन करते हुए ध्रुवदासजी कहते हैं —

खान पान तो कीजिये रसिक मडली माँहि।
जिनके और उपासना तहाँ उचित ध्रुव नाँहि ॥ २७
रसिक रँगे जे जुगल रग तिनकी जूठन खाइ।
जहाँ तहाँ के पावनें भजन तेज धरि जाइ ॥२८
इष्ट मिलै अरु मन मिलै मिलै भजन रस रीति।
मिलियै तहाँ निसंक ह्वै कीजै तिनसौं प्रीति ॥२९

सत्सग और प्रेम-महिमा के वर्णन मे ध्रुवदासजी की शैली स्पष्ट परिलक्षित हो रही

है। जुगलकिशोर के कृपापूर्ण स्वभाव का वर्णन करके जिस मार्मिकता और रसिकता की ओर इंगित किया गया है वह राधावल्लभीय विचारधारा का प्राण है।

प्रीतम हू कैं प्रन यहै प्रीति के वस ह्वै जाँहि।
कोटि धर्म किन करो कोउ तिन सब चितवत नाँहि ॥५७
अद्भत जुगत विहार कौं जिनकैं रहै विचार।
सुन ध्रुव तिनकी चरन रज लैं लैं सिर पर धार ॥ ६४

'मन शिक्षा' ग्रन्थ की मूल भावना प्रेम-साधना की ओर उन्मुख करने वाली है। रसिक और भावुक भक्त के मन को शिक्षित करने के लिए जिस कोटि के उद्वोधन की आवश्यकता होती है वही इस ग्रन्थ मे हैं। ग्रन्थ मे कुल ६४ दोहे हैं। दो दोहों मे 'मन शिक्षा' के भजन की शैली लिखी है।

४—वृन्दावन सत

वृन्दावन का माहात्म्य एव स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए यह ग्रन्थ एक सौ सोलह दोहो में लिखा गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे वृन्दावन का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। धाम अपनी विलक्षण क्षमता के कारण धामी (कृष्ण) को भी अपने वश में रखता है। यह वृन्दावन भूतल पर स्थित होकर भी वैकुंठ, गोलोक आदि से ऊपर है। यही नित्य, शाश्वत और अविनाशी रूप से प्राणिमात्र को सुख देने वाला है। इसकी रज पापो का नाश करने वाली और समस्त सुख प्रदान करने वाली है। वृन्दावन का स्वरूप इस प्रकार वर्णित हुआ है—

आदि अन्त जाको नहीं नित्य सुखद वन आहि।
माया त्रिगुन प्रपंच की पवन न परसत ताहि ॥ २५
वृन्दाविपिन सुहावनो रहत एकरस नित्त।
प्रेम सुरंग रगे तहां एक प्रान द्वै मित्त ॥ २६

इस ग्रन्थ के अन्त में इसका रचना-काल इस प्रकार लिखा है—

सोलह सै ध्रुव छ्यासिया पून्यौ अगहन मास।
यह प्रवंध पूरन भयौ सुनत होत अघ नास ॥

वृन्दावन-महिमा के सम्वन्ध में ध्रुवदास ने अनेक ग्रन्थो में लिखा है। उनकी धाम-निष्ठा इस ग्रथ के प्रत्येक दोहे से झलकती हुई स्पष्ट देखी जा सकती है। इस ग्रथ का वैष्णव समाज में अत्यधिक सम्मान और प्रचार रहा है। इस ग्रथ की अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ उपलव्ध होती है। खोज-रिपोर्टों मे भी इसका अनेक वार उल्लेख मिलता है।

५—ख्याल हुलास

'ख्याल हुलास' का अर्थ है प्रेम के आनन्द की उमंग, अथवा उल्लासपूर्ण उत्साह। प्रेमानन्द के उत्साह से परिपूर्ण होने पर भक्त का मन लीन होकर जब आत्मविभोर स्थिति को प्राप्त होता है तब जो अनुभव करता है वही इस ग्रथ में वर्णित हुआ है। प्रेम-दशा के अग-प्रत्यगो के विशद वर्णन को इसमें सैद्धान्तिक पृष्ठाधार पर ध्रुवदास जी ने पल्लवित

किया है। प्रेम में विरह, मिलन, नित्य मिलन, पूर्वानुराग, स्वकीया-परकीया-भावपरक प्रेम, नित्य विहार-रस, सासारिक प्रेम की हेय स्थिति, प्रेम-प्राप्ति के उपाय, प्रेमी की स्थिति, प्रेम की उच्चता आदि विषयो को ६० दोहो मे ध्रुवदास जी ने लिखा है।

प्रेम-पथ की दुरूहता का वर्णन प्राय भक्तो, रसिको और आचार्यों ने किया है। प्रेम के सासारिक और आध्यात्मिक स्वरूप भी प्राय· सभी ने भेद-प्रभेद के साथ बताये हैं। ध्रुवदास जी ने माधुर्य भक्तिपरक प्रेम को पार्थिव प्रेम से—जिसका आधार प्राकृतजन की इच्छा-कामना होता है— पृथक् करने में बडे कौशल से काम लिया है। प्रेम ससार का सबसे बडा सुखकर व्यापार है किन्तु इसके समान दुखदायी भी और कुछ नही। मिलन का सुख जितना बडा होता है, वियोग का दुख उससे भी अधिक सन्तापकारी और दाहक है।

**प्रीति समान न और सुख दुख हू होत अपार।**
**मिलिवो सुख, दुख बिछुरिवो, यह कीनो निरधार ॥१॥**

मिलन-विरह की स्थिति से परे यदि सच्चा प्रेम कही है तो वह नित्यविहार मे लीन राधाकृष्ण के प्रेम में ही है। इसलिए वह प्रेम सबसे विलक्षण और आनन्दप्रद है।

**महा प्रेम निज मधुर अति सबतें न्यारो आहि।**
**तहा न मिलिवो बिछरिवो जीवत रूपहि चाहि ॥६॥**

इस ग्रथ के सम्बन्ध में भी वियोगी हरि का मत है कि यह किसी अन्य ध्रुवदास की रचना है। किन्तु ग्रथ के अनुशीलन से यह भ्रम सर्वथा दूर हो जाता है। इसी ग्रथ का एक दोहा ध्रुवदास जी के और ग्रथो में भी पाया जाता है, जो इस बात का प्रमाण है कि एक ही व्यक्ति की यह रचना है—

**चढिकें मैन तुरग पर चलिवौ पावक माँहि।**
**प्रेम पथ ऐसो कठिन सब कोऊ निवहत नाँहि ॥**

ध्रुवदासजी ने इस ग्रथ को बडे मनोयोगपूर्वक लिखा प्रतीत होता है क्योकि इसकी प्रेम-भावना बडी सूक्ष्म और मनोहारिणी है।

## ६—भक्त नामावली

ध्रुवदासजी का यह ग्रथ 'भक्तमाल' कोटि का भक्तो का परिचय कराने वाला ग्रथ है। यद्यपि मुख्य रूप से वृन्दावन रस के उपासक प्रेमलक्षणा-भक्ति के गायक भक्तो के चरित्र लिखना ही ध्रुवदासजी का उद्देश्य था किन्तु सख्य, वात्सल्य आदि भावो के गायक कृष्णोपासक भक्तों के चरित्र भी लिख दिये हैं। साधारणत भक्तों का नाम, धाम और विशिष्ट गुण का ही परिचय लिखा है किन्तु कही-कही भक्तजन की उपासना-पद्धति और उपास्य तत्त्व का भी सकेत मिलता है।

भक्तो की सख्या अनन्त है। अत सबका परिचय लिखना तो किसी के लिए सम्भव नही। ध्रुवदासजी ने अपनी जानकारी के भक्तो का नामोल्लेख इस ग्रथ में किया है।

**रसिक भक्त भूतल घने लघुमति क्यों कहि जाँहि।**
**बुधिप्रमान गायैं कछू जो आये उर माँहि ॥**

वृन्दावन की रसोपासना से भाव-साम्य रखने वाले रामानन्द, सोमू अगद भक्त आदि का भी नाम गिना दिया गया है यद्यपि इनकी उपासना-पद्धति रसमार्गी नही है। इस नामावली में कुल १२६ भक्तो के नाम है, जिनमे से कुछ भक्तो के नाम इस प्रकार हैं :—

१—गोस्वामी हितहरिवश, २—गो० वनचन्द्र, ३—गो० श्रीकृष्ण चन्द्र ४—गो० गोपीनाथ, ५—गो० मोहनचन्द्र, ६—गो० सुन्दरवर,

मध्यकालीन भक्त ' ७—जयदेव, ८—श्रीधर स्वामी, ९—स्वामी हरिदासजी, १०—श्री विट्ठलनाथ, ११—श्रीकृष्ण चैतन्य, १२—श्रीरूपगोस्वामी, १३—श्रीसनातन गोस्वामी, १४—श्रीजीवगोस्वामी, १५—श्री रघुनाथदास, १६—कृष्णदास, १७—प्रवोधानन्द सरस्वती, १८—श्रीगोपालभट्ट, १९—घमडी (घमडदेव), २०—श्री भट्ट, २१—श्री गदाधर भट्ट, २२—श्रीनाथ भट्ट, २३—श्री गोविन्द स्वामी, २४—श्री गग स्वामी, २५—श्री गिरधर स्वामी, २६—श्री विट्ठल विपुल, २७—श्री विहारीदासजी, २८—श्री व्यासजी, २९—श्री सेवकजी, ३०—श्रीनरवाहन, ३१—चतुर्भुजदास, ३२—वैष्णवदास, ३३—परमानन्द, ३४—लालदास, ३५—वालकृष्ण, ३६—ग्यानू नाहरमल, ३७—मोहनदास, ३८—वीठलदास, ३९— सुन्दरदास, ४०—नेही नागरीदास ४१—नागर, ४२—चिन्तामणि, ४३—चतुरदास, ४४—हरिदास, ४५—नन्ददास, ४६—सरस नागरीदास, ४७—परमानन्द, ४८—माधव मुदित, ४९—सूरज द्विज, ५०—कल्याण, ५१— खरगसेन, ५२—राघवदास, ५३—मीरावाई, ५४—गगा, ५५—यमुना, ५६—कुम्भनदास, ५७—कृष्णदास, ५८—जसवन्त, ५९—हरिदास तू वर, ६०—गोविन्ददास, ६१—परमानन्ददास अष्टछाप, ६२—सूरदास अष्टछाप, ६३—माधवदास, ६४—रामदास वरसानिया, ६५—सूरदास मदन मोहन, ६६—सेनाजी, ६७—नामदेवजी, ६८—पीपाजी, ६९—धन्ना, ७०—रैदास, ७१—कवीर, ७२—माधोदास जगन्नाथी, ७३—विल्वमगल, ७४—रामानन्दजी, ७५—हरिव्यास देव, ७६—छीत स्वामी, ७७—भक्त राका-वाका, ७८—नरसीजी आदि।

उपर्युक्त भक्तो का सक्षिप्त विवरण ही ध्रुवदासजी ने दिया है किन्तु यह विवरण ऐतिहासिक दृष्टि से वहुत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रंथ का रचनाकाल लेखक ने नही दिया। रचनाकाल निर्णय करने के लिए उन भक्तो का समय देखना होगा जो इस कालक्रम मे वाद के हैं। वियोगी हरिजी का कहना है कि इसमे १७३५ सवत् तक के भक्तो का उल्लेख है। अत यह ग्रथ १७४० के आसपास ही लिखा गया होगा। किस भक्त का जन्मकाल सवत् १७३५ है यह नही वताया। इतिहास के प्रमाणो से सभी भक्तगण १७०० के समीप उत्पन्न हो चुके थे अत. १७३५ सवत् वाली वात में सार प्रतीत नही होता। वीठलदासजी को ध्रुवदासजी का पितामह ठहराया जाता है। हमने भी जीवन-वृत्त मे इसका उल्लेख किया है किन्तु यहाँ भक्त-नामावली मे उनका स्मरण किसी वंश-गोत्र सम्वन्धी वात का उल्लेख करके नही किया गया है—

वीठलदास मुरलीधरन पद सेये सव काल।
तैसे हू दास गोपालजी गाये ललना लाल ॥५८॥

ध्रुवदासजी की यह भक्त-नामावली नाभाजी के भक्तमाल के बाद लिखी गई है किन्तु प्रियादासजी की भक्तमाल टीका से पहले इसका रचनाकाल है। इस भक्त नामावली का स्थान भक्तमालो में द्वितीय ठहरता है अत ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है। जिन भक्तो की उपासना-पद्धति पर ध्रुवदासजी ने प्रकाश डाला है वह तो भक्ति-साहित्य के इतिहास में तात्त्विक दृष्टि से भी उपयोगी हैं।[1]

## ७—वृहद बावन पुरान की भाषा

इस ग्रथ में वृहद बावन पुरान के उन अध्यायो का पद्यात्मक अनुवाद है जिनमें वृन्दावन-विहार का वर्णन है। महर्षि भृगु ने एक बार ब्रह्माजी से वृन्दावन में होने वाले नित्यविहार और नित्यपरिकर के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट की। तब ब्रह्माजी ने यथामति वृन्दावन-विहार का रहस्य उन्हे समझाया। ध्रुवदासजी ने उसी प्रकरण को अपने इस ग्रथ में पद्यात्मक रूप दिया है।

वृन्दावन-विहार में धाम, सखी, राधा और कृष्ण चारो अवयवो का स्थान है अत इसमें भी इन चारो का सकेत उपलब्ध होता है। व्रजलीला में गोपियो का स्वरूप बताने के बाद उनका स्थान निर्धारित किया गया है। इस ग्रन्थ में सृष्टि-विस्तार का भी वर्णन हुआ है। कही-कही अद्वैतपरक भावो का आभास मिलता है—किन्तु उसे राधावल्लभीय रूप में समझने से ही प्रासगिक अर्थ की सगति बैठती है। ध्रुवदासजी की यह मौलिक कृति नही है—अनुवाद मात्र है अत इसके मूलाशय का दायित्व भी उन पर नही आता। एक दोहे में कहा गया है—

**एकं पुरुष किशोर है दूजो नाहिन कोइ।**
**जाकी इच्छा सहज ही यह कौतुक सब होइ॥**

लीला-वर्णन की अनिवार्यता, नित्यविहार की उपादेयता और रासलीला की आनन्द-विधायिनी शक्ति का सकेत भी इसमें चित्रित किया गया है। ध्रुवदास ने इस पुराण को इसीलिए रूपान्तर के लिए चयन किया होगा कि इसमें माधुर्य-भक्ति के अनुकूल उपादानो का सकलन है। यदि वृन्दावन-विहार को हृदयगम करना हो तो इसी पुराण में सर्वाधिक व्यापक रूप से यह प्रसग लिखा गया है। सम्भवत माधुर्य भक्ति के प्रचारित होने के उपरान्त इसकी रचना हुई है। वेद और शास्त्र का इससे कई स्थल पर नामोल्लेख है, वह केवल परम्परा के कारण है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में किसी भी साधना या उपासना के लिए वेदादि शास्त्रों का आश्रय नही लिया गया है। स्वतन्त्र पद्धति से जो उपादेय प्रतीत हुआ ग्रहण कर लिया गया है। इस ग्रन्थ की आत्मा अवश्य ही राधावल्लभ सम्प्रदाय की भक्तिभावना के मेल में है। इसी कारण ध्रुवदासजी ने इसे अनूदित किया। यह ग्रथ अनुवाद की दृष्टि से ध्रुवदासजी की रचनाओं में ऐतिहासिक महत्त्व रखने वाला माना जाता है। सम्पूर्ण ग्रथ ७५ दोहो में समाप्त हुआ है।

---

१—यह ग्रन्थ श्रीराधाकृष्ण दास जी द्वारा टीका-टिप्पणी सहित सम्पादित होकर इण्डियन प्रेस, प्रयाग द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

## ८—सिद्धान्त-विचार

ध्रुवदासजी की रचनाओ मे 'सिद्धान्त-विचार' का बहुत ही अधिक महत्वपूर्ण स्थान है। यह वचनिका (गद्यवार्त्ता) में लिखा हुआ ग्रथ है। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तो के उद्घाटन में इस ग्रथ से जितना योग मिलता है उतना किसी अन्य ग्रथ से नही। पद्य के बधन को छोडकर इसमें गद्य का प्रयोग इसी कारण स्वीकार किया गया कि स्पष्ट रूप से तर्क, युक्ति और प्रमाण-पुरस्सर विवेचन प्रस्तुत किया जा सके। साधारणतः पद्य मे छन्द और यति-गति का बधन होने से शका-समाधान की शैली का सम्यक् निर्वाह नही हो सकता, जिज्ञासा शात नही होती और मन मे व्याख्यात्मक शैली से वस्तुबोध की आकाक्षा बनी रहती है। ध्रुवदासजी ने इस तथ्य को हृदयगम कर गद्यवार्ता का आश्रय लिया। इस गद्य मे तार्किक शैली का प्राधान्य है। उन प्रश्नो को ध्रुवदासजी ने अपनी ओर से उठाया है जिनके विषय में किसी भी भक्त-जिज्ञासु के मन में शकाए उठ सकती हैं।

प्रथम प्रश्न है कि प्रेम और नेम के लक्षण क्या हैं ? प्रेम किसे कहते हैं ? इसका उत्तर बडी सजीव शैली में व्रजभाषा गद्य में दिया है—

'प्रेम को निज रूप चाह, चटपटी, अधीनता, उज्ज्वलता, कोमलता, स्निग्धता, सरसता, नूतनता, सदा एकरस, रुचि तरग बढत रहै। सहज, सुछन्द, मधुरता, मादकता। जाकौ आदि अन्त नाही, छिन छिन नूतनता, स्वाद अरु नेम अनेक भाँति हैं।'

—सिद्धान्त-विचार और पृष्ठ ४२।

इसके बाद राधावल्लभीय प्रेम-दर्शन पर विचार व्यक्त किये गये हैं। प्रेम और विरह, प्रेम और काम, प्रेम और मान आदि का स्वरूप समझाया गया है। तदुपरान्त रसिक की परिभाषा दी गई है। अनन्यता का स्वरूप स्थिर किया गया है। रस-माधुरी में ऐश्वर्य, ज्ञान, माहात्म्य, आदि को आवरण बताया गया है। अत भक्त को इनसे दूर ही रहना चाहिए। विधि-निषेध के प्रपंच तथा आचार का निर्णय करते हुए बताया है कि किन मर्यादाओ मे रहकर इन्हे स्वीकार या अस्वीकार करें। विवेक क्या है और विवेकी कौन है ? सक्षेप में, इस ग्रथ में राधावल्लभ सम्प्रदाय के मूलभूत सिद्धान्तो का बडी सटीक शैली से वर्णन हुआ है। यदि इस ग्रथ का विधिवत् पारायण किया जाय तो अनेक गहन-गूढ गुत्थियाँ अपने आप सुलझती चली जाती हैं। साढे तीन सौ वर्ष पूर्व के व्रजभाषा गद्य का यह नमूना अभी तक विद्वानो के समक्ष नही आया है। भाषा के सहज प्रवाह को देखकर यह नही कहा जा सकता कि उस समय गद्य का प्रयोग नही होता था। विरह-वर्णन का एक उदाहरण देखिए :—

'जहाँ सयोग में देखत-देखत विरह रहे तहाँ या सूक्ष्म विरह की समाई नही। सब रस, सब सिंगार सबके प्रेम, सब नेम मूरति धरें श्री किशोरी-किशोर जू कौ सदा सेवत रहत हैं।'

—सिद्धान्त-विचार, पृष्ठ ४४।

## ९—प्रीति चौबनी

प्रेमतत्त्व का प्रतिपादन करने वाले चौवन दोहे इस ग्रन्थ मे संकलित हैं अतः इसे 'प्रीति चौवनी' सज्ञा दी गई है। शतक और सतसई की भाँति चौवनी भी सख्यावाचक सज्ञा

है। इन दोहो में आद्योपान्त प्रीति का स्वरूप, उसके विधायक विभिन्न अग-प्रत्यंगो का समावेश है। प्रेम के प्रतिपादन का क्रम इस प्रकार है —

प्रेम का स्वरूप, स्वभाव, परिणाम, प्रेम की पावनता, उज्ज्वलता, तन्मयता, लगन, ललक, सूक्ष्मता एव स्थिरता का वर्णन किया है।

प्रेम का स्वरूप सर्व सुखमय, रसमय एव अखड आनन्दमय है। सासारिक विषय-सुख में प्रेम का आभासमात्र देखा जा सकता है, यथार्थ रूप नही। लोक-परलोक के समस्त सुख पुजीभूत होकर भी प्रेम-दुख ( विरह-दुख ) की समता नही कर सकते, मिलन-सुख की तो बात ही निराली है।

> जेहि दुख सम नहि औ रसुख, सुख की गति कहै कौन।
> वारि डारि ध्रुव प्रेम पर लोक चतुर्दस भौन॥
> आदि अन्त जाकौ भयौ सो सब प्रेम न रूप।
> आवत जात न जानिये जैसे छांह अरु धूप॥१८॥

प्रेम में निरतर देखने की कामना का बना रहना ही विरह-भावना का सूक्ष्मरूपेण पोषण करना है।

> तन मन कै विछुरे नहीं चाह बढ़ै दिन रैन।
> कबहुं संजोग न मानहीं देखत भरि-भरि नैन॥२०॥

प्रेम-पथ की विकटता और दुर्गमता का वर्णन करते हुए कहा है—

> वकट घाटी नेह की अतिहि दुहेली आहि।
> नैन पगनि चलिवौ तहां जो ध्रुव बनै तो नाहि॥३३॥

प्रेम पथ का पथिक बनने के लिए ध्रुवदासजी ने कुछ आवश्यक शर्तें रखी हैं। सरस, सरल, सहृदय और कला-प्रेमी ही प्रेम के अधिकारी हो सकते हैं। शृंगार रस को सरणि बना कर इस दिव्य प्रेम-मार्ग पर चलना होता है अत शृगार के साधक रूप, आसक्ति, उन्माद आदि को समझना आवश्यक है। रूप की ललक और सौन्दर्य की चटक जिसके मन में नही वह प्रेम-मार्ग का पथिक नही हो सकता। आकर्षण के लिए इन अवयवो को संजोना अनिवार्य है। प्रेमी उपासक के लिए यह ग्रन्थ बहुत बडा सम्बल है। इन चौवन दोहो में भक्त ध्रुवदासजी ने प्रेम का उपाय, मार्ग और ध्येय सब कुछ प्रशस्त करके रख दिया है। प्रेम-साधना में इस ग्र थ का बडा महत्त्वपूर्ण स्थान होना चाहिए।

### १०—आनन्दाष्टक

यह आठ दोहों का एक सकलन मात्र है। इसे ग्रथ सज्ञा देना समीचीन नही। प्रथम चार दोहों में जुगलकिशोर के आनन्दमय एव रसमय स्वरूप का वर्णन किया गया है और अन्तिम चार दोहो में युगलकिशोर की प्राप्ति के लिए रसमार्गी उपासको का सत्सग करने का आदेश है। आनन्दाष्टक नाम रखने का अभिप्राय यह है कि इसमें आनन्दस्वरूप—श्री राधावल्लभ के निज स्वरूप का बोध कराया गया है। जो इस रस को नही समझते उनके समीप जाने का निषेध है।

यह रस जिन समुझ्यो नहीं ताके ढिग जिन जाहु ।
तजि सत्संग सुधा रसहि सुध सुतहि जिनि खाहु ।।७।।
वृन्दावन रस अति सरस कैसे करौ बखान ।
जेहि आगे बैकुंठ को फीको लगत पयान ।।८।।

अन्तिम दोहे मे फलस्तुति कही गई है ।

## ११—भजनाष्टक

भक्ति-मार्गीय आचार्यो ने शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर इन पाँच भावो में से किसी एक भाव का आश्रय लेकर भगवान् से सम्बन्ध स्थापित करने का निर्देश किया है। ये भाव उत्तरोत्तर प्रकर्ष को प्राप्त होते जाते हैं और मधुर भाव मे इनका चरम विकास होता है अतः मधुरभाव ही श्रेष्ठतम भाव है । किन्तु जो वृन्दावन रस के उपासक हैं वे मधुर रस के उत्कृष्ट रूप 'उज्ज्वल रस' को स्वीकार कर ज्ञान, ऐश्वर्य, माहात्म्य से रहित मधुर स्थिति में पहुँच जाते हैं । इस रस की कल्पना करते ममय संयोग-वियोग, स्वकीया–परकीया आदि भावों को तिलाजलि देनी होती है । इस अष्टक में आठ दोहे हैं, इन दोहो मे उज्ज्वल रस की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है ।

सर्वोपरि है मधुर रस युगल किशोर विलास ।
ललितादिक सेवत तिनहि मिटत न कबहुँ हुलास ।।३।।

उज्ज्वल रस के उत्पन्न होने पर साधक विभोर हो उठता है :—

विवश भयौ सुधि रही न कछु मोहो महा अनंग ।
लज्जित ह्वै रह्यो नमित अति करत नसीस उतंग ।।८।।

इस अष्टक के दोहो का गूढाभिप्राय साम्प्रदायिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्व रखता है क्योकि गोपी-प्रेम आदि से उज्ज्वल रस-पूर्ण प्रेम को ऊँचा ठहराया गया है ।

## १२—भजन-कुंडलियाँ

इस ग्रथ मे दोहे और दस कुंडलियो में रसिक उपासको के भजनीय तत्व का लक्ष्य कराया गया है । उपासक की रहनी, इष्ट भावना, विहार की रसरूपता और युगल-किशोर के सौन्दर्य-माधुर्य की छटा की ओर भी सकेत है । ग्रंथ का प्रारम्भ उपासक की रहनी से होता है ।

कुंडलिया—

हस सुता तट विहरिवौ करि वृन्दावन वास ।
कुंज केलि मृदु मधुर रस प्रेम विलास उपास ।।
प्रेम विलास उपास रहै इक रस मन माहीं ।
तेहि सुखकौ सुख कहा कहौ मेरी मति माहीं ।।
हित ध्रुव यह रस अति सरस, रसिकनि कियौ प्रसंस ।
मुकतन छाँड़ें चुगत नहि, मानसरोवर हस ।।१।।

वृन्दावन रसोपासना में अनन्यता का आदेश देते हुए ध्रुवदासजी ने विधि-निषेध की ओर ध्यान न देने का सकेत स्पष्ट शब्दो में किया है।

**ह्वै अनन्य इक रस गहै वृन्दावन रस रीति।**
**विधि-निषेध मानै न कछु करै भजन सौं प्रीति ॥१८॥**

राधावल्लभीय मत में वृन्दावन स्वय सच्चिदानन्द घन-स्वरूप है जिसमें प्रवेश करते ही जीव तद्रूप हो जाता है। वृन्दावन परम पावन, प्रेममय, रसमय एव सर्वगुण-सम्पन्न है। इसके रजकण की वाछा ब्रह्मा, शिव, उद्धव और नारद आदि भी करते है।

१३—भजनसत

यह ग्रथ दोहे-सोरठो में साधना-उपासना सम्बन्धी समस्त आवश्यकीय बातो का बोध कराने के उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है। 'भजनसत' में सौ दोहे-सोरठो का सकेत स्पष्ट है किन्तु इस ग्रथ की पद-सख्या ११४ है जिसमें एक कुडलिया भी सम्मिलित है। ग्रथ में प्रतिपादित विषयो का क्रम इस प्रकार है—भजन का मूल, सेवा-भावना, प्रेम-भावना, सेवा द्वारा प्रेम, रसिको के प्रति दैन्य, प्रेम और भक्ति के अन्तराय। इन विषयो का निरूपण करने के उपरान्त भगवद्धाम, भगवदावतार तथा रसों की कनिष्ठ दशाओ का निरूपण हुआ है। अन्त मे प्रेम-मूर्ति युगलकिशोर को सर्वोपरि ठहरा कर उनकी उपासना का लक्ष्य कराया गया है।

भगवत्प्रसाद की महत्ता तथा भक्तगण के सम्मान का उपदेश भी इसी प्रसग में बडी सैद्धान्तिक शैली से कहा है। श्वपच भक्त का भी सम्मान करना चाहिए, ऐसा स्पष्ट आदेश है। अन्त में क्षणभगुर शरीर की महत्ता बताते हुए ज्ञान और वैराग्य द्वारा युगल-किशोर के चरणो में आश्रय पाने का वर्णन है।

भक्त के दैन्य भाव का बडा महत्व माना गया है—

**मन की गति यौं चाहिये भयौ रहे दिन दीन।**
**रसिकन की पद रज तरै लुठत सदा ह्वै लीन ॥२०॥**

भजन की दृढता और अनन्यता का उपदेश तो ध्रुवदास के ग्रथो में भरा पडा है—

**ज्यौं चातक स्वाती बिना परसत नहिं जल और।**
**दृढ़ता यों मन चाहिए फिरै न बहुतै ठोर ॥८८॥**

जाति-अभिमान को त्याग कर भक्तो का सम्मान आवश्यक है—

**जाति अभिमान न कीजिये भक्त जननि सौं भूल।**
**सुपच आदि वे होइ जौ मिलिये तिनसौं फूलि ॥१०१॥**

मानव-शरीर की क्षणभगुरता का जीव को सकेत करते हुए ध्रुवदासजी सावधान करते हुए कहते है :—

कुडलिया—

**बहु बीती थोडी रही सोऊ बीती जाइ।**
**हित ध्रुव वेगि विचारि कै बसि वृन्दावन आइ ॥**

वसि वृन्दावन आइ लाज तजिकै अभिमानै ।
प्रेम लीन ह्वै दीन आपकौं तृनसम जानै ॥
सकल भजन कौ सार सार तू गहि रस रीति ।
रे मन देखु विचारि रही कछु इक वहु वीती ॥१०२॥

ग्रथ की फलस्तुति मे सोरठा द्वारा स्पष्ट किया है कि जव तक रसपद्धति से शुद्ध भजन हृदय में नही आता तव तक कल्याण नही होता । 'भजन-सत' मे जो पद्धति विस्तार से लिखी है वह प्रेममार्गी भजन की निसैनी (सरणि) है। इसके द्वारा भक्त भक्ति-पथ पर चलने का अधिकारी हो सकता है ।

तव पावै रस सार, शुद्ध भजन आवै हियै ।
याते कह्यौ विस्तार भजन निसैनी प्रेम की ॥

१४—शृङ्गार सत (प्रथम शृङ्खला)

ध्रुवदासजी के ग्रथो में सिद्धात-प्रतिपादन और काव्य-सौष्ठव दोनो दृष्टियो से 'शृंगार सत' वहुत ही महत्वपूर्ण कृति है । सम्पूर्ण ग्रंथ तीन शृङ्खलाओ में विभाजित है । प्रथम शृङ्खला में राधा की रूप-माधुरी, द्वितीय शृङ्खला मे राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम और रूपासक्ति तथा तृतीय शृङ्खला मे दिव्य केलि ( रति-विलास ) का विशद वर्णन है । इस ग्रथ मे दोहा, कवित्त, सवैया, आदि अनेक सुन्दर छद देखने को मिलते हैं । काव्य-वध रीतिकालीन कवियों के अनुकरण पर हुआ है और पद-शैली पर भी रीतिकालीन शृङ्गार-भावना का प्रभाव है ।

'शृगार सत' में सत शब्द से 'सौ' छदो का वोध होता है किन्तु इस ग्रथ में एक सौ चौवन पद (दोहे, कवित्त, सवैये) हैं । ध्रुवदासजी ने तृतीय शृङ्खला के अत में छद-सख्या निर्धारण करने वाला एक दोहा लिखा है ।

भये कवित्त सिंगार के इक सत अरु पच्चीस ।
दोहनि मिलि सव ठीक भये इकसत दस चालीस ॥

अर्थात् एक सौ पच्चीस कवित्त-सवैये तथा पच्चीस दोहे होने चाहिएँ । किंतु वर्तमान उपलब्ध प्रतियो मे १२७ कवित्त-सवैये तथा २६ दोहे मिलते हैं । सम्भव है ३ पदो का समावेश वाद में किसी ने कर दिया हो ।

प्रथम शृङ्खला का प्रारम्भ मंगलाचरण तथा प्रस्तावना से होता है । उसके वाद राधा-वेश-रचना तथा शृंगार-प्रसाधन का वर्णन है । इस शृङ्गार-प्रसाधन में राधा की साडी, कचुकी, वेंदी, चूडी, हार आदि विभिन्न वस्तुओ पर कवि का ध्यान गया है और शृङ्गार-रस के अनुकूल उद्दीपन विभाव के अतर्गत आने वाले सुन्दर वर्णनो की झड़ी लगी हुई है । छवि-वर्णन के ये कवित्त-सवैये रीतिकालीन देव, मतिराम, पद्माकर, आदि कवियो की रचना के इतने समान हैं कि यदि इन्हे उनकी कृतियो में मिला दिया जाय तो सामान्य पाठक पहचान नही सकेगा । राधा की साडी और कचुकी (अगिया) का वर्णन देखिए —

सवैया—

सारी हरी ने हर्यौ मन लाल को,
मोहिनी सोहनी के तन सोहै।
अगिया लाल सुरग बनी,
लहि गातहि रग खरौ मन मोहैं॥
रूप की रासि सबै गुन आगरि,
या छवि की उपमा कहो कोहै।
राजत है 'ध्रुव' कुज विहारिनि,
सो छवि लाल पलोपल जोहै॥१४॥

राधा के लावण्य की एक झाँकी देखने योग्य है —

कवित्त—

कचन के बरन चरन मृदु प्यारी जू के,
जावक सुरग रग मनहि हरत है।
हित ध्रुव रही फबि सुमिलि जै हरि छवि,
नूपुर रतन खचे दीप से बरत हैं।
रीझि रीझि सुन्दर करनि पर पट धरे,
आरसी सी लिये लाल देखिबौ करत हैं।
नख मनि प्रभा प्रतिबिम्ब झलमले कज,
चदनि के जूथ मानो पायन परत हैं॥१८॥

नीचे के पद में रूपक अलकार की शैली मे छवि का अकन द्रष्टव्य है —

रूप जल में तरग उठै कटाछनि के,
अग अग भौंरनि की अति गहराई है।
नैननि कौं प्रतिबिम्ब पर्यौ है कपोलनि में,
तेई भये मीन तहाँ ऐसी उर आई है।
अरुन कमल मुसकानि मानों फबि रही,
थिरकनि बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयौ है मुदित सखी लाल को मराल मन,
जीवन जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है॥२७॥

छवि-वर्णन में ध्रुवदासजी ने नखशिख का आश्रय लिया है और प्राय सभी अगो को इस वर्णन में समेटा है। नेत्र, कपोल, अधर, चरण-सौकुमार्य, स्मित, केलि, लावण्य आदि अनेकानेक विषय इस प्रसग में आये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा और उपमा अलकारो के इतने सुन्दर और समर्थ उदाहरण इन कवित्त-सवैयो में आये हैं कि अलकारप्रिय रीतिकालीन आचार्यों की रचना में भी कम ही मिलेंगे। कही राधा के शरीर को रूप की फुलवारी बनाया है तो कही उसे रूप का वन ठहराया है। फुलवारी के सागरूपक का उदाहरण है—

रूप की सी फुलवारी फूलि रही सुकुमारी,
अङ्ग-अङ्ग नाना रंग नवल विहार ही।
नैन कर कमल, अधर है वधूक मानों,
दसन झलक पर कुन्द वारि डार ही।
वेंदी लाल है गुलाव, नासिका सुवर्नफूल,
मोती वने जहां-जहां जुही सी विचारही।
छवि ही के खंजन रसीले नैन प्रीतम के,
खेलें तहां ध्रुव सखी चितै प्रान वार ही ॥४३॥

सुकुमारता के वर्णन में ध्रुवदासजी ने काव्य-सौष्ठव का चरम उत्कर्ष प्राप्त किया है। ध्वन्यात्मक अर्थ-व्यजना और अलकारो की सफल योजना ने सौकुमार्य को दिव्य बना दिया है—

डीठिहु कौ भार जानि देखत न डीठि भरि,
ऐसी सुकुमारी नैन प्रान हूं ते प्यारी है।
माधुरी सहज कछु कहत न वनि आवै,
नेकु ही के चितवत चकित विहारी है॥
कौन भांति मुख की अनूप कान्ति सरसाति,
करत विचार तऊ जात न विचारी है।
'हित ध्रुव' मन पर्यौ रूप के भँवर मांझ,
नेह बस भये सुधि देह की बिसारी है ॥४७॥

द्वितीय शृंखला इस शृङ्खला मे युगलकिशोर की पारस्परिक प्रीति का वर्णन है। शृङ्गार-परक वर्णन होने पर भी साम्प्रदायिक भक्ति-भावना के कारण उसमे उदात्त भाव झलकता हुआ स्पष्ट परिलक्षित होता है। राधाकृष्ण के पारस्परिक प्रेम का वर्णन आलकारिक शैली से अनेक पदो में हुआ है :—

जैसी अलवेली वाल तैसे अलवेले लाल,
दुहुँनि में उलही सहज शोभा नेह की।
चाहनि के अंबु दै-दै सींचत है छिन-छिन,
आलवाल भई सेज छाया कुंज गेह की।
अनुदिन हरी होति पानिप वदन जोति,
ज्यो-ज्यो ही वौछार ध्रुव लागै रूप मेह की।
नैननि की वारि किये हरै सखी मन दियें,
चित्र सी ह्वै रही सव भूली सुधि देह की॥

राधाकृष्ण का सेज-विहार-वर्णन करते हुए कवि ने उत्प्रेक्षा का सुन्दर चमत्कार प्रस्तुत किया है—

सेज सरोवर राजत है जल मादिक रूप भरे तरुनाई,
अङ्गनि आभा तरंग उठै तहां मीन कटाच्छिनि की चपलाई॥

प्यासी सखी भरि अञ्जलि नैन पियें तें गिरी उपमा ध्रुव पाई,
मानौ गयन्द ने डारे हैं तोरकें कचन कच चहूँ दिसि भाई ॥६१॥

रस-दशा में लीन युगलकिशोर की आनन्द-पद्धति का सुन्दर चित्र निम्न पद्य में अङ्कित हुआ है—

माधुरी की कुञ्ज तामें मोद की लै सेज रची,
तेहि पर राजै अलबेले सुकुमार री।
रूप तेज मोद के युगल तन जगमगै,
हावभाव चातुरी के भूषन सुघर री।
नेह नीर नैननि की सैननि में रहे भींजि,
कौन रग बाढ्यौ जहां बोलिबोऊ भार री।
अति ही आसक्त सखी रही मोहि जोहि जोहि,
हित ध्रुव प्राननि कौ यहै है अहार री ॥७४॥

तृतीय शृ खला इसमे शैय्या-विहार (रति-विलास) सम्बन्धी पदो का विस्तार है। शैय्यासीन कृष्ण के अङ्क में राधा को चन्द्रमा के क्रोड मे बैठी चाँदनी कहकर उत्प्रेक्षाओ का ठाठ खडा किया गया है।

भाँति भली नवकुञ्ज विराजत राधिका वल्लभलाल विहारी।
प्राननि की मनि प्यारी विहारिनि प्यार सौं प्रीतम लै उर धारी।
ज्यौं छवि चन्द्रिका चन्द्र के अङ्क में बाढ़ी महा छवि की उजियारी।
त्यौं चहु कोद चकोरी भई ध्रुव पीवत रूप अनूप सुधारी ॥१०१॥

राधाकृष्ण की रति-लीला रात्रि-पर्यन्त निर्विघ्न चलती रही—प्रभात होने पर भी यह नही लगा कि रात्रि समाप्त हो गई है। वे यही समझते रहे कि अभी तो सन्ध्या ही हुई है। एक-दूसरे के प्रति इतना प्रगाढ़ अनुराग है कि रात्रि-पर्यन्त साथ रहने पर भी उनकी अभिलाषा अतृप्त ही बनी हुई है और वे समझते हैं कि हम अभी दो क्षण ही साथ रहे हैं। इतने लम्बे काल तक मिलने को भी वे न मिलना या न्यून मिलना ही समझते हैं। यही भाव निम्न पद्य में वर्णित हुआ है —

भोर भये साँझ ही को धोखो है दुहुँनि मन,
सपुनौ सो चेति कहैं कहा बात है भई।
ऐंकि हम मिलै नाहिं, बैठे है अब हि आइ,
ऐंकि निसा आज कछू बीच ही ते है गई॥
भूषन बसन छूटे देखे पुनि समुझत,
कौन एक प्रेम रसा उपजी है सुखमई॥
हित ध्रुव यहै जानै मिल्यौ अनमिल्यौ मानै,
नैननि में रुचि ही की प्रेम बेलि है बई ॥११०॥

रस-विहार की नित्यता व्यक्त करते हुए ध्रुवदासजी ने सासारिक प्रेम से इसे उच्च-

भूमि पर पहुँचाने के लिए आद्यन्तहीन बताया है और इसे युगलकिशोर की अन्योन्यासक्ति का प्रकृष्टतम रूप दिया है—

न आदि न अन्त विलास करैं दोऊ लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।
नई-नई भाँति नई छवि कान्ति नई नवला नव-नेह विहारी॥
रहे मुखचाहि दिये चित आहि परे रस प्रीति सु सर्वसहारी।
रहैं एक पास करैं मृदु हास सुनौ ध्रुव प्रेम अकत्थ कथा री॥११३॥

## १५. मनि-शृंगार

शृङ्गार-मूर्ति श्रीकृष्ण के लिए श्रीराधा की रूप-छवि सौन्दर्य-विधायक मणिरूप हैं जिन्हे माला-रूप मे पिरो कर श्रीकृष्ण अपने हृदय मे धारण करते हैं। राधा की रूप-माधुरी को मणि-रूप मानकर इस ग्रंथ का नाम 'मनि-शृंगार' रखा गया है। प्रारम्भ में राधा की रूपमाधुरी का वर्णन है, तदुपरान्त युगल के रति-विलास का सामान्य रूप से रति-विलास वर्णन करने के बाद उसे ज्योनार की रूपक शैली मे प्रस्तुत किया गया है। अन्त में रसिक जनो की कृपा का प्रभाव भी साकेतिक रूप से कहा है। दूसरे शब्दो में यो भी कह सकते है कि युगलकिशोर का रति-विलास ही 'मणि-शृङ्गार' है जिसे राधा और कृष्ण दोनो धारण करते हैं। इस रति विलास-सुख का बोध श्री हरिवशजी की कृपा से होता है अतः प्रारम्भ मे मंगलाचरण में उनका स्मरण किया गया है।

श्रीराधा की रूपमाधुरी वर्णन करने वाले ४४ दोहे हैं। राधा के सौंदर्यातिशय पर कृष्ण इतने आसक्त और अनुरक्त हैं कि उसे त्यागकर वे क्षण भर भी जीवित नही रह सकते। १० दोहो में यही भाव गाया है। उसके बाद कृष्ण की रूपछवि, युगल-छवि, रसमय विहार का वर्णन है। यह क्रम ८१ दोहो तक गया है। इसके आगे 'रति-विलास रूपी ज्योनार' का वर्णन प्रारम्भ होता है जो ११ दोहो मे है। प्रेम-शैया का विहार और रसिक उपासक का धर्म बताकर १०२ दोहो में यह ग्रथ समाप्त हुआ है। ग्रथ का उपसहार करते हुए ध्रुवदासजी ने कहा है—

रुचि कीन्हीं सिंगारमनि जो लै राखै सीस।
ताके हिय में बसत हैं श्री वृन्दावन ईस॥
जे है मनि सिंगार की सब गुन भरि अनुराग।
पहिरी पिय हिय प्यार सौं पोइ प्रेम के ताग॥

इन दोहो से स्पष्ट है कि इसका नाम 'सिंगार मनि' है। किन्तु प्राचीन काल से 'मनि सिंगार' लिखा चला जा रहा है। अत. हमने भी मणि नाम देकर ही लिखा है। यथार्थ में तो 'सिंगार मनि' ही नाम होना चाहिए।

## हित-शृंगार

हित-शृङ्गार शब्द का अर्थ है 'प्रेम का शृंगार'। प्रेम का शृङ्गार यहाँ सामान्य अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है वरन् इसका अर्थ है दिव्य प्रेम-केलि का वर्णन। इस ग्रन्थ मे भी रूपक शैली से हितशृङ्गार का वर्णन किया गया है। रूपक संक्षेप में इस प्रकार है—

'वृन्दावन एक दिव्य प्रेम का साम्राज्य (देश) है। इस दिव्य देश के सम्राट् हैं रसिक जुगलकिशोर राधावल्लभलाल। सखी, पशु-पक्षी, मृग-मयूरादि इस देश के प्रजाजन हैं। युगलकिशोर यौवनरूपी राजसिंहासन पर विराजते हैं और रूप (सौंदर्य) का छत्र उनके ऊपर रहता है। निकुञ्ज भवन ही उनका राजमहल है। सखियाँ, मृगी, मयूरी, हसी, चकोरी आदि राजदरबारी हैं। वृन्दावनरूपी राजोद्यान को सीचने के लिए षट्ऋतुएँ अपने समस्त साज-सम्भार के साथ सदा उपस्थित रहती हैं। उस उद्यान में सदा सुख के पुष्प विकसित रहते हैं। इस प्रकार निकुञ्जमहल में राजसिंहासन पर समासीन जुगलकिशोर ने मदन-शतरज का खेल प्रारम्भ किया। मदन-शतरज ही हितशृङ्गार (प्रेम-शृङ्गार) को व्यक्त करने वाला है। मदन-शतरज की रूपकमयी केलि-वर्णन को ही हितशृङ्गार कहा जा सकता है।'

इस ग्रथ मे वृन्दाँवन-वर्णन, प्रेम-शतरज का खेल, प्रिया-छवि वर्णन, शैयासुख, रूपासव-पान की मादकता, प्रियाजी की उदारता, लालजी की रस चौंप, केलिरस, तथा सुरतान्त छवि का वर्णन है।

प्रेम-शतरज का रूपक इस प्रकार खडा किया है —

**मन नृप मत्री चौंप सौं रचि कीन्ही रुख चाल।**
**उरज गयद तुरंग दृग पाइक अगुरी लाल ॥१२॥**
**रति नागरि दै अधर रस हेत विसात सँवारि।**
**आलिगन चुवन मनौ खेलत फेरि सभारि ॥१४॥**

इस खेल में मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि, प्राण, चित्त की समस्त वृत्तियाँ ही विसात—गोट—हैं। चौंप की चाल चली जाती है, चाह ही हार-जीत का निर्णय करती है। इस रूपक से स्पष्ट है कि उस समय राजदरबारो मे शतरञ्ज का खेल अत्यधिक प्रचलित था। इसी खेल पर ध्रुवदास ने दिव्य प्रेम को चरितार्थ करके अपनी विलक्षण चातुरी का परिचय दिया है।

प्रेम का स्वभाव चपल होता है। चापल्य के वशीभूत होकर प्रेमी अपने प्रेमपात्र को बार-बार देखना—निहारना चाहता है। यह देखना प्रेमपात्र के लिए कभी-कभी तग करने वाला भी हो जाता है। निम्नलिखित पद में राधा की इसी आकुलता का वर्णन है।

**परी है कठिन अति नवल किसोरी जू कौं,**
**छिन छिन नई छवि कहाँ लौं छिपावहीं।**
**जोई अङ्ग प्रीतम की दीठि सौं परस होत,**
**नीरज से नैना नीर भरि-भरि आवहीं।**
**हित ध्रुव अधिक दिवस भये जात पिय,**
**ताही हेत सुकुमारी जतन बनावहीं।**
**और अग राखे पट भूषननि में दुराइ,**
**लोचन चपल चल कहे मैं न आवहीं ॥५५॥**

राधावल्लभ सम्प्रदाय मे प्रेम को नित्यमिलन की स्थिति में ही पूर्ण माना गया है। उसमें पल भर को भी विरह नही होता। यह सिद्धान्त बहुत जोरदार शब्दो में स्थिर किया जाता है। ध्रुवदासजी ने भी इसी भाव को निम्न कवित्त में कहा है।

मधुर तें मधुर अनूप ते अनूप अति,
रसनि कौं रस सब सुखनि कौ सार री ।
विलास को विलास निज प्रेम की है राजै सदा,
राजै एक छत्र दिन विमल विहार री ।
छिन छिन त्रिषित चकित रूप माधुरी में,
भूले सेई रहैं कछु आवै न विचार री ।
भ्रमहूँ कौ विरह कहत जहाँ डर आवै,
ऐसे हैं रंगीले ध्रुव तन सुकुमार री ॥६५॥

ग्रंथ के उपसहार में नित्यविहार रस की उत्कृष्टता बताते हुए कह दिया है कि जिनके मन में इसे स्थान नही स्वप्न मे भी उनका साथ नही करना चाहिए। इस ग्रथ की दोहा, कवित्त तथा सवैया सख्या ८२ है। ध्रुवदासजी ने स्वय अन्त मे सख्या-सूचक दोहा लिख दिया है।

यह रस जिनके सुनत मन नाहिन होत हुलास ।
सपनेहुँ परस न कीजिए तजि ध्रुव तिनकौ पास ॥८१॥
अस्सी दोइ दोहा कवित्त हितसिंगार के कीन ।
जाके उर में बसं ध्रुव युगल चरन ह्वै लीन ॥८२॥

१७—सभा-मडल

इस ग्रथ के नाम से विदित होता है कि विहार के लिए मडलाकार स्थित होकर सभा रचना की गई है। उस मडल-सभा मे शृंगार रस का विशद वर्णन हुआ है। यथार्थ मे नित्य विहार-वर्णन के लिए ही इस ग्रंथ का निर्माण किया गया है। सवत् १६८१ में यह ग्रन्थ रचा गया। रचना-सवत् 'मडल सभा सिंगार सोलह से इक्यासिया' स्पष्ट लिखा है। सभा-मंडल में शृंगार रस की परिपूर्णता लाने के लिए ध्रुवदासजी ने काव्य-शैली का अनुगमन किया है। नख-शिख वर्णन, ऋतु-वर्णन, रूप-वर्णन, हाव-भाव वर्णन इसमे काव्य-शैली से ही किये गये हैं। नित्य-विहार वर्णन की शैली मे नवीनता नही है। नख-शिख और ऋतु वर्णन सुन्दर है। कृष्ण के रूप-वर्णन में नखशिख की शैली देखने योग्य है :—

लाल भाल पर फवि रही, बेंदी लाल अनूप ।
मनो मूर्ति अनुराग की प्रकट भई धरि रूप ॥
नासापुट मुक्ता फव्यौ चितै रहे दृग द्वन्द्व ।
भाजन भरि तन छलिक परी मनो रूप की बुंद ॥
अरुन अधर दशनावली, झलकत परम रसाल ।
हीरन की पंक्ती मनौ वन्दन में करी लाल ॥

राधा-रूप का वर्णन करते हुए कवि कहता है :—

कोटि-कोटि रसना जो रोम-रोम प्रति होइ,
प्यारी जू के रूप को न प्रमान कह्यौ जात है ।

अति ही अगाध सिंधु पार नहिं पावै कोऊ,
थोडी बुद्धि सीप मांझ कैसे के समात है।
छिन छिन नई नई माधुरी तरग रग,
देखे नख चन्द्रिकन चन्द्रहू लजात है।
हित ध्रुव अग अग बरसत छवि स्वाँति,
नैना पियैं चातक तौ कहूँ न अघात है।

प्रेम की विलक्षणता बताते हुए सुन्दर दोहा लिखा है —

उलटी चाल है प्रेम की, को समुझै विन लाल।
ज्यौं ज्यौं हारे अपनपौं त्यौं त्यौ बढै विसाल ॥

श्याम-श्यामा की नित्य-विहार-लीन आत्म-विभोर स्थिति का वर्णन पूरी शृ गारिक भावना के साथ निम्न कवित्त मे किया गया है —

नवल रगीले लाल रस में रसीले अति,
छवि सो छबीले दोऊ उर धुरि लागे है।
नैननि सौं नैन कोर मुख मुख रहे जोर,
रुचि कौन ओर छोर ऐसे अनुरागे हैं।
परे रूप सिन्धुमांझ जानत न भोर सांझ,
अग अग मैन रग मोद मद पागे हैं।
हित ध्रुव विलसत तृपित न होत कहूं,
जद्यपि लडैती लाल सब निसि जागे हैं ॥

ग्रन्थ के अन्त में इसके पदो की सख्यासूचक तीन दोहे लिखे हैं जिनमे २२२ पद-सख्या दी है।

दोहा कवित्त अरु सोरठा द्वैसत तिथि गुन वेद।
या रग में जे रगिरहै तेई पैहैं भेद ॥
द्वैसत ऊपर अष्टदश और सवैया चार।
अद्भुत युगल विहार रस छिन-छिन ध्रुव उरधार ॥

## १८—रस मुक्तावली

यह ग्रथ भी रस-वर्णन से सम्बन्ध रखता है। दोहा-चौपाई की शैली में लिखा गया है। सखियो का स्वभाव-शील पुरस्सर वर्णन इसकी विशेषता है 'तिनकी सखी' द्वारा सखियो के आठ विभाग किये गये हैं।

इस ग्रथ में १९० दोहा–चौपाई हैं। शृ गार रस में सुरत प्रसग का भी स्थान-स्थान पर वर्णन है —

दोहा चौपई एक नव्वे अति अभिराम।
हितध्रुव रस मुक्तावली रसिक जननि विश्राम ॥१९०॥

## १६—रस हीरावली

राधाकृष्ण की रूप-छवि, वाह्य अलकरण और वेश-रचना आदि का इसमे वर्णन है। ऋतु-वर्णन की दृष्टि से यह आलकारिक शैली का अनुगमन करता है। राधाकृष्ण की द्युति और कान्ति वर्णन में काव्य-सौष्ठव की सुन्दर छटा दृष्टिगत होती है।

जहाँ लगि दुति अरु कांति वखानो, कुंवरि अग देखत सकुचानी ॥६१॥
छवि ठाडी आगे कर जोरें, गुन की कला चौंर सिर ढौरे ॥६२॥
चित्र भई तेहि ठां चतुराई, पंगु भई चितवत चपलाई ॥६३॥
छुअ न सकत अङ्गन मृदुताई, अति सुकुमार कुवरि तन भाई ॥६४॥

### ऋतु वर्णन —

वसन्त—

खेलत कामिनि कन्त वसंत वढ्यौ मन मोद विनोद अनंगा।
तैसो रह्यौ वन फलनि फूल रंगे दोऊ प्रीतम प्रेम सुरगा॥
प्रिया मुख चन्द्र की ओर किशोर चकोर भये पिवे रूप तरंगा॥
सखी चहुँ कोद विलोकत हैं ध्रुव आनन्द को सुखसार अभंगा ॥८१॥

ग्रीष्म—

ग्रीषम की रितु जानि सहेलिन, कज कपूर की कुंज वनाई।
चन्दन चद के खंभ रचे दल कोमल रग सुरगनि छाई॥
उज्ज्वल सेज सुरंग सुहावनि वारि गुलाव सों लै छिरकाई।
राजत हैं ध्रुव लाड़िली लाल विनोद को मोद वड्यौ अधिकाई ॥६६॥

पावस—

स्याम घटा उमड़ी चहु ओरनि पावस की रितु आई सुहाई।
नाचत मोर मयूरी विनोद सौं आनद की वरषा वरषाई॥
कौंधें जहाँ तहाँ दामिनि कामिनि प्रीतम अक रही दुरि माई।
कैसे कही ध्रुव जात है सो छवि देखत नैन रहे हैं लुभाई ॥११०॥

षट्ऋतु वर्णन में एक ओर काव्य-शैली का पूरा निर्वाह दृष्टिगत होता है तो दूसरी ओर नित्यविहार-परक आध्यात्मिक भावना को भी ध्रुवदासजी ने दृष्टि से ओझल नही होने दिया है। ऋतु-सम्बन्धी छहो सवैयो को पढकर कवित्त-शक्ति का वोध होने के साथ विहार में ऋतु-परिवर्तन से होने वाली भाव-सृष्टि भी भावुक-भक्त के मन मे होती है।

इस ग्रंथ में १६२ कवित्त, दोहा, सवैया और चौपाई हैं। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है।

## २०—रसरत्नावली

शृगार रस की पृष्ठभूमि पर नित्यविहार का उपक्रम इस ग्रथ का प्रतिपाद्य है। प्रथम समागम के समय लाज और सकोच से घिरी हुई नवोढा जिस प्रकार अपने सहज शील का परिचय देती हुई रति-विलास से उपरत रहती है वैसा ही संकोच-शील-वर्णन इस ग्रथ में हुआ

है । किन्तु राधा के व्यवहार मे किसी प्रकार की जडता, अरुचि, अशोभनता प्रदर्शित नही की गई है । प्रियतम अपनी चतुरता से प्रिया को अपने वश में करने का उपक्रम करते हैं, दृष्टि कही रखते हैं और स्पर्श किसी और अग का करते हैं किन्तु राधा इतनी सावधान और सतर्क है कि वे इस व्याजक्रीडा से पराजित नही होती ।

**चितवन औरें अग पिय घुमो चहत अङ्ग और ।**
**तऊ बचत नहि चतुरई, कुँवरि चतुर सिरमोर ॥४॥**
**अलक सँवारन व्याज कै, परस्यौ चहत कपोल ।**
**मृदुल करनि डारत झटकि, रसमय कलह कलोल ॥५॥**

इस ग्रथ में शृ गार रस का विस्तार सुरत-प्रसग, विपरीत रति आदि काम-प्रसगो तक हुआ है । ध्रुवदासजी की निपुणता इसमें है कि वे इस वर्णन को जिस कोटिक्रम से उत्तरोत्तर बढाते गये हैं वह सहज स्वाभाविक क्रम है । भक्त कोटि के कवि के लिए इस सूक्ष्म और ब्यौरेवार वर्णन का ज्ञान निसर्ग-सिद्ध ही मानना होगा । लौकिक काम-वासना के उन्नयन के लिए इस प्रकार के सविस्तर वर्णन की आवश्यकता कदाचित् आज के युग मे युक्ति-सगत प्रतीत न हो । कभी-कभी तो इस वर्णन का पृष्ठाधार इतना कामोत्तेजक प्रतीत होने लगता है कि यदि नित्यविहार का मर्म अन्तर्नेत्रो के सम्मुख न रहे तो इस प्रकार का समस्त वर्णन आद्योपान्त शुद्ध भोग-शृ गार ही लगेगा । ध्रुवदासजी के मन मे भी यह बात किसी न किसी रूप मे थी तभी इस ग्रथ के अन्त मे उन्होने स्पष्ट कहा है कि यह रस साधारण जनता के लिए नही है इसे गोप्य ही समझ कर अनधिकारी से इसका उद्घाटन नही करना चाहिए—

**महा गोप्य अद्भुत सरस चितत रहै मनमाहि ।**
**या रस के रसिकनि बिना सुन ध्रुव कहिवो नाहि ॥५०॥**

## २१—प्रेमावली

भक्तिमार्ग के आचार्यो ने भक्त के अधिकार-विचार से भक्ति के विविध मार्गों का उपदेश किया है । भक्ति के वे विविध मार्ग 'विधि-मार्ग' कहलाते हैं । इस विधिमार्ग से न चलने वाले भक्तो के लिए 'रागमार्ग' का विधान है । रागमार्ग से रागानुगाभक्ति का अनु-सरण किया जा सकता है । यह राग-मार्ग भक्त की भावना के अधिक समीप और सुखकर होने से विधिमार्ग से श्रेष्ठतर है । किन्तु इस रागमार्ग में भी कुछ विधि-विधान रहते हैं अत हितहरिवश जी ने अपनी भक्ति को शुद्ध प्रेममयी बनाकर स्वतन्त्र रूप से 'हितमार्ग' का उन्मेप किया जो समस्त वैधी व्यवधानो से रहित अविच्छिन्न प्रेममय मार्ग है । इस मार्ग में साधन, साध्य, उपासना, उपास्य आदि सब कुछ प्रेम या हित मे ही है ।

प्रेमावली मे इसी प्रेममार्ग का वर्णन ध्रुवदासजी ने किया है । विषय-वर्णन का क्रम इस प्रकार है—प्रारम्भ में श्री हितहरिवश जी का स्वरूप, श्री लालजी की प्रेमाधीनता, श्री प्रियाजी की उदारता, प्रियाजी का शील, स्वभाव, रूप, गुण, सौन्दर्य, आदि का वर्णन ।

श्री हितहरिवश जी का स्वरूप-निरूपण करते हुए मगलाचरण में सैद्धान्तिक भावना की ओर स्पष्ट इगित किया गया है —

प्रकट प्रेम कौ रूप धरि श्री हरिवंश उदार।
राधावल्लभ लाल कौ प्रकट कियौ रस सार ॥१॥
हरिवंश चन्द सब रसिक जन राखे रस मैं बोरि।
प्रेमसिन्धु विस्तार कै नेम मेंढ़ दई तोरि ॥२॥

प्रेम का स्वरूप बताते हुए श्रीकृष्ण की तन्मयता का बडा सटीक वर्णन है :—

रूपवेलि प्यारी बनी प्रीतम प्रेम तमाल।
द्वै मन मिलि एकै भये राधावल्लभ लाल ॥३॥

इस ग्रथ में १२६ दोहे और एक कुंडलिया छन्द है। इस प्रकार कुल १३० पद हैं। इसका रचना-काल अन्त में इस प्रकार दिया हुआ है —

हित ध्रुव भई प्रेमावली, सुनत जुगल दरसाहि।
सोलह सै इकहतरा श्री वृन्दावन माँहि ॥१३०॥

## २२—प्रियाजी की नामावली

इस नामावली में राधा के उन नामो का ध्रुवदासजी ने सकलन किया है जो राधा के प्रेम, सौंदर्य, रूप, भाव एव रस के आदि गुणो के द्योतक हैं। दूसरी विशेषता यह है कि सभी नाम नित्यविहार से सम्बन्ध रखने वाले हैं। व्रजलीला या अवतारवाद से इन नामो का कोई सम्बन्ध नही है। सभी नाम किसी न किसी विशिष्ट भाव को दृष्टि में रखकर दिये गये हैं। एक प्रकार से ये राधा के नित्यविहार-परक स्वरूप के बोधक-परिचयात्मक नाम हैं। प्रत्येक नाम स्वतत्र और निरपेक्ष है। केवल एक शृङ्खला में छन्दोबद्ध करने के लिए ग्रथित कर दिये गये हैं। व्रजमडल के सुपरिचित लाड़िली, छबीली, रसीली, दुलहिनी, स्यामा, भावती आदि भी इस नामावली में दृष्टिगत होते हैं। सम्पूर्ण रचना में १०१ नाम गिनाये गये हैं। इस रचना को 'ललित नामावली' भी कहा जाता है क्योकि इसके अत में फलस्तुति वाले दोहे में ध्रुवदासजी ने यही नाम लिखा है :—

ललित नाम नामावली जाके उर झलकन्त।
ताके हिय में बसत रहै, स्यामा स्यामल कन्त ॥१०३॥

## १३—रहस्य मजरी

यह ग्रथ नित्यविहार का वर्णन करने के लिए लिखा गया है। प्रारम्भ में वृन्दावन का वर्णन है। वृन्दावन-वर्णन करने में भक्त ने अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहा है—

वृन्दावन छवि कहा कहौं, कैसेहुँ कहत बनै न।
नैननि के रसना नहीं, रसना कै नहिं नैन ॥१५॥

नित्यविहार वर्णन में सूक्ष्म विरह का भाव बडी सुन्दर शैली से प्रस्तुत किया गया है। आलिगन के क्षणो में उर से आवद्ध होने पर नेत्रो को दर्शन का विरह हो जाता है। यह क्षणिक विरह ही सूक्ष्म विरह है—

जब ही उरसौं धुर लपटाहीं, तब नैना विरही ह्वै जाहीं ॥३७॥
छूटै जब ही छवि देख्यौ करै, विरह आनि अङ्गनि संचरै ॥३८॥

**अटपटी भाँति कौ विरह सुनि भूलि रह्यौ सब कोइ।**
**जल पीवत है प्यास कौ प्यास भयौ जल सोइ ॥६३॥**

इस ग्रथ का रचनाकाल अत में इस प्रकार दिया हुआ है —

**सत्रह सै ह्वै ऊन अरु अगहन पछि उजियार।**
**दोहा चौपाई कहै ध्रुव इकसत ऊपर चार ॥१०५॥**

## २४—सुख मजरी

इस लीला मे प्रियाजी की हित सखी श्रीकृष्ण की दशा का वर्णन राधा से करती है और राधा से कहती है कि तुम जल हो और कृष्ण मीन हैं। कृष्ण तुम्हारे बिना क्षणभर भी जीवित नही रह सकते। तुम उनके लिए सजीवनी बूटी हो। कृष्ण की मदन व्यथा की चिकित्सा के लिए तुम्हें सन्नद्ध होकर शीघ्र उनके पास चलना चाहिए। यह सुनकर राधा कृष्णमिलन के लिए आतुर होकर चल पडती है और मिलते ही आलिङ्गन-चुम्बन आदि द्वारा उनकी कामना पूर्ण करती है। विहार-रत होने पर भी दोनो सदा अतृप्त बने रहते हैं—

**ज्यौं ज्यौं करत विहार दोऊ बाढ़त चाह विलास।**
**जल पीवत है प्यास कौ सोई जल भयौ प्यास ॥२२॥**

इस ग्रन्थ में २५ दोहे हैं। भाषा साधारण है। विषय भी नवीन नही है।

## २५—रति मजरी

शृङ्गार रस वर्णन के लिए इस ग्रथ का निर्माण हुआ है। रतिविलास के विविध रूप इसमें पल्लवित किये गये हैं। दोहा-चौपाई की शैली में ८२ पद हैं। राधावल्लभीय विरह का सुन्दर रूप प्रस्तुत किया गया है। एक बार प्रेम-प्रसग मे राधा ने भ्रूभग से लालजी को देखा और सगर्व वचन बोली, उसे सुनकर श्रीकृष्ण भयभीत से हो गये और उन्हें अपनी देह की सुध-बुध तक न रही। उन्हे लगा कि जैसे राधा मुझसे क्रुद्ध है। यह ध्यान आते ही उनके मन में विरह-दुख (सूक्ष्म) समा गया।

**विवस भये विरहज दुख भारी, लटकि परे गहि चरन बिहारी ॥३०॥**
**प्रेम प्यार की मूरति प्यारी लये लाल भरिके अक वारी ॥३१॥**

राधा के चरणो पर क्षमा-प्रार्थना की मुद्रा में झुक गये। राधा ने उन्हें प्रेमविह्वल हो अङ्क मे ले लिया।

## २६—नेह मजरी

राधाकृष्ण के स्नेह और नित्यविहार का वर्णन करना इस ग्रथ का लक्ष्य है। नित्य-विहार वर्णन के प्रसग में वृन्दावन और सहचरी का वर्णन स्वयमेव समाविष्ट हो गया है। सहचरी को गोपी से ऊपर स्थान देकर दोनो का भेद स्पष्ट कर किया गया है।

**नारदादि सनकादि सब उद्धव अरु ब्रह्मादि।**
**गोपिन को सुख देखि कै, भजन आपुनौ वादि ॥१५२॥**
**तिन गोपिनु ते दुर्लभ भाई, नित्यविहार सहज सुखदाई ॥१५३॥**

शिव श्रीपति जद्यपि ललचाई, मन प्रवेस तिन हूँ को नाई ॥१५४॥
हित ध्रुव दुर्लभ सबनिते नित्य विहार सरूप।
ललितादिक निज सहचरी सो सुख लहति अनूप ॥१५८॥

इसी मंजरी मे वृन्दावन के महत्व के सम्बन्ध मे लिखा है :—

वैभव सब ऐश्वर्यता ठाढी सेवत दूरि।
परसन पावत कबहुँ नहिं, वृन्दावन की धूरि ॥१६७॥

## २७. वन-विहार

इस लीला मे राधाकृष्ण के वन-विहार का वर्णन है। दोहा-शैली में ग्रथ लिखा है। ५४ दोहे हैं। दो दोहे फल-स्तुति और गणना-सूचक हैं।

दोहा कहै पचास पर चार विचारि निहारि।
श्री राधावल्लभ लाल जस पल-पल ध्रुव उरधारि ॥५५॥

राधाकृष्ण के विहार-वर्णन में आलंकारिक छटा देखने योग्य है। राधा-रूप-वर्णन मे प्रतीप, व्यतिरेक, उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार है—

कहा कहौं बानिक बनक सुन्दर परम उदार।
चरननि तर लोटत विवस निरखि रूप सिंगार ॥६॥
किंकिन धुनि मनो दुदुभि बाजत है चहुँ ओर।
कहा कहौं कह सकत नहि आनंद बढ्यौ न थोर ॥६॥
लई लाड़िली अङ्क भरि, कहा कहौं आनन्द।
मानौ छवि की चन्द्रिका लीनी गहि छवि चन्द ॥४३॥

## २८. रग-विहार

युगलकिशोर की प्रेममयी क्रीडाओ का इसमे वर्णन किया गया है। राधा के प्रति कृष्ण की ललक और भाव-व्यजना सुन्दर शैली से व्यक्त की गई है। रस की लीन दशा का एक दोहे में अच्छा चित्र खडा किया है—

छिन-छिन माहि अचेत ह्वै पलपल माहि सचेत।
नहि जानत या रग में गये कलप जुग केत ॥२०॥

नखशिख-वर्णन के लिए अनुकूल प्रसग की अवतारणा करके रूप-सौन्दर्य के भी कुछ चित्र अकित किये गये है। मांग, बिन्दी, आँख, नाक, चितवन, अधर, श्वसन, चिबुक, मुसकान आदि स्थूल प्रसाधक वस्तुओ, अङ्गो और अनुभावो का सश्लिष्ट वर्णन इस नखशिख में दृष्टिगत होता है—

अति सुरंग मोतिन सहित बनी मांग रस दैन।
मनो हांसि अनुराग मिलि, राजत रसपति ऐन ॥२४॥
कहि न सकत नासा बनिक, उन्नत समिलि अनूप।
चितवत मोती की छविहि भूल्यौ रूपहि रूप ॥२७॥

मधुमय अधर सुरग मृदु छवि सींवां सुकुमारि ।
दसननि पगति ज्योति पर दामिनि अगनित वारि ॥२६॥
उरजन की छवि कहा कहौं, तैसी झलकनि हीय ।
भूलत नाहिं मन के करनि, धरै रहत है पीय ॥३१॥
नखसिख दोऊ उरझि रहे नेकहु सुरझत नाहिं ।
ज्यौं-ज्यौ रुचि बाढै अधिक त्यौं-त्यौं अति उरझाहिं ॥३५॥

सूक्ष्म विरह का राधावल्लभीय भाव निम्न दोहे में वर्णित हुआ है—

नेक कुँवरि मुरि सखी सौं बात कही लगि कान ।
पिय की गति औरे भई कोटिक विरह समान ॥४०॥

दोहो की सख्या अन्त में इस प्रकार दी है—

छप्पन दोहा कहे ध्रुव रग विहार अनग ।
या रस सौं जे रग रहे तिनहीं सौं करि सग ॥५६॥

## २९ रसविहार

राधाकृष्ण की प्रेम-लीला वर्णन करने के लिए इस ग्रथ में रूपक अलकार का आश्रय लिया गया है । प्रथम दोहे में ही साग रूपक खडा करके नाव में लीला करने का उपक्रम है ।

रूप नदी करिया मदन, नवल नेह की नाव ।
चढ़े फिरत दोऊ लाडिले छिन-छिन उपजत चाव ॥१॥

२२ दोहो में यह लीला समाप्त हुई है । विषय और भाव की दृष्टि से इसमें कोई नवीनता नही है ।

## ३०—रग-हुलास

इस लीला में राधाकृष्ण का नखशिख-वर्णन सुन्दर शैली से हुआ है। उत्प्रेक्षा की झडी लगा दी है और रूपक की तह पर तह जमाई गई है ।

नखशिख—

कजरारे उज्ज्वल सुरग अनियारे दोऊ नैन ।
उपमा और कहा कहौं मोहन मन हरि लैन ॥७॥
अधरनि की छवि कहा कहौं रसमय अधर सुरग ।
सींचत पिय हियलोचननि पानिप वारि तरग ॥८॥
अति सुन्दर वर चिबुक पर सांवल बिन्दु समान ।
मनहु स्याम मन अलप ह्वै बैठ्यो तहाँ धरि मान ॥९॥
नासा बेसरि फबि रही थिरकनि मुक्ता मग ।
मनहु खिलावत विधु बुधहि हित सौं लिये उछग ॥२८॥
कुंदन के रतननि खचे बनै तरौना कान ।
मानौ छवि के कमल ढिग झलकत छवि के भान ॥२३॥

कजरारे सुठि सोहने उज्ज्वल स्याम सुरंग।
नैननि छवि पर वारि सत खंजन कंज कुरंग ॥४१॥

## ३१—रंग-विनोद

काव्यशास्त्र में जिस प्रकार नवरस होते हैं ऐसे ही प्रेम के राज्य में नव रसो की कल्पना इस लीला में की गई है। सलज्ज चितवन, मधुर मृदु वचन, सरस संस्पर्श, उरोज-स्पर्श, परिरम्भन-चुम्बन, भाव-तरग, काम की तरग, विविध रति-केलि, वचन-रचना और रस मे लीन होना, ये नव रस गिनाये गये हैं। इस लीला में नखशिख का वर्णन है। चालीस दोहो की यह लीला है। माधुर्य भक्ति मे नवरस की यह मौलिक कल्पना है।

## ३२—ग्रानन्द-दसा

इस ग्रथ में यद्यपि रस-विहार का ही वर्णन है किंतु नायिका-भेद की शैली का प्रारम्भ में आभास मिलता है।

नौढ़ा मध्या अति चतुर प्रौढ़ा परम प्रवीन।
कुंवरि चरन नख चन्द्रिकनि सेवत ज्यों जल मीन ॥३॥

रस की लीन स्थिति का चित्र—

प्रेम चाह रस सिन्धु में मगन रहत दिन रैन।
उरसों उर अधरनि अधर जुरे नैन सों नैन ॥२७॥
रस समुद्र गहरे परे तृषित होत तऊ नाहिं।
नैन मीन ललितादिकनि तिरति फिरति तिहि माहिं ॥२८॥

नित्यविहार-परक सुन्दर कवित्त-सवैये इस लीला में हैं—

प्यार ही की कुंज और प्यार ही की सेज रची,
प्यार ही सों प्यारेलाल प्यारी बात करही।
प्यार ही की चितवनि मुसकनि प्यार ही की,
प्यार ही सों प्यारी जु कों प्यारे अंक भरहीं।
प्यार सों लटकि रहे प्यार ही सों मुख चहै,
प्यार ही सों प्यारी प्रिया अंक भुज भरिहीं ॥
हित ध्रुव प्यार भरी प्यारी सखी देखैं खरी,
प्यारे प्यार रह्यो छाइ प्यार रस ढरहीं ॥

## ३३—रहस्य लता

नित्यविहार-वर्णन इस लीला का प्रतिपाद्य है। प्राय वे ही भाव यत्किंचित् वाक्य परिवर्तन से इसमे रखे हैं जो रस-वर्णन करने वाली अन्य लीलाओ में है। रस की गोपनीयता पर इसमे बल दिया गया है।

यह रस परस्यो नाहिं जिन तिनहि न नेकु जताइ।
जैसे धन को धनी ध्रुव राखत दूरि दुराइ ॥५५॥

५८ दोहे तथा अन्त में एक कुंडलिया देकर यह ग्रंथ समाप्त हुआ है।

३४—आनन्द-लता

इस ग्र थ में नित्यविहार के आनन्दमय स्वरूप का परिचय कराया गया है। वृन्दावन का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए उसके अतरग रूप की सूक्ष्म विवेचना की गई है। वृन्दावन के वाह्यरूप सौन्दर्य का वहुत विस्तार से वर्णन है। वृन्दावन की भूमि ही नही वरन् उसका आकाश, दिशाएँ जलवायु-वेष्टित वातावरण सव कुछ आनन्दमय है। वृन्दावन स्वय सच्चिदानन्द घन-रूप है। अत में यहाँ तक कह दिया है कि वृन्दावन ही आनन्द है और आनद ही वृन्दावन है।

प्रारम्भ के साठ दोहो में वृन्दावन के आनन्दमय रूप का वर्णन है, उसके वाद १५ दोहो मे युगलकिशोर की आनन्दासक्ति वताई गई है। तदनन्तर नित्यविहाररत जुगल-किशोर को देखकर सखियो के दर्शन-आनन्द का वर्णन है। विहार के समय एक वार राधा-कृष्ण को प्रेम-सम्भ्रम हुआ। अर्थात् राधा अपना अहभाव विसर्जित कर 'मैं कृष्ण हूँ' इस प्रतीति में निमज्जित हो गई और श्रीकृष्ण अपना रूप भूलकर 'मैं राधा हूँ' ऐसा समझने लगे। वस दोनों सम्भ्रम में लीन होकर पारस्परिक आनन्दानुभूति का रसपान करने लगे। ध्रुवदास जी ने इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

**एक समै भ्रम प्रेम को वढ्यो दुहुँनि के हीय।**
**पीय कहत हौं ही प्रिया, प्रिया कहत हौं पीय ।।४०।।**
**उपजत अगनि अग रग छिन-छिन औरे और।**
**अति प्रवीन विलसत रहैं परम रसिक सिरमौर ।।४२।।**

यह ग्रथ ४९ दोहों में समाप्त हुआ है। इसके वृन्दावन-वर्णन मे आनन्द ही का प्राधान्य है, यही इस ग्रथ की विशेषता है।

३५ प्रेम-लता

इस लता में प्रेम का विवेचन है। प्रेम को राधावल्लभ सम्प्रदाय में समस्त क्रिया-व्यापारो का मूल और नित्यविहार का मेरुदण्ड माना जाता है। प्रेम और राधाकृष्ण एक ही है। इस प्रेम में लीन रहकर आसक्त भाव से आनद उठाने वाली है सहचरी। सहचरी तत्सुखी भाव से युगलकिशोर की क्रीडाओ के निकुज रन्ध्रो से देखकर आनन्दानुभूति प्राप्त करती है। माधुर्य भक्ति-निष्ठ चैतन्य, वल्लभ, निम्बार्क आदि सम्प्रदायो में व्रज-गोपियो के प्रेम को त्याग-भावना के कारण सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय में सहचरी का प्रेम गोपियो से भी उच्चकोटि का है। व्रज देवियो को नित्यविहार सुख का दर्शन तक नही होता अत उनका स्थान निम्न कोटि में ही रहेगा। इस ग्रथ में इस तत्त्व की समीक्षा करते हुए ध्रुवदासजी ने बडे स्पष्ट शब्दो में कहा है—

**व्रज देविनु के प्रेम की बँधी धुजा अति दूर।**
**ब्रह्मादिक बाछत रहैं जिनके पद की धूर ।।१८।।**
**तिनहूँ को मन तहाँ न परसै, ललितादिक जेहि ठौं छबि दरसै ।।१९।।**

नित्यविहार अखंडित धारा, एक वैस रस मधुर विहारा ॥२०॥

सूक्ष्म प्रेम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है —

सूक्ष्म प्रेम न मन में आवै, स्थूल रूप सवहीं को भावै ॥४३॥
महा मधुर रस सवतें न्यारौ, जेहि ठाँ दुहुनि अपनपौ हारौ ॥४४॥
तिनहिं देखि आसक्तिहु भूली, ह्वै आसक्त सुरस में भूली ॥४५॥

सखियो का सुख नित्यविहार दर्शन है। यह सुख जुगलकिशोर के प्रेम से भी सरस माना जाता है क्योकि राधाकृष्ण तो एक दूसरे के सुख में सुखी रहकर भी एक अङ्ग से निज सुख के भी भोक्ता हैं किन्तु विहार का दर्शन करने वाली सखियाँ तो किसी भी रूप मे निज सुख के समीप नही पहुँचती। उन्हे निज सुख की न तो कामना है और न निज सुख पाने का कोई अवकाश ही है। वे पूर्णतया तत्सुखमयी और निष्काम हैं, अतः सहचरी का प्रेम वहुत ऊँचा है।

एक सूक्ष्म वात यह भी है कि केलि-क्रीडाओ मे प्रेमानन्द अनुभव करते हुए राधाकृष्ण जव लीन दशा में पहुँचकर अचेत हो जाते हैं और अपने निज सुख एव तत्सुख की स्मृति तक विस्मृत कर देते हैं उस समय भी सखियाँ सचेत रहकर उस सुख का आस्वादन करती रहती हैं। राधाकृष्ण प्रेम-समाधि में निमग्न होकर रसानुभव और रूपानुभव से रहित हो जाते हैं तव भी सखियाँ सावधान रहकर सभी रसो का आस्वादन करती रहती हैं।

इस ग्रन्थ में सहज विलास-रत राधाकृष्ण की प्रेम-दशा का वडे विस्तार से वर्णन मिलता है। ग्रथ मे दोहा-चौपाई मिलाकर कुल ६८ पद हैं।

## ३६ अनुराग-लता

राग उत्पन्न होने के पश्चात् मन का उसी दिशा में वार-वार प्रवृत्त होना ही अनुराग है। राग का यह अनुगमन ही प्रेम को वद्धमूल करने मे सहायक होता है। ध्रुवदासजी ने इस ग्रंथ का नाम 'अनुराग-लता' इसी कारण रखा है कि इसमें प्रेम की परिपक्व स्थितियो का वर्णन न होकर प्रेमोदय के पूर्व की विभिन्न अनुरागमयी स्थितियो का वर्णन है। प्रेम के विकसित रूप को इस ग्रंथ में स्थान नही मिला है, प्रेम-परत्व स्थिति ही इसका प्रतिपाद्य है। प्रेम-प्राप्ति के के लिए प्रेमी को क्या-क्या करना चाहिए, यह सव इसमें क्रमश लिखा गया है। प्रेमी की आन्तरिक स्थिति अनुराग से वढ़कर जव प्रेम मे पहुँचती है तव वह विषय-वासना, कामना-वाछाहीन हो जाता है।

प्रेम वीज उपजै मन माहीं, तव सव विषै वासना जाहीं ॥१॥
जगतें भयौ फिरौ वैरागी, वृन्दावन रस में अनुरागी ॥२॥

प्रेम के क्षेत्र में निष्काम-भाव को अक्षुण्ण रखना कठिन होता है किन्तु जो निष्काम प्रेम को प्राप्त कर लेता है वही सच्चा प्रेमी है—गोपियां प्रेममूर्त्ति कही जाती हैं किन्तु ज्यों ही उनके मन मे सकामता (वाछा) उत्पन्न हुई कि वे भी अपने उच्च पद से च्युत हो गई।

गोपिनु कै सम भक्त न आहीं, उद्धव विधि तिनकी रज चाही ॥२३॥
तिन मन कछु सकामता आई, तातें विच अन्तर पर्यौ भाई ॥२४॥

अनुराग उत्पन्न होने पर मन उसी ओर बार-बार दौडने लगता है। चित्तवृत्तियाँ आकर्षण की डोर से बँधी एक ही दिशा में सतत उन्मुख रहती हैं। तब प्रेम का बीज, अकुर बनकर वृक्ष का रूप धारण करने लगता है। शनै-शनै उसी वृक्ष पर फूल-फल लगते हैं। किन्तु यह प्रेम-तरु सबको सुलभ नही, इसके अधिकारी विशिष्ट कोटि के प्रेमी-भक्त ही होते हैं। बडे-बडे योगी-तपी-साधु भी इस प्रेम-तरु के फल प्राप्त करने के अधिकारी नही बन पाते। वैभव और ऐश्वर्य से अभिभूत हुए बिना केवल माधुर्य पक्ष पर ही दृष्टि रखने वाले भक्त इस प्रेम-प्रीति के अधिकारी माने जाते हैं।

**सुक सनकादि न जानत मेवा। जद्यपि करत बहुत बिधि सेवा ॥५७॥**
**वैभवता में सब अरुझाने। नित्यविहारी नहिं पहिचानें ॥५८॥**
**या रस जो समुझै सो जाने। और भजन विधि मन नहिं आने ॥५९॥**

इस ग्रन्थ में कुल ७४ दोहा-चौपाई हैं।

३७—रसानन्द

'रसौवैस' के रूप मे विख्यात रसमय, सच्चिदानन्दस्वरूप, ब्रह्म रसानन्दमय किस प्रकार है, कौन-सी स्थिति उसे रसलीन करने में समर्थ है, इसे केवल वृन्दावन-विहार से ही जाना जा सकता है, इस गूढ तत्त्वज्ञान के लिए ही ध्रुवदासजी ने 'रसानन्द' नामक ग्रथ की रचना की है। स्थूल और सूक्ष्म दोनो रीतियो से रस विलास की अद्भुत माधुरी प्राप्त करने के लिए रसानन्द का मनन आवश्यक है।

ध्रुवदासजी ने जिन ग्रन्थो के अत में रचना-सवत् दिया है उनमे यह सबसे प्रथम है। सवत् १६५० में इस ग्रन्थ की रचना हुई।

**सवत सै षोडस पंचासा, बरनत जस ध्रुव जुगल बिलासा।**
**—पद सं० १८४।**

इस ग्रन्थ की वदना, प्रस्तावना आदि की शैली से यह स्पष्ट है कि किसी दिव्य वस्तु के निर्देश के लिए इसमें उपक्रम किया गया है। इष्ट-वदना और गुरु-वदना के साथ रस की श्रेष्ठता और रस-वर्णन मे अपनी अक्षमता का उल्लेख किया है। इस ग्रथ को ध्रुवदासजी ने अपने रसवर्णन के प्रारम्भिक दिनो में ही लिखा होगा यह इस कारण और स्पष्ट है कि बाद के ग्रथो में इस प्रकार अपनी असामर्थ्य का कोई सकेत नही किया गया।

ग्रथ दोहा-चौपाई की शैली में है। प्रारम्भ में मगलाचरण है जिसमें श्रीहितहरिवशजी की वदना है। इसके बाद वृन्दावन-कुज का वर्णन है। कुजश्रृङ्गार के लिए प्रसाधन की सामग्री का सविस्तर वर्णन मिलता है—

चौपाई—

**मौरी सीस सुरग सुहाई, मोतिन माँग रची सुखदाई।**
**बैनी फूल देखि छबि न्यारी, मनु घन में प्रकटी उजियारी ॥**

मृग मद तिलक भाल पर कीयो, मधि विंदुका कुमकुम को दीयौ ।
लुटिला खुभी श्रवन झलकाई, बने नैन प्रतिविम्ब की झाँई ।।
—रसानन्द लीला—पृष्ठ ३१–३४

राधा के रूप को आसव बनाकर उसकी मदिरता का बडी आलकारिक भाषा में वर्णन है। अष्ट सखियो का ध्रुवदासजी ने यहाँ सेवा-भाव दिखाया है। द्यूतक्रीडा, वनविहार, वसतक्रीडा, फूलडोल, उद्वोधन, युगल छवि-वर्णन, शरद् रास नृत्य, जलविहार, पारस्परिक वेश-परिवर्तन आदि प्रमुख विषय इस ग्रथ में उपन्यस्त हुए हैं। इन समस्त विषयो का मूलाधार नित्यविहार है, उसी के पोषण के लिए ध्रुवदासजी ने विभिन्न स्तरो की लीलाओ का इसमें वर्णन किया है । यह ग्रन्थ निकुंजलीला तथा नित्यविहार को समझने के लिए उपयोगी है। इसमें कुल मिलाकर १८४ दोहे-चौपाई हैं।

३८—व्रजलीला

व्रजलीला आख्यानात्मक शैली से कृष्ण-राधा के मिलन का वर्णन करने के उद्देश्य से लिखी गई लीला है। इस लीला में कृष्ण किशोर हैं और राधा के प्रति आकृष्ट होकर उसके पास सखियो द्वारा पहुँचते हैं। सखियाँ राधा को कृष्ण से मिलाने मे सहायक होती हैं। कृष्ण के रूप को देखकर राधा उस पर मुग्ध हो जाती है और उन्हें अपना पूर्व परिचित-सा समझकर प्रेम करने लगती है। राधा कृष्ण के लिए व्याकुल रहती है और कृष्ण का मन भी राधा के लिए निशिदिन तडपता रहता है। पारस्परिक मिलन की वलवती आकाक्षा के कारण उन्हे खेलना, खाना, हँसना, सोना कुछ अच्छा नही लगता—

भूल्यौ हँसिवौ खेलिवौ भूल्यौ अंग सिंगार ।
निसिदिन रहैं या सोच में रुचत नहीं उर हार ।।७८।।

राधा से कृष्ण को मिलाने में ललिता सखी की चातुरी का वर्णन वडा विनोदपूर्ण हैं । कृष्ण को नारी-वस्त्रो में ढककर राधा के पास ले जाने में ललिता की कुशलता का वर्णन पठनीय है। व्रजलीला शब्द से सामान्य व्रजलीला का अर्थ नही समझना चाहिए। यहाँ राधा-कृष्ण के प्रेम-मिलन अर्थ मे ही इसका व्यवहार हुआ है। गोचारण, माखनचोरी, चीरहरण आदि उक्त व्रजलीला के विषय नही हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे व्रजलीला का वर्णन परवर्ती कवियो ने तो उस शैली से कर दिया है जिसमें अष्टछाप के कवियो ने किया था; किन्तु प्रारम्भ में व्रजलीला को यहाँ स्वीकार ही नही किया गया क्योकि नित्यविहार के समक्ष ये सब लीलाएँ तुच्छ और नगण्य प्रतीत होती हैं। राधावल्लभीय व्रजलीला को इसीलिए विशिष्ट रूप मे ही समझना चाहिए।

३९—जुगल-ध्यान

इस ग्रन्थ मे श्रीकृष्ण और राधा के वाह्य शृंगार का सम्मिलित रूप मे वर्णन किया गया है। एक ही वर्णन मे राधा और कृष्ण दोनो के प्रसाधन, वस्त्राभरण आदि को देखा जा सकता है। जैसे—

सुन्दर चिबुक कपोल मृदु अधर सुरंग सुदेस ।
मुसकनि बरषत फूल सुख कहि न सकत छवि लेस ।।

इस दोहे में चिबुक, कपोल, अधर और मुसकान का वर्णन इस शैली से किया गया है कि राधा और कृष्ण दोनो के लिए समान रूप से घटित होता है। भक्त के अंतर्मन में ध्यान करते समय इस दोहे के द्वारा जुगल मूर्ति एक साथ उपस्थित होगी और वह एक ही वर्णन से दोनो की वेश-रचना को साकार बना सकेगी। छवि-वर्णन मुख से प्रारम्भ होकर चरण तक जाता है। देवता-विषयक नखशिख को साधारणत नख से प्रारम्भ होकर शिख तक जाना चाहिए किन्तु इस ग्रन्थ मे लौकिक शृगार वर्णन-पद्धति को ही स्वीकार किया गया है। हितहरिवशजी ने भी व्रज-नवतरुणि कदम्ब मुकुटमणि श्यामा का नखशिख वर्णन इसी शैली से किया है और कबरी की शोभा सबसे पहले वर्णित की है। क्रमपूर्वक चिकुर से भ्रकुटि, नैन, तिलक, नासा, चिबुक, कचुकि भुज, नाभि, कटि, नितम्ब, जघा तथा अन्त मे पद-अम्बुज का वर्णन है।

**व्रज-नवतरुणि कदम्ब मुकुट मणि श्यामा आजु बनी।**
**नखशिख लौं अङ्ग-अङ्ग माधुरी मोहे श्याम घनी॥**
**यों राजत कबरी गूँथित कच, कनक कज वदनी।**
**चिकुर चन्द्रकनि बीच अर्ध विधु मानो ग्रसित फनी॥**

**—हित चौरासी, पद स० २६।**

जुगलध्यान मे युगलशृङ्गार-वर्णन करते समय सूक्ष्म अतर्दृष्टि से काम लिया गया है। युगल के श्याम-गौर ललाट पर श्याम और लाल रग की बेंदी (बिंदी) फब रही है मानो चन्द्र पर अनुराग और शृङ्गार मूर्तिमान हो रहे हैं—

**स्याम लाल बेंदी बनी सोभा बढ़ी अपार।**
**प्रकट विराजत ससिन पर मनौ अनुराग सिंगार॥४॥**

काव्यशास्त्र में अनुराग का रग लाल और शृङ्गार का श्याम माना जाता है। इन दोनो के वर्णन में गूढ़ार्थ यह है कि गौरवर्ण राधा ने श्याम बिंदु धारण करके शृङ्गार-रूपी कृष्ण को धारण किया है और श्याम वर्ण कृष्ण ने लाल बिंदु धारण करके मानो अनुराग-रूपा राधा को धारण किया है। इसी प्रकार के अनेक भाव इस ग्रन्थ में मिलते हैं।

इसमें अठारह दोहो में जुगलध्यान-वर्णन किया है। दो दोहो में इस वर्णन का महत्व बताया है। 'जो चाहत विश्राम ध्रुव यह छवि उर में आन।'

४०—नृत्य-विलास

इस लीला में राधा की नृत्य-कामना का वर्णन है। एक समय मानसरोवर के किनारे राधा अपनी सखियो सहित मडलाकार खडी होकर सरोवर के तट पर सारस, हस, चकोर, मयूर आदि का नृत्य-विलास देख रही थी। उनके मन में भी नृत्य का चाव उत्पन्न हुआ। उन्होन पैरो में नूपर पहन, साज-शृगार धारण कर नाचना प्रारम्भ किया। इस नृत्य में उन्होने कृष्ण को भी शामिल कर लिया। इस प्रकार सखियो सहित युगल-किशोर नृत्यलीला-रस का आनन्द उठाते रहे। यही इस लीला का वर्ण्य-विषय है। सैंतालीस दोहे-कुडलियों में लीला समाप्त हुई है।

## ४१—मान-लीला

अडतीस दोहो की यह छोटी-सी लीला राधाकृष्ण के प्रेम में सूक्ष्म मान का स्वरूप-बोध कराने के उद्देश्य से लिखी गई है। कृष्ण के मानयुत होने पर राधा अपने हृदय की व्याकुलता व्यक्त करती है और राधा के उदासीन होने पर कृष्ण उसके लिए व्यथित-व्याकुल होते हैं। काव्य की दृष्टि से रचना साधारण है। केवल मान-सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए ही इसे लिखा है।

## ४२—दान-लीला

एक वार श्रीकृष्ण यमुना-किनारे वसीवट पर सघन निकुज मे छिप कर खडे हो गये। मार्ग से निकलने वाली गोपियो से दान (कर) माँगने लगे। ललिता ने कृष्ण से कहा यह वनप्रान्त तो राधिका का है, तुम इसमें दान माँगने वाले कौन होते हो। यदि तुम्हे दान माँगना ही है तो राधा के चरणो मे पड़ कर प्रार्थना करो—तभी तुम्हें कुछ मिलेगा। कृष्ण ने दीनतापूर्वक राधा से प्रार्थना की और राधा ने उन्हे रतिदान देकर कृतार्थ किया। यही इस लीला का वर्ण्य विपय है। २२ दोहो में लीला कही गई है।

## श्री ध्रुवदास कृत पद्यावली (स्फुट पद)

ध्रुवदासजी ने कुछ फुटकर पद भी लिखे हैं जिनका मूल भाव नित्यविहार और उसके विधायक चतुर्व्यूहात्मक तत्त्वो का गान करना मात्र है। इन पदो मे ध्रुवदासजी ने सूरदास, हितहरिवंश, हरिराम व्यास, आदि की शैली मे रागो का भी विधान किया है। पदो की कुल सख्या १०३ है। इन पदो के प्रमुख विषयो का वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

प्रियाजी की नामावली, लालजी की नामावली, शृगार समय स्नान के पद, उत्थापन समय के पद, वन विहार के पद, व्याहुलौ। इनमें व्याहुलौ को कुछ लेखको ने स्वतन्त्र ग्रंथ भी माना है। व्याहुलौ मे जो पद दिये हैं उनमे नित्यविहार का रूप देखकर इसे व्याहुली का ऐकान्तिक रूप नही माना जा सकता। इसमें आख्यानात्मक शैली तो कही भी नही है। मुक्तक शैली से ही पद-रचना है। पद भापा और शैली की दृष्टि से सुन्दर है—

"तेरे नैन देखत नैन भूले उपमा कही न जाय।
मोहि रहे विसरी सुधि तनकी रूप तरग रहे हिय छाय॥
परम प्रवीन प्रेम रंग सीवाँ रुचि लिये चितवन मोहन भाय।
हित ध्रुव रीझि रसिक रंग भीने पाय पाय सुख चुम्बत पाय॥४२॥"

प्रेम की वात अटपटी भाई।
झुकि आई प्यारे लालन सौं मन में रह्यौ न जाई॥
गहि रहे चरण और दश अंगुलि मुख धर हा हा खाई।
रहे मनाइ बहुत नहि मानी अवनि पर्यो अकुलाई॥
तो सौं कही सखी तू प्यारी याते नाहि दुराई।
उनकी सोच रहत मन मेरे दुख पै है अधिकाई॥

इतनी कहत आइ गए मोहन तब सहचरि तन मुरि मुसकाई ।
हित ध्रुव लई अंक भरि मानौ रंक महानिधि पाई ॥६०॥

## मूल्यांकन

ध्रुवदास जी के ग्रंथो का पर्यालोचन करने के बाद संक्षेप मे हम उनका मूल्यांकन इस प्रकार कर सकते हैं —

१—ध्रुवदासजी की वाणी राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धान्तो का उद्‌घाटन करने वाली सब से समर्थ और व्यापक वाणी है । परवर्त्ती महानुभावो ने आपकी वाणी के अनुशीलन द्वारा ही सैद्धान्तिक मर्म को हृदयंगम किया । हितहरिवंश के भाष्यकार और व्याख्याकार के रूप में ध्रुवदास जी का स्थान मूर्धा पर है ।

२—ध्रुवदासजी की वाणी में काव्य-सौष्ठव इतनी प्रचुर मात्रा में है कि कही-कही रीतिकालीन श्रृंगारी कवियो का साम्य परिलक्षित होता है । हितश्रृंगार लीला आदि ग्रंथो मे जो कवित्त और सवैये लिखे हैं उनका बाह्य-अभिधेयार्थ रीतिकाल के कवियो के समकक्ष ही है । शब्द-शक्ति, अलंकार, काव्य-गुण और भाषा का प्रवाह यह बताता है कि ध्रुवदासजी ने साहित्य-शास्त्र का विधिवत् पारायण किया था । काव्य-रूढियो का भी आपकी वाणी में निर्वाह है । नायिका-भेद, नख शिख, ऋतु-वर्णन आदि रूढि-परम्परा में ही लिखे गये हैं । दोहा-कवित्त, सवैया, अरिल्ल, कुंडलिया और गेय पद-रचना पर आपका असाधारण अधिकार परिलक्षित होता है ।

३—नित्यविहार के मर्म को विशद विस्तार के साथ सर्वप्रथम ध्रुवदासजी ने ही प्रस्फुटित किया । निकुंजलीला का अन्य लीलाओ से भेद करने वाले भी आप ही हैं ।

४—आपकी गद्यवार्ता (वचनिका) तो अपूर्व रचना है । इस रचना में एक ओर जहाँ सैद्धान्तिक गूढ़ तत्त्वो पर सरल भाषा में प्रकाश पडा है वहाँ दूसरी ओर गद्य साहित्य का भी प्राचीन रूप देखने में आता है । इस गद्य का ऐतिहासिक महत्त्व अभी तक अज्ञात रहा है । गद्य-साहित्य का अनुसन्धान करने वालो को ध्रुवदासजी की इस रचना में अभिव्यंजना-सम्बन्धी अनेक तत्त्व उपलब्ध होगे । इस गद्य का यथोचित मूल्यांकन होना आवश्यक है ।

५—माधुर्य भक्ति की तल्लीनता और रस-व्यंजक पदावली की रोचकता जैसी ध्रुव-दासजी में है वैसी मध्ययुगीन भक्तो मे कम ही देखी जाती है । यदि छन्द भाषा और शैली-वैविध्य की दृष्टि से इनकी रचना पर विचार किया जाय तो निस्सन्देह ये रीतिकालीन और भक्तिकालीन कवियो की श्रृंखला जोडने वाले रससिद्ध कवि माने जायेंगे ।

---

षष्ठ अध्याय

# श्री नेही नागरीदास

नागरीदास नाम से हिन्दी साहित्य मे कई भक्त-कवि विख्यात हैं, किन्तु राधावल्लभ सम्प्रदाय के नागरीदास का नाम 'नेही' उपाधि के कारण सबसे अलग हो जाता है। अत. आपके विषय में किसी प्रकार भ्रम या सशय का अवकाश नही रहता। श्री भगवत मुदित ने ८५ पदो मे आपका चरित लिखा है। उसमे आपका सम्पूर्ण इतिवृत्त मिल जाता है।

धर्मी श्री हरिवंश के तिनकौ भयौ जु सग।
रसिक नागरीदास उर चढ़ौ प्रेम कौ रंग॥
नागरीदास बेरछा रहते, हरिजन निरखि दौर पग परते।
पावन छत्री कुल जु पवार, चाहत गुरु कीनौं निरधार॥
भागन चत्रभुज दास जु मिले, चरचा करि रस रंग में झिले।
संगति करि वृन्दावन आये, श्री वनचन्द के पग लपटाये॥
भागमती भावज हू आई, दुहुन एक संग दीक्षा पाई॥[1]

उपर्युक्त पदो मे नागरीदासजी को पँवार क्षत्रिय कुलोद्भव तथा वेरछा गाँव (बुन्देलखंड) का निवासी बताया गया है। शैशव से ही हरि-भक्ति की ओर आपकी विशेष रुचि थी। भक्तजनो से मिलने पर वड़े प्रमुदित होते थे। एक बार सौभाग्य से स्वामी चतुर्भुजदास जी के साथ आपका मिलना हुआ। उनकी कथा-वार्त्ता सुन आप वडे प्रभावित हुए और उनकी सत्संगति का लाभ उठाकर उन्ही के साथ घरवार छोड वृन्दावन चले आये। आपके साथ आपकी भाभी भागमती भी आई। दोनों ने एक साथ गोस्वामी वनचन्द्रजी से दीक्षा लेकर रसभक्ति को स्वीकार किया। श्री ध्रुवदासजी तथा चाचा वृन्दावनदासजी ने आपका स्मरण निष्ठावान भक्त के रूप में किया है।

---

१. अनन्य रसिकमाल—भगवत मुदित कृत। (हस्तलिखित प्रति से उद्धृत)।

'नेही नागरिदास अति जानत नेह की रीति ।
दिन दुलराई लाडिली, लाल रगीली प्रीति ।।
व्यासनन्द पद कमल सो जाके दृढ विश्वास ।
जेहि प्रताप यह रस कह्यो, अरु वृन्दावन दास' ।।[1]

चाचाजी ने हरिवश सहस्र नाम मे लिखा है —

'नमामि श्री हरिवश रीति रस प्रीति आगरी ।
श्री हरिवश सरोज चरन रतिदास नागरी ।।'[2]

## जन्म-सवत्

इनके जन्म-सवत् का निर्णय समसामयिक भक्तो के उल्लेख से ही किया जा सकता है। चतुर्भुजदास के आप समकालीन थे। ध्रुवदासजी के भी समकालीन रहे होगे। चतुर्भुजदासजी सवत् १६१० के बाद गोड देश वापस गये थे। वहाँ से प्रचार करके लौटते समय बेरछा पहुँचे। यदि सवत् १६१५ के आसपास चतुर्भुजदासजी का बेरछा आना माना जाय और नागरीदास की उस समय २५ वर्ष की आयु की कल्पना की जाय तो सवत् १५९० के आस-पास आपका जन्म-सवत् बनेगा। इतना तो निश्चित ही है कि विक्रम की १७वी शती के मध्य तक आप जीवित थे।

नेही नागरीदासजी की हितवाणी और नित्यविहार में अनन्य निष्ठा थी। वे हितवाणी के अनुशीलन में इतने लीन रहते कि उन्हे अपने चारो ओर के वातावरण का भी बोध न रहता। भागवत-कथा और नवधा भक्ति के मार्मिक प्रसगो का वर्णन भी आपको हितवाणी के आगे फीका लगता। किम्वदन्ती है कि एक बार आपके साथियो ने गुरुजी से आपकी चुगली करते हुए कहा कि नागरीदासजी भागवत-कथा मे रुचि नही रखते। गुरुजी के पूछने पर आपने स्पष्ट कहा कि हितवाणी के समक्ष मुझे कुछ और अच्छा नही लगता। किन्तु दूसरे दिन से गुरुजी की मनस्तुष्टि के लिए भागवत-कथा में आने लगे। एक दिन कथा में धेनुकासुर का प्रसग आया। ठीक उसी समय नागरीदास जी अपने मन में 'हित चौरासी' के 'चिबुक सुचारु प्रलोय प्रबोधत' पद की भावना में लीन थे। कहाँ एक ओर श्रीराधा के चिबुक का स्पर्श करके मनुहार करने वाले प्रियतम का ध्यान और कहाँ धेनुकासुर की टाँग पकडकर वध करने की क्रूर कठोर भावना। दोनो का तादात्म्य होते न देख एकदम खीझकर कथा के बीच ही उठ खडे हुए और खिन्न होकर घर चल पडे। गुरुजी के पूछने पर आपने यथार्थ वस्तुस्थिति उन्हे बता दी। प्रसिद्ध है कि इस घटना के बाद उनका मन कथा-वार्त्ता से सदा के लिए उचट गया तभी एकान्तवास की इच्छा से वृन्दावन छोड बरसाना चले गये।

बरसाना-प्रवास के सम्बन्ध में भी अनेक जनश्रुतियाँ सुनी जाती है। कहते हैं कि एक बार इनकी राधाभक्ति से प्रियाजी इतनी प्रसन्न हुई कि इन्हे उन्होने सखियो सहित रास का साक्षात् दर्शन कराया और तदनन्तर इनसे भोग भी माँगा। प्रियाजी के भोग माँगने पर

---

१ भक्त नामावली लीला—ध्रुवदास कृत, (ब्यालीस लीला) पृष्ठ ३२।

२ हरिवश सहस्र नाम—चाचा वृन्दावनदास (प्रकाशित) पृष्ठ २०।

आपने निशीथी भोग तैयार किया। राधाजी ने तभी इनसे अपनी वर्षगाँठ मनाने को भी कहा। उसी समय से बरसाने में राधाजी की वर्षगाँठ बडी धूमधाम से मनाई जाती है।

## अनन्य निष्ठा

उपर्युक्त किम्वदन्तियो मे सत्याश कितना है इसका विवेचन न करके हम नेही नागरीदासजी की अनन्यनिष्ठा और भावना पर ही विचार करना आवश्यक समझते हैं। आपका राधाष्टक ही आपकी भावना का प्रमाण देने के लिए पर्याप्त है।

रसिक हरिवश सरवंश श्री राधिका, सरवंश हरवंश वंशी।
हरिवंश गुरु शिष्य हरिवंश प्रमावली हरिवश घन धर्म राधा प्रशंसी॥
राधिका देह हरिवंश मन, राधिका हरिवश श्रुतावतंशी।
रसिक जन मननि आभरन हरिवंश हतिहरिवश आभरन कलहंस हंसी'।

इस अष्टक में राधा और हरिवश के सिवा किसी और को कुछ भी स्वीकार नही किया है। सच्ची अनन्यनिष्ठा का प्रतीक आपका यह अष्टक ही है। इस अष्टक का सम्प्रदाय में बहुत मान है। अनेक भक्तो ने इस पर टीका भी लिखी है। बरसाने के सम्बध मे आपने लिखा है :—

बरसानो हमारी रजधानी रे।
महाराज वृषभान नृपति जहाँ की कीरतिदा शुभरानी रे॥
गोप गोप ओपसो राजें बोलत मधुरी बानी रे।
रसिक मुकुट मनि कुंवरि राधिका वेद पुरान बखानी रे॥
खोरि सांकरी मोहन दूक्यौ दान केलि रति ठानी रे।
गहवर गिरिवन वीथिन बिहरत गढ़ विलास सुख दानी रे॥
दूध दही माखन रस घर-घर रसना रहत लुभानी रे।
पान करन कों आरत सार सर मानों सर को पानी रे॥
दीने लेत न चार पदारथ जाचक जन अभिमानी रे।
नागरीदास वास बरसाने भाग्य मतो जग जानी रे॥

## नेही नागरीदासजी की वाणी का प्रतिपाद्य

नेही नागरीदासजी की वाणी में अष्टक ही अभी तक प्रकाशित हुआ है। शेष रचनाए हस्तलिखित रूप में प्राचीन पोथियो में मिलती हैं। इन रचनाओ का विषयानुसार निम्न प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है।

१—सिद्धात दोहावली ६३५ दोहे।
२—पदावली १०२ पद।
३—रस पदावली (स्फुट पद सहित) कुल सख्या २३२।

सिद्धात दोहावली में भक्ति-सिद्धात सबंधी ६३५ दोहे हैं। इन दोहो का मूलभाव हितहरिवंश-प्रतिपादित प्रेमलक्षणा-भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करना है। नागरीदास ने रसिक

नृपति हरिवशजी की वाणी का यशोगान ही अधिकाश दोहो तथा पदो मे किया है। उनके मत में हितवाणी सर्वगुण-सम्पन्न, अगाध, अमल और रतिमाध से ओत-प्रोत है। उसकी गभीरता को केवल रस-मर्मज्ञ ही अनुभव कर सकते हैं। हरिवशजी ने वाणी-रूपी गुन (डोर) में राधा-कृष्ण की पल-पल में नवीन रूप धारण करने वाली छवि रूपी नगों को पिरोया है। उसी हार को रसिक अपने हृदय में धारण करते हैं —

व्यास सुवन वानी अमल, अति गुन अमित अगाध,
मोद विनोद लडावनें लोभ ललक रति साध ॥१०४॥
अति अगाध आनंद अमल, प्रेम ललक रस मूल।
हास विलास हुलास में वानी में अति फूल ॥११४॥
मरमी भजन गभीर विन (को) लहै मरम की चोट।
तन मन कोरो ह्वै गयो लिये प्रेम की ओट ॥११०॥
नव नव छवि अति विमल नग, गुन वानी मृदु पोहि।
रूप भेद रचि रसिक मनि सुजन धरै मन मोहि ॥९७॥

वाणी के पारायण से सुख की प्राप्ति होती है। पूर्णविश्वास के साथ वाणी में चित्त स्थिर करने के लिए अनेको उपदेशात्मक पद तथा दोहे लिखे हैं जिनमें सासारिक विषय-वासना का परित्याग कर, भक्ति-सागर में अवगाहन किया जा सकता है। वाणी के महत्व प्रदर्शन के लिए लिखे गये दोहे और पद सरस, उज्ज्वल भक्तिपरक और मनोहारी हैं। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

वानी सुधा समुद्र सुख मोद माधुरी नीर।
खेलैं मगल मीन-मन वस तरग गभीर ॥२८॥
हारक लता तमाल सुख गुन फल अमी अघाइ।
वानी छांह विहग मन किलकतु निजु निधि पाइ ॥१॥
श्री हरिवश विमल वर वानी।
वृन्दाविपिन विलास माधुरी पूरन रसिक अनन्य सुखदानी।
फूले फिरत मुदित मन रग मगे श्री व्यास रस जस के गानी ॥
नागरी दास रसिक वर सेवत सुलभ विहारि विहारनि रानी ॥९३॥

नागरीदास जी ने अनन्य प्रेम और अनन्य भक्ति पर जोर दिया है। अनन्य प्रेम का लक्षण करते हुए कहते हैं—'प्रेमी का मन सदैव चिन्ता में लीन रहता है जबकि प्रिय की झाँकी उसके हृदय में बस जाती है। प्रेम बिंधे नेत्रो की चितवन कुछ और ही हो जाती है। उसको ससार में कुछ और अच्छा नही लगता, प्रिय की निरन्तर खोज ही उसकी साधना बन जाती है —

सदा सोच में मन रहै परी जाय जिय झाँखि।
वह चितवन कछु और है प्रेम जु वीधी आँखि ॥१५३॥
प्रेम गह्यौ ज्यों जासु कौ ताहि न और सुहाइ।
तिनही तन खोजत फिरै, जग कहै लागी वाइ ॥१४॥

अनन्य व्रत धारण करना असिधारा पर चलना है। ज़रा-सा डगमगाने पर जीवन, जन्म, धन, मर्यादा सब की हानि उठानी पडती है।

**असिधारा पथ निवहनौं, चलि, जो राखै चित्त।**
**डगमगाइ पति खोइ है, जीवन, जनम, सुवित्त ॥३६॥**

भक्त को केवल राधा-कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ हो अनन्य भाव से भक्ति रखनी चाहिए अन्यथा अनन्यता की टेक निभ नही सकती। लोक-रीति के अनुसार अन्य देवी-देवताओ की भी पूजा करने से अनन्यता नही रहती, भक्ति भ्रष्ट हो जाती है। अनन्य भाव से की गई भक्ति को नागरीदासजी ने पतिव्रता-धर्म के सदृश तथा विविध देवी-देवताओ की आराधना करने को गणिका-धर्म से उपमित कर क्रमश. श्रेष्ठ और हेय बताया है :—

**'भक्ति भजन ज्यौं पतिव्रता, जग गनिका की बानि।**
**रागादिक व्यौपार भरि, सुजन भक्ति गति कानि' ॥५६॥**

पाखड और कपट जिस हृदय में वास करते हैं वहाँ भक्ति निवास नही कर सकती। भजन से हृदय शुद्ध होता है और आराध्य देव की प्राप्ति होती है। नागरीदास ने हरिभजन पर विशेष रूप से आग्रह किया है। भजन द्वारा अगम्य भी गम्य और अलभ भी सुलभ हो जाता है :

**भजन सलिल संग मीन-मन अगमहिं पहुँचे जाइ।**
**सावन जल बल प्रीति सौं सैल सिलन चढ़ि धाइ ॥२७॥**

भजन मानसरोवर के सदृश है जिसमें रूप सुधा का जल है। मन-रूपी हस गुण-रूपी मुक्ताओ को चुगकर आनन्द प्राप्त करता है :—

**भजन मनोहर मानसर रूप सुधा रस वारि।**
**गुन मुक्ता मन हस चुगि लच्छन वस्तु विचारि ॥७३॥**

भजन के साथ ही सत्सग को भी महत्व दिया है। श्री हितहरिवश के चरण कमल जिसके हृदय में वास करते हैं वही भजन कर सकता है। हितहरिवंश की भक्ति से ही नित्य-विहार के दर्शन हो सकते हैं। राधा रानी की कृपा बिना हितजी की शरण नही मिल सकती :—

**विना कृपा राधा रानी के क्यौंव सरन हित जू की पावैं।**
**जाकौ नाम सुनत परवस ह्वै स्याम सहित स्यामा उर आवैं॥**
**दपति रूप रसासव पीवे धर्मी धर्म विन और न भावैं।**
**नागरीदास श्री व्यास सुवन बल नित्यविहार औरनि दरसावैं ॥२६॥**

पदावली और रस पदावली मे रतिक्रीडा, रास, वृन्दावन और बरसाने के पद पाये जाते हैं। ऋतु वर्णन, हित हरिवश महिमा गान, मन-प्रबोधन सम्बन्धी कुछ पद भी मिलते हैं। पदावली में १०२ और रस पदावली मे २३२ पद प्राप्त हैं। राधावल्लभ सम्प्रदाय के सिद्धांतानुसार राधा रति (प्रेम) को श्रेष्ठतम तत्त्व माना जाता है। इसका आदि, अन्त और मध्य नही :—

प्रवल प्रेम वर तत्त्व पायो।
जाको आदि अन्त मधि नाहीं रसिक नृपति जु अदिख दिखायो ॥४॥

नित्य-विहार दर्शन से ही भक्त को परम आनन्द की प्राप्ति होती है। भक्त नित्य-विहार दर्शन की कामना करता है —

वर विहार चित्त चाइ चढ़ै।
प्रमुदित फूले न समात परस्पर परिरभनि चु वर्ननि वढै।
फैलि परै अव दृग छवि खग मानो वाज राज जुग कुलह कढै ॥

इस भांति राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्ति सिद्धातो की स्थापना नागरीदास ने अपनी दोहावली, पदावली और रस पदावली में सर्वत्र की है।

नागरीदासजी षट् ऋतुओ के वर्णन में कहते हैं —

ऋतु वसन्त फूलत वनराजी।
ललित लता मिलि अग तरगनि भांति-भांति तरु सभा समाजी।
मधुर मोर चातक कोकिल कुल मनहर मदन मडली साजी ॥
कौतुक कुशल केलि कानन कुंवरि तव नागरीदास सग सुखकाजी ॥

पावस का वर्णन है —

प्रेमवलि पावस बांट पर्‌यो।
पशु पक्षी थिरचर अनुरागी सव इक मना कर्‌यो।
प्रीति उमा हो ललक के बस परि धीरज रह्यो धर्‌यो ॥
नागरीदास यही वरषा ऋतु सबको तन मन हर्‌यो ॥

## काव्य-सौष्ठव

नागरीदासजी की वाणी के भावपक्ष और कलापक्ष दोनो ही उत्कृष्ट कोटि के हैं। भावाभिव्यक्ति में भाषा, शैली, अलकार, छद सबका महत्वपूर्ण योग दिखाई देता है।

आपकी वाणी की भाषा शुद्ध व्रज है। यत्र-तत्र देशज (बुन्देलखडी) शब्दो का प्रयोग दिखाई देता है। सस्कृत पदावली से उसे बोझिल बनाने का प्रयत्न नही किया गया। अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता और सरलता पाई जाती है। वाणी में कुछ इने-गिने अलकारो का प्रयोग मिलता है। सिद्धान्त दोहावली में रूपक का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक हुआ है :—

रूपक

वानी-कानन, मन-कुरी मुदित मत्यौ सतोष।
छवि गिरि सौरभ सुख स्रवै सरिता सर रस पोष ॥२२॥
भजन मनोहर मानसर रूप सुधा रस वारि।
गुन मुक्ता मन हस चुगि लच्छन वस्तु विचारि ॥७३॥

रूपक के अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, उपमा और अनुप्रास का भी प्रयोग किया है।

उत्प्रेक्षा :

वानी अम्बुद दामिनी त्रिपति वरषि अवमोद ।
मनु चातक विधि वीच अड़ि सुख भकोर चहुँ कोव ॥

वाक्यार्थोपमा :

आगम वादल देखिकें हिये थरथरी धरक ।
जैसे विटिया लाड़िली सावन पीहर खरक ॥

अनुप्रास .

सुभग, सलोनी, सरस, सुख सुंदर, सुलप सुकुंवार ।
सव सच समरथ सेइये सुलभ सुधा सर सार ॥

पदावली के पद रागो से सम्बद्ध हैं। रास सम्बन्धी पदो में स्वाभाविक नृत्यात्मक संगीतात्मकता पाई जाती है। काव्य की दृष्टि से नागरीदास की वाणी अति ललित और मधुर है। छद, अलकार, ध्वनि, आदि की ओर आपने विशेप ध्यान नही दिया।

नेही नागरीदासजी का साहित्य अद्यावधि प्रकाश में नही आया है। हस्तलिखित पोथियों में ही आपकी सरस वाणी वद पडी है। हम पाठको के अवलोकनार्थ कुछ स्फुट पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

स्वाहा शक्ति होम की जैसे ऐसे ही रति दम्पति जानि ।
आकरषति निजु अलि समाज सुख राखति ज्यों अपु अभ्यंतर आनि ।
ऐसे ही उनमानि जानि जिय जैसे पी जतु पानी छानि ।
नागरीदास गुरु पद प्रसाद तें परे जिय सरसि सलौनी वानि ॥१॥
मनुवां मैं तू वहुत जतन करि सिखयौ ।
रसिक सिरोमनि व्यास सुवन जू विमल भजन तोहि दिखयौ ॥
अव तौ और चलन नहिं वनि है अपनौ करि प्रभु रखियौ ।
नागरीदास भजन ढंग ढरि है असंगति चितवत विषयौ ॥२॥
शुद्ध शरीरी साधु सजाती ।
तेई सुहृद भजन के पात्र विमल वस्तु भरी छाती ।
धरमी मरमी मेरे मन मिले मंगल मन मति भांति ॥
नागरीदास वड़भागन पइए सुकृती सुजन सघाती ॥३॥
श्री हरिवंश चरन आनद घन ।
वरसत संतत सुखनि सुजन हित पावन पाइ प्रान जीवन घन ।
मंगल रूप माधुरी मूरत सुजन अवधि गंभीर गुननि गन ॥
श्री व्यास सुवन पद सद शुभ संपति सदा प्रकासौ नागरीदास मन ॥४॥
भजनी क्यो डरि है उपहासहिं ।
अपनी वस्तु तो हरि के काजें (क्यों) सहै जातकी त्रासहिं ।
सुहृद सनेही अपनी अपनी आतम मान करहू वसवासहिं ॥
वे परवाही व्यास सुवन को वलु है नागरीदासहिं ॥५॥

प्रवल प्रेम वर तत्त्व पायो ।
जाको आदि अंत मधि नाहीं रसिक नृपति जू अदिख दिखायौ ॥
दुर्लभ दुर्घट दुर्गम ठाहर जाकों प्रभु अलि मारग धायौ ।
नागरीदास श्री व्यास सुवन जू अकह भजन निरवधि पकरायौ ॥६॥
कांचौ पारौ खाय न पचि है ।
श्री हरिवंश भजन गद सेवन जहँ तँह मन ललचै कहावचिहै ॥
रसिक नरेश सुधासा धन विनु आन सपान न रचि है ।
श्रीव्यास सुवन पद पाछौ न गहै नागरिदास तरसि बहु तजिहै ॥७॥
विरलौ कोऊ जाननि हारौ ।
अद्भुत रूप अनूप अनोखौ बानी विमल गरव गुन गारौ ॥
कौतुक कुशल कमनीय रमोली मोद विनोद कोलाहल भारौ ।
लाडिलोलाल खेल को परावधि नागरिदास अनुराग पसारौ ॥८॥
श्री हरिवंश सरन जे आये ।
श्री वृषभानु कुवरि नंद नदन निज कर अपनी चिठीप चढाये ॥
दिये मुकराय कछू नहिं गोयौ किये मनोरथ मन के भाये ।
व्यास सुवन चरननि रज परसत नागरिदास से रंक जिवाये ॥९॥
मेरौ झूमत हथिया मद कौ ।
पिय हिय हिलग परी पग सांकरि मंमत अपनी सदकौ ।
सुरत नदी मरजादा ढाहति मानगुमान मरजाद जलद कौ ॥
नागरीदासी विनोद मोह मृदु आनद वर विहार बेहद कौ ॥१०॥
मो पर कछु करत है सखि नेहु ।
तू कहि मो अनुचर आरत कौ अधर सुधा है लेहु ।
हौं तो जब उर धरौं मृदुल पद मानत धनि करि देहु ॥
नागरीदासि अकुलात अक भरि अँखियन बरस्यौ मेह ॥११॥
प्रेम वलि पावस बाँट पर्यौ ।
पशु पक्षी थिरचर अनुरागी सब इक मना कर्यो ।
प्रीति उमाहो ललक के बस परि धीरज रह्यौ धर्यौ ॥
नागरीदास यही वरषारितु सबको तन मन हर्यौ ॥१२॥
आजु सुहावनो कल काननु ।
तैसी ये सजल स्याम घटा सघन सुरग नवललित उठावनु ॥
रटत चातिक नटत मोर आनन्द छवि कोकिल कल गन गाननु ।
नागरीदासी वलि वेखिये आछी हरित अवनि तामे कुज सु ठाननु ॥१३॥
उघरि मुख मुसकि मृदु ललित करताल दै सुरति ताडव अलग लाग लीनी ।
विविध विधि रमित रति देति सुख प्रानपति छाम कटिकिंकिनी क्वनित कीनी ।

उरप तिरपनि लेति सरस आलाप गति मुदित मद मैंन मधुर ऊधर दीनी।
अमित उपजन सहित सार सुख संचरन माम हिय लसत रमि रंगभीनी ॥१४॥
अद्भुत कौतुक नृत्य होतु है।
कुँवरि किशोर रङ्ग रचि भाते उमड़त पानिय प्रेम पोतु है।
कुंडल लोल ललित नासा मनि छपि समूह मुख हास उदोतु है।
बिंब ऊधर स्याम दसनावलि जगमगात अति ललक सोतु है।
झमकत हार उरज श्रीफल बिच लचक छाम कटि गति न गोतु है।
नागरिदासी विलास अकह गति सो रस सत सद मनिन भोतु है ॥१५॥
सौख सार सुकुमार कलेवर।
अँग अंग रंग हिलोर उमड़ि छवि फैलि समूह सुवसि झिले उर।
नव नव मन अहलाद स्वाद सद मंद किंकिन कंकन पगनेवर।
नागरिदासी धन धान घूमि घर चले जात लच्छन तव तेवर ॥१६॥
वर विहार चित्त चाह चढ़े।
प्रमुदित फूले न समात परस्पर परिरंभन चुंभननि वड़े।
फैलि परे ऊव दृग छवि खग मानो वाज राज जुग कुलह कढ़े।
नागरीदासि विवि प्रेम परावधि निज सजनी सुख सुजस रढ़े ॥१७॥
सुभग वहतु सव सीतल पवन।
पुलिन नलिन मकरंदी वहु रङ्ग विकट प्रवाह निकुंज भवन।
झकुरति लहरि अम्बुकन वरषत सौरभ मारुत श्रमनि दवन।
नागरिदास विलास पौषयतु फूल परस्पर लाडिली रवन ॥१८॥
प्रेम पपीहा की वलि हों री।
रटत रहत मेरौ सुभग सांवरो इकटक तेरी सौंरी।
मगन भयौ तन मन गुन गावैं परी है रूप उर औंरी॥
नागरी छिनक परी है फंसें तो विनकल कहि धौरी।
इतनौं श्रवन सुनत आतुर ह्वै लली अली सग हौं री।
नागरीदासि मिलि प्रीतम सौं लतालिलित ग्रह मौंरी ॥१९॥

## सप्तम अध्याय

# श्री कल्याण पुजारी

श्री कल्याण पुजारी जाति के सनाढ्य ब्राह्मण थे। इनका जन्म-सवत् ठीक-ठीक विदित नही है किन्तु गोस्वामी वनचन्द्र के शिष्य होने के कारण आनुमानिक रूप से सत्रहवी शती का प्रथम चरण ही इनका समय माना जायगा। गोस्वामी वनचन्द्रजी से आपने सवत् १६२० में दीक्षा ली थी। उस समय यदि आपकी आयु २० वर्ष की मानी जाय तो जन्म-सवत् १६०० ठहरता है। इनकी साधुनिष्ठा और प्रसाद-निष्ठा इतनी ऊँची थी कि इन्हे इसी निष्ठा के बल पर श्रीराधावल्लभजी के मन्दिर में पुजारी का स्थान प्राप्त हो गया था। किम्वदन्ती है कि साधुओ का उच्छिष्ट तक खाने में इन्हें कोई ग्लानि या परहेज न था। बडे गर्व के साथ साधुओ का उच्छिष्ट लेकर अपने को कृतकृत्य समझते थे। श्री भगवत मुदित ने अपने 'रसिक अनन्य माल में' इनका चरित्र लिखा है। वे लिखते हैं —

"बड़े रसिक कल्याण पुजारी, रहनि कहनि सवहीं ते न्यारी।
द्विज सनाढ्य रहे शुभ ज्ञात, गुरु सु कृपा तें भये विख्यात॥
श्री वनचन्द्र ते पायों नाम, सेवा हीं सो पूरन काम।
श्रीजी की अग सेवा करें, निज मन्दिर तें नेकु न टरें॥
अपने प्रभु को भोग लगावें, सन्तन जिवाइ उच्छिष्ट हि पावें॥"

भगवत मुदित आगे लिखते हैं कि इनकी इस प्रवृत्ति से कुछ लोग बुरा मानने लगे और उन्होने गोस्वामी जी के पास जाकर कल्याण पुजारी की शिकायत की और उन्हें पुजारी के पद से हटवाना चाहा। कल्याण पुजारी को गोस्वामी जी ने बुलाया और सच बात पूछी तो उदास होकर पुजारी ने मन्दिर की ताली उन्हें सौंप दी। उस दिन कल्याण पुजारी ने सेवा नही की। रात्रि में गोस्वामी जी को स्वप्न में श्रीजी के दर्शन हुए और उन्होंने कहा कि हमारा भोग कल्याण पुजारी को ही लगाना चाहिए। उसकी सेवा के बिना हम भूखे ही हैं। प्रभात होते ही गोस्वामी जी ने कल्याण पुजारी को बुलाकर फिर से श्रीजी की सेवा-पूजा का भार सौंप दिया।

कल्याण पुजारी अपनी इष्ट-अनन्यता के लिए प्रसिद्ध थे। वे कभी किसी और देवी-देवता की न तो पूजा करते और न किसी और मन्दिर में दर्शन करने ही जाते थे। जो लोग इधर-उधर दर्शन करते घूमते रहते उनसे भी वे यही कहते कि अपने आराध्यदेव की निरन्तर भावना करो, भटको मत।

"अपने इष्टहि देख्यौ कीजे, और कहूं मन जान न दीजै।
जो ह्यां सुख सम्पति अधिकाई, अपने लखि मानिये घटाई।"

कल्याण पुजारी की वाणी काव्य की दृष्टि से अति ललित, प्रवाहमयी और सार-गर्भित है। आपने रस सम्बन्धी तथा गुरु-उत्कर्ष सम्बन्धी वहुत ही सुन्दर पद लिखे हैं। पुजारी जी की वाणी का सम्पूर्ण सग्रह वृन्दावन में बाबा तुलसीदास जी के पास उपलब्ध है। हमने इसी संग्रह से पद-चयन किया है। कल्याण पुजारी की कविता मे कल्याण और कली दो छाप हैं। कवित्त, सवैया और छप्पय लिखने मे आपको अच्छी सफलता मिली है। शृंगार और भक्ति के पदो के साथ शान्त रस के भी पद आपने उत्तम कोटि के लिखे हैं। चचल मन को प्रवोधते हुए कहते हैं—

"अजहूं तजि रे घर कूं भरुवा करुवा गहि क्यों न चले वन कौ।
सिर सेत भयो गयो खोखरी ह्वै समुझावत क्यों नहिं या मन कौं।
सठ स्वान लौं धाम ते धाम फिरै धनि कारन धावतु है धन कौ।
हरिदासनि की करि आस 'कली' बहुरौ पछितैहै रे या तन कौ॥"

घरवार छोडकर वन मे चले जाने पर भी जिनका मन भोग-विलास से उपरत नही होता उनका वन जाना एक प्रकार का मिथ्या दम्भ ही है। जब तक मन में धन, मान, स्त्री आदि की कामना रहती है तव तक सव व्यर्थ है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहते हैं—

'घर तजि गयौ हुतौ वन में विचरिवे कौं,
भूलि वन गयौ पर वनिता न भूली यों।
माया को मनोरथ करतु नैन मूंदि मूंदि,
कबहू कमाते गज चढ़ि चढ़ि झूली यों॥
कबहुंक कंचन के धामनि चिनावत है,
कबहुंक नृप भयो देखि देखि फूली यों।
जग के जनाइवे कौं करत उपाइ सब,
देखत कल्यान हरि सव ही कौ तूली यो॥

रूपक की शैली से स्याम की वंसी का वर्णन करते हुए उसे काले सर्प का विप वताया है और उस विप को उतारने के लिए केवल घनश्याम का दर्शन ही उपाय ठहराया है।

"देह तौ छुटैगी पर नेह न छुटैगो भाई,
जब तें बजाई हरि वंसी कछु पढ़िकै।
ज्यों ज्यों उन तानिन की सुधि करौ मन मांझ,
त्यों त्यो कछु कारे सो विष गयो चढ़िकै।

कोऊ कहै याहि कछु लागि वैघी उर पैठ्यो,
कोऊ कहै याहि काहू जरी दई मढिकै ॥
कोऊ एकै लाइ है कल्यान घनस्याम बोलि,
याही नीकी करो अब बात कहै गढि कै ॥"

वशी की तान सुनकर ब्रजबालाओ की दशा बडी विचित्र हो गई है। उन्हे विवेक नही रह गया है। अपने शरीर की सुध नही रही है, उन्मत्त सी हुई इधर-उधर घूम रही हैं—

"बसी की तान कै बान मनोज के कान परै हरै प्रान हमारे।
छूटि गये गृह काज सबै सखि धीरज लाज विवेक सिधारे ॥
डोलत बोलत बावरी सी गति गात के चीर न जात सभारे।
भई ब्रजनारि सुभारु 'कलो' यही वास की बांसुरी को नहि मारे ॥"

कल्याण पुजारी की उपलब्ध वाणी में लगभग २०० पद हैं जिनमें कवित्त, सवैया, दोहा, सोरठा आदि छन्दो का ही प्राधान्य है। कल्याण पुजारी काव्य रस के पूर्ण वेत्ता र‸ ज्ञ कोटि के भक्त-कवि है। भाव्य व्यजना के लिए पुजारी जी ने अप्रस्तुत योजना का आधार शुद्ध काव्यमय रखा है। भक्ति का उत्कर्ष और रस मार्ग की उत्कृष्टता का प्रतिपादन आपने अनेक पदो में सरस काव्य शैली से उपमानो और प्रतीको के माध्यम से किया है—

"ओसनि प्यास बुझै न गयद की जो लगि सिन्धु न जाइ झकोरै।
ऐसे ही श्री हरिवश उपासक आस नहीं कहु और सों जोरै ॥
मत्त सदा रस में जस गावत भावत व्यास कुमार किसोरै।
कल्याण कियो निहचै मन में जिन सोई धनी धरमी धन मोरै ॥"

अनुप्रास और यमक की सुन्दर छटा के साथ श्री हरिवश की उपासना का वर्णन करते हुए कल्याण पुजारी कहते है—

"नारि हली ऐं पै नारि न छूटी यो नारि यै छूटनि जोगभई है।
देह लटी घटी जाति घटी घटी त्योहीं त्यो तृष्णा बहोत नई है ॥
कह्यौ चाहे कछू कहि आवत और वैसो ह्वौ भयौ मतिभ्रष्ट भई है।
श्री हरि सेवै अजौं किन पामर चावर की छवि वार लई है ॥"

पुजारी की कविता में माधुर्य भाव और माधुर्य गुण दोनो का ऐसा सुन्दर समावेश हुआ है कि उसे पढने के साथ ही मन में आनन्द की लहरिया उठने लगती है। प्रत्येक पद में लालित्य के साथ मार्दव है, शृगार रस के साथ भक्ति का पुट है। शृगार, शान्त और भक्ति-रस की दृष्टि से आपकी कविता प्रथम कोटि में रखे जाने योग्य है। पुजारी जी की वाणी से कतिपय सुन्दर कवित्त-सवैये हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं। इनमें विवेक, भक्ति, विषय-वासना का त्याग, श्याम-छवि आदि प्रसगो पर प्रकाश डाला गया है—

करुना वरुनालै सदा प्रभुजू यह नाम सुन्यो मैं सिरी गुरुते।
अब नाम प्रताप कहां लों कहौं, अजामेल फिर्यो जम के पुरतें ॥
जम-व्याध असाधक देखि डरै, स्वर पाह के चिह्न खुले उरतें।
अब ऐसी कल्यान कहा लों कहै, चली आई तुम्हारी कथा धुरतें ॥

'बरसै बरसाने की गोरी घटा नंद गाँव के सांवरे ऊपर री ॥
गुन रूप रसें धुरवा घहरें गरजे कटि किंकिन नूपर री ॥
अधरा मधु सब्द झला झलकें रति नीर बढ्यौ सेज भूपर री।
ललितादि 'कली' सलिता उँमगी उमै संगम सिंधु मिलै वर री ॥
'साप के खाये कौ मंत्र लगै परि आँखि के खाये को मत्र न तता ॥
वह पीर करै निवरे छिन में, यह घायल घूमे रहै रस मता ॥
वह देखत वाहि तजे तबही यह याही में जीरतु ज्यो जल जता।
यह फूली कली अली धैरु करे चिरु राधिका गोरी रु सामरौ कता ॥
रचना जु कछू भगवान रची न घटै न घटै न घटै न घटै।
सूर सदाई लरै रन में निवटै निवटै निवटै निवटै ॥
हरिदास कहाइ प्रपंचनिकौ न लटै न लटै न लटै न लटै।
हरि के सरनै विनु काल वली झपटै झपटै झपटै झपटै ॥
प्रेम के घाले भये घर ऊजर ते बहुरयौ फिरिकें न वसे।
नँदलाल चितै चितु चोरि लियौ कियौ ताकौ कछू फिरि नेंक हँसे ॥
जगमारग भूल गये सगरे, दृग, श्याम के रूप में जाइ घँसे।
ब्रज में बसि बावरी को न भई कली जाके हिये महँ लाल गसे ॥
"दृष्टि कुसी कर ओहड़ोदे वरि ले गयौ सावरौ चोर-मनें ।
रूप ठगौरी सी डारि कछू हों तो भूलि रही न सभार तनें ॥
सब देखतु लूटतु मोहि सखी, गयै भाजि लै चित्त औ वित धनें ॥
जा दिन ते भई ऐसीं कलीं घर को तजि, ढूढत डोलौं वनें ॥
"आजु प्रिया मुख की छवि देखत ह्वै गयौ मोहनलाल लटू।
पलकै न लगें उत नैन लगे इत देह सभारत नाहिं लटू ॥
अब हाथ से छूट गई मुरली अरु आपुही ते गयौ छूटि पटू।
धाई प्रिया हिय लाय लये कहे फूली 'कली' अली देखे भटू ॥

कवित्त—

मोहि सीख देति सासु, नन्द, बहू बार-बार
सांवरे से ढोटा तन जिनि न निहारै री।
आंखि मूंदि मूंदि कहौ कहाँ लों चलौरी माई,
वहा आय आगें काम वाननि ते मारे री।
कबहूं बजावै बैन कबहूं नचावै नैन
मृदु मुसिकाय पढ़ि मोहनी सी डारै री।
मनु तौ कल्याण एक सोई हरि हाथ परयौ।
होनी ही सु भई, गई वात, फैल पारे री ॥

धुवांन के औरहर धाइ धाइ देखियत,
ढिग गये लेत कछु हाथ न परत है।
मृग तृष्णा को भ्रम ऐसे ही ससार मधि,
हरि तें विमुख नर नरकन गिरत है।
दुख सुख निकुतानि आपु न ही जात वधि,
सुवा को स्वभाव विनु फदहि डरत है।
जाति पाति हीन भयौ दीन विषया कौं फिरै
कल्यान गुपाल विन जनमहि निदरत है ॥

सवैया—

"काल के गाल में गालु वजावत धावत है दुहु डाढ विचारे,
ऐते में केतो सुखौ करि मानत जानत है सवही कौ पछारे।
ज्यों अहि के मुंह में पर्यौ दादुर आपने भच्छि को अच्छी पचारें,
ऐसे ही भाति गसे सव जीव कली विनु स्याम, सुजीवन हारे ॥"

"देख्यौ हौं कौतुक श्रीगुरु कौ दयौ विवेक
सपनै के हाथी वडे-वडे सूर मारे जू।
जहा तहां भाजि दुरे तहीं तहीं सग जाइ,
दौरि पौरि देत हैं किवारि कुंजी तारे जू।
कबहूं न पावहि जान लागत प्रीतम प्रान,
धरनि गिरत भयभीत ह्वै पुकारे जू।
हरि ते विमुख नर पावै न कल्याण चैन,
जैसे गज अजौं भ्रमैं भीम के अखारें जू ॥"

"काल कौ कलेऊ तें कलेवरु धर्यौ है नर,
ताकेवर वरनु नहीं तू काहू और कौ।
करतु कलेश देस मेरौ है मृजाद यहां,
पूछ हू बुलाइ न्याउ करौ पाही ठौर कौ ॥
जैसे अहि दादुर गस्यौ है जनु काल वस,
होत सत विषया विकारनि के कौर कौं।
बूडत कल्यान तेई ढूढे ही न पाइयत,
जे न निजु गावत रसिक सिरमौर कौ ॥"

अष्टम अध्याय

# श्री अनन्य अली

श्री अनन्य अली का जीवन-वृत्त उन्ही के द्वारा लिखे गये 'स्वप्न-प्रसग' नामक वार्त्ता-ग्रंथ में उपलब्ध होता है। इस स्वप्न-प्रसंग में छोटे-छोटे पन्द्रह प्रसग हैं जिनमें अपने शैशव से वृन्दावन आने तक की कतिपय प्रमुख घटनाओ का लेखक ने वर्णन किया है। इस ग्रथ का रचना-काल कही नही दिया अत. यह निश्चय करना कठिन है कि यह कब लिखा गया। इन पन्द्रह स्वप्न-प्रसगो के आधार पर सक्षेप मे अनन्य अली का परिचय निम्न प्रकार है।

अनन्य अली व्रज-प्रदेश से वाहर कही दूर के रहने वाले थे। आठ वर्ष की आयु में श्रीजी के चरणो की शरण ग्रहण की। उनके घर मे राधावल्लभीय उपासना-पद्धति पहले से प्रचलित थी। शैशव मे ही हित चौरासी के चार पद याद किये। घर मे रहते तो उन्ही चार पदो को गाया करते—स्कूल में जाते तो वहाँ भी पद-गायन जारी रहता। खेल के समय अपने साथियो से भी उन्ही पदो को गवाते रहते। हित चौरासी के चार पद कंठस्थ करने के वाद ध्रुवदास जी लिखित 'वृन्दावन सत' कंठ किया। इसी प्रकार दो-चार वर्ष व्यतीत हुए। तव एक वार स्वप्न में उन्हे लगा कि कोई उनका नाम—भगवानदास-भगवानदास कह कर पुकार रहा है और कह रहा है कि, हे भगवानदास तू उठ और शीघ्र वृन्दावन चल। यह घटना प्रात काल होने पर उन्होने अपनी माता तथा भाई को सुनाई तो माता ने समझा कि उसका लडका भक्ति के कारण पागल हो गया है।

इसके वाद इनके भाई ने इन्हें हित चौरासी का अध्ययन कराया। 'चलहि किन मानिनि कुंज कुटीर' इस पद को छोड कर शेप सव पद आपने कठस्थ कर लिये। यह पद वार-वार याद करने पर भी याद नही हुआ। उस समय आपकी आयु वीस वर्ष की थी। उसी साल इनके भाई का शरीर छूटा। भाई से श्रीजी ने कृपापूर्वक प्रश्न किया कि क्या मरने से पूर्व भगवानदास (अनन्य अली) के लिए कुछ कहना है। तव भाई ने केवल यही कहा कि वह श्रीजी का भजन करे। भाई के निधन के वाद फिर वृन्दावन जाने की प्रेरणा करने वाले स्वप्न दिखाई पडे। तव स्वप्न मे ही एक दिन श्री गोस्वामी गोविन्दलालजी के दर्शन हुए और

उन्होने भगवानदास से कहा कि तुम विवाह के वन्धन मे मत पडना । तुम को हम वृन्दावन ले चलेंगे । तव सवत् १७५६ ज्येष्ठ वदी द्वितीया को वृन्दावन आये । उस समय मुगलो के उत्पात के कारण श्री राधावल्लभ जी का विग्रह वृन्दावन के मन्दिर से कामवन ले जाया गया था अत· श्रीजी के दर्शनार्थ आप कामवन (अजानगढ) गये । श्रीजी के दर्शन में राधा का विग्रह न देखकर आश्चर्य हुआ किन्तु दूसरे स्वप्न में गादी-सेवा का रहस्य समझ में आया ।

दर्शन करते समय इन्हे ऐसा लगा कि इनके भाई भी वहाँ उपस्थित हैं । भाई ने पूछा कि तुम भीतर ( मन्दिर में ) कैसे आ गये । तव आपने उत्तर दिया कि मुझे साक्षात् श्रीजी ने दर्शन देकर बुलाया है । फिर कामवन से वापस आकर गुरुजी के दर्शन करने गये । वृन्दावन में अपना निवासस्थान ध्रुवदासजी की कुटी के समीप वनाया । उस समय स्वप्न में अपने वाणिज्य-व्यापार का इन्हे ध्यान आने लगा । वाणिज्य-व्यापार की चिन्ता से मन खिन्न हुआ तव गुरु से इन्होने अपने मन का क्लेश कहा । गुरुजी ने अधिक सोने का निषेध किया । रात्रि के समय ध्रुवदासजी रचित लीलाएँ गाते रहते और निद्रा से दूर रहने का प्रयत्न करते । एक दिन स्वप्न में दामिनी के समान प्रखर दीप्ति इन्हे दिखाई दी । उसकी चमक मे इन्हे सव कुछ प्रकाशमय भासित होने लगा । वाद में इन्हे प्रतीत हुआ कि यह राधाजी का साक्षात् दर्शन था । इसके बाद श्री राधासुधानिधि के श्लोक कठ करने प्रारम्भ किये । दो सौ श्लोक तो स्मरण हो गये किन्तु वाद के सत्तर श्लोक कठ नही हुए । तव सावन की तीज को पुन कामवन श्री राधावल्लभजी के दर्शनार्थ गये । उसके बाद श्री राधाजी के दर्शन की इच्छा से तीन दिन तक सघन वन में बैठ गये, ज़लपान तक न किया । राधाजी ने प्रसन्न होकर कहा कि हम तो तेरे हृदय मे विराजती है तू उठ और प्रसन्नता पूर्वक प्रसाद ग्रहण कर । उसी समय उन्हें ढूंढते हुए सन्त जन जगल मे आये और उन्हे साथ लिवा ले गये ।[1]

अगले स्वप्न-प्रसग मे एक बनैनी का जीविका सम्वन्धी स्वप्न है । 'श्री गुरुजी की एक बनैनी सेवक ही । सोई नातो जानि मोको वहुतेरो दयौ चाहै, मैं उनको लेऊ नही, काहेते जो उनको पिता भैया म्लेच्छनि के चाकर हैं । मै उनको कहि समुझाई, सुनि वीवी, ये म्लेच्छनि को धान्य है, मै लेत नाही, इनते हियो मलिन होत, भजन भावना छीन होइ, इष्ट तें विमुख होइ, ठिकाने पहुँचे नाही' । अनन्य अली जी ने इस प्रसग में यही दिखाया है कि भोजन का भी शरीर और मन दोनो पर गहरा प्रभाव पडता है । उस बनैनी ने एक दिन खीर बनाकर गुरुजी की माता जी के यहाँ भेजी और सेवक भगवानदास ने उसे खा लिया । रात्रि में इस भोजन का बुरा प्रभाव हुआ और बुरे स्वप्न दिखाई दिये । उस स्वप्न में औरगजेब बादशाह के आने का भी स्वप्न आया जो वहुत ही बुरा था । ग्यारहवे स्वप्न मे भी एक वणिक के घर के प्रसाद का वर्णन है और उसके ग्रहण करने से भी मन पर बुरे प्रभाव की बात दुहराई गई है । इस स्वप्न में गुरुजी की वहिन सदाकुँवरि का नामोल्लेख भी है । बुरे अन्न का तन-मन दोनो पर अच्छा प्रभाव नही पडता यह इसमें दिखाया है ।[2]

---

१. स्वप्न-प्रसग—अनन्यअली कृत—प्रकाशक—बाबा तुलसीदास, वृन्दावन, पृष्ठ १,२,३,५ ।

द्वादश स्वप्न मे श्यामदास गुजराती के साथ कर्कश वचन वोलने का वर्णन है। श्यामदास गुजराती को बुरा-भला कहने पर स्वप्न मे यम के दर्शन हुए। प्रात.काल श्यामदास के पैर पकड कर क्षमा-याचना की और यम-दर्शन का सन्ताप दूर हुआ। त्रयोदश स्वप्न-प्रसग मे श्रीराधाजी के दर्शन का वर्णन है। राधाजी ने प्रसन्न होकर ही अनन्य अली नाम दिया और तभी से अपना पूर्व नाम भगवानदास छोड़कर अनन्य अली नाम स्वीकार किया।[1] अगले एक प्रसग में वर्णन है कि एक दिन ज्वराक्रान्त और दुर्वल होने के कारण श्रीजी को व्यारू कराना भूल गये तव स्वय श्रीजी ने प्रकट होकर आपसे व्यारू मागा और आपने उन्हे प्रीतिपूर्वक व्यारू कराया।

इन स्वप्न-प्रसगो के वाद आपने लिखा है कि यद्यपि स्वप्न की वात लिखना उचित नही है किन्तु मेरा हृदय अति दुर्वल है जो वात मन मे आती है, पचती नही। वाहर निकल आती है, इसी कारण लिख दी है—

"ये सुपने लिखने उचित नाही है, ये मेरौ हियौ अति काचौ है वस्तु परौ पच्यौ नाही। तातै निकसि पर्‌यौ ताते लिखी है। और मोसौ पतित कोऊ नाही सकल ब्रह्माड के पतितनि कौ हौ महाराज हौ।"

उपर्युक्त स्वप्न-प्रसग-वर्णनो के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकलते हैं —

(१) अनन्य अली जी का पूर्वनाम भगवानदास था। इनके घर मे वणिक्-वृत्ति होती थी। अत. यह अनुमान किया जा सकता है कि वे जाति के वैश्य थे। कुछ विद्वान् आपको जाति का ब्राह्मण कहते हैं किन्तु इनकी रचना के अन्त साक्ष्य के आधार पर ये वैश्य ही प्रतीत होते हैं।

(२) शैशव से ही राधावल्लभीय उपासना-पद्धति का अनुगमन करते चले आ रहे थे। गुरु गोविन्दलाल गोस्वामी से दीक्षा लेकर अविवाहित जीवन व्यतीत किया।

(३) वीस वर्ष की आयु में वृन्दावन आये। वृन्दावन आने का संवत् १७५९ है अतः जन्म-सम्वत् १७४० के आसपास मानना होगा।

(४) ध्रुवदासजी के कुटी के समीप वृन्दावन मे रहे और आजीवन वही रह कर पद-रचना करते रहे।

आपके लिखे ७९ ग्रंथ कहे जाते हैं। इनके ग्रन्थ अनन्य अली की वाणी नाम से सकलित है। प्रियादास नामक किसी व्यक्ति ने इनकी प्रतिलिपि की है जिसमे २८० पृष्ठ हैं। यह हस्तलिखित प्रति गो० मनोहरलालजी अहमदावाद के पास सुरक्षित है। लिपि करने का सवत् १८५३ लिखा है। रचनाकाल सवत् १७५९ से सवत् १७९० तक है। सवत् १७९० के वाद का कोई ग्रन्थ नही मिलता अत इसके आसपास ही आपकी निधन-तिथि समझनी चाहिए। आपकी वाणी से यह भी सिद्ध होता है कि वृन्दावन आने के वाद फिर कभी आप अपने घर (जन्मस्थान) नही गये और वृन्दावन में ही निकुजगति को प्राप्त हुए।

---

१ स्वप्न-प्रसंग—अनन्यअली कृत—प्रकाशक वावा तुलसीदास, वृन्दावन, पृष्ठ १४,१५,१६।

## श्री अनन्य अली की वाणी

श्री अनन्य अली की वाणी का विपुल विस्तार है। आपने सिद्धान्त, नित्यविहार, लीला, वृन्दावन वर्णन, जीव-दशा, ऋतु-वर्णन, नखशिख-वर्णन, रूप-वर्णन, हास-विलास वर्णन आदि विविध विषयो पर रचना की है। आपकी सम्पूर्ण वाणी का सग्रह लगभग ६००० पदो का होगा। हमारे देखने मे जितने पद आये हैं उनकी विषयानुसार सूची अन्त में दी जा रही है। सिद्धान्त प्रतिपादन और रसभक्ति का शृ गारपरक शैली से वर्णन आपकी वाणी का मुख्य विषय है।

अनन्य अली की वाणी मे प्रसाद और माधुर्य का बहुत ही सुन्दर योग हुआ है। छन्द-रचना में भी आपकी विलक्षण गति दिखाई देती है। जाति से वैश्य होने के कारण व्यापार सम्बन्धी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आपकी वाणी में अनेक स्थलो पर मिलते हैं।

जुगल भजन की हाट करि ऐसी विधि व्यौहार।
रसिकन सौं सौदा बने चर्चा नित्यविहार॥
चित डाडी पलरा नयन प्रेम डोरि सौं वानि।
हियौ तराजू लेहु कर तौल रूप मन सानि॥

—आशा अष्टक।

षट्ऋतु वर्णन में आपने बडे रसपूर्ण सवैये लिखे हैं। ऋतु-वर्णन के साथ ही उनमे निकु जलीला का भी दृश्य उपस्थित होता है। वसन्त ऋतु के वर्णन में कहते हैं—

माधुरी कुंजनि में विवि प्रीतम खेल वसतनि को सरसाई।
सेत सिंगार सुगध पगे सुलगे तन में न कछू दरसाई॥
अवनि मोर धरे कलसा मनि चीर गुलालनि सौ बुरकाई।
श्री हरिवश कृपा बलते बन खेल अनन्य अली निरखाई॥

ग्रीष्म ऋतु

लागत सीत न पागत अग मनौ घन में चपला चमकाई।
रूपनि केलिन की वरषा वरषं ऋतु ग्रीषम कौं जु बहाई॥
शीतल होत सखी सर देखत नै नि को पल कौन लगाई।
श्री हरिवश कृपा बलतें छवि केलि अनन्य अली दरसाई॥

वर्षा ऋतु

पावस की रितु आइ सुहाइ घटा रग-रग वितानिनि ताने।
कौंधत है चपला चहु ओर मनो पिक के हिय आय छिपाने॥
भातिन भाति बलाकन पांति सुराग मलार विलास बखाने।
श्री हरिवश कृपा वलते वन वानि अनन्य अली हरसाने॥

शरद् ऋतु

भानु सुना तट चैन सुघाट खच्यौ मणि मडल ही भलकाई।
तीन समीर सुगंधिन भीर सुफूल न फूलि रहै रुचिदाई॥

लाड़िलीलाल सखी तिहि ऊपर राजत भ्राजत है छवि छाई।
श्री हरिवंश कृपा बलतें बन रास अनन्य अली दरसाई॥

रीतिकालीन कवियो की पद्धति से नखशिख वर्णन मे अनन्य अली जी ने सहस्राधिक दोहे लिखे हैं। इन दोहो में काव्य-सौष्ठव, अभिव्यजना की कुशलता और विषय-वस्तु की व्यापकता देखकर भक्त-कवि के ज्ञान पर आश्चर्य होता है। रूप-माधुरी-विषयक कुछ दोहे उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं :—

वदन चद की माधुरी निरखत नवल किशोर।
पान करत छवि की सुधा तृषित न होत चकोर॥
पग तल कल की माधुरी नवल विमल चमकन्त।
तिनमें सुन्दर स्याम मुख प्रतिबिम्बित दमकन्त॥
परसन कौं कर तरसहीं दरसन दृग चपलाइ।
होड़ परी भुज नैन सौं लपट अति तरलाइ॥

'भोरता लीला' मे जुगलकिशोर को भोला और बावला बता कर बडा सुन्दर वर्णन किया है—

'ये भोरे ये बावरे दोऊ एक हवाल।
निरखि निरखि निज सखी सब कहत निहाल निहाल॥
श्री राधा के पदकमल विमल नवल सुखदाइ।
श्याम भृङ्ग जिनमें बसै ले मकरन्द अघाइ॥
श्रीफल कचन गिरि किधौं कुन्दन कलस अनूप।
उपमा सब फिसली परै सुनि लै इनको रूप॥'

श्री अनन्य अली ने चरण प्रताप लीला में स्वामी हरिदासजी का वर्णन किया है। इस वर्णन को पढ़कर यह विदित होता है कि स्वामी जी श्री हितहरिवंशजी के अति निकट थे और उनकी उपासना-पद्धति पर भी उनका प्रभाव था। हम नीचे स्वामीजी विषयक प्रसग को उद्धृत कर रहे हैं—

श्री स्वामी हरिदास रसीले, वृन्दावन में आहि वसीले।
अति प्रसिद्ध जग भगतहि जानै, सेवत श्री नरसिंह प्रमानै॥
पहिले ते नरसिंह उपासी, नैननि आगे दरस प्रकासी।
इनकी कथा बहुत है औरे, पढ़त रसिक जन ठौरहि ठौरे॥
भगवत मुदित जु और उपासी, रसिक माल में लिख्यौ प्रकासी।
तिनमें नीकी भाति निहारो, मन सन्देह दूरि करि डारो॥
तिनमें ते हम हू कछु जानी, वही कही सो बात बखानी।
श्री व्यासनन्द को सब पर जान्यौ, वचन रचन सुनि मन में आन्यो॥
श्री हित जू के शरनै आये, श्रवनहि में वर मन्त्र सुनाये।
लोक वेद की करी न कान्यो, श्री व्यासनन्द परसौ मन ठान्यौ॥

कुंजविहारी सिर पदराये, विधि निषेध जजाल छुडाये।
भये सु अति दृढ रसिक उपासी, श्रीजू नाम धर्यो हरिदासी ॥
अपनी सखी करि नेरे लीनी, महल टहल गान की दीनी ॥
—चरण प्रताप लीला, पद स० ५०।

श्री अनन्य अली की वाणी का मुख्य विषय जुगल प्रेमलीला तथा जुगल माधुरी वर्णन है। किन्तु प्रासगिक रूप से आपने अपनी वाणी में अनेक विषयो को स्थान दिया है। आप की वाणी में ग्रन्थो के नाम ही विषय-वस्तु या वर्ण्य-विषय का द्योतन कराने वाले हैं। अनन्य अली की वाणी सिद्धान्त प्रतिपादन के साथ काव्य-रस का पूरी तरह अनुगमन करती है। प्राय देखा जाता है कि धार्मिक सिद्धान्तो के सघन आवरण में काव्य-रस या तो छिप जाता है या नष्ट हो जाता है किन्तु इनकी रचना इसका अपवाद है। हम नीचे आपकी उपलब्ध रचनाओ की सम्पूर्ण तालिका दे रहे हैं—

| नाम ग्रथ | पद-सख्या |
|---|---|
| १—स्वप्न विलास (गद्यवार्त्ता) | — |
| २—जीव प्रकार | ११३ |
| ३—मन विनती लीला | १२६ |
| ४—आशा अष्टक | ८ दोहे |
| श्री हरिवशाष्टक | ८ चौपाई |
| ६—वृन्दावन वास की प्रथम अवस्था | १०३ दुपई |
| ,, ,, द्वितीय अवस्था | १०९ |
| ,, ,, तृतीय अवस्था | ३३ त्रिपदी छन्द |
| क—श्री हितजू के चरननि कौ नेम | ८ |
| ख—,, ,, नाम को नेम | १० |
| ग—,, ,, वानी को नेम | १० |
| घ—श्रीरसिक अनन्य सग को नेम | १० |
| ङ—जीविका को नेम | ४ |
| च—श्रीराधावल्लभ सों नेम | ७ |
| छ—श्री वृन्दावन के वास | १५ |
| चतुर्थ अवलोकन अवस्था— | १०० दोहे-सवैया |
| क—वसन्त ऋतु | |
| ख—ग्रीष्म ऋतु | |
| ग—फूल रचना | |
| घ—गेंद-खेल | |
| ङ—प्रेम सरोवर क्रीडा | |
| च—पावस ऋतु | |
| छ—शरद ऋतु | |

| | |
|---|---|
| ज—हिम ऋतु—सिसिर ऋतु | |
| झ—प्रार्थना | |
| ७—चरण प्रताप लीला | ७६ पद |
| ८—श्री क्रीडा सर खेल | १११—दुपई-दोहे |
| ९—प्रतिबिम्ब लीला | ११८—दुपई-दोहे |
| १०—श्री लाडिली जू की नामावली | १२७ ,, |
| ११—श्री लालजू की नामावली | ३५१ |
| १२—श्री हितहरिवंश जू की नामावली | ८१ |
| १३—वृन्दावन रजधानी लीला | |
| १४—वंशी विलास लीला | ६५ दोहे-चौपाई |
| १५—परिचर्या विलास लीला | ४४ दोहे |
| १६—षट् ऋतु लीला | ६ |
| १७—स्वप्न लीला | १० |
| १८—रहसि वचन विलास लीला | ४३ |
| १९—सुरतान्त विलास लीला | ३७ |
| २०—मगल विनोद लीला | २२ |
| २१—कुंज विलास लीला | — |
| २२—स्नान विलास लीला | —, |
| २३—सिंगार विलास लीला | — |
| २४—जुगल सभा विनोद लीला | — |
| २५—राजभोग लीला | — |
| २६—उत्थापन समय विलास | ६५ |
| २७—सन्ध्या समय विलास | — |
| २८—शयन समय विलास | — |
| २९—सज्जा समय विलास | — |
| ३०—वसंत रितु लीला | ३८ |
| ३१—ग्रीष्म रितु लीला | ७७ |
| ३२—पावस रितु लीला | १२० |
| ३३—शरद रितु लीला | १३२ |
| ३४—सिसिर रितु लीला | ४० |
| ३५—हिम रितु लीला | ३८ |
| ३६—फूल रचना विलास | २० |
| ३७—झीने चीर शोभा विलास | ५४ |
| ३८—चन्द चित्र | — |
| ३९—महाशीतल विनोद विलास | ३६ |

| | |
|---|---|
| ४०—चग खेल विलास | – |
| ४१—जल नौका विलास लीला | – |
| ४२—जल विहार लीला | १०४ |
| ४३—चरन अष्टक | ८ |
| ४४—नवल जुगल विनोद लीला | २० |
| ४५—ब्याह विनोद लीला | ८९ |
| ४६—चौपर खेल लीला | ७४ |
| ४७—शतरज खेल विलास | २८ |
| ४८—थलनौका खेल लीला | ८ |
| ४९—गेंद खेल लीला | १३२ |
| ५०—भड्डू खेल विलास लीला | ८ |
| ५१—आंख मिचौनी खेल (अपूर्ण) | ३२ |
| ५२—वचन विलास | १० |
| ५३—हास विलास | १०१ |
| ५४—विरह विलास | ८० |
| ५५—मगन विलास लीला | १०४ |
| ५६—छवि चन्द्रावली लीला | – |
| ५७—सजोग विलास | ७७ |
| ५८—लज्जा विलास | ४५ |
| ५९—मान विलास | – |
| ६०—दान विनोद लीला | – |
| ६१—रूप-विलास | – |
| ६२—सेवा विलास | – |
| ६३—छवि लता विलास लीला | – |
| ६४—ललिता लता विलास लीला | – |
| ६५—माधुरी लता विलास लीला | ९७ |
| ६६—रवमी लता विलास लीला | – |
| ५७—लावण्य प्रभा विलास लीला | – |
| ६८—कचन लता विलास | – |
| ६९—चन्द्रलता लीला | – |
| ७०—मृदुता विलास लीला | ७२ |
| ७१—सुकुमारिता की सीमा | ७२ |
| ७२—मोहनता की सीमा | – |
| ७३—नवल विलास लीला | २८ |
| ७४—विमल विलास लीला | – |

उपर्युक्त ग्रन्थो की तालिका हमने श्री बाबा वशीदासजी (हिताश्रम, वृन्दावन) के हस्तलिखित संग्रह के आधार पर तैयार की है। उनके पास जितने ग्रथो के पद हैं वे ही इसमे दिये गये हैं। जहाँ हमने सख्या नही दी है वे ग्रन्थ भी अहमदाबाद और टोढी वाली रानी के कुंज मे उपलब्ध हैं। बाबा वशीदासजी के सगृहीत पदो की सख्या ३४५६ है। यदि समस्त ग्रन्थो की पद-सख्या उपलब्ध हो सके तो वह लगभग ६००० होगी। इतनी विशाल पद-रचना ही श्री अनन्य अली के वाणी विस्तार को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है।

अनन्य अलीजी के गद्य का नमूना प्रस्तुत करने के लिए हम उनके 'स्वप्न प्रसग' से तीन प्रसग नीचे उद्धृत कर रहे हैं। यह ढाई सौ वर्ष पुराना ब्रजभाषा गद्य है किन्तु भाव-व्यजना की दृष्टि से यह पर्याप्त पुष्ट और प्राजल होने के कारण आज भी सुन्दर प्रतीत होता है।

## लीला स्वप्न प्रकाश सूधीवात

"स्वप्न भले-बुरे भाँति-भाँति अनेक भये, तिनमें जो जो कछु सुधि रहे सो लिखते हैं। जब मै आठ बरस कौ भयौ तब श्री जू के चरनै-शरनै आयो, और तब ही श्रीजी की श्रीचौरासी में के पद चार कंठ किये एक पद गौरी मे, 'वेनु माई बाजे बजी वट'। और छंद चारि, 'मोहन पद न त्रिभगी'। और राग बिलावल—'आजु नागरी किशोर भावती विचित्र जोर कहा कहौं अङ्ग-अङ्ग परम माधुरी'। और—'आज देखि वृज सुदरी मोहन बनी चेलि'। और श्रीचौरासी ते एक पद न्यारौ न रह्यौ कोऊ काहू मनहि दिये'। और श्रीचौरासी को एक पद, 'मदन मथन घन निकुंज खेलत हरि राका रुचिर सरद रजनी' एई पद सब बालकनि संग हम गावैं और गवावैं। खेलत में, डोलत में, उठत में, बैठन में, एई गावैं। और पढने कौं जाऊँ तहाँ एई गाऊँ एई लिखौं एई पढौं और पढाऊँ।

*तृतीय प्रसग*—तब मेरे भाई ने श्रीजी की चौरासी सिखाई, पढाई कठ कराई। तिन में एक पद क्योहू कठ न होइ, पद—'चलहि किन माननि कुंज कुटीर', यह पद कठ नाही भयौ। तब हौं बीस बरस कौ भयौ, तब ताई पाठ कर्यौ, एक घटि पद। तब भाई ने शरीर छोड्यौ निकुंज महल को पधारे। भाई के ऊपर श्रीजी की बहुत कृपा भई। जब शरीर छूटिबे को समयौ भयौ तब सब कृपापात्रनी पूछी, कि भगवानदास कौ कछू कहौगे, तब भाई ने कही कहा कहैं श्रीजी कौ भजन कीजियो। जब रात्री आधी रही तब मोंको कही तू उठि श्रीजी की चौरासी कौ पाठ करि। तब मैंने उठि के पाठ कीनों। तब प्रातःकाल भयौ कह्यौ मेरौ शरीर अब ही छूटैगौ। शरद की द्वैज को दिन हौं, तब ही भाई खाट परतें उतरे स्नान कीन्हौं, महाप्रसाद लीन्हौं, प्रसादी बीरी पाई। और कही ध्रुवदासजी की धमार ग

३—तीसरे रसिकदास वैराग्यपरायण भक्त थे। इनके विषय में भी गोविन्दअली का छप्पय मिलता है। ये लाडिलीदासजी के सगी-साथी थे। लाडिलीदासजी का समय सवत् १७८० से १८५० तक है अत आप भी इनके समसामयिक रहे होगे। किसी रचना की सूचना नही मिलती—फुटकर पद ही प्रसिद्ध हैं।

४—चौथे रसिकदास चन्द्रसखी की गद्दी पर बैठने वाले महानुभाव हैं। इनके गुरु-भ्राता खेमदास थे, 'वसन्त प्रबध' में चाचा वृन्दावनदास ने इसका सकेत दिया है। विशेष विवरण नही मिलता। चन्द्रसखी की राधावल्लभीय भावना का अभी तक बहुत कम विद्वानो को पता है। 'चन्द्रसखी' का मन्दिर वृन्दावन में अभी तक है और उनकी शिष्य-परम्परा का इतिवृत्त भी उपलब्ध है।

उपर्युक्त चारो का हमने इसलिए नामोल्लेख किया है कि समीक्षा के समय कही इनकी कृतियो का अन्तर्भाव न हो जाय और भ्रमवश एक की रचना दूसरे की न समझी जाय। जिन रसिकदास का वर्णन हमे अभीष्ट है वे इन चारो से भिन्न पाचवे हैं। इनके सम्बन्ध में चाचा वृन्दावनदासजी ने परिचय-छप्पय लिखा है और इन्हे भेलसा का निवासी बताया है।

'प्रथम भेलसा वास बहुरि वृन्दावन बसिवौ।
श्री राधावल्लभ इष्ट भजन में सदा हुलसिवौ॥
रहत भावना मगन प्रेम भरि आवत हीयौ।
गुरु पद्धति रसरीति विचारि रसिक सुख दीयौ॥
श्री हरिवश प्रसाद तें चित कुंज केलि कौतुक अर्यौ।
गुपत-रास रस मिथुन कौ श्री रसिकदास उर रुचि धर्यौ॥

## जन्म-सम्वत् और गुरु

इनकी कृतियो के अध्ययन से विदित होता है कि आप गोस्वामी धीरीधर के शिष्य थे। गोस्वामी धीरीधर का समय सवत् १६७०-१७६० तक है अत आप भी इसी काल में रहे होगे। रसिकदासजी की रचनाओ के नाम लताओ पर हैं। इन लताओ मे रचनाकाल दिया हुआ है जो सवत् १७४३ से १७५३ तक है। अत अठारहवी शताब्दी का प्रारम्भ इनका जन्म-सवत् माना जा सकता है। इनकी लिखी ७० लताए और एक ग्रन्थ 'रसकदम्ब चूडामणि' उपलब्ध है। प्रसाद लता मे, जिसका रचनाकाल सवत् १७४३ है, आपने अपने गुरु का नाम इस प्रकार दिया है —

'दृढ़ धरि श्री धीरीधर चरणा, मगल रूप अमगल हरणा॥
तिनके ज्येष्ठ तात बात कहि, रसिकदास सुख रासि पहैलहि॥

गुरु नाम का उल्लेख निम्न छन्द में मिलता है —

धरि हित श्री धीरीधरहि चितरूप अवधारि।
श्री हरिवश कृपा करें उपजै भक्ति विचारि॥

श्री रसिकदासजी सस्कृत भाषा के भी धुरन्धर पडित थे। 'मनोरथ लता' नामक आपके ग्रन्थ में वर्णवृत्तो की छटा सस्कृत छन्द-शास्त्र के आधार पर है। कही-कही तो सस्कृत पद

रचना शैली को ही आपने सर्वतोभावेन अपना लिया है। द्वितीय खड में अतिधृति छन्द मे लिखते हैं :—

एकान्ते सुकिशोर कामिनि कला कल्लोल कुशला कृते।
नाना केलि विलास हास ललित लीला अपांगा गिंने ॥
अद्भुत गति वितरैत कत विलस तश्च वरानने।
सानंगी रंगी करोति हृदि में अङ्गीय दासाश्रये ॥

इस छन्द मे यद्यपि अनेक स्थलो पर छन्दोभग हैं जो या तो वाद मे लिपिकार के प्रमाद से हुआ या किसी और कारण से किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि पद-रचना पर सस्कृत का पूरा-पूरा प्रभाव है। केवल अनुस्वार के प्रयोग से ही सस्कृत भाषा नही बनाई है अपितु तत्सम शब्दो का सुन्दर चयन भी किया गया है।

## रसिकदास की वाणी

| | |
|---|---|
| १—प्रसाद लता (सवत् १७४३) | |
| २—मनोरथ लता (मात्रिक वृत्त) | ११७ पद |
| ३—मनोरथ लीला (वर्ण वृत्त) | ३४ छन्द |
| ४—अभिलाषा लता | २७ कु डलियां |
| ५—सौन्दर्य लता | १४२ दोहे |
| ६—माधुर्य लता (स० १७४४) | १०१ दोहे |
| ७—सौभाग्य लता | ४७ दोहे, कवित्त, सवैये |
| ८—विनोद लता | ६९ पद, ४१ कवित्त ८ दोहे |
| ९—तरग लता | ६२ दोहे |
| १०—विलास लता | ७४ दोहे, चौपाई, कु डलिया |
| ११—सुखसार लता | ४० पद |
| १२—अद्भुत लता | ५७ ,, |
| १३—कौतुक लता | ९० ,, |
| १४—रहस्य लता | ४६ ,, |
| १५—रतन लता | ४५ ,, |
| १६—अतन लता | २७ ,, |
| १७—रतिरग लता (सवत् १७४९) | ३४ ,, |
| १८—हुलास लता | २४ ,, |
| १९—आनन्द लता | ५९ , |
| २०—चारुलता | ५४ ,, |
| २१—सुकसारीलता | १०१ ,, |
| २२—रसकदम्ब चूडामणि—(सवत् १७५३) | १०० ,, |
| रसकदम्ब चूडामणि—द्वितीय भाग— | १९ |

## रसिकदास की वाणी का प्रतिपाद्य

रसिकदासजी ने अपनी वाणी मे राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओ को विविध रूप से अकित किया है । अपने ग्रथो को लता नाम देकर उनके वर्ण्य-विषय को प्राय शीर्षक से ही व्यक्त करने की चेष्टा की है । उदाहरणार्थ मनोरथ लता, आनन्द लता, सौन्दर्य लता, विलास लता आदि नाम अपने प्रतिपाद्य का स्पष्ट सकेत देते हैं। इन लताओ में राधाकृष्ण के मनोरथ, सौन्दर्य, विलास आदि का वर्णन है । सौन्दर्य लता में परम्परागत नखशिख वर्णन किया गया है जिसमें केश से लेकर पैर के नाखून तक उपमानो द्वारा सौन्दर्य कथन हुआ है । इस नख-शिख वर्णन का उद्देश्य रीतिकालीन शैली से शृगार-वर्णन मात्र न होकर राधाकृष्ण की रूप-छवि अकित करना है जो भक्त के मन में अपने आराध्य के प्रति आकर्षण का भाव उत्पन्न कर उसे तल्लीन कर सके । यह वर्णन काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भी उत्तम कोटि का है । सौभाग्य लता में प्रेम की महिमा वर्णन करते हुए नेम को विस्मृत करने और प्रेम में लीन होने का सवैयो में बहुत सुन्दर प्रतिपादन हुआ है —

छिन ही छिन प्रेम दसा प्रिय की नव अङ्ग तरगिन रूप प्रिया ।
तितने ही उपाइ अपार विलच्छन राजत है सु छवीली त्रिया ।।
चेतत चेत अचेत ह्वै जात सुनावत बात बिसारि हिया ।
प्रेम को नेम लडावत छेम निछावर होत अभूत क्रिया ।।

विनोद लता में राधाकृष्ण के हास्य-विनोद का वर्णन बडी सरस पद्धति से किया गया है ।

छके छकाये छैल ये छके छवीले रूप ।
छिन में छल सौं छजनि पर छाजत भये अनूप ।।

रहस्यलता मे राधा की सखियो का विस्तारपूर्वक वर्णन उनके कार्यो का निर्देश करते हुए किया गया है । चित्रा, तुङ्गविद्या, इन्दुलेखा, रगदेवी, सुदेवी, चम्पकलता, ललिता और विशाखा नाम से जिन अष्ट सखियो का उल्लेख माधुर्यभक्ति के सम्प्रदायो में मिलता है, वही इस लता में है । 'आनन्दलता' में वस्त्राभूषण आदि का वर्णन है । 'हुलास लता' में वन-भ्रमण और वन-विहार का वर्णन है । 'चारुलता' सौन्दर्य-वर्णन के उद्देश्य से लिखी गई है किन्तु इसमें नखशिख को ग्रहण न करके विशेष रूप से अँगुलियों का ही वर्णन मिलता है। प्रत्येक अँगुली के चिह्नो का भी सकेत और अर्थ कहा गया है । 'सुवा मैना चरित्र लता' एक परिहास वार्त्ता है जिसमें राधा और कृष्ण अपने सुवा-मैना को बदल लेते हैं । तोता-मैना का सवाद होता है और वे अपने-अपने स्वामी का यशोगान करते है । रसकदम्ब चूडामणि सिद्धान्त प्रतिपादन के उद्देश्य से लिखा गया प्रतीत होता है । इसमें सैद्धान्तिक गाम्भीर्य नही है । वर्णन की सरणि भी पौराणिक अधिक है । विषय को अतिमानवीय शैली से घटाटोप बनाकर प्रस्तुत किया गया है । काव्य का सहज धर्म रस और आनन्द इसमें नही है ।

रसिकदासजी की वाणी में नवीनता न होने पर भी विषय को पल्लवित करने की

शैली अपनी है। उसका विभाजन भी उन्होने अपनी सूझ-बूझ से एकदम नवीन ढग से किया है। लताओं में काव्य-सौष्ठव पर्याप्त मात्रा मे है।

रसिकदासजी की वाणी का सम्पूर्ण सग्रह उपलब्ध है। इस संग्रह से हम उदाहरणार्थ कतिपय दोहे तथा पद नीचे उद्धृत कर रहे हैं —

छप्पय—

वृन्दावृन्दारण्य वृन्द सम्पत्य मुकटमनि।
वृन्द रूप गुन वृन्द वृन्द आनन्द सकल धनि॥
वृन्द सुजस रसवृन्द वृन्द मह वृन्द प्रतापहि।
वृन्द प्रभाव सुभाव वृन्द निधि रिधि आलापहि॥
वृन्द महत जहँ लगि कहत रहत व वृन्दावन सरन।
दुरित वृन्द छिन्दन करत सु वृन्दावन तारन तरन॥
वृन्दावन के वृन्द कों रसिक जु वदित नित्त।
वृन्द विविधि वन माधुरी वेगि उदौ करि चित्त॥

झूलना—

प्रकट हो निकट हो वन विलासी।
संग सुकुँवारि भुज डारि अंसनि सुभग हार उर चारु मदारलासी।
प्रेम उद्गार पिय प्यार तन भार जुत धार अपार छवि यों प्रकासी॥
सिंगार तर मूल सो फूल कै छवि लता प्रनप अनुकूल रस केलि कासी।
झलड अपार ही पलक लागत नहीं प्रगट हो निकट हौ वन विलासी॥
चित्त चित्त वन चरन तुप चिहुं ठरहो दिन रैन।
चित्र किये चित्रन विविध चतुर चखन दै नैन॥

चौबोला—

चित पाद सरोज नित्त मयाधार परमाधार।
श्री पुंजपराग दिने रचिराज सुखाकार परमाकारं॥
श्री राधा नंद तनय रस मूरति तं वद परमानन्दं।
नित्यं कुंज कुटीर मंजुल रविजा तीर सज्जानीर॥

इन्द्र छद—

सार सभार निहार निवारिन भूषन धारन कारन जेतो।
चारु विचार करे सुकुँवार निहारि उदार उदारनि एतो॥
वैननि चैन सु नैननि सैन लहै सुख दैन जु भारन केतो।
रंग कपोलनि अगनि डोलन केलि कलोलनि मारनि केतो॥

अवचरी छंद—

वरषत सुखधारा अद्भुत गति विहारा।
नवल नवकुमारा परम प्रेमाभिसारा॥

प्रमथि। मद मारा कोक कुशला न पारा।
ललित लुलित हारा। माधुरी मधुर सारा॥

धृति छंद—

वट तट खेलत कटि तट बाधे जघा फंके दडे।
सरपट चढ़िवौ झटपट धावै लासै वहु दडे॥
नटचट लाघव अटपट ताकै स्वेदा मासो गडे।
डट खट कूदन भट घट रोक्यौ छीवा छाई मडे॥

आकृति—

मजु सुभाव निकुंज में आवनि रस उत्सव वर छावनि से।
नैन नचावनि सैन जनापनि विहसै सुख सुख चावनि से॥
सेजहि पावनि के मन भावनि कोकनि रस उपजावनि से।
हियौ सिवा रावनि प्रेम बढ़ावनि गावनि गुनवर भावनि से॥

विकृति—

चंद से कुदज, सूर से अवुज, कवु कै नागप काव्य जेजो कथा।
खजने कुजर क्रजयौ कोकिल कीर सौ केलिय विविश्रोर्जोमद॥
कुन्दने सुन्दर दामिनी जो प्रभ मेघदो मानिक आदि दै ये सद।
चन्दने मन्दिर राधिकावल्लभ ध्वापते मानस प्रेम नामे कद॥

कुंडलिया—

दीन अकेली लुटति हौं हे वृन्दावन चन्द।
वटपारी पीछै फिरै डारत अपनो फन्द॥
डारत अपनो फन्द मनोरथ वन में देहीं।
सर्वस सुमिरन पूजि तहा हीमन को करहीं॥
तुच्छ हीन बेहाल दरद हमको नहि आवै।
तुम्हरे विन को आइ कहौ प्रभु यहा बचावै॥
भक्तिराज मारग भलै निपर्है सब स्वच्छन्द।
दीन अकेली लुटति हौं हे वृन्दावन चन्द॥
स्वाग प्रभू नीको वन्यौ भीतर भरी भगार।
भद्र वेष माला तिलक दर्पन देखि सिंगार॥
दर्पन देखि सिंगार सबै सत कारज सरहीं।
कामादिक विषे त्रास आस हमको ये दहहीं॥
रचक सुमिरन ध्यान महातम वहुतक चाहें।
कैसे कै सल परै भक्ति निहिकाम कहाँ है॥

## सौन्दर्य-लता

केश—

कुटिल लंब कल चीकने घने मिही महकान।
वार वार वर देत प्रिय वार आर निज प्रान ॥
अति छबीली स्वच्छ रचि वृक्ष लिलार लसाइ।
पियमन पक्षी लक्ष्यगति विहरत हित मड़राय ॥
विन्दु विविधि छवि वृन्द लै निदतु इंदुनि कोटि।
नौतन नहिं वेइ कला नाम कलानिधि ओटि ॥
कहा अनंगी-धनुष सम भूभंगी नव वाल।
जाकी भंगी में नचत नवल त्रिभंगी लाल ॥
नासा स्वास्त सौरभनि मनि मुक्ता अदोल।
मनो हास अनुराग की शोभा चढ़ी हिंडोल ॥
कवि दाड़िम, दामिनि मने कु द, हीर सुर स्वांति।
फल प्रसन्न के वीज ये कहें ललन दृग पांति ॥
आहि मैन खरसान ये कुंडल कहौं न वैन।
तीछन अनियारे भये जिन सो लगि लगि नैन ॥
कंठ रेख नहि देखि दुति प्रेम प्रतिज्ञा तीन।
लालन को हनसी करे मन क्रम, वचन अधीन ॥
चित्र विचित्र सु तरु लता उर गिरि गहवर चारु।
हरि मन कर विहरत फिरत मत्त मदांध निहारु ॥
नाभि सरोवर रूप जल मधुमादिक अधिकाय।
मन मतग नव रंग पिय क्रीडत नाना भाय ॥
कटि केहरि श्री कुँवरि की तवही गई लखाइ।
लाल सु चाल गयद के घर सल परत न पाय ॥
कल कुंदन हीरनि जलज श्रुति कुंडल झलकानि।
मनहुं कुँवरि फीरति लसत अपनी छविन कलानि ॥
कचन मनि नूपुर चरन रव नव नव सुर दैन।
मनु सावक कल हंस के कहैं कमल जस वैन ॥
मृदुता कलता अरुनता उज्ज्वलता वहु भीर।
देखनि गई न वाहरी एडी स्याम सुतीर ॥

## माधुर्य-लता

माधुर्य सु वैभव की लता जुता विहार विलास।
विविधि छविन फल फूल दल राजत आनंद रासि ॥
हरित दलनि पाता झलक लाल लाल सम जोइ।
पीत हेम हरताल दुति जुत छवि अगनित होइ ॥

रत्नलता मुक्तालता लता विद्रुम कचन वेलि ।
कुसुम लता एला लता लता सदन रचि केलि ।।
को सरवेसर की रही छवि-सर लागत नेज ।
बेधत मोहन मन मृर्गाह समर खेत सुठि सेज ।।
इन्द्रकला इन्द्रावती इन्द्रानी इन्द्रालि ।
इन्द्रमती इन्द्रामुहा इन्दुमती वरवालि ।।
रस सागर में जे परे अगन अगाध अपार ।
'रसिकदास' रस सिंधु भजि तजि व सिन्धु ससार ।।

## सौभाग्य-लता

कवित्त—

कस्तूरी अगरसार कास्मीर घनसार,
कज के पराग राग सौरभ मिलाइकें ।
बेली चवेली चारु मल्ली गुलाब गध सार,
प्रकृति अनुसार आलि देहैं रलाइके ।
उबटौगी प्रिये नहाइ शेष हौं सु अग लाइ,
कान्ति मो विलोकि जैहें उपमा पलाइकें ।
रूप की अनूप भाति हेरे प्रिय ललचति,
अपने सुख मडन को मांगे लिलाइकें ।।
वृन्दावन कुज भूमि सोभा समूह झूमि,
मृदु मनि मवूष कलत्रन तरलात है ।
विवि मुख चद अरुचद के अमृत कन,
तिन पर रहे वनि घन झलकात है ।
चलैहैं प्यारी पद रचे पिय जावक सद,
रगनि सुरग मिलि रग वरसात है ।
वदन विलास हासी वोलि हैं सु कहि,
हासी, हौन को अलकृत दो पग ललचात है ।।
प्रेम के विलास मांझ भूलि जाहि भोर साझ,
सोह गये वे सभार वसनन परिहर ।
कहू चोर चीरा कहू अ ग रग राजे दुहू,
मुक्ता के हार रहे हियन पर ठरहर ।
गजरा खुलि किंकिनी भुरी चुरी नीलमनी,
डरी परी झलकें सेज केसु तरहर ।
ललिता जू लै बुलाइ करि कर में दै वनाइ,
सो भा मेरी वेखें सौभा को न सरवर ।।

भूषन वसन चारुलाल लाडिली सिंगार,
कृष्नागर गंधसार आय कर लई हैं।
लै ऐहो कटोरी हाथ वारवार लेहि नाथ,
भागही सो उछरि छींट अंग मो पहि हैं॥
सौरभ सुगंध मोद भांति भांति के विनोद,
अंगनि अनंग केलि रंग सरदि हैं।
'रसिकदास' सुखरासि वारिधि विलास दोऊ,
सींचि सींचि नैन हिय मेरे सिमई हैं॥

सवैया—

छिन ही छिन प्रेम दसा प्रिय की नव अंग तरंगिन रू प्रिया।
तितने ही उपाइ अपार विलच्छन राजत है सु छबीलीं त्रिया॥
चेतत चेत अचेत ह्वै जात सुनावत बात विसारि प्रिा।
प्रेम को नेम लड़ावत छेम निछावर होत अभूत श्रिया।
सुमिरे कल सील सुभाव सुभाव सनेह भरी अवलोकन को।
मृदु माधुरी मोद विलास विनोद विनोदनकी रति झोंकन कों॥
लटके रस रूप छमे गहि थामि दोऊ करके कर रोकनेकों।
सुख प्रेम के नेम कहूँ रस लोचत सोचति है पिय कौनि कों॥
आनंद निधे अनुराग निधे अति रंग निधे मन जाप जपे।
लावण्य निधे कारुण्य निधे तारुण्य निधे तन ताप तपे॥
सौगंध निधे सौभाग्य निधे कल केलि निधे गननापन पे।
वर प्रेम निधे रस नेम निधे विधि अच्छर छेरछ छाप छपे॥
कंचन कौ मनि कौ वन कौ वन धातुन कौ धनि कौं गहनौ।
कै दलकौ फलकौ जलकौ जल जातनि पातनि कौलहनौ॥
लाड़न को लड़कावनि कानि कौ लाड़ लड़ावन कौ गहनौ।
प्रेम के नेम लिये पहिरावत भावति है छवि में रहनौ॥

## विनोद-लता

चौपाई—

बलि बलि श्रीहरिवश गुसाईं। गुन निधि कुंवरि कृपानिधि गाईं।
वाम विनोद विहार विलासी। अद्‌भुत केलि वेलि परकासी॥
कह्यो वन रम्य सुगम्य कृपावल, कुंवरि प्रसन्नारन्य दरसफल।
निर्मिति विद्रुम विविधि फटिकमनि। नव कर्पूर पराग रही वनि॥
चपक वमुल केतरी लता। विकसी लसी मालती जुता॥
छके छकाये छैल ये छके छबीले रूप।
छिन में छल सों छजनि पर छाजत भये अनूप॥

## विलास-लता

कहा कहौं कोटि सखी कोक कलनि निपुनाइ ।
पीवत जीवित नीरस बारबार लडाइ ।।

## सुखसार-लता

—

उडमडल सहचरिजन वृन्दा । मडित मडल विपि वन चन्दा ।
अवलवे आलव रहे । महा सिगार सार रस लहे ।।
विविधि विनोदन मोद बढावें । तिनके प्रेम कहें क्यो आवें ।
नित प्रति प्रीति रति ढुलरावें । हितचितक अति हित दरसावें ।।
थलक्रीडाश्रम उपसमन जलक्रीडा सुख देत ।
जलक्रीडा श्रम समन थल क्रीडा रसहेत ।।
परसन सरसनि अक की हुलसति हिय दुहुँ ओर ।
नैनन अङ्ग माधुरी लये चित्त वित चोर ।।

## अद्भुत-लता

सहज सु वृन्दा विपिन विराजै । अद्भुत भाँति-भाँति छवि राजै ।
तरुतीरन जमुना के शोभा । प्रफुलित फलनि लहलही गोभा ।
कुसुम गुच्छ नौतन मजरी । शोभित पकति भँवर गुजरी ।
मूल नील तरु कचन वेली । धन विछुन जनौ घर पर केली ।।
जटित जराइ अवनि सुखकारी । जल थल विकसित पुष्प महारी ।
मोर मृगी कलहस सुहाये । रहन सग भय कुँवरि लडाये ।।
बढ्यौ सिधु अति प्रेम कौ आनन्द कह्यौ न जाय ।
ऊलभ लाभ वल्लभ लह्यौ, वल्लभा कठ लगाइ ।।
विलसत विविध बिलास विहारी । या सुख की सखि हैं अधिकारी ।
या अद्भुत लतहि जो उर धारै । सो सुख वृन्दा विपिन निहारै ।।
अद्भुतता अद्भुतलता अद्भुत कही न जाय ।
रसिकदास अद्भुत हियें झलर चढ़र सरसाय ।।

## कौतुक-लता

करि प्रनम्य वन रम्य सुहावनि । गम्य अगम्य कृपावल पावनि ।
जमुना नीरहि नीरज सोभा । नौतन नूतन मजरि गोभा ।।
कीरनि भीरनि कोकिल गावें । मोर चकोर फिरें सँग चोवे ।
लतालता पर फूलनि फूली । रचना रचित उचित अनुकूली ।।
मधुरितु मधुकर मत्त तहाँ मुदित मनोज अवास ।
मुकलित मँहकत विविधि रग रही प्रकास प्रकास ।।

वायु आयु वाढ्यौ सखी आइ आइ सुख दैन ।
धाइ धाइ तितही चले चाइ चाइ चख नैन ॥
वन विभूति भूषित तनहिं, भौंहे भूमि लखि जाय ।
वैठ्यो आसन मारिकैं, आसन को ठहराय ॥
रोचन दै लोचन लये, लोच सोच मन मांहि ।
जोग बनो जोग न बनौं जु नये लोचन चाहि ॥
अलप भाषि ढिग तलप रमि जलप सुलभ पहिचान ।
कलप कलप मन कलपता, कलपत पूजी आन ॥

रहस्य-लता

रूप सार रस सार निधि प्रेम सार को सार ।
ऐसौ रचि वृन्दा विपिन, तामें करत विहार ॥
सुगध पनारी सभारि कियारि, परागनि पूरि महा छजै ।
वनी फुलवारिन नारंग वारि, दिखै रिझवारि सभा सजै ॥
मनीनिकी पांति पना अति कांति वँधी रचि शांति सची साजै ।
छुटै फारंज करै मन रंज सखी जन पुंज समूहाजै ॥
जल सुगध अरु माधुरी राखै रुचिर वनाइ ।
अति सनेह रस सौं पगी धावत बहुत मल्हाइ ।
राग रागिनी तानजुत सवै अंग परवीन ।
ताके रस में जुगलवर भइ जात रसलीन ॥
हाव भाव वस करनके तामें अधिक प्रवीन ।
सावधान सब चातुरी, राखत पिय आधीन ॥
भूषन सेवा प्रीति सों करै अधिक चित लाय ।
भावति भामिनि स्याम की धन्य धन्य सो भाय ॥
कवरी सुघर संभारई, सोछे मेलि अनूप ।
उपमा ताकी को कहै वनै जु ऐसौ रूप ॥
निपुन रसोई करन विधि अधिक विपुनता आइ ।
कैसैं कै कहिजात है, रसना एक वनाइ ॥
ललिता पान डिवा लिये (प्यारसों) प्रानप्रिया कों देत
मान करावत मान है, रस सिंगार के हेत ।
(विशाखा) वसन सुधारन चातुरी सौंध सुघर वनाइ ।
तत्पर सेवा में अधिक मूरति हित की आइ ।
प्रकट टहल यह सवनिकी हेत कह्यौ सुनि लेह ।

## चारु-लता

विमल कमल अरुन तल श्री सवतलकोजते ।
छटा लेस घटानें, परी रसिक जन हेत ॥
जटित सु पटित छवि अटित कविन वुधि पाइ ।
दुरी गुटी ी निरखि उपमा हाय न आइ ॥
इन अङ्गं झलमले एडिन लों जे चिह्न ।
जिनको घ महत सव कहत सोई अवभिन्न ॥

## सुवा-मैना चरित्रलता

तोषत पोहितनु हिय सरस रूप रसखानि ।
केलि कम्करद रह अली नैन अलि जानि ॥
मैना कीरत्र यह हित दपति परिहास ।
सखिन है देन को चोज पुज सुखरासि ॥
ललित ती मैना पाली । मन वाछित उच्चरित रसीली ।
ताहि ला नाम सिखाये । सुदर परम विचित्र सुहाये ॥
मधु मगने हो अटपटी । सुफ पालनकी उर चटपटी ॥
अति सुति जाति प्रवीना, लावउ परम विचित्र नवीना ॥
परचौ इक सुक मन मान्यो । मदन फूदना विधिना वान्यो ।
कर अ र लाल लियो जब, मोह प्रेम रस वरसि पर्यौ तव ॥

## रस कदम्ब चूडामणि ग्रथ

राधाकृशोर श्री नित्य विहारी नाम ।
श्रीवृन्कथन फल सर्वोपरि निज धाम ॥
परब्रह्मपेषडगुन असी मूल ।
इष्टि ग्रन्थ के कही कृपा अनुकूल ॥
परम सु सुनाथ कहि देव देव वलदेव ।
कारनई कहे दस अवतारिन मेव ॥
प्रथमन कौ कह्यौ कला हरित वरन आकार ।
ताके आर कहि पुनि भोगांग उचार ॥
दिव्यपंज्ञा कही अधिकारी मन जोइ ।
भक्तिमिश्रा करे तिनको प्रापति होइ ॥
अष्ट ताके कहे सिद्धि निद्धि तहं भाषि ।
द्वितिरन कौं कहौं अव सुनि मन में राखि ॥
चारोंन के ऊपर द्वारपाल जुन शक्ति ।
कहें त चारितह महा महिम अनुरक्त ॥

तहां मंडलाकार कहि श्रीमद दस अवतार ।
कहे वहाँ श्रीमत्सजी कूरमजी उच्चार ॥
चारिन ओरन चारि फल कहे सरोवर भव्य ।
महिता महत प्रताप तिन कह्यौ अपूरव दिव्य ॥
नाना वन सौरभ रुचिर नाना छवि उल्लास ।
कही रास रस पीठि अरु अद्‌भुत रास विलास ॥
रूप छकी अटकी रहे वरने भाव अनन्त ।
कमल कोष संज्ञा वहाँ कहि आये सुनौ सन्त ॥
नाना रूप सिंगार वर नाना छवि उल्लास ।
नाना गुन रस प्रेम कल पूरन आनन्द रास ॥

## दशम अध्याय

# श्री वृन्दावनदास ( चाचाजी )

राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्त-कवियो मे परिमाण की विपुलता और शैली की विविधता की दृष्टि से वाणी का जितना व्यापक विस्तार श्री चाचा वृन्दावनदास का है उतना और किसी का नही। हिन्दी साहित्य की भक्ति एव रीतिकालीन काव्य-परिपाटी का जितनी समग्रता के साथ आपने निर्वाह किया, गोस्वामी तुलसीदास को छोडकर और कोई कवि नही कर सका। राधाकृष्ण की छद्म लीलाओ के वर्णन में तो आपकी समता कोई और कर ही नही सकता। सरस्वती का दिव्य वरदान लेकर आप अवतीर्ण हुए थे इसीलिए काव्यमयी वाणी का अजस्र निर्झर आपके कठ से आजीवन सतत प्रवाहित होता रहा।

*जन्म-संवत्* —श्री वृन्दावनदासजी के जन्म-सम्वत् का अभी तक प्रामाणिक रूप से निर्णय नही हो सका है। मिश्रबन्धु विनोद, व्रजमाधुरी सार और प० रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के इतिहास में इनका जन्म-सम्वत् १७६५ दिया गया है। श्री लाडसागर ( प्रकाशित ) की भूमिका में चाचा वृ दावनदास की वाणी के आधार पर जन्म सम्वत् १७४४ के आसपास लिखा है किन्तु वाणी का कोई प्रमाण प्रस्तुत नही किया गया।[1] इनकी सबसे पहली रचना जिसमें लेखनकाल के सम्वत् का उल्लेख है अष्टयाम (समय प्रबध) है। इसका रचनाकाल १८०० सम्वत् कार्तिक शुक्ला एकादशी है। सम्भव है इससे पूर्व भी आपने कोई ग्रन्थ लिखा हो किन्तु हमें अपनी शोध में प्राप्त ग्रथो मे इसमे पहले के किसी ग्रन्थ का पता नही मिला। यदि इस ग्रथ को ही प्रथम माना जाय तो जन्म-सम्वत् के लिए मिश्रबन्धुओ का अनुमान ठीक प्रतीत होता है। आनुमानिक आधार पर सम्वत् १७५० से १७६५ के बीच में ही इनका जन्म हुआ होगा। 'सेवक परिचयावली' आपकी अन्तिम रचना प्रतीत होती है क्योकि उसके बाद 'रसिक परिचयावली' अपूर्ण है जिसे समाप्त करने के पूर्व ही आपका निधन हो गया।

---

१ श्री लाडसागर (प्रकाशित)—प्रकाशक लाला जुगलकिशोर काशीराम, रोहतक, भूमिका—पृष्ठ ४।

'सेवक परिचयावली' मे रचनाकाल १८४४ सम्वत् दिया है अतः इसी सम्वत् के आसपास आपकी मृत्यु हुई होगी।

*जाति और वंश*—हिंदी साहित्य के इतिहास-ग्रथो मे आपको ब्राह्मण या गौड ब्राह्मण लिखा गया है। श्री लाड़सागर की भूमिका में चाचाजी की वाणी में ही ब्राह्मण होने के अस्पष्ट सकेत मिलने का उल्लेख है किन्तु वे स्थल उद्धृत नही किये गये जिनसे उनकी जाति पर कोई स्पष्ट या अस्पष्ट प्रकाश पडता है।[1] व्रज की अनुश्रुतियो मे इन्हें कायस्थ भी कहा जाता है और कुछ लोग वैश्य भी बताते हैं। यथार्थ में इन्होने अपने पूर्व स्वरूप या पूर्वाश्रम की कही किसी प्रकार की चर्चा नही की है। अत मनगढन्त आधार पर इनकी जाति का निर्णय होता आ रहा है। वंश और परिवार के सम्वन्ध मे भी दो मत हैं। कुछ लोग इन्हे शैशव से ही विरक्तसाधु मानते हैं और कुछ विद्वानो के मत में गृहस्थाश्रम छोड़कर इन्होने वैराग्य लिया था। वैसे इनकी रचनाओ में विरक्त भावना का ही प्राधान्य दृष्टिगत होता है। यदि गृहस्थाश्रम में रहे होते तो उसका कही न कही आभास अवश्य मिलता। इनकी रचनाओ में न तो कही अपने पुत्र-कलत्र आदि का वर्णन है और न अपने निवास-स्थान का ही। विरक्त साधु के रूप में कभी सेवाकुंज मे डेरा डालते हैं तो कभी गुरुगृह मे वास करते हैं, या फिर साधुमंडली के साथ देशाटन करते हैं। अपने जन्मस्थान या निवासस्थान का कही सकेत नही देते। लाडसागर की भूमिका में ग्रन्थ-कर्त्ता का परिचय लिखते हुए उन्हे गृहस्थी वताया गया है और उनके विरक्त होने का सम्वत् १८०१ माना है जो उनकी वाणी के आधार पर प्रमाणित नही होता।[2] सम्वत् १७९४ मे वे वृन्दावन में थे और इससे पूर्व गोस्वामी हित रूपलालजी से दीक्षा ग्रहण कर चुके थे। इस तथ्य का वर्णन उन्होने 'श्री हित रूप चरित्र वेलि' में स्वय किया है। सम्वत् १७९४ मे गोस्वामी रूपलालजी की माता श्रीमती कृष्ण कुँवरि अस्वस्थ हुईं और उन्हे वृन्दावन लाया गया।

सत्रह से चौरानवे सम्वत् कह्यौ वखानि।
कृष्ण कुँवरि माता कछू दुखित भयौ तन जानि॥

—श्री हित रूप चरित्र वेलि (हस्तलिखित)

इसके आगे उनकी (कृष्ण कुँवरिजी) मृत्यु का वर्णन है। वशीवट (वृन्दावन) में रहते हुए अपने गुरु गोस्वामी रूपलालजी के चरण चाँपने का भी आपने वर्णन किया है। अतः सम्वत् १७९४ मे उन्हे गृहस्थी नही माना जा सकता। वे उस समय विरक्त रूप में ही थे।

पौढ़े रजनी अलस रहि अति श्रमित भये तन।
चापत चरन नित तहां, दास हितहि वृन्दावन॥

---

१. श्री लाड़सागर (प्रकाशित)—प्रकाशक लाला जुगलकिशोर काशीराम, रोहतक, भूमिका—पृष्ठ ५।
२. वही — वही पृष्ठ ५।

श्री वृन्दावनदासजी के वृन्दावन वास का यह सर्वप्रथम सकेत उनकी रचना द्वारा ही मिलता है। यह भी निर्णय नही है कि वे वृन्दावन में कही बाहर से आ कर रहे थे या जन्म से ही ब्रजवासी थे। उनके व्रज प्रदेश का होना तो निश्चित है क्योकि उनकी रचना में जो व्रजभाषा प्रयुक्त हुई है वह बोलचाल की ग्रामीण भाषा की पदावली प्रधान है। व्रज प्रदेश में तीन-चार तरह की बोलिया आज भी प्रचलित हैं। विशेषत वृन्दावन और मथुरा के ब्राह्मण तथा वैश्य परिवारो की भाषा ग्रामो के ठाकुर तथा अन्य जातियो की भाषा से कुछ भिन्न है। चाचा वृन्दावनदास ने व्रज के ग्रामो में प्रयुक्त होने वाले शब्दो को अपनी वाणी में प्रचुर परिमाण में स्थान दिया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आपका निवासस्थान पुष्कर क्षेत्र लिखा है।[1] 'आर्त्तपत्रिका' में आपके कृष्णगढ से पुष्कर जाने का उल्लेख तो है किन्तु पुष्कर को अपना जन्मस्थान या निवासस्थान कही नही लिखा। कृष्णगढ नरेश बहादुरसिंहजी के पास इनका रहना तो रचनाओ से सिद्ध होता है किन्तु शैशवावस्था या युवावस्था में उनके पास रहने का कोई सकेत नही है। चाचाजी ने अपनी अनेक रचनाओ में ऐसे सकेत दिये हैं जिनके आधार पर इनके जीवन के उत्तरार्द्ध का ब्योरेवार विवरण सकलित हो जाता है किन्तु अपने जीवन के पूर्वार्द्ध के विषय में उन्होने कही कुछ नही लिखा। इसी कारण प्रामाणिक रूप से प्रारम्भिक इतिवृत्त प्रस्तुत करना कठिन है। तत्कालीन श्री हीरादासजी कृत छप्पय की छाया ग्रहण कर श्री गोविन्दअली ने अपनी वाणी में चाचाजी के सम्बन्ध में एक छप्पय लिखा है।

'वृन्दावन' बस विपिन दूर आसय अति मन की।
व्यासनन्द पद प्रीति रीति अद्भुत गति जिन की ॥
अति अगाध वाणी विमल सुनि दम्पति मुसकात।
ब्रज निकुंज अरु अकह रस भनै सकल विख्यात ॥
और बहुत अवतार कथ निज चित सार विहार।
अटल छाप चाचा दई श्री हित रूप उदार ॥

—गोविन्दअली की वाणी (हस्तलिखित प्रति) प्रतिकाल—सम्वत् १८४४।

गोस्वामी चन्दलालजी, खुस्याल कवीश्वर, हरिलाल व्यास तथा हीरादास जी ने चाचाजी के सम्बन्ध में छप्पय आदि लिखे हैं उनमें से प्रासगिक पदो को हम पाठको के अवलोकनार्थ नीचे उद्धृत कर रहे हैं।

अथ श्री वृन्दावनदास जी के स्वरूप को वरनन।
श्रीगोस्वामी चदलाल जी कृत कतिपय पद—

दोहा—

प्रगट नागरीदास कौ वपु श्री वृन्दावनदास।
बरसाने कौ रस सरस बरनौं सहित हुलास ॥१॥

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास—प० रामचन्द्र शुक्ल—परिवर्द्धित संस्करण, पृष्ठ १८८।

सोरठा—

बरसानें कियौ वास, लीला निज थापी उहाँ
अब ह्यां कियौ प्रकास, वृन्दावन वपु धारिकैं ।।

कवित्त

श्रीवृन्दावनदास जू की हृदय निकुंज माँझ
निसिदिन स्यामा स्याम खेलत रहत हैं ।।
तिनही कौं लखिगात पुलकात हरषात
रस में विरस ह्वै कै प्रेम सौं कहत हैं ।।
सुद्ध व्रजवासी सुख रासी हैं उपासी गाढ़े
दंपति प्रकासी केलि दासी है गहत हैं ।।
रूप श्री किशोरी कौसौ हित सौं रसिक देखैं
दासि वन वास आस 'चंद' उमहत हैं ।।

खुस्याल कवीस्वर कृत छप्पय—

वानी रचना रुचिर चारु पद अछर रस भरि ।
स्वास वृथा नहिं जात मनौं लागी सावन झरि ।।
व्रज वन कुंजनि केलि लाल ललना हुलरावत ।
रसिक जननि मन तोषि-पोषि हिय सबनि सिरावत ।।
कहैं कहालौं दासमति सुलभ राज गुन रवि उदित ।
रूपलाल रस मद छके श्री वृन्दावन चाचा विदित ।।

छप्पय—व्यास हरिलालजी कृत—

अति अगाध गुन ललित गिरा लहरी ज्यौं उमडै ।
रोको नाहिन रुकत प्रबल नातौ हिय घुमड़ै ।।
गदगद सुर विह्वल विलास जुग रति चित रूँधे ।
बाँकी जिनकी कहनि रहनि दरसत अति सूधे ।।
हित रूप छाप परचे विदित सुप्रगटे श्री वृंदावन विजय ।
दपति रस वारिद सिंधु सम श्री हित वृंदावनदास जय ।

छप्पय—हीरादास जी कृत—

श्रीहित वृन्दावनदास दूरि आसैं अति जिनकी ।
श्री व्यासनंदपद प्रीति रीति अद्भुत गति तिनकी ।।
व्रज निकुंज रस अकह कह्यौ सुनि मुसकति दंपति ।
सवा लक्ष बानी रचि दुलराये राधापति ।।

औरौं वहु अवतार कथि निज चित्त सु विपिन विहार रुचि ।
यह अटल छाप चाचा दई गुरु श्री हित रूप उदार सुचि ॥

क्रमश —
छप्पय—चाचा जी के लिपिक श्री केलिदास के सम्बन्ध में भी यत्र-तत्र कुछ लिखे मिलते हैं—

लघु वय ही में मोह त्याग वृन्दावन परसे ।
श्रीवृन्दावनदास्य पाइ रस भावक सरसे ॥
गुरु पद भक्ति गरिष्ट द्रवत हियमिष्ट सु वोलै ।
बानी लिखत अखड निरालस सीस न ढोलैं ।
काम क्रोध मद रिपु प्रबल पै न छिद्र पावै जु कोउ ।
महामीन या सिंधु के केलिदास सम नाहिन कोउ ॥

छप्पय—हीरादासजी कृत—

चाचाजी को हाथ सदा माथे पै सोहै ।
भली भाँति सोरहनि कहनि सवको मन मोहै ॥
भजन भाव हित रीति प्रीति सों करत निरतर ।
गुरुग्रथन की माललसै जिनके उर अंतर ॥
भाव चाव निज गुरुन की बानी लिख रसिकनि सुख दियौ ।
श्रीगुरु अज्ञा पाइक निपुन केलिदास सम को वियौ ।

श्री नाम सेवा में लिखी स्वरचित—

श्रीराधावल्लभ श्रीहरिवश । गुरुहित रूप जगत परसंस ॥
हित वृन्दावन तिनकौ भृत्य । बानी सवा लक्ष्य तिन कृत्य ॥
केलिदास पुस्तक लिख हाथ । जोरी पद सेवैं रहि साथ ॥७॥

दोहा—

श्रीराधाकृष्णकृपाजलद श्रवत रहत रसधार ।
वृन्दावन हित सिंधु हिय भरत करत उच्चार ॥१॥

## छाप या उपनाम

श्री वृन्दावनदासजी के नाम के साथ 'चाचा' शब्द का प्रयोग कुछ विस्मयजनक अवश्य प्रतीत होता है किन्तु यह सज्ञा गोस्वामी-परिवार की ओर से इन्हें सकारण मिली थी । तत्कालीन गोस्वामीजी के पिता के गुरु-भ्राता होने के कारण गोस्वामीजी की देखा-देखी लोग इन्हे चाचाजी कहने लगे और शनै -शनै आप इसी उपनाम से प्रसिद्ध हो गए । अपनी वाणी में आपने अपनी छाप में अपने नाम के साथ अपने गुरु श्री रूपलालजी का भी नाम जोड लिया था । इस प्रकार आपकी तीन छाप मिलती है वृन्दावन हित रूप, वृन्दावन हित, और केवल वृन्दावन । प्रथम दो छाप तो स्पष्टत राधावल्लभीय पद्धति पर है । केवल

वृन्दावन छाप से भी आपने अनेक पद लिखे हैं अत. उनके सम्बन्ध में किसी अन्य की रचना होने का भ्रम नही होना चाहिए।

## रचनाओं के आधार पर जीवन-वृत्त

चाचा वृन्दावनदासजी ने सम्वत् १७९५ के आसपास काव्य रचना करना प्रारम्भ किया होगा। इनकी सम्वत् उल्लेख सहित रचना १८०० की मिलती है किन्तु उससे पहले आप वृन्दावन आ चुके थे और दीक्षा लेकर सेवाकुज आदि पुण्यस्थलो मे समययापन करते थे अत यह अनुमान करना ठीक ही है कि तभी से पदगायन भी प्रारम्भ कर दिया होगा। ऐसा कहा जाता है कि चाचाजी स्वय लिखते नही थे, उनके साथ हमेशा एक लेखिया (लिपिक) रहता था। लेखिया केलिदास का नाम अनेक रचनाओ मे लिखा मिलता है। सबसे पहली लिखित रचना, अष्टयाम (समय प्रबन्ध) में भी केलिदास का नाम है। अत. यही कहा जा सकता है कि केलिदास के सम्पर्क होने से पूर्व की आपकी रचनाओ का लिखित रूप नही रहा और वे आज उपलब्ध नही होती।

संवत् १८०० से सवत् १८११ तक की आपकी जो रचनाएँ मिलती हैं उनमे आपके वृन्दावन-निवास का स्पष्ट उल्लेख है अतः यह कहा जा सकता है कि इन बारह वर्षों में वृन्दावन मे रहकर ही आपने पद-रचना की। संवत् १८१२ में 'श्री हित हरिवश सहस्र नाम' लिखा। इस ग्रंथ में हितजी के अनेक प्रमुख शिष्यो का नामोल्लेख पूर्वक निर्देश है। व्यासजी को भी स्पष्ट शब्दो में शिष्य माना है—'नमामि श्री हरिवश व्यास उर ससय छेदन।'

सवत् १८१३ में आपने 'हरिकलावेलि' लिखना प्रारम्भ किया। इसमें यवनो के व्रज प्रदेश पर आक्रमणो का वर्णन है। ये आक्रमण अहमदशाह अब्दाली और उसके सरदारो ने ईस्वी सन् १७५७ में किये थे। इनका विस्तृत विवरण इतिहास में मिलता है। व्रज में अब्दाली के प्रवेश और लूटपाट का वर्णन इस प्रकार है :—

'२२ फर्वरी सन् १७५७ को अब्दाली दिल्ली से दक्षिण चलकर व्रज में घुसा। + + उसका एक सरदार जहानखाँ मथुरा से चलकर वृन्दावन गया और वहाँ वैष्णवो की बड़ी सख्या में हत्याएँ की। उपर्युक्त प्रत्यक्षदर्शी ने अपनी डायरी में लिखा है कि 'जिधर नजर जाती मुर्दों के ढेर के ढेर दिखाई पडते थे। सड़को से निकलना तक मुश्किल हो गया था। लाशो की ऐसी विकट दुर्गन्ध आती थी कि सास लेना दूभर हो गया था। + +। १५ मार्च को अहमदशाह अब्दाली स्वय मथुरा पहुँचा। + +। रास्ते में वृन्दावन को चार दिन तक पुनः लूटा-फूँका गया, मथुरा वृन्दावन आदि स्थानो मे अब्दाली को लूट में लगभग १२ करोड रुपये की धनराशि प्राप्त हुई जिसे वह तीस हजार घोड़ो, खच्चरो और ऊँटो पर लाद कर ले गया।'[1]

चाचाजी ने 'हरिकलावेली' मे यवनो के उत्पात का वर्णन करते हुये उन प्रमुख

---

१—'व्रज का इतिहास'—ले० कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ १८७–१८९।

व्यक्तियो का नाम निर्देश भी किया है जो इस श्राक्रमरण में वध किये गये। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध मर्मी कवि घनानन्द का भी इसी श्राक्रमरण के समय वध हुश्रा था। कुछ प्रमुख व्यक्तियो के नाम इस प्रकार है —

गोस्वामी मुकुन्दलालजी (गो० रूपलालजी के श्रग्रज) बावा प्रेमदासजी (चतुरासी के सुप्रसिद्ध टीकाकार), कृष्णदासजी भावक, जादौदासजी (मीरावाई के शिष्य) घनानन्द (शाहश्रालम के मीर मुशी) जुगलदास (श्रवधूत साधु) पुजारी कृष्णदास श्रौर भगवानदासजी श्रादि।

'हरिकलावेलि' का रचनाकाल पाँच वर्ष का लम्बा समय है। व्रज पर यवनो का श्राक्रमरण होते ही चाचाजी यहाँ से भरतपुर चले गये। उस समय भरतपुर की गद्दी पर राजा सुजानसिंह थे। वही रहकर श्रापने यह पुस्तक सम्पूर्ण की। इसका रचनाकाल सवत् १८१३ से १८१७ तक है। प्रारम्भ करने का समय इस प्रकार दिया है —

'श्रठारह सौ तेरह वरस हरि यहि करी। जमन विगोयो देस विपति गाढी परी।' सम्पूर्ण रचना तीन कलाश्रो मे विभक्त है। प्रथम कला में श्रौरगजेब के काल मे जब वृन्दावन पर श्राक्रमरण हुश्रा था उसका वर्णन है। यह चाचाजी के जन्म से पूर्व की घटना है किन्तु यवनो के श्राक्रमरण से सम्बद्ध है तथा राधावल्लभ जी के लाल मन्दिर के टूटने से भी इसका सम्बन्ध है श्रत चाचाजी ने इसका भी वर्णन किया है। दूसरी कला में श्रपने समय मे श्रब्दाली के श्राक्रमणो का वर्णन किया है। यवनो का यह उत्पात तीन-चार वर्ष तक किसी न किसी रूप में ब्रज की जनता को पीडित करता रहा था। तीसरी कला मे भविष्य का सकेत किया है। इस प्रकार यह हरिकला वेलि चाचाजी के जीवन-वृत्त के साथ व्रज का भी वृत्त श्रपने श्रन्तर में समेटे हुए है।

सम्वत् १८१७ में डीग (भरतपुर) में थे, कलावेलि में इसका वर्णन है। इसी सम्वत् में 'जमुना प्रताप वेली' लिखी। फागुन मास में वहाँ से कुशस्थली (कोसी) गये श्रौर वहाँ रहकर 'श्री वृपभानु-नन्दिनी नन्दनन्दन ब्याह-वेली' की रचना की।

सम्वत् १८१८ में श्रापने 'राधाजन्मोत्सव वेली' पूर्ण की। इस वेली का लिखना श्रापने सम्वत् १८१२ में प्रारम्भ किया था किन्तु बाद में यवनो के उत्पात के कारण छोड दिया था।

सम्वत् १८२० में चैत्र मास में वृन्दावन मे रहकर 'हित रूप चरित्र वेली' काशीराम के मन्दिर में लिखी। उसके बाद फिर घूमते हुए कोसी चले गये। इसी सम्वत् में वही 'गिरि पूजन वेली' का प्रणयन किया। सम्वत् १८२१-२२ की रचनाश्रो के श्राधार पर कुछ पता नही चलता किन्तु यह निश्चय है कि इस समय श्राप ब्रजमण्डल में ही भ्रमण करते रहे थे।

सम्वत् १८२३ में श्रावण मास मे वृन्दावन में थे श्रौर यही श्रष्टयाम षष्ट प्रबन्ध लिखा। सम्वत् १८२३ से सम्वत् १८२६ तक लगातार वृन्दावन में ही रहे। विभिन्न रचनाश्रो में वृन्दावन का ही सकेत दिया है।

सम्वत् १८३० में कामवन में राधावल्लभजी के मन्दिर में रहे। सम्वत् १८३१ से १८३६

तक के समय में आप व्रज छोडकर यवनो के उत्पात की आशका से कृष्णगढ चले गये। यवनो का यह दूसरा आक्रमण नजफखा का है।[1] पहले जाटो और मुगलो के वीच वरसाना में युद्ध हुआ। समरू जाट ने सेना का नेतृत्व किया किन्तु अन्त में नजफखाँ ही विजयी हुआ। इस हमले के साथ ही व्रजभूमि की सामूहिक शान्ति भग हो गई और चारो ओर उत्पात के लक्षण दीखने लगे। तभी चाचाजी वृन्दावन छोड़कर कृष्णगढ चले गये। 'श्रीकृष्ण विवाह वेली' मे इस यवन-उत्पात का सविस्तर वर्णन मिलता है—

जमन कछू संका दई, व्रज जन भये उदास।
ता समये चलि तहां ते कियौ कृष्णगढ़ वास॥
नृपति वहादुरसिंह सुत, वृद्धि सिंह तिन नाम।
सादर लाये संग करि, दीनौ पुर विश्राम॥
अठारह सौ इकतीसवा, वर्ष भयौ परवेस।
वदि वैसाखी सप्तमी, रविवासर जु सु देस॥
केलिदास निरमल सुमति, अक्षर अर्थ विचारि।
कृपा सन्त गुरु पाइकै, करवर लिखी सुधारि॥

'आर्त्तपत्रिका' में भी यवनो के आक्रमण का वर्णन चाचाजी ने वडी मार्मिक भाषा में किया है—संवत् १८१४ से सम्वत् १८३२ तक व्रज पर वार-वार आक्रमण होते रहे फलत. वीस वर्ष तक व्रज में सुख-शान्ति का वातावरण स्थिर नही हो सका—

जमन की जम की जातना भुगताई इह देह।
अब अपनै अपनाई देहु, वास रवरे गेह॥
कांपत कपिला गाय ज्यों कहत भरतहौं लाज।
कलि केहरि तै अब करौ रच्छा सुत व्रजराज॥
अजू वरस दस बीसते खुले विपति भंडार।
या व्रज गरुवे सुखनि की विदित डुरी हट्टतार॥

'कृष्ण विवाह वेली' में करुणा के पद गाये गये हैं। इनमे से केवल ९ पद उपलब्ध हो सके हैं जिन्हे देखकर भक्त की अन्तर्भावना का पता चल सकता है। भक्त सव प्रकार के अन्याय और अत्याचारो को सहन करता हुआ भगवान् की ही शरण मे रहना चाहता है। वह यह अनुभव करता है कि जो दुख, कष्ट, वेदना उसे भोगनी पड रही है वह कर्मफल के कारण है। ऐसा प्रतीत होता है कि चाचाजी को यवनो के उपद्रव काल में जीवन-यात्रा के साधन भी उपलब्ध नही हुये थे और उन्हे प्राण-रक्षा के लिए वहुत ही कष्टसाध्य उपायो का आश्रय लेना पडा था। निम्नाकित पद में यह भाव वहुत स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ।

प्रभु इच्छा आँधी चली।
लै तिनुका ज्यों उड़ाय स्वामी माया वली।

---

१. व्रज का इतिहास—ले० कृष्णदत्त वाजपेयी, पृष्ठ १९६।

डूगरनि में वास दीना छुडाई वन थली।
कहाँ वे तरुवर विहगम तीर दिनमनि लली॥
कौन कारन कौ विसर व्रजराजसुत सुनि छली।
यह विचारत रात दिन हिय रहत है कलमली॥
छिमौ अब अपराध भारौ मानि विनती भली।
दरसावौ व्रजभूमि वदौं तो पग तली॥
कौन छिन को घरी धनि जव विचरिहौं वन गली।
कबहि रसिक समाज को होइ दृष्टिपथ अवली॥
कस मागध सैन जैसे पृथक ही दल मली।
विघ्न करत निवरिहौ अव अहो प्रनतनि पली॥
कई ऊपर कोस सत राख्यौ जु मति वदली।
देखि प्रभुता डरयौ बुद्धि अधीर ह्वै के अली॥
रच्यौ कौतुक खेल हरि हम भाग महिमा फली।
वाछरू पालक भये कव नीतिमति कुशली॥
पिता कौ यह देस उजरौ व्रजमही दहली।
वृन्दावन हित रूप मानी स्याम रग रली॥

—करुणा के फुटकर पद स० ३।

जैसा कि हमने ऊपर की पक्तियो मे लिखा है कि १८३१ से १८३६ सम्वत् तक चाचाजी को व्रजभूमि से वाहर रहना पडा। उनका मन इन दिनो-वडा ही विक्षुब्ध था किन्तु वे इसी काल में अपने सुप्रसिद्ध ग्रथ 'लाड सागर' की रचना करने में सफल हुए। लाड सागर का रचनाकाल आषाढ सुदी एकादशी सम्वत् १८३२ से १८३५ नवमी शुक्ला है। राजा वहादुरसिंह के साथ रहकर कृष्णगढ में यह ग्रथ लिखा गया। सम्वत् १८३३ में एकान्तवास के लिए आप पुष्कर भी गये थे। सम्वत् १८३५ में आपने अपनी प्रसिद्ध रचना 'आर्त्तपत्रिका' लिखी। इस पत्रिका में व्यक्तिगत जीवन-सम्बन्धी घटनाओ का बडे निरपेक्ष भाव से वर्णन किया है। 'आर्त्तपत्रिका' के विषय में हम आपकी रचनाओ के आलोचनात्मक अध्ययन में विस्तार से लिखेंगे। सम्वत् १८३६ में 'जुगलस्नेह पत्रिका' की रचना की। सम्वत् १८३७ में वृन्दावन वापस आ गये और अपने गुरुगृह में वास किया। 'कृपा उद्योताष्टक' में इसका वर्णन किया है। गुरुगृह में रहते हुए 'व्रजप्रेमानन्द सागर' लिखना प्रारम्भ किया। सम्वत् १८३८ में अपने गुरुजी के पुत्र गोस्वामी किशोरीलाल जी के यहाँ रहकर व्रजप्रेमानन्द सागर लिखना समाप्त किया। सम्वत् १८३६ में भरतपुर गये और वही रहकर प्रहेलिका में 'प्रेम-पहेली' नामक रचना की। १८४० में पुन वृन्दावन आ गये और गुरुगृह में वास करते हुए 'वृन्दावन प्रेम विलास वेली' तथा 'कृष्ण नामरूप मगल वेली' नामक दो वेलिया दो दिन में लिखी। इन वेलियो पर रचना का दिन दिया हुआ है। इसके बाद कही वाहर जाने का सकेत रचनाओ के आधार पर हमें नही मिला। अतः यही प्रतीत होता है कि १८४० से १८४४ तक वृन्दावन में ही रहकर पद रचना करते रहे। आपकी अन्तिम रचना 'सेवक जस विरदावली' और

'रसिक परिचयावली' हैं। इस पर सम्वत् १८४४ लिखा है। रसिक परिचयावली अपूर्ण रूप में मिलती है। वृन्दावन में यह सुनने में आया था कि यह रचना पटना में एक वैष्णव के पास पूर्ण आकार में है किन्तु व्यक्ति का नाम तथा पता विदित न होने से उपलब्ध करना सम्भव नही हो सका। अतः १८४४ सम्वत् की रचना को ही अन्तिम मानना ठीक होगा। इसी के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उक्त सम्वत् के एक दो वर्ष के भीतर ही चाचाजी ने अपनी इहलोक लीला सवरण की। यदि जन्म १७६० सम्वत् माना जाय तो आपकी आयु ८५ वर्ष के लगभग होती है। यह तो आर्त्तपत्रिका के पदो से स्पष्ट है कि आपको वार्धक्य का कष्ट भोगना पडा था और आपने बहुत बड़ी आयु में शरीर त्याग किया था। वार्धक्य और व्रज से वाहर जाने का वर्णन निम्नाङ्कित पदो मे वडे स्पष्ट शब्दो में किया है—

इच्छा कहौं कि भाग्यफल जिहि कृत पर्‍यौ विदेस।
हियो भयौ अति गादरौ उज्ज्वल भये जु केस॥
छिन डूबत उछरत जु छिन प्राण विदा से लेत।
जा दिन तै सीमा तजी वृन्दाकानन खेत॥
तन जु भयौ अति दूवरौ मन दूवरौ विराट।
डगमगाति है नावरी अव लगाइये घाट॥
जरा ग्रसित यह तन भयौ, लीनो रोग दवाइ।
यह व्रजभूमि सुमेरु सम, चलौं कौन के पाइ॥

—हस्तलिखित आर्त्तपत्रिका से उद्धृत।

## चाचा वृन्दावनदासजी की रचनाएँ

व्रज के भक्ति-सम्प्रदायो में जितने वाणीकार महानुभाव हुए हैं, परिमाण की दृष्टि से चाचा वृन्दावनदासजी की रचनाओ की संख्या सर्वाधिक है। राधावल्लभीय ग्रन्थसूची 'साहित्य रत्नावली' (प्रकाशित) में इनके ग्रन्थो की सख्या १५८ लिखी है। इसमें अष्टयाम, समय प्रवन्ध तथा छोटी-छोटी वेलियाँ भी स्वतत्र ग्रंथ के रूप मे परिगणित हुई हैं। वैसे सवा लाख पद रचना की वात तो जनसाधारण मे इतनी अधिक प्रचलित है कि इस विषय में छानवीन किये विना सभी इस पर विश्वास करते चले आ रहे हैं। राधावल्लभीय भक्तो के अनुसार तो चार लाख पद-रचना का श्रेय चाचाजी को दिया जाता है। अष्टयाम के सम्वन्ध में ही यह प्रसिद्धि है कि इन्होंने वर्ष के प्रत्येक दिन को दृष्टि में रखकर ३६० अष्टयाम लिखे थे। हमें अपनी शोध में कुल १४ अष्टयाम मिले और अपनी शोध के आधार पर इससे अधिक होने की सम्भावना भी हमें नही लगती। जो अष्टयाम हमने देखे हैं उनमें रचनाकाल लिखा है। सम्वत् १८०० से १८३७ तक के समय में इन्हे लिखा गया है। चाचाजी ने स्वयं चौदह अष्टयाम लिखने की वात कही है—

लीला सांवर गौर की यह सागर विनु पार।
चौदह रतन प्रकट भये औरों भरे अपार॥

कढे जु काढ़त कढ़ेंग मित कर सकै न कोय ।
कृपा इष्ट गुरु की वली सो लावै जु टटोय ।।

उक्त पदो में चौदह का उल्लेख होते हुए भी और अधिक होने की वात का भी सकेत है। किन्तु और अधिक अर्थात् ३६० की बात तो सर्वथा असत्य है। केवल १४ ही शेप बचे और सब नष्ट हो गये यह वात न तो तर्काश्रित है और न सम्भव ही।

अब रही चार लाख या सवा लाख पद रचना की वात। श्री राधाचरण गोस्वामी ने चार लाख पद रचना की बात लिखी थी। उन्होने अपनी बात की पुष्टि में न तो कोई प्रमाण प्रस्तुत किया था और न इस विराट सम्भावना का कोई कारण ही लिखा था। केवल अर्थवाद के आश्रय से प्रशस्ति के लिए चार लाख पद रचना की वात कही गई प्रतीत होती है।[1] सवा लाख पद रचना की वात चाचाजी के लेखिया केलिदास ने 'मन प्रवोध वेली' मे कही है। 'मन प्रबोध वेली' सम्वत् १८१३ की रचना है। वेली की तालिका में केलिदास लिखते है—

'हित वृन्दावन तिनको भृत्य, वाणी सवा लक्ष तिन कृत्य, केलिदास पुस्तक लिखि हाथ, जोरि पद सेवे इहि साथ।'

हमने अपनी शोध में कुछ हस्तलिखित पुस्तकें ऐसी देखी हैं जिनके आधार पर यह अनुमान तो सहज ही में होता है कि चाचाजी के दैनिक नित्य कर्म में वाणी रचना उसी प्रकार समाविष्ट था जैसे श्री राधावल्लभ लाल की सेवा-पूजा। कभी-कभी रात्रि को भी मन की तरग आने पर पद गायन कर उठते थे। किम्वदन्ती है कि चाचाजी जव कही बाहर घूमने निकलते तव भी लेखिया केलिदास उनके साथ होता और मार्ग में भी चाचाजी पद रचना करते और बोलकर केलिदास को लिखवाते जाते। उनके जीवन का सबसे अधिक आनन्द विषायक कार्य पद्यरचना ही था। अत लक्षाधिक पदरचना की बात अतिशयोक्ति मात्र नही हो सकती। हाँ, चार लाख पदरचना का कोई प्रमाण अद्यावधि कही उपलब्ध नही हुआ है।

चाचा वृन्दावनदासजी के विशाल साहित्य-सागर की सीमाओ का अभी तक न तो पूर्ण रूप से पता चला है और न ज्ञात साहित्य का अवगाहन ही हुआ है। उनकी रचनाओ में से आठ-दस वेलियो का साधु-महात्माओ ने अपने मनोरजन के लिए प्रकाशन कराया है किंतु साहित्य-जगत् में प्रचार न होने से उनका मूल्याकन तो दूर पठन-पाठन भी सभव नही हो सका है। वडी रचनाओ में 'लाडसागर' सवत २०११ में सेठ श्री रतनलाल वेरी वाला

---

१—नवभक्तमाल—राधाचरण गोस्वामी कृत छप्पय—

सरस मधुर अति ललित दिव्य कोमल पद श्रेणी,
चार लाख तें अधिक सकल जग विस्मय देनी ।।
पद पद भाव अपार सार ग्रन्थन को भाख्यो।
परम विशद अति सूक्ष्म रूप हित को अभिलाख्यो ।।
श्री रूपलाल गुरु कृपा ते हितवानी हारद कह्यो।
हित वृन्दावन मधुर रस हित वृन्दावन नीचे कह्यो ।।

की प्रेरणा से लाला जुगलकिशोर काशीराम रोहतक मडी द्वारा प्रकाशित हुआ है। वृन्दावन दासजी रचित सात सागरो की चर्चा वृन्दावन के राधावल्लभी साधुओ और भक्तो में प्राय' सुनी जाती है किन्तु हमारे देखने में अभी तक केवल दो सागर ही आये हैं : 'लाडसागर' और 'व्रजप्रेमानन्द सागर'। ये दोनो विशाल आकार की रचनाएं हैं। व्रज प्रेमानन्द सागर अभी तक हस्तलिखित रूप में ही है। हम यहाँ इन दोनों की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे। छोटे गन्थो मे से जो उपलब्ध हो सके हैं और जिनका साम्प्रदायिक सिद्धात, साहित्यिक सौष्ठव तथा ऐतिहासिक उल्लेख की दृष्टि से हमें महत्त्व प्रतीत हुआ उनकी भी समालोचना करेंगे। प्रकाशित पुस्तको के अतिरिक्त जो पुस्तकें हमने स्वय देखी हैं और असदिग्ध रूप से जिन्हे हम चाचाजी कृत मानते हैं उन्ही का इस प्रसग में विचार होगा। जो ग्रन्थ प्रयत्न करने पर भी हमें उपलब्ध नही हो सके उनका नामोल्लेख करना ही पर्याप्त है। समीक्षात्मक शैली से उनके विषय मे कुछ लिखना उचित नही है। ऐसे कुछ ग्रन्थ हमारे देखने मे आए जिनके कतिपय पद इधर-उधर छिटके पडे हैं पर सन्दर्भ-विहीन, मात्र पदो के आधार पर उनका सर्वागीण मूल्याकन सम्भव नही, अतः हमने उन्हे छोड़ दिया है। फिर भी एक दर्जन छोटे-बडे ग्रथो का इस प्रसग में समीक्षात्मक शैली से अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

## आलोच्य ग्रन्थों की सूची

१—लाड़ सागर (प्रकाशित)

२—व्रज प्रेमानन्द सागर (हस्तलिखित) प्रतिकाल स० १६४८। श्री व्रजवल्लभजी मुखिया प्रेमगली, वृन्दावन से प्राप्त।

३—वृन्दावन जस प्रकास वेली।

४—विवेक पत्रिका वेली (प्रकाशित)

५—कलि चरित्र वेली (प्रकाशित)

६—कृपा अभिलाषा वेली (प्रकाशित)

७—रसिक पथ चन्द्रिका (प्रकाशित फुटकर पद सग्रह)

८—जुगल सनेह पत्रिका (प्रकाशित)

९—श्री हित हरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित)

१०—छद्म लीला (रास छद्म विनोद में संकलित) प्रकाशित

११—आर्त्त पत्रिका (हस्तलिखित)

१२—स्फुट पद (प्रकाशित तथा हस्तलिखित)

## उपलब्ध ग्रन्थों की कालक्रमानुसार तालिका

इस तालिका मे हमने उन्हीं ग्रंथो का नामोल्लेख किया है जिन्हें हमने स्वयं देखा है। इनके अतिरिक्त ८० ग्रथो की सूचना 'साहित्य रत्नावली' में है किन्तु हमें अभी तक वे उपलब्ध नही हो सके हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में जो ग्रंथ प्राप्त हैं उन्हे भी हमने अपनी उपलब्ध ग्रंथो की सूची में समाविष्ट कर लिया है। छतरपुर, कृष्णगढ और भरतपुर में भी कुछ ग्रंथ हैं। प्राय' एक ही ग्रन्थ की तीन-तीन, चार-चार

प्रतिया मिलती है, अतः बार-बार उनका नाम नही लिखा है। ग्रन्थो का विभाजन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। जैसे चरित्र ग्रथ, वेली ग्रथ, लता ग्रथ, माझ, साखी, धमार, अष्टयाम, बधाई आदि। फुटकर पदो को भी कही-कही ग्रथ का रूप प्राप्त हो गया है। यदि विभिन्न स्थानो पर उपलब्ध वर्षोत्सवो के आधार पर पद-सकलन किया जाय तो पद-संख्या भी कई सहस्र होगी। वैसे छोटे-छोटे सकलनो को यदि ग्रथ माना जाय तो दो सौ से ऊपर ग्रन्थो का पता चलता है। इस सम्बन्ध में शोध के लिए अभी पर्याप्त अवकाश है।

| नाम ग्रथ | सवत् | छद सख्या |
|---|---|---|
| १—अष्टयाम समय प्रबन्ध | १८०० कार्तिक शुक्ला एकादशी | १८० छन्द [१७१ पद ९ दोहे |
| २—हरिप्रताप वेली | १८०३ माघ वदी सातें | १०९ छन्द |
| ३—सत्सग महिमा वेली | १८०४ माघ कृष्णा त्रयोदशी | ८८ छन्द |
| ४—ब्रज विनोद वेली | १८०४ माघ शुक्ला सातें | १५१ छद |
| ५—करुना वेली | १८०४ ज्येष्ठ कृष्णा पचमी | ६६ छद |
| ६—भक्त सुजस वेली | १८०४... .. ... ....... | ८१ छद |
| ७—जमुना महिमा वेली | १८०४ पौष सुदी सातें | ११० छद |
| ८—श्री वृन्दावन महिमा वेली | १८०५ माघ शुक्ला एकादशी | २१० छद |
| ९—रसना हित उपदेश वेली | १८०५ पूष बदी एकादशी | १०१ पद ५ दोहे |
| १०—मन उपदेश वेली पद बध | १८०६ पूष सुदी दुतिया | १२६ पद १३ दोहे |
| ११—भक्त प्रसाद वेली पद बध | १८०९ पोष शुक्ला त्रयोदशी | १७६ पद ८ दोहे |
| १२—अष्टयाम समय प्रबन्ध | १८१० श्रावण सुदी तीज | १६० छद [ १५१ पद ९ दोहे |
| १३—अष्टयाम समय प्रबन्ध | १८१० माघ बसत पचमी | १७० छंद [ १६५ पद ५ दोहे |
| १४—ब्रज प्रसाद वेली पद बध | १८११ माघ सुदी पून्यौ | २१६ पद २ पद और कवित्त |
| १५—श्री राधा जन्मोत्सव वेली | १८१२ भादो सुदी | ६० कवित्त पूर्वार्द्ध |
| १६—वृन्दावन अभिलाष बेली | १८१२ आषाढ शुक्ला एकादशी | १६५ छ० |
| १७—श्री हरिवश सहस्रनाम | १८१२ अगहन सुदी दुतिया (धनराज राठौर) | १०६६ छ० |
| १८—मगल विनोद बेली | १८१२ पौष सुदी तीज (प्रकाशित) | |
| १९—कृपा अभिलाष वेली | १८१२ पौष शुक्ला एकादशी | ११२ छ० |
| २०—राधा प्रसाद बेली | १८१२ माघ शुक्ला पचमी | १२६ छ० |

| | | |
|---|---|---|
| २१—श्रीकृष्णसगाई-अभिलाष वेली (राधा लाड़सागर में प्रकाशित) | १८१२ फागुन शुक्ला एकादशी (वृन्दावन सेवाकुंज तीरे) | ३५० छं० |
| २२—श्रीकृष्ण प्रति यशुमति शिक्षा वेली | १८१३ चैत्र सुदी द्वितिया (वृन्दावन सेवाकुंज तीरे) | १९२ छंद |
| २३—ज्ञानप्रकाश वेली | १८१३ चैत्र शुक्ला नौमी | ८४ छं० |
| २४—वारह-खड़ी-भजनसार वेली | १८१३ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी | १५२ छं० |
| २५—हित प्रताप वेली | १८१३ माघौ कृष्ण त्रयोदशी | ८४ पद ८ दोहे |
| २६—हरिकला वेली | १८१३ | प्रारम्भ |
| २७—मन प्रवोध वेली | १८१३ श्रावण मास | ८७ छंद |
| २८—अष्टयाम समय प्रवंध | १८१३ माह वदी पचमी | १५६ छं० [१४९ पद ७ दोहे] |
| २९—मन चेतावन वारहमासी | १८१७ जेष्ठ शुक्ला तृतीया | १६ छप्पै |
| ३०—हरिकला वेली | १८१७ आषाढ़ वदी एकादशी (भरतपुर में) | १६१ छं० |
| ३१—जमुना प्रताप वेली | १८१७ कार्तिक वदी एकादशी (डीग) | १०९ कुल |
| ३२—श्री वृषभानुनन्दिनी श्री नंदनंदन व्याह मंगल वेली (प्रकाशित लाडसागर में) | १८१७ फागुन वदी एकादशी (कुशस्थली) | २१० छं० |
| ३३—राधा जन्मोत्सव वेली | १८१८ | १२१ छं० |
| ३४—अष्टयाम | १८१८ माघ वदी द्वितीया | १४२ छं० [१३१ पद ११ दोहे] |
| ३५—हित रूप चरित्र वेली | १८२० चैत्र शुक्ला पूर्णिमा | ४६२ छं० |
| ३६—दास-पत्रिका | १८२० जेष्ठ वदी एकादशा (प्रकाशित) | ६५ छं० |
| ३७—श्रीकृष्ण गिरि-पूजन वेली | १८२० कार्तिक वदी दौज रविवार ( कुशस्थली ) | ३३५ दो० |
| ३८—अष्टयाम समय प्रवन्ध | १८२३ सावन सुदी षष्ठी सोमवार | १७७ छं० [१५६ पद, २१ दोहे |
| ३९—विमुख उद्धारन वेली | १८२१ चैत्र पूर्णिमा | १६४ छं० |
| ४०—सुबुद्धि चितावन वेली | १८२४ कार्तिक शुक्ला १३ गुरुवार | ५४ पद ५ दो० |
| ४१—वृन्दावन जस प्रकास वेली | १२५ माधव शुक्ल पक्ष ११ वृन्दावन | ७५ पद ६ दो० |
| ४२—(अ) अष्टयाम समय प्रवंध (प्रकाशित) | १८२६ मार्गशीर्ष वदी दसमी | २४१ छं० [२३२ पद, ९ दोहे] |
| (ब) अष्टयाम समय प्रवंध | १८२६ माघ वदी द्वितीया | २१२ छं० [२०२ पद १० दोहे] |
| ४३—जुगल-प्रीति-प्रकास-पच्चीसी पदवध | १८२९ फागुन सुदी सप्तमी | २५ पद |

| | | |
|---|---|---|
| (स) अष्टयाम समय प्रबंध | १८३० माघ कृष्णा नौमी (कामवन) | १८० छं० [१७५ पद ५ दोहे] |
| ४४—राधा-नाम-उत्कर्ष-वेली | १८३१ अगहन बदी दौज रविवार (कृष्णगढ वृद्धिसिंह) | |
| ४५—श्रीकृष्ण विवाह उत्कण्ठा वेली (लाडसागर में प्रकाशित) | १८३१ वैशाख बदी सप्तमी रविवार (कृष्णगढ वृद्धिसिंह) | १२६ पद १२ दोहे |
| ४६—कृष्ण बाल केलि पच्चीसी | १८३२ आश्विन कृष्णा दशमी (कृष्णगढ पुष्कर) | २५ पद १० दो० |
| ४७—(अ) अष्टयाम समय प्रबंध | १८३२ माघ सुदी पचमी (प्रकाशित) (कृष्णगढ)—प्रबंध | १५० छं० [१४१ पद ६ दोहे] |
| (ब) अष्टयाम सेवा प्रबंध | १८३३ पौष सुदी द्वितीया कृष्णगढ | २६० छं० [२५० पद १० दोहे] |
| ४८—आर्त्त-पत्रिका | १८३५ माघौ एकादशी (कृष्णगढ) | २२६ दो० |
| ४९—विवेक-पत्रिका (प्रकाशित) | १८३५ आषाढ बदी पचमी (बहादुरसिंह) | १८५ दो० |
| ५०—लाडिली की मंहदी छवि-उत्कर्ष शोडषी पदबंध | १८३५ पौष शुक्ला एकादशी | १६ पद |
| ५१—प्रेम प्रकास शोडषी पदबंध | १८३५ पौष शुक्ला त्रयोदशी | १६ पद |
| ५२—राधा लाड-सागर | १८३५ माघ शुक्ला नौमी (बहादुरसिंह) | १७० छं० [५ दोहे-१५४ पद-११ दो०] प्रका० |
| ५३—राधा गान शोडषी | १७३६ माघौ शुक्ला तृतीया सोमवार (श्रोता रसिक किशोर) | छं० २० [१६ पद ४ दोहे |
| ५४—प्रिया-रूप-गर्व-पच्चीसी | १८३६ जेष्ठ बदी सप्तमी | ३० छं० [२५ पद ५ दोहे] |
| ५५—जुगल सनेह पत्रिका | १८३६ कार्तिक सुदी पचमी (बहादुररघेर) प्रकाशित | १६१ छं० [१५४ मांझ ७ दोहे |
| ५६—कृपा उघोताष्टक | १८३६ पौष कृष्णा एकादशी | ८ पद २ दो० |
| ५७—चौदहो अष्टयाम समय प्रबंध | १८३७ कार्तिक सुदी सप्तमी (गुरुवार, वृन्दावन) | १२९ [ ११९ पद १० दोहे |
| ५८—व्रज प्रेमानन्द सागर | १८३८ (वृन्दावन) | ६७ लहरी |
| ५९—प्रेम-पहेली | १८३९ अगहन सुदी त्रयोदसी (भरतपुर मध्ये) | १४२ छं० |
| ६०—भक्ति प्रार्थना बेली | १८४० चैत्र सुदी सातैं | ३३४ दुपई छं० |
| ६१—राधा रूप प्रताप वेली | १८४० वैशाख कृष्णा सप्तमी | १३३ छं० |
| ६२—मन परचावन वेली | १८४० भाद्रपद शुक्ला तृतीया रविवार (वृन्दावन में) | २२८ छं० |

| | | |
|---|---|---|
| ६३—राधा-रूप-नाम-उत्कर्ष वेली | १८४० | |
| ६४—वृन्दावन प्रेम विलास वेली | १८४० पौष शुक्ला सप्तमी (वृन्दावन मध्ये) | १४६ छं० |
| ६५—कृष्ण-नाम-रूप-मंगल वेली | १८४० पौष शुक्ला दशमी गुरुवार | ११० छं० |
| ६६—इष्ट मिलन-उत्कंठा वेली | १८४१ श्रावण शुक्ला द्वितीया | ११८ छं० |
| ६७—हरि भक्ति गीता (प्रकाशित) | १७४२ चैत्र शुक्ला सप्तमी प्रकाशित | ११३ छं० |
| ६८—लीला सार विचार (इष्ट पद वन्दना) | १८४३ पौष कृष्णा द्वादशी | |
| ६९—सेवक भक्ति परिचयावली | १८४४ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार | ७६ छं० संख्या |
| ७०—सेवक जस विरदावली | १८४४ मार्गशीर्ष कृष्णा पचमी गुरुवार | ७३ छं० संख्या |
| ७१—रसिक परिचयावली | अपूर्ण ···· ·· | २४६ छप्पय तक |

## जिनमे सम्वत् नही दिया गया है

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—गुरु परम्परा नामावली | अपूर्ण | छं० | ६० |
| २—कृष्ण चरणाष्टक | · | कवित्त | ९ |
| ३—जमुना स्तव अष्टक | ··· | छं० | ९ |
| ४—कुशस्थली अष्टक | ··· | छं० | ८ |
| ५—फल स्तुति सेवक वाणी | | छप्पय | २२ |
| ६—स्वामिनी चरण प्रतापाष्टक | · · | कवित्त | ९ |
| ७—प्रिया लाड अष्टक | | छं० | ९ |
| ८—वारह मासा विहार वेली | ··· | छं० | १८ |
| ९—कृपा मनोरथ पत्रिका | ··· | छं० | १०७ |
| १०—कुंज सुहाग पच्चीसी | ··· | कुल छं० ३२ [२५ पद ७ दोहे] | |
| ११—मथुरा प्रतापाष्टक | ··· | पद | ९ |
| १२—पुष्कर माहात्म्य | ··· | पद | ४ |
| १३—करुणा (सिद्धान्त) पद | ··· | पद | ९ |
| १४—अभिलाप वत्तीसी | ··· | दोहा | ३२ |
| १५—ललिता प्रेम कहानी हृदवंध अष्टक | ··· | पद | ८ |
| १६—हित कृपा विचार सार वेली | ··· | पद | ८४ |
| १७—तेरहो अष्टयाम | ··· | १७९ छं० [१७५ पद ४ दोहे] | |
| १८—स्वामीजी चरण चिह्न प्रतापाष्टक | ··· | ··· | ८ |
| १९—श्रीकृष्ण चरण चिह्न प्रतापाष्टक | ··· | ··· | ८ |
| २०—शृंगाराष्टक | ··· | ··· | ८ |
| २१—मंगल घोरी चढ़न | ··· | ··· | खंडित |

| | | |
|---|---|---|
| २२—गौनोचार (लाडिलीलाल कौ) (लाड सागर में प्रकाशित) | .. | १२४ |
| २३—कवित्त पच्चीसी | . | २७ [१४ कवित्त १३ सवैये] |
| २४—हित कल्प तरु (चारो पुत्रों का वश-वर्णन) | अपूर्ण | ४५८ छ० दोहे चौपाई |
| २५—भ्रमर गीत पदबन्ध | | पद ७२ खडित पोथी |
| २६—छद्म शोड्षी—प्रकाशित | | १६ लीलायें |
| २७—जोगी लीला—प्रकाशित | | ८ लीलाएँ |

श्री चाचा वृन्दावनदास जी का साहित्य हस्तलिखित पोथियो के रूप मे प्रचुर मात्रा में वृन्दावन में उपलब्ध है। जो कुछ हमें प्राप्त हुआ है उसके आधार पर भी हम कह सकते हैं कि व्रजभाषा के भक्त कवियो में वह सर्वाधिक है। यदि व्रजभापा काव्य को आदि कवि वाल्मीकि के रूप मे प्रारम्भ करने का श्रेय सूरदास जी को है तो उसे विशद-व्यापक विस्तार देने का श्रेय महाकवि व्यास के रूप में चाचा वृन्दावनदास जी को मिलना चाहिए। निश्चय ही वे व्रजभाषा काव्य के व्यास हैं।

## ग्रन्थालोचन

### १—लाड़सागर

श्री चाचा वृन्दावनदास रचित लाडसागर, आराध्या राधा के शैशव से लेकर किशोरावस्था तक श्रीकृष्ण के प्रति व्यक्त किए गए प्रेम का अगाध सागर है। शैशवावस्था की चपल क्रीडाओ का स्वाभाविक वर्णन करते हुए कवि ने अपनी भावना द्वारा श्रीराधा का जैसा मोहक चित्र अकित किया है, वैसा इस विषय को लेकर किसी अन्य कवि ने नही किया।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में प्रेम को विशेष महत्व दिया गया है। लाड भी प्रेम का एक बाह्य रूप है। लड् धातु का अर्थ है—थपथपाकर दुलराना, प्यार करना, लालन-पालन करना। जहाँ शिशुओं की चपल क्रीडाओं के प्रति विमुग्ध भाव से लालन-पालन की सहज वृत्ति होती है वही लाड की सृष्टि होती है। राधा और कृष्ण के प्रति वृषभानु-कीर्ति तथा नद-यशोदा का लाड ही 'लाडसागर' है। यह लाड केवल माता-पिता के लाड-चाव तक ही सीमित नही, अपितु देवता और महामुनियो के द्वारा भी व्यक्त होता है। भक्त भी अपनी भक्तिभावना से उनका लाड करते हैं। इस प्रकार 'लाडसागर' में राधा और कृष्ण की शैशवावस्था, पौगड और किशोरावस्था तक लाड के द्वारा ही प्रेम की पुष्टि की गई है जो कि भक्त का लक्ष्य है।

राधा और कृष्ण के माधुर्यभाव की पुष्टि लाड द्वारा करवाई गई है। लाडसागर में राधा-कृष्ण के बाल्यकाल से विवाहोपरान्त माधुर्यभाव की परिणति है। किस प्रकार राधा और कृष्ण का प्रेम लाड के द्वारा माधुर्य भाव तक पहुँचता है यही इस काव्य का वर्ण्य

विषय है । इसी विषय को कवि ने दस मुख्य प्रकरणो मे विभक्त किया है । लाड़सागर में माता-पिता के द्वारा वात्सल्य के स्थान पर माधुर्य भाव की पुष्टि 'लाड़' के रूप में की गई है । कवि ने कहा भी है—

कीरति जसुमति सम कहूँ लाड़ सुन्यो नहिं और—
+ + +
नाते लाड जु वरन ते वली प्रेम हिय होइ । पृ० ३६४

लाडसागर के दस प्रकरण इस प्रकार है :—

१—राधा वाल-विनोद
२—कृष्ण वाल-विनोद—विवाह उत्कंठा
३—कृष्ण सगाई
४—कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा
५—विवाह मंगल
६—लाड़िली जू को गौनाचार
७—लाल जू को महिमानी को वरसाने जाइवो—श्री व्रज-विनोद
८—राधा छवि सुहाग
९—जसुमति मोद प्रकाश
१०—राधा लाड़ सुहाग

लाडसागर का रसामृत पान करने के निमित्त उक्त प्रकरणों में उपन्यस्त वर्ण्य-वस्तु सक्षेप में दी जाती है ।

**श्रीराधा वाल-विनोद**

श्रीराधा वाल-विनोद में २५ पद है । अन्त में ६ दोहे प्रकरण समाप्ति के लिए है । राधा की आयु लगभग चार-पाँच वर्ष की है । अपनी चंचल क्रीड़ाओ द्वारा वह माँ को सदैव प्रफुल्लित करती रहती है । कीरति माता से पूर्व ही जागकर कभी लड्डू, कभी मक्खन, कभी दूव, कभी धारोष्ण दूध माँगती है । राधा गुडिया खेलने में अधिक अनुरक्त है । वाल-जिज्ञासा के अनुरूप एक दिन वह माँ से पूछती है कि सगाई कैसे होती है । यह प्रश्न राधा के सहज कुतूहल और माँ-वाप के विनोद का कारण वनता है । माता राधा के जन्म से अपने घर को पुण्य तीर्थ समझती है क्योकि शिवजी तथा महामुनि भी राधा के दर्शनार्थ आते रहते है और अपना 'लाड' आशीर्वाद रूप में प्रगट करते है ।

**श्रीकृष्ण वाल-विनोद—विवाह-उत्कंठा**

इसमें श्रीकृष्ण की वाल-क्रीडाओ के प्रति उत्साह और विवाह-उत्कंठा का विशद वर्णन है । कृष्ण अपनी पौगड अवस्था में है । वे ग्वाल-वालो के साथ खेलते रहते है । वछड़ों को चराने जाते है । माँ से हठ भी करते है, मा की वात नही सुनते किन्तु माता उनकी उन्ही क्रीडाओ में प्रमुदित रहती है । उसको वडे लाड से अपनी गोद में वैठाकर भोजन कराती है । भोर होते ही मक्खन, दूध, लड्डू आदि खाने को देती है । उसका शृङ्गार करती है ।

इसी क्रीडामय जीवन में कृष्ण के मन में विवाह की उत्कण्ठा जाग्रत होती है। वे नितप्रति विवाह की बातें कहना और सुनना पसन्द करते हैं। उनकी खेल में भी रुचि नही रही। जहाँ विवाह की बातें होती सुनी झट खेल छोडकर वहाँ जा पहुँचे। माँ से अपना विवाह शीघ्र करने के लिए कहते हैं। स्वप्न में वह बरसाना और अपनी दुलहन देखते हैं। तब से वह बरसाने आने-जाने वाले व्यक्तियो को रोक कर वहाँ के सम्बन्ध में नाना प्रकार के प्रश्न पूछते रहते हैं। एक बार राधा का समाचार सुन कर वह मूर्छित भी हो जाते हैं।

यशोदा भी उसकी विवाहोत्कण्ठा में सहयोग देती है। वह कहती है कि मैं तेरी शादी वही करूँगी जहाँ तू चाहता है। वह ज्योतिषी को उसकी जन्म-पत्री दिखाती है। वह पुत्र का बडा लाड-चाव करती है जिससे वह बडा हो और विवाह योग्य हो जाए। इन सब क्रीडाओ के व्याज से कवि ने कृष्ण के सासारिक बालरूप की झाकी प्रस्तुत की है। इस रूप में कृष्ण को पाकर भक्त प्रमुदित और आनन्दित हो जाता है।

**श्रीकृष्ण सगाई**

यह प्रकरण दोहा, अरिल्ल, सोरठा, कवित्त में लिखा गया है। कुल पद-सख्या ३५० है। कृष्ण सगाई के योग्य होते हैं तो माता भी कृष्ण की सगाई के लिए उत्कण्ठित हो जाती है। सगाई की सफलता के लिए वह नाना देवो की पूजा करती है और मनाती है कि कृष्ण की राधा के साथ सगाई हो। एक बार जब वह नारायण की पूजा करने आती है तव बरसाने की एक स्त्री से मिलकर राधा की सगाई के विषय में बात करती है। यशोदा राधा को वहाँ खेलता हुआ पाकर उसका शृंगार करती है। अपनी नाइन को कीरति के पास सगाई करने के लिए कहने भेजती है। उसी समय शिवजी कीरति से राधा की सगाई कृष्ण से करने के लिए कहते है। अब कीरति ने निश्चय कर लिया कि वह कृष्ण के साथ ही राधा की सगाई करेगी। 'शारदा' गोपी वेश धारण कर यह निश्चय यशोदा को सुना जाती है।

वृषभानु ने पडितो की सम्मति से राधा की सगाई कृष्ण से कर दी। ब्रज में बहुत खुशियाँ मनाई गईं। मगलाचार, उत्सव, भोज आदि हुए। यशोदा राधा का लाड लडाने के लिए वस्त्र आदि सुहाग की सभी वस्तुएँ भेजती है।

**श्रीकृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा**

दोहा, कवित्त, अरिल्ल, सोरठा, कुल पद-सख्या १६२। सगाई हो जाने के बाद यशोदा कृष्ण को मक्खन चोरी और लडने-झगडने की आदत छोडने की सीख देती हैं। वे कहती हैं कि तुम्हारे कुलक्षणो के कारण सगाई बहुत कठिनाई से हुई अब अपनी उन आदतो को छोड दो, क्योकि सज्जनो की प्रीति कच्चे धागे के समान होती है।

उधर बरसाने से कीरति भी ढाढिनि के द्वारा यशोदा को कहलवा कर भेजती है कि कृष्ण की बुरी आदतो को छुडवा दें।

यशोदा राधा के लिए प्रत्येक त्यौहार पर प्रेमपूर्वक सुन्दर वस्त्राभूषण भेजती है।

**विवाह-मंगल**

२०६ पद, कवित्त, छप्पय। राधा-कृष्ण की सगाई के पश्चात् शादी की तैयारियाँ

दोनो पक्षो में होने लगती है। वर और वधू दोनो पक्षो में उत्साह छाया हुआ है। लगन, भात, हरद हाथ तथा तेल, वान, मडप आदि विवाह से पूर्व की सभी रीतियां बड़े उत्साहपूर्वक मनाई जाती हैं।

वरात का आगमन और स्वागत भी भव्य होता है। ज्यौंनार के अवसर पर नारियां गालियाँ देती है। कन्यादान, भाँवर, गौरनी चारू, कुँवर कलेऊ, वडहार, पलकाचार और विदाई आदि यथाक्रम विस्तार से व्यौरेवार सम्पन्न होते हैं।

विवाह के उपरान्त राधा वधू रूप में व्रज में आ जाती है। यशोदा राधा के रूपातिशय पर मुग्ध हो उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करती है तथा वड़े प्रेमपूर्वक सदा अपने साथ रखती है। कुछ दिन वाद राधा वापस वरसाने आ जाती है।

इस वर्णन के वाद वृन्दावनदासजी ने राधा-कृष्ण के विवाह को शास्त्र-सम्मत रूप देने के लिए पुराणो तथा महाकवियो के प्रमाण प्रस्तुत किये है।

### श्री राधा जू कौ गौनाचार

राधा का दूसरी वार ससुराल में आगमन हुआ। राधा के आते ही व्रज मे नवजीवन आ गया।

राधा और कृष्ण का प्रथम मिलन होता है। दोनो एक दूसरे के प्रेम में निमग्न हो जाते हैं। सखिया उनकी क्रीड़ाओ को छिपकर देखती हैं। भोर होने पर सखियां वीणा पर राग गाकर उन्हे जगाती हैं।

यशोदा राधा और कृष्ण के पारस्परिक प्रेम से वहुत प्रसन्न होती हैं। दोनो की सुन्दर जोडी देखकर फूली नही समाती। तेल उवटन लगाकर, दोनों को अपने हाथ से स्नान कराती है। दोनो को पास वैठाकर भोजन खिलाती हे और उस समय वे राधा की सतत प्रशसा करती रहती हैं। राधा कभी उदास हो जाती है तो यशोद अनेक प्रकार से उसका मन वहलाती है।

इधर जव कीरति राधा के वियोग को अधिक नही सह पाती तो श्रीदामा को भेजकर राधा को वरसाने वुलवा लेती है।

### श्री लाल जू कौ महिमानी कौं वरसाने जाइवौ

४ दोहे १४७ चौपाई। वृपभानु जी ने नन्द तथा कृष्ण को कुछ दिन रहने के लिए वरसाने वुलवा लिया। नद, कृष्ण, वलराम और उनके मित्रो को लेकर जाते हे। वृपभानु इनका वडा स्वागत-सम्मान करते है।

राधा कृष्ण को देखने के लिए वहुत उत्सुक हो उठती है। एक दिन वह अटारी पर चढ कर झाक रही थी कि कृष्ण और राधा के नयन सहसा मिल जाते हे। दोनो एक दूसरे को देख कर तृप्त तो नही होते किन्तु राधा सकोचवश देर तक अटारी पर खड़ी नही रह पाती और चली जाती है।

कृष्ण ने इधर-उधर घूम कर सारे नगर को देखा और फिर राधा को विदा कराकर ले आए।

**श्री राधा छवि सुहाग**

पद २५। जब से राधा नन्दगृह में आई है तब से वहाँ नित नवीन मगल होते हैं। यशोदा राधा को पाकर अपने भाग्य की सराहना करती है। उसके रूप को देखकर वह अति प्रसन्न रहती है। कृष्ण ने भी अब बाहर जाना छोड दिया है। कृष्ण और राधा नाना प्रकार की केलि-क्रीडाएँ कर सबको प्रसन्न प्रमुदित करते रहते हैं।

**श्री जसुमति मोद प्रकाश**

२५ पद अन्त में दोहे। यशोदा राधा के मुखचन्द्र की चकोरी बन गई है। वह उसके रूप तथा अपने भाग्य की सराहना करती नही थकती। वह देवताओ की इस अपार कृपा के लिए उनकी सदैव पूजा करती है। राधा को बिना देखे उसे चैन नही पडता। राधा को अपने हाथ से उबटन लगाती और नहलाती है। उसका शृङ्गार करती है। उसको बडे प्रेम से पास बैठाकर भोजन खिलाती है और उसे कृष्ण से भी अधिक प्यार करती है। कृष्ण और राधा की केलि-क्रीडाओ से वह अति प्रसन्न रहती है।

**श्री राधा लाड़ सुहाग**

१५४ पद अन्त में दोहे। राधा और कृष्ण निरन्तर क्रीडा करते हैं। राधा अपनी सास से सदैव आशीष पाती है। यशोदा राधा का शृङ्गार अपने हाथ से करती है। रोहिणी भी राधा को बहुत प्यार करती है। राधा यशोदा को गाना सुनाती है।

कीरति राधा को बुलाती है। यशोदा को उसे छोडते हुए बहुत दुख होता है।

इसी प्रकार राधा कभी ससुराल रहती है कभी पीहर। दोनो जगह उसका खूब लाड-प्यार होता है। राधा और कृष्ण सदैव क्रीड़ा करके सबको प्रसन्न रखते हैं। वह कभी रासलीला करते है, कभी जल-क्रीडा करते हैं। इनकी क्रीडा नित्य और अपार है।

सक्षेप में, इस लघुकाय कथा-पयस्विनी को इस प्रकार एक सागर का रूप दे दिया है। इसमें विवाह मगल सबसे बडा है। विवाह की प्रत्येक रीति का सविस्तर वर्णन पढकर व्रज प्रदेश की वैवाहिक रीति-रिवाजो का जैसा ब्यौरेवार विवरण मिलता है वह चाचा वृन्दावनदासजी की विलक्षण जानकारी का प्रमाण ही नही वरन् उनकी काव्य-कुशलता का भी द्योतक है।

## लाडसागर का भाव-पक्ष

'लाडसागर' प्रेम का सागर है। कृष्णाख्यान के एक अश—बाल-चरित्र को मेरुदड बनाकर उसी पर क्षीण कथापट को बुना गया है। यद्यपि जीवन के सर्वांगीण क्रमिक रूप को प्रस्तुत करने वाली कोई कथा इसमें नही है फिर भी शैशव की कहानी का बोध हो जाता है। माता-पिता की अपनी सन्तान के प्रति जो निश्छल, निस्वार्थ, नैसर्गिक लाड की भावना होती है वही इसमें पाई जाती है। माता-पिता अपने बच्चो की भोली, सरल और निष्कपट चेष्टाओ और सहज-स्वाभाविक रूप से की गई शरारतो से प्रसन्न होते हैं। कीरति को राधा के मचलने में, उसके बर्तन फोडने में, रूठने में एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है :—

**राधा लाड़ मूरति बनी।**
**जदपि काम बिगारि भाजति तदपि प्यारी घनी ।।**

**—पृष्ठ ८, पद १७।**

यशोदा भी कृष्ण की शरारतो मे इसी प्रकार का आनन्द प्राप्त करती है।

बालको की स्वाभाविक जिज्ञासाओ को सुनकर माता-पिता प्रसन्न होते हैं। राधा और कृष्ण की विवाह-सम्बन्धी जिज्ञासा भी उन्हे प्रमुदित करती है। यशोदा और कीरति कृष्ण और राधा का नाना भाति से लाड लडाती हैं। उन्हे घी, दूध, मक्खन खिलाती हैं, अपने हाथ से स्नान कराती हैं और शृ गार करती हैं।

विवाह के अवसर पर पुत्री के प्रति माता का वात्सल्य उत्कट कोटि का हो है जाता। कीरति में भी यही बात पाई जाती है। उधर वधू के प्रति लाड-प्यार की मात्रा यशोदा में प्रबल रूप से बढ जाती है। यशोदा राधा को अपने हाथ से खाना खिलाती है, अपनी गोद मे बैठाकर प्यार करती है, राधा और कृष्ण की क्रीडाओ को देखकर प्रसन्न होती है। वस्तुत. इसमें लाड का ही सागर लहरा रहा है। वत्सल भाव की सरस उर्मियाँ बीच-बीच में उछलकर सागर को तरगायित करती रहती हैं।

माता का स्नेह संयोग के समय तो रहता ही है वियोगावस्था मे यह और भी प्रबल हो जाता है। राधा की विदा के अवसर पर माता की प्रेम पूर्ण आकुलता की स्थिति का बडा स्वाभाविक और मार्मिक चित्रण हुआ है :—

**लली चलन दिन आज मात अरबरति है।**
**थोरे जल में मीन मनौं तरफरति है ।।**
**पुनि पुनि ताकति बदन नैन जल भरति है।**
**लीनी प्रेम दवाइ न धीरज धरति है ।।**

**—पृष्ठ २०६, पद सं० १५८।**

राधा के ससुराल चले जाने पर कीरति का मन नही लगता, वह उसके लिए बेचैन हो उठती है :—

**श्री राधा विरह हियौ व्याकुल कीरति निसि नींद न आवै।**
**छिन आंगन छिन मदिर रानी जुग सम पल जू बितावै ।।**
**लीनी प्रेम दावइ जबै बोली सुनौ रावल राई।**
**अरबरात दृग प्राण बेगि दै कुँवरिहिं लेहु बुलाई ।।**
**कुँवरिहिं लेहु बुलाइ बेगि दै व्याकुल प्राण महाई।**

**पृष्ठ २२५, पद सं० १८९।**

विवाह से पूर्व एक दिन राधा के अपराध करके छिप जाने पर मा के आकुल हृदय का एक और सुन्दर चित्र देखिए :—

**हँसति लसति मान घरनि ललिता सो बूझतिहीं**
**कहां कनक तनी बेगि दै बताउ री।**
**फिरतु बह्यौ अजिर दही तद्‌पि हौं सोच रही**
**अति लड़ि उरि गई भाजि खोजि लाउ री ।।**

मैया देखी जु मैं न कहां गई मृगज नैन
दामिनि सी कौंधि छिपी कर उपाउ री।
बेठी अकुलात हीय देखे बिनु कल न जीय
मों सो गई रूठि ताहि तू मनाउ री॥
मांगे सो सो जु देउ हिय सों लगाइ लेउ
नैननि की थाती अबही मिलाउ री।
डांटों नहि वाहि फेरि कहि दै तू टेरि टेरि
आउ प्राण प्यारी मो उर सिराउ री॥
आई घर घर निहारि बुधि बल सब रही हारि
सखिनु शोभ देन लली मुख दिखाउ री॥
मैया उर सबल नेह राधा बिनु रुचि न गेह
भोजन वार करि हैं सुधि रावल राउ री॥

—पृष्ठ ८, पद स० १६।

उधर यशोदा भी कृष्ण के प्रति इसी प्रकार व्याकुल रहती है। अपने पुत्र की विवाहोत्कण्ठा को उसने अपनी ही स्पृहा-उत्कण्ठा का रूप दे दिया है।

माता के लाड के सुन्दर भावपूर्ण चित्रो के साथ ही चाचा वृन्दावनदास ने वालको की चेष्टाम्रो और जिज्ञासाम्रो का भी सुन्दर चित्रण किया है। बालिकाए गुडियो का खेल खेलती हैं, उनका ब्याह रचती हैं और उसी में जननी का सुख प्राप्त करती हैं। राधा भी माता से गुडिया बनाने का आग्रह करती है —

मैया गुड़िया देहि बनाइ
जिनको सुन्दर रूप भूषण वसन दे पहराइ॥

—पृष्ठ ४, पद सं० ८।

बच्चो मे यह स्पर्धा रहती है कि हम मा के प्यारे बन जाए। राधा में भी यही इच्छा है और वह मां से ही पूछती है कि बता तुझे इस सब में कौन अधिक प्रिय है —

हौं जु प्यारी लगौं बीर श्रीदाम के
कै लगे अधिक प्यारी जु तुहि तात री॥

—पृष्ठ ११, पद स० २३।

बच्चों में विवाह के प्रति जिज्ञासा भी स्वाभाविक होती है। राधा और कृष्ण में इस जिज्ञासा का वर्णन मनोवैज्ञानिक शैली से हुआ है।

वात्सल्य रस के अतिरिक्त इसमें शृंगार रस का भी गहरा पुट है। लाडसागर का शृंगार विवाह के बधन से परिमार्जित शृंगार है। कृष्ण और राधा गृहस्थ में ही रहकर प्रेम करते हैं, केलि-क्रीडा करते हैं किन्तु कभी भी उच्छृखल नही होते। राधा और कृष्ण का प्रेम स्वकीया का प्रेम है। इसलिए इनके प्रेम में परकीया प्रेम की-सी तीव्रता और आकुलता नही है।

लाड-सागर में पूर्वानुराग की भी स्थिति मिलती है। कृष्ण में यह पूर्वानुराग स्वप्न-दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन और श्रवण-दर्शन से उत्पन्न होता है। श्रवण-दर्शन में ही इसकी उत्कण्ठावस्था मिलती है। इनके प्रेम को विवाह के द्वारा ही पूर्ण किया गया है। वैवाहिक जीवन के शृंगारिक रूप को साधारण अनुभूतियो से मिलाकर सुन्दर वना दिया है। इसी प्रसग में लोक में प्रचलित सभी वैवाहिक रीतियो का विस्तृत चित्रण किया गया है। विवाह काल में होने वाले प्रत्येक लोकाचार का चित्रण करके कवि ने उसे सर्वाङ्गपूर्ण वनाया है। विवाह के अवसर पर गाई जाने वाली गालिया भी इसमे वर्णित हुई है। गाली गाने वालो को रोकते हुए एक गोपी कहती है :—

**गारी न देहौं रे सजना गारी न देहौं।**
**गोप चरित वरनौं कछू पै नाम न लैहौं॥**

—पद सं० १२३, पृष्ठ १८०।

ब्रजमंडल मे आज भी विवाह के समय गाली गाये जाने का रिवाज है। इन गालियो में दंश न होकर सरल और सरस हास्य-भरा व्यंग रहता है जिसका उद्देश्य केवल मनोविनोद है किसी को क्लेश पहुँचाना नही। ऐसी गालियों का वर्णन लाड़सागर में प्रचुर परिमाण में है।

## लाड़सागर का कला-पक्ष

लाडसागर का कला-पक्ष काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से उच्चकोटि का नही है। यह ठीक है कि लाड़सागर वात्सल्य रस की दृष्टि से सुन्दर रचना है और लाड़ की जितनी सवल व्यंजना हो सकती है वह इसमे पाई जाती है किन्तु काव्य-कला के अन्य अङ्ग अलंकार, भाषा, गुण, रीति आदि का स्तर सामान्य कोटि का ही है।

लाडसागर मे कुछ गिने-चुने अलंकारों का ही प्रयोग हुआ है किन्तु जव अलंकारो का प्रयोग करने लगते हैं तव उस पद में कुछ चमक अवश्य ला देते हैं। अलंकारो की अप्रस्तुत योजना पूर्णतः परम्पराभुक्त और शिथिल है अतः उनके द्वारा भाव या शब्दार्थ का उत्कर्ष विधान नही हो पाता।

उपमा, रूपक, प्रतीप, वाक्यार्थोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, व्यतिरेक आदि अलकारो का साधारणतः प्रयोग किया गया है। सवसे अधिक प्रयोग उत्प्रेक्षा का है, और वह भी अधिकतर राधाकृष्ण के रूप-वर्णन, तथा मातृ-वात्सल्य की भावना के चित्रण में हुआ है।

### उत्प्रेक्षा

राधा चलना सीख रही है उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

**शोभा का विरवा मनौं यह पवन झोका खाइ।**

—पृष्ठ २, पद स० ३।

राधा के विवाह का दृश्य है। विवाह से पूर्व हरद तथा उवटन लगाने की रीति सम्पन्न हो रही है। उस समय राधा के रूप पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

गोप सुता तन करति उबटनो अप अपनी रुचि मान।
मनु सिसु तड़ित-तड़ित सों उरझीं बनत न उपमा आन॥

—पृष्ठ ११९, पद सं० ३१।

दुलहिन रूप में राधा की छवि का सुन्दर वर्णन किया गया है —

चोट सरुकति पीठि सुही सारी लसी।
मनु अनुराग सुजाल आनि नागिनि फसी।
मनहुँ सुरसुरी वारि कनक गिरि ते चली
लसति जलज मणि पाँति सोई मनु सुरधुनी।
इत-उत रविजा वारि भई छवि सतगुनी
भई छवि सतगुनी मधि सेंदूर त्रिवेनी मनो
मुनि मन जन जु मन प्रीतम भयो मज्जन करत पुनि-पुनि जनो।

—पृष्ठ २४९, पद सं० २४।

रोते हुए बालकृष्ण की सुन्दर मुद्रा का उत्प्रेक्षा द्वारा वर्णन :—

दोऊ कर मीडत है अखियाँ यह छवि कहा वखानों।
कमल-कमल भयो सपुट मनु आँसू मकरद चुचानो॥

—पृष्ठ २०, पद सं० २२।

नद के कधे पर चढ़े हुए कृष्ण का वर्णन सुन्दर है —

तात के कांधे चढे कन्हाई।
कंचन विटप शिखर वढ़ि कमनी मनु तमाल छवि छाई।
किधों कनक के मेरु महा मर्कत मनि देहि दिखाई।
किधो महा कमनी गिरि ऊपर श्याम घटा झुकि आई।

—पृष्ठ ३५, पद सं० ६१।

कृष्ण का दूलह रूप में छवि-वर्णन उत्प्रेक्षा द्वारा सुन्दर हुआ है —

मरुवट बदन बिलोकि सखी री अद्भुत अवसर जान
उत्सव बडो मानि मनु पूज्यो इदु इन्दिरा पानि
श्याम कपोलनि में अस झाई सुन्दर कुंडल कान
दुहु तट मनो मोर रविजा जल जुग रवि बैठे न्हान
कज्जल वलित नैन रुचि रेखा इहि छवि उपमा नाहि
मानो तम सूक्ष्म जु रूप धरि विध्यो चन्द के माँहि
भौंह गरूर गोल सुठि नासा भर्यो छैल छवि ऐड़
सरसत विपुल उमाह व्याह मन मरत झुको दै पेंड़
करवर बन्यो मखतूल डोरना अहा कहा यह सोभा।
कमल कठ मनु मधुपानि पातो बैठी सौरभ लोभा॥

—पृष्ठ १५७, पद सं० ८२।

यशोदा कृष्ण को प्यार कर रही हैं :—

अंक धरि लाड़ति ब्रजपति धरनी
मनौ घन बिखा वयौथांवरो रच्यौ कनक मनि धरनी ॥

—पृष्ठ ६२, पद स० १२५।

कृष्ण विवाह के अवसर पर स्नान कर रहे हैं। शृंगार किये हुये बालाएँ चारो ओर घूम रही हैं। उस पर कवि उत्प्रेक्षा करता है :—

बनी ठनी मंदिर में बाला रमकी झमकी डोलैं।
मनु हरि घन अभिषेक होत हैं दामिनि निकट कलोलैं ॥

—पृष्ठ १४५, पद स० ६६।

कृष्ण अपनी वधू के आने की कल्पना कर मुस्कराते हैं, उस पर कवि की उत्प्रेक्षा देखिए:—

काल्हि दुलहिनि आइ है यों कहि जु आनन्द भरयौं।
खिली बारिज कलि मुसुकनि मनु पराग सुभ्भरयौं ॥

—पृष्ठ ३८, पद सं० ६६।

कृष्ण जलक्रीडा कर रहे हैं। इस दृश्य का उत्प्रेक्षा द्वारा चित्रण देखिए :—

तरत कमल दल लोचन तिन मधि कहा छवि बरनि सुनाइये।
क्रीड़त मनो मत गज सावक अति कौतूहल छाइये ॥

—पृष्ठ ५८, पद सं० ११३।

राधा का रूप-चित्रण :—

पिय मन उर वर चौक क्रीड़त सुचुपाइकैं।
नाभि सुधा सर पैठतु पुनि पुनि धाइकैं ॥
ता ढिग त्रिबली रेख महा कमनी खची।
प्रीतम मन अविलंब सिढ़ी मानों रची ॥
रचि मानों सिढ़ी सजनी रुरत मोतिनु हार है।
गिरि कनक पै पग पांति अनुपम करति मनहु विहार है।

इसी प्रकार उत्प्रेक्षा के द्वारा अनेको सुन्दर रूप-चित्र तथा भावचित्र अंकित किये गए हैं। माता की विरहाकुल अवस्था का भावपूर्ण चित्र देखिए —

लली चलन दिन आज मात अरबरति है।
थोरे जल में मीन मनौं तरफरति है ॥
पुनि पुनि ताकति बदन नैन जल भरति है।
लीनी प्रेम दवाइ न धीरज धरति है ॥
नेह पङ्क मनु कुंजर दहल्यौ जात है।
फिरि आवन की आस लागि ललचातु है ॥
उर वर उमड्यौ प्रेम न मुख तें कहति है।
कुंवरि भुवन भूषन मुख ओरी चहति है।

मगल द्यौस विचारि बहुरि चुप रहति है।
मन तुरग की डोरी गाढ़ी गहति है ॥
—पृष्ठ २०६, पद सं० १५८।

निदर्शना

जैसे खेवट बिन भ्रमै भरी नाव जल धार।
मो मन गति ऐसी भई नाथ लगावौ पार ॥
—पृष्ठ ७७, पद स० २१८।

जैसे उमगे सिंधु जब रुकत न बारु भीत।
मकराज वेपथ भये प्रेम प्रबल लये जीत ॥
—पृष्ठ ७७, पद सं० २२२।

सन्देह

खेल नाना रचति कुँवरि गौरांग जहाँ
किधौं छविलता कै दामिनी कौ निकर ॥
किधौं कीरति सुकृत पुंज दरस्यौ दृगनि।
किधौं रावल धनी लह्यौ कोउ भूरि वर ॥
किधौं यह प्रमी कौ जलद रहे ऊनयौ।
आठहू पहर लाग्यौ जहां विपुल झर ॥
—पृ० १०, पद स० २१

## भाषा

लाडसागर की भाषा व्यावहारिक बोलचाल की ब्रजभाषा है। चाचाजी ने इस ग्रथ में ब्रजभाषा का वह रूप स्वीकार किया है जो ब्रजवासियो की घरेलू भाषा का रूप है। साहित्यिक कोमलकान्त पदावली और तत्सम शब्दो को यथाशक्य बचाया है। ब्रज के गाँवो मे आज भी इसी प्रकार की भाषा का व्यवहार देखा जा सकता है। चाचाजी रीतिकालीन कवियो के समकालीन थे। देव, बिहारी, मतिराम, घनानन्द और पद्माकर की सरस काव्यरचना से उनका साक्षात् परिचय था। किन्तु उन्होंने उस भाषा को इस ग्रन्थ में कदाचित् जानबूझकर ग्रहण नही किया। लाडसागर ब्रज के रीति-रिवाजो, त्योहार-पर्वो और सामाजिक कृत्यों के वर्णन से भरा पडा है अत ब्रज की आत्मा उसी भाषा में व्यक्त हो सकती है जिसमें ब्रजवासी बोलते और व्यवहार करते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भाषा की परख करते हुए भी हमें इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा कि जिस बोलचाल की ग्रामीय ब्रजभाषा को चाचाजी ने स्वीकार किया है वह साहित्यिक कसौटी पर भी उन्ही नियमो से परखी जायगी। फिर भी व्याकरण-सम्बन्धी विपर्यय प्राय नही है।

लाडसागर की भाषा का एक उल्लेख्य गुण है उसकी सवादात्मकता। सवादो के द्वारा आख्यान-पट को जिस रूप में फैलाया गया है वह भाषा में प्रवाह और गति का स्वय सचार कर देता है। कही-कही तो पदो में इतने सजीव सवाद हैं कि उन्हे पढकर नाटकीय कला

का आभास होने लगता है। रासलीलाधारियो ने इसी कारण चाचाजी की रचनाओ से और विशेषतः लाडसागर से प्रसग चयन करके छोटी-छोटी लीलाओ की रचना कर ली है। पद ज्यो के त्यो रखे है केवल बीच-बीच में वचनिका जोड़ दी है। गुडिया लीला, स्वप्न लीला, ज्योंनार लीला आदि इसी प्रकार की लीलाएँ है। इनका आधार चाचाजी का लाडसागर ग्रथ ही है।

मुहावरे और लोकोक्तियो के प्राचुर्य से भाषा में सजीवता, गति और प्रवाह आ गया है। मुहावरो के बहुत ही सुन्दर और व्यापक प्रयोग इसमें मिलते है। कुछ उदाहरण इस प्रकार है :—

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

१—एक सम कह्यौ तै सबनि के लाड़को कौन सनमानि है सजन जु बरात री ॥
—पद २३, पृष्ठ ११।

२—निपट गुनीले हम जानति हैं कहा बजावत गाला।
—पद ३६, पृ० २५।

३—हंसनी ठगनी जानि परति है तै कत मुँह जु लगाई।
वचननि और पेट कछु औरै खरचति है चतुराई ॥
—पद २८, पृ० २५।

४—ताहि न घर में आवन दीजै काटै बात पराई।
—पद ३८, पृ० २५।

५—नैननि और बैन कछु औरै हिये और दरसात।
—पद ४८, पृ० २९।

६—बातन पंथ कटै नहि मैया जब लगि धरै न पग रे ॥
—पद ७७, पृ० ४१।

७—जल में बसि कै बैर मगर सौं किन छाती जु सिराई।
—पद ७८, पृ० ४२।

८—बरन्यौ न्याइ विवेकिनु देखौ दीपक तरै अंधेरौ।
\+ \+ \+
फिरत विफाऊ सौ मुँह चुपरं कहत व्याह करौ मेरौ ॥
\+ \+ \+
सेंवर फूल देखि कै सूवा तरुवर लियौ बसेरौ।
भयो फल चाखिव निरास आपुरौ बहुरि न बैठ्यौ नैरौ ॥
—पद ८५, पृ० ४५।

९—घर बैठे ही गाल बजायो देख्यौ पर न निकेत है।
—पद १०६, पृ० ५५।

१०—यह रस चाख्यो जिननि ब्रह्मानंद दियौ बिहाइ।
अमी तजि को कूप खारी नीर कौं ललचाइ ॥
—पद २, पृ० ३०६।

**११—सुत के लाड़ रग्यौ हौ मो मन यह जु रंग पै रंग चढावै**
**अमल स्वाद अमली हो जानै नहिं पर द्रव्य ताहि परखावैं ।।**
**वाम दाहिने लोचन दोऊ हीनो होई सो नाम धरावै ।**
**—पद १०२, पृष्ठ ३३६ ।**

तत्सम तथा विदेशी शब्दो का विरल प्रयोग है—फिर भी कुछ शब्द मिलते हैं—

**तत्सम**·—अभिराम, अनुराग, अद्भुत, द्रुम, अखिल, आलय, तिमिर, उलूक, अनुग, मारुत, सुरभि, प्रतीति, अनुकूल, दृग, दक्षिण, अग्रज, अनुज, वारिधि, प्रतिकूल, सक्राति, सहोदर, सरसी, द्रव्य, दुंदुभी, मुदित, वारिज, श्रम, स्वेद, उद्योत, विस्मित, उद्गार, तव, तम, ग्रीवा, उद्भव, कन्दर्प, अलकृत, अभिषेक, व्योम, उच्छिष्ट आदि ।

सस्कृत शब्दो के अतिरिक्त लाडसागर में फारसी, अरवी और तुर्की के शव्दो का भी समावेश पाया जाता है

**फारसी**—ताजी, जरकसी (जरकश), जीन, लगाम, नीसान, (निशान), दरवारा (दरवार), दरियाई (दरियाइ), गिलम, आतसवाजी, चावुक ।

**अरबी**—रकम, इजार, जहाज, तुर्रा, मसाल (मशाल), खाव, तास (ताश), गरूर, मुरब्बा (मुरब्ब), बाग ।

**तुर्की**—चिक (चिक), कलगी ।

एक दो स्थान पर वाक्य-रचना उर्दू व्याकरण के अनुसार हुई है, जैसे .

**मन सोभा मनजुब जहा लसै वसन बादले जामैं ।**
**—पद १६०, पृ० २०८ ।**

**नगनि की जोति चख चौंधि दृग होति है ।**
**बावले बसन की छबि जु बाढ़ी घनी ।।**
**—पद ४, पृ० २४२ ।**

जिन विदेशी शब्दों का प्रयोग हुआ है वे सब बोलचाल में नित्य प्रयोग में आने वाले शब्द हैं । उनके प्रयोग से भाषा की सरसता में किसी प्रकार की ठेस नही पहुँची है ।

## छन्द

लाडसागर गेय पदो में ही लिखा गया है । किन्तु उसमें दोहा, अरिल्ल, सोरठा, कवित्त, छप्पै (छप्पय) मगल करधा और चौपाई छदो का प्रयोग भी पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इसके पद राग-रागिनियो में बँधे हैं । सम्पूर्ण लाडसागर में लगभग ४० रागो का प्रयोग हुआ है । शास्त्रीय सगीत की दृष्टि से ये पद गाए जा सकते हैं और राधावल्लभीय समाज में गाए भी जाते हैं । राग और छन्द के साथ लाडसागर में लोकगीत भी पाए जाते हैं—बन्ने, बन्नी, गारी पर बने गाने, भात, लगन, घोडी, आदि लोकगीत के अन्तर्गत ही आते हैं । किन्तु ये लोक-गीत की मार्मिकता से रहित हैं ।

## लाड़सागर का रचनाकाल

लाडसागर की रचना किसी एक विशेष काल में नही हुई । इसके विभिन्न प्रकरणो की रचना विभिन्न काल में विना किसी निश्चित क्रम से हुई है । अत. लाडसागर का

रचना काल उन प्रकरणों के रचनाकाल को देखकर ही निश्चित किया जा सकता है।

लाड़सागर के प्रथम प्रकरण—श्री राधा बाल विनोद—की रचना सम्वत् १८३२, आषाढ सुदी एकादशी को हुई थी :

ठारह सै बत्तीसयौ वर्तमान है वर्ष, सुदि असाढ़ एकादशी कथ्यौ इष्ट उत्कर्ष।—पृ० १२

'श्री कृष्ण बाल विनोद—विवाह उत्कण्ठा' की रचना सम्वत् १८३१ वदी बैसाख सप्तमी को हुई थी :

अठारह सै इकतीसयों वर्ष भयौ परवेश।
वदी वैसाखी सप्तमी रविवासर जु सुदेस॥
—दोहा ११, पृ० ६४।

'श्रीकृष्ण-सगाई' की रचना सम्वत् १८१२, फाल्गुन, शुक्ल पक्ष, एकादशी को हुई :

ठारह सै बारह बरस रस मय फागुन मास।
शुक्ल पक्ष एकादशी वेली भई प्रकास॥
—दोहा ३४७, पृष्ठ ८५।

'श्रीकृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा' की रचना सम्वत् १८१३, चैत्र सुदी द्वितीया को हुई :

ठारह सै पर तेरहौं वर्ष जु भयो प्रवेस।
चैत्र सुदी दुतिया सु दिन कथ्यौ प्रबंध सुदेस॥
—दोहा १८६, पृष्ठ ९९।

'विवाह-मंगल' की रचना सम्वत् १८१७ में हुई :

ठारह सै पर वर्ष सत्रहौं साके गति जु वखानौं।
फागुन वदि हरिवासर पूरन ग्रन्थ भयौ यह जानौ॥
—पद सं० २००, पृष्ठ २३१।

'श्री लाड़िली जू को गौनाचार' में कोई समय नही दिया गया।

'श्री व्रज विनोद' का रचनाकाल सम्वत् १८०४, माधव मास की सप्तमी है :—

सम्वत् से दस आठ विचारौ। चारि वर्ष ऊपर चित धारौ। १४९॥
माधौ मास सुभग दिन सातै। व्रज विनोद कह्यौ सुमति सुहातै॥
—पृष्ठ २९७।

'श्री राधा छवि सुहाग' की रचना सम्वत् १८३१, श्रावण शुक्ला सप्तमी को हुई :

ठारह सै पर जानियो वर्ष और बत्तीस।
सावन शुक्ला सप्तमी शुभ वासर गुरुवार॥
पद २६, पृष्ठ ३०५

'श्री जसुमति मोद प्रकाश' की रचना संवत् १८३२ श्रावण शुक्ला द्वादशी को हुई :

ठारह सै बत्तीसयौ वर्ष जु सावन मास।
सुकल पक्ष पुनि द्वादशी कीयौ ग्रन्थ प्रकास॥
—दोहा सं० २, पृष्ठ ३१४।

'श्री राधा लाड सुहाग' की रचना सम्वत् १८३५, शुक्ल पक्ष नवमी को हुई'

ठारह सै पैंतीसयौ नौमी सुकला माह।
पूरन कीयौ ग्रन्थ यह रसिक दैन उत्साह॥

—पृष्ठ ३५४।

उपरिलिखित प्रकरणो का रचनाकाल क्रमानुसार इस प्रकार है —

| | | |
|---|---|---|
| श्री राधा बाल विनोद | सम्वत् | १८३२ |
| श्री कृष्ण बाल विनोद | " | १८३१ |
| श्री कृष्ण सगाई | " | १८१२ |
| श्री कृष्ण प्रति जसुमति शिक्षा | " | १८१३ |
| श्री विवाह मगल | " | १८१७ |
| श्री व्रज विनोद | " | १८०४ |
| श्री राधा छवि सुहाग | " | १८३१ |
| श्री जसुमति मोद प्रकाश | " | १८३२ |
| श्री राधा लाड सुहाग | " | १८३५ |

'श्री व्रज विनोद' की रचना सबसे पूर्व हुई और 'श्री राधा लाड सुहाग' की रचना सबसे अन्त में। अत निष्कर्ष यह निकलता है कि 'लाडसागर' का रचनाकाल सम्वत् १८०४ से १८३५ तक है।

## २—व्रजप्रेमानन्द सागर

चाचा वृन्दावनदासजी के ग्रन्थो में 'व्रजप्रेमानन्द सागर' अपनी विशालता, विविध रसो की परिपूर्णता, महाकाव्य-शैली की अनुरूपता और वर्ण्य-विषय की विविधता के कारण महत्वपूर्ण स्थान रखता है। गो० तुलसीदास के रामचरितमानस की दोहा-चौपाई शैली में कथानुबन्धपूर्वक राधाकृष्ण के शैशव से लेकर विवाह पर्यन्त क्रीडा-कौतुक का वर्णन इसमें उपलब्ध होता है। व्रज सस्कृति का अध्ययन करने के लिए इस ग्रन्थ को पीठिका बनाया जा सकता है। व्रज का लोक-जीवन जितनी समग्रता के साथ इस ग्रन्थ में प्रतिच्छायित हुआ है कदाचित् सूर के पदो को छोडकर अन्यत्र कही नहीं हुआ। सूरदास की रचना मुक्तक शैली में है अत कथा की सतत आकाक्षा और वृत्त के प्रति उत्सुकता का उसमें प्राय अभाव रहता है किन्तु व्रजप्रेमानन्द सागर की आख्यानात्मक शैली में मुक्तक की निरपेक्ष वृत्ति नही है। राधाकृष्ण के जीवन की घटनाओ को समेटकर उन्ही के ताने-बाने पर काव्य का ढाचा खडा किया गया है। फलत. पाठक कथा के मोहक आकर्षण में फँसकर इसे पढने में तन्मय हो जाता है।

व्रजमडल की कृष्ण-लीलाओ का आधार भागवत पुराण है। राधा को कृष्ण के साथ भक्त कवियो ने स्वकीया और परकीया दोनों रूपो में सम्बद्ध कर अपनी-अपनी साम्प्रदायिक भावना का पोषण किया है। किन्तु राधा और कृष्ण के वर्णन में शैशव से कैशोर तक की उन्ही घटनाओ को ग्रहण किया गया है जो माधुर्य-भक्ति के क्षेत्र में रसपरिपाक (भक्तिरस)

की दृष्टि से सहायक हो सकती हैं। किशोर उपासना के कारण महाभारत के अथवा योग-शास्त्र के कृष्ण को यहाँ कोई स्थान नही है। यदि वृन्दावन-रस की कसौटी पर 'राधाकृष्ण' के मधुर रूप की परख करनी हो तो व्रजप्रेमानन्द सागर की लहरियो मे अवगाहन करके ही यह सम्भव है। व्रजप्रेमानन्द सागर माधुर्य भक्ति के उस रूप का प्रतीक है जो वात्सल्य के मार्ग से शृंगार के उज्ज्वल पक्ष तक पहुँचता है। भावो का गाभीर्य उसमें नही है किन्तु सरसता से आप्लावित होने के कारण शान्त-स्निग्ध पयस्विनी की निर्मल जल-धारा के समान पाठक के मन को आनन्द और उल्लास के सागर मे निमज्जित करने की उसमें अद्भुत क्षमता है।

## वर्ण्य-विषय-विस्तार

व्रजप्रेमानन्द सागर की रचना में प्रवृत्त होते समय भक्तकवि वृन्दावनदासजी श्री हितहरिवशजी की वदना करके उनसे प्रार्थना करते हैं कि—'तुम प्रिय दम्पति चरित जु कथा सौ प्रेरौ मौ वानी जथा।' अर्थात् राधाकृष्ण का चरित वर्णन ही उनका अभीष्ट विषय है। किन्तु राधाकृष्ण चरित व्रज में केवल किशोरावस्था तक माधुर्य रस में ही स्वीकृत होता है। इसे स्पष्ट करते हैं—

**व्रज लीला माधुर्य रस सकल रसनि सिर मौर।**
**या सुख कनकी वानगी मिलै न दूजी ठौर॥**

व्रजलीलाओ का भी अमित विस्तार है। चाचाजी ने यथासम्भव उन सभी छोटी-बड़ी लीलाओ को अपनी वाणी में स्थान दिया है जो कही भी किसी भी रूप में प्रचलित रही हैं। पुराणो की आख्यानात्मक लीलाओ के साथ छद्ममयी मोहक लीलाओ का विस्तार करने में तो आपको पूर्ण दक्षता प्राप्त है। व्रजप्रेमानन्द सागर का विभाजन लहरियो में किया गया है। प्रत्येक लहरी में जो विपय वर्णित हुआ है उसका सारत. नामोल्लेख लहरी के अन्त में मिलता है। ६८ लहरियो का यह विशाल सागर ६१४७ छन्दो ( दोहा चौपाई ) मे समाप्त हुआ है। हम इसके प्रमुख विषयो का लहरियो के अनुसार निर्देश करके यह स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे कि चाचाजी का मन किस आधारभूत भाव-वस्तु को पकडकर इस रचना में लीन हुआ था।

प्रथम लहरी मगलाचरण-वदना-स्तुति तथा काव्य-विपय सकेत प्रस्तुत करती हैं। इसमें ५२ छन्द हैं। दूसरी लहरी में व्रजपति के भवन में कृष्ण के उत्पन्न होने और मा यशोदा के शिशु को खिलाने का वर्णन है। वच्चो की शिशु-क्रीडा के वर्णन मे चाचाजी की सूक्ष्म दृष्टि का अच्छा परिचय मिलता है। वच्चे का सागोपाग चित्रण व्रज की वेशभूपा के सर्वथा अनुरूप और आकर्षक है। इसी शिशु-क्रीडा मे पूतना का आना और परास्त होना, शकटासुर का वध, त्रिनावर्त्त का नाश, इस शैली में वर्णित हुआ है कि माधुर्य भक्ति की सुकुमार भावना में किसी प्रकार की परुप और कठोर, भयावह और वीभत्स भावना नही आने पाई है। जिस सहज स्वाभाविक रूप में इन घटनाओ को चाचाजी कह गये हैं वह इस वात का निदर्शन है कि राधावल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण के लिए ये समस्त क्रियाकलाप नगण्य और तुच्छ हैं। वे अपने

चारों ओर के वातावरण में सौंदर्य और माधुर्य के अतिरिक्त किसी और दृश्य या घटना को जैसे देखना ही नही चाहते। वर्णनात्मक शैली के प्रवाह की दृष्टि से भी दूसरी लहरी का शिशु-प्रसग वहुत सुन्दर है। ५८ छदो में कृष्ण के वाल-विहार का वर्णन हुआ है। वाल-विहार का एक प्रसग हम यहाँ उद्धृत करते हैं—

दोहा—अव वरनौं व्रजपति भवन यसुमति लाडलिलाल।
हरषि झुलावति पालनै देति चखौडा भाल॥

चौपई—कर डोरी जु पाट की गहि कै सुन्दर करटारित रटि रहिकै।
सुतहि निरखि मैया मन हुलसे लाल अगूठा पुनि-पुनि चौंसें॥
चुटकी दै-दै कै दुलरावै, नारायन की कृपा मनावै।
पीत झुगुलिया तन अति राजै, टोपी सिर तासकी विराजै॥
नाक नथूली वघ नख गरै, माइ खिलावति अकन धरै।
निरखि-निरखि कै सुन्दर आनन, जननी चिवुक प्रलोकति पानन॥
कवहू काँधे धरि दुलरावै, पुनि उर धर पयपान करावै॥
तहाँ पूतना विहँसित आई, लाल गोद भरि लियो उठाई॥
तिन कछु खोटी वुधि निर्मई। जननी की गति ताकै दई॥
गोप गोपिकन अचरज मानौ, कियौ सहाय नरायन जान्यौ॥
औरौ जतन अनेक जु करै, मगलर्वावि आन ढिग धरै॥
टूक-टूक गाडा करि डारयौ, सकटासुर इहि विधिसौ मारयौ॥
त्रिनावर्त्त गोदी में धरि कै, ले गयौ गगन वहुत वल भरि कै॥
गरोप करिकै ताकौं मारयौ, असुर प्रचड अवनि लै डारयौ॥

इसके पश्चात् ३, ४, ५ और ६ लहरियो में कृष्ण की दामोदर लीला, वच्छ पालक लीला, दधि माखन चोरी लीला का वर्णन है। वच्छ पालन लीला में व्रज सस्कृति की वडी सुन्दर झाकी देखने में आती है। सातवी लहरी से १९वीं लहरी तक राधा की शिशु-क्रीडाओ का सागोपाग वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इनमें केवल वालचरित्र ही नही वरन् साझी लीला, अष्टसखी की वर्षगाठ, हूकमीचनी खेल आदि का वडी सजीव शैली से वर्णन हुआ है। २०वी लहरी से ३८वी लहरी तक पुन श्रीकृष्ण की विभिन्न क्रीडाओ और लीलाओ को प्रस्तुत किया है। इनमें कन्दुक-क्रीडा, गोचारन लीला, वसन्त, होली, ग्रीष्म ऋतु वर्णन, वर्षगाठ, उत्सव वर्णन आदि मुख्य है। प्रत्येक लीला में, क्रीडा में, उत्सव और ऋतु वर्णन में व्रज सस्कृति की अद्भुत छाप दृष्टिगत होती है। ३९वी से ४२वी लहरी तक राधा के विवाह की तैयारी और हल्दी चढना, तेल लगना आदि प्रारम्भिक क्रिया-कलापों का विस्तार है। ४३ वी से ४६वी लहरी तक कृष्ण के विवाह की तैयारी तेल चढना आदि का तथा वारात की तैयारी का पूर्ण व्यौरेवार विवरण दिया गया है।

४७वी से ५२वी लहरी तक विवाह की ज्यौंनार, भाँवर, कुँवर कलेऊ, पलकाचार, मगल विदा का वर्णन इतनी सरस और सजीव शैली में चाचाजी ने लिखा है कि समस्त वैवाहिक कृत्य पढने से ही नेत्रो के सम्मुख प्रत्यक्ष से उपस्थित हो जाते हैं। ५३वी लहरी से

५६वी लहरी तक वर-वधू का नन्दपुर आना और नन्दपुर मे विवाहोपरान्त की क्रियाओ का उल्लेख किया है। इसके वाद ५७ से ६८वी लहरी तक लाड़िलीलाल और राधा के प्रेम-वर्णन के साथ गौना-प्रसंग, प्रथम-समागम तथा मन्दिर प्रवेश, शृ गार वर्णन, वसन्त होली आमोद, पुरजन-परिजन आनन्द-वर्णन, वन-विहार, शैया-सुख, आदि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

समस्त व्रजप्रेमानन्द सागर ६८ लहरियो मे समाप्त हुआ है। दोहा-चौपई मिलाकर कुल ६१४७ पदो का यह विशाल सागर चाचाजी की वर्णन-कुशलता का परिचायक है। वर्णन-विस्तार के साथ गृहस्थ-जीवन की उन सूक्ष्म वातो का चित्रण इस ग्रंथ में हुआ है कि जिनको पकड़ने और व्यक्त करने के लिए सूक्ष्म और प्रखर दृष्टि वाछनीय होती है। वाल-लीला और वाल मनोविज्ञान के पारखी सूरदास के समान चाचा वृन्दावनदासजी भी उन सभी गुह्य स्तरों में प्रवेश करने की सामर्थ्य रखते हैं जो मनोविज्ञान के पारंगत पडित के लिए ही सम्भव होता है। ग्रंथ के अन्त में यह दोहा लिखा है—

दूलह दुलहिन के भरे लाड़ रतन या माहि।
व्रज प्रेमानन्द सिंधु की सीमा की मिति नाहि॥
अड़सठ लहरो में गनी वुधिवल सहित विवेक।
व्रजरस चरित उदधि लहैं वीते कल्प अनेक॥

ग्रथ रचना का काल भी अन्त में इस प्रकार दिया है—

ठारहसौ अड़तीस सुभ संवत् पौष जु मास।
सुदिन ग्रन्थ पूरन भयौ दुतिया ससि जु प्रकास॥
वाणी अर्थ विचार चित भजन भीजि रस रीति।
केलिदास हस्ताक्षरनि लिखी जु गरवी प्रीति॥
नृपति वहादुरसिंघ के जुगल चरित हिय लाल।
इहनातें छिन-छिन वढै कहन सुनन अनुराग॥
इकसत ऊपर षटसहस सैंतालीस जु और॥
एते दोहा चौपई लीला सांवर गौर॥

—व्रजप्रेमानन्द सागर ( हस्तलिखित प्रति )
(श्री व्रजवल्लभजी मुखिया, प्रेमगली, वृन्दावन से प्राप्त )

## काव्य-सौष्ठव

'व्रज प्रेमानन्द सागर' वात्सल्य, शृङ्गार, हास्य और करुण रस का अगाध भडार है। राधा और कृष्ण की वाललीलाओ में वात्सल्य अंगीरस है और हास्य उसका अंग वन कर स्थान-स्थान पर विखरा पडा है। तीसरी लहरी की कृष्ण दामोदर लीला में वात्सल्य के साथ अदभुत रस की सृष्टि करके अच्छा चमत्कार खड़ा किया गया है। 'ढूंकमीचनी खेल', 'भूखछाक कौतूहल', 'प्रथम गो दोहन मैयामुख', 'साझीखेल' आदि से सम्वद्ध लहरिया वात्सल्य और

हास्य की सुन्दर निदर्शन है। राधाकृष्ण के विवाह-मगल-वर्णन में शृङ्गार रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। इसके बाद ५२वी और ५३वी लहरी में शृ गार के साथ ही करुण रस की अदभुत छटा देखने में आती है। राधा का नन्दपुर जाना और अपने 'मायके' (पितृगृह) के लिए अधीर होना बडे सहज रूप से कन्या के पितृगृह-मोह का व्यजक है। इन दोनों लहरियो में शृ गार रस की अजस्र निर्झरिणी झर रही है।

इस ग्रथ की भाषा व्रज है किन्तु दोहा-चौपाई के कारण कही-कही रामायण की शैली पर अवधी की पदावली इसमें समाविष्ट हो गई है। कदाचित् यह रामायण के पारायण का अलक्षित प्रभाव हो। उदाहरणो द्वारा रस, भाव, भाषा आदि पर समुचित प्रकाश पड सकता है किन्तु हम यहा सक्षेप में ही ग्रन्थ-परिचय मात्र दे रहे हैं अत व्यापक समीक्षा को बचाया गया है। ६२वी लहरी से हम शृ गार-रस की व्यजना करने वाले राधाकृष्ण के नखशिख-सम्बन्धी दो उदाहरण प्रस्तुत करके व्रज प्रेमानन्द की प्रवाहमयी भाषा और अभिव्यजना को स्पष्ट करना चाहते हैं। इन उदाहरणो से चाचा वृन्दावनदास की लेखनी की क्षमता बडे सुन्दर रूप से व्यक्त हो जाती है।

श्रीकृष्ण के नखशिख का वर्णन—

आनन शशि के निकट लजावै, नासा की सम शुक क्यों पावै ॥
नैन बान खर सान जु धरै, मदन वली से घायल करै ॥
गोल कपोलनि निर्मलताई, कुण्डल की दुति तिन मधि छाई ॥
अरुन अधर की अद्भुत ओभा, पाक विब की हरिलई सोभा ॥
बेसरि मोती राजवु ऐसे, रमै स्यामगिरि भृगु सुत जैसे ॥
कुंबु कठ उपमा सम नाहीं, भुज देखत जु भुंवग लजाहीं ॥
पीन अंस उर सोभा सरसै, भृगु रेखा कौस्तुभ मणि दरसै ॥
उदर सुचारु नाभि अति गहरी, जहाँ उठत सोभा की लहरी ॥
लक देखिकै केहरि झुरहीं, मुखन दिखावै बन बन दुरहीं ॥
जघन सघन छबि पिडुरी गोल, पद तल लोहित मनसिज टोल ॥
सीस मुकुट वैजन्ती माला, अरु छबि सोवां व्रजपति लाला ॥

राधा का नखशिख वर्णन—

गोल गरूर भौंह अरु राजै, मनु मुख ससि कर धनुष विराजै ॥
दृग विसाल अजन जुत लौने, भीजत कछू लाज जुत कौनै ॥
ऐसे राजत त्रिबली ग्रीवा, मुख रचिविधि मनु काढ़ी सीवा ॥
भुज मृनाल की छवि हरि लीनी, छोज चन्द्र बाजू छवि छीनी ॥
अगुरिन मु दरी अति से लसै, नखपंक्ती मनु ससि लखि हँसै ॥
पन्ना हरित हमेल विराजै, मनु गिरि कनक पाति शुक राजै ॥
हृदनी नाभि उदर पर त्रिबली, मानौ कनक सिढीनुकि अवली ॥
कहा कहौं सोभा कटि खीनी, उपमा केहरि की रद कीनी ॥

कनक कदलि छवि जंघ विशेखी, पिंडी सु ठौन अनूपम देखी ॥
नखनि कान्ति ससि पांति लजावै, नव दुलहिन इह विधि छवि पावै

उपर्युक्त दोनो नखशिख वर्णन परम्पराभुक्त आलकारिक शैली में लिखे गये हैं। इनमें यद्यपि न तो कोई नवीन सादृश्य-विधान है और न अप्रस्तुत-योजना मे ही कोई प्रतीकात्मक चमत्कार। फिर भी परम्परा का निर्वाह और प्रवाहपूर्ण शैली में लिखे हुए इन दोनो वर्णनो को पढकर यह मानना होगा कि चाचा वृन्दावनदास अलंकारो के समीचीन प्रयोग में प्रवीण थे और परम्परा का उन्हे पूरा-पूरा बोध था।

## ३—जुगल-सनेह-पत्रिका

श्याम-श्यामा के दिव्य प्रेम का वर्णन करने के लिए चाचा वृन्दावनदासजी ने मांझ शैली में जुगल-सनेह-पत्रिका लिखी है। इसमें १५४ मांझ हैं, ६ दोहे अन्त में पत्रिका की प्रशंसा में लिखे हैं। यह पत्रिका राजा बहादुरसिंह राठौर के आग्रह पर कृष्णगढ़ में लिखी गई थी—

कुल राठौर जु भक्ति पति नृपति बहादुर नाम।
जुगल सनेह यह पत्रिका लिखी जु तिनके धाम ॥
इकसत चौवन मांझ मधि भरी जु हित रस रीति।
केलिदास हस्ताक्षरनि लिखो सु गरुवी प्रीति ॥[1]

जुगल-सनेह-पत्रिका मे राधाकृष्ण प्रेम के विविध रूपो का माहात्म्य माझों में वर्णित हुआ है। राधाकृष्ण के स्नेह को प्रेम का महाभाव माना गया है जो प्राकृत प्रेम से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार जल में रहते हुए भी मेंढक और मीन को कमल-गन्ध का आनन्द प्राप्त नही होता, केवल भौंरा ही उसका आस्वादन करता है, इसी प्रकार इस प्रेम के मर्म को प्रत्येक सासारिक व्यक्ति नही समझ सकता। केवल वे उपासक ही इसके अंतरग मर्म को समझते हैं जो इस मार्ग के रसिक उपासक हैं :—

महाभाव दम्पति रसवतियां समुझति सन्धि सहेली।
कमलागन्ध को अलि ज्यों मरमी जा उर लगन गहेली ॥
दादुर मीन चिन्हार न तासों जदपि रहै नित मेली।
वृन्दावन हित रूप जान तत सुख जु उपास दुलेली।[2]

राधाकृष्ण के प्रेम को गभीर और अगाध मानकर उसे सर्वसाधारण की पहुँच से बाहर की बात माना है। लालजी (कृष्ण) के मन में जब राधा-प्रेम हिलोरें मारता है तब वे उन्मत्त होकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं :—

गरुवो नेह नवल नागरिको कोऊ थाह न पावै।
लाल नेह उर उछरि परत है तातै नाच नचावै।

---

१. जुगल-सनेह पत्रिका—प्रकाशक—भीमसेन रामानन्द वकील, भिंड (ग्वालियर) पृ० ३०
२. ” ” ” ” ” ” ” २

दुहूँ हिलग की सधि सहेली सो रचि छन्दहि गावै ।
वृन्दावन हित रूप कृपा करि रसिकनि सुविधि चितावै ॥[१]

प्रेम के रणक्षेत्र का बांकुरा सिपाही अपने कलेजे पर लगे घावो से व्याकुल नही होता वरन् बार-बार उन्हीं घावो की इच्छा से इस क्षेत्र में आता है। शरीर के घाव के समान इसके मन के घाव प्रत्यक्ष दीखते तो नही, भीतर ही भीतर उनकी पीडा उसे सताती है। रूप की चोट से प्रेमी का हृदय घायल हुआ है किन्तु वह उस चोट को पाने के लिए फिर-फिर इच्छुक बना रहता है।

रूप चोट प्रीतम उर लागी, पुनि-पुनि सूर सराहै।
प्रेम खेत कौं चलन बांकुरौ, वही लग्यौ पुनि चाहै ॥
मन को घाव दिखावै काकौ मन ही मन अवगाहै।
वृन्दावन हित रूप बान विध्यौं तदपि नाँहि कराहै ॥
बेपरवाहि खिलारी पुनि-पुनि चोट तहां ही डारै।
सांचौं सूर भावतौ अपनौ पगन पिछाडौं डारै ॥
ऐसो प्रेम खेल अति वाकौ इत उत कोऊ न हारै।
वृन्दावन हित रूप रीझ घायल पुनि ताहि सम्हारै ॥[२]

प्रेम-वर्णन के बाद मधुर रस का वर्णन किया है। यद्यपि प्रेम और रस में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है किन्तु वह रस आस्वाद्य स्थिति का सूचक होने से उसका वर्णन प्राय सभी रसिक-वृन्द पृथक् रूप से करते आये हैं। यह रस (वृन्दावन रस) ब्रह्मलोक, पाताल, मर्त्यलोक कही दिखाई नहीं देता। कमलापुर के देवता भी इसके लिए तरसते रहते हैं। केवल रासेश्वरी श्री राधा की कृपा से यह रस रसिको को ही प्राप्त होता है।

यह रस ब्रह्मलोक पाताल अवनिहू दरसत नाहैं।
या रस कौं कमलापुर हू के तरसत है मनमाहैं ॥
यह रस रासेस्वरी कृपा तै प्रेमी जन अवगाहैं।
वृन्दावन हित रूप जुगल रहैं या रस भरे उमाहैं ॥[३]

राधा के रूप-सौंदर्य का वर्णन करके कृष्ण का उनके प्रति अनुराग प्रदर्शित किया गया है। 'वृन्दावन रस' में रूप का आकर्षण बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है। रूप की डोर से ही लालजी खिचे चले आते हैं। यदि रूप की डोर न होती तो प्रेम की पतग आकाश में न उडने पाती अत इस डोर को थामे रहना अनिवार्य माना गया है —

---

१ जुगल-सनेह-पत्रिका—प्रकाशक—भीमसेन रामानन्द वकील, भिंड (ग्वालियर), पृ० ४
२ वही—प्रकाशित, पृष्ठ ४, पद २४-२५।
३. वही— ,, पृष्ठ ११, पद ५५।

लोचन लोल ठुमुकि पग राखति चलत देखि परछाहीं।
छवि छाकी इहि विधि अलबेली प्रीतम के गरबाहीं॥
रहि रहि जाति खगनि के कौतिक ठाढ़ी जहां तहांही।
वृन्दावन हित रूप बहुरि उरझति रसवति मनि माही॥
उच्च भाल पर वेंदी मनु ससि अंक लसै मसि छौना।
ता आगे जु मीन द्वै चंचल मानो रुचिर खिलौना॥
छूटी मुख मंजुल जु मयूखै शोभा बढ़ी अगौना।
वृन्दावन हित रूप लाल दृग ओक जु अभी अचौना॥[1]

राधाकृष्ण के प्रेम के विना संसार में आनन्द की प्राप्ति सभव नही। जिस प्रकार आकाश मे उडते हुए पक्षी की कूप में पडी परछाही को झपटकर कोई नही पकड़ सकता वैसे ही विना राधाकृष्ण प्रेम के कोई दिव्य सुख नही मिल सकता।

गौर श्याम के भजन न भीजौ प्रेम नहीं उर कपटी।
कूंवा पर्‌यो अकास उड़त खग तिनकों करै जु झपटी॥
रसिक कहावै सोई जाकैं दम्पति मिलन चटपटी।
वृन्दावन जिस रूप प्रेम की जानौं सृष्टि अटपटी॥
महिली की गति महिली जानै लखै न बाहिर वारौ।
नृप की रहनि कहनि क्यों पावै भेड़ चरावन हारौ॥
गौर स्याम चरितन कौ मरमी धरमी कौ व्रत भारौ।
वृन्दावन हित रूप रसिक जन कौ रस गहर अखारौ॥[2]

रसिको के लिए भी इस पथ को दुर्गम वताते हुए उन लोगो को चाचाजी ने सावधान किया है जो केवल बाहरी अनुकरण द्वारा रसिक बनने का दम्भ करते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, काम आदि पापो में फँसे हुए व्यक्ति रसमार्ग का निर्वाह नही कर सकते अतः उन्हे इस पथ का अनुगमन नही करना चाहिए :—

देखादेखी रसिक न होई है रस मारग वका।
असहन निन्दा करत पराई कबहू न माने संका॥
कहा सिंह की सरवर करिहै गीदर फिरै जु रका।
वृन्दावन हित रूप छक्यो जिन दियौ अनन्य पथ डंका॥

संक्षेप में, मांझ शैली की यह पद-रचना चाचाजी की भक्तिभावना को प्रकट करने वाली सुन्दर रचना है। प्रेम का स्वरूप, रसमार्ग की गम्भीरता, राधा का सौंदर्य और कृष्ण का अनुराग उसमें गेय पदरचना (मुक्तक शैली) द्वारा व्यक्त किया गया है। अनन्य रस और

---

१—जुगल-सनेह-पत्रिका—प्रकाशित, पृ० १७–१८, पद सं० ६१–६४।
२—वही वही प० २० पद सं० १०४–१०५।

अनन्य सिद्धान्त का प्रतिपादन ही इस पत्रिका का वर्ण्य-विषय है। प्रवाह-पूर्ण ब्रजभाषा की सुन्दर छटा इसमें देखने में आती है। शब्दो की तोड-मरोड केवल तुको के आग्रह से की गई है। राधावल्लभी सम्प्रदाय में मांझ लिखने की परिपाटी अत्यधिक प्रचलित हुई थी। एक प्रकार से मांझ को इस सम्प्रदाय के रसिक साधुओ ने अपनी प्रिय शैली बना लिया था। जुगल-सनेह-पत्रिका की अनेक मांझें आज भी वर्षोत्सवो पर गाई जाती हैं। मांझ में व्यावहारिक सिद्धान्त कथन की परिपाटी बन गई है अत. इनका प्रयोग भी व्यापक रूप से होता है और ये बोधगम्य भी अधिक होती हैं।

## ४—आरति पत्रिका

चाचाजी ने अपने युग के बाह्य प्रभाव और सामाजिक तथा राजनीतिक परिवर्त्तनो का उल्लेख इस 'आरति पत्रिका' में किया है। यह पत्रिका आर्त्तवाणी का ही दूसरा नाम है। दुखी होकर भक्त ने भगवान् की शरण लेते हुए उन्हे अपने भयकर कष्टो से इस पत्रिका द्वारा अवगत कराया है। यह पत्रिका उस समय लिखी गई थी जब चाचाजी की आयु पक चुकी थी, वार्धक्य ने उन्हें घेर लिया था। यवनो के आक्रमण और उत्पातो के कारण उन्हे ब्रज-भूमि छोडकर परदेश जाने को बाध्य होना पडा था। उन्हे अपनी शारीरिक दशा के कारण कष्ट था किन्तु सबसे बडा दुख था बुढापे में वृन्दावन छूटने का। वे मन में आशकित थे कि कहीं ऐसा न हो कि वृन्दावन से बाहर ही प्राण छूट जायें और जीवनभर का पुण्य इस प्रकार मिट्टी में मिल जाय। बार-बार वे वृन्दावन वास की कामना करते हैं और कलिकाल के प्रभाव को दूर करने की ब्रजराज से प्रार्थना करते हैं।

**एक धाम बिछुरन जु दुख बूबर है जु सरीर।**
**तीजे निर अपराध दुख देत नीच वे पीर ॥**

इस पत्रिका में जीवन के व्यावहारिक पक्ष का भी गहन अनुभवो की आधारभूमि पर वर्णन किया गया है। नीति के दोहे लिखने वाले रहीम, वृन्द आदि की भाति आपने भी कुछ दोहे अपने वैयक्तिक जीवन के अनुभवों के आधार पर लिखे हैं—

**बिन औगुन औगुन कहै सो गुन तजै गंवार।**
**अस संगति तब मिलै जब बैर परै करतार ॥**
**दूध पिवावत हू भखत, कारे कूर सुभाइ।**
**धिक् करी दया कुपात्र पर, न्याइ सुमति पछताइ ॥**
**रति स्वारथ व्यौपार में परमारथ दैहि ओट।**
**पंडित मानी लोलमति बातनि ढाहत कोट ॥**
**प्रकट दिखावति साधुता अन्तर कपट जु राखि।**
**डरन लोक परलोक कौ झूंठी करै जु साखि ॥**
**परनिन्दा अपमान करि अपुको गनै महन्त।**
**अंधरिनु में कानो बड़ो यो गनियै गुनवन्त ॥**

कपट-नीति से व्यवहार करने वालो के विषय मे बड़े स्पष्ट शब्दो में भर्त्सना करते हुए कहा है :—

आगे कछु पाछे कछू, कछू वदन कछु हीय।
कैसे मन जु मिलाइये, थर थर कांपत जीय ॥

सकट के क्षणो में परमार्थ की ओर प्रवृत्ति स्वाभाविक है। मनुष्य दुख और व्याधि मे राम का नाम लेता है इसलिए सकट की वेला सुख की वेला से श्रेष्ठतर है। स्वामी के दरवाजे को छोडकर सकट के क्षणो में और कही जाना ठीक भी नही है।

संकट ही को सेइयें, परमारथ व्यौहार।
भीर परैं स्वामी बिना, जाइ कौन के द्वार ॥

सजाती और विजाती की वाह्य रूप से पहचान करना कठिन है। वाहर से जिमे हम विजाती समझते हैं उससे वचकर दूर रहना कठिन नही है। किन्तु कुछ सजाती ऊपर से वहुत सरल सीधे दीखने पर भी भीतर से वडे कपटी और भयंकर होते हैं। ऊपर से गाय के समान सीधे और भीतर से नाहर के समान दुर्दान्त सजाती भाइयो से वचना दुष्कर है।

लगैं विजाती बाघ मुख देखि दूर वचि जाय।
सगैं सजाती गाय मुख नाहर ह्वै कैं खाय ॥

भक्ति मार्ग में अनुभव की आवश्यकता पर वल देते हुए चाचाजी कहते हैं कि रस का वैभव तभी ज्ञात होता है जव रस-पद्धति के मर्मी कृपा करते हैं—

रस वैंभव तव सूझि है अनुभव खुले कपाट।
रस पद्धति के धनी जव धरि कर कृपा ललाट ॥

आर्त्त पत्रिका चाचाजी के जीवन-अनुभवो का विवरण प्रस्तुत करने वाली वडी महत्त्व-पूर्ण रचना है। इस छोटी-सी रचना में समसामयिक परिस्थितियो के वर्णन के साथ मानव-जीवन के शाश्वत धर्मों का भी उल्लेख मिलता है।

## ५—श्री हरिवंश सहस्रनाम

श्री हरिवश सहस्रनाम स्तोत्र पद्धति की व्रजभाषा रचना है। इसमें हित महाप्रभु के महत्त्व का वर्णन है किन्तु उस वर्णन का क्रम इस प्रकार चला है कि पाठक हितजी की जीवन-झाँकी भी देखता चलता है।[1] हरिवंशजी के जन्म से लेकर निकुंजगमन तक की प्रमुख घटनाए उनके नाम-कीर्त्तन के साथ पल्लवित होती गई हैं और सक्षेप मे भक्त की भावना उनके द्वारा हित-निष्ठा में लीन होती रही है। प्रारम्भ में लेखक ने नमस्कार करते हुए उन सवका स्मरण किया है जो राधावल्लभीय भक्ति-पद्धति के विधायक हैं। तदनन्तर भक्ति-पद्धति का भी आभास प्रस्तुत कर दिया है—

---

१. श्री हितहरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित) प्रकाशक—श्री राधावल्लभीय वैष्णव महासभा, वृन्दावन। पदों के साथ अंक संख्या प्रकाशित प्रति के आधार पर दी गई है।

एकनि लै रसभक्ति ज्ञान की सम्पुट दीनी ॥
एक सकामिनु भक्ति कर्म के अनुगत कीनी ॥
सुद्ध भक्ति की रीति रही दो उनते न्यारी ॥
अरु उज्वल रस माहि कछू गति भेद विचारी ॥३६॥

हितहरिवशजी के जीवन की अनेक घटनाओं का 'सहस्रनाम' मे व्यौरेवार वर्णन भी मिलता है।

सुकल पक्ष हरि वासर माधव मास रली है ॥
लगन नक्षत्र पुनीत व्यास द्विज आस फली है ॥
मगल समै सुजोग सोमवासर विचार चिता ॥
सिद्ध कलेवर जदपि तदपि साधिक कियौ पर हित ॥५०॥

\+ \+ \+

ब्रज अवनी षट मास रहे थल दिव्य निहारे ॥
सुख पूरित द्विजराज बहुरि देवन पगु धारे ॥
वन्दौ हिय कर मिश्र भये नौ नन्दन तिन घर ॥
व्यास मिश्र के बन्धु सकल गुन लक्षन आगर ॥७२॥

\+ \+ \+

पांच वर्ष के भये जबहि श्री व्यास बुलारे ॥
तब उपवन चलि जाय खेल नाना विस्तारे ॥
पिता बागमधि कूप तहा श्री निग्रह जान्यो ॥
धाइ परै जल कूप आपुसो भुजभरि आन्यो ॥
प्रभु रंगीलाल स्वामिनी गादी थोपी ॥
रीझि लडैती कुंवरि अपनी पद्धति ओपी ॥
मंत्रराज रसनिकर माहिली सम्पति दीनी ॥
करवर भाल विशाल कृपा अति विनमित कीनी ॥११४॥

प्रारम्भ के २०० पदो में श्री हितजी के जन्म की प्रारम्भिक घटनाओं का वर्णन मिलता है। उसके बाद हरिराम व्यास जी के शिष्य होने का सकेत भी इसी वाणी में है—

नमामि श्री हरिवंश नाम अघ तरु को आरा ॥
नमामि श्री हरिवश नाम रसिकन उर धारा ॥
नमामि श्री हरिवश व्यास उर संसै छेदन ॥
नमामि श्री हरिवंश हरन हृद रोग जु वेदन ॥२०८॥

इसी प्रकरण में उन साधु-सन्तो का भी नामोल्लेख है जो श्री हितहरिवंशजी के सम्पर्क में आये या उनसे प्रभावित हुए थे।

नमामि श्री हरिवंश चरन दृढ़ रति नरवाहन ।।
जुगल केलि धनु दयौ व्यास नन्दन उत्साहन ।।
नमामि श्री हरिवंश प्रबोधानन्द सहायक ।।
नमामि श्री हरिवंश विपिन सम्पति दर सायक ।।
नमामि श्री हरिवंश भक्ति दत्त हरिदास अप ।।
नमामि श्री हरिवंश पैंज राखी जु विदित जस ।।२१८।।

इसी प्रसंग मे आगे परमानन्द, पूरनदास, नाहर लय लोचन, विठ्ठलदास, मोहनदास, गगावाई, जमुनावाई, कर्मठीवाई, नवलदास, मनोहरदास, गग्गू, गोविन्ददास, छवीलीदास, हरिप्रियादास, सोमनाथ, मोहन, रंगानन्द, जयमल, चतुर्भुजदास, नागरीदास, लाल स्वामी, ध्रुवदास, कल्याण पुजारी, दामोदर, अनन्त भट्ट, सोठा स्वामी, जसवत, भागमती, पहुकर, द्वारकादास, रामदास, कन्हर स्वामी, आदि अनेक सन्त महानुभावो का वर्णन मिलता है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह नामोल्लेख वहुत महत्त्वपूर्ण है।[1]

राधावल्लभ सम्प्रदाय की विशेषताओ का भी हरिवश सहस्रनाम में यत्र-तत्र सकेत है। कुछ पद इतने गूढ साकेतिक अर्थों से पूर्ण हैं कि उन्हे पढकर चाचाजी की गहन विवेचन शैली पर आश्चर्य होता है। वृन्दावन धाम की महिमा, युगल उपासना का उत्कर्ष, अपने धर्म में अनन्य वुद्धि, वाह्यधर्मोपचार सम्वन्धी नियम-व्रत का तिरस्कार आदि भावो को एक-एक पक्ति में इतनी सुन्दरता से व्यक्त किया गया है कि स्तवन-शैली के साथ धर्म की रहस्यात्मकता का भी वोध होता जाता है—

नमामि श्री हरिवंश धाम सर्वोपरि भाख्यो ।
नमामि श्री हरिवंश मिथुन रस गुरुवोयाख्यौ ।।२६६।।
नमामि श्री हरिवंश नैम वृत त्रिन सम तोड़े ।
नमामि श्री हरिवंश कोश सुख निधि वन खोले ।।२६६।।
नमामि श्री हरिवंश धर्म पंथ वांको अति है।
नमामि श्री हरिवंश निविड़ कोऊ चल्यौ सुमति है ।।४७८।।

भागवत धर्म का प्रतिपादन करते हुए हरिवशजी का स्मरण भी चाचाजी ने किया है। भागवत के पथ की रहस्यात्मकता ही हरिवंश जी का पथ है ऐसा निम्नलिखित पदो से ज्ञात होता है। यद्यपि भागवत पुराण ही सभी वैष्णव सम्प्रदायो का मूलाधार है किन्तु हरिवंशजी ने कतिपय आचार-मर्यादाओ मे परिवर्तन किया था। चाचाजी ने यहा केवल भागवत का माहात्म्य ही कहा है और उसे हरिवशजी के नाम-स्मरण के साथ गाया है—

नमामि श्री हरिवंश कह्यौ सव कर्म मर्म है।
नमामि श्री हरिवंश रहसि भागौत धर्म है ।।४८२।।

---

१—श्री हितहरिवंश सहस्रनाम (प्रकाशित) वृन्दावन—पृष्ठ २१ से २८ तक।

नमामि श्री हरिवंश सार भागौत संग्रह्यो ।
नमामि श्री हरिवश ग्रानधर्म तुछ फल कह्यो ।।४८३।।
नमामि श्री हरिवंश बुद्धि भागौत संचरी ।
नमामि श्री हरिवश लोक विधिहु सब निदरी ।।४९६।।

वैष्णव-भक्ति के विधायक नाम जप, सेवा, आराधना, पूजा आदि का वर्णन भी हरिवश नाम स्तवन के साथ-साथ चाचाजी करते गये हैं । यदि हरिवश सहस्रनाम का आद्योपान्त पारायण किया जाय तो राधावल्लभ सम्प्रदाय की इष्टाराधना तथा सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का बहुत कुछ आभास मिल जाता है । स्तवन के व्याज से चाचा वृन्दावनदास ने इस छोटे से ग्रथ में उन सभी सिद्धान्तो का समावेश कर दिया है जो इस सम्प्रदाय के आधारभूत है । स्तोत्र ग्रथो में इतनी व्यापक भावना और विषय-प्रतिपादन की क्षमता इसी ग्रथ में मिलती है । निम्नलिखित पदो मे प्रेम सिद्धान्त का कितनी सरलता से प्रतिपादन हुआ है—

नमामि श्री दम्पति प्रेम अतन से सतन भयौ है ।
नमामि श्री करुना हेत व्यास कुल ओप दयो है ।।६२२।।
नमामि नवल निकु ज रसहित अलि पियौ ।
नमामि पर हित वुरत प्रकट ह्वं सब जग टीयो ।।६२३।।
नमामि प्रेम चरित्र एक मैं द्वं जु लखावै ।
नमामि प्रेम चरित्र द्वं नु एकै दरसावै ।।६३२।।

राधा के प्राधान्य का सकेत—

नमामि श्री हरिवश प्रधान चरन श्री राधा ।
नमामि श्री हरिवश ललित पद्धति सु अगाधा ।।६८८।।
नमामि श्री हरिवंश प्रसाद प्रताप सुजान्यौ ।
नमामि श्री हरिवश सोई सर्वसु करि मान्यौ ।।६६०।।

सक्षेप मे, हरिवश सहस्रनाम चाचाजी की रचनाओ में विशष्ट स्थान रखने वाला स्तोत्र ग्रन्थ है जिसमें राधावल्लभीय भक्ति सिद्धान्तो का सूत्ररूपेण वर्णन मिलता है । प्राय सभी सिद्धान्तो का साकेतिक रूप से इसमें समावेश हो गया है अत भक्तजन इसका पाठ करते हुए नाम-महिमा का आनन्द प्राप्त करने के साथ सैद्धान्तिक तत्त्वो को समझने का भी लाभ उठा सकते है ।

## ६—वृन्दावन जस प्रकास बेली

'श्री वृन्दावन जस प्रकास बेली' में राधा और कृष्ण की क्रीडा-भूमि वृन्दावन के माहात्म्य का वर्णन है । वृन्दावन कृष्ण-भक्तो के लिए इस पृथ्वी पर अपने दिव्य रूप में वर्तमान है अत उसके प्रति अनुराग तथा उसमें निवास पाने की कामना भक्त के मन में स्वाभाविक रूप से उत्पन्न हो जाती है, चाचा वृन्दावनदासजी ने वृन्दावन महिमा वर्णन में भक्त-हृदय की सरसता और उत्कट प्रेम के अनुरूप काव्य रचना की है ।

**रचना-काल :**

इस ग्रन्थ के अन्त मे समाप्ति काल सम्वत् १८२५, माधव मास, शुक्ल पक्ष एकादशी लिखा है, प्रारम्भ करने का उल्लेख नही है।

ठारह सै पच्चीस यौं, वर्ष जु माधव मास।
सुकल पक्षि एकादशी, पूरन ग्रन्थ प्रकास॥
—दोहा ५, पृष्ठ ३८।

**वर्ण्य-विषय का संक्षिप्त परिचय :**

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय वृन्दावन की महिमा है। उस भूमि की महिमा का पार कौन पा सकता है जो भक्त के आराध्य की रसमयी क्रीडाओ का एकमात्र स्थल है। यह सुरम्य वृन्दावन इसी भूतल पर अवस्थित है।

महिमा वृन्दारन्य की पार न पायौ सेष।
विधि ऐस्वर्य विचार तै, लह्यौ न ताकौ लेस॥ १॥
वरनत हारी सारदा, नारद पुनि व्यासादि।
क्रीड़त वल्लभ राधिका, सुखमय धाम अनादि॥ २॥ —पृष्ठ ३७।

इसकी रजकण की प्राप्ति के लिए शिव, ब्रह्मा, योगी आदि सब तरसते हैं। इस धाम का अवतार भगवान के अवतार के साथ ही हुआ था —

ज्यौं अखिल अंड कौ ईश ब्रज अवतर्यौ।
त्यौं जु यह धरा कौ रूप वनपति करै॥
पद सं० ६, पृष्ठ ६।

वृन्दावन स्वयं सच्चिदानन्द का रूप है—

सच्चिदानन्द यह रूप ब्रजचन्द कौ,
कियौ नर नारि रस मधुर जग विस्तर्यौ।
—पद सं० ६, पृष्ठ ८।
सत चित आनन्द रूप है, श्री वृन्दावन धाम।
वृन्दावन हित रूप जहां, खेलत स्यामा स्याम॥
—पद सं० ६, पृष्ठ ३८।

वृन्दावन चैतन्य रूप है। इसकी माया रूपी नटनी का कोई वश नहीं चलता।[1] वृन्दावन एक रस है[2], नित्य है[3], प्रेम का आगार और सुख का सार है[4], त्रिगुणात्मक माया से

---

१. पद स० ३, पृ० ३ अवनी अहा रूप चैतन्य है। छदम परसतु नहीं जहां माया नहीं
२. ,, ६ ,, ८ एक रस रहत है सदा फूल्यौ फर्यौ।
३. ,, ६ ,, ८ धरा चलि जाएगी धाम यह एकरस।
४. ,, ११ ,, १० प्रेम आगार सुख सार ही अवित नित।

परे है[1]। इस धाम की पवित्रता और दिव्यता ने राधा और कृष्ण को भी मोहित कर लिया है —

जयति वृन्दाटवी उदित भुव चन्द्रमा,
राधिका स्याम कीनें चकोरी ॥
पद स० १४, पृष्ठ ११।

राधा और कृष्ण वृन्दावन के कुञ्जो में नित्य-विहार कर माधुर्य रस की सृष्टि करते रहते हैं। इनकी माधुर्य-पूर्ण क्रीडाओ से स्वय वृन्दावन ही रस रूप बन गया है और वह सब रसो से श्रेष्ठ है —

सर्वोपरि वृन्दावन रस है।
रसिक अनन्य पाइ बल गाजत या रसहीन अन्ध मनु मसु है।
सिव विरचि नारद सुक वरन्यौं श्री मुख हू गायौ वन रस है।
—पद सं० ५१, पृष्ठ २६।

इस रस में मग्न हो जाना ही भक्त का परम ध्येय है। किन्तु इसकी प्राप्ति श्री राधा की कृपा से ही हो सकती है —

बनवास लड़ैती दीजिये।
तुम प्रसाद दुर्लभ नहिं स्वामिनि यहै अनुग्रह कीजिए।
—पद सं० ३६, पृष्ठ २२।

ऐसे दुर्लभ रस को छोडकर मानव मन इन्द्रिय-विषय के रस में लिप्त हो जाता है। इसलिए भक्त अपने मन को समझाता है कि देवताओं को भी दुर्लभ इस मनुष्य तन को पाकर तू इसे व्यर्थ न खो —

खोइ न वृथा मनुष तन दुर्लभ परि रहि मन कुंजनि तरु तर रे।
—पद सं० ७३, पृष्ठ ३६।

गो० तुलसीदास की 'अब चित, चेति चित्रकूटहि चलु' की भाति चाचा वृन्दावनदास अपने मन को वृन्दावन चलने के लिए कहते हैं :—

अब मन वृन्दावन बेगि चलि।
राधाकृष्ण नाम नित कहि सुनि सकल धर्म सिर मौर कलि ॥
जहाँ विपुल परताप स्वामिनी बदन कमल भये स्याम अलि।
ताकी सरनि गहौ मन क्रम वच वृन्दावन हित रूप बलि ॥
—पद स० ४८, पृष्ठ २५।

यह आयु दिन-प्रतिदिन घटती चली जा रही है फिर भी यह मूढ मन वृन्दावन की शरण नही लेता। उसी को समझाते हुए कवि कहता है —

१. पद स० ६ ,, ८ त्रिगुण माया पवन जहां परसतु नहीं।

वृन्दावन दुर्लभ अति निगम कहत रे।
करत रहत हाइ-हाइ बीती सब जाति आयु अति अमोल रतन मूढ़
कर न गहत रे।
+ + +
साधि धर्म रति अनन्य, गुरु प्रसाद हो हु धन्य, कु ज की उपास
सुविधि क्यो न लहत रे।
—पद स० ७५, पृष्ठ ३७।

वृन्दावन में रहकर मन को पूर्णरूप से वश में रखना चाहिए :—

वृन्दावन इहि विधि सो वसौं।
जथा लाभ सन्तोष अदूषित राधा जस रसना रसौं ॥१॥
लीला ललित निकुंज केलिसर हिय की हिलगनि सो धसौं।
गौर स्याम अंबुज मकरन्दहि कलहंसी ह्वै कै गसौं ॥२॥
श्री हरिवंश कृपा प्रसाद लहि भजन मानसिक उर लसौं।
—पद सं० ३२, पृष्ठ १८-१६।

श्री राधा और कृष्ण के सम्बन्ध से वृन्दावन ही भक्तो का सर्वस्व है। वही उसके माता, पिता, भाई सब कुछ हैं :—

वृन्दावन जु मात-पिता भैया।
सब नाते याही सो वनि है और न कोऊ धीर धरैया ॥
—पद स० ६६, पृष्ठ ३२।

कानन मो गति कानन मो पति, कानन जननी जनक सु भैया ॥
कानन वस करौ नित निर्भय, यह मन होहि न अनत चलैया ॥
—पद स० ७४, पृष्ठ ३६।

## काव्य-सौष्ठव

'श्री वृन्दावन जस प्रकास' में वृन्दावन की महिमा वर्णन में ७५ पद लिखे गए हैं। इनमें भक्त की प्रेमी आत्मा की पूर्ण अभिव्यक्ति पाई जाती है। अनन्यता, दीनता और हृदय की निर्मलता का स्वच्छ प्रतिविम्ब इसमें मिलता है। इसके पाठन और मनन से भक्ति-भाव की परिपुष्टि होती है। निश्छल भक्त हृदय के भावो की अभिव्यक्ति होने के कारण काव्य में स्वाभाविकता पाई जाती है। कला को कृत्रिम अलंकारो के आवरण से सजाने का प्रयत्न नही किया गया है। भावो की उत्कृष्टता में स्वतः ही कुछ अलंकारो का सुन्दर समावेश हो गया है।

वृन्दावन के माहात्म्य के वर्णन में रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है। कुछ साग रूपक अच्छे वन पड़े हैं। वृन्दावन की अलौकिकता का वर्णन एक साग रूपक में देखिए :—

भूमि सपुट धर्यो नग अलौकिक वना
मोतियाबिंद हिय दृग वहिर मुषनि के
सूझि नहि परन्तु यह निगम गोचर धना।
गुरु कृपा दृगनि अजन हियो रसिक जन
पारखू निरषि के गह्यौ करि दृढ़ पना।
अमी माधुर्ज रस सिंधु दपति जहां
मीन भये तहा सतत जु भावक जना॥

—पद स० २, पृष्ठ २।

वृन्दावन भक्तो के लिए कलियुग रूपी प्रबल शत्रु से विजय प्राप्त करने का उत्तम स्थल है —

भजन रस खेत सुमति सुरा जुरैं
चाउ दम्पति मिलन बढ़त छिन-छिन हिये
धन्य सुभ जनम जग चले पथ बांकुरे
कलि कुटिल नृपति की देखि सेना वली
अगमने पग धरैं पछमनैं नहि मुरे॥
अग अपु बसत अरि महा जोधा जदपि
काम क्रोध लोभादि सो इष्ट बल करि धुरे
राधिका लाल के नाम को कवच साजि।
कोटि सतसग करि भक्ति आयुध फुरे।
भाव गभीर अरु धीर विद्या जु गुरु।
साधु मग विघ्न जे ते जु भरि हरि दुरे।

—पद स० ४, पृष्ठ ३।

वृन्दावन में राधा और कृष्ण की मधुर क्रीडाओ पर सुन्दर रूपक बाधा है तथा सौन्दर्य निरूपण तथा महिमा गान में उत्प्रेक्षा का प्रयोग हुआ है —

भरे रस रग के जहाँ सरवर स्याम गौर ज ग हस मगन मन

—पद स० ४६, पृष्ठ २५।

कीर कोकिल बरहि सारका मनौं
मुनि पढ़त अनुराग सौं लाल प्यारी जसै।

—पद स० २-१५, पृष्ठ ४।

रति मन्दिर सेवति ललिताविक
गावति प्रेम छकी रचि छंदनु।
जिनके नाद स्वाद वन पूरित
घुमडी मनहु घटा आनन्दनु॥

—पद सं० १६, पृष्ठ १२।

व्यतिरेक का सुन्दर उदाहरण :—

वेदि राधिका लाल कौ भवन रूरौ।
कृपा मनु गगन ससि उदित पूरौ॥
वह कला हीन यह कला सरसतु रहै।
दृष्टि के परत जन ताप हरही॥
वह जु हरुवौ उचकि गयौ अकास में
यह जु गरुवौ रह्यौ अवनि मांही।

—पद सं० ५४, पृष्ठ २७।

'वृन्दावन जस प्रकास' की भाषा सरस, प्रवाहमयी और प्रौढ है। भावो के अनुकूल भाषा की गति है। शुद्ध व्रजभाषा का प्रयोग इसकी मधुरता को और भी वढा देता है।

## ७—विवेक पत्रिका बेली

विवेक पत्रिका में भक्ति और नीति के विवेकपूर्ण दोहे सकलित किये गये हैं। 'सत् और असत्' (सार और असार) का निर्णय कराने वाले विवेक-ज्ञान के विना प्राणी भवसागर को पार नही कर सकता। भक्ति के लिए विवेक अनिवार्य है। जव तक व्यक्ति को इस वात का ज्ञान नही होता कि क्या सार है और क्या असार, तव तक वह इस भ्रमात्मक जगत को ही सत्य समझता है और भगवान के प्रति विमुख रहता है। इसलिए ऐहिक एव आमुष्मिक विवेक की शिक्षा देना ही इस ग्रथ का उद्देश्य है।

विवेक पत्रिका बेली के रचना काल का उल्लेख कवि ने इस प्रकार किया है :

वदि असाढ़ की पंचमी, अति पुनीत ससि वार।
ठारह सै पैंतीस में, लिख्यौ विवेक विचार॥१८२, पृ० १८।

अर्थात् आसाढ वदी पचमी, शुक्ल पक्ष, सवत् १८३५ में इस ग्रंथ का प्रणयन किया गया। यह ग्रथ महाराज वहादुरसिंह के नगर (कृष्णगढ) मे लिखा गया था :

सुमति वहादुरसिंह के कीनों नगर निवास।
सारासार विवेक यह, ग्रथ जु भयौ प्रकास॥१८५, पृ० १८।

इस ग्रन्थ को भी लिपिक केलिदास ने अपने हस्ताक्षरो में लिखा था जैसा कि वे स्वयं कहते हैं :—

ललित विवेक सुपत्रिका, वृन्दावन हित कृत्य।
लिखी जु सुमति सुधारिकै, केलिदास निजु भृत्य॥१८४, पृ० १८।

केलिदास चाचाजी का लेखिया था। इसका उल्लेख वृन्दावनजी ने अपने कई ग्रन्थो में किया है।

**वर्ण्य-विषय**

जैसा कि प्रारम्भ में हमने लिखा है कि विवेक पत्रिका के दोहो का विषय विवेक-ज्ञान है। इसमें १८५ दोहे हैं। विषय-प्रतिपादन के विचार से यदि इन दोहो का विभाजन किया जाए, तो निम्नलिखित शीर्षको में वर्गीकरण होगा—

१—गुरु-महिमा
२—साधु-असाधु विचार
३—ससार की नश्वरता और मनुष्य की मूढता
४—कलियुग का प्रभाव
५—सगति का प्रभाव
६—नाम माहात्म्य
७—विवेक की महत्ता

**गुरु-महिमा :**

भक्ति के क्षेत्र में गुरु को विशेष महत्त्व दिया गया है। सभी भक्तो ने गुरु-महिमा गाई है। वृन्दावनदास जी ने भी अन्य सब भक्तो की भाति गुरु की महिमा का उल्लेख कुछ दोहो में किया है।

गुरु कल्पतरु है जो अपने शिष्य को अजेय होने का वरदान रूपी फल देता है, जो उसे कभी भी पराजित नही होने देता :

**चतुर कलपतरु सत गुरु, प्रभु फल देत विचारि।**
**जामें अपने भृत्य की कबहूँ न आवै हारि॥ दोहा ६, पृ० १।**

गुरु के द्वारा ही विवेक और धर्म का ज्ञान होता है। गुरु से विमुख होने पर धर्म-बुद्धि विनष्ट हो जाती है —

**सूझै धर्म जु कौन विधि, गुरु सौं कियो न प्रसग।**
**कृतघ्न निगुरों पिट मरा, पुनि झूठो सब अग॥ ६६, पृ० १०।**

गुरु की शिक्षा पर ध्यान न देने से हरिभक्ति की प्राप्ति नही हो सकती —

**गुरु शिक्षा करि हीन जो, क्यों पागं हरि रग।**
**—दोहा १३, पृ० २।**

**साधु-असाधु विचार**

ससार में भले और बुरे, दुष्ट और सज्जन दोनो पाए जाते है। किन्तु सच्चे साधु ससार में बहुत कम है —

**हो हरि ऐसी सृष्टि तुम, बहुत रची कलिकाल।**
**पर दुख हरता सत जे, तिनको पर्यो अकाल॥ २७ पृ० ३।**

साधु और असाधु का प्रभाव भी अलग-अलग होता है। साधु जहाँ दूसरो के कष्टों का हरण कर शीतलता प्रदान करते हैं वहाँ असाधु अनेक कष्ट देकर सतप्त करते हैं :—

चंदन तौ सीतल करै, अग्नि देहि सन्ताप।
ऐसे साधु असाधु कौ, देखौ प्रगट प्रताप॥ दोहा ११, पृ० २।

दुष्ट व्यक्ति को विषय-भोग ही अच्छे लगते हैं, सत्सगति और सद्गुरु अच्छे नही लगते :

बैठ्यौ नहिं सतसंग में, सुने न आरज ग्रन्थ।
गुरु जन सब अरि से लगें, चल्यौ जु उलटे पन्थ॥ १९ पृ० २।
इनकी संगति जिनि करौ, भजन विवेकी सन्त।
ये हैं कारे नाग सम, डसैं प्रान लेहिं अन्त॥

साधु और असाधु के स्वभाव मे अन्तर होता है। चाहे देखने मे वे समान लगें किन्तु इनकी वाणी इनमे पृथकता ला देती है :—

कांउ कांउ करै कागुला, कोकिल मधुरै बैन।
रंग मिल्यौ तौ कहा भयौ, है अन्तर दिन रैन॥ १२५ पृ० १२।
ऐसे साधु असाधु की बोलनि लिहु पहिचानि।
करकसता अरु मधुरता, परति विवेकनि जानि॥ १२६ पृ० १३।

दुष्ट व्यक्ति छलनी की भाँति होता है और साधु सूप की तरह :

दुष्ट हियौ ज्यौं चालनी, तुस औगुन चुनि लेहि।
सज्जन सूप कु सार कौ, राखि तुसनि तजि देहि॥ ८० पृ० ८।

**संगति का प्रभाव :**

दुष्ट मनुष्यो की सगति सदैव सुखदायक होती है। अतः विवेकी पुरुष उनका साथ नहीं करते, संगति का प्रभाव अवश्य पडता है, उसका फल अवश्य मिलता है।

उत्तम मध्यम अधम जन, संगति कौ फल देत।
कहाँ ईख, चावर कहाँ, कहाँ लौन कौं खेत॥ १४८, पृ० १५।

विवेकी पुरुष की सगति से ज्ञान का उदय होता है और अविवेकी से धर्म का नाश होता है :

संग विवेकी संत कौ, सुमति उदै उर होइ।
अविवेकी कौ संग देइ, धीरज धर्म जु खोइ॥ १० पृ० २।

मनुष्य में स्वय कोई दोप नही होता। वह जैसी सगति करता है उसी के अनुसार अच्छा और बुरा नाम पड जाता है :

मोरी जल गगा मिल्यौ, कीयौ आपु समान।
गाँव निकट पोखरि मिल्यौ, लोटत सूकर स्थान॥ १४९।
जग जन विमुख जु मलिन सर, हरि जन गंगा तोइ।
संग दोस गुन मानिये, जल में दोस न कोइ॥ १५० पृ० १५।

दुष्ट की संगत होने से प्रभावशाली तेजस्वी व्यक्ति का भी तेज कम हो जाता है जैसे राहु के संसर्ग से सूर्य का प्रताप क्षीण हो जाता है :—

को है रवि तें अति बली, जाकी प्रज्वलित जोति।
वोष नीच छाया परैं, सोऊ मानति छोति॥ १५२ पृ० १५।

**कलियुग का प्रभाव**

कलियुग में दुष्टो की वृद्धि होती है। साधु पुरुषो का अभाव हो जाता है। दुष्टो की शक्ति बढ जाती है

लगै विवेकी निवल से, सठ भये कलि में सूर।
परपची द्रोही जु गुरु, पातक रति अति क्रूर ॥ ८८ पृ० ९ ।

कवि ने अपने युग में व्याप्त कलिकाल के प्रभाव से सन्तप्त हो भगवान को पुकारा है :

नीति तजि विपरीत रति, कलि कलेस नहि ओर।
प्रान विदा से होत लिखि, एहो नद किशोर ॥ १०३ पृ १० ।
कोऊ न काहू वरजहीं, नर पसु भये प्रचड ।
भुव पालक भये कौतिकी, कौन धरै सिर डड ॥ १०१ पृ १० ।

कलियुग में धर्म निर्बल पडता जा रहा है, धर्म की मर्यादा नष्ट हो रही है, हरि कृपा बिना इनका उद्धार नही हो सकता।

जौ कोऊ दिन राखिवै, तो कीजिये सहाय।
धर्म निवल पाप जु सबल, धर्यौ चहतु सिर पाइ ॥१०४।
असुर धरै बहु भेष कौं, मैंड वहावत धर्म।
तुम विनु रक्षक कौंजु ये, उलटे करत जु कर्म ॥१०७ पृ० ११।

**ससार की नश्वरता और मनुष्य की मूढ़ता**

यह ससार और शरीर नश्वर हैं किन्तु मूढ़ प्राणी इसे नही समझता। वह इनको सत्य समझता है और अपने को ही कर्त्ता मान लेता है —

प्रभु प्रभुता मानै नहीं अपनी मानी जै जु।
काम अन्ध ज्यों बोक ये, कहत फिर्यौ मैं मैंजु ॥ ६३ पृ० ७ ।

मूर्ख ससार को रिझाता है किन्तु अपने सृष्टिकर्ता को रिझाने का प्रयत्न नहीं करता .—

मन वे रिझयौ जगत कौं, धम दै सब परिवार।
एक न रिझायौ मूढ़ तैं, तन कौ सिर्जनहार ॥५९ पृ० ६ ।

सारी आयु मूढ़ विषय-भोगो में लगा देता है, जब वृद्धावस्था आती है तब वह पछताता है —

कियौ अहेरौ विषै बन, इद्री मन सग लागि।
कुपुरुष तब पछितातु जब, जरा लगाई आगि ॥ ४३ पृ० ५ ।

यह ससार असार है। इसकी कामना करने से कुछ हाथ नहीं लगता। हरि की शरण जाए विना शान्ति नही .—

सेयौ जगत कुरुख तैं, जहां न फूल फल पात।
छाया कहां हरि सरनि विनु, पाप ताप जरैं गात ॥ ६२ पृ० ७ ।

यह चहल-पहल असत्य है, इससे मोह नही करना चाहिए .—

भूलि न कौतिक हाट जग, स्वामी सनमुख होइ ।
देखत देखत नाहिं ये, जिनसौं कीयौ मोह ॥ ४५ पृ० ५ ।

संसार और आवागमन के बंधन से छूटने का उपाय :

जब लग हरि नहिं आदरै, गुर नहिं लागै कान ।
तब लग या जग बन भ्रमै, छुटै न आवन जान ॥ १६४ पृ० १६ ।

**नाम माहात्म्य**

प्राय: सभी भक्तो ने नाम की महत्ता मे कुछ न कुछ अवश्य कहा है । तुलसी, कबीर आदि सभी भक्त नाम की महत्ता में एक मत हैं । सबकी दृष्टि में कलियुग से बचने का सबसे सरल और सुगम साधन नाम-जाप है । तुलसी कहते हैं :—

नाम काम तरु काल कराला । सुमिरत समन सकल जग जाला ॥
राम नाम कलि अभिमत दाता । हित परलोक लोक पितु माता ॥
—रामचरित मानस—बालकाण्ड

इसी भाति चाचा वृन्दावनदासजी कहते हैं कि कलियुग मे नाम-जाप का विशेष महत्त्व है । इसके द्वारा पापी भवसागर से पार होते रहे हैं और होते रहेगे :

नाम प्रताप जु चारि जुग, कलि पायौ अधिकार ।
तरैं, तरत अरु तरिहिंगे, कृष्ण नाम के तार ॥११० पृ० ११ ।

नाम-जप के महत्त्व को बताते हुए तुलसी के स्वर में स्वर मिलाते हुए वृन्दावन-दास जी कहते हैं :—

कृष्ण कृष्ण के उच्चरै, मन क्रम बच निहपाप ।
नाम संग नामी फिरै, ऐसौ प्रबल प्रताप ॥१११ पृ० ११ ।
हृदय ध्यान मुख नाम हरि, गावत सन्त लड़ाइ ।
जदपि सूर तदपि जु कलि, प्रभु प्यारे न डराइ ॥११२ पृ० ११ ।
नाम भक्त जन पाहरू, रसना रहैं अरूढ़ ।
नामी तुरत मिलावही, जे न भजे ते मूढ़ ॥ ११७ पृ० १२ ।

तुलसी ने राम नाम को सबसे अधिक महत्त्व दिया, वृन्दावनदास जी के लिए कृष्ण नाम के समान विश्व का कोई वैभव नही :—

बिस्व बिभौ पासग नहीं, कृष्ण नाम समतूल ॥११६ पृ० १२ ।

**विवेक-विचार :**

वृन्दावनदास जी ने जितने भी दोहे लिखे हैं वह सब प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से विवेक से सम्बन्ध रखते हैं । क्या करना विवेक है और क्या करना अविवेक, यही बतलाना इनके दोहो का उद्देश्य है । आपकी दृष्टि में सबसे बड़ा विवेक है हरि-भजन में अनन्य भाव से लीन रहना :—

हरि लीला रस मन रमैं, बड़ो विवेक जु एह ।
अफल जनम नर जो करै, विषइनु संग सनेह ॥ पृ० १ ।

जिसको इस विवेक की उपलब्धि हो गई वही अनन्त रसिक है। जिस प्रकार पतिव्रता नारी पति की आज्ञा के अधीन रहती है उसी प्रकार से अनन्य रसिक युगल सेवा में लीन रहते हैं —

**पतिव्रता जैसे रहै, पति अग्या आधीन।**
**ऐसे रसिक अनन्य रहै, दम्पति सेवा लीन ॥५ पृ० १।**

विवेक की अवधि है वृन्दावन में वास —

**सुनिलै अवधि विवेक की याते परे न और।**
**चलि वस वृन्दारन्य जह, खेलत सांवल गौर ॥१७१ पृ० १७।**

जिसको विवेक हो जाता है उसे राधाकृष्ण की रूप-माधुरी, केलि-क्रीडा ही अच्छी लगती है : —

**यह विवेक को फल गनै, दृग उरझै विवि रूप।**
**श्री राधा मुरली धरन के, भावै चरित अनूप ॥१७४ पृ० १७।**

अन्त में विवेक पत्रिका का सारासार तत्व निकालकर कवि ने स्वय ही कहा है —

**लिखी विवेक जु पत्रिका, मथि काढ्यौ यह सार।**
**अफल जनम नर जौन रुचि, कानन नित्यविहार ॥१७६ पृ० १८।**

इन दोहो का विषय विवेक परिचय है। इसी के अनुकूल इनकी भाषा भी परिमार्जित और सुगठित है। इनमें सरल और व्यावहारिक शब्दो का प्रयोग हुआ है। दोहे मार्मिक और प्रभावात्मक हैं। यत्र-तत्र अलकारो का प्रयोग भी है। कुछ उदाहरण देखिए —

रूपक ·

**जनम मृत्यु की बहति है, सलिला अति बिकरार।**
**सुमिति विवेकी हरिहि भजि, उतरै याके पार ॥४६॥**

उत्प्रेक्षा ·

**बचि चलौ जातक जार ते, प्रजुलित मानौं लोह।**
**लोहौ जारै अग ही, यह जारै उर होइ ॥ ८६ पृ० ६।**

## ८—कलि-चरित्र-बेली

कलि चरित्र बेली में कलियुग की स्थिति का चित्रण किया गया है। यद्यपि इनके कलियुग के चित्रण का आधार पूर्ववर्त्ती ग्रथ भी हो सकते हैं तथापि तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्थिति का प्रतिविम्ब इसमें मिल जाता है। अपने युग से प्रभावित होना स्वाभाविक है। इन्होंने समाज का, देशकाल का जैसा चित्र प्रस्तुत किया है वैसा ही उनके पूर्ववर्त्ती और समसामयिक कवि भी कर चुके थे और कर रहे थे। इनके कलियुग चित्रण में तत्कालीन परिस्थिति सबधी कुछ दोहे पाए जाते हैं।

कलियुग में समाज की अवस्था बिगड रही थी। वर्ण धर्म और आश्रम धर्म विश्रृखलित हो चुके थे। अपने कर्त्तव्य-कर्मों का पालन कोई नही कर रहा था —

**विप्रनि अति अकुलाइ, अस्त-विस्त कृत मन वयौ।**
**छत्रिनु धर्म छिडाइ, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥३७-६।**

वणिक कपट नहिं ओर, सब विधि छल आश्रित भये।
सूद्र मत्त घन घोर, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥३६-६।
अन्त्यज भये कुलीन, काहू दृष्टि न लावहीं।
आश्रम क्रिया सु हीन, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥३६-६।

परिवारों में स्नेह नही रहा है, स्वयं पिता भी अपनी पुत्री का वध कर देता है। आचार-विचार नही रहा और व्यभिचार की वृद्धि हो रही है .—

ब्याही छांडें नारि, परत्रिया राचें सदन में।
फिरैं दईहत ख्वारि, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥१० पृ० ४।

वेश्यावृत्ति बढ रही है—विधवा स्त्री शृंगार कर पर-द्वार फिरती है। ब्राह्मण द्यूत, धन और कामिनी में लीन हो रहे हैं।

इधर समाज की अवस्था खराब है, धर्म भी पाखंड का रूप धारण कर रहा है। किसी को हरिचरणो मे रति नही। तपस्वी और संन्यासी ज्ञान-वैराग्य से हीन होकर, माया और लोभ मे फंस गए हैं :—

हीन ग्यान वैराग, भस्म धारि तपसी बनें।
रहित भक्ति अनुराग, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥१५ पृ० ४।

मनुष्य सच्चे देवी-देवताओ को छोड़कर मलिन भूत-प्रेतो की पूजा करने में लीन हैं :—

विप्र हुतासन गाइ, अरु देवनि पूजा घटी।
भूतनि जजत बनाइ, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥६० पृ० ८।
पूजें प्रेत अरु भूत, पुनि काली को चौहटौ।
तिन पैं मांगत पूत, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥६१ पृ० ८।

तीर्थस्थल पाप के अड्डे हो रहे हैं। छल, कपट, दभ की मात्रा बढती जा रही है:—

तीरथ बड़ी मवास, बहुत जोर छल बल करैं।
बचे निवटि हरिदास, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥१०० पृ०१२।

राजा भी अपने धर्म-कर्म को भूल कर अन्यायी और चोर हो गए हैं। प्रजा के दुख-निवारण के स्थान पर दुखदायक बन गए हैं। प्रजा कंगाल होगई है। नित-प्रति अकाल पड़ते हैं :—

नृप अन्याई चोर, परजा को पालन तज्यो।
लेंहि अनीति अकोर, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥ ६१
प्रजा कृपन कंगाल, अन्य विनां दिस दिस फिरैं।
पुनि पुनि परत अकाल, कलि प्रताप हरि कृपा विनु ॥६२ पृ० ११।

मनुष्य का व्यक्तिगत जीवन भी कपट, दंभ, स्वार्थ, घृणा, वैर, मद, मात्सर्य से भर गया है। धन के लिए कुछ भी कर्म अकरणीय नही रहा। हृदय से भक्ति-भावना सर्वथा तिरोहित हो गई है। ऊपर से देखने में साधु प्रतीत होते हैं किन्तु लक्षण सब असाधुओ के हैं.—

बचननि दीसत साधु सब प्रतीति बढ़ावहीं।
लक्षरण निपट असाधु, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥ ६ पृ० ४ ॥

इस प्रकार सर्वत्र कलियुग का राज्य छाया हुआ है। इससे मुक्ति का एकमात्र आधार कृष्ण-नाम है —

सकलधर्म सिरताज, कृष्ण नाम कलि जगमगं।
ताहि भजौ तजि लाज, यह कलि गुन सतनि लियौ ॥१०६ पृ० १३॥

भागवन की कृपा प्राप्ति से ही शान्ति मिल सकती है। उसकी कृपा होने पर कलियुग का कोई प्रभाव नही रहता —

कृपा कल्पतरु छाँहि, बैठे हरि के चरन तकि।
कलि प्रताप तहां नहिं, यह कलि-गुन सतनि लियौ ॥१०३ पृ० १२।

इस भाति कलियुग का चित्रण तथा उससे मुक्ति के साधन का उल्लेख इस छोटी-सी पुस्तक में हुआ है। १३० सोरठो मे यह कलियुग की स्पष्ट झाकी प्रस्तुत कर देती है। इसकी रचना सवत् १८१२ को हुई थी —

वदी नौमी तिथि माह, ठारह सै बारह बरष।
कलि के चरित अथाह, तिन में कष्ण भजन सफल ॥१२५ पृ० १५।

कलि चरित्र-बेली में कला की छटा तो नही है किन्तु भाषा में प्रवाह और ओज पूर्णतया विद्यमान है। अलकारो का समावेश भी सुन्दर हुआ है।

सागरूपक का एक उदाहरण देखिए —

(१) कलि नृप मन मे कोपि, सकल दिसनि जीतन चल्यौ।
धुज पाषड सु रोपि, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥ ९६।
चचल क्रोध तुरंग, छल रथ सहित सिंगारि कै।
आयुध नाना सग, कलि प्रताप हरि कृपा { बिनु ॥९७ ॥
मद मत्सर लै बान, दम्भ धनुष कर वर गह्यौ।
सेना कपट विधान, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥९८।
सब जग आयो जीति, सांचे साधुनि सौं डरे।
ल्यारी की सी रीति, कलि प्रताप हरि कृपा बिनु ॥९९ पृ० १२।

## ९—कृपा अभिलाष बेली

वल्लभ सम्प्रदाय में भक्ति के लिए भगवान का अनुग्रह अथवा कृपा को बहुत महत्त्व दिया गया है। बिना भगवदनुग्रह मनुष्य जीवन में सफल नही हो सकता। राधावल्लभ सम्प्रदाय में इस कृपा की उपलब्धि श्रीराधा के अनुग्रह द्वारा होती है। अत. भक्त राधा की कृपा का अभिलाषी रहता है। भक्त श्रीराधा से नाना प्रकार से अनुनय-विनय करके इस कृपा-दान की याचना करता है। 'कृपा अभिलाष बेली' में राधा के रूप का वर्णन करने के उपरान्त, कृष्ण को विमुग्ध करने वाली बता कर कृपा-याचना की गई है। तत्पश्चात् उन्हें सर्वगुण-सम्पन्न बताते हुए कवि कहता है —

हे रसग्य मृदु हीय, हे नवला छवि आगरी।
हे जीवनि पिय जीय, श्री राधा करि कृपा मम ॥६५।
हे विहार वर सूर, अतिकमली नवकुंज थल।
हे रसदायक मूर, श्रीराधा करि कृपा मम ॥६६ पृ० ११।

भक्त कवि का विश्वास है कि इस वेली के पठन-पाठन से राधा की कृपा प्राप्ति होगी :—

कहत सुनत यह वेलि, अपनावें रानी विपिन।
निरखि भाव अलि केलि, श्रीराधा करि कृपा मम ॥११२ पृ० १२।

वेली की भाषा संस्कृतमयी तथा सरस है। अलंकारो का समावेश भी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारो के सुन्दर वर्णन मिलते हैं :—

रूपक :

हे नागर को नेह, सिंधु बढ़ावन वदन विधु।
पूरन कला अछेह, श्रीराधा करि कृपा मम ॥६३।
हे छवि जलद अनन्त, हिय चातक पोषन सुविधि।
पलत जीय वन जन्त, श्री राधा करि कृपा मम ॥ ६४ पृ० ११।

रूपक और उत्प्रेक्षा :—

(१) नाभि मनों सर-प्रेम, प्रीतम मन मंजन करत।
त्रिवली सिढ़ी सु हेम, श्रीराधा करि कृपा मम ॥ ३१ पृ० ५।

उत्प्रेक्षा :

(२) नूपुर रव जु प्रसस, रसिक कुंवर को मन हरतु।
मनु बोलत सुत हस, श्रीराधा करि कृपा मम ॥३२ पृ० ५।
(३) उर कति वेनी पींठि, मनु सिंगार रस की लता।

—दोहा १२, पृ० ३।

इसकी रचना सवत् १८१२ पूस सुदी एकादशी को हुई :—

वरनी करि अवि आस, अभिलाषा वेली ललित।
पूस सुदी सुभ ग्यास, श्रीराधा करि कृपा मम ॥ १०६।
ठारह से गत जानि ऊपर वरष सु वारहों।
वांछित कृपा वषान, श्रीराधा करि कृपा मम ॥११० पृ० १२।

## १०—रसिक-पथ-चन्द्रिका

रसिक-पथ-चन्द्रिका चाचाजी के फुटकर पदो का सकलन है जिसे वावा तुलसीदान ने संकलित करके प्रकाशित किया है। इन पदों में चाचाजी की रस-विषयक विचारधारा का अच्छा परिपाक देखने को मिलता है। इसका मुख्य विषय रस-सिद्धान्त और रसिक-पद्धति का वर्णन करना है। विविध विषयो का संग्रह होने से इसका उल्लेख आवश्यक है।

**वर्ण्य-विषय विवेचन**

रसिक-पथ-चन्द्रिका में प्रथम तीन दोहो में मंगलाचरण है। इसके बाद ७२ दोहो में रस-सिद्धात का विवेचन है। इन दोहो में प्रेम-लक्षणा भक्ति का मर्म तथा भक्ति-जन्य आनन्द-का शब्द-चित्र अकित किया गया है।

निकुज में निरन्तर रास-क्रीडा में लीन राधाकृष्ण की उपासना ही से रस की उपलब्धि होती है। भक्त स्वय वहाँ सखी-भाव से ही पहुँच सकता है। निकुज-लीला दर्शन से जो अनुभव उसे होगा वही रस-प्राप्ति का मार्ग है।

**यह रस अनुभव-जनित है, मन दै गाढी प्रीति।**
**श्री हरिवश प्रसाद तें, पावै दुर्लभ रीति।। ५ ।। पृ० १।**
**विषय कोट व्यौहार पुनि, नाना मत उरझेर।**
**मन पहु चन पावै न ह्वां, जब परै इत के घरें ।। ७ ।। पृ० १।**

ऐहिक विषय-भोगो की कामना तथा द्वेष-मात्सर्य से मुक्त हो, निर्मल मन से तर्क भावना से रहित होकर जब भक्ति की जाएगी तब ही परम लक्ष्य की प्राप्ति होगी। इस प्रकार जिस रस की प्राप्ति होती है वह रस शृ गाररस से भी श्रेष्ठतर है —

**अति गरुवौ सिंगार रस, तातें गरुवौ ऐह।**
**कानन महलिनु अलिनु कौ, सबतें परे सनेह ।। १६ ।। पृ० २।**

राधा और कृष्ण की क्रीडा में तत्सुखी भाव का अनुभव करना ही अलिभाव है —

**गौर श्याम कानन रमैं, नित रस लीला कृत्य।**
**तत्सुख बरनैं भाव अलि, हित पद भजना भृत्य ।। २१ पृ० ३।**

जहाँ नियम-मर्यादा के बधन ढीले पड जाते हैं। इष्ट की रुचि के अनुसार सात समय की सेवा अलि भाव से की जाती है वही प्रेम की तीव्र व्यजना होती है :—

**सात समय सेवत जु अलि, दम्पति रुचि पहिचानि।**
**नेम बापुरो निबल जह, प्रेम सबल तह जान ।। २३ पृ० ३।**

हित-पद्धति में रस-रीति के लिए सात समय की भावना अनिवार्य है। इससे प्रीति और तुलना में प्रतीति बढती है —

**सात समै की भावना हित पद्धति रस रीति।**
**समैं समै सब साधिकै, दृढ प्रतीति युग प्रीति ।। २८ पृ० ३।**

प्रेम, सुख और रूप के सिन्धु की प्राप्ति के लिए कृपा और अलि भाव की साधना ही एकमात्र उपाय है —

**सुख आलय पुनि प्रेम कौ, रूप सिन्धु आगाधि।**
**प्रापति और जतन नहीं, कृपा हिता अलि माधि ।। ३४ पृ० ४।**

यह मार्ग ज्ञान और कर्म मार्ग से भी श्रेष्ठ है। ज्ञान और कर्म दोनो ही इस मार्ग की तुलना में अपूर्ण हैं —

**ज्ञान कर्म मारग उभै, फल कौ लोभ दिखाइ।**
**एक मुक्ति पर लै गयो, इक अघविच चिल्लाइ ।। ३८ पृ० ४।**

यह भक्ति प्रेम लक्षरणा है। इसके इष्टदेव भी प्रेम को पहचानते हैं इसलिए इनसे प्रीति करना ही इनकी उपासना पद्धति है :—

प्रीति पारखू जुगल हैं, तिन पद राखौं प्रीति।
वृन्दावन हित रूप की, यही उपासना रीति ।। ५० पृ० ५।

मन, कर्म और वचन से आत्म-समर्पण करके ही भक्त सच्चा सेवक बन सकता है।

मन क्रम वच करि अर्पि दे, स्वामी कौं सब कृत्य।
वृन्दावन हित रूप बलि, होहु भांव तौ भृत्य ।। ६१ पृ० ६।

इष्ट की कुंज-क्रीड़ा में और रसकथा में ही अपनी चित्रवृत्तियो का लगा देना भक्त का लक्षरण है :—

कुंज केलि की भावना, उरझाई चित्त वृत्य।
मिष्ट लगै अति रस कथा, मन क्रम वच प्रभु-भृत्य ।। ७० पृ० ७।

*महत गुन लक्षरण* :—इसमें २८ दोहो में महान व्यक्ति के लक्षरणो का वर्णन किया गया है। महान व्यक्ति वही है जो अनुराग से द्रवित हो, जिसके नेत्रो से प्रेम के आंसू बहते हो, दम्पति के नित्यविहार को देख क्षरण-क्षरण मे सुख की अनुभूति करता हो :—

महत भजन भीजे हिये, द्दग बरसी जलधार।
छिन-छिन सुख बरसत रहै, दम्पति नित्यविहार ।। ७३ पृ० ८।

पतग की भाँति प्रियतम से मिलने की अभिलाषा सतत बनी रहती हो :—

दीपक बरत पतंग ज्यौं, आतुर जारै देह।
यौं प्रभु भेटन चाह जिहि, सो जु महत गुन गेह ।। ७८, पृ० ८।

इनके अनुसरण से ही भक्त के हृदय मे भगवान के चरणो में प्रीति दृढ होती है :—

महत गुनन मग जे चले, समुझि मना उन रीति।
निश्चै तबही होइगी, प्रभु पद गाढ़ी प्रीति ।। ८३, पृ० ९।

यही रसिको की पद्धति है। इस पद्धति के द्वारा ही रस की प्राप्ति संभव है, बुद्धि और तर्क इसमे बाधक हैं। रसिक-पद्धति तर्क-बुद्धि से प्राप्त नही होती :—

रसिक पद्धति मिलै न बुद्धि बल उक्ति जुक्ति बहु जोरै।

—दोहा ४, पृ० १८।

रसिक जननि को मारग बाकौं गिरै जहा अभिमानी।
सुहृद शीलता प्रेम ह्वै उर रस की यही निसानी ।।

—मांझ स० ५, पृ० १९।

भगवान के प्रति अनन्य भक्ति-भाव ही सच्चे भक्त का लक्षरण है :—

एक धर्म रस रीति-प्रीति एकै रंग रहियें।
ताकौं कहत अनन्य आन दिसि सुपन न चहियें ।।
एक नाम इक धाम एक सांचौ व्रत धरियें।
अगम सुगम कर लियो एक सेवक हित करियें।

विधि खांडे पुनि इक म्यान विच राखत न वनत कोविद कही।
वृन्दावन हित रूप वलि यह समुझि एक सेवक लही।

ग्रथ के अन्त में १५ कुण्डलिया हैं। इनमे नीति का ही विवेचन है।

गृहस्थाश्रम का परित्याग करना भक्ति के लिए आवश्यक है किन्तु इसे शनैः-शनैं ही छोडना उत्तम नीति है। इस प्रकार शनैं-शनैः राग से वैराग्य की ओर जाने में कष्ट की अनुभूति नही होती और भगवान के चरणो मे भी दृढ अनुराग हो जाता है।

हौलें-हौलें काढ़िये पाथर तर को हाथ
पाथर तर को हाथ गहे सुख छाडे क्रम-क्रम॥
ऐसें ही अभ्यास सदाई करै परम धर्म।
यौं दुहु विधि ह्वै धीर वहुरि वैराग विचारैं।
हरि गुरु सतनि सेइ भक्ति सुख कौं विस्तारैं।
वृन्दावन हित प्रीति सौं सो भेटैं ब्रजनाथ॥
हौलें-हौलें काढ़िये पाथर तर को हाथ॥ १ पृ० २२।

अपनी इन्द्रियो को वश में करके राधा और कृष्ण के चरणो मे प्रीति करे —

गमखेवो किहि भाति सकल इन्दींन बठोरैं।
राधा रूप अधीन कृष्ण पद दृढ़ रति जोरैं॥ ३ पृ० २२।

हरि का आधार मिल जाने पर भवभीति मिट जाती है —

हौनी ही सौं ह्वै चुकी सोचैं वहुरि वलाइ।
सोचैं बहुरि वलाइ आयु जो पांछैं वीती॥
अव हरि भजन सुचेत होहु वुधि रहै न रीती।
वेद कहत हरि अजित भक्ति करि भक्तनि जीते॥
बहुरि न यह जग ज्वाल सुपन हू में भय भीते॥
—कुण्डलियां ४, पृ० २३।

काव्य-सौष्ठव

रसिक-पथ-चन्द्रिका का भाव तथा भाषा की दृष्टि से पृथक् विवेचन नही हो सकता क्योंकि यह अनेक ग्रन्थो की सुन्दर सूक्तियो का सग्रह है, स्वतन्त्र रचना नही। फिर भी सग्रह की भाषा भाव-व्यजक एव प्राजल है। इसमें स्पष्टता, सरलता, सुचारुता आदि गुण पाए जाते हैं। कुण्डलियो की भाषा मुहावरे और लोकोक्ति से युक्त हो कर प्रभावोत्पादक हो गई है। सुन्दर मुहावरे और लोकोक्ति के द्वारा भावो की अभिव्यक्ति की गई है। जैसे —

भेड़ पूंछ भावों नदी को गहि उतर्‌यौ पार।
को गहि उतर्‌यौ पार आन देवन लगि लारैं॥
जग वारिध गभीर अन्त बूड़त तिहि धारैं।
जो तारन समरत्थ ताहि सुमिरैं न कुकर्मी॥
निकसत हिय ते फूटि वासना कोड सुगर्मी।
वृन्दावन हित हरि भजन कह्यौ वेद मत सार॥
भेड पूंछ भांदों नदी को गह उतर्‌यो पार॥ ५ पृ० २३।

इसी प्रकार 'जैसी तेरी कौमरी तैसे मेरे गीत', 'होनी ही सो ह्वै चुकी सोचै वहुरि वलाइ', 'मुख कर कोस असी चलै पायन कोस न एक', 'दुविधा में दोनो गये माया नहि प्रभु नाम', 'पढ्यौ न वीछू मन्त्र हू वावी मेलत हाथ' आदि मुहावरो और लोकोक्तियो का प्रयोग हुआ है।

कवि ने जिन दोहो और पदो में भक्ति तथा नीति रस का विवेचन किया है, उनमे भावो की प्रेषणीयता है। भावो को स्पष्ट तथा प्रखर बनाने के लिए रूपक का प्रयोग अधिक हुआ है :—

मारुत प्रेम हियौ जलद, जुगल चरित रस रास।
अक्षर वरष स्वाति मनु, चातक केलिदास ॥३६ पृ० ४।

+ + +

मन गज क्रीड़तु जगत वन हथिनी इन्द्रिनु साथ।
अंकुश हरि की भक्ति विनु कवहु न आवै हाथ ॥ ५८ पृ० ६।

एक पद में रस का विवेचन रासायनिक प्रक्रिया के रूपक में किया गया है :—

प्यारी जू यह रस है रसाइनि जानै सुमति कोऊ वूटी प्रेम प्रधान।
सिद्धि होहि मन की जु संचाई चाह आँच लगै और न विधि जु विधान।
हस्त क्रिया चित वृत्ति जु निर्मल सो रस धनिक महा गुनवान।
वृन्दावन हित रूप सीलता विधि सौं विलसत (सोई) रसिक सुजान ॥

पद सं० ५ प० १२।

## ११—रास छद्म विनोद

रास छद्म विनोद में श्री वृन्दावनदासजी रचित ३७ लीलाओ का संग्रह है। २७ लीलाएँ कृष्ण तथा राधा से सम्वन्धित हैं। इनमें कृष्ण छद्म रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते हैं किन्तु प्रत्येक वार भेद खुल जाता है। कभी कृष्ण चितेरिन का रूप धारण करते हैं तो कभी मालिन, तमोलिन, नाइन, वीनावारी, मैंनावारी, गधिनवारी आदि का रूप धारण करते हैं। सात लीलाओ में कृष्ण जोगी वनकर जाते हैं। कुछ लीलाओ में वह वाला का रूप धारण कर राधा से मिलने के लिए आते हैं। इस प्रकार इन लीलाओ में उनके छद्म रूप धारण करने तथा भेद खुलने का ही वर्णन हुआ है। नारद लीला, ब्रह्मा लीला, महादेव लीला, शिवजोगी लीला, जोगीश्वरी लीला में तथा नामधारी देवता कृष्ण तथा राधा के दर्शन के हेतु आते हैं। श्रीप्रियाजी की मुराई लीला में राधा को अपनी परिछाई पर अन्य किसी का भ्रम हो जाता है। कृष्ण उनके इस भ्रम को दूर करते हैं। 'श्रीप्रिया रूप गर्व लीला' में राधा को अपने अद्वितीय रूप पर गर्व होता है।

यह सव लीलाएँ इतिवृत्तात्मक हैं। इनमें वाक्छल तथा छद्म का आनन्द तो है किन्तु काव्य की दृष्टि से इनका कोई विशेष महत्त्व नहीं। यत्र-तत्र इनमें कुछ अलंकारो का समावेश हो गया है। यथा :—

लै एढ़ी मांझल झमा हो जग मगात नख कांति ।
मनहु कमल दल दलन पर भई उदित नक्षत्रन भांति ।।
—नाइनि लीला—२२ पृ० ५४ ।

हँसति लसति दोऊ चली हो अलभलाभ सौ पाय ।
तरु सिंगार हाटक लता ससि चढ़िगवनै लडकाय ।।३५ पृ० ६८ ।
निरखत प्यारी वदन दिस हिय में धक पक होति ।
जैसे परसत पवन के झकुराति जु दीपक जोति ।।२३ पठ जोगी
लीला, पृ० १२० ।

नीलाम्बर सारी तिय तन युग हेत पुहुप अस सेत ।
सुन्दर सरस श्याम घन में मनौ नग उडगन छवि देत ।।५।
अँगिया अरुण वनी कटाव की कसी कुचनि पर खेंचि ।
मनु अनुराग जाल में लीने चक्रवाक से ऐंचि ।। ६ ।
शीश फूल सों लगि मुक्तालर लगी तरौननि जोर ।
मनौ सूरछबि चकरिनु खेलत किये रूप की डोर ।। ८ ।

भाषा में साधारण बातचीत का प्रवाह परिलक्षित होता है ।

हिन्दी साहित्य में रासलीला के अभिनेयार्थ छद्मलीला लिखने वालो मे चाचा वृन्दावनदास का स्थान मूर्धन्य पर है । उनकी लिखी अनेक लीलाएँ विगत डेढ़ शताब्दी से ब्रजमडल में रासलीला के अन्तर्गत अभिनीत होती आ रही हैं । इन लीलाओ में 'वचनिका' (गद्यवार्ता) का प्रयोग भी कही-कही उसी काल की भाषा का लिखा है और कही-कही वर्तमान काल में रासधारी लोग स्वय अपनी सुविधानुसार मिला लेते हैं । इन लीलाओ का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन अभिप्रेत है । प्रस्तुत प्रबध में हम विस्तारपूर्वक इस विषय को ग्रहण नही कर सकते ।

चौबीस छद्म की लीला नाम से गौने वाली लीला तथा चितेरीलाल लीला श्री ब्रजवल्लभदास मुखिया, वृन्दावन ने प्रकाशित की है । इन लीलाओ का प्रयोग आज भी रासमण्डलियो द्वारा होता है ।[2]

## १२—स्फुट-पद

चाचा वृन्दावनदास जी ने गेय पदो की रचना भी बहुत बडी सख्या में की है । अभिनेय लीलाओ में स्फुट पदो के रूप में इनके पद मिलते हैं । श्री रास-छद्म विनोद में इनके पदो का सग्रह अन्य कवियो के पदों के साथ किया गया है । इसमें चाचाजी के ४७ पद सकलित हैं । २४

१—श्री रास छद्म विनोद (प्रकाशित)—प्रकाशक—गोस्वामी श्री हित रूपलाल अधिकारी, वृन्दावन ।

२—चौबीस छद्म लीला—(प्रकाशित) प्रकाशक—श्री ब्रज वल्लभदास मुखिया वृन्दावन वि० सम्वत् १९२७ ।

पद शृंगार संबन्धी हैं। तीन पद होरी के, ७ पद विभिन्न क्रीडाओ के जैसे गेंद खेल, चौपड़ खेल, चकरी क्रीड़ा के सबन्ध में हैं। ३ पद रास क्रीडा सम्बन्धी हैं। २ पद मुरली के विषय मे हैं। राधा के रूप-वर्णन में भी कुछ पद लिखे गए हैं।

वृन्दावनदास जी के शृंगारिक पदो में रतिक्रीडा का प्राधान्य है। राधा के रूप-वर्णन में कवि ने अलकारो अधिक आश्रय लिया है।

इन पदों में चाचा जी की कला का सुन्दर रूप दृष्टिगत होता है। प्राय. सभी पद काव्य-कला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। भाषा लालित्य पूर्ण, प्रवाहपूर्ण, और माधुर्य से भरपूर है। शृंगारिक पदो की भाषा में सगीत का प्रवाह पाया जाता है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाएगी :—

तलप उदधि जुग मीन विचक्षन वर विहार मिलि मुदित कलोलें।
सुरत लहरि बाढ़त छिन ही छिन बोहित भाव मनोरथ डोलें॥
संगम सुख रस रतननि काढ़त उर भंडार भरति सखी सोलें।
वृन्दावन हित रूप गहर में गौर श्याम वियकित वल तोलें॥

राधा के रूप-वर्णन में अलकारो का सुन्दर प्रयोग हुआ है। राधा के रूप-सौन्दर्य का चित्र देखिए :—

नीलाम्बर वदन ढांपि पौढ़ी नव बाला।
पिय समीप छवि अपार बाढ़ी तिहिं काला॥
किधौ रूप जाल बिध्यौ राका शशि सजनी।
किधौ प्रात उदौ होत रोक्यौ रवि रजनी॥
झीने पट स्वास हलत ऐसी छवि पाई।
उडगन पति ऊपर मनु रविजा वहि आई॥
जगमगाइ रह्यौ अधिक बेसर को मोती।
मानौं जल जाप करत बैठ्यौ भृगु गोती॥

—पद स० ६३, पृ० २८८।

राधा की पीठ पर वेणी लटक रही है। कवि उत्प्रेक्षा और सदेह द्वारा उसका वर्णन करता है :—

कबरी पीठ ढरति लखि प्रीतम शोभा रहत लुभाइ।
झूलत मानौं कनक चौंहरे अहि शशि खभ बनाइ॥
किधौं कचन के दण्ड सचिक्कन पन्नग तिय लपटाइ।
चाहत सुधा वदन विधु पीवन चढ़िवे को अकुलाइ॥

—श्री रास छद्म विनोद स्फुट सग्रह—
पद ६६, पृ० २८६।

रूपक के द्वारा रति-क्रीड़ा का चित्र देखिए :—

सेज सुभग थलरी हेली रति रन को अहा।
रूपे हैं सुभट अतिरी हेली लखि कौतुक महा॥

महा कौतुक निरखि सजनी तकत अपनी घात हैं।
रदन नख आयुधनि साधे परस्पर किलकात हैं॥
आड़ पलकन हू विसरि कैं नैन उररे परत हैं।
फल कटाक्षें बाण छूटत चोट नाना करत हैं॥

—श्री रास छद्म विनोद, स्फुट संग्रह—
पद स० ९९, पृ० ३०४।

चाचाजी लिखित स्फुट पद विशाल सख्या में उपलब्ध होते हैं। इन पदो में विपय-वैविध्य देखकर चाचाजी की कल्पनाशक्ति और व्यापक अन्तर्दृष्टि पर आश्चर्य होता है। वसन्त, होरी, धमार, माझ, दिवाली, दशहरा, खिचडी, व्याहुला, फूलडोल, फूलरचना, उशीर, पाटोत्सव, भैयादौज, पवित्रा, दीपदान, टेरलहरी, झूलन, हिंडोरा, चैंतचादनी, नौकाविहार, जलविहार आदि अनेकानेक विपयो पर आपने पद-रचना की है। जो पद हमें मिल सके हैं उनकी सूची हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सहस्रो पद इधर-उधर बिखरे पडे हैं। वर्षोत्सवो से यदि पद सकलन किया जाय तो सहस्राधिक पद प्राप्त हो सकते हैं।

## चाचाजी रचित अन्य प्राप्त साहित्य

| | | | |
|---|---|---|---|
| १—बसन्त पदावली | स० | १२३+१ | |
| २—होरी धमार रसिया | सं० | २९२ | |
| ३—हितोत्सव बधाई मगल | स० | १०७ | १४४+४ |
| ४—हितोत्सव माझ अष्टक<br>३५ २ | स० | ३७ | |
| ५—लाल जी की बधाई पद | स० | १४६ | १५३+६ |
| ६— „ मांझ पालना असीस<br>५ २ २ | स० | कवित्त<br>९ | |
| ७—प्रिया जी की बधाई | स० | १६०+१०+२० | |
| ८—अष्ट सखी की बधाई | स० | ४८+२ | |
| माझ गारीमायना पालना पासूनी<br>१० ४ ५ | | २० | |
| ९—रास के पद | | २६+४ | |
| १०—साझी के पद | | २७+३ | |
| ११—दीवारी के पद | | ४+१० | |
| १२—अन्नकूट | | — | |
| १३—गोचारण | | १० | |
| १४—दशहरा | | ३+४ | |
| १५—भैयादौज | | ३ | |
| १६—पाटोत्सव | | —५ | |

| | |
|---|---|
| १७—हिमरितु | ३८+१ |
| १८—खिचड़ी | — |
| १९—व्याहुले के पद | — |
| २०—होरी डोल के पद | १० |
| २१—फूल गुलावी डोल | ६+१ |
| २२—चदन जाभा | १६ |
| २३—फूल रचना | १५ |
| २४—उशीर | २३ |
| २५—जल-विहार | ६ |
| २६—नौका-विहार | ४+२ |
| २७—चैंत चादनी | १ |
| २८—रथ खेल | ८ |
| २९—मलार के पद | ५+२०=१२५) |
| ३०—झूलन ( हिंडोर ) | ६५ |
| | — |
| | ७३ |
| ३१—टेर लहरी | ५ |
| ३२—रक्षा बधन के पद | १+३ |
| ३३—पवित्रा के पद | ३+१ |
| ३४—मिंहदी—सिंघारे के पद | ४ |
| ३५—चांदनी बैठक | २ |
| ३६—हटरी | १ |
| ३७—दीपदान | १ |
| ३८—गिरिपूजा | २ |
| ३९—गिरिपूजा पश्चात् | १ |
| ४०—वधाई बल्देवजी | २ |
| ४१—श्री रामचन्द्र बधाई | —१० |

## वधाई के पद

| | मंगल | पद | कुल |
|---|---|---|---|
| १—वनचन्द्रजी | १ | ८ | ९ |
| २—कृष्णचन्द्रजी | १ | ६ | ७ |
| ३. गोपीनाथजी | १ | ४ | ५ |
| ४. मोहनलालजी | १ | ६ | ७ |

| | | | |
|---|---|---|---|
| ५ सुन्दरवर | १ | ४ | ५ |
| ६ दामोदर वर | २ | ४ | ६ |
| ७ रामदास जी | १ | ६ | ७ |
| ८ विलासदास जी | १ | ४ | ५ |
| ९ कमल नैन | १ | ४ | ५ |
| १०. बिहारीलाल | १ | ४ | ५ |
| ११ कुज जी | १ | ४ | ५ |
| १२ हरि भट्टजी | १ | ४ | ५ |
| १३ मुकुन्द भट्ट | १ | ४ | ५ |
| १४. रूप भट्ट जी | १–४ | १२ | ११–२८ |
| १५ किशोरीलाल | २ | ९ | ११ |
| १६ हित लाल | – | १ | १ |
| १७ रसिकनद | – | १ | १ |
| १८ दया सिंधु | – | १ | १ |
| १९ कृपा सिंधु | – | १ | १ |
| २० गोपीलाल | – | १ | १ |
| | | | १२० |
| २१ कीरति पथ | – | १ | १ |
| २१. मनोरथ पथ | – | १ | १ |
| २३ चददास जी | – | १ | १ |
| | | | ३ |
| | | | १२३+४ |

उपर्युक्त पद-साहित्य के अतिरिक्त व्रजमडल में जो रासलीलाएँ आजकल अभिनीत होती हैं उनमें अनेक लीलाओ का ढाचा चाचा वृन्दावनदास के पदो के आधार पर खडा किया गया है। साम्प्रदायिक भेद-बुद्धि को त्याग कर रासधारियो में इनकी लीलाओ तथा पद-कवित्त आदि से जो सामग्री चयन की है वह चाचा जी के काव्य की सर्वजन प्रियता का सुन्दर निदर्शन है। चाचा जी की रचनाओं का व्यापक अध्ययन आवश्यक है।

## एकादश अध्याय

# राधावल्लभ सम्प्रदाय के योगदान का मूल्यांकन

वैष्णव भक्ति सम्प्रदायो मे राधावल्लभ सम्प्रदाय अपनी अनेक विलक्षण मान्यताओ और सैद्धान्तिक स्थापनाओं के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रेमलक्षणा-भक्ति के क्षेत्र में राधाकृष्ण की उपासना को व्रजमडल मे अभिनव रूप देने का श्रेय इसी सम्प्रदाय के आचार्य को है। राधा का प्राधान्य तो इसी सम्प्रदाय की देन कही जायगी। चतु.सम्प्रदाय की सीमाओ से वाहर रहकर भी विशुद्ध वैष्णव भावना से राधाकृष्ण की उपासना करने वाले सम्प्रदायो मे राधावल्लभ सम्प्रदाय अग्रणी है। विधि-निषेध की रूढियो का त्याग कर भक्ति को शृंखला-विहीन वनाने में भी इस सम्प्रदाय के आचार्य ने अमित योग दिया। दार्शनिक ऊहापोह एवं तार्किक वितंडावाद से भी यह सम्प्रदाय दूर ही रहा और साधन-पक्ष में कठोरता को वचाकर माधुर्य भाव को यहाँ प्रमुख स्थान मिला। इस प्रकार की अनेक विशेषताओ का हमने पूर्व पृष्ठो मे विस्तार से वर्णन किया है। इस अध्याय मे हम उन वातो का सार रूप में उल्लेख करना चाहते हैं जिनके कारण आचार्य हितहरिवंश अपने युग में व्रजभूमि के सवसे अधिक प्रभावशाली महापुरुष स्वीकार किये गये और उनका सम्प्रदाय व्रजभूमि का प्रमुख वैष्णव सम्प्रदाय समझा गया।

## आचार्य की विलक्षणताएँ :

१. आचार्य हरिवंश स्वयं स्वतन्त्र-मार्ग के उन्नायक हैं—नाभाजी ने भक्तमाल में कहा है—'व्यास सुवन पथ अनुसरै सोई भल पहिचानिये। हरिवश गुसाईं भजन की रीति सकृत कोउ जानि है।' इस छप्पय का भावार्थ श्री हरिवंशजी की विलक्षणता को जिस रूप में उपस्थित करता है वह मनन करने की वस्तु है। नाभाजी ने वड़े निष्पक्ष भाव से आचार्य हरिवंशजी का स्वरूप अंकित किया है।

२. आचार्य हरिवश रसमार्ग के उन्नायक तथा रसिको के शिरोमणि हैं—व्यासजी ने इनके निधन पर जो पद कहा था उसमें यह भाव वड़े स्पष्ट रूप से व्यक्त हुआ है—'हुतौ रस रसिकन कौ आधार।'

३. आचार्य हरिवंश के इष्टदेवता और गुरु दोनो एक (राधा) हैं। यह अभेद-बुद्धि किसी अन्य महापुरुष के जीवन में नही मिलती। दोनों ही सर्वोपरि और आगम-निगम अगोचर के रूप में वर्णित हुए हैं।

४—आचार्य हरिवंश ने दैन्य भाव को अपनी रचनाओ मे कही स्थान नही दिया। प्रेमलक्षणा-भक्ति का यथार्थ मर्म समझने वाले भक्त को दैन्य और कार्पण्य से विहीन होकर ही राधाकृष्ण का प्रेम प्राप्त करना चाहिए।

५—विरक्त भाव से गृह-त्याग करने के बाद भी मार्ग में पुन विवाह करके गृहस्थ के रूप में जीवन-यापन आचार्य हरिवंश की विलक्षणता है। भजनसेवा और उपासना ही उनके जीवन का ध्येय रहा। समस्त वैभव, धन-धान्य त्यागकर वृन्दावन आने पर भी ब्रजवासियो द्वारा सम्मानित होना और ब्रजमडल के प्रमुख आचार्य के रूप में स्याति प्राप्त करना आचार्य हरिवंश के व्यक्तित्व के अतुल प्रभाव को प्रकट करता है।

६—वृन्दावन में सेवाकुञ्ज, रासमडल, मानसरोवर और वंसीवट नामक चार प्रमुख स्थानो का प्राकट्य करना भी आचार्य के महत्त्व को बताने वाली घटना है।

७—आचार्य हरिवंश स्वय गृहस्थ थे किन्तु अपने विलक्षण प्रभाव से आपने अनेक साधुओ को भी दीक्षा देकर अपने सम्प्रदाय में दीक्षित किया। साधुओ द्वारा गृहस्थ से दीक्षा लेने की घटना ब्रजभूमि के लिए उस समय अवश्य ही आश्चर्यजनक रही होगी। इसे व्यक्तित्व का प्रभाव ही मानना चाहिए। पूरनदास, नवलदास आदि साधु जब आपके शिष्य हुए तब उनके सम्पर्क मे आने वाले इस घटना पर चौंके थे। किन्तु आचार्य हरिवंश के तेज के आगे सबको नतशिर होना पड़ा।

८—नरवाहन जैसे डाकू की शरणागति आचार्य हरिवंश के प्रभाव का ज्वलन्त प्रमाण है। स्वामी हरिदासजी जैसे विरक्त महात्मा का आचार्य हरिवंश के सम्पर्क में आना और प्रभावित होना भी उनके तेज का द्योतक है। शास्त्रार्थ-महारथी व्यासजी का शिष्य होना भी हरिवंशजी के विलक्षण व्यक्तित्व की पुष्टि करता है।

९—गगा, यमुना, और कर्मठीबाई को अपने तपोबल द्वारा यवनों के पजे से छुड़ाना उनके तेज का प्रमाण है।

१०—रासलीला अनुकरण का सर्वप्रथम सवत् १५९२ में प्रचलन करना और उसके निमित्त रासमडल की स्थापना का श्रेय भी आचार्य हरिवंशजी को ही है।

११—'प्रेम में नेम नहीं'—इस सिद्धान्त को प्रत्यक्ष रूप से चरितार्थ करके दिखाना आचार्य हरिवंश के साहस को स्पष्ट करने वाली घटना है। कहते हैं अपने शिष्य बीठलदास का प्रेम भाव में उच्छिष्ट तक स्वीकार कर लिया था।

१२—बालचरित्र में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं से भी महापुरुष होने का सकेत शैशव में ही मिल गया था। राधासुधानिधि की रचना और रगीलाल का प्राकट्य इसके प्रमाण है।

१३—आचार्य हरिवंश ने अपने भक्तो को स्वप्न में भी दीक्षा देकर कृतार्थ किया था ऐसा परमानन्ददास आदि शिष्यों के विषय में प्रसिद्ध है। ये बातें उनकी प्रसिद्धि में योग

देने वाली सिद्ध हुई। अलौकिक होने पर भी इनका अपना स्थान है।

१४—आचार्य हरिवंश की प्रशंसा आरम्भ से होती चली आ रही है—उनके समसामयिक महापुरुषो में श्री हरिराम व्यास, प्रबोधानन्द सरस्वती, सेवकजी, कृष्णचन्द्र आदि ने बहुत विस्तार से आपका वर्णन किया। भेट में अनेक पद भी अर्पित किये गये हैं। अन्य सम्प्रदायो के महात्माओ ने भी आचार्य हरिवंश जी की प्रशंसा लिखी है जिनमें श्री विहारिनदास, नाथ भट्ट, भगवत मुदित, नाभाजी, प्रियादासजी, वशी अली, किशोरी अली, अलवेली अली, नागरीदास कृष्णगढ वाले, भगवत रसिक, रघुराजसिंह आदि उल्लेख्य हैं।

## साधना-पद्धति की नवीनताएँ :

१—उपासना-पद्धति को विधि-निषेधातीत स्वीकार करना।

२—इष्ट और गुरु का अभेद स्वीकार करना।

३—गुरु उपासना, हित-उपासना, श्री राधा तत्त्वोपासना, श्री तत्त्व या रसोपासना सब में अभेद की स्वीकृति।

४—सम्प्रदाय का नाम 'श्री राधावल्लभ', उपास्य के नाम पर है। प्रवर्तक या आचार्य के नाम पर नही।

५—साध्य और साधन में अभेद की स्वीकृति।

६—समस्त अवतारो तथा समस्त आचार्यों का पर्यवसान अपने निज आचार्य मे मानना तथा किसी की भी अवहेलना या निंदा से सर्वथा दूर रहना।

७—उपासना-पद्धति में नवीनता—गद्दी-सेवा, नाम-सेवा, खिचड़ी-प्रथा, राधा के स्वकीया-परकीया भेद विवर्जित रूप की स्वीकृति।

८—राजभोग आदि पाँच आरती की सर्वप्रथम स्थापना।

९—समाज, संगीत और साँझी द्वारा कीर्तन तथा शृंगार की नवीन परिपाटी का प्रवर्त्तन।

१०—नित्यविहार का स्वरूप सर्वप्रथम स्थापित करके उसका चतुर्व्यूहात्मक शैली से प्रतिपादन।

## अन्य सम्प्रदायों पर प्रभाव :

राधावल्लभ सम्प्रदाय की नूतन मान्यताओ का समसामयिक एवं परवर्त्ती वैष्णव-भक्ति सम्प्रदायो पर धार्मिक एवं साहित्यिक क्षेत्रो मे गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। अष्टछाप के कवियो ने वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तो का अनुगमन अपने काव्य में किया है किन्तु स्थान-स्थान पर हम राधावल्लभीय विचारधारा की छाप भी उनके पदो मे देख सकते हैं। डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने ग्रंथ में माधुर्य भक्ति का प्रभाव दिखाते हुए लिखा है कि—'राधावल्लभीय सम्प्रदाय में राधाकृष्ण के प्रेम-शृंगार की संयोग-लीला के ध्यान पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार की भक्ति को उस सम्प्रदाय में 'परम माधुरी भाव' कहा गया है। अष्टछाप भक्तों के समकालीन श्री स्वामी हरिदासजी ने राधाकृष्ण की युगल लीलाओ की उपासना सखीभाव से करने का उपदेश दिया था। इन दोनो सम्प्रदायो की

छाया, जैसा कि पीछे कहा जा चुका है, वल्लभ सम्प्रदाय पर भी पडी, जिसके फलस्वरूप अष्टछाप काव्य में हमें सखीभाव से की गई युगल-भक्ति के पद भी एक वडी सख्या में मिलते हैं। इस प्रकार के पद समान भाव से आठो कवियो के उपलब्ध हैं'।[1]

वल्लभ सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण की उपासना ही प्रधान थी। माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक वात्सल्य भक्ति का ही वल्लभाचार्य ने प्रचार किया था। किन्तु वाद में उनके उत्तराधिकारी गो० विट्ठलनाथजी ने किशोर कृष्ण की युगल-लीलाओ का तथा युगल-स्वरूप की उपासना-विधि का भी समावेश अपनी भक्ति-पद्धति में कर लिया। इस विषय में भी डा० गुप्त ने लिखा है—'हा, राधा की उपासना का समावेश इस सम्प्रदाय में विट्ठलनाथ जी के समय में हुआ, क्योकि हम देखते हैं कि श्री विट्ठलनाथजी ने राधा की स्तुति में 'स्वामिन्याष्टक' तथा 'स्वामिनीस्तोत्र' दो ग्रथ लिखे हैं और श्री वल्लभाचार्य जी के किसी भी ग्रथ में इस प्रकार राधा का वर्णन नही है। + + + । गोस्वामी विट्ठलनाथजी के राधाभाव सम्बन्धी विचारो पर माध्व सम्प्रदाय, चैतन्य महाप्रभु तथा श्री *हितहरिवंशजी* के विचारों का प्रभाव माना जा सकता है। क्योकि चैतन्य महाप्रभुजी तथा हितहरिवशजी के सम्प्रदाय में कृष्ण के साथ राधा की भक्ति की मान्यता है।"[2] यहा हम यह निवेदन करना आवश्यक समझते हैं कि चैतन्य सम्प्रदाय में राधा की मान्यता होते हुए भी प्राधान्य नही है जवकि हितहरिवशजी के लिए तो राधा ही सब कुछ है। अत राधाभाव का चरमोत्कर्ष इसी सम्प्रदाय द्वारा हुआ यह मानना युक्तिसगत है। वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तो ने राधा को परकीया नही माना वरन् उन्होंने स्वकीया मानकर सयोग-लीला को ही स्थान दिया। सूरदास ने तो कही-कही निकुज-लीला का भी गान किया है जो विशुद्ध राधावल्लभीय भाव का अनुगमन ही कहा जायगा।

श्रीकृष्ण से भी बढकर श्रीराधा के प्राधान्य की स्वीकृति को हम राधावल्लभीय प्रभाव ही कहेगे। निश्चय ही यह राधा-प्राधान्य इसी सम्प्रदाय की देन है। राधा को प्रधानता देने वाले पद हम सूरदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वामी और छीत स्वामी की रचनाओ में देख सकते हैं।

सूरसागर में कुछ पद तो ज्यो के त्यो हितचौरासी के हैं जिनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अब हम उन पदो की ओर सकेत करना चाहते हैं जिनमें माधुर्य भाव के साथ नित्यविहार का वर्णन हुआ है और कृष्ण के स्थान पर राधा को प्रधान मानकर वर्णन किया गया है। इन पदो की सख्या सूरसागर में दो दर्जन से ऊपर है।

१—सुनहु सखी राधा सरि को है।
जो हरि है रतिपति मनमोहन, याकौ मुख सो जोहै॥
जैसो स्याम नारि यह तैसी, सुन्दर जोरी सोहै।
यह द्वादस बहऊ दस द्वै कौ, ब्रज जुवतिनि मन कोहै॥

---

१ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ६४३-४४।
२ अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—ले० डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ५२७-२८।

मैं इनकों घटि-वढि नहिं जानति, भेद करै सो की है।
सूर स्याम नागर, यह नागरि एक प्रान तन दो है॥

—सूरसागर काशी नागरी प्रचारिणी सभा, पद १६०३। २५२१, पृष्ठ ६०६।

२—निरखि व्रज नारि छवि स्याम लाजै।
विविध वेनी रची, माँग पाटी सुभग, भाल वेंदी विन्दु इन्दु लाजै।
+ + +
सूर की स्वामिनी, नारि व्रजभामिनी, निरखि प्रिय प्रेम सोभा सु लाजै॥

—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद १०४२। १६६०, पृष्ठ ६१६।

३—मैं कैसे रस रासहिं गाऊँ।
श्री राधिका स्याम की प्यारी कृपा वास व्रज पाऊँ॥
आन देव सपनेहुं न जानौं, दम्पति के सिर नाऊँ।
भजन प्रताप चरन महिमा तें गुरु की कृपा दिखाऊँ॥
नव निकुंज वन धाम निकट इक आनद कुटी रचाऊँ।
सूर कहा विनती करि विनवै जनम जनम यह ध्याऊँ॥

—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद सं० ११७४। १७९२, पृष्ठ ६६२।

४—नीलाम्वर पहिरे तनु भामिनि जनु घन दमकति दामिनि।
सेस महेस गनेस सुकादिक नारदादि की स्वामिनि॥
+ + +
सहज माधुरी अंग अंग प्रति सुवस किये धनी।
अखिल लोक लोकेस विलोकत, सव लोकनीके गनी॥
+ + +
जगनायक जगदीस पियारी, जगत जननि जगरानी।
नित विहार गोपाल लाल संग, वृन्दावन रजधानी॥
रसना एक नहीं सत कोटिक, सोभा अमित अपार।
कृष्ण भक्ति दीजै श्रीराधे, सूरदास वलिहार॥

—सूरसागर, का० ना० प्र० स०, पद सं० १०५५।१६७३, पृष्ठ ६२३–२४।

५—संग राजति वृषभानु कुमारी।
कुंज सदन कुसुमनि सेज्या पर दम्पति शोभा भारी॥
आलस भरे मगन रस दोऊ अंग अंग प्रति जोहत।
मनहुं गौर श्याम कैरव शशि उत्तम वैठे सम्मुख सोहत॥
कुंज भवन राधा मन मोहन चहूँ पास व्रज नारी।
सूर रहीं लोचन इकटक करि डारति तन मन वारी॥

—सूरसागर, का० ना० प्र० स० पद सं० २४६३।३०८१, पृष्ठ १०७६।

उपरिलिखित पदों में श्रीकृष्ण की अपेक्षा राधा का प्राधान्य स्पष्टरूपेण वर्णित हुआ है। राधा को स्वामिनी मानकर राधा की कृपा की आकांक्षा राधावल्लभीय भक्ति-भाव

का ही प्रभाव है। राधा को जगनायक जगदीश की प्यारी जगरानी मानना भी हित हरिवंशजी का अनुकरण है। सूरदास ने प्राय कृष्ण-माहात्म्य ही कहा है किन्तु माधुर्य भक्ति के प्रभाव मे कुछ पद ऐसे बन पडे हैं जो राधाभाव को प्रधानता देकर लिखे गये हैं। नित्य-विहार या निकुंज लीला का गान करना सूरदास का अभीष्ट विषय नही था। सूरदास ने बाल लीला को ही प्रधानता दी है, फिर भी कुछ पदो मे निकुंज लीला का वर्णन मिलता है। यह निकुंज-लीला-वर्णन हरिवंशजी के नित्यविहार की छाया ही समझना चाहिए।

श्री परमानन्ददासजी के पदो मे श्री राधा के प्राधान्य के दो-तीन पदो में दर्शन होते हैं।

'प्रगट्यो सब ब्रज को सिंगार।
कीरति कूख अवतरी कन्या सकल त्रियतिन को सार॥
नख सिख रूप कहाँ लौं बरनौं कोटि मदन बलिहार।
परमानन्द प्रभु के हित कारण बलि राधा अवतार॥

उक्त पद में स्पष्ट रूप से राधा को ही मुख्य माना गया है। प्रभु के हित के लिए राधा ने अवतार धारण किया यह भाव इतना प्राणवान है कि राधा की महत्ता का इससे बडा प्रमाण कोई नही हो सकता।

नन्ददास ने भी नित्यविहार-सम्बन्धी पद लिखे हैं जिसका प्रत्यक्ष आधार हितजी की भाव-कल्पना है। नन्ददास के वर्णन में वही आलकारिक शैली और वैसी ही अप्रस्तुत योजना है जैसी हित हरिवंशजी के पदो में है। तमाल से कनक लता के उलझने की उपमा द्वारा जो अप्रस्तुत योजना की गई है, वह इसका प्रमाण है।

दम्पति पौढ़ेई पौढ़े रसबतियां करन लागे दोऊ नैना लागि गये।
सेज ऊजरी चन्दा हू तें निर्मल तापर कमल छये॥
आलस जान आप सग पौढी पिय हिये उर लाय लये।
नन्ददास प्रभु मिली श्याम तमाल ढिग कनक लता उलहे॥

*निम्बार्क सम्प्रदाय* की भक्ति-पद्धति पर भी, सिद्धान्त पक्ष एव साधन-पक्ष दोनो दिशाओ मे राधावल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव देखा जा सकता है। निम्बार्काचार्य ने कृष्ण के साथ राधा की उपासना का विधान प्रारम्भ से ही किया था किन्तु श्रीभट्ट तथा हरिव्यास देवाचार्य की रचनाओ में राधा को जो रूप मिला तथा नित्यविहार का जिस रूप में वर्णन हुआ वह राधावल्लभीय विचारधारा से प्रभावित है। यह एक विवादास्पद प्रश्न रहा है कि श्री भट्ट तथा हरिव्यास देवाचार्य की वाणियाँ श्री हितहरिवंश से पहले की हैं या बाद की। हमने इस विषय पर चतुर्थ अध्याय में सक्षेप मे प्रकाश डाला है। हम श्री भट्ट जी के युगल शतक को सवत् १६५२ की रचना मानते हैं और हरिव्यासदेव जी की महावाणी तो उसके भी बाद की कृति है। अत. श्री हितहरिवंशजी की रचनाएँ इन दोनो महानुभावो से लगभग पचास वर्ष पूर्व की ठहरती हैं। ऐसी दशा में इन दोनो पर स्पष्टत हितहरिवंशजी का प्रभाव देखा जा सकता है।

हम युगलशतक और महावाणी से कतिपय पद उद्धृत करके यह दिखाने की चेष्टा

करेंगे कि उनकी भाव-वस्तु और रचना-शैली पर हितहरिवंशजी की वाणी का कितना गहरा प्रभाव पड़ा है।

नव किशोर नव नागरी, नव सब सोजरु साज।
नव वृन्दावन नव कुसुम, नव वसन्त ऋतुराज ॥१
ठाढ़े गाढ़े कुंजतर, बाढ़े मैन चकोर।
भीजत कब इन दृगन ते, देखो जुगल किशोर ॥२
जोई जोई करति तुम प्यारी सोई सोई सो मन माने।
अहो विहारिन सोंह तिहारी उर प्रतीति अति आने ॥३
आज अति राजत जुगल किशोर।
देखरी देखि रहे फवि अद्भुत छवि की ओर न छोर ॥
अंसन पर भुज दिये परस्पर मनहर सावर गोर।
श्री हरिप्रिया वदन शशि सुन्दर चितवन नैन चकोर ॥४
दोउ जन लागत हैं अति नीके।
भीजे अंग-अंग लपटनि अम्बर रंग सुहीके ॥
गरवहियां दिये भरे उमंगनि आंगन कुंज कुटी के।
श्री हरिप्रिया कहाँ लौं वरनौं जो गुन प्यारी पीके ॥५

उपर्युक्त पदो का हित चौरासी से साम्य-प्रदर्शन करने के लिये हम निम्न पद उद्धृत कर रहे हैं :—

जोई-जोई प्यारो करै सोई मोहि भावै।
भावै मोहि जोई सोई सोई करै प्यारे ॥

—हित चौरासी, पद स० १।

आज अति राजत दम्पति मोर।
सुरत रग के रस में भीने नागरि नवल किशोर ॥
अंसनि पर भुज दिये विलोकत इन्दु वदन निवि ओर ॥

—हित चौरासी, पद सं० ३१।

दोउ जन भींजत अटके वातन।
सघन कुंज के द्वारे ठाढ़े अम्बर लपटे गातन ॥

—स्फुट वाणी, पद सं० २३।

---

१. युगल शतक—श्री भट्ट, सम्पादक पं० व्रजविहारीशरण, पृष्ठ ३४
२. ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ ३७
३. महावाणी—हरिव्यास देवाचार्य—प्रकाशक व्र० विहारीशरण, पृ० १६३।
४. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृ० १६६, ८६।
५. ,, ,, ,, ,, ,, ,, पृष्ठ १६६,८६।

नवल वागरि, नवल नागर किशोर मिलि ।
कुंज कोमल दलनि सिन्या रची ।।

—हित चौरासी, पद सं० ५० ।

राधा के प्राधान्य के सम्बन्ध में इतना निवेदन करना ही कदाचित् पर्याप्त होगा कि राधावल्लभ सम्प्रदाय से पहले इतना अधिक महत्व किसी अन्य सम्प्रदाय मे राधा को नही मिला था। निम्बार्क सम्प्रदाय में सत्रहवी शती में जो व्रजभापा-साहित्य लिखा गया उसमे कृष्ण की अपेक्षा राधा को प्रधानता मिली। यदि पहले से ही राधा का प्राधान्य होता तो सस्कृत ग्रथो में भी इस भाव का समर्थन मिलता, किन्तु वहाँ कृष्ण ही उपास्य और इष्ट है। राधा उनके साथ अवश्य है। निम्वार्क सम्प्रदाय की परवर्ती भावना पर राधा का साम्राज्य छा गया, यह अकारण नही हुआ। निश्चय ही हितहरिवशजी के व्यापक प्रभाव का ही यह परिणाम है। अत' हम इसका श्रेय आचार्य हितहरिवशजी को ही देते हैं। नागरीदास जी और अलवेली अली की रचनाओ पर भी हम यह प्रभाव देख सकते हैं।

श्री स्वामी हरिदासजी तो हितहरिवशजी के समसामयिक थे। स्वामी जी ने सखी-भाव के साथ नित्यविहार और निकुंज-लीला का ठीक उसी रूप में गायन किया जिस रूप में श्री हितहरिवशजी ने प्रस्तुत किया था। उनकी साधना में वैराग्य का प्राधान्य था। यही उनकी विशेषता है। उनका तथा उनकी शिष्य-परम्परा का जो भक्ति साहित्य मिलता है उसमें तथा राधावल्लभीय भक्ति-साहित्य में विचारधारा और भावना का विशेप अन्तर नही है। प्राय एक ही भावभूमि पर दोनों ने साहित्य सृजन किया है। भगवत रसिक, विहारिन देव, सहचरि सुख आदि की रचनाओ का प्रतिपाद्य वही है जो हितहरिवशजी तथा उनके अनुयायियो का था। राधा के स्वकीया भाव की प्रत्यक्ष रूप से निम्वार्क तथा हरिदासी मत में स्थापना हुई। राधावल्लभ सम्प्रदाय में लौकिक दृष्टि से स्वकीया की स्वीकृति होने पर भी राधा को स्वकीया-परकीया भेद विवर्जित माना गया। यही अन्तर कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त हरिदासी और हरिवशी मत मे कोई विशेष अन्तर दृष्टिगत नही होता। भगवत रसिक ने अपने मत की स्थापना करते हुए कहा है—

आचारज ललिता सखी, रसिक हमारी छाप।
नित्य किशोर उपासना, जुगुल मन्त्र कौ जाप ।।
जुगुल मन्त्र कौं जाप वेद रसिकन की वाणी।
श्री वृन्दावन धाम, इष्ट स्यामा महारानी ।।
प्रेम देवता मिले बिना, सिधि होइ न कारज।
भगवत सव सुखदानि, प्रकट में रसिकाचारज ।।
नहीं द्वैत अद्वैत हरि, नहीं विशिष्टाद्वैत ।
वंधे नहीं मतवाद में, ईश्वर इच्छा द्वैत ।।
ईश्वर इच्छा द्वैत करै सबही कौ पोषन ।
आप रहैं निरलेप, भगत सों मानै तोषन ।।

भगवत रसिक अनन्य संग डोलैं गलबाहीं।
करैं मनोरथ सिद्ध, उचित अनुचित कछु नाहीं॥

वृन्दावन का स्वरूप वर्णन करते हुये भगवत रसिक कहते हैं—

हमारौ वृन्दावन उर और।
माया सकल तहां नहिं व्यापैं, जहां रसिक सिरमौर॥
छूटि जात सत असत वासना, मन की दौरा दौर।
भगवत रसिक बतायौ श्रीगुरु अमल अलौकिक ठौर॥

हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टाचार्यों की वाणी के अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन आचार्यों के समक्ष नित्यविहार या निकुंज-लीला-वर्णन का कोई आदर्श पहले से प्रतिष्ठित था उसी के आधार या अनुकरण पर ये अपनी वाणी का विन्यास करते रहे। कहना न होगा यह आदर्श श्री हितहरिवंशजी का नित्यविहार-सम्बन्धी सिद्धान्त ही था। इसी का अनुसरण इन आचार्यों ने किसी न किसी रूप में किया है।

*गौड़ीय सम्प्रदाय* के पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने राधा-भक्ति का विधान अपने संस्कृत ग्रंथों में किया था किन्तु राधा को परकीया स्वीकार करके ही उसका वर्णन किया गया था। राधा का प्राधान्य वहा नही था। किन्तु शनैः-शनैः राधा की महिमा बढती गई और श्री-कृष्ण की अपेक्षा राधा को प्राधान्य प्राप्त होने लगा। गदाधर भट्ट और रसिकोत्तंस की रचना में प्रेमलक्षणा-भक्ति और राधा-उपासना का प्राधान्य है। इस उपासना के कारण गुरु-भक्ति में भी अन्तर उपस्थित हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय में तो गुरु और इष्ट में भेद नही था किन्तु और सम्प्रदायो में यह बात नही है अत. राधा को सर्वाधिक महत्त्व मिलने से उपास्यदेव और गुरु की महिमा घटने लगी। फलत गोवर्द्धन भट्ट तक आते-आते इस सम्बन्ध में प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण उपस्थित हो गया। राधा को हटाकर पुनः गुरु को स्थापित करने का प्रयत्न हुआ। श्रीगोवर्द्धन भट्ट ग्रंथावली मे हम इस प्रयत्न की स्पष्ट छाप देख सकते हैं। यह ग्रथ सवत् २०१२ में श्री कृष्णदास बाबाजी, कुसुम सरोवर राधा कुंड, (मथुरा) ने प्रकाशित किया है। इस ग्रथ में इस प्रकार बंश-परम्परा दी है—गदाधर भट्ट, रसिकोत्तंस, श्रीकृष्ण भट्ट, लाल भट्ट, गोवर्द्धन भट्ट। गोवर्द्धन भट्ट का समय सवत् १७४० से १७९४ तक स्थिर किया है। इस ग्रथावली के अनेक श्लोको पर राधासुधानिधि की छाप है। इसी ग्रथ के 'रूप सनातन स्तोत्र' में रूप गोस्वामी को राधा से भी उच्च मानकर एक स्थान पर वर्णन मिलता है। यह राधा-भाव की प्रतिक्रिया है। इस सम्बन्ध में हम इसी ग्रंथावली से एक श्लोक उद्धृत करते हैं—

हित्वा रूप पदाम्बुजं भवति यो राधांघ्रिदास्योत्सुक
स्तुंग गेहमसौ तनोति न कथं रम्ये स्थले सैकते।
बाहुभ्यां त्रिदिवं स्पृशेन्नहि कथं ना कथंच्छादयेत्।
तुर्य भूरि रजोभिरम्बरमणि पंगु न किं चालयेत्॥

—गोवर्द्धन भट्ट ग्रन्थावलि—रूप सनातन स्तोत्र, श्लोक स० २१।

रूप गोस्वामी की वन्दना में—'कोराधापददानमत्र लभते तं रूप संगं विना।' तथा

'राधायामिह मादन वद सखे को वेति रूप विना ।' आदि श्लोक इस बात के निदर्शन हैं कि राधा की प्रमुखता ने गुरु और इष्ट को भी ढक लिया था, अत फिर से उनके गुणगान और महत्त्व स्थापना की आवश्यकता प्रतीत हुई ।

वर्तमानकाल में गौडीय सम्प्रदाय मे राधा का महत्त्वपूर्ण स्थान है और सेवा-पूजा में गद्दी-सेवा को भी श्री राधारमण जी के मन्दिर में ग्रहण कर लिया गया है । गौडीय भक्ति के शास्त्रीय विधान पर राधावल्लभ सम्प्रदाय की कोई छाप नही है क्योकि वह तो पहले ही विस्तारपूर्वक तैयार हो चुका था । उस दिशा मे तो हितहरिवशजी ने स्वय प्रेम-लक्षणा के वैधी रूप के निर्माण में गौडीय गोस्वामियो से कुछ न कुछ ग्रहण किया होगा ।

अयोध्या के रामानन्दी सम्प्रदाय की एक शाखा सखी सम्प्रदाय के रूप में सामने आई । इस सखीभाव का मूलाधार प्रेम-लक्षणा में राधाभाव का प्राधान्य था जो हितहरिवश जी की ही देन है । हमने ऐसे अनेक पद स्वय देखे हैं जिनमें राम-सीता को ठीक उसी रूप में अकित किया गया है जिस रूप में कृष्ण और राधा को राधावल्लभ सम्प्रदाय में किया जाता है । यह प्रभाव किस रूप से सक्रमित होकर वहा तक पहुँचा यह अनुसधान का विषय है । वृन्दावन में भी ऐसे रामानन्दी साधुओ से हम मिले हैं जो सखीभाव की उपासना का वैसा ही अनुकरण करते हैं जैसा राधावल्लभ सम्प्रदाय में है । पूछने पर हमें यही वताया गया कि वृन्दावन और अयोध्या दोनो स्थानो पर प्रेम-लक्षणा और राधाभाव का इतना व्यापक प्रभाव किसी काल में पहुँचा था कि राम और सीता को राधाकृष्ण की छाया में ज्यो का त्यो ग्रहण कर लिया गया और उसी शैली में काव्य-रचना होने लगी । हो सकता है इस भाव को स्वीकार करने में और भी प्रभाव रहे हो—किन्तु राधावल्लभीय प्रभाव की एकदम उपेक्षा नही की जा सकती । वृन्दावन के रामानन्दी साधु तो इसका श्रेय व्रज की भक्ति-परम्परा में हित-हरिवशजी को ही देते हैं ।

राधावल्लभीय सिद्धान्तो का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव हम व्रजमडल के समसामयिक भक्ति-सम्प्रदायो में इन रूपो में भी देख सकते हैं—

१—रास की परिपाटी में राधा को प्राधान्य दिया जाता है । जो सम्प्रदाय कृष्ण को इष्टदेव तथा राधा को परकीया मानते हैं वे भी रास में राधा को प्रथम स्थान देते हैं ।

२—रासमडल वनवाने की प्रथा श्री हितहरिवशजी के रास-मडल निर्माण से ही प्रचलित हुई । उनसे पहले का कोई रास-मडल व्रज में उपलब्ध नहीं होता ।

३—गद्दी-सेवा की स्थापना का श्रेय भी राधावल्लभ सम्प्रदाय को ही है । यद्यपि वृन्दावन के दो अन्य प्रमुख मन्दिरो में भी गद्दी-सेवा प्रचलित है । श्री विहारीजी के मन्दिर में गद्दी-सेवा है किन्तु इस मन्दिर की स्थापना यदि बिहारीजी के प्राकट्य काल से ही मानी जाय तो सवत् १५९५ है । दूसरा मन्दिर गौडियो का श्री राधारमण का है । इसमें भी गद्दी-सेवा है । इस मन्दिर की स्थापना १५९९ सवत् की है । अत कालक्रम में ये दोनो मन्दिर राधावल्लभ जी के मन्दिर के पश्चात्वर्ती हैं । उसका प्रतिष्ठा-काल स० १५९२ है अत दोनो ने अनुकरण ही किया है ।

४—वृन्दावन के अधिकाश मन्दिरो में सात क्रम की सेवा चलती है जिसका प्रवर्तन

राधावल्लभजी के मन्दिर से ही हुआ। वर्तमान काल के आनन्दी बाई के मन्दिर में भी यही सेवा चल रही है।

५—प्रसाद का महत्त्व व्रजमडल मे राधावल्लभीय भक्तो के कारण ही व्यापक और विशद हुआ। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे तो प्रसाद-निष्ठा को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। हरिराम व्यास, सेवक, ध्रुवदास और कल्याण पुजारी की प्रसाद-निष्ठा विख्यात है।

६—अष्टयाम सेवा को रासलीला मे दृश्य-काव्य के रूप मे दिखाने की परिपाटी भी राधावल्लभीय अष्टयाम सेवा के अनुरूप अन्य सम्प्रदायो ने ग्रहण कर ली है। यह ऐसा प्रभाव है जो प्रत्यक्ष रूप से आज भी देखा जा सकता है।

७—राधावल्लभीय भजन-पद्धति की प्रशसा तो अनेक सम्प्रदायो के वैष्णव भक्तो ने की है। प्रबोधानन्द सरस्वती, स्वामी हरिदास, अलि भगवान्, भगवत मुदित, वल्लभ रसिक, आदि ने मुक्तकठ से राधावल्लभीय भक्ति-पद्धति तथा श्री हितहरिवशजी की प्रशसा की है और उसे माधुर्य भाव का मुकुटमणि बताया है।

## साहित्य, संगीत और कला :

साहित्य, सगीत और कला के क्षेत्र में हम राधावल्लभ सम्प्रदाय की देन का पृथक्-पृथक् आकलन कर सकते हैं। रस-भक्ति के लिए इन तीनो उपादानो की आवश्यकता सभी सम्प्रदायो से स्वीकार की गई है। इसी कारण व्रजमंडल के भक्ति-सम्प्रदायो मे इन तीनो साधनों को भक्ति-पथ का अनिवार्य अंग माना गया है। साहित्य के क्षेत्र मे वाणी-रचना, संगीत के क्षेत्र मे कीर्तन, समाज और भजन तथा कला के क्षेत्र मे साँझी, फूल-रचना, मूर्त्ति-शृंगार आदि का व्यापक रूप से विधान है। भक्ति को सार्वजनीन और आकर्पक बनाने की यह परिपाटी अद्यावधि व्रज में प्रचलित है और इन तीनो उपकरणो के साथ भक्ति-सम्प्रदाय अपनी परम्परा का किसी न किसी रूप मे पालन कर रहे हैं। साहित्यिक शैली से वाणी-रचना की परम्परा क्रमश. शिथिल पडती जा रही है और सगीत की लीक मात्र शेप रह गई है। कला की पुरातन शैली किसी-किसी मन्दिर मे शृगार-प्रसाधन में अभी वर्तमान है किन्तु उस पर भी अर्वाचीन शृंगार-शैली का पुट चढता जा रहा है। किन्तु इन तीनो क्षेत्रो में सांस्कृतिक ऐक्य का अद्भुत समन्वय देखकर यही मानना पडता है कि मध्यकालीन भक्ति साधना शुष्क या नीरस तपस्या न होकर माधुर्य-मडित रससिक्त साधना थी।

### साहित्य :

वाणी-ग्रथो के रूप में राधावल्लभीय सम्प्रदाय का विपुल व्रजभापा साहित्य आज भी व्रजप्रदेश, अहमदाबाद, सूरत, बुन्देलखण्ड, मध्य प्रदेश, पटना आदि स्थानो में हस्तलिखित रूप मे पडा हुआ है। यदि समस्त वाणी-ग्रथो का सकलन हो सके तो निश्चय ही परिमाण की दृष्टि से यह व्रजमंडल के अन्य सभी भक्ति-सम्प्रदायो से अधिक होगा। जितने साहित्य का पता लगाया जा सका है और जो हमने स्वय देखा है वह भी मात्रा में अन्य सम्प्रदायो से अधिक ही ठहरेगा। विगत चार सौ वर्षो में व्रज में जो साहित्य-सृजन हुआ उसका आधा भाग राधावल्लभीय भक्तो का है, यह कथन कदाचित् किन्ही को अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत हो

किन्तु हम तथ्यात्मक आँकडो के आधार पर यह सिद्ध कर सकते हैं कि राधावल्लभ सम्प्रदाय के लगभग २५० भक्त-कवि और एक सहस्र से अधिक वाणी-ग्रंथो का पता मिलता है जो इस बात का प्रमाण है कि इस सम्प्रदाय में परिमाण की दृष्टि से सबसे अधिक सामग्री है।[1] यदि उत्कृष्टता एव गुणवत्ता पर ध्यान न देकर केवल मात्रा (क्वांटिटी) पर ही विचार किया जाय तो राधावल्लभ सम्प्रदाय के आधे दर्जन ऐसे भक्त-कवि हैं जिनके समस्त वाणी-ग्रंथो की सख्या तीन सौ से ऊपर है और कदाचित् सूरदास को छोडकर अष्टछाप, निम्बार्क तथा हरिदासी सम्प्रदाय के अष्टाचार्यो से परिमाण में अधिक होगी। वे आधे दर्जन वाणीकार हैं, हरिराम व्यास, ध्रुवदास, चाचा वृन्दावनदास, रसिकदास, अनन्य अली और गोस्वामी हित रूपलाल। यह ठीक है कि इन सबकी समस्त रचनाओ को हम शुद्ध साहित्य की कोटि में नही रख सकते। इनमें से अधिकाश तो केवल साम्प्रदायिक भावना को व्यक्त करने वाली धार्मिक कोटि की रचनाएँ हैं। उनका साहित्यिक दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं है किन्तु मात्रा और आकार की दृष्टि से वे भी वाणी ग्रथो में गिनी जाती रही हैं और उनमें भी यत्र-तत्र साहित्य की छटा दृष्टिगत होती है।

यदि काव्य-सौष्ठव के आधार पर राधावल्लभीय साहित्य की परख की जाय तो उसमें भी इस सम्प्रदाय का साहित्य सर्वथा हेय या उपेक्षणीय नही है। अष्टछाप के सूरदास, नन्ददास और परमानन्ददास को छोडकर शेष कवियो से तथा निम्बार्क सम्प्रदाय और हरिदासी सम्प्रदाय के भक्त-कवियों से वह गुणोत्कर्ष में भी नीचा नही ठहरेगा। व्रजभाषा साहित्य को काव्य-सौंदर्य की दृष्टि से समृद्ध बनाने का श्रेय यदि अष्टछाप के कवियो को है तो उसे भक्तिभाव तथा लीलागान से परिपूर्ण करने का श्रेय राधावल्लभ सम्प्रदाय के कवियों को ही प्राप्त है। चाचा वृन्दावनदास तथा ध्रुवदास ने इतनी अधिक लीलाओ का वर्णन किया है कि समस्त व्रजभाषा साहित्य का लीला-वर्णन इन दोनो के लीला-वर्णन से न्यून ठहरता है। काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इनका लीला-वर्णन उत्कृष्ट कोटि का नही है, केवल मात्राधिक्य ही उसकी विशेषता है।

सक्षेप में, साहित्य के क्षेत्र में राधावल्लभ सम्प्रदाय का योगदान व्रज के किसी भी सम्प्रदाय से कम नही है। व्रजभाषा साहित्य को समृद्ध बनाने में इस सम्प्रदाय के भक्त-कवियो की रचनाओ को किसी प्रकार भी भुलाया नही जा सकता।

## सगीत :

सगीत के क्षेत्र में राधावल्लभ सम्प्रदाय की समाज-प्रणाली की भजन-पद्धति उल्लेखनीय है। समाज द्वारा संगीत का शास्त्रीय तथा कीर्तन-परक रूप इस सम्प्रदाय में आद्याचार्य के समय से अक्षुण्ण चला आ रहा है। स्वय हितहरिवशजी ने अपने चौरासी पदों को चौदह रागो में बाँधा था। उसके बाद व्यासजी, ध्रुवदासजी, अनन्यअली, चतुर्भुजदास, रसिकदास आदि परवर्ती भक्तो ने भी रागो के अनुसार पद-रचना की। इस सम्प्रदाय की

१—साहित्य रत्नावली—सम्पादक—किशोरीशरण अली—वृन्दावन, पृ० ८८।

विशेषता यह है कि यहाँ रागों के लिए प्रचलित स्वरो से भिन्न स्वर-ताल का विधान है। उदाहरणार्थ चैती गौरी, रायसौ, काफी, कल्यान, कान्हरो, केदारो आदि राग यहाँ भिन्न स्वर ताल में गाये जाते हैं। होरी और धमार तो यहाँ की विशिष्ट वस्तु है। फलत. सगीत का क्षेत्र इस नूतन स्वर तालवद्ध गान-प्रथा से विशद हुआ है। सूरसागर और हितचौरासी के जिन छह-सात पदो मे रचना-साम्य पाया जाता है उनमे भी राग की दृष्टि से वैविध्य है। अर्थात् सूरसागर में उसी पद के ऊपर भिन्न राग का नाम दिया गया है। राधावल्लभ सम्प्रदाय में 'समाज' की परम्परा संगीत को सार्वजनीन बनाने वाली रही है। खेद है कि शनैः-शनै. परम्परा से पूर्ण परिचित गायक समाजी अब कम होते जा रहे हैं फलतः संगीत के क्षेत्र में भी ह्रास के लक्षण नजर आने लगे हैं।

कला :

कला के क्षेत्र में राधावल्लभ सम्प्रदाय का योगदान दो रूपो मे आंका जा सकता है। साँभी रचना पहला रूप है। साँभी रचना श्रीकृष्ण की विविध लीलाओ का वेलवूटो में नाना वर्णों से अकन की प्रथा का नाम है। आश्विन मास में तरह-तरह के सुन्दर रगो तथा पुष्पो द्वारा मन्दिर के प्रागण में ऐसी चित्रपटी निर्मित की जाती है कि उसका रचना-विन्यास केवल शोभा-विधायक ही नही वरन् लीलाओ का वोध कराने वाला भी होता है। कला की दृष्टि से साभी अतीव रमणीक और उत्कृष्ट शैली की रचना है।

कला का दूसरा रूप श्रीकृष्ण की मूर्ति का प्रसाधन है। विविध उत्सवो पर श्रीविग्रह का शृङ्गार वड़ी कलात्मक शैली से किया जाता है। श्रावण मास मे झूले आदि के समय यह शृङ्गार देखने योग्य होता है। इन दोनो रूपो में कला के प्रति अनुराग प्रदर्शित करते हुए कला को जीवित रखने का स्तुत्य प्रयास राधावल्लभ सम्प्रदाय मे प्रारम्भ से ही होता रहा है। साभी को कलात्मक रूप में अकित करने के साथ साहित्य मे वर्ण्य-विपय भी वनाया गया है।

श्री विग्रह का पुष्प-विन्यास भी इस सम्प्रदाय मे वडी कलात्मक शैली से होता है। फूल-वंगला तो कला का एक मोहक रूप है जो आज भी राधावल्लभीय मन्दिर में वन-विहार, नौका-विहार आदि उत्सवो के समय देखा जा सकता है।

---

# उपसंहार

राधावल्लभ सम्प्रदाय के आद्याचार्य का जीवन-वृत्त, भक्ति-सिद्धान्त, प्रमुख महात्माओ द्वारा रचित साहित्य और समसामयिक इतिहास का परिचय प्राप्त कर लेने पर, इस निष्कर्ष पर सहज ही में पहुँचा जा सकता है कि व्रज-प्रदेश के कृष्णभक्ति-परक सम्प्रदायो में माधुर्य-भक्ति को नवीन रूप देने में इस सम्प्रदाय का वडा हाथ रहा है। भारतीय इतिहास का मध्य युग धार्मिक चेतना और भक्ति-भावना की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। राजनीतिक क्रान्ति एव सघर्षमय जीवन में भी भक्त-महात्माओ ने भारतीय जनता को जिस पथ की ओर उन्मुख किया वह इस देश के इतिहास में निश्चय ही एक असाधारण घटना कही जायगी। भक्ति के क्षेत्र में निर्गुण एवं सगुण भावना के साथ माधुर्यभाव सयुत प्रेम-लक्षणा-भक्ति का उदय इसी काल में हुआ। रसराज शृङ्गार के उज्ज्वलतम स्वरूप की प्रतिष्ठा भक्ति-क्षेत्र में इसी युग में हुई। शृगार के लौकिक रूप विरह-मिलन को स्वीकार करके उसके उन्नयन द्वारा आमुष्मिक नित्य विरह-मिलन की भावना अनेक रसिक भक्तो द्वारा सम्पुष्ट हुई और भक्ति की मन्दाकिनी में माधुर्य रस की निर्मल धारा का सगम हुआ। वगीय वैष्णव भक्तो ने विरह-भावना का उत्कर्ष-विधान करके शृगार के लौकिक रूप को निखारा, उसे भोग के कर्दम से बाहर निकाल कर उज्ज्वल बनाया। उत्तरीय भारत में व्रजमडल के भक्तो ने भक्ति में मिलन-भावना का उत्कर्ष स्थापित कर उसे माधुर्य रस से सिक्त करके सहज सवेद्य और आस्वाद्य बनाया। वगीय भक्तो ने अपनी भक्ति-पद्धति का शास्त्रीय विवेचन सस्कृत के लक्षण ग्रन्थो द्वारा किया था—वह एक पुरातन परम्परा का निर्वाह था। वृन्दावन के रसिक भक्तो ने व्रजभाषा की सहज माधुरी को अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया और अपनी वाणी द्वारा लक्ष्य ग्रन्थो का विशाल भंडार एकत्र कर प्रेम-तत्त्व की विविध रूपो में व्याख्या प्रस्तुत की। राधावल्लभ सम्प्रदाय के भक्तो ने इस क्षेत्र में राधा को प्रमुख स्थान देकर माधुर्य भक्ति को अपेक्षाकृत अधिक रसमय, लावण्यमय और आनन्दमय बनाने में योग दिया।

शृगार रस के उन्नयन का प्रयत्न भी प्रच्छन्न रूप से इस सम्प्रदाय के भक्त-कवियो द्वारा हुआ किन्तु वर्णन की भावभूमि लौकिक होने से इस सम्प्रदाय का साहित्य सामान्य मानव के लिए गोप्य ही वना रहा। वहुत काल तक इस सम्प्रदाय की पुस्तकें जनसाधारण

के लिए अप्राप्य भी रही और सम्प्रदाय के अनुयायी भी उन्हे दूसरो के दिखाने मे सकोच करते रहे। आज स्थिति मे यत्किंचित् परिवर्तन हुआ है किन्तु अभी भी उदार दृष्टिकोण का अभाव ही है। शृगार रस के द्वारा भक्ति की वैतरणी पार करना प्रत्येक मानव के लिए सहज नही। शृंगार रस लौकिक वृत्तियो के प्रति सहज आकर्षण उत्पन्न करने वाला होता है अत. कौन जाने कब भक्तिभाव हाथ से छूट जाय और शृंगार की लौकिक अनुभूति में निमज्जित होकर ही साधक काम-वासना को अपना अभीष्ट समझ बैठे। अत इस दुर्गम पथ पर चलने की प्रक्रिया में अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। राधावल्लभ सम्प्रदाय मे संसार का निपेध या त्याग नही है। संसार को साथ रखते हुए ही भक्ति-साधना का विधान है अतः दुर्गम-पथ का भय पहले ही सामने आ जाता है। साधक को चाहिए कि वह इस रहस्य को समझ लेने के बाद ही इस सम्प्रदाय की दीक्षा ग्रहण करे और साधना-पथ पर अग्रसर हो। जो निकुंज लीला और नित्य-विहार-दर्शन की आकाक्षा रखता है उसे स्वय अपने मन की दुर्ललित वृत्तियो को सयम द्वारा जीतना होगा, उसे काम और मोह को त्याग कर राधानिष्ठ होना पडेगा, भोग की लौकिक भावना को छोड पारलौकिक रति का अचल पकडना होगा। निश्चय ही यह साधना जितनी आकर्षक है उतनी ही कठोर भी है। इस साधना का प्रत्येक सोपान देखने में सहज-सीधा किन्तु अभ्यास में दुस्साध्य और दुष्कर है। इस सम्प्रदाय के प्राय' सभी महात्माओ ने प्रेम-पथ की सराहना की है, उसे ग्राह्य बताया है किन्तु साथ ही साथ उसे दुर्गम और दुस्तर भी कह दिया है। ध्रुवदासजी कहते हैं—

चढ़िकै मन तुरंग पै चलिवौ पावक माहिं।
प्रेमपन्थ ऐसो कठिन सब कोऊ निवहत नाहिं ॥
सबतें कठिन उपासना प्रेम पंथ रस रीति।
राई सम जो चलै मन छूटि जाय ध्रुव प्रीति ॥

प्रेम-मार्ग की इन कठिनाइयो को ध्यान मे रखकर ही इस सम्प्रदाय के वाणीकार महात्माओ ने विधर्मी के समक्ष अपने सम्प्रदाय के सिद्धात रखने का निपेध किया है। यदि इस सम्प्रदाय की रसमयी भक्ति का मर्म भली-भाति हृदयंगम किया जा सके तो निश्चय ही यह सामान्य गृहस्थ के लिए भी व्यवहार्य और उपादेय भक्ति-मार्ग हो सकता है।

---

# परिशिष्ट १

श्री गोस्वामी हितहरिवंशजी का समस्त परिकर विन्दु और नाद नाम से दो परिवारो मेें विभक्त है। विन्दु परिवार गोस्वामी-स्वरूप कहाता है। श्री आचार्य हरिवशजी की वंश-परम्परा मे उत्पन्न होने वाले गोस्वामी बालक विन्दु परिवार के होने के कारण पूज्य होते हैं। नाद परिवार में इस सम्प्रदाय मे दीक्षित गृहस्थ एव विरक्त साधु शिष्यो का स्थान है। शिष्य-वर्ग को मंत्र दीक्षा के कारण नादवशी कहा जाता है। गृहस्थ और विरक्त दोनो कोटि के शिष्यों के लिए सम्प्रदाय में समान स्थान है।

सम्प्रदाय के छह पुण्य स्थलो का विभाजन नाद और विन्दु परिवार की दृष्टि से समान रूप से किया गया है। श्री राधावल्लभजी का मन्दिर (वृन्दावन), सेवा कुञ्ज (वृन्दावन) और वशानुगत रंगीलालजी का मन्दिर (देववन्द), विन्दु परिवार के गोस्वामियो के अधिकार में है। वाद ग्राम का जन्म-स्थल, मानसरोवर और रासमडल (वृन्दावन) नाद परिवार के विरक्त साधुओ के सरक्षण में है।

विन्दु परिवार के गोस्वामियो में से अनेको महानुभावो ने अपने-अपने समय में सस्कृत और व्रजभाषा मे अनेक ग्रथो का प्रणयन किया। यद्यपि उनकी अधिकाश रचनाओ का आधार साम्प्रदायिक सिद्धान्त प्रतिपादन ही है किन्तु उनमें भी काव्य-रस और भक्ति-रस का अनेक स्थलो पर सुन्दर समावेश हुआ है।

हम दोनों परिवारो के प्रमुख एव प्रसिद्ध महानुभावो की तालिका नीचे उनके प्रमुख ग्रन्थो के नामोल्लेखपूर्वक दे रहे हैं। इस तालिका मे न तो हमने समस्त वाणीकारो को स्थान दिया है और न प्रत्येक भक्त महात्मा की सम्पूर्ण रचनाओ को गिनाया है। प्रसिद्ध और आवश्यक ग्रन्थो का ही नाम इस तालिका में है। 'साहित्य रत्नावली' नामक ग्रथ से तालिका तैयार करने में लेखक ने सहायता ली है। जिन महानुभावो का प्रबन्ध के कलेवर में नाम आ गया है उनका यहां उल्लेख नही है।

| | | |
|---|---|---|
| **१—श्री वनचन्द्रजी गोस्वामी** | | |
| श्रीहरिवशाष्टक | — | संस्कृत |
| प्रियानामावलि | — | ,, |
| स्फुट पदावली | — | व्रजभापा |
| **२—श्री कृष्णचन्द्र जी** | | |
| कर्णानन्द काव्य | — | सस्कृत |
| आशास्तव | — | ,, |
| राधानुनय विनोद | — | ,, |
| वृहद् राधा भक्ति मञ्जूपा | — | ,, |
| अर्थ कौमुदी | — | ,, |
| अष्ट पदी | — | ,, |
| राधा उपसुधानिधि | — | ,, |
| पदावली | — | व्रजभापा |
| **३—श्री वृन्दावनदास जी (गोस्वामी)** | | |
| अध्वविनिर्णय | — | सस्कृत |
| सेवा विवेक | — | ,, |
| गूढ़ ध्यान | — | ,, |
| हित मालिका | — | ,, |
| **४—श्री दामोदरवर जी** | | |
| पदावली | | (फुटकर व्रजभाषा पद) |
| **५—श्री रसिकलालजी** | | |
| टीका चतुरासी | — | व्रजभाषा |
| टीका गीतगोविन्द | — | ,, |
| पदावली | — | ,, |
| **६—श्री सुखलाल जी** | | |
| टीका श्रीमद्भागवत | — | व्रजभाषा |
| टीका चतुरासी | — | ,, |
| रास पचाध्यायी | — | ,, |
| टीका हरिवशाष्टक | — | सस्कृत |
| पदावली | — | व्रजभाषा |
| **७—श्री गुलाबलालजी** | | |
| अनन्य सभा मडल | — | व्रजभाषा |
| गुरु प्रताप | — | ,, |
| श्री गुरु प्रणाली | — | ,, |
| वृन्दावन प्रताप | — | ,, |

| | | |
|---|---|---|
| जुगल वर्णन | — | व्रजभाषा |
| वर्षोत्सव | — | ,, |
| लाड़िली वर्णन | — | ,, |
| सनेह सिद्धान्त | — | ,, |
| सिद्धान्त सुख | — | ,, |
| आनन्द सेवक चेतावनी | — | ,, |
| भक्त दुख मोचन | — | ,, |
| इतिहास वेदना को | — | ,, |

( इनके लिखे चालीस ग्रंथ वताये जाते हैं ।)

८—श्री जतनलालजी

| | | |
|---|---|---|
| रसिक अनन्य सार ( भक्तमाल ) | — | व्रजभाषा |
| समय प्रवन्ध | — | ,, |
| वृन्दावन दर्पण | — | ,, |
| पदावली ( स्फुट पद ) | — | ,, |

९—श्री हितरूपलालजी

| | | |
|---|---|---|
| सर्वस्व सिद्धान्त भाषासार | — | व्रजभाषा |
| आचार्य गुरु सिद्धान्त | — | ,, |
| समय प्रवन्ध | — | ,, |
| श्री हित प्राकट्य | — | ,, |
| वर्षोत्सव | — | ,, |
| गुरुशिक्षा | — | ,, |
| रसरत्नाकर | — | ,, |
| भक्तिभाव विवेक रत्नावली | — | ,, |
| राधा स्तोत्र | — | ,, |
| वंशी अवतार कलि प्रकट विलास | — | ,, |
| गादी सेवा प्रकट | — | ,, |
| श्री नरवाहन परिचय | — | ,, |
| श्रीराधावल्लभीय सम्प्रदाय निर्णय | — | ,, |
| वनलीला | — | ,, |
| निकुंज केलि लीला | — | ,, |
| हित प्राकट्य प्रमाण | — | ,, |
| हरिवंश नामावलि | — | ,, |

( इनके वनाये हुए छोटे-वड़े ८३ ग्रंथ कहे जाते हैं । )

| | | |
|---|---|---|
| **१—श्री वनचन्द्रजी गोस्वामी** | | |
| श्रीहरिवंशाष्टक | — | संस्कृत |
| प्रियानामावलि | — | ,, |
| स्फुट पदावली | — | व्रजभाषा |
| **२—श्री कृष्णचन्द्र जी** | | |
| कर्णानन्द काव्य | — | संस्कृत |
| आशास्तव | — | ,, |
| राधानुनय विनोद | — | ,, |
| वृहद् राधा भक्ति मंजूषा | — | ,, |
| अर्थ कौमुदी | — | ,, |
| अष्ट पदी | — | ,, |
| राधा उपसुधानिधि | — | ,, |
| पदावली | — | व्रजभाषा |
| **३—श्री वृन्दावनदास जी (गोस्वामी)** | | |
| अध्वविनिर्णय | — | संस्कृत |
| सेवा विवेक | — | ,, |
| गूढ ध्यान | — | ,, |
| हित मालिका | — | ,, |
| **४—श्री दामोदरवर जी** | | |
| पदावली | | (फुटकर व्रजभाषा पद) |
| **५—श्री रसिकलालजी** | | |
| टीका चतुरासी | — | व्रजभाषा |
| टीका गीतगोविन्द | — | ,, |
| पदावली | — | ,, |
| **६—श्री सुखलाल जी** | | |
| टीका श्रीमद्भागवत | — | व्रजभाषा |
| टीका चतुरासी | — | ,, |
| रास पचाध्यायी | — | ,, |
| टीका हरिवंशाष्टक | — | संस्कृत |
| पदावली | — | व्रजभाषा |
| **७—श्री गुलाबलालजी** | | |
| अनन्य सभा मंडल | — | व्रजभाषा |
| गुरु प्रताप | — | ,, |
| श्री गुरु प्रणाली | — | ,, |
| वृन्दावन प्रताप | — | ,, |

| | | |
|---|---|---|
| अलंकार मयूर | — | व्रजभापा |
| छन्दपयोनिधि | — | " |
| छन्द सुधाकर | — | " |

## नाद परिवार के प्रमुख वाणीकार

(नाद परिवार की संख्या अपरिमेय है। विगत चार सौ वर्षो मे अनेक गृहस्थ और विरक्त साधुओ ने राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर वाणी रचना की है। उनकी सम्पूर्ण तालिका प्रस्तुत करना दुष्कर है। हम नीचे उन्ही सुप्रसिद्ध महानुभावो का उल्लेख कर रहे हैं जिनकी वाणी का सम्प्रदाय में किसी न किसी कारण विशेप महत्त्व है। जिन नौ भक्त-कवियो की समीक्षा हमने ग्रथ के कलेवर में की है उन्हे इस सूची मे नही दिया है। राधावल्लभीय सूची के अनुसार नाद परिवार के लगभग नौ सौ विरक्त साधुओ और गृहस्थ महानुभावो ने वाणी-रचना की है। इस विशाल सख्या में से केवल दो दर्जन का चयन करके हम नीचे विवरण दे रहे हैं।)

**१—श्री नरवाहनजी**

| | | |
|---|---|---|
| दानवेली | — | व्रजभापा |
| पदावली | — | " |

**२—श्री दामोदर स्वामी**

| | | |
|---|---|---|
| नेमबतीसी | — | व्रजभापा |
| गुरु प्रताप | — | " |
| साखी | — | " |
| भक्तिभेद सिद्धान्त | — | " |
| रासपचाध्यायी | — | " |
| सिद्धान्त पदावली | — | " |
| रहस्य लता | — | " |
| रासलीला | — | " |
| वर्पोत्सव | — | " |

**३—श्री रामकृष्णजी कालिंजर निवासी**

| | | |
|---|---|---|
| प्रतीति परीक्षा | — | व्रजभापा |
| विनय पच्चीसी | — | " |
| रासपंचाध्यायी | — | " |
| रुक्मिणी मंगल | — | " |
| वृपभान की कथा | — | " |
| कृष्ण विलास | — | " |
| ग्वाल पहेली | — | " |

| | | |
|---|---|---|
| **१०—श्री व्रजलालजी** | | |
| मन प्रबोध | — | संस्कृत |
| सेवा विचार | — | ,, |
| प्रेमचन्द्रोदय नाटक | — | ,, |
| अष्टयाम | — | व्रजभाषा |
| वर्षोत्सव पदावली | — | ,, |
| **११—श्री कमलनयनजी** | | |
| अष्टयाम | — | व्रजभाषा |
| वर्षोत्सव | — | ,, |
| पदावली | — | ,, |
| **१२—श्री चन्द्रलालजी** | | |
| श्री हित कृपापात्र नामावलि | — | व्रजभाषा |
| अभिलाषा बत्तीसी | — | ,, |
| समय पच्चीसी | — | ,, |
| भावना पच्चीसी | — | ,, |
| टीका चतुरासी | — | ,, |
| वृन्दावन प्रकाश माला | — | ,, |
| टीका वृन्दावन शतक | — | ,, |
| टीका कर्णामृत | — | ,, |
| अष्टयाम | — | ,, |
| स्फुट पद | — | ,, |
| **१३—श्री चतुर शिरोमणिलालजी** | | |
| हिताष्टक | — | व्रजभाषा |
| श्री हरिवंशाष्टक | — | संस्कृत |
| राधिकाष्टक | — | व्रजभाषा |
| सुरताष्टक | — | ,, |
| **१४—श्री रंगीलालजी** | | |
| टीका सेवा विचार | — | संस्कृत |
| राधा भक्ति लहरी | - | ,, |
| टीका राधासुधानिधि | | व्रजभाषा |
| सटीक मन प्रबोध | | ,, |
| सटीक उत्सवबोध | — | ,, |
| **१५—श्री मनोहरवल्लभजी** | | |
| टीका चतुरासीजी | - | व्रजभाषा |
| टीका राधासुधानिधि | | ,, |

| | | |
|---|---|---|
| अलंकार मयूर | — | व्रजभाषा |
| छन्दपयोनिधि | — | " |
| छन्द सुधाकर | — | " |

## नाद परिवार के प्रमुख वाणीकार

(नाद परिवार की संख्या अपरिमेय है। विगत चार सौ वर्षों मे अनेक गृहस्थ और विरक्त साधुओं ने राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर वाणी रचना की है। उनकी सम्पूर्ण तालिका प्रस्तुत करना दुष्कर है। हम नीचे उन्ही सुप्रसिद्ध महानुभावो का उल्लेख कर रहे हैं जिनकी वाणी का सम्प्रदाय मे किसी न किसी कारण विशेष महत्त्व है। जिन नौ भक्त-कवियो की समीक्षा हमने ग्रंथ के कलेवर में की है उन्हे इस सूची में नही दिया है। राधावल्लभीय सूची के अनुसार नाद परिवार के लगभग नौ सौ विरक्त साधुओ और गृहस्थ महानुभावों ने वाणी-रचना की है। इस विशाल सख्या मे से केवल दो दर्जन का चयन करके हम नीचे विवरण दे रहे हैं।)

**१—श्री नरवाहनजी**

| | | |
|---|---|---|
| दानवेली | — | व्रजभाषा |
| पदावली | — | " |

**२—श्री दामोदर स्वामी**

| | | |
|---|---|---|
| नेमबत्तीसी | — | व्रजभाषा |
| गुरु प्रताप | — | " |
| साखी | — | " |
| भक्तिभेद सिद्धान्त | — | " |
| रासपचाध्यायी | — | " |
| सिद्धान्त पदावली | — | " |
| रहस्य लता | — | " |
| रासलीला | — | " |
| वर्षोत्सव | — | " |

**३—श्री रामकृष्णजी कालिंजर निवासी**

| | | |
|---|---|---|
| प्रतीति परीक्षा | — | व्रजभाषा |
| विनय पच्चीसी | — | " |
| रासपंचाध्यायी | — | " |
| रुक्मिणी मंगल | — | " |
| वृपभान की कथा | — | " |
| कृष्ण विलास | — | " |
| ग्वाल पहेली | — | " |

१०—श्री व्रजलालजी

| | | |
|---|---|---|
| मन प्रबोध | — | सस्कृत |
| सेवा विचार | — | ” |
| प्रेमचन्द्रोदय नाटक | — | ” |
| अष्टयाम | — | व्रजभाषा |
| वर्षोत्सव पदावली | — | ” |

११—श्री कमलनयनजी

| | | |
|---|---|---|
| अष्टयाम | — | व्रजभाषा |
| वर्षोत्सव | — | ” |
| पदावली | — | ” |

१२—श्री चन्द्रलालजी

| | | |
|---|---|---|
| श्री हित कृपापात्र नामावलि | — | व्रजभाषा |
| अभिलाषा बत्तीसी | — | ” |
| समय पच्चीसी | — | ” |
| भावना पच्चीसी | — | ” |
| टीका चतुरासी | — | ” |
| वृन्दावन प्रकाश माला | — | ” |
| टीका वृन्दावन शतक | — | ” |
| टीका कर्णामृत | — | ” |
| अष्टयाम | — | ” |
| स्फुट पद | — | ” |

१३—श्री चतुर शिरोमणिलालजी

| | | |
|---|---|---|
| हिताष्टक | — | व्रजभाषा |
| श्री हरिवंशाष्टक | — | सस्कृत |
| राधिकाष्टक | — | व्रजभाषा |
| सुरताष्टक | — | ” |

१४—श्री रगीलालजी

| | | |
|---|---|---|
| टीका सेवा विचार | — | सस्कृत |
| राधा भक्ति लहरी | - | ” |
| टीका राधासुधानिधि | | व्रजभाषा |
| सटीक मन प्रबोध | | ” |
| सटीक उत्सवबोध | — | ” |

१५—श्री मनोहरवल्लभजी

| | | |
|---|---|---|
| टीका चतुरासीजी | - | व्रजभाषा |
| टीका राधासुधानिधि | | ” |

| | | |
|---|---|---|
| अलंकार मयूर | — | व्रजभाषा |
| छन्दपयोनिधि | — | " |
| छन्द सुधाकर | — | " |

## नाद परिवार के प्रमुख वाणीकार

(नाद परिवार की संख्या अपरिमेय है। विगत चार सौ वर्षो में अनेक गृहस्थ और विरक्त साधुओ ने राधावल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित होकर वाणी रचना की है। उनकी सम्पूर्ण तालिका प्रस्तुत करना दुष्कर है। हम नीचे उन्ही सुप्रसिद्ध महानुभावो का उल्लेख कर रहे हैं जिनकी वाणी का सम्प्रदाय में किसी न किसी कारण विशेष महत्त्व है। जिन नौ भक्त-कवियो की समीक्षा हमने ग्रंथ के कलेवर में की है उन्हे इस सूची में नही दिया है। राधावल्लभीय सूची के अनुसार नाद परिवार के लगभग नौ सौ विरक्त साधुओ और गृहस्थ महानुभावो ने वाणी-रचना की है। इस विशाल सख्या मे से केवल दो दर्जन का चयन करके हम नीचे विवरण दे रहे हैं।)

**१—श्री नरवाहनजी**

| | | |
|---|---|---|
| दानवेली | — | व्रजभाषा |
| पदावली | — | " |

**२—श्री दामोदर स्वामी**

| | | |
|---|---|---|
| नेमवतीसी | — | व्रजभाषा |
| गुरु प्रताप | — | " |
| साखी | — | " |
| भक्तिभेद सिद्धान्त | — | " |
| रासपचाध्यायी | — | " |
| सिद्धान्त पदावली | — | " |
| रहस्य लता | — | " |
| रासलीला | — | " |
| वर्पोत्सव | — | " |

**३—श्री रामकृष्णजी कालिजर निवासी**

| | | |
|---|---|---|
| प्रतीति परीक्षा | — | व्रजभाषा |
| विनय पच्चीसी | — | " |
| रासपंचाध्यायी | — | " |
| रुक्मिणी मंगल | — | " |
| वृपभान की कथा | — | " |
| कृष्ण विलास | — | " |
| ग्वाल पहेली | — | " |

४—श्री अतिवल्लभजी

| | | |
|---|---|---|
| वृन्दावनाष्टक | — | व्रजभाषा |
| वार्ता | — | " |
| हितपद्धति | — | " |
| मंत्रध्यान पद्धति भाषा | — | " |
| हितवंशावली | — | " |
| गुरु प्रणाली | — | " |

५—श्री सहचरि सुखजी

| | | |
|---|---|---|
| मांझ तथा कवित्त सवैया | — | व्रजभाषा |
| वर्षोत्सव पदावली | — | " |

६—श्री उत्तमदासजी

| | | |
|---|---|---|
| राधानाम प्रताप लीला | — | व्रजभाषा |
| अनन्य माल (भक्तमाल) | — | " |

७—श्रीचन्द्रसखी

| | | |
|---|---|---|
| ज्ञान चौवनी | — | व्रजभाषा |
| स्फुट पदावली | — | " |

८—श्री लोकनाथजी

| | | |
|---|---|---|
| टीका चतुरासी | — | व्रजभाषा |
| टीका राधासुधानिधि | — | " |
| रस तरंग | — | " |
| वृन्दावनस्वरूप वर्णन | — | " |
| अनन्य लक्षण | — | " |

९—श्री सेवा सखीजी

| | | |
|---|---|---|
| श्री सेवा सखी वाणी | — | व्रजभाषा |

(इस ग्रंथ का उल्लेख ग्राउस आदि अंग्रेज विद्वानो ने किया है। किन्तु अब यह अप्राप्य है।)

१०—श्रीकृष्णदासजी भावुक

| | | |
|---|---|---|
| वृन्दावनाष्टक | — | व्रजभाषा |
| हरिवंशाष्टक | — | " |
| गुण प्रणाली | — | " |
| पदावली | — | " |

११—श्री परमानन्दजी

| | | |
|---|---|---|
| हित बधाई | — | व्रजभाषा |
| जमुना मंगल | — | " |
| राधाष्टक | — | " |

परिशिष्ट १

| | | |
|---|---|---|
| गुरु भक्ति विलास | — | ब्रजभाषा |
| सेवक मगल | — | ,, |
| रेखता | — | ,, |
| **१२—श्री हठीजी** | | |
| श्री राधासुधा शतक | — | ब्रजभाषा |
| **१३—श्री लालदासजी (लाल स्वामी)** | | |
| सिद्धान्त प्रतिपादन | — | ब्रजभाषा |
| स्फुट पदावली | — | ,, |
| **१४—श्री ब्रजगोपालजी** | | |
| टीका स्फुट वाणी | — | ब्रजभाषा |
| राधा सहस्रनाम | — | ,, |
| टीका सेवक वाणी | — | ब्रजभाषा |
| हित कुल जन्म वधाई | — | ,, |
| स्फुट पदावली | — | ,, |
| **१५—श्री प्रेमदासजी** | | |
| टीका चतुरासी | — | ब्रजभाषा |
| स्फुट पदावली | — | ,, |
| व्याहुलो | — | ,, |
| हित जन्म वधाई | — | ,, |
| रस सार सग्रह | — | ,, |
| **१६—श्री ब्रजजीवन जी** | | |
| श्री हित वधाई | — | ब्रजभाषा |
| पदावली साखी | — | ,, |
| छदम चौवनी लीला | — | ,, |
| चतुरासी माहात्म्य | — | ,, |
| सेवकवाणी माहात्म्य | — | ,, |
| श्री हित वशावली | — | ,, |
| श्रीहित रसिकमाल | — | ,, |
| हृदयाभरण | — | , |
| स्फुट वाणी | — | ,, |
| **१७—श्री सर्वसुखदासजी** | | |
| टीका सेवक वाणी | — | ब्रजभाषा |
| सिद्धान्त पच्चीसी | — | ,, |
| भावना षोडशी | — | ,, |
| माझ बत्तीसी | — | ,, |

वृत्ति विवेचन — व्रजभापा
फुटकर दोहावली — ,,
हितशतनाम — ,,

१८—श्री प्रियादासजी (दनकौर)

श्री सेवक चरित्र — व्रजभापा
सेवक श्री हित नामाशक्ति — ,,
वाणी (दोहा पद सग्रह) — ,,
प्रियाचरण चिह्न भाव — ,,

१९—श्री रतनदासजी

टीका चतुरासी — व्रजभापा
टीका सेवकवाणी — ,,
टीका हरिवशाष्टक — ,,
सिद्धान्तसार — ,,
स्फुट पदावली — ,,
समय प्रबन्ध — ,,

२०—श्री हरिलाल व्यास

टीका राधासुधानिधि (रसकुल्या)— सस्कृत
टीका राधासुधानिधि-मध्यम तथा लघु व्याख्या — ,,
टीका साखी वल्लभ रसिक — ,,
टीका अष्टक नागरीदास — ,,
टीका सेवक वाणी — ,,

२१—श्री लाड़िलीदासजी

सुधर्म बोधिनी — व्रजभाषा—सिद्धान्त
प्रश्नोत्तरी — ,,
पदावली — ,,
कामवन विलास — ,,

२२—श्री प्रियादासजी (रीवा)

वैष्णव सिद्धान्त — सस्कृत
राधावल्लभ भाष्य — ,,
पद रत्नावली — व्रजभाषा

२३—श्री प्रियादास जी पटना

तत्त्व निर्णय — सस्कृत
व्यासनन्दन भाष्य — ,,
टीका ऊर्ध्वविनिर्णय — ,,

| | | |
|---|---|---|
| टीका स्फुट वाणी | — | संस्कृत |
| राधा तत्व दर्पण | — | ,, |
| वर्षोत्सव निर्णय | — | ,, |
| सम्प्रदाय निर्णय | — | ,, |
| व्रतोत्सव निर्णय | — | ,, |
| भागवत प्रकाश | — | ,, |
| राधाभक्ति मञ्जूषा | — | ,, |
| प्रार्थनाशतकम् | — | ,, |
| उत्सव निर्णय | — | ,, |
| २४—श्री भोलानाथ जी | | |
| टीका राधासुधानिधि | — | ब्रजभाषा |
| टीका सुधर्मबोधिनी | — | ,, |
| टीका स्फुट वाणी | — | ,, |
| टीका सेवा विचार | — | ,, |
| पदावली | — | ,, |

# परिशिष्ट २

श्री हितहरिवशजी के पूर्वजो की वश-परम्परा तथा परिवर्ती वशजो का वर्त्तमान काल तक क्रमिक वर्णन नीचे दिया जा रहा है। वह वर्णन अतिवल्लभ जी की वाणी तथा श्री जयकृष्ण जी की वाणी के आधार पर सकलित किया है।

आदि पुरुष नित्यविहारी श्री राधावल्लभ लाल

।

श्री नारायण

।

ब्रह्मा, नारद, व्यास, शुक, कश्यप (अद्वैत वेदान्ती शाखा)

।

मरीचि, कश्यप, अचलेश्वर, अच्युतेश्वर, श्रीधर, हलधर, पाणिधर, गगाधर

।

विजयभट्ट, कुलाजित भट्ट, विद्याधर भट्ट, जालिप मिश्र, प्रभाकर मिश्र,
उमाकर मिश्र, जीवद मिश्र, हिमकर मिश्र, व्यास मिश्र

।

श्री हरिवश (सम्वत् १५५९ वि०)

।

श्री वनचद्र, श्री कृष्णचन्द्र, श्री गोपीनाथ, श्री मोहनचन्द्र तथा पुत्री साहिबदे।

।

(चार पुत्र) श्री सुन्दरवर
श्री राधावल्लभदास
श्री व्रजभूषण
श्री नागरवरजी
पुत्री किशोरी

श्री सुन्दरवरजी

।

श्री दामोदरवर जी

|

(२ पुत्र) श्री रासदास तथा श्री विलास दास
( रास वश ) ( विलास वश )

|

( ३ पुत्र ) श्री कमलनयन-निस्सन्तान, श्री वृजलाल को गद्दी सेवा-पूजा सौंपी।

श्री विहारीलाल-वृजलाल

श्री कुंजलाल—सात पुत्र श्री रूपलाल प्रख्यात हुए

श्री वृजलाल

( २ पुत्र ) श्री सुन्दरलाल—श्री अनूप

( इसी समय गद्दी-सेवा का विवाद उठा और छह मास के लिए दो भागो में सेवा-पूजा का विभाजन हुआ । )

श्री सुन्दरलाल

( ३ पुत्र ) श्री चन्द्रलाल, श्री ललितलाल, श्री दयाललाल

( ३ पुत्र ) श्री कीर्तिलाल, श्री मनोरथलाल, श्री जुगतिलाल

( २ पुत्र ) श्री चतुरशिरोमणि लाल, श्री गोविन्दलाल

( २ पुत्र ) श्री आनन्दलाल, श्री लड़ैतीलाल

( ३ पुत्र ) श्री भजनलाल, श्री रगीलाल, श्री व्रजमोहनलाल

( २ पुत्र ) श्री प्रेमलाल, श्री नन्दकुमार

(श्री सुन्दरलाल जी के समय से ही दूसरी बार अधिकार सेवा का प्रश्न उठा और श्री विलासदास जी की परम्परा में प्रथम अधिकारी श्री जीवनलाल हुए । )

श्री जीवन लाल

( १ पुत्र ) श्री मोहनलाल

( २ पुत्र ) श्री लाडिलीलाल, श्री चन्द्रलाल

श्री हरि लाल

श्री किशोरी लाल

श्री रूप लाल (वर्त्तमान अधिकारी)

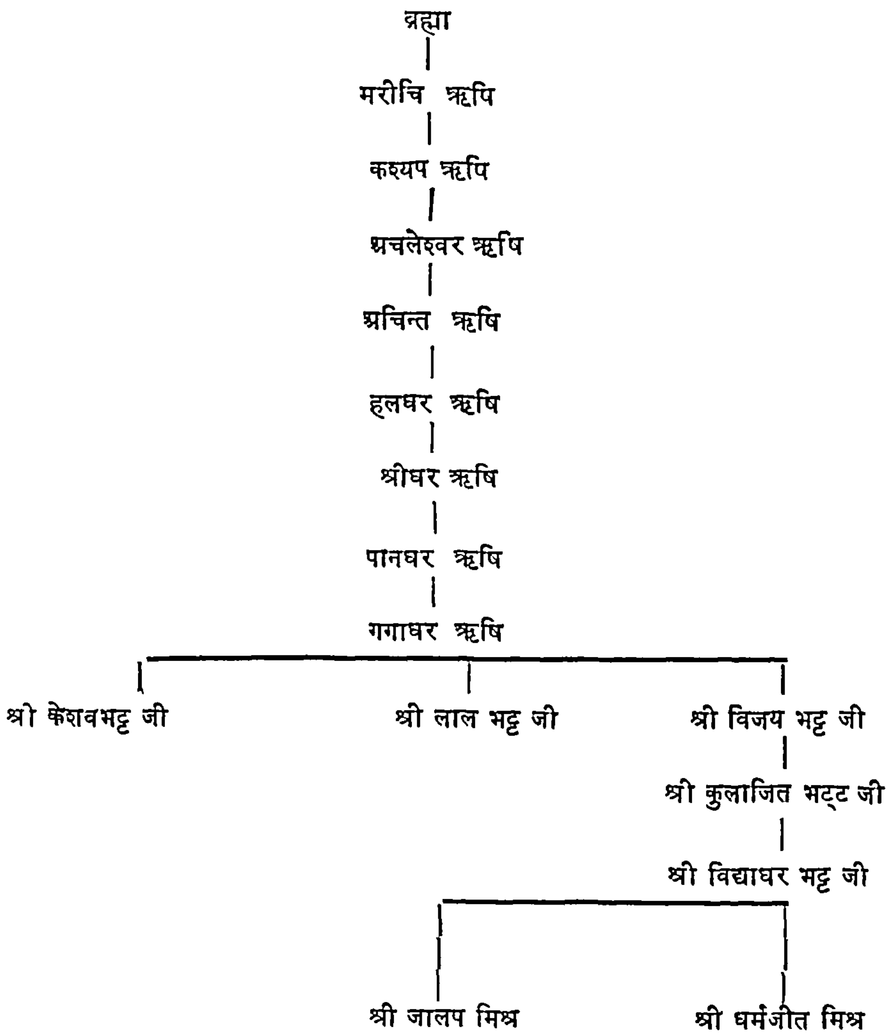
श्री सुकुमारी लाल आदि

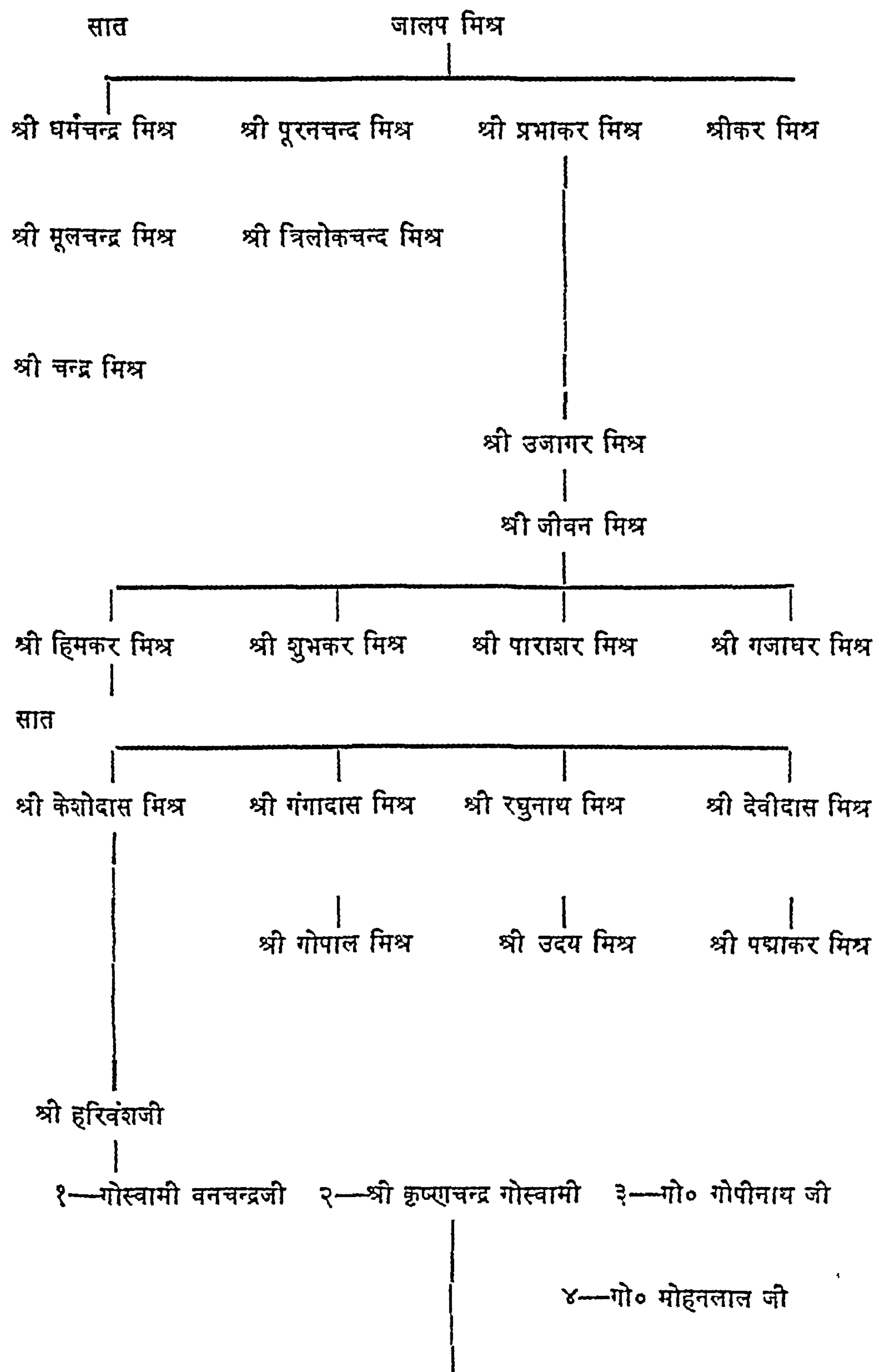
टिप्पणी :—

मन्दिर की सेवा-पूजा अधिकार के सम्बन्ध में विवाद होने पर—सन् १९३१ में सरकार की ओर से मन्दिर का रिसीवर नियुक्त हुआ था और सेवा-पूजा अधिकार का निर्णय किया गया था । सम्प्रति सेवा-पूजा दोनो वंशो के गोस्वामि परिवारो में विभक्त है और नियत अवधि के बाद सेवा-पूजा का अधिकार बदलता रहता है ।

## परिशिष्ट ३

श्री हित चरित्र (ले० गोपालप्रसाद शर्मा—रैंसलपुर) में दी हुई वंशावली




सात
जालप मिश्र
श्री धर्मचन्द्र मिश्र
श्री पूरनचन्द मिश्र
श्री प्रभाकर मिश्र
श्रीकर मिश्र
श्री मूलचन्द्र मिश्र
श्री त्रिलोकचन्द मिश्र
श्री चन्द्र मिश्र
श्री उजागर मिश्र
श्री जीवन मिश्र
श्री हिमकर मिश्र
श्री शुभकर मिश्र
श्री पाराशर मिश्र
श्री गजाधर मिश्र
सात
श्री केशोदास मिश्र
श्री गंगादास मिश्र
श्री रघुनाथ मिश्र
श्री देवीदास मिश्र
श्री गोपाल मिश्र
श्री उदय मिश्र
श्री पद्माकर मिश्र
श्री हरिवंशजी
१—गोस्वामी वनचन्द्रजी
२—श्री कृष्णचन्द्र गोस्वामी
३—गो० गोपीनाथ जी
४—गो० मोहनलाल जी

६८. हिन्दी साहित्य—डा० श्यामसुन्दरदास
६९. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डा० रामकुमार वर्मा
७० हिन्दी साहित्य की भूमिका—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
७१. हिन्दी साहित्य—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी
७२. हिन्दी साहित्य एक अध्ययन—डा० रामरतन भटनागर
७३. हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास—श्री चतुरसेन शास्त्री
७४ हिन्दी विश्व कोश—प्रकाशक, बंगला साहित्य समिति, कलकत्ता

# हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची

१ अनन्य अली जी की वाणी (सम्पूर्ण)—बाबा बंशीदास जी तथा बाबा तुलसीदास जी से प्राप्त

अतिवल्लभ जी की वाणी—बाबा वंशीदास जी से प्राप्त

ारति पत्रिका—चाचा वृन्दावनदास कृत

 चरित्र वेली—चाचा वृन्दावनदास कृत

भिलाषा वेली—चाचा वृन्दावनदास कृत

पुजारी की वाणी—(सम्पूर्ण) बाबा तुलसीदासजी से प्राप्त

पलालजी की वाणी—बाबा राधाकृष्ण चरणदासजी से प्राप्त

ी के पद—बाबा तुलसीदास से प्राप्त

स की वाणी—बाबा वंशीदास तथा ऊधमदासजी द्वारा प्राप्त

० णी—बाबा वंशीदास जी द्वारा प्राप्त

१ वाणी—बाबा राधाकृष्ण चरणदासजी तथा बाबा वंशीदासजी

२.

३ या ब्रजवल्लभदास जी से प्राप्त

४. अ

५ मध्य राधाकृष्ण चरणदासजी से प्राप्त

६. मिश्र सरकार ास कृत

७ महाव )—बाबा वंशीदास जी से प्राप्त

= मुकुट ब ाशकर याज्ञिक के संग्रह से

९. युगल श ० प्र० सभा काशी के पुस्तकालय से

०. रसिक पथ सजी से प्राप्त

१. रास छद्म ा वंशीदासजी से प्राप्त

२३. समय प्रबंध—गोस्वामी कमल नयन कृत
२४. सेवक जू का चरित—प्रियादासकृत, वावा वशीदासजी से प्राप्त
२५ हरिकला वेली—चाचा वृन्दावनदास, वावा वशीदासजी से प्राप्त
२६. हितचौरासी की टीका (प्रेमदास)—श्री भट्ट जी आठखम्भा से प्राप्त
२७. श्री राधावल्लभ का भाष्य—राजा विश्वनाथसिंह जू रीवा नरेश (श्री महावीरप्रसाद अग्रवाल, दरवार कॉलेज रीवां द्वारा प्राप्त)
२८ वृन्दावन महिमामृतम्—वावा तुलसीदास से प्राप्त
२९. हितचौरासी और सेवकवाणी की हस्तलिखित प्रतियां
३० श्री ध्रुवदासजी के ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ

## बंगला तथा गुजराती के ग्रन्थ

१. चैतन्यचरितामृत—कृष्णदास कविराज
२. चैतन्य चरितेरुपादान—विमान विहारी मजूमदार
३. भक्तमाल—लालदास वावाजी कृत
४. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय—अक्षयकुमारदत्त
५. प्रेमविलास—बंगला
६ वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास (गुजराती)
—पं० केवलराम दुर्गाशंकर शास्त्री

## पत्र-पत्रिकाएँ

१. कल्याण—गीता प्रेस गोरखपुर
२. श्री सुदर्शन—वृन्दावन
३. श्री सर्वेश्वर—वृन्दावन
४ साप्ताहिक नवयुग—दिल्ली
५. सरस्वती—प्रयाग
६. भारतवर्ष—कलकत्ता
७. वल्लभीय सुधा—मथुरा

# अंग्रेजी के ग्रन्थ

1 An Introduction to the Post-Chaitanya Sahajia Cult —Manindra Mohan Bose.
2 An Outline of the Religious Literature of India —J N. Farquhar.
3 Aspects of Early Vishnuism—J Ganda
4 Bhakti Cult in Ancient India—B K Goswami
5 Collected Works of Sir R G Bhandarkar—Vol. IV.
6 Encyclopaedia of Religions and Ethics P. II
7 Early History of the Vaishnava Faith and Movement in Bengal—Dr S.K De
8 Hindu Religions—H H Wilson
9 History of Mediaeval Hindu India Vol III—C V. Vaidya
10 History of Mediaeval India—Dr Ishwari Prasad
11 Hindi Literature—F E Keay.
12 Hymns of Alvars—J S M Hooper.
13 Materials for the Study of the Early History of the Vaishnava Sect —Dr H Ray Chaudhari
14 Mathura A District Memoir—Growse
15 Monograph on the Religious Sects in India—D.A Pai
16 Modern Vernacular Literature of Hindustan —G Grierson.
17. Religions of India—E W Hopkins
18 Religions in Vedic Literature—Dr P. S Deshmukh
19 Religious Thought and Life in India, Part I—Monier Williams
20 The Religions of India—A Barth
21 The Bhakti Doctrine in Shandilya Sutra —Dr B M Barua.
22 Vaishnavism, Shaivism and other religious systems of India —Dr. R G Bhandarkar.

**Journals & Gazetteers**

1 A Gazetteer of Mathura—(1911 A D) Dr Darke Brockman
2 Journal of the Royal Asiatic Society
3 Journal of the Department of Letters (Calcutta University)
4 The Indian Interpreter.
5 The Indian Antiquary
6 Statistical, Descriptive and Historical account of the North-Western Provinces of India (1884 A D), Part I

# के ग्रन्थ

Post-Chaitanya Sahajia Cult
—Manindra Mohan Bose.
ous Literature of India
—J.N. Farquhar.
sm—J. Ganda.
'ndia—B.K. Goswami.
.G. Bhandarkar—Vol. IV.
s and Ethics P. II.
ınava Faıth and Movement in

/ılson.
du Indıa Vol III—C.V. Vaidya
ı—Dr. Ishwarı Prasad.
ay.
Hooper.
of the Early History of the
ay Chaudharı.
ıoır—Growse.
ıs Sects ın India—D.A. Pai.
ture of Hindustan
—G. Grierson.

opkins.
re—Dr. P. S. Deshmukh.
fe ın Indıa, Part I—Monıer

Barth.
andilya Sutra
—Dr. B.M. Barua.

nd other relıgıous systems of
kar.

ra—(1911 A.D.) Dr. Darke Brockman

tic Society.
ıt of Letters (Calcutta Unıver-

and Historıcal account of the
es of Indıa (1884 A.D.), Part I.